महामण्डलेश्वर स्वामी महेशानन्द गिरि

रुद्र

[यजुर्वेदीय रुद्राध्याय की व्याख्या]

स्वामी महेशानन्द गिरि महामण्डलेश्वर

प्रकाशक : दक्षिणामूर्त्ति मठ
काशी ।

प्रथम संस्करण ११९३ शंकराब्द

मुद्रक : आगरा युनिवर्सिटी प्रेस,
आगरा ।

22-21

अनुक्रमणिका

22-2

विषय	पृष्ठांक

विषय	पृष्ठांक

विषय पृष्ठांक

भूमिका

भारतीय संस्कृति के मूल स्रोत रूप में वैदिक साहित्य की प्रतिष्ठा औपनिषद, पौराणिक, आगमिक मतवादों के साथ आधुनिक पाश्चात्य प्राच्य विद्याविशारदों को भी स्वीकृत है। ये सभी कहीं न कहीं वैदिक उद्धरणों को प्रमाणरूपेण देते ही हैं। बौद्ध तथा जैन पन्थों में यद्यपि वेदनिन्दा प्रभूतरूप से उपलब्ध होती है, तथापि उनकी उग्रता ही उन्हें वेदमूलक सिद्ध कर देती है। उन्हें भय है कि कहीं बौद्ध पन्थ का उपनिषन्मूलत्व जो अनत्ता के आवरण में ढककर पेश किया जा रहा है, उनके मूल पुरुष बुद्ध की अपूर्वता को नष्ट न कर दे, या फिर वैदिक तपमूलता एवं कर्मजडता के मीमांसक व धर्मशास्त्र अतिदेश जैन को तापस या वानप्रस्थाश्रम की एक विकृत शाखा सिद्ध न कर दे। इस प्रकार नास्तिक धर्म भी वस्तुतः वेदमूलक ही सिद्ध होते हैं। परवर्ती वैष्णव, सगुनिये, शैव, शाक्त, निरगुनिये, कबीर, नानक, आर्यसमाज, ब्रह्म-समाज से लेकर गांधी पन्थ तक सभी का यही हाल है। विवेकी तो सेमटिक धर्मों की शाखा व मंगोल व हब्शी मतों में भी वैदिकता को देख पाते हैं। अस्तु, यह तो निर्विवाद है कि सनातन-धर्म का एकमात्र प्रमाण वेद है। मनु की घोषणा है कि 'चातुर्वर्ण्यं, त्रयो लोकाः, चत्वारश् च आश्रमाः पृथक् भूतं भव्यं भविष्यं च सर्वं वेदात् प्रसिध्यति' ॥१२·९७॥ चार वर्ण, चार आश्रम, तीन लोक तथा सभी कालों की व्यवस्था वेद से ही सिद्ध होती है। अतः वेदज्ञान से सभी पापों की निवृत्ति मनु ने बताई हैं। 'वेदाभ्यासो हि विप्रस्य तपः परं इह उच्यते' मनुस्मृति ॥२·१६६॥ में स्पष्टतः वेदाभ्यास को ही सर्वोत्कृष्ट तपस्या बताई है। इस प्रकार वेद विचार ही सर्वधर्मों में श्रेष्ठ है।

वेद की अनेक शाखाओं में शुक्ल की काण्व तथा माध्यन्दिन, एवं कृष्ण की तैत्तिरीय, काठक, मैत्रायणी प्रसिद्ध हैं। इन सभी में किंचित् भेद के साथ रुद्राध्याय आता है जिसमें भगवान् शंकर की सर्वरूपता का स्पष्ट प्रतिपादन है। यह अप्रासंगिक न होगा कि कृष्णयजुर्वेद के ग्यारहवें अध्याय की तरह ही गीता के ग्यारहवें अध्याय में विश्वरूप का निवेश किया गया है। ग्यारह संख्या

रुद्र की होने से रुद्राध्याय का ग्यारहवाँपना तो स्पष्ट है, पर श्रीकृष्ण ने भी संभवतः 'कालोस्मि' एवं 'ऐश्वरं योगं' द्वारा व्यक्त सर्वरूपता की शिवरूपता को स्पष्टतर करने के लिए ही ग्यारहवाँ अध्याय इस प्रतिपादन के लिए चुना हो। जो भी हो, श्रुति व स्मृति उभयत्र 'सर्वं शिवमयं' व्याख्यात है। इसीलिए श्रुति का सार रुद्राध्याय कहा जाता है तथा इसके पाठ से महापाप भी नष्ट हो जाता है, ऐसा प्रतिपादित है। 'यः शतरुद्रियं अधीते स सुरापानात् पूतो भवति,····कृत्याकृत्यात् पूतो भवति।····अनेन ज्ञानं आप्नोति' (कैवल्य० खण्ड २) में इसके पाठ से सुरापान आदि का पाप नष्ट होकर विधि व निषेध के अननुष्ठान व अनुष्ठानजन्य सकल दोषों की निवृत्ति-पूर्वक मूलाज्ञाननाशक ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति बताई है। शिव का सैकडों नामों से नमन होने से इसे शतरुद्रिय कहा जाता है, मंत्र-संख्या की दृष्टि से नहीं। नित्यध्यानार्थ यह उत्तम उपाय है।

भगवान् सायण ने सम्पूर्ण वेदभाष्य में रुद्राध्याय को कर्म व ज्ञान दोनों में विनियुक्त किया है। अतः यथा श्रेष्ठतम कर्म अश्वमेध में यह आवश्यक अंग माना गया है, वैसे ही श्रेष्ठतम ज्ञान ब्रह्मात्मैक्य में भी यह आवश्यक अंग है। इस प्रकार अभ्युदय व निःश्रेयस् या प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों मार्गों में इससे सिद्धि होती है। प्राचीन काल से ही वैदिकों में सर्वप्रथम इसका ही उपदेश बटुक को किया जाता है। 'रुद्रं पुरुषसूक्तं च नासदीयाघमर्षणे। सेतुगानं महोच्छिष्टं पूर्णवेदस्य मण्डनम्॥' आदि के द्वारा परमहंसों में इसी प्रसिद्धि के कारण रुद्रावर्त्तन नित्यकर्म है। इसी का अर्थ सहित विचार संक्षेप में प्रस्तुत करेंगे क्योंकि अर्थज्ञान से रहित पाठ करने वाले को महर्षि यास्क ने गधे की उपमा दी है। इतना स्मरण रखना होगा कि यह संक्षेप अर्थ आधुनिक युग में अस्त-व्यस्त यज्ञादि व्यवस्था के कारण अधियज्ञ आदि अर्थों में से अध्यात्ममात्र पर ध्यान केन्द्रित करेगा। प्रतिमन्त्र के अधिदैव प्रयोग भट्ट व्याख्या आदि में स्फुट होने पर भी यहाँ अनुपादेयता के कारण त्यक्त हो गये हैं। इस औद्योगिक युग में अध्यात्म पर आधारित आचार व विचार ही परिपालित होना सम्भव है। मोक्ष व भोग में से मोक्ष ही परमपुरुषार्थ होने से, तथा भोग प्रकारान्तर व उपायान्तरों से भी उपलभ्य होने से, अध्यात्म ही मोक्षसाधन होने से वस्तुतः अपूर्व है, एवं वेद की उपादेयता भी तत्प्रयुक्त ही सम्भव है।

यद्यपि शुक्ल यजुर्वेद की माध्यन्दिनशाखा एवं कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में मन्त्र साम्य है, तथापि यत्र तत्र भेद भी क्रम या शब्द में परिलक्षित होता है। हमने हिन्दी भाषी प्रदेशों में शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिन शाखा का ही प्रचार होने से मूलतः उसीका अवलम्बन किया है, तथापि कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के प्रधान पाठभेदों का अर्थ भी संकेतित किया है। भूमिका में उसी का प्रधानरूपेण अवलम्बन है।

वेदांत की सबसे बड़ी देन परमात्मा की अपरोक्षता तथा तज्जन्य जीवन्मुक्ति का विलक्षण आनन्द है। वस्तुतः जो हमारी आत्मा का आत्मा होने से परमात्मा है, वही पुनः जगत् के ईश्वरों का भी ईश्वर होने से परममहेश्वर है। परमात्मा होने से ही वह अपरोक्ष है। जगत् के आकार में प्रतीत होने से भी वह अपरोक्ष ही है। अपरोक्षता, परमात्मरूप से साक्षात् अपरोक्षता है तथा परमेश्वर रूप से प्रत्यक्षापरोक्षता है, यह बात दूसरी है। परमात्मभाव में वह विकारों से अस्पृष्ट है, अतः निमित्त कारण है, तथा परमेश्वरभाव में वह विवर्ताधिष्ठान होने से उपादान कारण है। अविकृत होते हुए ही अविद्या से विकृति की प्रतीति परमेश्वर में है। केवल विद्या अवस्था में ही प्रकट होने से परमात्मा तो सदा अविकृत रूप से ही विद्यमान है। इसी प्रकार, विश्वात्मा के, विश्व की आत्मा, व विश्वरूप ही जिसका स्वरूप है, दोनों निरुक्त, इसी एक शब्द से सनातनधर्म की प्रधानता को व्यक्त कर देते हैं।

उद्देश्य को सदा ही सब क्रियाओं में व ज्ञानों में संकलित करना अभीष्ट होता है, अतः विश्वात्मा को शिव कहा गया। इसी में सभी प्राणी सोते हैं, अतः यह शिव है। यह उपादान कारणता को बताता है, तो सभी इसके द्वारा आकृष्ट होते हैं, 'वशि कान्तौ शिवस्स्मृतः' से निमित्तकारणता को बताता है।

कल्याण ही सृष्टि रचना का उद्देश्य है। कामी की कामनापूर्ति के द्वारा यह कल्याणरूप परमेश्वर भाव है, एवं निष्काम को निर्दुःखतारूप द्वार से यह परमकल्याणरूप परमात्मभाव है। इस प्रकार 'शिव' इस एक शब्द में समग्र हिन्दू धर्म का समावेश हो जाता है। आचार्यगणों ने इसीलिए समग्र विद्याओं का सार शिव को कहा है। 'विद्यासु श्रुतिरुत्कृष्टा तत्रैकादशिनी श्रुतौ, तत्र पंचाक्षरी विद्या शिवइत्यक्षरद्वयम् ।।' माण्डूक्य में तुरीय को भी शिव शब्द से ही कहा गया है। 'प्रपंचोपशमं शान्तं शिवं'। इस प्रकार भोग व मोक्ष रूप से समग्र पुरुषार्थों का व इनके मार्ग का प्रतिपादक होने से शिव शब्द सारातिसार एवं परमेश्वर का प्रिय नाम है। यह इसी से पता लगता है कि प्रसिद्ध द्वादशाक्षर 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय', या प्रसिद्ध अष्टाक्षर 'ॐ नमो नारायणाय' बिना प्रणव के नहीं वन सकता। पर प्रसिद्ध पंचाक्षर 'नमः शिवाय' में प्रणव की आवश्यकता नहीं मानी गई, क्योंकि शिंव में प्रणव अन्तर्गृहीत माना गया है। शिव का प्रधान यज्ञ व पूजन शतरुद्रीय से ही होता है। यही विश्वात्मा के स्वरूप प्रतिपादन का मूल रूप है। भगवद्गीता के विश्वरूप का मूल रूप शतरुद्रीय को ही बताया गया है। वस्तुतः इसके नित्य जप के विधान का यही रहस्य है कि हम सरल रूप में उसे देखने का अभ्यास करें। स्थावर जंगम सभी रूप शिव ने ही धारण किये हैं। गीता के विभूति योग में इसी रूप का वर्णन है। प्रायः स्थपतियों ने गीतानुसारी रूप का ही विश्वरूप चित्रित किया है। कुशाणकाल से मुगलकाल तक यह अनेक स्थलों में चित्रित या उट्टंकित है। सम्भवतः कन्नौज में नौवीं शती के गुर्जर प्रतिहारों का स्थापत्य इस प्रकार का सर्वोत्तम व प्राचीन नमूना है। कांगड़ा की चित्र शैली में पद्मनाभ विष्णु को पेट, सूर्य व चन्द्र को स्तन एवं जटाओं में अन्य देवताओं का रूप देखने को मिलता है। यहाँ असंख्य हाथों पैरों व मुखों वाला शिव का विश्वरूप भी मिलता है। 'सहस्रपादाक्षिशिरोरुवाहवे' का इसमें स्पष्ट चित्रण है। वस्तुतः अष्टमूर्ति शिव भी विश्वरूप ही है। भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं— 'प्रत्यक्षेणोपलभ्यन्ते सर्वैरप्यष्टमूर्त्तयः ।।' [मानसोल्लास ९·२] यतः सर्व का

चिंतन असम्भव है, अतः पंचमहाभूत, सूर्य, चन्द्र व उनके अधिदैव के रूप में चिन्तन सुकर होने से इसका प्राधान्य है ।

इसी विश्वरूपता का स्रष्टा, विभूति, शब्द, यज्ञ, अवतार, उपास्य एवं निष्प्रपंच रूप से उदयन ने वर्णन किया है (कुसुमांजलि ५-१६) । बृहदारण्यक में पिण्ड, जाति, विराट्, सूत्रात्मा, ईश्वर, अंतर्यामी, अक्षर, ब्रह्म, व क्षेत्रज्ञ रूप से विश्वात्मा को शांकरभाष्य में वेदांत के मत विशेष रूप से बताया गया है । पुराणों में मातृकागण, गणपति, सेनानी, क्षेत्रपाल, दिक्पाल, अष्टभैरव आदि रूपों से इसी का चित्रण है । परन्तु बैठे, खड़े, दौड़ते, ढासे लगाये रूप में अथवा, मानव, पशु, वृक्ष, पौधे, पर्वत, नदी, सरित्, झरने भौरे, शान्त, सलिल, मेघ, वृष्टि, बिजली की गरज, अन्धड़, तूफान, हिमानी, चोर, रक्षक, रोग, औषधि, वैद्य आदि रूप से जो विस्तृत व काव्यात्मक शैली शतरुद्रीय में है वह अन्यत्र कहीं भी विश्व के साहित्य में देखने को नहीं मिलती । अतः इसका प्राधान्य आज भी वैसा ही है ।

परमेश्वर को असंख्य नमन करने से ही इसे शतरुद्रीय व नमोवाक् कहा गया है । 'नमक' शब्द का प्रयोग भी इसी बात को बताता है । कृष्ण यजुर्वेद में यह ग्यारह अनुवाकों में है, जिसके अष्टम में 'नमः शिवाय' आता है, जो पवित्रतम तथा श्रेष्ठ मन्त्र है । शिव को इन मन्त्रों के गान से अधिक प्रिय कोई साधना नहीं है । याज्ञवल्क्य का कृष्ण यजुर्वेद में कथन है 'शतरुद्रीयेणेति । एतानि ह वा अमृतस्य नामधेयानि भवन्ति ।' इन शतरुद्रीय के मन्त्रों के जप से साधक मुक्त होता है क्योंकि ये ब्रह्म के साक्षात् नाम हैं । इन नामों को मानसिक रूप से दुहराना ही शिव का उत्तम ध्यान है । 'वृक्षस्य मूलसेकेन शाखाः पुष्यंति वै यथा । शतरुद्रजपात्प्रीते प्रीता एवास्य देवताः (सूत संहिता ४-२-४०) जिस प्रकार वृक्ष की की हुई सिंचाई शाखाओं को पुष्ट करती है वैसे ही रुद्राध्याय के जप से न केवल शिव प्रसन्न होते हैं वरन् सारे ही देवगण भी प्रसन्न हो जाते हैं ।

वस्तुतः शतरुद्रीय व शतरुद्रिय दोनों नाम व्याकरण से इसी के सिद्ध होते हैं । इसी को सुरेश्वराचार्य ने मानसोल्लास में रुद्रोपनिषद् कहा है ।

'शतरुद्राद्घश्च' (वा० २७०२) 'शतरुद्रा देवता अस्येति शतरुद्रियम् ।' पाणिनि ने 'सास्य देवता' (४-२-२४) के अधिकार में 'शतरुद्राद्घश्च' सूत्र से देवता के

अर्थ में 'घ' प्रत्यय का विधान किया है। चकार से 'छ' प्रत्यय का भी विधान होने से 'शतरुद्रीय' भी सिद्ध हो जाता है। इसीलिए येन केन प्रकारेण मन्त्रों की १०० संख्या पूर्ण करने का प्रयास व्यर्थ है। यह दूसरी बात है कि रुद्रजप की तरह अन्य मन्त्रों के साथ भी इसके जप का विधान है और उनमें कहीं-कहीं मन्त्र संख्या १०० भी है, कहीं २०० भी है। किञ्च 'शतमनन्ते भवति' इस श्रुति से अनन्त रुद्रों का प्रतिपादन यहाँ इष्ट है। 'विश्वं शते सहस्रे च सर्वमक्षय्यवाचके' इस व्यास वाक्य से भी यही सिद्ध होता है। 'सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्राः' आदि रुद्राध्याय के वचन भी स्वयं इसी बात को स्पष्ट करने के लिए हैं।

यजुर्वेद की सौ शाखायें हैं। उन सभी में रुद्रोपनिषद् आई है। भट्टपाद कहते हैं 'एकशतं यजुश्शाखास्तासु रुद्रोपनिषदाम्नायते'। सूतसंहिता में भी 'शतशाखागतेसाक्षाच्छतरुद्रीयमुत्तमां तस्मात्तज्जपमात्रेण सर्वपापैः प्रमुच्यते' कहकर यही प्रतिपादित किया है कि सौ शाखाओं में होने से इसे शतरुद्रीय उसी प्रकार कहते हैं जैसे शतकोटि रामायण कहा जाता है। भारत में इसे 'रहस्यनाम' कहा गया है। 'वेदे चास्य समाम्नातं शतरुद्रीयमुत्तमं' कहकर स्पष्ट कहा गया है कि वेदों में जैसी आनुपूर्वी है, उसे ही शतरुद्रीथ कहा गया है। जिस प्रकार 'तदिति ह वा एतस्य महतो भूतस्य नामधेयानि' से तत् का अर्थ ब्रह्म; या 'तस्योदितिनाम' से उत् को ब्रह्मपरक बताया है, वैसे ही ये नाम कोश में न होने पर भी शिव वाचक प्रतिपादित किये गये हैं, अतः रहस्य नाम कहे गये हैं। उससे जो कुछ सम्प्रदाय परम्परा से कटे दुर्विदग्ध लोग आधुनिक काल में रुद्राध्याय का अशिवपरक अर्थ करते हैं वे स्वतः गलत साबित हो जाते हैं। वैसे प्राचीन साहित्य, व पुराण तथा इतिहास के विद्यार्थी जानते हैं कि इन नामों का 'ततो मीढ्वां समामन्त्र्य' 'ततो मीढुष्टमोदितं' आदि रूप से अनेक स्थलों में प्रयोग देखा भी जाता है।

ब्रह्मज्ञान के प्रति उपनिषदों का आवर्तन भी साक्षात् साधन है, यह भगवान् भाष्यकार शंकर भगवत्पाद ने ब्रह्मसूत्रों में भली प्रकार प्रतिपादित किया है। याज्ञवल्क्य ने सरलता के उद्देश्य से रुद्रीय को ही जपार्थ सर्वोत्तम मन्त्र-समूह बताया है। परमेश्वर के दिव्य नामों का आवर्तन ही सरल होता है। उपासना में जो चित्त की एकाग्रता आवश्यक होती है, वह पाठ या जप

करने में सरलता मे हो जाती है, यह अनुभव सिद्ध है। वैसे तो सभी मन्त्र-समूह साक्षात् या परम्परा से 'इमा रुद्राय स्थिरधन्वने गिरः' इस श्रुति बल से शिव को ही बताते हैं, फिर भी सामान्यतया गिरः को श्रुतिगिरः मान लिया जाता है। वैसे भी प्रधान व प्रसिद्ध होने से शतरुद्रीय को ही शिव-नामावली कहा जाता है। महर्षि आश्वलायन ने तो 'सर्वाणि ह वा एतस्य नामधेयानि' कहकर इसे स्पष्ट कर दिया है। कुर्म पुराण के अनुसार राजर्षि वसुमना १०० वर्ष तक गायत्री की उपासना करते हैं। फलस्वरूप प्रसन्न होकर, भट्टपाद कहते हैं 'इमानि मे रहस्यानि नामानि शृणु चानघ। सर्ववेदेषु गीतानि'। आगे की साधना बताते हैं 'अध्यायं शतरुद्रीयं यजुषां सारमुत्तमं। नमस्कुरुष्व सततं एभिर्नामैः सदा शुचिः।' रुद्रीय के अध्याय में आये प्रत्येक नमः के साथ नमस्कार करो। यहाँ अध्याय शब्द से श्रुतिप्रोक्त क्रम ही विवक्षित है। ब्रह्मोत्तर खण्ड में कथा आती है कि इसके जप के कारण चित्र-गुप्त, यम तथा यमदूत बेकार हो गये, एवं नरक खाली हो गया। तब ब्रह्मा ने अश्रद्धा व दुर्मेघा को उत्पन्न किया। तभी से नरक भरने लगा। शातातप स्मृति भी 'भस्मच्छन्नो भस्मशय्याशयानो रुद्राध्यायी मुच्यते सर्वपापैः' कहती है। इस प्रकार रुद्राध्याय का जप सर्वोत्तम कर्म है, इसका विचार सर्वोत्तम उपासना एवं इसका तात्पर्य निर्णय ज्ञान है। अन्य उपनिषदों में ये तीनों प्रकार एक साथ इतनी सरलता से नहीं पाये जाते, यही इसका सर्वोत्तमत्व है। प्रतिपाद्य प्रत्यगात्मा से अभिन्न शिव का साक्षात्कार पर्यन्त श्रवण, मनन व निदिध्यासन रूप से आवर्त्तन साक्षात् जीवन्मुक्ति देता है। तथा परमेश्वर के दिव्य नामों का केवल जप शिव प्रसाद से विदेह मुक्ति देता है यह विषय दूसरा है। प्रथम में संन्यास आवश्यक है, दूसरे मे ब्रह्मचर्य, मिताहार, त्रिपुण्ड्र, व भस्म का धारण रुद्राक्ष का धारण, शिवभक्ति आदि आवश्यक कर्त्तव्य हैं। यद्यपि 'अत्याश्रमी जपेद्,' कहा गया है पर रुद्र जप में मानवमात्र का अधिकार है। सूत संहिता में इसीको 'यः पुमान्छतरुद्रीयं पठति श्रद्धया सह' कहकर स्पष्ट किया है। किंच सभी कर्त्तव्यों का संन्यास करने वाला अत्याश्रमी भी जप करे का तात्पर्य ही है कि दूसरे तो अवश्य ही करें। श्री कृष्ण तो नित्य रुद्रजप करते ही थे। कूर्म पुराण में कहा है 'भस्मोद्धूलितसर्वांगो रुद्राध्ययनतत्परः,' भस्म धारण करके हरि रुद्र के पाठ में तत्पर थे। लिंग पुराण में कहा है 'जजाप रुद्रं भगवान् कोटिवारं जलस्थितः' श्रीकृष्ण ने जल में खड़े होकर करोड़ बार

रुद्रीय का जप किया। यह भी नहीं माना जा सकता कि उन्होंने किया पर उनके भक्तों को करना आवश्यक नहीं, क्योंकि श्री कृष्ण स्वयं कहते हैं कि 'ततो ह स्वात्मनो भूत्यै ज्ञापयन्पूजयामि तम्' 'तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये' इत्यादि। अतः हम सभी ऐसा करें इसी उद्देश्य से उनका यह आचरण है।

कुछ कर्मजड व्यक्ति ब्राह्मण ग्रंथों में इसका अग्नि में विनियोग देखकर इसे अग्नि आराधना के लिये ही उपयुक्त मान लेते हैं। पर यह मीमांसा के अज्ञान से है। 'शब्दादेव प्रमितः' (ब्र० सू० १-३-२४) सूत्र में जैसे ईशान श्रुति की जीवपरता को न लेकर ब्रह्मपरता प्रतिपादित की गई है, वैसे ही शिव शंकर, भव, शर्व, पशुपति, रुद्रादि अनेक नामों के साहचर्य से यहाँ भी मानना पड़ेगा। 'जगतां पतये नमः' भी स्पष्ट ब्रह्मलिंग है। अतः पुरुषसूक्त का पुरुषमेघ में विनियोग होने पर भी जैसे पुरुषसूक्त की परमात्मरूप प्रतिपादकता बाधित नहीं मान सकते, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये।

परमहंस सम्प्रदाय सारे वेदों का प्रतिपाद्य एकमात्र महेश्वर को ही स्वीकारता है। रावण का भाष्य भी, अध्यात्मपरक ही है। कुसुमांजलि में स्पष्ट ही लिखा है 'कृत्स्न एव हि वेदोयं परमेश्वरगोचरः। स्वर्गद्वारैव तात्पर्य तस्य स्वर्गादिना विधौ' (पृष्ठ १६)। गीता भी 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यः' कहती है। ब्रह्मसूत्र भी 'तत्तु समन्वयात्' में, शास्त्रयोनित्वसूत्र में शास्त्र शब्द के परामर्श से समग्र वेदों का चरम समन्वय तत्पदार्थ में ही स्वीकारते हैं। इस वैदिक दृष्टि ने हिन्दू स्थापत्य पर अमित प्रभाव डाला है। गुप्त कालीन स्थापत्य में जो प्रायः पंचम शताब्दी खीष्ट के अन्तिम पाद में पड़ता है, शिव व शिव भक्तों को वीणा, वेणु, मृदंग, झांझ आदि बजाते हुए दिखाया गया है। यहीं शिव को सप्त स्वरों से विभक्त करते हुए शब्द ब्रह्म के रूप में दिखाया गया है। स्वर, क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, प वर्ग, य वर्ग, मुख, भुजा, पाद, मध्य, हृदय रूपी अंग में विद्यमान हैं। यह संगीतमय चित्र न केवल अद्भुत है, वरन् अति सुन्दर भी है। ऋषि पास में खड़े 'सप्तसामोपगीतम्' को चरितार्थ कर रहे हैं। वीणा दक्षिणामूर्ति ही नहीं, मृदंग दक्षिणामूर्ति भी इसी का शैलीमय (stylish) रूप है। स्वन्याय, प्रतिश्रवाय, दुन्दुभ्याय, आहनन्याय आदि रुद्राध्याय के शब्द इसी रूप को निरूपित करते हैं यह स्पष्ट है। सभी संगीतज्ञ शिव को ही प्रथम आचार्य स्वीकारते हैं। 'नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद ढक्कान्नव

पंचवारम्' प्रसिद्ध है। शिव का त्रिपुर दहन अति प्रसिद्ध है। इसकी प्रायः चतुर्भुजी या दशभुजी मूर्ति दिखाई जाती है। पर अहमदाबाद के गौतम साराभाई संग्रहालय में धनुष व बाण लिये त्रिपुरहर की द्विभुजी मूर्ति है। वस्तुतः रुद्र के प्रथम मन्त्र में जिस मूर्ति का उल्लेख है, वह स्पष्टतः बाण व धनुष लिये द्विभुजी मूर्ति (बाहुभ्यां) के रूप में वर्णित है। इसको देखने पर रुद्राध्याय के प्रथम मन्त्र का ध्यान श्लोक 'ध्यायेद्देवं सस्मितं स्यंदनार्थम् देव्यासार्धम्' आदि का स्मरण ही नहीं हो आता, वरन् त्रिपुरहर के महत्व का भी प्रकट रूप से स्मरण करा देता है। त्रिपुरासुर संहार के आध्यात्मिक रूप को विस्तार से मूल व्याख्यान में प्रतिपादित किया गया है, अतः यहां नहीं किया जा रहा है। तैत्तिरीय संहिता के ६–२–३ में भी त्रिपुरहर का विस्तृत वर्णन है। 'एपते रुद्रभागस्तं जुपामः। पिनाकहस्तः कृत्तिवासाः' तै० सं० १.२.६ एवं 'स्तुहिश्रुतं गर्त्तसदं युवानं मृगं न भीमं' ऋक् २.३३.११ आदि में त्रिपुरहर का विशेप रथ आदि स्पष्ट प्रतिपादित कर दिया गया है।

रुद्र के घोर व शिव रूप पर आधारित आगम की अनुग्रह मूर्ति व निग्रहमूर्ति (संहार) या उग्रमूर्तियों का वर्णन है। प्रथम मन्त्र उग्र मूर्ति का है तो द्वितोय सौम्य या अनुग्रह मूर्ति का। महाभारत अनुशासन पर्व १३-१४६ में 'द्वे तनू तस्य देवस्य वेदज्ञा ब्राह्मणा विदुः। घोरामन्यां शिवामन्यां' कहकर इसे स्पष्ट ही प्रतिपादित किया है। जिस प्रकार दक्षिणामूर्ति को 'शिवाघोरा चेतिश्रुतिषु विदिते ये तव तनू, तयोराद्यामूर्तिः परमरमणीया मम पुरः।' के द्वारा अनुग्रह मूर्तियों में सर्वश्रेष्ठ वताया है, वैसे ही काल संहार मूर्ति 'आज्ञातं भ्रुकुटिभीषण माननं' सर्वश्रेष्ठ है। 'प्रखिदते' के द्वारा रुद्र में यही संकेत है। मार्कण्डेय व श्वेत राजा के उपाख्यान पुराणों में कालांतक रूप में प्रसिद्ध ही हैं। मृत्युंजय मन्त्र में जो मृत्यु से बचने की प्रार्थना है, वह भी कालांतक रूप ही है, व उसमें जो अमृत प्राप्ति का अंश है वह दक्षिणामूर्ति का ही है। यहां भी 'हस्ते बिभर्ष्यस्तवे शिवां' से यही निग्रहानुग्रह रूप का संयोग बताया है। मृत्यु भय से भीत रुद्र से रक्षा की प्रार्थना का श्वेताश्वतरमन्त्र तो स्पष्ट ही कहता है कि 'कश्चिद् भीरुः प्रपद्यते रुद्रयत्ते दक्षिणं मुखं तेन मां पाहि नित्यं' [४·२१] यहां दोनों के रूपों के भेद का प्रतिपादन करते हुए भी एकता बताई गई है। इसी

निग्रहानुग्रह संयुक्त मूर्ति का स्थापत्य में अर्द्धनारीश्वर तथा हरिहर रूप में दर्शन होता है। 'शिवातनू' 'अघोरेभ्यो' आदि प्रथम के संकेत हैं, तो 'शिपिविष्ट' 'वामन' आदि द्वितीय के। तैत्तिरीय आरण्यक तो 'ॐ नमो भगवते रुद्राय विष्णवे मृत्युर्मे पाहि' से स्पष्टतया उस एकता का प्रतिपादक है जो हरिहर मूर्ति में ही सम्भव है। श्रुति तो स्पष्ट कहती है कि 'विष्णुः शिपिविष्टः'। आगमों में भी इसी का निर्देश है, तथा 'कालोस्मि' व 'ऐश्वरं योगं' आदि से गीता भी इसी की पुष्टि करती है। 'प्रथमो दैव्योभिषक्' से विषापहरण मूर्ति का स्थापत्य बना है। वैद्यनाथ आदि पुराणकथाओं का ही नहीं, व्रात्यों के साथ औषधि का सम्बन्ध, व आज भी यतियों में रोगनाश की शक्ति का बीज भी यहीं है। ऋग्वेद १-३३ स्पष्ट ही 'भिषक्तमं त्वा भिषजं वृणोमि' कहकर इसी को बता रहा है। वस्तुतस्तु वे अनुग्रह करके संसार रूप रोग का अपहरण करते हैं 'भिषजे भवरोगिणां'। संसार समुद्र के मन्थन की कथा मूल में वर्णित है। इसी प्रकार 'वृद्धाय', 'अग्रियाय', 'ज्येष्ठाय' आदि ब्रह्मा की मूर्ति को बताते हैं। किरात मूर्ति में शिव ने अर्जुन को दर्शन दिया था। इस मूर्ति को 'पुंजिष्ठाय' कहा है। निषादों के वे आराध्य हैं। कण्णप्प, आहुक, गुह आदि के कथानक प्रसिद्ध हैं। भाष्यकार भी शिवानंदलहरी में 'स्वामिन्नादि-किरात' से इसी को प्रतिपादित करते हैं। निषाद व पुंजिष्ठ को मिलाकर मत्स्यपुंज का अर्थ घातक भी होता है। 'विव्याधिने' से भी इसी की ध्वनि है। 'कल्पान्ते विशेषमुदितौ तौ मत्स्यकूर्मावुभौ कर्षन् धीवरतां गतस्य तु सतां मोहं महाभैरवः' सृष्टि के संहार के समय वह भैरव का रूप धारण करते हैं। इसको कल्पांत भैरव मूर्ति कहा गया है। वह नित्य शिव जल प्रलय के बाद वराहावतार के मांस को बिडिश बनाकर, वासुकि के मृत देह को रस्सी बनाकर, त्रिविक्रम की रीठ की हड्डी को डंडा (Fishing Rod) बनाकर नृसिंह के पंजे (claw) को कांटा (Hook) बना मत्स्य अवतार को पकड़ रहा है। इस चित्र की भीषणता रोंगटे खड़े कर देती है। अमरों में भी अमर विष्णु के अवतारों का भीषण संहार होने पर भी वह अकेला विहार कर रहा है। 'एक एव विहरन्' (शिवानन्दलहरी) से मानों यही शंकर द्वारा भी प्रदर्शित हो रहा है। हर की अनन्तता व पूर्णता का शिवलिंगरूप में इससे विलक्षण चित्र दुर्लभ है।

अनुग्रह मूर्तियों में 'प्रतिसर्याय' अर्थात् कंकण बन्ध (प्रतिसर) धारण करने वाली शिव मूर्ति ही दक्षिण के मन्दिरों में प्रसिद्ध कल्याण सुन्दर मूर्तियों के निर्माण का बीज है। ऐलीफेण्टा या मुम्बापुरी की गुफाओं में इसके वेश में शिव के प्रसिद्ध विग्रह का भी स्पष्ट सम्बन्ध है। कामप्रद मूर्ति धारण करके भी वह कामहर हैं। यह एक अद्भुत कल्पना है। स्वयं शिव की कल्पना है। जो तपः पूत है उनका वह वरण करते हैं, परन्तु काम को भस्म करके। जो नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्म अभिलाषाओं को पूर्ण करते हैं, वही चित्तशुद्धि भी करते हैं, यह शंकर का उद्घोष है। अभ्युदय व निःश्रेयस् के साधन अभिन्न हैं। जीव केन्द्रित होकर जो कामपूरक होने से अभ्युदयार्थ कर्म हैं, वे ही शिव केन्द्रित (ईश्वरार्पण) होकर कामनाशक अतएव निःश्रेयसार्थ हैं। 'प्रतिसर्याय' के साथ शतद्रीय इसीलिए 'सौभ्याय' कहती है। 'उभाभ्यां सह वर्तमानः सौभः' अभ्युदय निःश्रेयस् दोनों के साथ रहने वाले शिव हैं। अथवा 'पुण्यपापाभ्यां सह' अर्थात् पुण्यात्मा के लिये कल्याण वर्धक भी शिव हैं, तो पापात्मा के लिए 'प्रतिसरति' अर्थात् सरक कर मृत्यु रूप को प्रकट करते हैं, अतः कामनाशक हैं। केनोपनिषद् में इन्द्र के आते ही वह सरक गये थे। अभिमानी से साक्षी रूप दूर ही भागता है।

शितिकण्ठ-नीलग्रीव भी सौम्य रूप ही है, क्योंकि विषापहरण शिव के अनुग्रह का विशेष रूप है। देव व असुर दोनों दलों को एक साथ अनुगृहीत करना उस अतर्क्य शिव के द्वारा ही सम्भव है। समुद्र मन्थन से कालकूट विष का निकलना अचिन्त्य था। अमृत अन्वेषण में अकाण्ड ताण्डव उपस्थित हो पड़ा, जिसके लिए कोई तैयार नहीं था। रत्नों के ग्राहक तो अनेक थे, पर इसको कौन ग्रहण करे ? शंकर तो शंकर ठहरे। विना ननु नच किये सद्यः तैयार हो गये। उमा अवश्य घबराई, उनके सर्वस्व जो ठहरे। शिव की अमरता को जानकर भी सहज स्नेह ने रोकने की प्रेरणा की। उधर देवों के प्रतिनिधि परम शैव भगवान् विष्णु भी प्रयत्न कर रहे थे। दोनों के एक समान प्रेम-पात्र दोनों की बात रख लेते हैं। शिव नीलग्रीव बन जाते हैं। जहर को निगला भी नहीं, और निगल भी लिया। कण्ठ से नीचे को ले जाना निगलना शब्द का अर्थ है, तथा कण्ठ तक ले जाना भी निगलना है। इस अद्भुत योग क्रिया की उपमा कहीं नहीं मिल सकती। आचार्य शंकर कहते हैं :

संभ्रान्तायाः शिवायाः पतिविलयभिया सर्वलोकोपतापात्
संविग्नस्यापिविष्णोः सरभसमुभयोर्वारणप्रेरणाभ्यां।
मध्ये त्रैशंकवीयामनुभवति दशां यत्र हालाहलोष्मा
सोयं सर्वापदां नः शमयतु निचयं नीलकण्ठस्य कण्ठः ॥
[शिवकेशादि० २५]

प्रत्यक्ष मूर्ति में गंगा प्रसिद्ध है। कविकुलगुरु महाकवि कालिदास कहते हैं 'शंभोरंबुमयी मूर्तिः सैव देवी सुरापगाः' (कुमार सम्भव १०-२६)। इस पाप व ताप का अपहरण करने वाली कल्याणमयी मूर्ति का सनातनधर्म में सर्वाधिक महत्व है। किसी भी अधिकार का भेद किये बिना यही सबको सुलभ है। अन्त्यज से ब्रह्मविद्वरिष्ठ तक सभी को वे समान आश्रय देती हैं। 'ऊर्म्याय' में यही स्पष्ट किया गया है। उनके जटाभार में उनसे अभिन्न होकर वह शिवा कहीं प्रपात बनाती, कहीं बहती, कहीं शांत, तो कहीं लहरों से पर्वत प्रान्त को टुकड़े-टुकड़े करती हुई बहती है। ऐलीफेण्टा की गंगाधर मूर्ति स्थापत्य दृष्टि से उत्कृष्ट कला का नमूना है। विश्व धर्मों में ऐसी महान् सुन्दर कल्पना असम्भव है। आकाश लिंग में बादलों की जटा से वृष्टि-गंगा गरज कर बरसती है जिसे 'वर्ष्याय' कहा। गंगा तो 'सरित्याय' सरिद्वरिष्ठ ही है। हिम खण्डों की जटा से भागीरथी बहती है जिसे 'फेन्याय प्रवाह्याय' कहा गया। साधक के सहस्रार से ज्ञान गंगा का जो प्रवाह होता है वह दयामयी का रूप, 'गिरिशयाय''''''''सत्वानां पतये नमः' से कहा गया है। यही गंगा अश्रद्धालुओं का भी उपकार करती है जलदान करके, श्रद्धालुओं का उपकार करती है पुण्यदान करके, एवं साधक का कल्याण करती है उसे आत्मैक्य अनुभव देकर। गंगा शिव की प्रत्यक्ष मूर्तियों में वरिष्ठ है।

प्रत्यक्ष मूर्तियों में पंचमहाभूत मूर्ति, तथा सूर्य, चन्द्र व यजमान मूर्ति का भी सन्निवेश है। 'भूरम्भांस्यनलोनिलोम्बरमहर्नाथो हिमांशुः पुमान्' (दक्षिणा-मूर्ति स्तोत्र ९) व इसके वार्त्तिक में इसका निर्देश है। 'ये पृथिव्यां ये दिवि अग्नौ अप्सु ओषधिषु' आदि से इनका निरूपण किया गया है। चिदम्बर में आकाशमूर्ति, वृद्धाचल में कालहस्तीश्वर की वायुमूर्ति, तिरुवन्नमल्लै में तेज की लिंगोद्भव मूर्ति, जम्बुकेश्वर में जलमूर्ति, व कांचीपुरम् में पृथ्वी मूर्ति प्रसिद्ध है। इसी प्रकार सोमनाथ की चन्द्रमूर्ति, कोणार्क की सूर्य मूर्ति, पुष्कर

की यजमानमूर्ति भी प्रसिद्ध है। शिव की वायुरूपता तो मरुतों का रूप होने से 'प्रभे शुभन्त जनयो न सक्तयो यामन् रुद्रस्म सूनवः सुदमसः रोदसीः मसतश्च चक्रवे वृधे' (ऋग्वेद १-८५-१) आदि मन्त्रों से स्पष्ट है। प्राण भी वायु का व्यष्टि रूप है, एवं चेतन का प्रत्यक्ष लिंग भी यही है। 'प्राणो वा एष रुद्रः' आदि यजुर्वेद भी यही बताता है। वस्तुतः प्राण मरकर सभी को रुलाता है अतः उसका रुद्र या रुलाने वाला नाम सर्वथा सार्थक होता है। प्राणोपासना या राजयोग ही शैवयोग में निवृत्तिपरायण परमहंसों का प्रधान साधन है। 'व्रात्याय' के द्वारा यही स्पष्ट है। रुद्रयामल का उद्घोष है 'उर्ध्वं प्राणोह्यधो जीवो विसर्गात्मा परोच्चरेत् उत्पत्तिद्वितयस्थाने मरणाद् भरितास्थितिः।' प्राण रूप से बाहर आकर ऊर्ध्व लिंग में जाकर शिवमय या समष्टि हो जाता है। इसी प्रकार अपान रूप से भीतर जाकर हिरण्मय या जीव हो जाता है। शिव की पराशक्ति (चैतन्य) इस प्रकार सृष्टि रूप को प्रकट करते हुए अपने विसर्ग 'ह्' का उच्चारण करती है। इसका उत्पत्ति स्थान द्वादशान्त है जिस में प्राण रूपी रुद्र का बिन्दु रूप से ध्यान करने पर भैरव स्थिति को प्राप्त कर लेता है। यह भैरव रूप 'अघोरेभ्योथ' से कहा गया है। वस्तुतः यही वैदिक 'सोहं' मन्त्र का ध्यान है। सकार भी विसर्ग है व हकार भी विसर्ग है। यही दो बिन्दु हैं। हकार अहंकार या जीव है व सकार सदाशिव है। एक बिन्दु दर्पण में प्रतिबिम्बित होकर दो बना हुआ विसर्ग-रूप धारण करता है। बिन्दु शिव है क्योंकि वही बीज रूप में अपने में सभी को लीन करके देखता है। 'शेते अस्मिन् इति शिवः' व्युत्पति में बिन्दुरूपता अति स्पष्ट है। वही शक्ति (माया या अविद्या) के सामने आने पर जीव सृष्टि या विसर्ग का हेतु बन जाता है। 'अध्यास एव च' आदि बादरायण सूत्र से यह स्पष्ट है। आधिभौतिक दृष्ट्या कैलाश ही द्वादशांत है जहाँ भारत की संस्कृति की परिधि समाप्त होती है। काशी हृदय है। कैलाश व काशी ही विसर्ग हैं। अधिदैव में तो सूर्य व चन्द्र ही विसर्ग है। सूर्य का प्रतिबिम्ब अमृमय चन्द्रमा में पड़ता है यह श्रुतिसिद्धि भी है, व विज्ञान द्वारा प्रदर्शित भी कर दिया गया है। 'गह्वरेष्ठाय' आदि इसके प्रदर्शक नाम हैं।

रुलाने वाला रावण रोने वाला रावण बन जाता है, जब वह कैलाश को हिलाता है एवं पार्वती के आग्रह से शिव उसे दबाते हैं। साधक रुलाने

वाले प्राण को दबाकर इन्द्रियों को तप में रुलाता है। श्रुति ही पार्वती है। इस प्रकार मरुत का सम्बन्ध शैव साधना से बड़ा ही घनिष्ट है।

विद्युद्रूप का 'विद्युत्या' से स्पष्ट उल्लेख मिलता है। कुण्डली ही विद्युद्रूप है। दक्षिणामूर्ति का वटवृक्ष के नीचे बैठना छांदोग्य उपनिषद के वटधान द्वारा श्वेतकेतु को ज्ञान कराने का निर्देशक ही है। वृक्ष के साथ देव सम्बन्ध अति प्राचीन है। बट शिव का,तो पीपल विष्णु का, पलाश ब्रह्मा का, आकड़ा सूर्य का, सोम चन्द्र का प्रतीक प्रसिद्ध है। 'वृक्षेभ्यो' से इन्हीं रूपों का संकेत है। 'कपर्दिने' व 'हरिकेशेभ्यः' से स्पष्ट है कि वृक्षों के हरे पत्ते या हरियाली उनकी जटा है। मेधावी देखेंगे कि वर्षा का हरियाली से घनिष्ट सम्बन्ध ही दोनों को जटा का प्रतीक बताने में हेतु है। 'पिशंगिने' व 'कडाराय' से जटाओं का रंग अग्निशिखाओं के रूप में निर्दिष्ट है। वैसे भी 'सस्पिजराय' व 'त्विषीमते' से अग्नि व रुद्र को तादात्म्य सम्बन्ध वाला बताया है जो तैत्तिरीय शाखा के 'रुद्रो वा एष यदग्निः' का ही विस्तार है। क्षेत्रपाल मूर्तियों में अग्निमयी जटा प्रत्यक्ष है। तीसरी शताब्दी के यज्ञेश्वर रूप में, जो राष्ट्रीय संग्रहालय में है, ज्वालायें सम्भवतः सुन्दरतम रूप से अंकित हैं। भैरव मूर्ति का ज्वाला केश भी इसका स्थापत्य रूप है। ज्वाला तपस्या का रूप है। 'जटाभिस्तापसः'। अतः तप का जटा व धूनी से सम्बन्ध वैदिक काल से ही चला आ रहा है। नागा सम्प्रदाय ही नहीं वैरागी, उदासी सभी सम्प्रदायों में दोनों का सम्बन्ध स्वीकृत है। किसी भी व्यक्ति के साधना में प्रवृत्त होने पर आज भी केशवृद्धि में रुचि इसी का परिणाम है। योगेश्वर के इस रूप का 'रुद्रो महर्षिः' (तैत्तिरीय आरण्यक, १२—१२) में उल्लेख स्पष्ट है। 'यः परस्ताद्यतीनां' से मालविकाग्निमित्र के नान्दी में महामाहेश्वर कालिदास भी यही बताते हैं। दक्षिणामूर्ति की जटा व ज्ञानोपदेश का रहस्य श्रुति के 'यस्य ज्ञानमयं तपः' में है। इस प्रकार अग्नि ज्ञानाग्नि का प्रतीक बनकर भी जटा में संकेतित हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि शिव की जटा एक अतिरहस्यात्मक तत्व है। जब वे दयामय, अपने ज्ञान व तप को ढक देते हैं, एवं कामियों को काम देते हैं तो 'उष्णीषिणे' रूप भी उनका ही है। इसी ढकने के रूप को 'कृत्तिवासन' एवं 'कृत्तिवासाः' से कहा गया है। गज ही कामुकता में प्रसिद्ध है। हथिनी के स्पर्शलोभ से ही हाथी फंसता है। शिव गजासुर

को मारकर उसे पुनरुज्जीवन देते हुए धारण करते हैं। उसका असुरत्व नष्ट हो जाता है। इस प्रकार गजान्तक रूप का यहाँ प्रतिपादन है। विज्ञ देखेंगे कि अग्नि को जलाकर भस्मधारण करना भी कामाग्नि को जलाकर उसके शेष को धारण करना है। इस प्रकार शिव के दोनों वस्त्र एक ही बात के प्रतीक हैं। अविद्या को जलाकर अविद्यालेश को धारण करना ही जीवन्मुक्ति का प्रसिद्ध रूप है। अविद्यालेश से जीवन्मुक्त ब्रह्मविद्वरिष्ठ की वास्तविक असंगरूपता आच्छादित रहती है। देहरूपी गज को धारण करना ही कृत्तिवासा बनना हैं। आचार्य सुरेश्वर इसीलिये प्रथम 'रागो लिंगमबोधस्य' कह कर अन्त में 'रागादयस्सन्तु कामाः' कहते हैं। यही नृत्य नटराज का रूप है। 'सभापतिम्यः' के द्वारा यही बताया है। आज भी चिदम्बर में नटराज को सभापति ही कहा जाता है। नग्न रूप से जो व्रात्य हैं, वे ही नटराज रूप से सभापति हैं। साधनावस्था में जो परमहंस 'विषमिव विषयान्' का अभ्यास करता है, वही इस नृत्य के माहात्म्य को समझकर 'जगदेव नन्दनवनं' का अनुभव करता है। सारे जगत् को ईश्वर की नटराज मूर्ति समझना ही तो इसे आनन्द का वन समझना है।

भूत, प्रेत, पिशाच 'गणानां पतये' गणों के पति होने से महाश्मशान आनन्दवन में नटन करने से वे भूतपति कहे जाते हैं। वाराणसी को पुराणों में श्मशान क्षेत्र ही कहा है। 'येभूताः प्रचरन्ति दिवा नक्तं वलिमिच्छन्तो वितुदस्य प्रेष्याः' (तै० आ० १०—६७) में इसे स्पष्ट किया गया है, तै० आ० १०—२४ में तो 'विश्वं भूतं भुवनं चित्रं बहुधा जातं जायमानं च यत् सर्वो ह्येष रुद्रः तस्मै रुद्राय नमो अस्तु' कहकर कण कण व क्षण क्षण में रुद्र की व्यापकता को प्रतिपादित किया गया है। इसी का विस्तार व संक्षेप रुद्र है यह स्पष्ट है।

१

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः ।
बाहुभ्यामुत ते नमः ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमस्ते रुद्र मन्यव उतो त इषवे नमः ।
नमस्ते अस्तु धन्वने बाहुभ्यामुत ते नमः ।।

हे रुद्र ! तुम्हारे रूठे या क्रोध रूप को नमस्कार है । एवं तुम्हारे वाण, धनुष तथा दोनों भुजाओं को नमस्कार है ।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में ११ अनुवाक् हैं । प्रत्येक अनुवाक् के अंत में सम्पुट लगाकर चमकाध्याय के साथ ११ पाठ होते हैं । रुद्र एकादश हैं । 'प्राणो वे रुद्रः' इस शातपथश्रुति से पाँच कर्मेन्द्रियां, पाँच ज्ञानेन्द्रियां तथा अन्तः करण ही ११ रुद्र हैं । अतः यह व्यवस्था शुक्ल यजुर्वेद की माध्यंदिन शाखा की अपेक्षा संगततर हैं । प्रथम अनुवाक् से शिव प्रसाद प्रार्थित है । दूसरे से आठवें तक सर्वेश्वर सर्वात्मक सर्वान्तर्यामी रूप से शिव को नमन किया गया है । दसवें में महेश्वर की प्रार्थना व ग्यारहवें में शिवगणों की, जो उन्हीं के अंशभूत हैं, प्रार्थना है ।

प्रथम मन्त्र में शुक्ल यजुर्वेद में धनुष् को छोड़ दिया है । रुद्र शब्द से प्रणत दुःखों का द्रावक ही शिव का स्वभाव बताया गया है । 'रुद् दुःखं दुःखहेतुर्वा तद्द्रावयति नः प्रभुः । रुद्र इत्युच्यते तस्माच्छिवः परम कारणम् ।' के द्वारा पुराणों में इसे कहा गया है । इस मन्त्र से दण्डप्रणाम करते हुए प्रदक्षिणा करने से पापक्षय होकर शिवानुग्रह प्राप्त हो अद्वैत तत्त्व में श्रद्धा होती है यह अनुभवसिद्ध है । किसी कवि ने कहा है 'अंतःशरीरेष्वपि यः प्रजानां प्रत्यादिदेशाविनयं विनेता' मन में अशास्त्रीय संकल्प उठते ही प्रभु वहीं दण्ड दे देते हैं । उनका

क्रोध समग्र जगत् को भस्म करने में समर्थ है। धनुष व बाण त्रिपुरान्तक मूर्ति में है। वे समग्र देवों के हृदय रूप हैं, आत्मरूप हैं। अतः यदि मेरु उनका धनुष दण्ड व वासुकि प्रत्यंचा है तो स्वयं विष्णु बाण हैं। उन चैतन्यघन के अस्त्र भी चेतन देव हैं। 'शल्यं विष्णुः' कहकर स्वयं श्रुति इस उपाख्यान का असुराणां तिस्रः पुरः' से वर्णन करते हुए प्रतिपादित करती है। जीव के तीन शरीरों का नाश ही आध्यात्मिक लीला है।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[यह मन्त्र नहीं है]

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

या त इषुः शिवतमा शिवं बभूव ते धनुः।
शिवा शरव्या या तव तया नो रुद्र मृडय॥

यह मन्त्र माध्यन्दिन रुद्र में नहीं है। मूल ग्रन्थ में बाण को जीव इसी मन्त्र के आधार पर बताया गया है। यद्यपि वहाँ उपनिषद् को प्रमाणत्वेन उद्धृत किया है पर कृष्ण शाखा में इसी प्रकरण में पठित होने से सान्निध्य व प्रकरण से सिद्ध होने से वह पुष्टतर होता है। इसमें प्रार्थना है कि हे रुद्र! जो तुम्हारे बाण, धनुष, व तरकस अत्यन्त शान्त हो गये हैं, उन कल्याणमय आयुधों से हमें सुख की प्राप्ति कराओ। तात्पर्य है कि पहले जब मैं आपसे विमुख होकर विषयों के अधीन था तब वे मेरे लिए घोर रूप वाले थे, पर अब आपको अपना आश्रय स्वीकारने पर आपका नमन करने के फलस्वरूप वे ही कल्याण के साधन हो पड़े हैं। जो कामना से प्रयुक्त कर्म हैं वे ही ईश्वराज्ञा से प्रयुक्त होने पर जीव के कल्याण साधन हो जाते हैं। यही रहस्य है। शिवा या कल्याणमयी लक्ष्मी के पति ही तो उनके बाण हैं। 'या लक्ष्मीस्त्रिजगच्छरण्यचरणा तस्याः पतिर्यच्छरः' से शिवोत्कर्षसेमजरी यही प्रतिपादित करती है। नारायण पालक भी हैं व अवतारों के रूप को धारण करने के द्वारा दुष्ट-प्रधर्षक भी। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृतां' के गीतोद्घोष का श्रौत आधार यह मन्त्र है।

२

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

या ते रुद्र शिवा तनूरघोराऽपापकाशिनी ।
तया नस्तनुवा शन्तमया गिरिशन्ताभिचाकशीहि ।

हे रुद्र ! आपका अघोर पापनाशक कल्याणकारी परमशान्त रूप हमारे सामने प्रकट हो ।

महाभारत में 'द्वे तनू तस्य देवस्य देवज्ञा ब्रह्मणा विदुः घोरा चान्या शिवा चान्या ते चैव शतधा पुनः' से सौम्य व घोर दोनों शिव के रूपों का सैकड़ों मूर्तियों में प्रतीत होना बताया है । प्रत्येक साधक को वे दयामय उसके मनोनुकूल रूप में दर्शन देते हैं । केवल अघोरा न कहकर उसे शिवा कहना उसके परमपुरुषार्थप्रदता का प्रतिपादन करने के लिए है । न केवल वे अज्ञान नष्ट कर देते हैं, या समाधि में जगत् के दर्शन से बचाते हैं, वरन् वे ब्रह्मात्मैक्य वृत्तिरूप से उमा या शिवा भी हैं । श्रुति का कहना है कि जैसे सरकन्डा अग्नि से जलता है वैसे ही सभी पापों को शिवज्ञान नष्ट कर देता है । 'तद्यथेषीकातूलमग्नौ प्रोतं प्रदूयेत एवं ह वास्य सर्वे पाप्मनः प्रदूयन्ते ।' श्रीकृष्ण का भी उद्घोष है 'ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ।' शिव को श्वेताश्वतर उपनिषद् 'आत्मबुद्धिप्रकाशं' [६·१८] कहती है । 'गिरि' अर्थात् उपनिषद् की वाणी में जो स्थित होकर, 'शं' अर्थात् मोक्षरूप कल्याण को 'तनोति,' देता है, वही गिरिशंत है । अतः औषनिषद पुरुष का भी यहाँ प्रतिपादन है । वामदेव या दक्षिणामूर्ति अघोर हैं । भैरव मूर्ति घोर है ।

शिवरहस्य कहता है 'यः शिवो नामरूपाभ्यां या शिवा सर्व मंगला'। अतः शिव और शिवा दोनों का नाम व रूप दोनों ही मंगलकारी हैं। शिव साक्षात् मंगलकारी हैं व शिवा उनकी शक्ति होने से। बुद्धि की मंगलरूपता उसके शिवाकारता को ग्रहण करने से ही है, स्वरूप से नहीं। शिवोत्कर्षमंजरी कहती है 'नाशव्याप्यममंगलं तदितरं मांगल्यं' जो नष्ट होता है वह सारा ही बाध्यमान् जगत् अमंगल है, तथा जो बाध्र का अवशिष्ट साक्षीरूप कभी नष्ट न होने वाला है वही मंगलता है। एक बार उस शिव को देख लिया तो सभी परिस्थितियों में आनन्दसागर की तरंग-परम्परा से आन्दोलित होता हुआ सुख में ही सदा लीन रहता है। आचार्य पुष्पदन्त कहते हैं कि सभी अमंगलों वाले बाध्यमान् जगत् में एकमात्र शिव का नाम ही स्मरण करने वालों को समग्र मंगल देता है—'अमंगल्यं शीलं तव भवतु नामैवमखिलम्'। एकमात्र अबाध्य साक्षी ही मंगलरूप है।

●

३

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिँ्सीः पुरुषं जगत्॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

यामिषुं गिरिशन्त हस्ते बिभर्ष्यस्तवे।
शिवां गिरित्र तां कुरु मा हिँ्सीः पुरुषं जगत्॥

हे कैलासवासी! गिरित्राता! जिस वाण को हाथ में लिया है उसे कल्याण-स्वरूप बनाओ। संसार व इसके निवासियों की हिंसा न हो।

अनिष्ट परिहार की प्रार्थना है। अकृत्यकारी भी मेरा भजन करने से मेरा संरक्ष्य हो जाता है ऐसी भोलेनाथ की प्रतिज्ञा है। 'यज्ञे मा भज अथ ते

पशून्नाभिमंस्ये' श्रुति इसको स्पष्टतया बताती है। इस प्रकार की श्रौत प्रतिज्ञा से वे त्राता हैं। इसके द्वारा अपने पापों को स्वीकारा भी गया, एवं उनसे रक्षा की प्रार्थना भी की गई। 'गिरिं त्रायते' अपनी वाणी का त्राण अर्थात् रक्षण करने वाले वे दयामय हैं, यह भाव है। जीव भाव को दूर फेंकना या अस्त करना ही जीव को अपने हाथ में लेने का, शरण में लेने का उद्देश्य है। जगत् व पुरुष की हिंसा से ध्वनित किया कि जो पुरुषार्थ में प्रवृत्त है उसके साधनरूपी अनात्मा भी नष्ट न हों, और न उसका पुरुषार्थ का प्रयत्न ही नष्ट हो।

●

४

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मँ सुमना असत्॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

शिवेन वचसा त्वा गिरिशाच्छा वदामसि।
यथा नः सर्वमिज्जगदयक्ष्मँ सुमना असत्॥४॥

हे गिरि! शिव वचन के प्रभाव से हम तुम्हारा निर्मल प्रतिपादन करते हैं, जिससे हमारा सारा जड व चेतन जगत् दुःखहीन तथा सौमनस्य से भर जाये।

वेद के मंत्रों का या शिवनाम के कीर्तनों का प्रभाव यहाँ बताया गया है। याज्ञवल्क्य ने भी शतरुद्रीय के कीर्त्तन का फल मोक्ष बताया है। 'अक्षम्यं

पदं आप्यं अत्र च सकृद् यत् कीर्तनं साधनं' से शिवोत्कर्षमंजरी भी एकबार के कीर्त्तन से भी परम पद की प्राप्ति बताती है।

५

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।

अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्योऽधराचीः परा सुव ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।

अहीँश्च सर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यः ॥

सब देवों से श्रेष्ठ, देवों का हितकारी, संसार रोग को निवृत्त करने वाला शिव प्रत्यक्ष व अनुमान के अविषय का वेदों से पूर्णरूपेण प्रतिपादन करता है। आपकी प्राप्ति की सारी बाधाओं, सिद्धियों के लोभों को व निम्नगामिनी कामादि वृत्तियों को आप हमसे दूर करें।

ज्ञान सम्बन्धर् कहते हैं कि शिव ही चारों वेदों तथा उनके अर्थों को बताते हैं। इसीलिये शिवोत्कर्षमंजरी में उनके होठों का वर्णन करते हुए कहा है कि 'शास्त्राणि श्रुतयोपि यदधरस्पन्दं प्रतीक्ष्यासते' सभी शास्त्र व वेद उनके होठों के स्पन्दन पर ही निर्भर करते हैं। अतः उनका अधिवक्तृत्व सहज है, प्रयास साध्य नहीं। क्रियाओं में भूतकालीन प्रयुक्ति तो उनके निरंकुश ऐश्वर्य को प्रतिपादित करती है। वे पहले रक्षा कर लेते हैं तब उसके कारण रूप से साधना करवा लेते हैं। अतः साधना में प्रवृत्ति साध्यप्राप्ति का निश्चायक प्रमाण है।

प्राचीन काल से सर्प वैद्य का प्रतीक है। सर्प के विष की निवृत्ति करने वाली ही सम्भवतः प्रथम औषधि थी। उपमन्यु कहते हैं 'सविषैरिव

भीमपन्नगैर्विषयैरेभिरलं परीक्षितम्' । शिव विषयो की आसक्तिरूप सर्पविष के नाशक हैं । अश्वतर संगीत के, व पतंजलि व्याकरण के आचार्य सर्प ही हैं । कर्कोटक व शेष जैसे भयंकर नाग उनके अंगभूषण हैं । भूत, प्रेत, पिशाचों के गणों का संकेत यहां यातुधान्य से किया गया है । विष ही विष की औषधि है, अतः करुणाघन शंकर ने वेदों के नाम व रूपों की औषधि से जीव के जगदात्मक नामरूप विषापहरण का मार्ग प्रतिपादित किया । यह मन का संसार से मुख फिरा देना ही सभी साधना का स्वरूप है । मधुसूदन सरस्वती गूढार्थदीपिका में कहते हैं कि आत्मार्थ प्रवृति भी निवृत्ति है, व अनात्मार्थ निवृत्ति भी प्रवृत्ति है । इस प्रकार साधना प्रधान यह मन्त्र है ।

●

६

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः ।

ये चैन्ँ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाँ हेड ईमहे ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः ।

ये चैमाँ रुद्रा अभितो दिक्षु श्रिताः सहस्रशोऽवैषाँ हेड ईमहे ॥

जो प्रत्यक्ष ताम्र, अरुण व भूरा दीखता है वह सभी श्रेष्ठ मंगलरूप है । जो असंख्य रुद्र इन्हें सभी दिशाओं से घेरे हुए हैं उनके क्रोध को हटाने के लिए हम स्तुति करते हैं ।

उनको रुद्ररूप से समझना ही उनको प्रसन्न करना है। सर्व को ब्रह्मरूप से ग्रहण करने से, विहित अकरण व निषिद्धकरण रूप जो काम, क्रोध, लोभ, मोह, आदि हैं, वे स्वतः दूर हो जाते हैं। यही रुद्र की प्रसन्नता है। यह व अग्रिम मन्त्र प्रधान रूप से शिव की आदित्यमूर्ति का वर्णन करता है। उदयकाल में अत्यन्त लाल या तांबे के रंग का सूर्य तारकोपेता संध्या करने वालों को दिखाई देता है। उसके बाद कम लाल रंग का सूर्य देर से उठने वालों को दिखाई देता है। मानो शिव सभी साधकों पर दया करने के लिये मौजूद रहना चाहते हैं कि सभी साधक मेरा दर्शन करके कृतार्थ हो जावें। दिन भर वह भूरे रंग का तो है ही। अन्धकार व सर्दी को दूर करने के कारण वह मंगलरूप है। वस्तुतः समझने वाले के लिए तो शिवरूप अज्ञानांधकार व दुःख रूपी सर्दी को दूर करने वाला होने से श्रेष्ठ मंगलरूप है। शिव के बिना सभी अशिव है। उसकी असंख्य किरणें, या किरणों के अधिष्ठाता देवता, शिव नियोग से पुण्य पाप का फल देने के लिए सर्वत्र स्थित हैं। उनके फलदाता रूप को दूर करने का उपाय सभी में शिवदर्शन ही है। चण्डी रहस्य में 'अंगानि ते भुवनमंगलमंगलानि' से भी यही कहा गया है। हेड अर्थात् क्रोध सदृश तीक्ष्णता। 'अवेमहे निवारयामः, तत्त्वमस्याद्युपदेशैः जीवभावमिति लक्ष्यार्थः।'

●

७

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।

उतैनं गोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः[१] स दृष्टो मृडयाति नः॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

असौ योऽवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।

उतैनंगोपा अदृशन्नदृशन्नुदहार्यः उतैनं

विश्वा भूतानि स दृष्टो मृडयाति नः॥

---

१. 'अदृश्रन्नदृश्रन्नुदहार्यः' इति पाठान्तरः।

यह चलता हुआ प्रत्यक्ष नीलकण्ठ विरक्त शिव गोप गोपियों तथा पनि-हारिनों को भी दिखता है। पर जानकर दर्शन करने से में हमें परमानन्दप्रद होता है। तैत्तिरीय शाखा का 'विश्वाभूतानि' उसे प्राणीमात्र के अनुभव का विषय बताता है। इस प्रकार यह शुक्ल के अर्थ को स्पष्ट कर देता है। वस्तुतः उसके ज्ञान की सरलता बताना इस मन्त्र का तात्पर्य है। प्रायः शिवानुभूति कठिन मानी जाती है। यहाँ विपरीत प्रतिपादन है। पर निरन्तर जाने जाने पर भी समझा नहीं जाता है। वह धीरे धीरे सरकता है कि सभी दर्शन कर लें। पनिहारिनें प्रातः सायं पानी भरती हैं। अतः वही समय उपस्थान का है यह भी बता दिया गया। गुणों को प्रकट कर दोषों को छिपाना ही बुद्धिमान् का कार्य है। 'गुणदोषौ बुधो गृह्णन् इन्दु-क्ष्वेडाविवेश्वरः शिरसा श्लाघते पूर्वं परंकण्ठे नियच्छति' अतः शिव चन्द्र को सिर पर प्रकट व विष को कण्ठ के अन्दर छिपाते हैं। ●

८

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमोऽस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वानो हंतेभ्योऽकरं नमः॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो अस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे।
अथो ये अस्य सत्वानोऽहंतेभ्योऽकरन्नमः॥

हजार करणों वाले, आनन्दवर्षक नीलकण्ठ महादेव को नमस्कार है। उनमें सात्विक बली रूपों को मैं नमस्कार करता हूँ।

'विश्वं शतं सहस्रञ्च सर्वमक्षय्यवाचकम् से यहाँ हजार का अर्थ अनन्त ही लेना योग्य है। शिव अपरिच्छिन्न दृष्टि वाले हैं यही भाव है। 'नीलग्रीव'

से दयालुता व 'मीढुषे=वृष्टिकर्त्रे' से सभी इष्टसिद्धि देने में समर्थता बताई गई। 'सत्त्वाः' से उनके प्रमथगणों को ध्वनित किया। 'श्रुतेन ब्रह्मचर्येण तपसा च दमेन च । ये समासाद्य शूलांकं भवसायुज्यमागताः' से महाभारत में इन प्रमथगणों के साधनरूप का निरूपण किया गया है। सहस्राक्ष के द्वारा विराट् पुरुष का प्रतिपादन है, जिसे 'सहस्राक्षः सहस्रपात्' से पुरुषसूक्त में 'विश्वतश्चक्षुः' से अथर्ववेद में तथा 'नानादिव्याकृतीनि च' से भगवद्गीता में कहा है। गीता में विराट् रूप दिखाते समय कृष्ण ने स्पष्ट ही ऐश्वर योग तथा 'कालोस्मि' के द्वारा बताया है कि यह सर्वरूप वस्तुतः शिव सायुज्य प्राप्त होने से ही वे दिखा रहे हैं। ब्राह्मण दधीचि व क्षत्रिय क्षुप की कथा में भी स्पष्ट हो जाता है कि दधीचि भी शिवसायुज्य प्राप्त होने से विष्णु के सदृश विराट् रूप दिखा सके थे। इन्द्र भी सहस्राक्ष है। अतः वैदिक इन्द्र व रुद्र की एकता भी यहाँ प्रतिपादित है। जैन पुराणों में इन्द्र के नृत्य का वर्णन आता है। उधर कृष्णावतार में विष्णु की नटनकला प्रसिद्ध है। इस प्रकार इन्द्र व विष्णु (उपेन्द्र) दोनों रुद्रगण सिद्ध होते हैं।

●

६

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

प्रमुञ्च धन्वनस्त्वमुभयोरार्त्न्योर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वपः ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

प्रमुञ्च धनवनस्त्वमुभयोरार्त्नियोर्ज्याम् ।
याश्च ते हस्त इषवः परा ता भगवो वप ॥

हे भगवन् ! आप धनुष के दोनों कोनों की डोर को उतार दें एवं जो बाण आपके हाथ में हैं उन्हें भी रख दें। अर्थात् अब धनुष व बाण का प्रयोग

न करें । अधिज्या से आरोपित धनुष ही काम में लिया जा सकता है । यहां से आगे के चार मन्त्रों में आयुधों के उपसंहार की प्रार्थना है । यद्यपि तृतीय मन्त्र में भी यही प्रार्थना थी, पर भयातिशय से पौनः पुन्येन करने से पुनरुक्ति की शंका नहीं करनी चाहिये ।

'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः । ज्ञानवैराग्यमित्येषां षण्णां भगइ-तीरण ।। उत्पत्तिं प्रलयं चैव भूतानामागतिङ्गतिं । वेत्तिविद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति ।।' के द्वारा भगवत्ता का प्रतिपादन किया गया है । सम्पूर्ण ऐश्वर्य, वीर्य, यश, श्री, वैराग्य एवं उत्पत्ति, प्रलय, भूतागति, भूतगति, अविद्या शक्ति तथा विद्याशक्ति का ज्ञान जहाँ हो वहीं भगवत्तत्व है । चूँकि आपका पिनाक धनुष मेरू का है अतः उसे आपके सिवाय कोई उतार नहीं सकता । 'स्थिरधन्वने' से श्रुति भी यही कहती है । परवर्ती रामायण में राम द्वारा प्रत्यंचा चढ़ाना भी इसी को द्योतित करता है । स्वयं शिव ही प्रसन्न होकर इसे उतार सकते हैं अतः उन्हीं से इसकी प्रार्थना है । धनुष उतरने पर भी बाणों का भय है । अतः उन्हें भी पराङ्मुख करने की सामर्थ्य आपकी ही है । वस्तुतस्तु प्रणवरूप धनुष के अहंकार रूप ज्या की आवरण व विक्षेप ही दो कोटियों हैं जिन्हें उतारना है । अन्य बाणरूप जीव भी बहिर्मुखता को छोड़ शिव को विषय कर स्वरूपानन्द वाले हो जावें ।

इसके बाद तैत्तिरीय शाखा में 'अवतत्य धनुस्त्वं' आदि मन्त्र मिलता है जो माध्यन्दिन शाखा में तेरहवां है, अतः वहीं इस तैत्तिरीय पाठ का विचार किया है ।

१०

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

विज्यंधनुः कपर्दिनो विशल्यो बांणवाँ २ उत ।

अनेशन्नस्य या इषव आभुरस्य निषङ्गधिः ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

विज्यं धनुः कपर्दिनो विशल्यो बाँणवाँ उत ।

अनेशन्नस्येषव आभुरस्य निषंगथिः ॥

जटाजूटधारी शंकर धनुष व बाणों के शल्य को उतार दें जिससे वे कार्य करने में असमर्थ हो जावें । उनकी म्यान व ढाल भी कार्यकारी न रह जावे । बाणवान् से तरकस भी समझ सकते हैं । तब तात्पर्य होगा कि तरकस बाणशून्य (विशल्य) हो जावें । एवं बाण भी अनेशन्=वेधन में असमर्थतारूप विनाश को प्राप्त हो जावे । नश् धातु का प्रार्थना, आशा में लङ् छान्दस् प्रयोग माना जायेगा । निषंगधिः=खड्गकोश । आभुः=ईषत्प्रभु हो । तात्पर्य है कि खड्ग, धारण मात्र के योग्य रह जाय, काटने के योग्य नहीं । खड्ग खिचने में समर्थ हो ।

यद्यपि शिव अविद्या के भी मायाधीश होने से साधक हैं, पर वे ही दक्षिणामूर्ति रूप में माया के बाधक भी बन जाते हैं । अतः धनुषबाण को क्यों उतारेंगे यह शंका प्राप्त नहीं है । कपर्द का तात्पर्य वस्तुतः 'चतुष्कपर्दी' आदि ऋग्वेद के अनुसार वृत्ति चतुष्टय का आश्रय अंतःकरण ही है । उससे तादात्म्यापन्न होने से वे कपर्दी हैं । वे साक्षी रूप से उपहित होकर तादात्म्यापन्न हैं, एवं जीव, विशिष्ट होकर, यह विषय दूसरा है । काम, क्रोध आदि बाण अनेशन् अर्थात् कार्य करने में अक्षम हो जावें, तथा वैराग्यरूपी

खड्ग बाधितानुवृत्या ईषत्सामर्थ्य वाला बना रहे। कामादि का आश्रय मन भी निषंगधिः हो सकता है। तात्पर्य है कि साक्षी शिव आवरण विक्षेप को समाप्त करके जीव को भी शल्य अर्थात् आसक्ति से रहित कर दें, जिससे प्रारब्धभोग इसे शिवभाव को देखने से न रोक सके तथा बाधितानुवृत्ति चलती रहे।

११

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः।
तयाऽस्मान्विश्वनस्त्वमयक्ष्मया परिब्भुज ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

या ते हेतिर्मीढुष्टम हस्ते बभूव ते धनुः।
तयाऽस्मान्विश्वतस्त्वमयक्ष्मया परिब्भुज ॥

आयुधों के उपसंहार की प्रार्थना के वाद अब अपनी आत्मरक्षण की प्रार्थना करते हैं। हे परम दयालु ! सभी प्रकार की इष्टकामना को पूर्ण करने वाले शंकर ! आप अपने हाथ के धनुष आदि शस्त्र के द्वारा हमारे सभी कष्टों को दूर करके सभी तरफ से हमारी रक्षा करो।

सब देवताओं में शिव ही मीढुष्टम हैं, क्योंकि वे आशुतोष भी हैं, तथा सर्वाधिक सामर्थ्य वाले भी। स्वयं भोगी न होने से देने में संकोच की सम्भावना भी नहीं है। कालिदास कहते हैं 'प्रणतबहुफले यः स्वयं कृतिवासाः' (मालविकाग्नि०) विनेयों को अत्यधिक फल देने वाले होने पर भी स्वयं गजचर्ममात्र पहनते हैं। आचार्य पुष्पदन्त का भी कहना है कि 'नहि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति'। अयक्ष्मया=अनुपद्रव-कारिण्या। परिब्भुज=परिपालय। आपकी विद्याशक्ति से सम्पन्न सकल अनर्थों को शांत

करने वाले दक्षिणामूर्ति विद्यादान द्वारा हमारा पालन करें। भक्त के रोग, शोक, तापों का निवर्त्तक यही सौम्य रूप है। विश्वतः=समग्र दुरितों से। कालरूप अस्त्र ही 'हेति' है। काल प्रारब्धभोग ही है। हमारे प्रारब्ध भोगकाल में तुम ही रक्षा करो। आपका यह अयक्ष्मया=दृढतरया। ज्ञान से भी नष्ट न होने वाला संकल्प है। पर हम आपकी शरण हैं। अतः प्रति भोग के समापन में आपकी कृपा का अनुभव हो। शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'सपर्यापर्यायस्तव-भवतु यन्मे विलसितं'॥

तैत्तिरीय शाखा में इसके बाद 'नमस्ते अस्त्वायुधाय' आदि मन्त्र है जो माध्यांदिन में चौदहवां है, अतः इस तैत्तिरीय पाठ का वहीं विचार किया है।

१२

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान् वृणक्तु विश्वतः।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मिन्निधेहि तम्॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

परि ते धन्वनो हेतिरस्मान्वृणक्तु विश्वतः।
अथो य इषुधिस्तवारे अस्मन्निधेहि तम्॥

आपके धनुष के अस्त्र हमारी ओर किसी भी तरफ से न आवें। अपना तरकस हमसे बहुत दूर रखें। वृणक्तु=वर्जितं करोतु। आरे=दूरे। धनुष सम्बन्धी अर्थात् धनुष में आरोपित हेतियां सभी प्रकार के उपद्रवों से रक्षा करें। अथवा जो आपके तीखे बाणों का इषुधि है, उसे हमारे आरे=अरीणां समूहे, पाप व दुर्वासनारूपी दुश्मनों के ऊपर निधेहि=छोड़ें अर्थात् उनको नष्ट करें। यह भाव है। ते धन्वनो हेतिः अस्मान्=भक्तान्

विश्वतः परिवृणक्तु=वर्जयतु। तात्पर्य है कि आप हम भक्तों के शत्रुओं को नष्ट कर हमारी रक्षा करें।

•

१३

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
अवतत्य धनुष्ट्वँ सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव॥
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
अवतत्य धनुस्त्वँ सहस्राक्ष शतेषुधे।
निशीर्य शल्यानां मुखा शिवो नः सुमना भव॥

हे सहस्राक्ष! हे अनन्त तरकस वाले! धनुष उतारकर, बाणों के मुखों को तरकस में रखकर, आप हमारे ऊपर कल्याण तथा सौमनस्य बरसावें। सुमना का अर्थ दयालु होता है। सभी देवता सुमनसः कहे जाते हैं। तब देवाधिदेव महादेव का दयालु होना तो और भी स्वाभाविक है यह भाव है। चेहरे पर प्रसन्नता का प्राकट्य परमेश्वर की कृपा का लिंग है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में तो नवें के बाद यह मन्त्र आता है। अतः वहाँ तो स्पष्ट ही अस्त्रों को पराङ्मुख करने के बाद भी भय से कांपता साधक उनको भुथरा करने की प्रार्थना करता है। यहाँ भी पूर्व मन्त्र में बाणों को शत्रु की ओर फेंकने की प्रार्थना की गई है। परन्तु उसके बाद कहीं रोष में महाकाली या नृसिह की तरह हमारी ओर भी न छोड़ दें, अतः उनके सौमनस्य की प्रार्थना है। शत का व सहस्र का अर्थ तो अनन्त होता ही है। लोक में परिच्छिन्न अक्ष व परिमित तूणीर, एवं तत्प्रयुक्त गिनती के बाणों के कारण उनसे बचा भी जा सकता है। पर शिव के साथ यह सम्भव नहीं है। दृष्टिपथ से दूर होने पर या बाणों के समाप्त होने से बचना

सम्भव है। पर आपके तो तूणीर ही अनन्त हैं तो बाणों के समाप्त होने का प्रश्न ही नहीं। अनन्त दृष्टि होने से दृष्टि पथ से दूर होकर भी बचा नहीं जा सकता। अतः दो सम्बोधनों से प्रार्थना करते हैं कि आप स्वयं ही 'ज्या' को उतारें, व बाणों को शल्यरहित करें। इतने पर भी हम बच ही जावें यह जरूरी नहीं यतः आपके तो अट्टहास से ही हमारा नाश सम्भव है। अतः हम तभी बच सकते हैं जब आप हम पर प्रसन्न मन वाले होकर सौम्य मूर्ति धारण करें। 'यह शरणागत होने से अनुग्रह का पात्र है' ऐसा सोचकर करुणामृत से शीतल हो जावें। राम को भी जब रामेश्वर में दर्शन हुये थे तो वे भी घबरा गये थे। कृष्ण ने ऐश्वर रूप से दर्शन दिया तो अर्जुन भी घबरा गया था। दोनों ने सौम्य रूप धारण करने की प्रार्थना की थी। फिर हम सामान्य जीवों की क्या बात है।

वस्तुतः इषुधि कर्माशय को कहते हैं। आप अहंकार रज्जु को उतारकर अन्तःकरण की वृत्तियों को भी संस्पर्शज दोषों से मुक्त कर दें। हमारे ऊपर प्रसन्न होकर अपनी शिव अर्थात् परमानन्द रूपी कल्याण दृष्टि की हम पर वृष्टि करने वाले बनें।

●

१४

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमस्त आयुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमस्ते अस्त्वायुधायानातताय धृष्णवे।
उभाभ्यामुत ते नमो बाहुभ्यां तव धन्वने॥

आपके धनुष के काल के समान बाण को नमस्कार है। आपकी दोनों भुजाओं एवं आप द्वारा धृत धनुष को भी प्रणाम है। यद्यपि बाण का संधान नहीं करने से वह 'आतताय' नहीं है पर फिर भी स्वरूप से प्रहार में समर्थ होने से 'धृष्णवे' है।'उभाभ्यां बाहुभ्यां' का अर्थ दो जोड़े भुजायें। अर्थात् शिव की चतुर्भुजी मूर्ति यहाँ बताई गई है। अथवा 'बाहुभ्यां' से द्वित्व सिद्ध होने पर भी घबराकर 'उभाभ्यां' कहा गया है। कृष्ण में यह बारहवाँ मन्त्र है। अतः वहाँ आत्मरक्षण की प्रार्थना के बाद यद्यपि शिव ने धनुष से बाण उतार दिया है, फिर भी साधक को भयाक्रांतता है। अतः साथ-साथ बाहुओं के रक्षण सामर्थ्य के ज्ञान से उसे सान्त्वना भी है। उस क्रम में इसके बाद 'परिते' मन्त्र से शत्रुओं की तरफ उन बाणों को फेंकने की प्रार्थना है। प्रणवरूपी धनुष तथा जीव रूपी बाण का वर्णन तो प्रथम मन्त्र में आ ही गया है। वहाँ की दो भुजायें गुरू व दीक्षा भी यहाँ ग्राह्य हो सकती हैं। चार होने पर साधन चतुष्टय ही इष्ट होगा। उन साधन रूपी भुजाओं से ही साधक औपनिषद ज्ञान को प्राप्त कर सकता है यह तो स्पष्ट ही है।

१५

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तमुत मा न उक्षितम्।
मा नो वधीः पितरं मोत मातरम् मा नः प्रियास्तन्वो रुद्र रीरिषः॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

मा नो महान्तमुत मा नो अर्भकं मा न उक्षन्तुमत मा न उक्षितम्।
मा नोऽवधीः पितरं मोत मातरं प्रिया मा नस्तनुवो रुद्र रीरिषः॥

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में यह दशमानुवाक में पंचम मन्त्र है। हे रुद्र ! हमारे बुजुर्गों की रोग, शोक आदि तापों से हिंसा मत करो। न हमारे बच्चों की, न जवानों की, न गर्भस्थों की, न पिता की, न माता की, न हमारे प्रिय शरीरों की या प्रियाओं की, न शरीर की हिंसा करो। बार-बार निषेधार्थक 'मा' शब्द का प्रयोग किसी भी प्रकार की गलती की सम्भावना की निवृत्ति के लिए है। 'नः' में बहुवचन स्वकीयजनों के बहुत्व की अपेक्षा से है। मेरे व मेरे सम्बन्धियों के माता पिता आदि का तात्पर्य है। वस्तुतः शिव भक्तों को तो सारा जगत् ही स्वकीयत्वेन इष्ट होता है, अतः सभी के प्रतिनिधि रूप से यह प्रार्थना है।

वस्तुतस्तु 'स वा एष महानज आत्मा' इत्यादि श्रुतियों से हमारा महान् रूप तो प्रपंचोपशम शान्त शिव अद्वैत ही है। अविद्यारूपी दोष से उसका तिरोधान ही उसकी हिंसा है। 'आत्महनो जनाः' आदि श्रुति व भाष्य इसको स्पष्टतया बताते हैं। हे ज्ञान प्रदाता! सदा हमारी वृत्ति बाधितानुवृत्ति से अधिष्ठान शिव का साक्षात् दर्शन करती रहे यह भाव है। हमारा 'पयो वा अन्नम्' इस श्रुति से अन्नरूप दूधमात्र से अपना पोषण करने वाला शरीर भी तितिक्षा आदि साधनों को करने में समर्थ रहे। प्रारब्ध मात्र का भोग करने से जीवन्मुक्ति काल में शरीर रक्षार्थ ज्ञानी का प्रयत्न सम्भव नहीं। परन्तु वही सम्प्रदाय परम्परा की रक्षा कर ज्ञानगंगा की धारा बहाता है, अतः आप ही उसका रक्षण कर जीवों का कल्याण करें। 'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम वहाम्यहम्।' आदि शास्त्र इसमें प्रमाण है। साक्षी अन्तःकरण के गर्भ में चिदाभास का उक्षन्=सिंचन करता है, अतः साक्षी उक्षन करने वाला है। वह साक्षी रूप हमें सदा प्रकाशित होता रहे। प्रारब्ध भोगकाल में देहेन्द्रियों से व्यवहार करते हुये भी हम असंग बने रहें। 'साक्षिणः पुरतो भातं लिंगं देहेन संयुतम्। चितिच्छायासमावेशाज्जीवः स्याद् व्यावहारिकः' आदि शास्त्र से उक्षित ही चिदाभास है। यद्यपि प्रारब्ध भोगकाल में रागाभास आदि अवश्यंभावी हैं, तथापि चिदाभास सद्वासनाओं से ही प्रेरित रहे। इसी से जीवन्मुक्ति की शोभा है। हमारे 'त्वं हि नः पिता' आदि श्रुतिसिद्ध गुरु रूप पिता सदा ज्ञान देकर हमें सावधान करते रहें। हमारे ऊपर कभी कुपित न हों।

गुरू के रुष्ट होने पर त्राण असम्भव है। न हमारी श्रुति रूपी माता ही हमारा त्याग करे। श्रुति वाक्यों व वाक्यार्थों का विस्मरण ही श्रुतित्यक्त होना है। शिव ऐसी कृपा करें जिससे गुरु तथा श्रुति हमारे साथ बने रहें। उनकी हमसे दूरी ही उनकी हिंसा है। अथवा हम उनकी निरन्तर सेवा से वंचित न कर दिये जावें। श्रुति पथ व श्रुत्यर्थ का विस्तार करना ही उनकी सेवा है। हमारी प्रिय दैवी सम्पत्ति एवं सत्य ज्ञानादि हमारे रूप भी हमसे दूर न हों। कामादि दोषों से ये आवृत्त न हों, ऐसी कृपा करें। इसी श्रुति को स्मरण कर मानो अश्वत्थामा कहता है 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुबलः पाण्डवीनां-चमूनां, यो यः पांचालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा। यो यस्त-त्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोहम् (बेणीसंहारे ३.३२)।

•

१६

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
मा नो वीरान् रुद्रभामिनो वधीर्हविष्मन्तः सदमित् त्वा हवामहे॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

मा नस्तोके तनये मा न आयुषि मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः।
वीरान्मा नो रुद्र भामितो वधीर्हविष्मन्तो नमसा विधेम ते॥

(तैत्तिरीय शाखा में यह मन्त्र दशम अनुवाक् मे छठा मन्त्र है।)
हे रुद्र! हमारे बालकों को, गौओं को, घोड़ों को वीरों को क्रुद्ध होकर

नष्ट न करना। हमारी आयु को कम न करना। हविष्य लेकर हम तुम्हारी स्तुति करते हैं। विहित न करने से ही वे 'भामिनः' अर्थात् क्रुद्ध होते हैं। अपने दुष्कर्मों के प्रायश्चित्त स्वरूप हम भक्तिपूर्वक उपहार लेकर आपकी याद करते हैं, इससे शिवस्मृति तथा सामर्थ्यानुसार जीवमात्र की सेवा सभी पापों का प्रायश्चित्त है, मात्र यह स्पष्ट किया गया। शिव का कथन है 'स्वल्पं वा परिपूर्णस्य मम किं क्रियते नरैः। किन्तु सर्वात्मना देवि मया भावो हि गृह्यते' कि परिपूर्ण मुझे कोई भी परिच्छिन्न उपहार से क्या उपकृत कर सकता है। परन्तु सभी प्रकार से मैं भाव (प्रेम) को ग्रहण करता हूँ।

वस्तुतस्तु गुरु कृपा से उत्पन्न बालक रूप आत्मज्ञान की, गौरूप ज्ञानेन्द्रियों की, अश्वरूप कर्मेन्द्रियों की तथा वैराग्यादि वीर भावों की रक्षा की प्रार्थना है। ये आपके अनुग्राह्य हैं। प्रारब्ध कर्मभोग करते हुए भी जीवन्मुक्ति के आनन्द का अनुभव हमें प्राप्त हो यही आयु की रक्षा है। अनात्मासक्ति या अनात्मा में सद्बुद्धि ही अविहित कर्म है, जिससे शिव अप्रसन्न होते हैं। अपने अहं आदि का उपहार अहं ब्रह्मास्मि के चिन्तन से हम अर्पण करते हैं। भाव है कि जो ध्यानकाल में प्रत्यगात्मा व परमात्मा के अभेद का चिन्तन है वह हमारे व्यवहार की भूलों का प्रायश्चित्त हो, अतः हमारी भूलें तुम्हें क्रुद्ध होने न दें। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में तो 'नमसा ते विधेम' अर्थात् नमस्कार या अहं त्याग से आपकी परिचर्या करते हैं यह स्पष्ट ही कहा गया है। श्रुति कहती भी है 'नमस्कारैरेवैन शमयति' नमन से ही रुद्र शान्त हो जाते हैं।

१७

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशांच पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो हिरण्यबाहवे सेनान्ये दिशांच पतये नमो

प्रथमानुवाक् अर्थात् १६ मन्त्रों से परिकर सहित शिव प्रार्थना करके आगे के आठ अनुवाको अर्थात् ४६ वें मन्त्र तक सर्वेश्वर व सर्वान्तर्यामीरूप

रुद्र की स्तुति की जायेगी। इन ३० मन्त्रों में जैसा रहस्यमय प्रतिपादन है, वैसा विश्वरूप वर्णन अन्यत्र कहीं नहीं है। साध्य साधन, सभी का पूर्ण निरूपण है। १६ मन्त्र मानो षोडशकला पुरुष का वर्णन है, एवं ३० मन्त्र ३० तत्त्वों का वर्णन है। मानसोल्लास में स्पष्ट लिखा है—'षड्त्रिंशत्तत्त्वमित्युक्तं शैवागम विशारदैः।'

यहाँ से 'श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमः' २७वें मन्त्र तक आदि और अंत में नमः शब्द वाले मन्त्रों की इकाइयाँ हैं। प्रपंचागत वस्तुओं का, क्रम से एक एक वस्तु का आधिपत्य प्रतिपादन किया जा रहा है। यही सर्वेश्वरत्व का उपलक्षण सामान्य व्यक्तियों के समझाने को है। शिव का सर्वेश्वरत्व वैधानिक राजा या राष्ट्रपति की तरह नाममात्र का नहीं है, वरन् वास्तविक है, यह अभिप्राय है। किंच, प्रथमानुवाक् में, अविकृत जगत्कारण परमात्मा का अज्ञान व तज्जन्य काम, कर्म, अहंकार आदि से आध्यासिक ही संसार रूप में अभिभवन है, पारमार्थिक नहीं, एवं उनकी कृपा से ही साधन सामग्री प्राप्त होकर अज्ञान की निवृत्ति होती है, यह प्रतिपादन किया गया है। अब संसार के स्वरूप का, एवं व्यवहारकाल में भी उसी की कृपा से व्यावहारिक साधन भी प्राप्त होते हैं, यह प्रतिपादन किया जायेगा। शंका हो सकती है कि मिथ्या संसार के प्रतिपादन से प्रयोजन क्या सिद्ध होगा? उत्तर है कि कर्म व उपासना के उपाधिरूप से उनका उपयोग है। कर्म व भक्ति के बिना चित्तशुद्धि असम्भव है एवं इसके बिना विवेक, वैराग्य आदि असम्भव होने से श्रवण आदि की प्राप्ति रूप शिवकृपा सम्भव नहीं है। जैसे स्वप्न मिथ्या होने पर भी उससे सूच्य तो सत्य ही होता है, यह आधुनिक मनोविश्लेषण ने सिद्ध कर दिया है, अथवा वर्ण में ह्रस्व, दीर्घ, उदात्त आदि की कल्पना मिथ्या होने पर भी अर्थनिर्णयार्थ उन कल्पनाओं का उपयोग है; उसी प्रकार शिव के ये स्वरूप व्यावहारिकमात्र हैं, पारमार्थिक नहीं, तथापि चित्तशुद्धि के लिए उपयोगी हैं।

देवता क्या है, और उसकी उपासना क्या है? 'देवाः सदाशिवश्चेशो रुद्रो विष्णुः चतुर्मुखः। चन्द्रः प्रजापती रुद्रः क्षेत्रज्ञ इति दैवतः। दिग्वातसूर्यावरुण-नासत्यौ देवताः स्मृताः। ब्रह्मेन्द्रोपेन्द्रमृत्युकाः। महाकालः प्रधानं च मायाविद्ये च पूरुषः। बिन्दुनादौ शक्तिशिवौ शान्तातीतौ ततः परम्। (मानसोल्लास० २-३६ से ४३)। इस प्रकार ३० देवताओं का विस्तार बताया गया है।

वस्तुतस्तु उपासना की दृष्टि से विभूति के शैवसिद्धांत में मूर्त, मूर्तामूर्त व अमूर्त तीन प्रधान भेद किये गये हैं। अमूर्त्त वायु व आकाश लिंग हैं। मन्त्र भी अमूर्त्त हैं। इनका व्यापक रूप इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति व क्रियाशक्ति है। ये वास्तविक हैं। मूर्त्तामूर्त्त सूर्य, कूटस्थ, साक्षी, गंगा आदि लिंग हैं। लिंग-मूर्ति भी साम्प्रदायिकों द्वारा मूर्त्तामूर्त्त ही मानी गई है। मूर्त के पुनः तीन भेद हैं—सोम, काल व दक्षिणामूर्ति। प्रवृत्तिमार्ग व भक्तिमार्ग को प्रशस्त करने वाली उमामहेश्वर मूर्त्तियां सोम हैं। इनमें भोग की प्रशस्ति है। सिद्धान्त है कि जैसा ध्येय होगा वैसा ही फल होगा। ध्येयमूर्त्ति मानो आदर्श उपस्थित करने को है। केवल उपदेश से कार्य नहीं होता। क्रिया रूप से दिखाना पड़ता है। उमामहेश्वर मूर्त्ति प्रवृत्ति, प्रेम व भोग का प्रतिपादन करके, पुत्रमंथन कर्म को भी आदर्श बताकर, उसे भी यज्ञरूप में उपस्थति कर देती है। काल मूर्त्तियां कामदहन, दक्षमखध्वंस, त्रिपुरारि, गजासुरसंहार आदि मूर्त्तियां हैं, जो निवृत्तिमार्ग, योग व वैराग्य का आदर्श स्थापित करती हैं। ज्ञान व मोक्ष का प्रतिपादन करने वाली दक्षिणामूर्ति है। अन्तर्यामी मूर्त्तियां भी हैं।

इस प्रकार शिव की शक्ति जो परारूप से उमा व अपरा रूप से सती या गंगा है, वे 'प्रवाह्य' आदि द्वारा ख्यात हैं। नाद व बिन्दु मूर्त्तियां 'स्वन' आदि के द्वारा यहां प्रतिपाद्य हैं। मन्त्राध्वामूर्त्तियां इसी का विस्तार हैं। सदाशिव व उसकी शक्ति मनोन्मनी, महेश्वर व उसकी शक्ति महेश्वरी, रुद्र व काली, विष्णु व लक्ष्मी, ब्रह्मा व सरस्वती सभी उपास्य मूर्त्तियां हैं। 'सेनान्ये' आदि से कार्त्तिक देवसेनापति मूर्त्ति प्रतिपादित है। 'गणपतिभ्यः' आदि से विनायक व 'त्विषीमते' से सूर्यमूर्ति का प्रतिपादन है। इसी प्रकार शान्तात्मा बिन्दुमूर्तियां, घोरात्मक मोहिनी मूर्तियां, व मूढात्मक अशुद्ध मूर्तियों का भी सत्व, रज व तमोगुणी साधकों के लिए प्रतिपादन है। ये सभी ३० मन्त्रों में प्रतिपादित हैं जो संकेत से समझनी चाहिए। साधक के द्वारा गुणोत्कर्ष की मूर्त्तियां उपास्य हैं। गुणन्यूनता से उपासकता है यह सिद्धान्त है। सर्व-गुणोत्कर्ष होने से दक्षिणामूर्ति तो, सभी देव, दानव मानव, के उपास्य हैं यह परम रहस्य है।

हिरण्य अर्थात् स्वर्ण के केयूर आदि से भूषित भुजाओं वाले को नमस्कार है। बाहु से सारे शरीर की उपलक्षणा समझनी चाहिए। हिरण्यश्मश्रु आदि

श्रुति के आधार से वे स्वयं भी स्वर्णमय हैं, तथा दिव्य कनकखचित भूषणों से आपादमस्तक आवृत हैं। 'आप्रणखात्सर्व एव स्वर्णः', 'हिरण्यवर्णः च', 'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं', 'रुक्माभं स्वप्नधीगम्यं' आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। वस्तुतः 'हर्यतेः कन्यन् हिर् च' (सि० कौ० ४६२८) से गतिमान या कान्तिमान् ही हिरण्य पदवाच्य है। अतः शुद्ध व दीप्तिमान् ज्ञान व कर्म ही उनकी भुजायें हैं। राजा भी इहलोक में हिरण्यबाहु है। इसी से 'सेनानी' का अग्रिम निर्देश है। सेना को नयन करे वह सेनानी। यहाँ सुब्रह्मण्य को भी नमन है। शम, दम, आदि की सेना का नयन करने से वे सदाशिव सेनानी हैं, यह तत्व है। दिक्पालों को नमस्कार है। इन्द्रादि दिक्पालं शिवाज्ञा से ही प्रवृत्त होकर स्वर्गीय कार्य कर रहे हैं, यह भाव है। शिव की दश भुजायें भी दश दिक्पाल हैं, यह आगम का सिद्धान्त है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यः पशूनां पतये नमः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो वृक्षेभ्यो हरि केशेभ्यः पशूनां पतये नमः

'अहं वृक्षस्य रेरिवा,' 'ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखमेषोश्वत्थः सनातनः; 'वृक्षं यो वेद सम्प्रति' इत्यादि श्रुति से व 'ऊर्ध्वमूलमधः शाखं' आदि स्मृति से प्रतिपादित संसार वृक्ष को नमस्कार है। जैसे वृक्ष के रक्षार्थ पत्ते होते हैं, वैसे ही संसार वृक्ष का रक्षक श्रौत कर्मकाण्ड है। यह 'छन्दांसि यस्य पर्णानि' से स्वयं श्रीकृष्ण ने कहा है। संसार की अभिवृद्धि कर्म से ही होती है, एवं वे पत्तों की तरह अनन्त भी हैं। कर्म से ही संसार वृक्ष चलता भी है व बढ़ता भी है। शिव की जटा, हरि या विष्णु ही है। विष्णु संसार के रक्षक प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार विष्णु, या वेद, या यज्ञ जिस संसार वृक्ष के केश हैं उस संसार रूपी वृक्ष की मूर्ति को नमस्कार है, यह भाव है। 'एषामीशे पशुपतिः पशूनां चतुष्पदां उत च द्विपदाम्', 'एतावन्तो वै पशवो द्विपदाश्च चतुष्पदाश्च' आदि श्रुतियाँ सभी जीवों को पशु बताती हैं। शिव उन सभी के पति हैं। संसार माया से बद्ध ही पशु है, एवं वे सभी पशु उन शिव के द्वारा परिचालित होने से वे उनके पति हैं। 'स्वतः सिद्धं पतित्वं में युष्माकं पशुतापि च' आदि शिव-

पुराण इसमें प्रमाण है। शिवानन्दलहरी में आचार्य 'पशुं मां सर्वज्ञ प्रथित-कृपया पालय विभो' कहकर इसी को प्रकट करते हैं।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमः शष्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमः सस्पिञ्जराय त्विषीमते पथीनां पतये नमो

पिञ्जर अर्थात् छाती में सोने वाले अर्थात् शिव के अन्तर्यामी स्वरूप को नमस्कार है। वही तेज दीप्ति वाला होने से त्विषीमान् है। वही पुनः साधक को मोक्ष, दक्षिण या उत्तर मार्ग की ओर प्रेरित करने वाला होने से रास्तों का पति है।'यमेवोन्निनीषति तं साधु कर्म कारयति,' आदि श्रौत प्रमाण इसमें है। स्वर्णिमरक्त (golden red hue) सस्पिंजर है, तथा ज्वालदीप्ति (flaming bright) त्विषीमान्। इससे अग्निरुद्र का प्रतिपादन स्पष्ट है। यही ज्योतिर्लिंग का बीज है। महिम्नस्तोत्र में 'यातावनलमनलस्कन्ध-वपुषः' से यही कहा हैं। अथवा 'सस्' बालतृण को कहते हैं, एवं 'पिंजर' भूरे पीले रंग को। जो साधक बालक की तरह कच्चे हैं उनको तन्त्र मार्ग का व पके साधकों को वैदिक मार्ग का उपदेश करके अपनी प्राप्ति कराते हैं। दोनों मार्गों के वे ही प्रवर्त्तक हैं यह भाव है। 'त्विषीमते' से ज्ञानरूप प्रकाश का प्रतिपादक कहकर उन मार्गों का भी प्रामाण्य बता रहे हैं। मनु आदि के द्वारा वेद बाह्य होने से स्मृति या तन्त्रों को निष्फल बताया गया है उसका इससे निराकरण है। मनु ने वैदिकों को पथभ्रष्टता से बचाने के लिए ऐसा कहा है। वेदानधिकारियों को उसकी प्राप्ति न होने से उनके लिए तो शिव प्रतिपादित आगमों का ही मार्ग प्रशस्त है। उनके बिना वे स्वेच्छाचारी होकर नष्ट हो जायेंगे। कूर्म पुराण में यह स्पष्ट प्रतिपादित भी है। वहाँ ईश्वर को केवल निमित्त कारण अथवा जीवोत्पत्ति आदि का प्रतिपादन उनकी बुद्धिस्थूलता के कारण प्रतिपादित किया गया है। आगमों का यह तात्पर्य विषयी-भूत होकर प्रतिपादन नहीं है। यही शिव की कृपा है। 'सस्पिंजराय' के द्वारा त्रैगुण्य सृष्टि का संकेत करके संकीर्ण वर्णों के लिए तन्त्र का पथ

प्रशस्त किया गया है यह भी बता दिया। अपने कर्मानुसार वर्ण को प्राप्त करने से शिव को वैषम्य नैर्घण्य दोष भी प्राप्त नहीं होता।

इसके बाद कृष्ण यजुर्वेद में 'नमो बभ्लुशाय विव्याधिने' आदि मन्त्र आता है, जो शुक्ल यजुर्वेद में अठारहवाँ है, अतः वहीं विचारित है।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो हरिकेशायोपवीतिने पुष्टानां पतये नमः।

हरिक अर्थात पीले घोड़े के पति। घोड़ा तो कर्मेन्द्रियों का प्रतीक है व उसका पीलापना उसकी पवित्रता का द्योतक है। अतः श्वेताश्वतर की तरह हो यहाँ भी शुद्ध कर्म करने वाले से तात्पर्य है। वही उपवीत के योग्य है। शिव ही हरिकेश भी है एवं उपवीती भी। अतः उनके उन रूपों को नमस्कार है। भाव है कि ऐसा बनना शिवविभूति को धारण करना है। उनका अपने अन्दर अवतरण करना है।

सामान्यतः हरी या नीली अलक वाले मूर्धासहित केश वाले शंकर हैं। हरि, जटा के रंग को भी कहते हैं। अतः 'जटाभारोदारं' से भी अभिप्राय है। तात्पर्य है कि वे नित्य युवा व नित्य तपस्वी हैं। हरि, व क अर्थात् ब्रह्मा, दोनों के ईश अर्थात् मालिक होने से भी वे हरिकेश हैं। आदिब्राह्मण वे ही हैं। 'त्वं देवेषु ब्राह्मणोसि। अहं मनुष्येषु ब्राह्मणो वै ब्राह्मणमुपधावति। उपत्वा धावानि' से सामवेद का प्रपद ब्राह्मण स्पष्ट ही कहता है कि ब्राह्मण होने से ब्राह्मणों के इष्ट शंकर ही हैं। पराशर संहिता में भी 'आदिब्राह्मणमीशान-मुपधावेन्न चेतरं। ब्रह्मतेजोधिकं राजन्न क्षात्रं वैश्यसम्भवम्। सर्वेषामधिको यस्माद् भगवान् ब्राह्मणः शिवः।' कहकर इसी श्रुति का शब्दतः व अर्थतः अनुवाद किया है।

वे इन्द्र, विष्णु, यम आदि पद व तदनुकूल प्रज्ञा व ऐश्वर्य से उन्हें पुष्ट करते हैं। वस्तुतः तो शिव सभी जीवों के पोषक हैं। 'त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धि पुष्टिवर्द्धनम्' में भी यह कहा है। पुष्टि तो उपादान कारण से ही

सम्भव है । जीवमात्र का कारण शिव है, अतः शिवपद को देने से वे 'पुष्टानां पतये नमः' कहे गये हैं । सभी पुष्टों के वे स्वामी हैं, क्योंकि उनकी पुष्टि के प्रदाता हैं । सभी के उपास्य होकर स्वकीय उपासकों को अनुगृहीत करके पुष्ट करते हैं अतः 'उपवीतिने' कहा है । स्वय पुष्ट होकर दूसरों को पुष्ट करते हैं । अतः परमशिव नित्ययुवा रूप मे रहते हैं । उनको देहेन्द्रियादिपुष्टि करने की सामर्थ्य नित्यसिद्ध है । इस वस्तुगत सामर्थ्य का प्रतिपादक हरिकेश पद है, यह भाव है ।

●

१८

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो बभ्लुशाय व्याधिनेऽन्नानां पतये नमः ।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो बभ्लुशाय विव्याधिनेऽन्नानां पतये नमः ।

'बिभर्ति परमेश्वरमिति बभ्लुः=वृषः, तस्मिन् शेते=तिष्ठतीति बभ्लुशः।' अर्थात् हे नन्दी पर रहने वाले ! आपको प्रणाम है । धर्म ही वृषभ है, अतः धर्मप्राय हुए अन्तःकरण में ही शिव का निवास है । विशेष रूप से बींधने वाले शिव को नमन है । खाये जाने वाले भक्ष्य, भोज्य आदि से वे हमें विद्ध करते हैं अतः उनके वे स्वामी हैं । प्रारब्धभोग प्रदाता शिव को प्रणाम है यह भाव है । धर्मवृषारूढ ही अन्नस्वामी है, क्योंकि धर्म से वृष्टि व वृष्टि से अन्न यह नियम है । 'अग्नौ प्रास्ताहुतिः सर्वे आदित्यमुपतिष्ठते ।' 'अन्नाद् भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः । यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः' ।। आदि स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं । 'ये अन्नेषु विविध्यन्ति' आदि से प्रारब्धभोग में राग द्वेष ही विशेषवेध है, जिससे भोग के साथ नवीन कर्म बनता जाता है । वे सर्वनियन्ता पूर्ववासनानुसार राग-द्वेष में प्रवृत्त करते हैं । साक्षी भाव से

इनका त्याग ही समस्त साधना का रहस्य है। उनका नियम्य ही उनका इषु हैं यह तो स्पष्ट है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमः।
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो भवस्य हेत्यै जगतां पतये नमः।

पूर्वोक्त पाँच मन्त्रों द्वारा दिक्पालादि देवताओं को प्रणाम करके, प्रतिवस्तु के अधिपति देवताओं का नमन असम्भव होने से, जगत्पति रूप से इकट्ठे ही सारों को नमन करते हैं। भव अर्थात् संसार को नष्ट करने वाले हेति नामक आयुध को धारण करने वाले को नमन है। शिव संसार वृक्ष के छेत्ता हैं यह भाव है। चराचर जगत् के मालिक को प्रणाम है। यद्यपि पहले 'पशूनां पतये' में भी जगत्पतित्व आ गया था, पर वहाँ तिरोधान शक्ति या पाश का संकेत है। यहाँ पाश छेदन का प्रतिपादन होने से वह दक्षिणामूर्ति रूप है। पाश व उसका छेदन दोनों ही शिव के अधीन हैं, यह भाव है। तत्वमस्यादिजन्य वृत्ति ही अविद्या निवर्त्तक है। पर उसमें आरूढ शिव ही अज्ञान के नाशक हैं। वृत्ति तो स्वयं जड होने से, चेतन कर्त्ता की अपेक्षा रखती है, यही वेदान्त रहस्य है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमः।
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो रुद्रायाततायिने क्षेत्राणां पतये नमो।

आतत अर्थात चढ़े हुए धनुष से अवन या रक्षण करने वाले संसार दुःख के द्रावक रुद्र को प्रणाम करते हैं। अथवा पापी अभक्तों को ढूँढ़कर आततायी की तरह नष्ट करके रुलाने वाले रुद्र को नमस्कार है। दोनों का तात्पर्य अधर्मियों को नष्ट करके धर्म रक्षण से है। 'परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्' आदि स्मृति भी यही कहती है। वस्तुतः उपनिषद्रूपी धनुष से पाप नष्ट होकर साधक की रक्षा होती है, यह भाव है। सभी प्राणिदेहों के पति

क्षेत्रज्ञ पुरुष को नमन है। 'क्षेत्रं इत्यभिधीयते' से कृष्ण ने भी यही कहा है। लोक में भी देशवासियों की उपद्रवियों से रक्षा करने को राजा उन पर आक्रमण करता है। अपने देश के नागरिकों को सुखी करने का यत्न करता है। 'अयक्ष्मया परिब्भुज' का ही रूप यहाँ बताया। क्षेत्रज्ञों में भी 'जन्तोर्म्रियमाणस्य रुद्रस्तारकं ब्रह्म व्याचष्टे' अविमुक्त क्षेत्र में स्थित उत्तम भक्तों को वहाँ के अधिपति होने से ज्ञान देते हैं, यह भाव है। सभी मुक्तिक्षेत्रों के वे ही पति हैं यह परम गूढ़ तत्व है।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः सूतायाहन्त्यै वनानां पतये नमः।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः सूतायाहन्त्याय वनानां पतये नमः।

जीवरूपी यन्त्रों को चलाने वाले सारथि को नमन है। 'भ्रामयन्सर्वभूतानि यंत्रारूढानि मायया' स्मृति इसमें प्रमाण है। अथवा बुद्धि रूप से प्रवर्त्तक होने से वे सारथी हैं। 'धियो यो नः प्रचोदयात्' श्रुति इसमें प्रमाण है। पौराणिक दृष्टि से तो त्रिपुरासुर संहार के समय सूत रूप से बने ब्रह्मा को नमन किया जा रहा है। जिसे मारा न जा सके वह अहन्ति या अहन्त्य है। अमर शिव को प्रणाम है। आत्मा का दर्शन न करना ही आत्महनन है। इसमें 'आत्महनो जनाः' श्रुति प्रमाण है। पर ज्ञान रूप शिव का परिच्छिन्न रूप से संसार के प्रत्येक ज्ञान में भी अनुभव होता है, अतः पूर्ण तिरोधान असम्भव है। जैसे सूर्य के प्रकाश से दिखने वाले बादल को देखकर भी लोग कहते हैं सूर्य ढका हुआ है वैसा ही यहाँ है। 'घनच्छन्नदृष्टं घनच्छन्नमर्कः' से ऐसी बुद्धि वाले लोगों को अतिमूढ कहा है। वन नामक संन्यासियों के पति हैं। उपलक्षणा से सभी संन्यासियों के मालिक या आराध्य व संरक्षक हैं। 'तस्य वनमिति नाम' आदि सामवेद के अनुसार संभजनीय देव आदियों के पति हैं यह भाव है। जंगलों के पति हैं यह तो स्पष्ट ही है। जंगल में रहने वाले तपस्वियों व योगियों के वे आदिगुरु हैं। भील आदि जंगली जातियाँ भी पुराणों के अनुसार शिवभक्त ही है। वनस्वामिता में जगन्नियन्तृत्व हेतु है यह

सूत से कहा, जगन्नियामक होने पर भी उसके विकारों से आहत नहीं होते यह अहन्ति से बताया ।

●

१६

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो रोहिताय स्थपतये वृक्षाणां पतये नमो

रजोगुण से लाल होकर संसार वृक्ष के निर्माता एवं अधिपति को नमस्कार है । 'स्थाता चासौ पाताचेति स्थपतिः' । अतः वे अन्तर्यामी रूप से इसमें रहकर इसका पालन करते हैं । इससे अभिन्न निमित्तोपादानता का प्रतिपादन कर केवल निमित्तकारणवाद को वेदबाह्य बताया गया है । संसार वृक्ष के मालिक होने में स्थपतिता हेतु है । रोहित शब्द से 'ये वृक्षेषु सस्पिंजरा नीलग्रीवा विलोहिताः आदि से कहा जाने वाला रूप बताया गया । 'वृक्षाणां' में बहुवचन अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड व अनन्तकल्पों को बताने के लिये है । प्रतिसृष्टि ब्रह्मा, विष्णु अनेक होने पर भी शिव तो एक ही हैं यह भाव है ।

इसके बाद कृष्ण यजुर्वेद में पहले 'नमो मन्त्रिणे' आदि आकर फिर 'नमो भुवन्तये' आदि मन्त्र आता है । शुक्ल यजुर्वेद में उल्टा है । यहाँ शुक्ल यजुर्वेद का अनुसरण है ।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो भुवन्तये वारिवस्कृतायौषधीनां पतये नमो

भुवर्लोक का तनोति विस्तार करते हैं अतः भुवन्ति हैं। 'भुवनं जगत्' यह अमरकोष कहता है। अतः भाव है कि विश्वविस्तारक को प्रणाम है। वरिवस् अर्थात् पूजा या सेवा। 'वरिवस्या तु शुश्रूषा' यह अमरकोष है। अतः वारिवस्कृत अर्थात् उपासक या सेवक। जो वरिवस्कृत में रहे वह वारिवस्कृत है। भक्त के समीप रहने वाले को नमन है। गेहूँ, चावल, जौ आदि अन्न के स्वामी को नमन है। उपासकों के भोग के लिए ही दिव्य भुवनों का विस्तार करते हैं, अतः वे भुवन्तये भी हैं, व औषधिपति भी हैं। चन्द्रमा भी औषधिपति है एवं वह भी अष्टमूर्तियों में परिगणित है। उपासकों के लिए रुद्र घोर होने पर भी चन्द्रवत् शीतल हो जाते हैं, यह भाव है। अथवा जिस प्रकार सूर्य की रोशनी चन्द्र से प्रतिबिम्बित होकर आने पर शीतलता का अनुभव कराती है, उसी प्रकार भक्त को कर्मफलरूपी दुःख भी शिवकृपा रूप से ज्ञात होने से उसे सुखद बना देता है।

सर्वगत होने पर भी वे भक्त को अतिशय समीप प्रतीत होते हैं अतः यह मन्त्र सार्थक है। पुराणों का तो कहना है कि जैसे लोहा अग्नि में जाकर केवल लोहा न रहकर अग्निरूप हो जाता है, वैसे ही शिव समाविष्ट हो भक्त शिवरूप हो जाता है। अतः शिवभक्त की सेवा ही वास्तविक शिवसेवा है। 'यथा योग्निसमावेशान्नायो भवति केवलम्। तथैव मम सान्निध्यान्न ते केवल मानुषाः। शिवस्य परिपूर्णस्य किन्नाम क्रियते नरैः। यत्कृतंशिवभक्तानां तच्छिवस्यकृतं भवेत्।' 'अकायो भक्तकायः स्यात्' इत्यादि पुराणोक्तियाँ इसमें प्रमाण हैं।

भुवन्ति होने से ओषधीपति हैं, क्योंकि औषधि से ही जीवन प्रवाह चलता रहता है। एवं वारिवस्कृताय से भक्त शरीर द्वारा ओषधियों के भोक्तृत्व भाव को प्राप्त करने वाले होने से भी शिव उसके पति हैं। कहा भी है 'नाहं तथाद्मि यजमानहविः वितानेश्च्योतद्घृतप्लुतमदन्हुतभुङ्मुखेन। यो ब्राह्मणस्य मुखतश्चरतोनुधासंतुष्टस्य मय्यवहितैर्निजकर्मपाकैः।' फलभोक्ता को भी स्वामी कहा ही जाता है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो मन्त्रिणे वाणिजाय कक्षाणां पतये नमो

सात करोड़ मन्त्रों के, उपनिषदों के, आगमों के रहस्यों के उपदेशक शिव को प्रणाम है। सलाह देने वाले अन्तर्यामी शिव को प्रणाम है। मनन करने से त्राण करने वाला महावाक्य मन्त्र है। वह महावाक्य जिसे विषय करता है उन शिव को प्रणाम है। सारे लोगों की आवश्यकताओं को पूरा करने वाला वणिक् (बनिया) है। शिव भी वणिक् समूह हैं, अर्थात् शिवभक्त की आवश्यकताओं का पता भी लगाते हैं। सर्वज्ञ होने से वे जानते हैं यह रहस्य है। आवश्यक पदार्थों का निर्माण भी करते हैं तथा अर्थार्थी को देते भी हैं। 'जगद्व्यापारवर्जं' आदि से भगवान् बादरायण ने यही बताया है। अथवा इन्द्रियां जगत्कार्य (वाणिज्य) में सहायक होने से मन्त्री हैं। तथा भिन्न-भिन्न प्रकार की कक्षा या श्रेणियों के ज्ञान के वे शिव पति हैं। वन गुल्मादि भी गहन पदार्थ हैं, अतः कक्षा शब्द वाच्य हैं। 'कष्यते स्पर्शेन हिंस्यते' इस निरुक्त से बगल को भी कक्ष कहते हैं। विषय स्पर्श से जीव के आत्मभाव को नष्ट करते हैं, अतः शिव कक्ष हैं। 'ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते'। सभी विषयों के पति शिव ही हैं। विषयों को प्राप्त कराने वाले मन्त्रों के अधिपति होने से मन्त्री, एवं उन्हें प्रदान करने वाले होने से वणिक् भी सिद्ध होते हैं। जैसे धन सम्बन्ध से कोई धनी नहीं हो जाता, वैसे ही मन्त्र सम्बन्ध से देवता मन्त्री नहीं। धन प्रयोग में स्वतन्त्र होना ही धनी होना है। मन्त्रों के फलप्रदायक होने से ऐसी मन्त्रिता शिव में ही है, यह रहस्य है।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा--

नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नम उच्चैर्घोषायाक्रन्दयते पत्तीनां पतये नमः

युद्ध में ऊचा घोष करने वाले, वैरियों को रुलाने वाले एवं पैदल सिपाहियों के मालिक को प्रणाम है। शिव पैदल सिपाहियों की सहायता से ही जीतते हैं, अतः सापेक्ष हैं, ऐसी शंका हटाने को स्वयं शत्रुओं को नष्ट करके रुलाने वाला कहा गया। शत्रु को रुलाने में भी शस्त्र की सापेक्षता न

मानी जाये, अतः उस शंका के निवारणार्थ हुंकार मात्र से नाश करने की योग्यता 'घोषाय' से कही गई है। अट्टहास से त्रिपुर को, दृष्टि से कामदेव को, तथा नख से ब्रह्मा को मारा था यह प्रसिद्ध है। कालभैरवाष्टक में 'सिहनादगर्जितश्रुतिप्रभीत' कहा ही गया है। केवल शत्रु ही नहीं उनकी पत्नियाँ भी रोती हैं। 'अनेन पर्यासयताश्रुबिन्दून्मुक्ताफलस्थूलतमान्स्तनेषु। प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामुन्मुच्य सूत्रेण विनैव हाराः।' आंखों से बड़ी-बड़ी आंसू की बूंदें, मोती का हार मानो धागे के बिना बिखर गया हो, इस प्रकार शत्रु पत्नियों के स्तनों पर पड़ रही थीं। धर्म व अधर्म को गरजकर बताने वाले वेदमूर्ति को नमन है। वेदविरुद्ध आचरण करने वालों को दुःख देकर रुलाने वाले शिव हैं। सदाचार पर पैदल चलने वालों के रक्षक को नमस्कार है।

साधक की सहायतार्थ साधना युद्ध में प्रणव का उच्चघोष करके प्रकृति या अविद्या को शिव रुलाते हैं। किसी सहारे को न लेकर जैसे पदाति चलते हैं, वैसे ही सारे सहारों को छोड़कर युद्ध करने वाले यतियों के शिव ही पति हैं, यह भाव है।

२०

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः कृत्स्नायतया धावते सत्त्वनां पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः कृत्स्नवीताय धावते सत्त्वनां पतये नमो

चारों ओर फैले हुए अर्थात् व्यापक एवं दौड़ते हुओं के तथा मनों के स्वामी को प्रणाम है। ईशावास्य के 'मनसो जवीयः', व 'पर्यगात्' व 'मनीषी' का ही यहाँ प्रतिपादन है। अथवा 'कृत्स्नं सैन्यं वीतं वेशितम्' अर्थात् समग्र सेनाओं को चारों ओर से घेरने वाले, दौड़कर उसका पीछा करने वाले, एवं सात्विक या शान्तों की रक्षा करने वाले शिव हैं। सत्त्वनः=सात्विकाः।

गीतोक्त 'परित्राणाय साधूनां' का भाव है। सारे संसार को अधिष्ठान रूप से व अन्तर्यामी रूप से व्याप्त करके रहते हैं। भक्तों की रक्षा करने को दौड़ते हैं। गौ जैसे बछड़े की रक्षा करने को दौड़ती है उसी की तरह शिव भक्तरक्षार्थ दौड़ते हैं। 'सत्वनां पति' में 'धावने' हेतुत्वेन, एवं कृत्स्नायताय' उपपत्ति में गतार्थ है। सर्वव्यापी सभी जगह सबसे पहले दौड़कर पहुँचे यह स्वाभाविक है। गृह्य सूत्र में कहा भी है 'अपः प्रवेक्ष्यन्ननुमंत्रयते नमो रुद्रायाप्सुषदे स्वस्ति मा संपारय इति। पन्थानं गच्छन्ननुमंत्रयते नमो रुद्राय पथिपदे स्वस्ति मा संपारय इति। वनं प्रवेक्ष्यन्ननुमंत्रयते नमो रुद्राय वनसदे स्वस्ति मा संपारय इति। तस्माद्यत्किंचित्कुर्वन्स्यात् तत्सर्वं नमो रुद्राय इति कुर्यात्। सर्वेषु रुद्र इति श्रुतेः इति'। पानी में घुसते समय 'नमो रुद्राय' का जप करता है, क्योंकि वे जल में मौजूद हैं। और स्मरण करने से मेरा कल्याणपूर्वक तारण करें। रास्ते में जाते समय भी 'नमो रुद्राय' जपे, क्योंकि वे रास्ते में व्याप्त हैं, और स्मरण करने से मुझे पार करें। इसी प्रकार वन में जाते समय करे। जो कुछ भी करने जावे, सदा 'नमो रुद्राय' कहके जावे, क्योंकि वे सर्वत्र रक्षक हैं। जीव व ईश्वर दोनों बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से सर्वत्र व्याप्त हैं। जीवरूप से मन उपाधि के दौड़ने से वे दौड़ने वाले हैं, तथा ईश्वर रूप से वे अंतःकरणों के मालिक हैं। यह गम्भीर भाव है।

तैत्तिरीय का द्वितीय अनुवाक् यहाँ समाप्त होता है। द्वितीय अनुवाक् के इन सभी मन्त्रों के मडूक ऋषि हैं जो माण्डूक्योपनिषद् के द्रष्टा ऋषि के पिता हैं यह अनुसंधातव्य है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा--

नमः सहमानाय निव्याधि न आव्याधिनीनां पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा--

नमः सहमानाय निव्याधिन आव्याधिनीनां पतये नमो।

शत्रुओं के अभिभव करने वाले को प्रणाम है। कामादि शत्रु भी यहाँ इष्ट हो सकते हैं। अथवा भक्तों के अपराधों को सहन कर जाते हैं, अर्थात् क्षमा कर देते हैं यह भाव है। वस्तुतः ज्ञानाग्नि रूप से अनादि कर्मों को जलाना ही क्षमा करना है। नितरां वेधन करने से निव्याधी, तथा चारों

ओर से भली प्रकार वेधने से आव्याधी । शत्रु सेना का संहार करने में सक्षम शिव हैं । आव्याधियों के पतित्व में निव्याधी व सहमान हेतुगर्भ विशेषण हैं । शिव सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, तथा हम पापी हैं तो बचने की संभावना ही नहीं हो सकती है । इस शंका को निवृत्त करने वाला उनका क्षमापन हैं । क्षमा का प्रतीक पृथ्वी है । 'क्षमया पृथिवी समः' । पृथ्वी उनकी अष्टमूर्तियों में अनन्य है । पृथ्वी को सर्वसहा कहा ही जाता है ।

प्रारब्ध कर्म को सहन करने वाले साधक रूप को, प्रमाणवृत्ति के द्वारा संशय को तथा विपर्यास को ध्यान से सर्वथा समाप्त करने वाले साधक रूप को नमस्कार है । नि वि आधि अर्थतः सम् आधि ही है । विवेकजन्य ज्ञान से इसको सर्वथा समाप्त करने वालों के पति शिव को नमन है । अथवा संशयादि वृत्तियाँ साधक को बींधती हैं । शिव साक्षी रूप से उनको भी प्रकाशते हैं, अतः उनके पति हैं । ऐसे साधक व प्रमाता तथा साक्षी व ईश्वर दोनों रूपों को धारण करने वाले शिव को प्रणाम है यह रहस्य है ।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो निषङ्गिणे ककुभाय स्तेनानां पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो ककुभाय निषङ्गिणे स्तेनानां पतये नमो

खड्गधारी, महान्, गुप्त चोरों के मालिक को प्रणाम है । चोरों में सबसे बड़े होने से ही उनके पति हैं, क्योंकि प्रसंगानुसार चोरों में महान् के ही अर्थ वाला महान्पना सम्भव है । खड्ग तो चोरी के उपकरण को बताता है । जीव की सर्वस्त्र उसकी अविद्या है, या तज्जन्य अहंकार है । वैराग्य खड्ग से, साधक के न चाहने पर भी, आत्मज्ञान के द्वारा वे अविद्या व अहंकार को छिपकर चुरा लेते हैं, अतः यहाँ स्तेन कहे गये हैं । 'दाशब्दोपहृतस्तेन पंचकोशापहारिणा' । साधक 'दासोहं' बन कर जाता है पर वे चोर शिखामणि 'दा' शब्द के अपहरण द्वारा उसके सर्वस्व पाँचों कोशों का अपहरण करके उसे दिगम्बर बनाकर 'सोहं' अपने में लीन कर लेते हैं यह रहस्य है ।

कृष्ण यजुर्वेद में 'नमो निषङ्गिणे' आदि मन्त्र पहले व 'नमो निचेरवे' आदि मन्त्र बाद में आता है । शुक्ल यजुर्वेद में उल्टा है ।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो निचेरवे परिचरारण्यानां पतये नमः
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो निचेरवे परिचरारण्यानां पतये नमो

अरण्य में रहने वाले चोर आरण्य हैं। शिव उनके पति हैं, क्योंकि उनकी अपेक्षा भी अपहरण के लिए नितरां संचरणशील 'निचेरु' हैं। एवं परितः=सब प्रकार से घूमते रहते हैं, अतः 'परिचर' हैं। इस प्रकार श्रेष्ठ चोरों के पति को प्रणाम है। अथवा निरंतर तथा चारों ओर घूमने वाला मन निचेरु व परिचर है। उस मन रूप को प्रणाम है। अरण्य की तरह भयानक संसार में रहने वाले मन उपाधि वाले जीवों के पति शिव हैं। वस्तुतस्तु शिवभक्त शिव की निरंतर परिचर्या करते हैं, तथा सदा उनकी इच्छानुसार आचरण करते हैं, अतः शिवभक्त ही परिचर व निचेरु हैं। ऐसे शिवभक्तों को नमस्कार है, तथा वानप्रस्थ या ध्यानादि के लिए जंगल में जाने वाले योगीरूपों को नमस्कार है। मालिक के घर में मैं कब अपहरण कर सकूँ, इस बुद्धि से सावधान व निरंतर चरणशील को 'निचेरु' नामक चोर कहा गया है। यह मौके की ताक में रहता है। इसी प्रकार शिव जीव के हृदय में अन्तर्यामी रूप से रहकर इसके अज्ञान का कब अपहरण करूँ यह सोचते रहते हैं।

आपण, वीथी, प्रवाटिका आदि में चोरी के ख्याल से बराबर घूमते रहने वाले चोर को परिचर कहते हैं। आधुनिक युग में इसे पाकिटमार (pickpocket) कहा जा सकता है। विषयों में शिव निरंतर उपादानरूप से रहते हैं कि यदि कभी साधक नाम रूप को छोड़कर अस्तिमात्र को विषय कर ले तो उसे ज्ञान दे देवें। अथवा उसे शिव कृपा के भाव से ग्रहण कर ले तो उसका अहंकार हरण कर लें।

यात्रा के मार्गों के जंगलों में यात्री को द्रव्यापहरण करके बाधा देने को निरंतर वर्तमान चोर को आरण्य कहते हैं। आधुनिक युग में इन्हें Highway Robbers कहा जा सकता है। एक जन्म से दूसरे जन्म को जाने के भयानक रास्ते मृत्यु में ही शिव वर्तमान रहते हैं कि यदि जीव वहाँ भी उनका स्मरण कर ले तो 'अन्तकालेपि मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्' इस

गीता के अनुसार उसको जीवभाव से दूर करने को तैयार मिलें। यद्यपि दूसरे देव भी अरण्य हैं क्योंकि 'यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरं', तथापि कैवल्यमुक्तिप्रद होने से शिव उन सभी में श्रेष्ठ हैं। अथवा उनमें भी शिव ही के कारण यह शक्ति है यह भाव है।

२१

[क] **शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—**

नमो वंचते परिवंचते स्तायूनां पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो वञ्चते परिवञ्चते स्तायूनां पतये नमो

जो अपने बनकर दूसरों के द्वारा अज्ञात ही रात या दिन में भी द्रव्य का अपहरण करते हैं वे 'स्तायू' हैं। मन और इन्द्रियाँ स्वकीय बनकर अनन्तानन्द का अपहरण करती हैं। उनके पति शिव हैं। अथवा अन्तःकरण की लीनावस्था सुषुप्ति ही 'स्तायू' है, यतः जाग्रत्स्वप्न का अपहरण करती है। उसके पति शिव हैं। कारणावस्था ईश्वर की उपाधि है, व अन्तःकरणरूप कार्य जीव की उपाधि है। इस आभासवाद को यहाँ बताया जा रहा है। स्तायूपति की उपपत्ति वंचन, परिवंचन से करते हैं। मालिक का विश्वासी बनकर उसका सामान खरीदने वेचने में जहाँ कहीं भी जो कुछ भी द्रव्य अपहरण करने वाले को वंचते, तथा सभी व्यवहारों में कुछ न कुछ चुराने की प्रवृत्ति वाले को परिवंचते से कहा जाता है। शिव के इन दोनों रूपों को नमन है, क्योंकि ऐसा होने से ही वह स्तायूपति हैं। वंचते से pilfering आदि के द्वारा कभी कभी विश्वासघात करने वाले को कहा गया है। सदा ही ठगने वालों को परिवंचते से कहा गया है। शिव जाग्रदवस्था में नामरूप से अधिष्ठान ब्रह्म को ढँकने से वंचते, एवं स्वप्न में ज्ञान के साधन इन्द्रियों को ढँकने से परिवंचते हैं। जाग्रत् में कभी-कभी भ्रम होता है, और स्वप्न सारा ही

भ्रम रूप है। जाग्रद् में गुरु, वेद आदि से व्यवहार काल में ज्ञान संभव भी है, पर स्वप्न में इतना भी नहीं है। सुषुप्ति में वह भी नहीं है।

अथवा वेद के द्वारा परोक्ष ब्रह्मरूप का ज्ञान देकर एवं शुभ कर्म व देवोपासना का उपदेश देकर दुःख का वंचन करते हैं। अहंग्रहोपासना से ब्रह्मलोक की प्राप्ति कराकर दुःख से प्रलयान्त तक दूर कर देते हैं अतः परिवंचना करते हैं। अन्ततः तत्त्वमसि के ज्ञान से दुःख का सर्वथा हरण कर लेते हैं, अतः स्तायूपति हैं।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो निषङ्गिण इषुधिमते तस्कराणां पतये नमो

धारण करने वाले शिव को नमस्कार है। प्रकट चोरों के पति को नमस्कार है। प्रथम दोनों विशेषण तस्करपतित्व का प्रदर्शन कराने को हैं।

वस्तुतस्तु पदपाठ में 'निषङ्गिण इति नि संगिनां' कहा है। अतः संगरहित से तात्पर्य है। शिव की प्रत्यक्ष चोररूपता शिवरात्रि कथा में स्पष्ट है। सर्वथा नियम, ज्ञान व भक्ति से रहित व्याध के भी अज्ञान व दुःख का अपहरण उन्होंने बहाने मात्र से कर लिया। अतः वे प्रत्यक्ष चोर हैं। पुण्य में भी संगी होते तो केवल पुण्यात्मा के ही दुःख का हरण करते। जिस जीव का भी उद्धार करने को उन्होंने धार लिया, बाण रूपी जीव को उठा लिया, उसका अवश्यमेव उद्धार कर देते हैं यह भाव है। तरकस भरा रहता है। अर्थात् एक जीव के उद्धार करने के बाद दूसरे के उद्धार को तत्पर रहते हैं। निरन्तर तत्पर होकर किसी न किसी जीव का उद्धार करते ही रहते हैं। प्रतिक्षण किसी न किसी जीव का उद्धार होता ही रहता है। ऐसे प्रकट रूप से किसी भी निमित्त से अपनी दयालुता को बिना छिपाये भी वे उद्धारक हैं। उन्हें नमस्कार है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमः सृकायिभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमः सृकाविभ्यो जिघांसद्भ्यो मुष्णतां पतये नमो

सृक का अर्थ वज्र होता है। उससे अपनी रक्षा करने वाले को सृकावि या सृकायि कहा जाता है। जो चोर अपनी रक्षा के लिये भयंकर अस्त्रों का प्रयोग करता है, उस रूप को भी नमन है। दूसरों की हत्या अकारण अपनी इच्छा से करते हैं उन 'जिघांसद्भ्यः' चोर रूपों को भी प्रणाम है। जो कृषक अपने मालिक के खेत के अनाज, फल आदि का अपहरण करते हैं ऐसे 'मुष्णतां पति' को प्रणाम है। अनाज चोर भी समय पर अपनी रक्षार्थ अस्त्र धारण या प्राणिहनन करते हैं, अतः उनके रक्षक को यह धारण करना समीचीन ही है। यहाँ व आगे के मन्त्रों में बहुवचन छान्दस् प्रयोग है। नहीं तो विशेषण विशेष्य भाव असम्बद्ध हो जायेगा।

वस्तुतः यह शरीर ही खेत है, एवं धर्माधर्म ही इसकी उपज है। इस उपज के लिये ईश्वर से चेतनता की मदद मिलती है। पर वे साधक रूप से परमेश्वर ही इसके दुःखभोग काल में इसको विवेक बुद्धि देकर इसका अपहरण कर लेते हैं। भोग करते समय यदि अकर्तापने का बोधरूप विवेक रहे तो धर्माधर्म का फल नहीं होता। 'सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो' आदि गीता इसमें प्रमाण है। अतः वे मुष्णतां पति हैं। एतदर्थ वे दुर्वासना पर वज्रपात (सत्व-पुरुषान्यथाख्यातिरूप) भी करते हैं, तथा उन वासनाओं को इच्छापूर्वक नष्ट भी करते हैं। 'कुतः शाड्वलता तस्य यस्याग्निः कोटरे गतः' आदि सुरेश्वरोक्ति इसमें प्रमाण हैं। ऐसे चोरी से विवेक देने वाले व वासनाओं को नष्ट करने वाले शिव को नमस्कार है।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमोऽसिमद्भ्यो नक्तञ्चरद्भ्यो विकृन्तानां पतये नमः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमोऽसिमद्भ्यो नक्तचरद्भ्यः प्रकृन्तानां पतये नमो

जो डाकू जान लेकर ही धन लेते हैं वे 'विकृन्त' या 'प्रकृन्त' कहे जाते हैं। उनके भी पति रूप शिव को प्रणाम है। वे रात्रि में घूमें, व सदा तलवार लिये रहें, यह तो सर्वथा उपयुक्त है। खड्गधारी चोर 'असिमद्भ्यः', एवं गलियों में रात को विचरण करने के लिये निकले लोगों के माल को चुराने वाले 'नक्तंचरद्भ्यः' हैं। इन दोनों रूपों को नमस्कार है।

अविद्या रात्रि में चरने वालों का अहंकार अपहरण करने वाले भी शिव हैं। काम्य कर्म में भी शुद्धि की क्षमता इसी रूप को बताती है। वेद मार्ग में

कामनापूर्त्ति के लिये लगने वाला भी अन्ततः मुक्त हो जाता है। यही शिव का 'नक्तंचरद्भ्यो' रूप है। तीव्र वैराग्य खड्ग तो सदा ही उनके पास है। वैराग्य के द्वारा भी वे जीव का जीवभाव अपहरण कर लेते हैं। दुःख को निमित्त बनाकर जो क्षणिक वैराग्य आता है उससे प्रवृत्त संन्यासी का भी अन्ततः कल्याण हो ही जाता है। यद्यपि वह दुःख निवृत्तिमात्र चाहता था, शिव को नहीं, पर वे दयामय उसे भी ज्ञान दे देते हैं। इसी प्रकार जीव का जीवन लेकर भी काशी में मृत्यु के समय ज्ञान देकर उसका अपहरण करते हैं। ऐसे 'काशीमरणान्मुक्तिः' को चरितार्थ करने से वे मुष्णतां पति हैं।

२२

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नम उष्णीषिणे गिरिचराय कुलुञ्चानां पतये नमो

साफा आदि पहन कर भला आदमी बनकर लोगों को ठगने वाला 'उष्णीषिणे' रूप है। उस रूप वाले शिव को नमन है। आजकल उसे gentleman thief कहा जाता है। अथवा अधिकारी बनकर जो लोगों से घूस आदि लेता है,वह भी इसका तात्पर्य हो सकता है। गुणों को धारण करके अर्थात् सगुण-मूर्त्ति के द्वारा ध्यान से आकृष्ट करके साधक के गुणों का अपहरण कर उन्हें निर्गुण बना देने वाले शिव उष्णीषि हैं। अथवा इन्द्र आदि का रूप धारण कर भी वे साधक को मुक्ति देते हैं। उपमन्यु के सामने पहले इन्द्ररूप से प्रकट होकर परीक्षा की, यह पुराणों में प्रसिद्ध है। अथवा 'येऽप्यन्यदेवता भक्ताः' आदि से दूसरे देवताओं की भक्ति करने वाले को भी परमदयालु परम महेश्वर अंग के द्वारा अंगी की भक्ति मानकर उसके सभी बन्धनों से छुड़ा देते हैं, यह भाव है।

पहाड़ों में रहने वाले लकड़ी आदि काटने वाले के वस्त्रों का हरण करने वाला गिरिचर है। या पहाड़ की लकड़ी आदि चोरी से काटने वाले या चोरी से शिकार करने वाले भी गिरिचर हैं। वस्तुतः सहस्रार गिरि पर जो सिद्धियाँ रूपी लकड़ियों को काटने गये हैं, या दिव्य विषयों का शिकार खेलने गये हैं, उनकी समाधि में अन्नमयादिवस्त्रों को शिव हरते हैं, एवं दिव्य विषयों के भोगानन्तर उन्हें परमार्थ में प्रवृत्त करते हैं, अतः वे गिरिचर हैं। गिरि नामक संन्यासियों के हृदयगत वासना शाखाओं को काटकर, या काम क्रोधादि का शिकार करके वे चोर बनते हैं, यह भाव भी है। उन शिव को नमस्कार है। भूमि आदि के पटेल या तहसीलदार आदि की सहायता से नकली दर्ज या दस्तावेज से जो हरण करते हैं वे कुलुंच हैं। उनके वे आराध्य हैं अतः 'कुलुं-चानां पतये' के लिये नमन है। 'अनुगृह्णाम्यहं येषां हरिष्ये तद्धनं शनैः' आदि ईश्वर वाक्यानुरूप वे हमारी आसक्ति को नष्ट करने को, व तितिक्षा का अभ्यास बढ़ाने को हमारे जमीन मकान आदि का अपहरण करते हैं। शैवा-चार्य सुन्दर मूर्ति को झूठे दस्तावेज से शिव ने ठगकर अपनाया था यह सुप्रसिद्ध कथा भी यहाँ ग्राह्य है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नम इषुमद्भ्यो धन्वायिभ्यश्च वो नमो
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नम इषुमद्भ्यो धन्वाविभ्यश्च वो नमो

'नमो हिरण्यबाहवे' से 'कुलुञ्चानाम्पतये नमः' तक 'एष सर्वेश्वर एष लोकाधिपतिः' का व्याख्यान हुआ। अब एक-एक वस्तु से सर्वात्मकता का वर्णन प्रारम्भ होता है। अब तक निमित्त कारण बताया, तो अब उपादान कारण बताना है।

लोगों की रक्षा के लिये बाण व धनुष लेकर अर्थात् हथियार सम्पन्न देव, असुर, मनुष्य रूप से घूमने वाले शिव रूपों को नमन है। आज के युग में सभी प्रकार की पुलिस व सेना के जवानों को इसी से नमन है। 'वः— आप लोगों के लिये' कहकर शिवांश घोरतर रुद्र रूपों की बहुलता स्पष्ट की

है। किंच जो परिदृश्यमान रूप हैं उन्हीं को कह रहे हैं, परोक्ष रूपों को नहीं, यह भी भाव है। दोनों तरफ नमः लगाकर उनकी असह्यता का भी संकेत है।

अथवा 'कोप-प्रसाद-धनुषो वाक् शरा मुनयः क्वचित् शपन्ते चानुगृह्णन्ति तस्मान्नैतान्प्रकोपयेत्' आदि आगमों से निग्रहानुग्रह समर्थ शिवभक्त मुनियों की ही प्रार्थना है कि वे हम पर प्रसन्न रहें, क्रुद्ध न हों। वेदान्त धनुष पर चढ़ाकर महावाक्य बाणों को हम पर छोड़ें। काम्यकर्म निर्देशक वेद धनुष पर कामवर्षक उपदेशों को न दें। हम पहले ही कामादि से त्रस्त हैं। अतः शिव हमारी परीक्षा न करें यह रहस्य है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नम आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नम आतन्वानेभ्यः प्रतिदधानेभ्यश्च वो नमो।

'आतन्वते विचित्रशिल्पानीत्यातन्वानाः।' सभी प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कारों से विषय या भोग्य वस्तुओं को प्रतिदधते=हमारे सामने उपस्थित करने वाले प्रतिदधानेभ्यः शिव रूपों को प्रणाम है। हम मनुष्य पहले ही कामनाग्रस्त हैं। विषयभोगों की ओर अधिक अभिवृद्धि करके हमें और अधिक प्रवृत्त कराके आपकी ओर आने से रोकने के जो साधन बनते हैं, उनसे हमारी रक्षा करो। पहले में वैदिक कामना से बचने की प्रार्थना है तो यहाँ लौकिक कामनाओं से।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नम आयच्छद्भ्योऽस्यद्भ्यश्चवो नमः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नम आयच्छद्भ्यो विसृजद्भ्यश्चवो नमो

हमें विषयों को आ=चारों तरफ से यच्छद्भ्यः=देने वालों के लिए प्रणाम है। तथा हमारे मन को अति समीप से वेधने वाले अर्थात् प्रिय लगाने

के लिए लुब्ध (विज्ञापन आदि से) करने वालों के लिए प्रणाम है। तात्पर्य है कि शिव हमें देने वालों से बचावें, तथा विषयों को प्रिय करने वालों से भी बचावें। मानव स्वभावतः लोभी है। अतः जब कोई विषयों को देता है तो 'नहीं' नहीं कर पाता, तथा विषयों की प्रियता का श्रवण करके भी मन डोल जाता है। लोभ कराने वालों से बचावें यह रहस्य है। Tempt not का ही यह रूप है।

●

२३

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो विसृजद्भ्यो विध्यद्भ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमोऽस्यद्भ्यः विध्यद्भ्यश्च वो नमो

छोड़ने वाले या त्यागी रूप को प्रणाम है। तथा बींधने वाले रूप को भी प्रणाम है। उपस्थ से विसर्ग भी होता है व वेध भी। मानव के बंधनों में इस इन्द्रिय की प्रधानता है। अथवा ब्रह्म का जीव रूप से विसर्ग है, अतः जीव अपने को ब्रह्म से भिन्न समझता है। तथा जीव में चेतन रूप से भी ब्रह्म का वेध है। अतः जीव को अपने व्यापक रूप से दूर करने वाला भी शिव है, व अन्तर्यामी व ज्ञानरूप से उसको व्याप्त करके भी रहता है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः स्वपद्भ्यो जाग्रद्भ्यश्च वो नमो

सोने वाले तथा जागने वाले शिवरूपों को प्रणाम है। अन्यथाग्रहण जाग्रत् व स्वप्न, दोनों में ही है। अतः अन्यथाग्रहण करने वाले जीवों को प्रणाम है।

विष्वक्सेन, द्वारपाल आदि जागरूक मूर्तियों का यही बीज है। स्वप्न व जाग्रत् उन्मेष निमेष का ही भेद है। अतः चक्षु या सूर्य को प्रणाम है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः शयानेभ्य आसीनेभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः आसीनेभ्यः शयानेभ्यश्च वो नमो।

शयन व आसन पायु इन्द्रिय के सहारे ही होने से उसे या उसके अभिमानी मृत्यु को नमन है। अथवा सोने से तत्त्व का अज्ञान, व बैठने से योग का ग्रहण भी हो सकता है। किंच शेषशायी, काली के नीचे शिव, आदि 'शयान' व बद्रीनारायण, योगेश्वर आदि 'आसीन' मूर्त्तियों को नमस्कार है।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमस्तिष्ठद्भ्यो धावद्भ्यश्च वो नमो।

खड़ी नटराज आदि मूर्तियों को, एवं किरात, भिक्षाटनादि दौड़ती मूर्तियों को प्रणाम है। वैसे खड़ा होना अचलावस्था है, व दौड़ना चलावस्था है। 'तदेजति तन्नैजति' का ही यह रूपान्तर है। शिव ही साक्षी रूप से खड़ा रहता है, व मन आदि उपाधि रूप से दौड़ता रहता है, यह भाव है। दौड़ती मूर्त्ति से वायुमूर्ति का भी ग्रहण है। कनिष्क के सिक्के पर ऐसी मूर्त्ति मिलती है। 'वायुपूरित वस्त्रश्च द्विभुजो रूपसंयुतः। कार्यो गृहीतवस्त्रान्तः कराभ्यां पवनोद्द्विज' आदि से विष्णुधर्मोत्तर पुराण ३-५८ में इस मूर्त्ति का प्रतिपादन है।

२४

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्चवो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः सभाभ्यः सभापतिभ्यश्चवो नमो ।

'स' अर्थात् साथ-साथ, 'भा' अर्थात् ज्ञान करने वाला सभा होता है । सभा भी सभा इसीलिए होती है कि सब मिलकर ज्ञानार्थ एकत्रित होते हैं । साक्षी रूप शिव व प्रमातारूप जीव को विशिष्ट व उपहित रूप से ज्ञान साथ-साथ ही होता है अतः वे सभा हैं । इससे शिव का नित्य साहित्य प्रकट किया गया है । दोनों को समान न माना जाये । अतः दोनों में वे ही पति हैं । सभापति के द्वारा यह स्पष्ट किया गया है । नटराज का सभापतित्व तो प्रसिद्ध है ही । धावद्भ्यः के आगे रखकर इसी का संकेत किया गया है ।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमोऽश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो अश्वेभ्योऽश्वपतिभ्यश्च वो नमः ।

कर्मेन्द्रियाँ ही सतत गमनशील होने से अश्वरूप हैं, तथा उनके वे पति हैं, अतः उन्हें प्रणाम है । अस्थिर जगत् भी आशुविनाशी है एवं उसके भी वे पति हैं । कर्मेन्द्रियों को उनके अधीन कर दिया अतः उन्हें अश्वपति स्वीकार लिया तो जीव का कल्याण हो गया । अश्वमेध प्रकरण का भी संकेत यहाँ है ही । कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा में यहाँ तृतीयानुवाक् की समाप्ति है ।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नम आव्याधिनीभ्यो विविध्यन्तीभ्यश्च वो नमो

दर्शनमात्र से हृदय को बींधने वाली स्त्रियाँ आव्याधिनी हैं। तथा सभी देहावयवों को व करणग्राम को स्तब्ध व शिथिल करने में समर्थ रमणियाँ विविध्यन्ती हैं। दोनों को शिव ने ही इस योग्य बनाया है, अतः वे हमको व्यथित न करें, इसलिए प्रणाम है। भामिनी में इन गुणों का प्राधान्य अपेक्षित है, यह भी इनके विभूतियोग में पठन से सिद्ध होता है। अथवा आलिंगन-पर्यन्त आव्याधिनी हैं, तथा चरम धातु विसर्गपर्यन्त विविध्यन्ती हैं। रमणियाँ आकृष्ट करके भी आकृष्ट को कुछ दूर ही रखती हैं, यह काम रहस्य है। वस्तुतस्तु सगुण शिव आलिंगनपर्यन्त आकृष्ट करने वाली मूर्ति हैं, तथा निर्गुण शिव अहं को विसर्गपर्यन्त प्रेरित कर सर्वथा अपने में लीन करते हैं यह रहस्य है। चरम धातु उत्सर्ग के पश्चात् जैसे उत्तेजना समाप्त होकर शयनार्थ प्रवृत्ति होती है, उसी प्रकार अहं का बाध होकर ब्रह्म में लीन होने पर जीव की अविद्याप्रयुक्त काम आदि उत्तेजना समाप्त होकर सप्तमभूमिका के आस्वादनार्थ प्रवृत्ति होती है। इस काल में सर्वथा प्रियतमा के अनुकूल आचरण ही होता है। वैसे ही ज्ञानी की सर्वथा ईश्वर प्रेरित ही प्रवृत्ति होती है। लोग समझते हैं ढोल बजता है, पर ढोल कुछ नहीं करता, ढोली ही सब कुछ करता है। एवमेव जीवन्मुक्त कुछ नहीं करता, शिव ही सब कुछ करते हैं। ऐसी विव्याधिनी महासंवित् को नमन है यह भाव है। अथवा चारों ओर से आक्रमण करने वाली योगिनी, डामरी, डाकिनी, पिशाचिनी भी उन्हीं का रूप हैं। तब पाशवृत्तियाँ घृणा, लज्जा, भीति, बिभीषिका आदि का भाव होगा। एवं शीतला, मरिअम्मा, ज्वरबिभीषिका, विसूचिका, हैजा आदि भी उनके रूप से पूज्य हैं यह भाव है।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नम उगणाभ्यस्तृ॑ꣳहतीभ्यश्चवो नमः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नम उगणाभ्यस्तृ॑ꣳहतीभ्यश्चवो नमो

उत्कृष्ट गणा अर्थात् उगणा। सप्तमातृकादि एवं मारने में समर्थ दुर्गा आदि उग्र देवता ही 'तृंहणा' हैं। दोनों प्रकार की शक्तियाँ शिव की ही हैं। वस्तु-तस्तु शान्ति, दान्ति, उपरति, तितिक्षा, समाधि व श्रद्धा ही उत्कृष्ट गण हैं।

एवं उससे भी भयंकर अहं के सर्वनाश में समर्थ श्रुति, मति व विज्ञाति वृत्तियाँ हैं। ये हमारे पर आशीर्वाद की वृष्टि करें। इनसे विपरीत वृत्तियाँ भी ग्रहण की जा सकती हैं। अशांति आदि व स्वबुद्धि, कुमति आदि वृत्तियों को नमन है कि वे हमसे दूर रहें। दोनों ही शिवा व अशिवा तनू रूप से शिव हैं।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा में इसके बाद 'नमो गृत्सेभ्यो' आदि मन्त्र मिलता है व उसके बाद 'नमो गणेभ्यो' आदि मन्त्र। शुक्ल यजुर्वेद में क्रम उलटा है।

●

२५

[क] **शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—**

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्चवो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो गणेभ्यो गणपतिभ्यश्चवो नमो

भिन्न-भिन्न प्रकार के संघ गण कहे जाते हैं। सूदगण, स्वर्णगण, स्थपतिगण आदि। आधुनिक युग में इन्हें union कहा जाता है। जहाँ भी समूह है वहाँ समूह में शिव का वास है यह सनातन मर्यादा है। भाषा में भी पंचों की बात तो माननी ही पड़ेगी आदि उक्तियाँ प्रसिद्ध हैं। इन गणों के पति वे ही हैं। अथवा प्राचीन राज्य प्रणाली में लिच्छविगण आदि प्रसिद्ध हैं। अतः राज्यगणों (Republics) के प्रधान भी शिव के ही रूप हैं। यह ध्यान देने योग्य है कि कहीं भी राजा या राजतन्त्र का संकेत शतरुद्रीय में नहीं है। शैवधर्म सदा ही जनसामान्य को ही प्रधानता देता रहा है। वस्तुतः धीकरणगण, क्रियाकरणगण, अंतःकरणगण, भूतगण, प्राणगण, कामगण, कर्मगण आदि ही गण हैं। इनमें व्यष्टि, समष्टि उभय का ग्रहण है। गणरूप भी वे ही हैं। उनके पति अर्थात् अधिदैव रूप भी वें ही हैं, यह भाव है। प्रमथादिगण, नृत्य, संगीत करने वाले गण, व विनायक, नन्दीश्वर आदि

गणपति भी यहाँ ग्राह्य हैं । वस्तुतः शिव ही गणपति हैं, दूसरे तो उनके लिए कार्य देखते हैं । देव, दानव, मानव गण भी संगृहीत हैं ।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो व्रातेभ्यो व्रातपतिभ्यश्च वो नमो

भिन्न-भिन्न जाति के संघ व्रात हैं । उन रूपों में भी शिव ही हैं । तथा उनके अध्यक्ष रूपों में भी शिव ही हैं । वेद बाह्य व्रात्य कहे जाते हैं । जिस प्रकार गणों के वे आराध्य हैं, वैसे ही व्रात्यों के भी । यह शिव की विशेषता है कि वे सभी को समान रूप से प्रेम करते हैं । इतिहास साक्षी है कि बौद्धधर्म के पूर्व मंगोल, कोरिया से यूरोप तक सर्वत्र शैवधर्म ही फैला था । आगमों के द्वारा तमोगुणी, रजोगुणी, सभी साधकों के उद्धार का मार्ग शिव ने प्रशस्त किया है । अथवा अहंकाराधीन वृत्तिसमूह किसी केन्द्र के अधीन न होने से जीव को विरुद्ध तरफ खींचता है, अतः वह ही व्रात हैं । शिव व्रातपति हैं अतः हमारी उससे रक्षा करें ।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो गृत्सेभ्यो गृत्सपतिभ्यश्च वो नमो

गर्धनशील अर्थात् विषयलम्पट रूप भी वे ही हैं । विषयलम्पटता भी आनन्द के लिए ही होती है । आनन्द तो शिव ही हैं । विषयलम्पटवृत्तियों के पति होने से उससे वे हमारी रक्षा करें यह भाव है ।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमः
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो विरूपेभ्यो विश्वरूपेभ्यश्च वो नमो

विरूप अर्थात् विकृतरूप । परमार्थतः अविकृत रूप से रहने पर भी व्यवहारार्थ वे अनन्त नामरूपों (विश्वरूपों) को ग्रहण करते हैं । त्रिनेत्रादि,

श्मशानवासादि, दिगम्बरादि भी विरूपतायें हैं, जो उनकी विश्वरूपता को बताती हैं। विरूपता रुद्र की भयंकर मूर्त्तियों का भी संकेत करती है। सभी विरूपों में उन विश्वरूप को पहचान सकें, यह भाव है।

कृष्ण यजुर्वेद में इसके बाद पहले 'नमो महद्भ्यः' आदि मन्त्र है, प‥ शुक्ल यजुर्वेद में क्रम भिन्न है।

२६

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः सेनाभ्यः सेनानिभ्यश्च वो नमो

देव सेना व देवसेनापति कार्त्तिकेय शिवांश होने से शिवरूप ही हैं। वस्तुतः ब्रह्माकारवृत्ति का प्रवाह ही अज्ञान जयार्थ सेना है। इन वृत्तियों की बहुलता महावाक्य व अवान्तरवाक्यों के भेद के कारण है। पर सभी एक ब्रह्म को ही विषय करने में प्रवृत्त हैं अतः सेनापदवाच्य हैं। सभी वृत्तियों के सेनानी तो शिव ही हैं। यद्यपि वृत्ति सकृद् भी अज्ञान को नष्ट करने में समर्थ है, तथापि अप्रतिबद्ध ज्ञानार्थ अभ्यासाधिकरण में प्रवाह का विधान किया ही गया है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो रथिभ्यो अरथेभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो रथिभ्योऽरथेभ्यश्च वो नमो

रथ वालों तथा रथहीन रूपों को प्रणाम है। यह सर्वरूपता का संकेत है। अथवा 'रथं शरीर एव' आदि कठश्रुति के अनुसार देहाभिमानी ही रथी है, तथा

तदभिमान रहित ही अरथ हैं। दोनों ही शिवरूप हैं। वस्तुतः जीवन्मुक्त की ही 'चलाचल निकेतश्च' के द्वारा व्यवहार काल में अविद्यालेश से रथिता है, व समाधि व विचार काल में अरथरूपता। जीवन्मुक्त शिवभागवतोत्तम ही साक्षात् शिव है। अतः उसके दोनों भावों को प्रणाम है, यह भाव है। यही 'विवेको भैरवः' से शिवोक्ति है। आत्मानात्मभेदविमर्श ही विवेकपद वाच्य है। 'भरितत्वाद्भैरवः' वही चारों ओर से भरा हो तो भैरव है। विश्वसंहार यही करता है। 'देहाभिमाने गलिते विज्ञाते परमात्मनि यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः' आदि शास्त्र इसमें प्रमाण हैं।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः क्षत्तृभ्यः संगृहीतृभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः क्षत्तृभ्यः संग्रहीतृभ्यश्च वो नमो

स्तुतिकर्त्ता को व संग्रह करने वालों को प्रणाम है। जो लोगों को सत्संग आदि में प्रवृत्त करके उन्हें एकत्रित करते हैं, व जो शिवोक्तिओं को श्रोता को सुनाते हैं, वे दोनों ही शिव रूप हैं। शिव ही इन रूपों से लोगों का कल्याण करते हैं यह भाव है। क्षत्ता का स्तुतिकर्त्ता अर्थ भाष्यसिद्ध है। स्मृतियों में रथचालक को क्षत्ता कहा है। तब शरीररथ को चलाने वाली बुद्धि, व लोकसंग्रह में प्रवृत्त करने वाली बुद्धि, दोनों शिवानुग्रह को ही पहचान हैं, यह तात्पर्य सिद्ध होगा। प्रसिद्ध गायत्री मन्त्र में शिव से बुद्धि का शासन अपने हाथ में लेने की प्रार्थना है। जिसकी बुद्धि शिवाधीन हो गई वह किसी भी देह में हो कोई फरक नहीं पड़ता। भगवान् शंकर शिवानन्दलहरी में कहते हैं, 'शिव भवदधीनं कुरु विभो'—हे शिव ! मेरी बुद्धि को आप अपने नियंत्रण में ले लें। कई बार ज्ञानी की लोकसंग्रह की दृष्टि नहीं बनती। यद्यपि विधि निषेध के परे होने से कोई उसको प्रवृत्त नहीं कर सकता, पर जिस समाज में अधिकतर ज्ञानी लोकसंग्रह में प्रवृत्त होते हैं वही समाज जागृत् रहता है, यह इतिहास-सिद्ध है। अतः ज्ञानियों का लोकसंग्रह भी शिव की कृपा का रूप ही हैं।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो महद्भ्यो अर्भकेभ्यश्च वो नमः
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो महद्भ्यः क्षुल्लकेभ्यश्च वो नमो

अणिमादि सभी ऐश्वर्ययुक्त ऋषियों को, जनसामान्य, या बच्चों व बड़ों को नमस्कार है। वस्तुतस्तु उस शिव को नमस्कार है जो किसी में महत्व, व किसी में अर्भकत्व स्थापित करता है। बृहदारण्यक के अनुसार तो रागद्वेष-हीनता ही अर्भकता है। अतः वीतरागी महात्माओं के रूप में गुरू परम्परा से ज्ञान प्रसार करने वाले शिव रूपों को प्रणाम है यह भाव है। छोटा बड़ा सभी शिव रूप है यही शिवाद्वैतानुभूति है।

○

२७

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमस्तक्षभ्यो रथकारेभ्यश्च वो नमो

बढ़ई व रथनिर्माता शिव रूप को नमन है। जैसे लकड़ी को छीलकर बढ़ई काम करता है, वैसे ही मन की दुर्वासना को शिव छीलते हैं। वे ही शिव प्राप्ति के योग्य सूक्ष्म देह का निर्माण करते हैं। अथवा पृथ्वी को त्रिपुर-हर के समय रथ बनाने वाले होने से वे रथकार हैं। उसी महादेव का वर्णन यहाँ है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमः कुलालेभ्यः कर्मारेभ्यश्च वो नमो

कुम्हार व लुहार रूप शिव को नमस्कार है। ब्रह्मा को साहित्यिकों ने कुम्हार कहा है। (कुंभघोणम) में शिव ही कुम्हार के घड़े रूप में पूजे जाते हैं। सभी अभियंता (engineers) कर्मार पदवाच्य हैं। सृष्टि को भी आभियंत्रिक रचना (engineering feat) माना जाता है। भगीरथ की तपस्या के फल-स्वरूप गगानदी को भारत के प्लावन के योग्य बनाना शिव की कर्मारता है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो निषादेभ्यः पुञ्जिष्ठेभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः पुञ्जिष्टेभ्यो निषादेभ्यश्य वो नमो

शिकारियों तथा पक्षिघातकों को या बहेलियों को नमस्कार है। हंस नाम जीव का प्रसिद्ध है। ढूंढ कर उसे मारने से वे बहेलिया हैं। अर्जुन पर निषाद या शिकारी रूप से शिव ने कृपा की, यह प्रसिद्ध है। मछुओं को भी पुंजिष्ट कहा गया है। संसार समुद्र में से शिव जीवों का उद्धार करते हैं। 'तेषा-महं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्' आदि शास्त्र इसमें प्रमाण है।

कृष्ण यजुर्वेद में इसके बाद, 'नम इषुकृद्भ्यो धन्व कृद्भ्यश्च वो नमो' यह मन्त्र मिलता है।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः श्वनिभ्यो मृगयुभ्यश्च वो नमः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो मृगयुभ्यः श्वनिभ्यश्च वो नमो

कुत्तों व उनसे शिकार करने वाले शिव को प्रणाम है जो शिवभक्त परिव्राजकरूप से घूमकर योग्य साधकों में शिव प्रेम जगाते हैं, वे ही शिव के शिकारी कुत्ते हैं, तथा वे स्वयं उन शिव भक्तों के द्वारा साधकों के हृदयों का शिकार करते हैं। अथवा दत्तात्रेय के कुत्ते वेद है। अतः वेद सकाम भक्तों की कामना को पूर्ण करने के लिये आकृष्ट करते हैं, एवं तव शिव उनमें वेद श्रद्धा के माध्यम से शिवानुरक्ति को सर्वकामप्रपूरकत्वेन जगाकर, अन्ततः कामा नशनरूप संन्यास के द्वारा शिवज्ञान देकर, उन्हें फँसाकर उनका श्रेय करते हैं यह भाव है।

२८

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमो

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः श्वभ्यः श्वपतिभ्यश्च वो नमः

कुत्तों तथा कुत्तों के मालिक चाण्डाल रूप को नमस्कार है। आचार्य-शंकर को विश्वनाथ ने काशी में कुत्तों के साथ चाण्डाल रूप में दर्शन दिया था। इस कथा का मूल यहाँ प्रत्यक्ष है। पुराणों में भी शिव के चाण्डालवेश की कथा प्रसिद्ध है जिसमें वेद ही कुत्ते हैं। दत्तात्रेय का पूर्वमंत्र में निर्देश किया ही गया है। कुत्ते की घ्राणशक्ति प्रबल है चाण्डाल में देहशक्ति। शिव श्वान की तरह जीव के एक क्षण के प्रेम को भी सूँघकर, चाण्डाल की तरह प्रबलता से उसका उद्धार करते हैं यह प्रसिद्ध है। अथवा इन्द्रियाँ ही विषयग्राहिका होने से 'श्व' हैं व उनके पति शिव हैं। जीवों का शिकार वे भैरव रूप से विश्वप्रकृति के द्वारा करते हैं। वस्तुतस्तु 'श्वयतीति श्वा' व्युत्पत्ति होने से संसार वृक्ष को फुलाने या बढ़ाने वाला होने से वेद का कर्म-काण्ड श्वापद वाच्य है। एवं वेद के कर्म फलों का दाता होकर शिव वेद का रक्षक है। इस प्रकार शिव ही श्वपति हैं। 'यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत' आदि में धर्मरक्षार्थ ही अवतार माना गया है। इस प्रकार वेदप्रतिपाद्य धर्म एवं धर्मफलदाता शिव को नमन है।

कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा का चतुर्थानुवाक् यहीं समाप्त होता है। 'इषुमद्भ्यः' से यहाँ तक प्रपंचगत एक-एक वस्तुरूपशिव को बताते हुए विश्वरूप से साक्षात् ही जड चेतनात्मक सभी को महेश्वररूप प्रतिपादित कर शिवाद्वैत तत्त्व का प्रतिपादन किया। आगे भी ज्येष्ठाय आदि का इसी

प्रकरण में संग्रह करना योग्य है। 'शिवमद्वैतं' 'न सन्न सासज्छिव एव' 'एक एव रुद्रः' 'सर्वोह्येष रुद्रः' आदि श्रुति, तथा 'भूतानि शंभुर्भुवनानि शंभुर्वनानि शंभुर्गिरयश्च शंभुः' आदि स्मृतियाँ इसमें प्रमाण हैं। यह सिद्धान्त रहस्य है कि जीव की चेतनात्मकता होने से 'तत्त्वमसि' में मुख्यार्थ समानाधिकरणता है, तथा आरंभाधिकरण न्याय से अचेतनात्म होने से विश्व में बाधार्थ समानाधिकरणता है। अधिष्ठानातिरिक्त अध्यस्त असत् है। इससे कुत्ता आदि हीन की शिवात्मकता कैसे ? आदि संशय स्वयं निरस्त हो जाते हैं। श्वपति या श्वपद वाच्य देह के अधिष्ठान रूप में शिव हैं। अधिष्ठान अध्यस्त से रंचमात्र भी दूषित नहीं होता। तथा श्वपति या श्व का लक्ष्य आत्मा तो सदा ही उपाधि के दोष से असंपृक्त है ही। इसीलिये आचार्य शंकर 'चाण्डालोस्तु सतु द्विजोस्तु गुरुरित्येषाममीषा मम' कहकर स्वात्मनिश्चयानुभूति प्रकट करते हैं। 'शुनि चैव श्वपाके' स्मृति इसमें प्रमाण है। गंगा, झील, मूत्र या शराब में प्रतिबिंबित सूर्य में अभेद ही है। दोनों तरफ नमन वाले मंत्र यहाँ तक आये।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो भवाय च रुद्राय च नमः शर्वाय च पशुपतये च

सृष्टि को उत्पन्न करने वाले, दुःख को नष्ट करने वाले, पापों को नष्ट करने वाले तथा अज्ञान पाश के द्वारा जीवों का नियंत्रण करने वाले शिव को नमस्कार है। 'भवन्ति प्राणिनोऽस्मादिति भवः'। इसमें जन्माद्यधिकरण प्रमाण है। 'रोदन-हेतु-भूतं दुःखं द्रावयतीति रुद्रः। शृणाति हिनस्ति पापं इति शर्वः'। पूर्वानुवाकों में बहुवचन के स्वारस्य से प्रतिदेह में प्रमातृचैतन्यों के भेद से जीवभेद प्रतीत होने की संभावना है। उस संभावना की निवृत्त्यर्थ एकेश्वरवादानुयायी एकजीववादरूपी वेदांत के मुख्य पक्ष को सिद्ध करने के लिये यहाँ एकवचन प्रयुक्त हैं। यह परम्परा सम्प्रदाय सिद्ध है। इसी प्रकार अब शिव के असाधारण उपास्य रूपों का वर्णन है। इसमें परम शिव की महत्ता का अनुसंधान करना बताया जा रहा है। इन चार नामों से सृष्टि, स्थिति, संहार, बन्ध तथा मोक्ष रूपी पंचकृत्यों को करने वाले महेश्वर का

अनुसंधान है। ये पंचकृत्य केवल परमेश्वर के ही हैं किसी अन्य के नहीं, यह जगद्व्यापाराधिकरण से सिद्ध है। भव से जन्म, पशुपति से बंध व स्थिति रुद्र से मोक्ष, तथा शर्व से 'तस्मा उपसंहर्त्रे महाग्रासाय नमः' 'यस्य ब्रह्म च क्षत्रं' आदि श्रुतियों से सिद्ध संहार का प्रतिपादन किया गया है। पशु बंधन का, तथा पति तद्रक्षण का प्रतिपादन करता है। यह सम्प्रदायार्थ है। यहाँ तथा आगे भी 'च' से 'नमः' समझना चाहिये। तात्पर्य है कि पंचकृत्यपरायणता से अनुसंधान करते हुए इस मंत्र का अनुसंधान कर्त्तव्य है। आगे भी इसी प्रकार समझना चाहिये।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो नीलग्रीवाय च शितिकण्ठाय च

कालकूट ग्रास से हुए नील वर्ण के कण्ठ वाले को, तथा ग्रास के पूर्व सफेद कण्ठ वाले को प्रणाम है। इससे अपने ऊपर कलंक को धारण करके भी भक्तानुग्रह करने वाले सर्व लोक दयालु को नमन बताया गया है। 'अर्हंश्वि-दन्दयसे विश्वं' आदि मंत्र इसमें प्रमाण हैं। सृष्टि के पूर्व निष्कलंक शिव अविद्याकलंक को धारण करके भी जीव के मोक्षार्थ प्रवृत्त होते हैं। इससे उनमें वैषम्य नैर्घृण्य दोष प्रसक्ति भी आती है। उसको भी स्वीकार के शिव जीवोद्धार में प्रवृत्त रहते हैं। इसीलिये शिवभक्त परमहंस भी सभी प्रकार के दोष व लाञ्छनों को सहन कर लेते हैं। जीवन्मुक्ति काल में व्यवहारगत भेद से रागी, द्वेषी आदि कलंक को स्वीकार करके भी लोकानुग्रह प्रवृत्ति करते देखे जाते हैं। अथवा अध्यारोप से प्रथम नीलग्रीव शिव का प्रतिपादन करके, पुनः अपवाद से उन्हें शितिकण्ठ बनाया जाता है। यही निष्प्रपंच के प्रपंचन द्वारा शिव का प्रतिपादन है। ऐसे प्रतिपाद्य को नमन है।

२६

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः कपर्दिने च व्युप्तकेशाय च

जटाधारी वीरभद्र तथा मुंडित शंकर रूप को नमस्कार है। 'देवा वै यज्ञाद् रुद्रं अन्तरायन् स यज्ञं अविध्यत्' आदि श्रुतिप्रसिद्ध शिवहीन यज्ञ, अर्थात् ईश्वर की उपासना रहित कर्म का नाशक शिव को बताकर उनकी महिमा का प्रतिपादन है। वेध का अर्थ क्षणिक फलप्रदत्व है। इसी प्रकार शंकरावतार में परमहंस रूप से कर्मकाण्ड का विस्तृत खण्डन भी उन्होंने किया है। ये दोनों पौराणिक उपाख्यान शिव को ज्ञानमार्ग का स्थापक व रक्षक बताते हैं। जटा तपस्या, व मुंडी ज्ञान का सूचक तो सर्वत्र प्रसिद्ध ही है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः सहस्राक्षाय च शतधन्वने च

अनन्त आंखों वाले इन्द्ररूप को धारण करके उपमन्यु को दर्शन देने वाले, एवं अनंत शक्ति वाले पिनाक को धारण करने वाले को प्रमाण है। इन्द्र को भाष्य में सर्वकामेश्वर रूप से स्मृत किया है। तथा तैत्तिरीयारण्यक में 'सहस्राक्षस्य महादेवाय धीमहि' स्पष्ट ही कहा है। वस्तुतः वेदों में शिव की कामपूरकता या प्रवृत्तिमार्ग के आराध्य व फलदातृत्वरूप से इन्द्रशब्द वाच्यता है, उपास्यरूप से अग्निपदवाच्यता, एवं ज्ञानरूप से सोमपद वाच्यता है। सहस्राक्षता सर्वज्ञता का भी प्रतिपादन करती है। 'धनुर्मेरुम-कारयत्। कृत्वा च धनु रोङ्कारं, सावित्रीं ज्या महेश्वरः,' इत्यादि से मेरु को स्पष्ट प्रणव कहा है। मेरु, पिनाक, वेद, प्रणव आदि सैकड़ों प्रकार के धनुष् धारण करने वाला शिव है यह अर्थ भी सम्भव है। इससे असुरसंहारक एवं

ज्ञानप्रदाता दोनों प्रकार की महिमा प्रतिपादित है। मंत्र के दोनों विशेषणों के द्वारा प्रवृत्ति व निवृत्ति दोनों वेदभाग की एकता का भी प्रतिपादन है। शतधन्वा से सहस्रबाहु कार्तवीर्यार्जुन रूप का भी ग्रहण है।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[ग] नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च

[घ] नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[ग] नमो गिरिशयाय च शिपिविष्टाय च

[घ] नमो मीढुष्टमाय चेषुमते च

गिरि पर रहने वाले शिव, एवं विष्णु तथा ब्रह्मा को नमस्कार है, व विश्वातीत परमात्मा को प्रणाम है। 'विष्णुः शिपिविष्टः' से श्रुति इसे स्पष्ट करती है। वस्तुतः 'पशवः शिपिः' श्रुति से जीव ही शिपि हैं, व अन्तर्यामी होकर उनमें विष्ट होने से ही नारायण शिपिविष्ट हैं। यही हरिहर की एकता परवर्ती काल में हरिहर मूर्ति में विग्रह रूप से प्रकट हुई है। 'विष्णु-रूपं मुखं रम्यं' आदि से चंद्रिकाकार ने इसे ही स्पष्ट किया है। अतिशय वीर्य सेचक जगत्सृष्टा ब्रह्मा ही मीढुष्टम हैं। पार्वती के विवाह में शुक्रपात एवं स्वदुहितृगमन आदि पौराणिक उपाख्यान प्रसिद्ध ही हैं। 'स ब्रह्मा स हरिः सेन्द्रः सोक्षरः परमः स्वराट्' आदि भाल्लविशाखा इसमें प्रमाण हैं। 'शल्यं विष्णुः' आदि श्रुति से प्रशस्तार्थ में मतुप् समझना चाहिए। अर्थात् प्रशस्त विष्णु ही जिनके बाल हैं। इससे त्रिपुरसंहार का संकेत है। वस्तुतस्तु सभी देवों का त्रिपुरसंहार लीला में शिव की सेवकता का यहाँ कथन है। 'अंगान्यन्या देवताः' आदि श्रुति यहाँ गतार्थ है। वैसे गिरि नामा संन्यासियों में अतिशय रूप से आराधित होने से भी वे 'गिरिशयाय' हैं, तथा शिपि अर्थात् जीवों के साक्षी होने से शिपिविष्ट, कामनानुसार कर्मफल की वृष्टि करने वाले होने से मीढुष्टम हैं। मेघरूप से वर्षयिता होने से मीढुष्टम हैं। 'शरो ह्यात्मा' से जीवात्मा का अधिष्ठान शुद्ध चिन्मात्र ही इषुमान् है। यहाँ महिम्नस्त्रोत का 'बहुल रजसे विश्वोत्पत्तौ भवाय नमो नमः' आदि शास्त्र भी प्रमाण हैं।

३०

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो ह्रस्वाय च वामनाय च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो ह्रस्वाय च वामनाय च

'अणोरणीयान्' आदि श्रुतिसिद्ध ह्रस्वता है। त्रिविक्रमावतार से वामन रूप पुराणों में वर्णित है। दहरविद्योपासना का यहाँ वर्णन है। 'तत्रापि दह्र' आदि से ह्रस्वता एवं 'मध्ये वामनमासीनं विश्वेदेवा उपासते' आदि से वामन-रूपता का प्रतिपादन कृष्ण यजुर्वेद में किया गया है। ये दोनों ध्येय मूर्त्तियाँ हैं।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो बृहते च वर्षीयसे च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो बृहते च वर्षीयसे च

त्रिविध परिच्छेदरहित ब्रह्मरूप, एवं सकल शक्ति गुणों से समृद्ध वर्षीयान् रूप को नमस्कार है। वर्षों में अधिक होने से भी वे वर्षीयान् हैं। 'वामनाय' व 'बृहते' को साथ करके त्रिविक्रमावतार की सारी लीला स्पष्ट हो जाती है। बलि से याचना के समय जो वामन थे, वही दान के बाद बृहत् थे। इसी प्रकार साधक के ध्यान के समय जो वामन हैं, वे ही ज्ञान के समय बृहत् अर्थात् ब्रह्म हैं। जाग्रत् स्वप्न व सुषुप्ति के एक-एक काल में परिच्छिन्नात्मबोध से जो वामन हैं, वे ही पुनः तीनों के अधिष्ठान तुरीयरूप में बृहत् हैं. यह वेदांत सम्प्रदाय है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो वृद्धाय च सवृधे च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो वृद्धाय च संवृध्वने

सर्वापेक्षाय पूज्य एवं स्तुत्य का नमन है । शिव सभी से बड़े होने से सबके पूज्य हैं, व उनका कोई पूज्य नहीं है । 'कः पूजितः स्याच्छशिशेखरेण नाराधितो भूतपतिस्तुवा कः' आदि पुराणोक्ति इसमें प्रमाण है । पितामह ब्रह्मा के पिता विष्णु के भी जनक होने से वे वृद्ध हैं । अथवा ज्ञान से वृद्ध हैं । स्तुति द्वारा वे वर्धित होते हैं अर्थात् उनको प्रसन्नता होती है । वस्तुतस्तु शिव स्तुति से आत्मा में प्रतिबद्ध शिवधर्म का प्रकट होना ही शिव का संवृधत्व है । समाज में भी शिवकीर्तन से अशिवभाव दबकर शिवभाव वर्धित होते हैं । वृद्ध होने से वे स्वयं वर्धित नहीं होते । क्योंकि स्तुति सदा ही उनके अननुरूप ही होगी । 'स्तुतिर्ब्रह्मादीनामपि तदवसन्नास्त्वयि गिरः' आदि महिम्नोक्ति इसमें प्रमाण है ।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमोऽग्र्याय च प्रथमाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो अग्रियाय च प्रथमाय च

विश्वोत्पत्ति के भी अग्रस्थित होने से अग्र्य हैं, तथा 'हिरण्यगर्भं जनयामास पूर्वं' आदि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं । इस प्रकार सृष्टि के संकल्प करने के भी पूर्व होने से प्रथम हैं । 'न सन्न चासञ्छिव एव केवलः' 'सदेव सोम्य' 'आत्मैवेदमग्रे' आदि श्रुतियां इसमें प्रमाण हैं । अथवा प्रथम से श्रेष्ठता का प्रतिपादन है, यतः वृद्ध व अग्र्य होने पर भी कई अश्रेष्ठ ही रह जाते हैं । शिव श्रेष्ठ हैं यह भाव है । अथवा वात्सल्य के कारण भक्त की रक्षा करने को आगे चलते हैं अतः अग्र्य हैं । साधक में वे ही प्रथम उसको आकृष्ट करने के लिये आनन्दमूर्ति से प्रविष्ट होकर प्राथम्य करने से प्रथम हैं । यथा दीपज्योति ही भुनगे के चक्षुद्वार से प्रथम उसके हृदय में प्रविष्ट होती है, तभी भुनगा दीपशिखा की ओर जाता है । वैसे ही साधक से वे ही साधना कराते हैं । ऐसे दयालु प्रभु को प्रणाम है ।

३१

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमआशवे चाजिराय च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नम आशवे चाजिराय च

व्यापक व गमन में कुशल को नमन है। अश्नोति से उणादि सिद्ध आशु का अर्थ है व्यापी। व्यापक में आकाश की तरह गति का अभाव होने पर भी उपाधिरूप अंतःकरणादि के चलन से उसमें इतनी गमनकुशलता है कि नर गमनरूप को ही समझता है, व्यापक रूप को नहीं। शंकर कहते हैं कि सारे शास्त्र तथा युक्तियां उसकी असंसरणशीलता का प्रतिपादन करती हैं फिर भी उसे मानता नहीं, एवं कहीं भी अप्रतिपाद्य संसारिता को बिना युक्ति के ही मानता रहता है। वेदों में इसी को उरुक्रम कहा है।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
[ख] नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च
[ग] नम ऊर्म्याय चावस्वन्याय च
[घ] नमो नादेयाय च द्वीप्याय च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
[ख] नमः शीघ्र्याय च शीभ्याय च
[ग] नम ऊर्म्याय चावस्वन्याय च
[घ] नमः स्रोतस्याय च द्वीप्याय च

तेज़ी से चलने वाला पार्वतनद, सामान्य प्रवहित होने वाला मैदानी नद, लहरों से भरा तथा ध्वनिरहित नदों का अन्तर्यामी स्वरूप जो शिवरूप, उसे नमस्कार है। छोटी बड़ी सभी नदियों, व द्वीपों में बहने वाले स्रोत सभी शिवरूप हैं, अतः नमस्कार्य हैं, यह भाव है। सर्वरूप होने पर भी प्राणिमात्र की उपकारक 'अपामेका महिमानं बिभर्ति सूर्यस्यैका' श्रुति से सिद्ध जल, परमेश्वर की विचित्र शक्ति है। प्राणी समुदाय जल में ही उत्पन्न होता है।

द्वीप का महाद्वीप भी अर्थ लेकर सभी विश्वनदों का संग्रह किया जा सकता है। यहीं कृष्ण यजुर्वेद का पंचमानुवाक् समाप्त होता है। 'अवसन्नोध्वनिरहिते स्थिरजलेवस्थितो।' वस्तुतस्तु अंतःकरण नद की विक्षिप्त, क्षिप्त, कषाय व शान्त वृत्तियों का यहाँ वर्णन है। तब सगुण निर्गुण को विषय करने वाली संप्रज्ञात व असंप्रज्ञात समाधि द्वीप होगी। इन सबमें शिव एकरूप से ही, साक्षी भाव में बना रहता है यह भाव है। साधक की दृष्टि से तो प्रथम तेजी से चलने वाली विक्षिप्त अवस्था है, तदनंतर शीघ्र्य या धर्मकार्य में प्रवहित होने वाली वृत्तियाँ। धारणा काल में ऊर्म्य है, जब कषाय दोष संस्काररूप से ही बचा हुआ है। ध्यान में कोई भी संस्कार न होने से अवस्वनता है। अन्ततः समाधि की दो अवस्थायें मानो शिव को दोनों तरफ से घेरकर द्वीप बना देती हैं। 'सलिल एको द्रष्टा, अद्वैतो भवति', 'शुभाशुभाभ्यां मार्गाभ्यां वहन्ती वासना-सरित्' आदि वाल्मीकि वाक्य इसमें प्रमाण हैं।

●

३२

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[क] नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च

[ख] नमः पूर्वजाय चापरजाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[क] नमो ज्येष्ठाय च कनिष्ठाय च

[ख] नमः पूर्वजाय चापरजाय च

विद्यैश्वर्य में सबसे बड़े, युवारूप में उपदेशक, गुरुओं के पूर्वाचार्य तथा ब्रह्माकार वृत्ति में साधना के फलस्वरूप सबके बाद प्रकट होने वाले दक्षिणा-मूर्ति को नमस्कार है। वे समुद्रशोषक अगस्त्य जैसों के भी गुरु हैं अतः विद्या में ज्यायान् हैं यह निर्विवाद है। 'यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै', 'स पूर्वेषामपि

गुरु:' आदि शास्त्र से वे पूर्वज हैं, तो 'वृद्धाः शिष्या गुरुर्युवा' से कनिष्ठ भी हैं। अथवा वे ही जेठे रूप में तथा वे ही बालक रूप में भी हैं। पुरखे भी वही थे एवं आगे आने वाली पीढ़ियां भी वे ही हैं। अतः सभी नमस्कार्य हैं। शिव के इस रूप को जानने वाला सभी को नमन करता है। अन्यथा वर्ण, आश्रम, वय, गुण आदि के अभिमानों से युक्त, दूसरे से नमस्कार कराने में व्यस्त रहकर, स्वयं नमस्कारहीन होकर सर्वत्र शिव दर्शन के पथ से भ्रष्ट हो जाते हैं। विष्णु उपेन्द्र भी बनते हैं तथा कृष्ण रूप में कनिष्ठ पुत्र भी, व राम रूप में ज्येष्ठ पुत्र भी। यह भी इसी को बताता है। सृष्टि संहार के लिये कालाग्नि-रूप से उत्पन्न मूर्ति ही सबसे अंत में उत्पन्न होने से अपरज है। अथवा 'मैं अज्ञानी हूँ' यह पूर्वज है, तथा 'मैं ज्ञानी हूँ' यह अपरज है। अतः अज्ञान व ज्ञान दोनों के आश्रय शिव हैं। तब 'मैं कर्ता हूँ' यह ज्येष्ठ भाव होगा, व 'मैं अकर्ता हूँ' यह कनिष्ठ भाव। वस्तुतः यहाँ से अन्तर्यामी रूपों का वर्णन प्रारंभ होता है। इसके पूर्व सर्वात्मकता प्रधान थी, यहाँ से सर्वान्तर्यामिता प्रधान रूप से वर्णित की जा रही है।

[ग] **शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—**

नमो मध्यमाय चापगल्भाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो मध्यमाय चापगल्भाय च।

पक्षपातरहित व साहसी या आत्मविश्वासी रूप वाले शिव को प्रणाम है। वेदान्तवेद्य होने से वे अवेद्य भी नहीं, एवं प्रमाणान्तर से अवेद्य भी हैं। अतः वेद्य व अवेद्य के मध्य हैं। अथवा फलव्याप्ति न होने से अवेद्य, एवं वृत्तिव्याप्ति होने से वेद्य, इस प्रकार मध्यम हैं। वैसे भी शिव वैषम्य नैर्घृण्याधिकरणन्याय से पक्षपातरहित हैं। पक्षपातहीन को ही वे प्राप्त होते हैं। गल्भ धातु घृष्टतार्थक है। अतः सभी का घर्षण करने में समर्थ होने से शिव अपगल्भ कहे जाते हैं। जो प्रलयकाल में इन्द्र, ब्रह्मा, विष्णु का भी संहार कर दे, अथवा ब्रह्माकार वृत्ति में आरूढ होकर सगुण ब्रह्म का भी बाध कर दे, उसका साहस व आत्मविश्वास अपरिमित है ही। 'एक एव विहरति' (३३) से शिवानन्दलहरी में आचार्य इसे स्पष्ट करते हैं।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो जघन्याय च बुध्न्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो जघन्याय च बुध्नियाय च

'जघने गवादीनाम्पश्चाद्भागे वत्सादिरूपेण भवः जघन्यः।' जो जघनों के बीच पैदा होते हैं वे जरायुज (mammals) जघन्य हैं। इससे सभी पशुओं का सग्रह कर लेना चाहिये क्योंकि पशुवर्ग में ये ही श्रेष्ठ हैं। उनके अन्तर्यामी शिव हैं। केदार के शिव की महिषरूप की कथा का यही मूल है। 'बुध्ने=वृक्षादीनां मूले शाखादिरूपेणोत्पन्नः बुध्न्यः।' उद्भिजों के भी वे ही अन्तर्यामी हैं। वनदेवता का यही प्राचीनतमरूप है, जहाँ शाखा ही हाथ हैं। अजैकपाद रुद्र का भी यही बीज है। वृक्ष से वृक्षान्तरोत्पत्ति शाखा गाड़ने से होती है, अतः वह अज कहा जाता है, तथा वृक्ष का मूल ही उसका एक पाद है। ईसा से २०० वर्ष पूर्व के भारहुत से मिली मूर्ति में वनदेवता इसी रूप में भक्त से भोजन व जल ग्रहण करते दिखाये गये हैं। बार-बार वक्र गति करने से ही जघन शब्द व्युत्पन्न होता है। अंतःकरण वृत्तियों में अनन्त प्रकार के चिदाभासरूपों में गति करने वाला होने से साक्षी शिव जघन्य है यह वेदान्त-रहस्य है। संसार वृक्ष का मूल होकर शाखाओं के रूप से उत्पन्न होने से वे बुध्न्य हैं। 'ऊर्ध्वमूलमधः शाख' आदि शास्त्र इसमें प्रमाण हैं।

●

३३

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः सोभ्याय च प्रतिसर्याय च

अथर्ववेद कहता है कि पुण्यपाप दोनों जहां होते हैं वह मनुष्य लोक सोभ्य हैं। 'उभाभ्यां सह सोभः'। मनुष्यों के वे ही अन्तर्यामी हैं। प्रतिसर कंकण

को कहते हैं। ब्रह्माकार वृत्तिरूपिणी उमा के साथ कृतविवाह बन्धन होने से प्रतिसर्य हैं। मनुष्य मूर्तियाँ एवं शिव कल्याण मूर्तियों का यह मंत्र मूल है। तात्पर्य है कि सकाम काल में वे ही सोभ्य हैं, एवं निष्काम काल में प्रतिसर्य।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो याम्याय च क्षेम्याय च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो याम्याय च क्षेम्याय च

यम लोक में होने वाले पितृरूपों व ब्रह्मलोक में होने वाले देव रूपों में भी वे ही अन्तर्यामी हैं। 'क्षयत्यशुभमिति क्षेमः'। इससे सभी पुण्य पापों से परे होने से ब्रह्मलोक क्षेमलोक कहा जाता है। इससे देवयान व पितृयान दोनों के वे ही नियामक हैं यह प्रकट किया गया। वस्तुतस्तु यम अर्थात् अहिंसा सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य व अपरिग्रह रूपी साधनों से प्रकट होने से वे याम्य हैं, तथा सभी प्राणियों के मंगल मे लगे रहने वाले साधकों पर ही वे अनुग्रह करते हैं, अतः क्षेम्य हैं। पूर्वार्ध में जो सामान्यतः साधन प्रक्रिया आरंभ की गई उसी का विस्तृत वर्णन श्रुति कर रही है। कृष्ण यजुर्वेद में पहले 'नम उर्वर्याय' आदि मत्र आता है, पर शुक्ल यजुर्वेद में क्रम भिन्न है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमः श्लोक्याय चावसान्याय च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमः श्लोक्याय चाऽवसान्याय च

ब्राह्मणों में प्रायः 'तदेष श्लोकः' आदि से श्लोक का अर्थ मंत्र भाग है। अतः सभी मंत्रों में शिव का ही वर्णन होने से वे श्लोक्य हैं। तथा श्लोक से सभी साहित्य का भी संग्रह करने से पुराणेतिहासादि द्वारा सर्वत्र वे ही प्रतिपाद्य हैं। श्लोक का अर्थ यश भी है। अतः जहाँ कहीं भी किसी प्रकार का यश है वहाँ उसके द्वारा शिव का ही यश प्रकट होता है यह भाव है। 'यद्यद्विभूति-मत्सत्वं' आदि शास्त्र एवं 'यस्य नाम महद्यशः' आदि मंत्र इसमें प्रमाण हैं।

अवसान अर्थात् उपनिषद्भाग में इसका साक्षात्प्रतिपादन मिलता है। अतः वे अवसान्य हैं। (शब्दों का अर्थ में ही अवसान है) तथा सभी शब्दों का अवसान परम्परा से ब्रह्म में ही होता है। अतः वे शिव ही अवसान्य हैं। सभी नामरूपों का अवसान होने पर वे प्रकट होते हैं यह भी भाव है।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा —
नम उर्वर्याय च खल्याय च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नम उर्वर्याय च खल्याय च

उर्वर भूमि में पैदा होने वाले तथा खलिहान में प्रकट होने वाले अन्नरूप को प्रणाम है। जहाँ अनाज अच्छा पैदा होता है उसी को उर्वर भूमि कहा जाता है। वस्तुतः शुद्धान्तःकरण से सभी कर्मोपासना व ज्ञान, पूर्ण फल दे पाते हैं, अतः एकाग्र व पाप रहित मन ही उर्वर भूमि है। वहांसातिशय सुखरूप से भी शिव उत्पन्न होकर सांसारिक सुख से ब्रह्मलोक पर्यन्त के सुख रूप में प्रकट होते हैं अतः वे उर्वर्य हैं। तथा तुष व धान को अलग करने वाले खलिहान अर्थात् विवेकी अन्तःकरण में मोक्षसुख रूप में निरतिशय भाव में प्रकट होते हैं अतः वे खल्य भी हैं। अथवा शरीर उर्वर भूमि व बुद्धि खलिहान है। देह व मन दोनों को मिलाकर साधना से होने वाली शुद्धि उन्हें प्रकट करने का साधन है, यह भाव है। ऐसी उर्वर भूमि व खलिहान में ही अन्तर्यामी अनुभूत होते हैं। एक साधक में महेश्वररूप से, व अन्यत्र साधक में परमाद्वैत रूप से, यह बात दूसरी है।

३४

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
नमो वन्याय च कक्ष्याय च
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो वन्याय च कक्ष्याय च

वन में तथा गुल्मों में व्यापक को नमस्कार है। खेती के बाद देव कृषि का वर्णन ठीक ही है। वस्तुतस्तु वन अर्थात् संभजनीय शिव, या जहाँ शिव

का भजन होता है। शिव के हृदय में दया ही वन्य है, एवं इसी से हृदय रूपी कक्ष में वे प्रकट हो जाते हैं। अतः शिव कक्ष्य हैं यह वेदान्त संप्रदाय है।

[क] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः श्रवाय च प्रतिश्रवाय च

परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा वाणी केवल शास्त्रों में श्रूयते=सुनी जाती है, अतः श्रव है। वैखरी सामने (प्रति) सुनी जाती है, अतः प्रतिश्रव है। सभी शब्दों से केवल शिव ही प्रतिपाद्य हैं, अतः उनमें विद्यमान रहकर उनको अर्थ शक्ति प्रदान करते हैं। मीमांसा शब्द में शक्ति मानती है। वेदान्त शब्द शक्ति को अनिर्वचनीय मानकर उससे अधिष्ठान शिव का ग्रहण करता है, यह रहस्य है। 'शब्दग्राममयी यदीय गृहिणी', 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ', 'सर्वासां दयितां गिरः सकललोकात्मा च सर्वेश्वरः' इत्यादि द्वारा इसको कहा भी है। नादतनु का भी प्रतिपादन यहाँ है। अतः वे डमरू तथा उनके गण वेणु, वीणा, तत, सुषिर, आनद्ध, घन आदि वाद्य बजाते हैं। वीणा दक्षिणामूर्ति में वीणा से नाद, व वेद से समग्र शब्दों का संकेत स्पष्ट ही है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः आशुषेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभेदिने च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नम आशुभेणाय चाशुरथाय च नमः शूराय चावभिन्दते च।

शीघ्रगामिनी सेना, रथ, वीर, एवं नास्तिकों को बींधने वाले रूपों को नमस्कार है। सेना वही सफल होती है जो आशुगतिमती हो। हाथियों ने भारत को व सीमाबन्ध ने फ्रांसिसियों को हराया था यह प्रसिद्ध है। पृथ्वी रूपी रथ की तेजी का क्या कहना? सूर्य, चन्द्र की तेजी का क्या कहना? गरुड वाहन की तेजी का क्या कहना? इसके द्वारा भक्त पर अनुग्रह करने को वे सद्यः उपलब्ध होते हैं, यह भाव है। वस्तुतस्तु व्यापक होने से शिव

स्मरणमात्र से ही प्रकट हो जाते हैं। अनादि अज्ञान को महावाक्य मात्र से नष्ट करने से अधिक शूरता क्या होगी ? भक्त के रक्षार्थ यम आदि का भी नाश किया यह पुराण में प्रसिद्ध है। महाभारत युद्ध के अन्त में बभ्रुवाहन ने गवाही दी थी कि त्रिशूलधारी महेश्वर की हरिहरमूर्ति ने ही सभी का नाश किया था। जिसे शिव नष्ट कर देते थे, उस पर ही दूसरों के बाण लगते थे। अव अर्थात् निम्न कर देते हैं भेदमात्र को, अतः अवभेदी कहे जाते हैं, यही सम्प्रदाय है।

३५

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो बिल्मिने च कवचिने च नमो वर्मिणे च वरूथिने च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो वर्मिणे च वरूथिने च नमो बिल्मिने च कवचिने च।

बिल्म अर्थात् शिरस्त्राण (helmet)। कवच अर्थात् बख्तर। वर्म अर्थात् रक्षक अन्तर्वस्त्र। वरूथि अर्थात् रथ का अग्रभाग (bumper) जो रक्षा करता है। इन सभी रक्षक पदार्थों को धारण करके, इनके द्वारा रक्षा करने वाले अन्तर्यामी शिव को नमस्कार है। इस मंत्र का विनियोग त्रिदल बिल्व चढ़ाने के लिये होता है। मीमांसा दृष्टि से तो ध्वनिसाम्य ही पर्याप्त हेतु है। वस्तुतः त्रिपुटी ही बिल्वपत्र है। त्रिपुटी की एकता ही अखण्ड बिल्वपत्र है। प्रमाता, प्रमाण व प्रमेय ही त्रिपुटी है, जो प्रमा की अखण्डता में स्थित है। यही शिरस्त्राण है। पंचमहाभूत ही कवच है जिससे शिव आवृत है। जैसे त्रिपुटी औपनिषद पुरुष को ढांकती है, वैसे ही पंचमहाभूत ईश्वररूप के आच्छादक हैं। महाभूतों के कारण ही अधिष्ठान के दर्शन नहीं होते। अन्नमयादि पंचकोश वर्म हैं, जो जीवरूप को ढांकते हैं। इनके कारण जीव के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। मूलाविद्या

ही संसार रथ का वरूथि है। वे शिव ही इन सबके अन्तर्यामी हैं। अतः उन्हीं के अनुग्रह से इनकी निवृत्ति संभव है। 'त्वग्सृङ्मां समेदोस्थिमज्जानः कंचुकानि षट्' आदि वेदान्तसंज्ञावली के प्रमाण से देह के छः कंचुक भी यहां इष्ट हैं। वे ही वरूथि हैं जिससे रक्षित शरीर रथ है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः श्रुताय च श्रुतसेनाय च

'श्रुतो हि भगवान् बहुशः श्रुतिस्मृतीतिहासपुराणेषु' के द्वारा न्याय कुसुमांजली में उदयन यही प्रतिपादित करते हैं कि परमेश्वर ही श्रुत हैं, अर्थात् सर्वत्र प्रसिद्ध हैं एवं सभी शास्त्रों द्वारा प्रतिपाद्य भी वे ही हैं। उनकी सेना भी प्रसिद्ध है। वस्तुतः 'अहं' प्रत्यय के आलम्बनरूप से वे श्रुत हैं, तथा द्रष्टा, श्रोता, मंता, विज्ञाता, गंता, वक्ता, कामी आदि सेना उन्हीं की है जो आबालगोपवनिता में प्रसिद्ध है। यहीं कृष्ण यजुर्वेद का षष्ठानुवाक् समाप्त होता है। ज्येष्ठादिरूपों में, देव, दानव, मानव आदि रूपों में अन्तर्यामी रूप से वही शिव स्थित है, यही अनुवाक् का तात्पर्य है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो दुन्दुभ्याय चाहनन्याय च

भेरी व दण्ड के आघात से उत्पन्न ध्वनि रूप शिव को नमस्कार है। महाभारत के शिवसहस्रनाम में वैणवी, पटही आदि वाद्यसम्बन्धी शिवनाम उपलब्ध होते हैं जिनका मूल यहाँ है। मृदंगदक्षिणामूर्ति की ग्वालियर संग्रहालय की मूर्ति यहां विशेषतः ध्यान में आती है। भेरी प्रधानरूप से सैन्य प्रस्थान का वाद्य है। अतः मोक्षसाम्राज्यलक्ष्मी को विजय करते समय बुद्धिरूपी दुन्दुभि पर श्रवण व मनन के दण्डों से उत्पन्न प्रणवध्वनि ही यहां का लक्ष्यार्थ है, यह अद्वैतियों में प्रसिद्ध है। परमहंस को प्रणव का

उपदेश इसी युद्ध की प्रेरणार्थ दिया जाता है, एवं प्रणव का बुद्धिपूर्वक श्रवण मनन जीव को सदा जागृत् रखता है, यह अनुभवसिद्ध है। प्रत्येक कार्य के लिये परमहंस इसी एक मंत्र का प्रयोग करता है।

३६

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो धृष्णवे च प्रमृशाय च

युद्ध में जो पलायन नहीं करता वह शिवरूप है। परसैन्य वृत्तांत का परामर्शक प्रमृश है। वह भी शिवरूप है यह भाव है। संसार युद्ध से अपलायन ही सत्व का कार्य है। पलायनवादी कभी भक्त नहीं हो सकता। प्राप्त कार्य को विधिवत् समाप्त करना ही भक्ति का प्रथमांग है। जो कर्तव्य ही नहीं निभा पायेगा, वह उससे अधिक भक्ति कहाँ कर पायेगा। आत्मा से भिन्न अनात्मा ही 'पर' है, जो एषणा आदि सैन्यवाली है। उसके रूप को समझने वाला ही उसे जीत पाता है। वेद इस सैन्य वृत्तान्त का वर्णन करता है, तथा मनोविज्ञान आदि शास्त्र भी इसी काम, क्रोध आदि का न्यायपूर्वक वर्णन करता है। अतः उनसे परामर्श करके ही इस विजय यात्रा पर चलना चाहिये। पर-सैन्य-वृत्तान्त को न जानने वाला कभी विजयी नहीं होता, यह राजनीति का सिद्धान्त भी यहाँ बताया गया है। शिव का बाणासुर युद्ध, रावणदर्प भंग, गजासुर संहार आदि में धृष्णु रूप पुराण प्रसिद्ध है, तो जालंधर आदि कथाओं में उनका प्रमृशरूप। भगवत्पाद शंकर रूप में सर्वज्ञ पीठारोहण के समय धृष्णु रूप प्रकट होता है। मण्डन से शास्त्रार्थ काल में कामविषयक प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न भी इसी कोटि में आता है। समग्र भारत के बौद्ध होने पर भी अकेले उनका सामना करना भी इसी को बताता है। इसी प्रकार बौद्ध, जैन आदि परशास्त्रों का अद्भुत ज्ञान जो पाली त्रिपिटिकों से लेकर लंकावतार सूत्र तथा

माध्यमिक कारिका व प्रमाणरत्न तक विस्तृत था, इसी प्रमृश रूप को बताता है। वैसे अप्पर, ज्ञान सम्बन्धर् आदि अनेक शिवभक्त भी इसी प्रमृश व घृष्णु-रूद्र का प्रतिपादन करते है। इसके बाद कृष्ण यजुर्वेद में 'नमो दूताय च प्रहिताय च' मंत्र मिलता है जिसका विचार आगे किया है।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[ख] नमोनिषङ्गिणे चेषुधिमते च
[ग] नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च
[घ] नमः स्वायुधाय च सुधन्वने च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[ख] नमो निषङ्गिणे चेषुधिमते च
[ग] नमस्तीक्ष्णेषवे चायुधिने च
[घ] नमो दूताय च प्रहिताय च

असिधारी, बाणधारी वीरों को, तथा सभी प्रकार के कवचवेधी बाण वालों को, व अनेक प्रकार के शस्त्रधारियों व उत्तम शस्त्र व अस्त्रधारी रूपों को नमन है। धनुष् से यहाँ पिनाक, बाण से हरि व आयुध से त्रिशूल विशेषतः संग्राह्य है। अतएव शिवोत्कर्षमंजरी (३३) कहती है 'तद्दोरिष्वसिधन्वमन्युषु नमोवाकं वहन्ते शतं स स्वामी मम दैवतं तदितरो नाम्नापि नाम्नायते'। बहुत आयुधों से आयुधी, व श्रेष्ठ सु-आयुधों व धनुष् से स्वायुधी व सुधन्वा का भाव है। इनका रहस्य पूर्व में प्रतिपादित हो चुका है। कवचवेधी बाण से पंचकोशवेधी बाण समझना चाहिये। उपनिषद् ही सुधनु हैं। युक्तियाँ स्वायुध हैं। स्मृति, इतिहास, पुराणादि विविध आयुध हैं। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा में दूत गुरु है, क्योंकि गुरु ही परमेश्वर के वृत्तान्त ज्ञान में कुशल है। वही प्रहित भी है क्योंकि जीवन्मुक्ति काल में उसी की प्रेरणा से रहता है।

३७

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[क] नमः स्रुत्याय च पथ्याय च

[ख] नमः काट्याय च नीप्याय च

[ग] नमः कुल्याय च सरस्याय च

[घ] नमो नादेयाय च वैशन्ताय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[क] नमः स्रुत्याय च पथ्याय च

[ख] नमः काट्याय च नीप्याय च

[ग] नमः सूद्याय च सरस्याय च

[घ] नमो नाद्याय च वैशन्ताय च

यहाँ भिन्न प्रकार की अप् मूर्तियों का वर्णन है। स्रुतं=बहा हुआ जल। रास्ते में पड़ा पथ्य है। टेढ़ा-मेढ़ा बहने वाला जल काट्य है। कदम्ब वृक्ष के मूल या रस का जल नीप्य है। नाली का जल कुल्य व तालाब का जल सरस्य है। 'नादेयी नागरंगे स्यात्' इस विश्वकोष के प्रमाण से नादेयाय नारंगी का रस है। वेशंत अग्नि को कहते हैं। अग्नि में कारण रूप से रहने वाला जल वेशंत है। जल सनातन धर्म में पवित्रीकरण के प्रयोग में सर्वाधिक प्रयुक्त द्रव्य है। अतः शिव ही उसके भिन्न-भिन्न रूपों में अन्तर्यामी रूप से रह कर पवित्र करते हैं, यह भाव है। 'वियद्व्यापी तारागणगुणितफेनोद्गमरुचिः' आदि गंगाधरमूर्तियों का यही बीज है। वस्तुतः 'पवित्रमिदमुत्तमं' आदि स्मृति तथा 'क्षीयन्ते चास्य कर्माणि' आदि श्रुति से ब्रह्मविद्या ही पवित्र करने वाली है। 'त्रिभुवनजननी व्यापिनी ज्ञानगंगा', 'श्रद्धा नदी विमलचित्तजलाभिषेकः' प्रसिद्ध है। उपनिषद् के माध्यम से पुराण व गीता में यह विद्या बहकर आई है, तथा साहित्य में भी टपकी है। 'नान्यः पंथा', प्रमाण से 'शिवोहं' ध्यान ही पथ्य है। 'कुत्सितमटति इति काटः'। अतः भागवत, पाशुपत, कापिल, पातंजल आदि कुटिल मार्गों में भी 'सांख्यं योगः पशुपतिमतं वैष्णवमिति प्रभिन्ने प्रस्थाने' आदि प्रमाणों से शिव ही लक्ष्य हैं। अतः वे काट्य हैं। संसार वृक्ष के मूल रस शिव ही हैं। वे ही इसके पोषक

हैं, 'संसार सारं भुजगेन्द्रहारं' आदि शास्त्र इसमें प्रमाण हैं। ब्रह्माण्ड व पृथ्वी कदम्बाकार ही माने गये हैं। इन्द्रिय रूपी नाली से शिव रूपी ज्ञान ही बहता है। संसार के जन्म-मरण व सृष्टि-प्रलय रूपी नदी में भी वे ही एकमात्र उपादान कारण रूप से प्रकट हैं। तथा संसार जो नारंगी है, अर्थात् ऊपर से कुछ और दिखता है व भीतर से कुछ और होता है, अर्थात् सदसद्विलक्षण है, उसकी सभी फाड़ियों में रस तो एकमात्र आनन्द का ही है। कारण रूप से अग्नि या रुद्र है। यही रहस्योद्घाटक शब्द है। इस प्रकार के ब्रह्मविद्या रस को नमन है, यह भाव है।

●

३८

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[क] नमः कूप्याय चावट्याय च
[ख] नमो वीध्र्याय चातप्याय च
[ग] नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च
[घ] नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[क] नमः कूप्याय चावट्याय च
[ख] नमो वर्ष्याय चावर्ष्याय च
[ग] नमो मेघ्याय च विद्युत्याय च
[घ] नम ईध्रियाय चातप्याय च

कुँए के जल में, गड्ढे के जल में, आकाश में, धूप में, बादल में, बिजली में, वर्षा में तथा अवर्षण में (humidity) रहने वाले जल के अन्तर्यामी शिव रूप को नमस्कार है। मूलाधाररूपी कूप में ब्रह्मविद्या के ध्यान का प्रारम्भ है, अतः वे कूप्य हैं। नाभि रूपी गड्ढे में भी उनका ध्यान होता है अतः वे आवट्य हैं।

'गतविटौ भुविश्वभ्रे' से अमरसिंह इसी बात को कहते हैं। 'वीध्रं तु विमलात्मकं', अतः स्वभाव से निर्मल अनाहत चक्र में शिव का रूप वीध्र्याय है। कृष्ण यजुर्वेद के 'ईध्रियाय' का रहस्य स्वभाव शुद्ध होने पर भी ध्यान से परिशुद्धि का द्योतन करने में है। आज्ञा चक्र ही जीव की गर्मी का केन्द्र होने से आतप है। सहस्रार ही मेघ्य है। मेघ की तरह वहाँ से अमृतस्राव होता है, या धर्ममेघ समाधि का स्थल भी वही है। शिव की ही शक्ति सुषुम्ना में बिजली की तरह चलती है अतः विद्युत्य है। धर्मकार्य में जीवन्मुक्त की प्रवृत्ति में भी वही प्रकट है। सप्तभूमिका की ओर गति करने वाले जीव में प्रवृत्ति का अभाव भी शिवेच्छा प्रयुक्त ही है। इस प्रकार संक्षिप्त रूप से साधना के सार का प्रतिपादक यह मंत्र है। 'पर्वताग्राज्जलं पतति स नीपः' इससे सायण तो प्रपात के जल को नीप्य कहते हैं। तब नीप्य का 'तात्पर्य शिवानुग्रह से प्राप्त ब्रह्मविद्या से ही होगा। 'ददामि बुद्धि योगं' 'तेषामेवानुकंपार्थं' 'देवप्रसादात्' 'धातुः प्रसादात्' आदि स्मृति श्रुति इसमें प्रमाण है। शिव की जलाभिषेकप्रियता भी इस मन्त्र में स्पष्ट है। 'अभिषेकप्रियः शिवः' प्रसिद्धि भी इसमें प्रमाण है। सनातन धर्म में जल का रहस्य उसका शिवमूर्त्ति होना ही है। सभी तीर्थ जलमय हैं। 'तीर्थानि तोयपूर्णानि'। सभी साधनों का यही मूल है। वीर्य भी जलरूप है। अतः ब्रह्मचर्य का शिव से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

●

३९

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो वात्याय च रेष्म्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो वात्याय च रेष्मियाय

सायण कहते हैं 'वातेन सह वृष्टो वात्यः' अर्थात् जोर की आंधी के साथ वृष्टि (storm)। उसमें भी वे ही हैं। 'शर्करापाषाणादिसहितो वृष्टिजलविशेषः रेष्म्यः' अर्थात् ओलों की वृष्टि (hail storm) रेष्म्य है। उसमें भी वे ही

हैं। संसार में कभी केवल दुःख के साथ सुख बरसता है, तो कभी दुःखों के ओले ही बरस पड़ते हैं। इन दोनों फलों को देने वाले शिव ही हैं। जिस प्रकार मुमुक्षु के लिये पूर्व में ब्रह्मविद्या व तत्साधनों का वर्णन है, वैसे ही यहाँ बुभुक्षु के लिये कर्मफल का। कोई भी कर्म, विनाशी फलप्रद होने से, दुःख-रहित नहीं हो सकता, यही भाव यहाँ प्रकट किया गया है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो वास्तव्याय च वास्तुपाय च

इस ब्रह्माण्ड गृह में रहने वाले भी वे ही हैं, तथा इस ब्रह्माण्ड गृह के अधिष्ठाता देवता या रक्षक भी वे ही हैं। प्रथम से जीवरूप तथा द्वितीय से ईश्वररूप का बर्णन है। अतः यह महावाक्य है। अथवा रहने योग्य मकान भी वे ही हैं तथा उसके रक्षक भी वे ही हैं। इस प्रकार अभिन्ननिमित्तोपादान कारणता भी यहाँ विवक्षित है। वास्तु या वास्तोष्पति देवता व तदधिष्ठित मकान रूप तो स्पष्ट कहा ही गया है। अर्थात् गृहदेवता वस्तुतः शिव ही हैं। संसार में जो भी वास्तविक है अर्थात् सच्चा है वह भी वे ही हैं, एवं उसको सत्यता देने वाले अधिष्ठान भी वे ही हैं। 'सच्चत्यच्चाभवत्', 'सत्यस्य सत्यं' आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। 'वास्तवं वनितादिकं तत्र भवः वास्तव्यः।' या 'वास्तुधनमश्वादिरूपं, तत्र तत्कार्यरूपेणावस्थितो वास्तव्यः।' यहीं कृष्ण यजुर्वेद का सप्तमानुवाक् समाप्त होता है। अनामयस्तोत्र (५) कहता है 'भोग्यमाहुः प्रकृतिमृषयश्चेतना शक्तिशून्यं भोक्ता चैनां परिणमयितुं बुद्धिवर्ती समर्थः। भोगोप्यस्मिन्भवति मिथुने पुष्कलस्तत्र हेतुर्नीलग्रीवस्त्वमसि भुवनस्थापनासूत्र-धारः॥' शिव न केवल निर्मित मकान वरन् उसके निर्माता भी हैं। नींव खोदने से नक्शा (architect's plan) व मकान बनाने तक सभी कृत्यों के मालिक हैं। नटराज का नृत्य केवल संहारताण्डव ही नहीं है, वरन् नवीन सृष्टि की नींव खोदने व उसका नक्शा बनाने के लिये भी है। नींव भरने के लिये ही खोदी जाती है यह प्रसिद्ध है। उनके हाथों का भ्रमण, भस्म का छटकाव सभी नक्शा है। व जिस प्रकार नक्शे का जानने वाला उसे देखकर मकान को जान लेता है, वैसे ही नारायण एवं महाकाली शिवताण्डव से नवीन सृष्टि का रूप जान

लेते हैं । हरविजय (२) में कहा भी है 'तेन व्यधीयततरामिव वेल्लिताग्रदोर्दण्ड-भस्मकणराजिभिरुज्ज्वलाभिः । निर्मितस्यमाननिजनृत्तभराभियोगयोग्यान्तराल भुवनान्तरसूत्रपातः।' प्रकृति भोग्य है एवं शिव स्वयं ही बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर भोक्ता हैं । इन दोनों अनंतों का संयोग अनन्तभोगफलक होता हो इसमें कहना ही क्या है । दोनों को मिलाने वाले भी शिव ही हैं । भोग की अनन्तता का प्रतिपादक ही अमरु के शरीर में भाष्यकृत् की स्वरूपविस्मृति का वर्णन है । अज्ञान ही भोग में दुष्ट दृष्टि के द्वारा दुःख का जनक है, अन्यथा तो 'संपूर्णं जगदेवनन्दनवनम्' सभी भोग आनन्दस्वरूप ही हैं ।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः सोमाय च रुद्राय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः सोमाय च रुद्राय च

यहां तक सर्वान्तिर्यामिता का प्रतिपादन किया । इसके बाद अखिल लोकोपास्य सकल कल्याणगुणसम्पन्न शिव के असाधारण धर्मों को बताकर उनके अन्तर्यामी रूप को नमन प्रारंभ होता है । सर्वप्रथम एकमात्र मोक्ष-दायक होने से मुमुक्षुमात्र के उपास्य सोमरुद्र का नमन है । संसार दुःख को द्रावण करने वाले रुद्र 'यदा चर्मवादकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः । तदा शिवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति' आदि श्वेताश्वतर में प्रतिपाद्य शिव से प्रथम नमस्कार्य हैं । 'पराशक्तिः प्रणवः' आदि से लिंगपुराण में प्रतिपाद्य वर्ण व्यत्यास से सिद्ध उमा हैं । उनके सहित शिव अर्थात् मेधादक्षिणामूर्ति ही चिच्छक्तिरूप से अज्ञानजन्य संसारिता को निवृत्त करते हैं, इसका प्रतिपादन किया गया है । ब्रह्माकारवृत्ति ही दक्षिणा बताई गई है । उससे अधिष्ठित मूर्ति ही सोमारुद्र हैं । केनोपनिषद् तथा श्वेताश्वतर में इसका स्पष्ट वर्णन है । 'उमासहायं परमेश्वरं' आदि कैवल्योपनिषद् भी इसमें प्रमाण है । यही उमामहेश्वर एवं सोमास्कन्द मूर्तियों का बीज है ।

[घ] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमस्ताम्राय चारुणाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमस्ताम्राय चारुणाय च

उदयकालीन ताम्ररूप सूर्य व उनके अग्रदूत सारथि अरुण देव को नमस्कार है। सूर्य अष्टमूर्तियों में हैं। दक्षिणामूर्ति रूप के अनंतर अयत्न से ही सबको दर्शन देने वाले प्रत्यक्ष देव के अनुग्राहकरूप का स्मरण करना ठीक ही है। किंच वेदांत के सर्वोत्तम ऋषि याज्ञवल्क्य के उपदेशक होने के साथ रुद्राध्याय के भी वे ही आचार्य हैं। वैसे तो यजुर्वेद सूर्य से उपदिष्ट हुआ ही था। सभी को लगता है कि वे सूर्य मेरे ही लिये उदित हुए हैं। 'सर्व एव मन्यते मां प्रत्युदगात्' आदि श्रुतियाँ इसमें प्रमाण हैं। प्रत्येक को गुरु तथा शिव की कृपा का इसी प्रकार से बोध होता है। इस प्रकार स्वयं आविर्भूत होकर उपस्थित होने वाले में 'यह शिव हैं' यह बुद्धि ही मोक्षप्रदायक है। 'उद्यन्तमस्तंयन्तमादित्यमभिध्यायन्कुर्वन् ब्राह्मणो विद्वान् सकलभद्रमश्नुतेसावादित्यो ब्रह्म' आदि वेद इसमें प्रमाण हैं। सभी को उदित सूर्य का दर्शन देर से उठने पर नहीं हो सकता, अतः परमकारुणिक रुद्रोपनिषद् तो प्रमादालस्यभूयिष्ठों के भी उद्धारार्थ उसके उत्तरकाल के दर्शन से भी मोक्ष बता रहा है। 'यावत्प्रतापनिधिराक्रमते स भानुरह्नाय तावदरुणस्तिमिरन्निहन्ति' से कालिदास भी इसका संकेत करते हैं। प्रातः की तरह ताम्र सायंकालीन वर्ण भी है। 'संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलयाय गन्तुं प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभापतंगस्य मुनेश्च धेनुः।' सूर्य पृथ्वी को अपनी रश्मियों से शुद्ध करता है यह तो विज्ञानसिद्ध है।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा –

नमः शङ्गवे च पशुपतये च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः शङ्गाय च पशुपतये च ।

शं अर्थात् कल्याणकारी, गु अर्थात् अस्पष्ट वाणी वाले शंगु को प्रणाम है। महावाक्यों की अस्पष्टता अपनी लक्ष्यार्थता के कारण है। पर वे हैं मोक्षप्रद, यह भाव है। अथवा गु का अर्थ मलत्याग भी होता है। अविद्यामल का त्याग कराना ही जीव का कल्याण है। उसे करने वाले शंगु शिव हैं। वे ही पशुपति हैं तथा 'पशुपते, पशुं मां सर्वज्ञ प्रथितकृपया पालयविभो' आदि से हम जीव पशु हैं। अतः महावाक्योपदेश से शिव हमारा पालन करें यह भाव है। अज्ञानकाल में भी भोग देकर वे पालन ही करते हैं। भक्त के सर्वविध रक्षणार्थ वे दयामय सदा सन्नद्ध हैं यह भाव है। ब्रह्मादिस्थावरान्त को विषयानन्द, विद्यानंद, आत्मानंद, योगानंद एवं ब्रह्मविद् को ब्रह्मानंद देकर वे ही एकमात्र सुखरूप हैं, यह वेदांत सम्प्रदाय है। कृष्ण यजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के पाठ में 'शं सुखं गमयति प्रापयतीति शङ्गः' में सुखप्रदता स्पष्ट ही है।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[ख] नम उग्राय च भीमाय च

[ग] नमोऽग्रेवधाय च दूरेवधाय च

[घ] नमो हन्त्रे च हनीयसे च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[ख] नम उग्राय च भीमाय च

[ग] नमो अग्रे वधाय च दूरे वधाय च

[घ] नमो हन्त्रे च हनीयसे च

अब उसी करुणाघन का पापियों के लिये निग्रह करने वाले रूप का प्रतिपादन हो रहा है। भाव है कि केवल दयामय भाव को गलत समझकर

जीव पुरुषार्थ से भ्रष्ट न हो जाये। विश्वाधिक रूप से शिव ही उपास्य हैं। उत् पूर्वक गम् धातु से 'ऋजेन्द्रा०' सूत्र से रन् प्रत्यय करके उग्र शब्द का अर्थ सर्वोत्कृष्ट होता है। उनकी श्रेष्ठता में कारण भीमरूपता है। वे ही सर्वाधिक भय देते हैं क्योंकि 'भीषास्माद्वातः पवते' आदि श्रुति उनकी इन्द्र, सूर्य, यम आदि की भयप्रदातृत्व में प्रमाण है। पापियों को कष्ट देते समय वे उग्र भी हैं, तथा भयंकर भी हैं यह भाव है। उनके दण्ड को कोई भी निवृत्त नहीं कर सकता, यह स्पष्ट है। उग्र का सायण तो 'विरोधिनो नाशयितुं क्रोधयुक्तो रुद्र उग्रः' ही अर्थ करते हैं। दर्शनमात्र से विरोधी की भय हेतुता से भीम हैं। भीमता का वर्णंक शिवकवच कहता है 'कल्पान्तकाटोपपटुप्रकोप-स्फुटाट्टहासोच्चलिताण्डकोशः। घोरारिसेनार्णव दुर्निवारमहाभयाद्रक्षतुवीरभद्रः ॥' सामने वाले विरोधी को मारने से अग्रेवध हैं, तो परोक्ष या दूर वाले को मारने से दूरेवध हैं। वही सबके सामान्य मारने वाले भी हैं, तथा विशेष या श्रेष्ठ मारने वाले भी हैं। तात्पर्य है कि 'नायं हन्ति न हन्यते', 'मयैवैते निहताः पूर्वमेव' आदि शास्त्र प्रामाण्य से वे ही एकमात्र मारक हैं। वस्तुतस्तु अज्ञान ही शिव का विरोधी है। अज्ञान की अपरोक्षता व परोक्षता दोनों शक्तियों के वे ही नाशक हैं, तथा जीवन्मुक्ति में हन्ता हैं, तथा विदेहमुक्ति में हनीयसे। स्वयं वृत्ति में उत्=ऊपर गमन करके नाशक होने से उग्र हैं। अहंकारनाशक होने से वे भीम हैं। अतः कामियों का प्रसिद्ध गीत है कि वृन्दावन में मिट्टी या सियार बनकर रौंदे जाना भी पसंद करेंगे, पर अहंकारत्याग करना पसन्द नहीं करेंगे। अतः द्वैतसत्यवादियों के लिये वे भीमरूप हैं यह स्पष्ट है। सकल जयहेतु होने से विजयप्राप्त्यर्थ शिव ही सेवनीय हैं यह भाव है। अथवा युद्ध के मैदान में प्रविष्ट होकर भक्तों के शत्रु को पहले ही मारने से अग्रेवध एवं युद्धारंभ से पूर्व उनके बल व तेज का भंग करने से दूरेवध भी हैं। महाभारत में अर्जुन कहता है 'अग्रतो लक्षये यान्तं पुरुषं पावक-प्रभं ज्वलन्तं शूलमुद्यम्य यां दिशं प्रतिपद्यते। तस्यां दिशि विशीर्यन्ते शत्रवो मे महामते। ततो दग्धानरीन्सर्वान्पृष्ठतोनुदहाम्यहम्।' मेरे आगे आगे शूलधारी पुरुष चलते हुए दुश्मनों को मारता जाता है। मैं तो मरे हुए लोगों को मारता हूं। वह कौन है, ऐसा अर्जुन का प्रश्न सुनकर श्रीकृष्ण ने

कहा—'तं विद्धि रुद्रं कौन्तेय' वे रुद्र ही हैं। शिव का अनादर करना ही महान् अनर्थ का कारण है यह इससे स्पष्ट है। वे 'ईश्वरोहं'(गी० १६ : १४) आदि से कथित अहंकारियों को नरक में गिराते हैं, तथा शिवद्वेषियों को तो जड़ता की प्राप्ति कराते हैं। कैलास को उठाने वाला रावण प्रथम प्रकार का है, तो दूसरे प्रकार का दृष्टान्त दक्ष है। इनका त्राता कोई नहीं हो सका।

[ङ] **शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—**
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नमो वृक्षेभ्यो हरिकेशेभ्यो नमस्ताराय

'आदित्यो यतोऽजायत', 'ततो बिल्व उदतिष्ठत्', 'तस्मात्त्रीणि त्रीणि पर्णस्य पलाशानि', 'ब्रह्म वै पर्णः' आदि श्रुति व पुराण में प्रसिद्ध बिल्व, पलाश आदि वृक्षरूपों से पूजन सामग्री उपलब्ध कराके भक्तरक्षण करते हैं। तथा शिव ही कल्पवृक्ष के रूप में फल देने के काल में उपस्थित हैं। वृश्च धातु से निष्पन्न होने से छेदन योग्य को वृक्ष कहते हैं। अतः संसार व शरीर वृक्ष हैं क्योंकि पंचमहाभूत तथा पंचकोषों से विविक्त किये जाते हैं। ऐसा विवेक कराने वाले भी शिव हैं। पुनः ऐसे विवेकियों का राग हरण करने से हरिकेश=हरिक अर्थात् चोरों के मालिक हैं। वैराग्य पकने पर तार=प्रणव रूप धारण करके उनको तार देते हैं। इस प्रकार भक्तानुग्रह तत्पर हैं यह भाव है। 'शिवो वा प्रणवो ह्येष प्रणवो वा शिवस्स्मृतः। वाच्यवाचकयोर्भेदो नात्यन्तं विद्यते क्वचित्' आदि पुराणोक्ति, तथा 'स ओंकारस्तारः', 'सदाशिवोम्', 'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तः....स महेश्वरः' आदि वेद इसमें प्रमाण हैं। प्रणव का जप परमहंसों का एकमात्र नित्यकर्म इसीलिये है कि प्रपंचोपशम शिव उसी से अभिव्यक्त होते हैं। शिव या प्रणव के ध्यान या जप से सभी ज्ञान के प्रतिबन्ध नष्ट होकर जीवन्मुक्ति की प्राप्ति अनुभवसिद्ध है। माण्डूक्य विधि से प्रणव का महावाक्यात्मक चिन्तन भी तार से ग्रहीत है। वटवृक्ष के हरित पत्तों के नीचे प्रणवोपदेशक दक्षिणामूर्ति का ध्यान ही यहां इष्ट है। 'त्रयीन्तिस्रो वृत्तीस्त्रिभुवनमथो त्रीण्यपि सुरान्,

अकाराद्यैर्वर्णैस्त्रिभिरभिदधत्तीर्णं विकृतिः' आदि से पुष्पदन्त तथा 'तस्य वाचकः प्रणवः' से पतंजलि इसी मंत्र का व्याख्यान करते हैं। अग्रिम सारमंत्र का यहाँ से भूमिकारंभ समझना चाहिये।

४१

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः शम्भवाय च मयोभवाय च नमः शङ्कराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमश्शम्भवे च मयोभवे च नमः शंकराय च मयस्कराय च नमः शिवाय च शिवतराय च।

शं=ऐहिक सुख तथा मयः=पारलौकिक सुख। शं जिससे भव होवे वह शंभव, एवं मय जिससे भव हो वह मयोभव। इन दोनों रूपों को प्रणाम है। निरतिशय आनन्दसमुद्र में दोनों सुखों का बूँदों की तरह अन्तर्भाव है। अतः सुखार्थियों के वे एकमात्र आश्रय हैं। 'एतस्यैव आनन्दस्य मात्रामुपजीवन्ति' आदि श्रुति इसमें प्रमाण है। न केवल वे आनन्दरूप हैं वरन् शं तथा मय के करने वाले भी हैं। इससे अन्यानधीनता रूपी स्वातंत्र्य बताया। कर्माधीन ही सुख देते हों ऐसा नहीं, वरन् आशुतोष स्वतन्त्र होकर भी सुख देते हैं। अतः पुनरुक्ति नहीं है। 'शिव एको ध्येयः शिवङ्करः' आदि अथर्वशिखोपनिषद् में प्रतिपाद्य अखिलश्रेय के प्रदान करने वाले विश्वोपास्य शिव ही हैं। वे ही सारे दोषों के नाशक हैं। साक्षात् शिव की मूर्त्ति 'नमः शिवाय' ही है। सारा ही वेद उसी का तो अर्थ है। अतः इसका अर्थ असम्भव समझकर छोड़ देते हैं। इससे भी गुह्यतम 'शिवतराय' की पंचाक्षरी है। शिव को इसीलिये सम्प्रदायवेत्ता जीवरत्न शब्द से कहते हैं। यह रहस्य मत्र होने से केवल गुरुप्रसाद लभ्य है,

एवं शिवाज्ञा के बिना प्रियतम शिष्य को भी इसके रहस्योद्घाटन का निषेध है, यह सभी आचार्यों ने स्वीकारा है।

कृष्ण यजुर्वेद में इसके बाद पहले 'नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च' मन्त्र है व बाद में 'नमः पार्याय' आदि मंत्र। शुक्ल में क्रम भिन्न है।

४२

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[क] नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च
[ख] नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च
[ग] नमः शष्प्याय च फेन्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[क] नमः पार्याय चावार्याय च नमः प्रतरणाय चोत्तरणाय च
[ख] नमस्तीर्थ्याय च कूल्याय च
[ग] नम आतार्याय चालाद्याय च नमः शष्प्याय च फेन्याय च

पापनाशक तीर्थ रूप में शिव का वर्णन करते हैं। 'पारम्प्राप्ते परतटे' इस हैम कोशानुसार शिवरूप नदी के उस पार वाले जल को नमस्कार है। तथा इस पार वाले जलरूपी शिव को भी प्रणाम है। स्वर्गादि सुख को प्राप्त कराने के लिये वे श्रेष्ठ नाव होने से प्रतरण हैं। उत्=ब्रह्मानंद को प्राप्त कराने से उत्तरण हैं। गंगा, कावेरी आदि तीर्थों में होने से वे तीर्थ्य हैं। नर्मदेश्वर रूप में नर्मदा में मिलते हैं इसलिये भी तीर्थ्य हैं। प्रायः तालाबों के किनारे पर भी शिव की स्थापना होने से वे कूल्य हैं। 'शष्पं बालतृणं' आदि अमरोक्ति से बालतृणों में वे विद्यमान हैं अतः शष्प्य है। गणेश को दूर्वा चढ़ाने का रहस्य यही है। घास कोमलावस्था में जलप्रधान होती है। समुद्र आदि के फेनों में व्याप्त होने से फेन्य हैं। नमुचि को मारने को फेन रूप में वज्र बने थे इसलिये भी शिव

फेन्य हैं। वस्तुतस्तु गुरु ही तीर्थ हैं, जिनमें ब्रह्मज्ञानरूप से रहने से शिव तीर्थ्यं हैं। 'तीर्थी कुर्वन्ति तीर्थाणि' आदि शास्त्र इसमें प्रमाण हैं। गुरुपादो-क को ही श्रेष्ठ तीर्थ स्वयं भाष्यकार ने बताया है। छांदोग्यभाष्य में शास्त्रानुदेश को भी तीर्थ ही कहा गया है। 'तीर्थंन्नाम शास्त्रानुज्ञाविषयः'। तीर्थ नामक यतियों के उपास्य होने से भी वे तीर्थ्य हैं। विदेहमुक्ति जीवनदी के उस पार में है उसे भी वे देते हैं। तथा विदेहमुक्तिस्वरूप भी हैं अतः पार्य कहे जाते हैं। जीवनदी के इस पार में जीवन्मुक्तिरूप से भी वे ही हैं तथा इस जीवन्मुक्ति की सिद्धि देने वाले भी शिव ही हैं। अतः वे आवार्य भी हैं। अभिषेक रूपी कर्म से प्रतरण भी वे ही बनते हैं, तो भक्ति से विचार के द्वारा 'तत्त्वमसि' के लक्ष्यरूप उत्तरण भी वे ही हैं। भक्त को किनारे पर रखकर दुःखबाढ़ से बचाते हैं, अतः कूल्य भी हैं। सामान्य लोगों को भी कर्मफल रूप से अन्नादि प्रदान करते हुए तृण रूप को धारण करने से शष्य्य हैं। जैसे गुरु भक्तिज्ञान का उपदेश करता है, वैसे ही लोकव्यवहार में सुखी होने के उपायों का भी। तीर्थ्याय से पूर्व आने वाले पदों के द्वारा आध्यात्मिक साधकों के फल देने वाले शिव रूप को बताया, तो परवर्त्ती पदों से सामान्य लोगों का पथ प्रदर्शक व फलदायक रूप प्रतिपादित किया गया। दुःख सागर के किनारे पर रहने वालों को नरक से बचने के लिये नित्य व नैमित्तिक कर्मों का उपदेशक भी शिव ही है, व निषिद्ध का वर्णन करने वाला वर्जन भी है। जो फेन की तरह अत्यन्त क्षणिक हैं उन सामान्य सुखों को अर्थात् ऐहिक सुखप्राप्ति को भी शिव कराते हैं, एवं उसके मार्गप्रदर्शक भी हैं। इस प्रकार गुरुरूप से यहाँ शिव ही वर्णित है। वे ही आराध्य हैं। गुरुशरणागत सभी श्रेयों को प्राप्त करता है यह भाव है। गुरु तथा शिव में भेद दृष्टि न करना ही यहाँ प्रतिपादित है। वे जीव रूप में पुनः पुनः आने से आतार्य हैं। शिव ही चिदाभासरूप में आलाद्याय हैं। कृष्ण यजुर्वेद में ये पाठ अधिक हैं।

४३

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[क] नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च

[ख] नमः किँ्शिलाय च क्षयणाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[क] नमः सिकत्याय च प्रवाह्याय च

[ख] नमः किँ्शिलाय च क्षयणाय च

बालू वाली जमीन में भी वे हैं। रावण शिव प्रतिष्ठा बालू में ही करता था। राम ने भी रामेश्वर में बालूलिंग की ही स्थापना की थी। पार्वती ने भी कांचीपुर में आम्रेश्वर की स्थापना पार्थिव ही की थी। अतः वे सिकत्य हैं। प्रवाह रूप के आधार वाली जमीन भी वे ही हैं। संसार प्रवाह के अधिष्ठान रूप का वर्णन ही तो जन्माद्यधिकरण है। टेढ़े मेढ़े होने से रहने के अयोग्य पत्थर कुत्सित शिला ही किंशिल है, तो मकान रूप में रहने के योग्य पत्थर क्षयण हैं। उभयत्र वे हैं। 'प्रायः सत्सुशिलातटेषु नटनं' आदि से शिवानन्दलहरी में इसी को प्रकट किया है। अथवा संगम में शिव का वास प्रवाह्य है। अनगढ़ स्वयंभूलिंगों में (केदार आदि में) किंशिल रूप से वे हैं। गढ़े हुये सुन्दर चिदम्बर, सोमनाथ आदि में क्षयण हैं। वस्तुतस्तु अशुद्धान्तःकरण के विक्षिप्त भावों में प्रतिबिंबित होकर किंशिल हैं। समाधिप्रवाह में शिव का प्रवाह्य, एवं जीवन्मुक्त के कुटस्थ भाव में उसी का क्षणय रूप प्रकाशित होता है। प्रवाह्याय से कृष्ण यजुर्वेद का अष्टमानुवाक् समाप्त होता है।

कृष्ण यजुर्वेद में पहले 'नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च' आता है व बाद में नमः किँ्शिलाय' आदि। शुक्ल यजुर्वेद में क्रम भिन्न है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः कपर्दिने च पुलस्तये च नम इरिण्याय च प्रपथ्याय च

जटाजूटधारी रूप से भक्तों के समक्ष उपस्थित होने वाले शिव को नमस्कार है। वे ऊषर देश में भी रहते हैं व अच्छे चौड़े मार्गों में भी। अर्थात् शिव सर्वत्र उपलब्ध होते हैं, यह भाव है। उत्तम रूपों के वर्णन के बाद अभक्तों को भी वे सुलभ हैं यह बताने के लिये जटाजूटधारी रूप का वर्णन है। जटा तप का प्रतीक है अतः जीव चाहे जितना नास्तिक बनकर उन्हें ताप दे, वह उसे सहन करके भी उसका सामीप्य नहीं छोड़ते। 'तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति' आदि श्रुति इसमें प्रमाण है। 'पुरतस्तिष्ठतीति पुलस्त्यः'। भक्तिहीन देश 'इरि' जीव का अंतःकरण ही है। बहुत लोगों के द्वारा सेवित मार्ग प्रपथ है। शिवभक्ति ही प्रपथ है, जिस पर चलकर अनंत जीव मुक्त हो चुके हैं।

●

४४

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो व्रज्याय च गोष्ठ्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो गोष्ठ्याय च गृह्याय च नमस्तल्प्याय च गेह्याय च नमो हृदय्याय च निवेष्प्याय च

सभी सम्बन्धों को छोड़ने वाले यति रूप में भी वे ही विद्यमान हैं। अर्थात् व्रज्या या परिव्रज्या ग्रहण करने वाले भी वे ही हैं। एवं 'गोष्ठी सभासंलापयोस्स्त्रियां' आदि कोष से सभाओं की लौकिक वार्त्ताओं में भी वे ही हैं। 'तल्पं शय्याट्टदारेषु' इस अमरोक्ति से वे बिछौनों में भी हैं, अट्टालिकाओं

में भी हैं, व पत्नियों के मध्य भी हैं। शय्या से शेषशायी मूर्ति का संकेत है। राजराजेश्वरी भी 'शिवाकारे मंचे' से शिवतल्प्या हैं यह स्पष्ट है। दारुकावन लीला में ऋषिदाराओं के मध्य की लीला पुराणों में प्रसिद्ध है। इसी प्रकार घर में होने से गेह्य भी हैं, अगाध ह्रदों में होने से ह्रदय्य भी हैं, तथा 'वेशो वेश्याजनसमाश्रयः' आदि अमरकोष से वेश्याओं के मकानों में भी हैं। गण्डकी वेश्या प्रसिद्ध है। नायनारों में भी वेश्या प्रसिद्ध है। वस्तुतस्तु घूमने या छोड़ने की इच्छा में होने से वे व्रज्य हैं। संसार त्याग की प्रेरणा भी वे ही करते हैं, यह भाव है। उसी प्रकार सभाओं में वाग्मी बनने के भी वे हो प्रेरक हैं। विवाहादि से दार में प्रवृत्ति कराते हुए गेही या गृहस्थाश्रम के प्रेरक व मार्गप्रवर्त्तक भी 'आदिकुटुम्बिने' आदि शंकरोक्ति से वे ही हैं, तो तालाबों के किनारे अभिसारिणी तथा वेश्याओं की प्रवृत्ति कराने वाले भी वे ही हैं। सभी को शिवमार्ग में प्रवृत्त करते हैं। राधा अभिसारिका प्रसिद्ध है। 'गुहायां गेहे वा' आदि शिवानन्दलहरी इसमें प्रमाण है। निवेष्प नीहार-जल को, अथवा घूमने वाले जल रूपी भँवर (whirlpool) को कहते हैं। अतः संसार रूपी ह्रद के भीतर जन्म-मृत्यु के भँवर में पड़े चिदाभास भी वे ही हैं यह भाव है।

कृष्ण यजुर्वेद में पहले 'नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च' आता है व बाद में 'नमो ह्रदय्याय च निवेष्प्याय च'। शुक्ल यजुर्वेद में क्रम विपरीत है।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः काट्याय च गह्वरेष्ठाय च

प्रवेश के अयोग्य कुटिल स्थलों में भी हैं, तथा गिरिगुहादि विषम स्थलों में भी हैं। वस्तुतः पूर्वभाग को ही यहाँ और स्पष्ट करते हैं। जीवभाव से संसारचक्र में भ्रमण करने वाले भी वे ही हैं, तथा हृदय गह्वर में कूटस्थ रूप से विद्यमान भी वे ही हैं। 'ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो', 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्', 'निहितं गुहायां', 'गह्वरेष्ठं पुराणं' आदि शास्त्र इसी के प्रतिपादक हैं।

४५

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[क] नमः शुष्क्याय च हरित्याय च

[ख] नमः पा ँ्सव्याय च रजस्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[क] नमः पा ँ्सव्याय च रजस्याय च

[ख] नमः शुष्क्याय च हरित्याय च

सूखी लकड़ी तथा गीली लकड़ी, दोनों में आप ही हैं। धूल में भी आप हैं व बालू में भी आप हैं। आपको प्रणाम है। वैराग्य से शुष्क, एवं शिवप्रेम से हरित, व अहंकार को धूल में परिवर्तित करने वाले पुरुषार्थी क्रियाशील साधक में वे आशुतोष सदा ही व्यक्त रहते हैं, यह रहस्य है।

[ग] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो लोप्याय चोलप्याय च नम ऊर्व्याय च सूर्व्याय च।

नामरूप में तिरोहित होना ही शिव का लोप अर्थात् अदर्शन है। वे वहाँ भी सत्तारूप से विद्यमान तो हैं फिर भी वहाँ दिखते नहीं। 'वल् संवरणे' धातु से निष्पन्न 'उल्यत इति उलः' से तात्पर्य लिपटने वाली लता से है। 'लता प्रतानिनी वीरूद्गुल्मन्युलप इत्यपि' आदि नामलिंगानुशासन इसमें प्रमाण है। उल का पालन करने वाला उलप है। ब्रह्माकारवृत्ति प्रेम से ब्रह्म को लिपटती है अतः वही उल है। 'लता परिरूहं' आदि शिवानन्दलहरी इसमें प्रमाण है। उस वृत्ति का रक्षक शिव ही उलप है, एवं उसमें प्रकट होने से ही वे उलप्य भी हैं। तालाब व झीलों में होने वाली वस्तुओं को ऊर्व्य कहा जाता है। मानस ह्रद में सदा निवास करने से शिव ऊर्व्य हैं। 'मानसराजहंस' आदि शिवानंदलहरी इसमें प्रमाण है। रात्रि को ऊर्म्य कहते हैं। शुभरात्रि

या शिवरात्रि उन्हीं का रूप होने से वे सूर्म्य हैं। अथवा 'शोकमोहो जरामृत्यू क्षुत्पिपासे षडूर्मय:' इन सभी ऊर्मियों में ज्ञानरूप से विद्यमान होने वे सूर्म्य हैं। उनकी स्मृति से ये सभी शुभ हो जाती हैं। इस प्रकार इसमें साधना के स्तरों का संकेत किया गया है।

●

४६

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमः पर्णाय च पर्णशदाय च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमः पर्णाय च पर्णशद्याय च

'छन्दांसि यस्य पर्णानि' इस कृष्णोक्ति के प्रमाण से वेदरूप पर्ण वे ही हैं। 'पर्णं शादयतीत पर्णशदः' जो आत्मज्ञानाग्नि से वेद को अवेद बनाता है वह उपनिषद् ही पर्णशद है। अतः वेद तथा उपनिषद् में जीवों का कल्याण करने को वे ही इन रूपों को धारण कर बुभुक्षु को कर्मकाण्ड, तथा मुमुक्षु को ज्ञान-काण्ड का उपदेश करते हैं। वेद में व उपनिषदों में वे ही प्रतिपाद्य हैं। 'वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्' आदि शास्त्र व 'तत्तुसमन्वयात्' आदि न्याय इसमें प्रमाण हैं। कृष्ण यजुर्वेद के पाठ के अनुसार अर्थ होगा कि शुष्क पर्ण में भी आप ही हैं, व शुष्कपर्ण के संघात में भी आप ही हैं। जीव व जीवसंघात नारायण दोनों शिव रूप हैं यह भाव है। 'सुपर्णा' आदि वेद इसमें प्रमाण हैं।

[ख] शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नम उद्गुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिदते च प्रखिदते च

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमोऽपगुरमाणाय चाभिघ्नते च नम आखिखदते च प्रखिखदते च

गरजकर प्रवृत्त पापियों को बचाने वाले, पाप में रतों को मारने वाले, प्रायश्चित्त करने वालों को थोड़ा दण्ड देने वाले, पाप करके उसमें अभिमान द्वारा अभ्यस्त पापियों को तड़पाने वाले शिव को प्रणाम है। साधक को पहले तो वे उसकी अमृतपुत्रता बताते हैं। इससे विषयों के प्रति साक्षी भाव का उपदेश दे करके जीव की अशुद्धि को मानो उल्टी करके निकलवाते हैं। आगमानुसारी सपर्या में पापपुरुष का शरीर से निर्गमन कराना प्रसिद्ध ही है। फिर उस पाप को 'ते नश्यन्तु शिवाज्ञया' से नष्ट करना भी इष्ट है। अन्त में प्रायश्चित्त रूप में 'मंत्रहीनं क्रियाहीनं' आदि प्रार्थना करते हैं। पूजा समाप्ति में न्यूनता का प्रखेदनिवृत्त करने को ही विशेषसफलार्घ्यार्पिण करते हैं, तथा ब्रह्मज्ञानियों को दक्षिणा देकर 'स्वस्ति' बुलवाते हैं। सपर्या की इन सभी विधियों के इष्ट शिव ही हैं यह प्रसिद्ध है।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[ग] नम इषुकृद्भ्यो धनुष्कृद्भ्यश्चवो नमो
[घ] नमो वः किरिकेभ्यो देवानाँ हृदयेभ्यो
[ङ] नमो विचिन्वत्केभ्यो नमो विक्षिणत्केभ्यो नम आनिर्हतेभ्यः

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[ग] नमो वः किरिकेभ्यो देवानाँ हृदयेभ्यो
[घ] नमो विक्षीणकेभ्यो नमो विचिन्वत्केभ्यो
[ङ] नम आनिर्हतेभ्यो नम आमीवत्केभ्यः

इस प्रकार रुद्र के सर्वरूपों के नमन के बाद दक्षिणामूर्त्ति के स्वरूप गुरु-मूर्तियों का नमन करते हैं। यहाँ बहुवचन गुरुओं की स्थूल व सूक्ष्म देहगत अनेकता प्रयुक्त अनेकता प्रतिपादनार्थ है। 'वः' के प्रयोग से गुरु प्रत्यक्ष हुआ करते हैं, परोक्ष नहीं यह स्पष्ट किया गया। जीवात्मा ही, 'शरो ह्यात्मा' इस श्रुति से इषु है। जो गुरु शुभकर्मोपदेश से आत्मा को शिव का बाण बनने योग्य बनाता है उसे नमन है। इससे क्रियाचार्य को बताया। जो गुरु शिष्य को शिवाद्वैत का उपदेश करने के लिये 'धनुर्गृहीत्वोपनिषदं' आदि श्रुति से सिद्ध उपनिषद् रूपी शब्दों को समन्वित करके (ज्या चढ़ाकर) उन्हें अनुभव

योग्य बनाता है, ऐसे ज्ञानाचार्य को नमस्कार है। 'किरिक' वराह या भूमि को खोदने वाले को कहते हैं। अतः मनन या युक्ति से वेदभूमि को खोदकर उसके रहस्य को प्रकट करने वाला न्याय विशारद भी प्रणम्य है। आचार्य शंकर से लेकर गौडब्रह्मानन्द सरस्वती तक यह परम्परा अनवच्छिन्न चलती रही है, यह सर्वविदित है। वैसे 'किरन्ति भक्तेभ्यो विद्यां धनानि चेति किरिका उदाररुद्रावताराः' कहकर तैत्तिरीय भाष्य में शिव अपने भक्त को अपना ज्ञान भी देते हैं, एवं जीवन निर्वाहार्थ धन भी देते हैं, यह बताया। दोनों को देने वाले अति दानी शिव को नमस्कार है। वस्तुतः जो कर्म शिवार्पण किये जाते हैं वे जहाँ विविदिषा द्वारा ज्ञान में प्रयुक्त हैं, वहाँ ज्ञानपर्यन्त सभी सांसारिक धन आदि साधनों की उपलब्धि भी कराते हैं, यही शांकर सम्प्रदाय में मान्य है। ऐसे कर्म रूप को धारण करने वाले शिव ही यहाँ कहे जा रहे हैं। तद्रूप गुरु भी निग्रहानुग्रह में समर्थ होने से शिष्य को युक्ति से ब्रह्मवेत्ता भी बनाते हैं, तथा तदनुकूल धन की भी प्राप्ति कराते हैं। प्रसिद्ध है कि शिवभक्त कभी सांसारिक कष्ट भी नहीं पाता, व धनाधिक्य से मार्ग भ्रष्ट भी नहीं होता। चण्डेशानुग्रह, नारायणानुग्रह, रावणानुग्रह, अर्जुनानुग्रह, मार्कण्डेयानुग्रह, उमानुग्रह आदि मूर्तियाँ पुराणों में प्रसिद्ध ही हैं। शिवभक्त ही देवों के हृदय, या प्रिय हैं। सभी देवों का वे पूजन करते हैं। शाक्त, वैष्णव, गाणपत्यों आदि की तरह अद्वैती किसी भी देव को शिव से भिन्न नहीं मानते, यह आज तक स्पष्ट है। अथवा दैवी सम्पत्ति वाले देव हैं। ऐसे साधकों को गुरु प्रियतम लगते हैं, एवं उनके हृदय में गुरुमूर्त्ति दक्षिणामूर्त्ति प्रतिक्षण निवास करते हैं। गुरु की आज्ञा से ही वे जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार सत्पुत्राचार्य मार्ग के प्रदर्शक आचार्यमूर्त्ति को प्रणाम है। चुनकर आत्मा को अनात्मा से अलग करके विवेक मार्गप्रदर्शन करने वाले गुरु को नमन है। क्षणनाशिता को बताकर विषयों से विपरीत वैराग्य मार्ग के प्रतिपादक को नमन है। 'क्षिणत्केभ्यो विपरीता विक्षिणत्काः।' अविद्या को सर्वथा नष्ट करने वाले ब्रह्मविद्वरिष्ठ आचार्य 'अनिर्हत' हैं। शिष्य की सामान्य प्रवृत्ति भी देखकर ऐसे दयालु गुरु उसे ज्ञान दे देते हैं। स्मार्तोपनिषद् तो ऐसे शिवनिष्ठों की दृष्टिमात्र से साधक पूत होकर मोक्ष पा लेता है यह बताती हैं। अथवा काशी

में स्वयं विश्वनाथ सभी पापों को निर्हंत करके 'आऽविद्यानाश' अर्थात् अविद्या नाश तक उपदेश करने से आनिर्हत हैं। प्रारम्भ में रुद्रमूर्ति को मन्युरूप से नमस्कार किया था। अतः यहाँ पुनः विश्वनाथरूप में शिष्यहृत्तापहारी गुरुमूर्ति रूप में उनका स्मरण करना उचित ही है। यहाँ तक सर्वात्मभाव का वर्णन कर दिया गया।

कृष्ण यजुर्वेद में 'आमीवत्केभ्यः' पाठ अधिक है। 'आ=समन्तात् मीवन्ति=स्थूलीभावं प्राप्नुवन्तीत्यामीवत्काः'। इस निष्पत्ति से वे ही सूक्ष्म स्थूल सभी भावों को प्राप्त कर विश्वरूप हैं, यह बताया गया है। इस प्रकार स्पष्ट ही विश्वनाथ को यहाँ स्मरण किया गया है। अथवा पापियों को नष्ट करने को इतस्ततः भ्रमण करने वाले गुरुओं का नमन है। 'आमीवत्' का अर्थ आक्रमण करते हुये होता है। शिष्य के सभी दोषों को दूर करने के लिये उस पर आक्रमण करने वाले उत्तम गुरु को प्रणाम है। यद्यपि दोष निवृत्ति करने में शिष्य को क्लेश होता है, पर गुरु निर्दयतापूर्वक जब तक शिष्य के ब्रह्मज्ञान में अप्रतिबद्धता न आये तब तक लगा ही रहता है। इस प्रकार यहाँ श्री दक्षिणामूर्त्ति में कृष्ण यजुर्वेद के नवमानुवाक् की समाप्ति हो गई।

दसवें अनुवाक् से अब नमस्कारानन्तर प्रार्थना प्रारम्भ करते हैं।

●

४७

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

द्रापे अन्धसस्पते दरिद्र नीललोहित। आसां प्रजानामेषां पशूनां मा भेर्मा रोङ्मो च नः किंचनाममत्।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

द्रापे अन्धसस्पते दरिद्रन्नीललोहित। एषां पुरुषाणामेषां पशूनां मा भेर्माऽरो मो एषां किं च नाममत्।

द्राप अर्थात् कीचड़। कीचड़ रूपी माया में सने होने से वे द्रापी हैं। उसी का सम्बोधन द्रापे से करते हैं। तात्पर्य यह है कि हे माया शबल ब्रह्म ! मैं भी माया में हूँ, पर मैं अज्ञानाधीन होने से स्वपुरुषार्थ से नहीं छूट सकता। आप मायाधीश होने से स्वतन्त्र होकर माया में सने हैं। अतः मुझे छुड़ा सकते हैं। इस प्रकार पूर्व मंत्र में जो दक्षिणामूर्त्ति रूप का वर्णन किया था उसी का प्रतिसंधान किया जा रहा है। द्राप का अर्थ आकाश भी होता है। जैसे आकाश कीचड़ में लिप्त नहीं होता है, वैसे ही आप हैं यह भाव है। आप अन्न के भी मालिक हैं। अर्थात् प्रारब्ध भोग के दाता हैं। अतः ज्ञानानुकूल प्रारब्धभोग को प्रवृत्त करें, ज्ञान के प्रतिकूल कर्मों को प्रवृत्त नहीं करें। आप संसार के भोगों के प्रति निरपेक्ष होने से दरिद्र दीखते हैं, पर मैं आपको अन्नदाता रूप में पहचानता हूँ, यह भाव है। 'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति' आदि से, जैसे आप हैं, वैसा ही मुझे बना दें, यह भाव है। बाहर की दरिद्रता गौरव है, मन की दरिद्रता हेय है, इसे प्रकट करने के लिए ही आशुतोष भिक्षाटनमूर्ति में दरिद्रता प्रकट करते हैं। यतिचक्रवर्ती दक्षिणामूर्ति व शंकर, दोनों की ही भिक्षामूर्ति प्रसिद्ध हैं। स्वयं अन्नपति होकर सुवर्णवृष्टि भी करते हैं, भिक्षा भी माँगते हैं। वस्तुतस्तु अहं की भिक्षा माँगकर ब्रह्मानन्द रूपी वृष्टि करते हैं। उनकी दया देवी के ऊपर नीललोहित रूप में प्रत्यक्ष है। माया विशिष्ट रूप का प्रत्यक्ष संकेत इस सम्बोधन से किया गया। प्रत्यक्ष वर्तमान लोगों व पशुओं को आप भयकारी न हों। हमारा ज्ञान अभी कमजोर है। अतः इन ज्ञानवृत्तियों को प्रबल काम, क्रोध, लोभ आदि वृत्तियों से विचलित करके हमें न परखें। हमारी तरह जो ज्ञानवृत्ति वाले नहीं हैं, ऐसे प्रेमी भक्तों की, उनकी अविद्या पाशबद्धता होने पर भी, उनके प्रेम की परीक्षा न लें। वैसे भी आप यति रूपधारी हैं, अतः सबको अभयदक्षिणा देने वाले हैं। गुरुरूप से भी वैराग्य की या शिवप्रेम की कमी से आप हमें परित्याग करने का भय न दें यह भाव है। न हम में शिवमार्ग से अरुचि पैदा करें। न हमें आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक अशान्ति रूपी व्याधि देवें। 'मा उ चनः किंचन आममत्'=मत और निश्चय रूप से

हमारे ऊपर कोई भी रोग न दें। आप स्वयं दक्षिणामूर्ति हैं अतः आपके लिये हमारे ऊपर कृपा करना स्वाभाविक है, यह प्रथमार्द्ध का तात्पर्य है।

कृष्ण यजुर्वेद में 'याते रुद्रं' आदि मंत्र पहले हैं व 'इमाँ रुद्रा' आदि बाद में। शुक्ल यजुर्वेद में क्रम उल्टा है।

●

४८

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

इमा रुद्राय तवसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतीः।
यथा शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन्ननातुरम्॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

इमाँ रुद्राय तपसे कपर्दिने क्षयद्वीराय प्रभरामहे मतिम्।
यथा नः शमसद् द्विपदे चतुष्पदे विश्वं पुष्टं ग्रामे अस्मिन् अनातुरम्॥

अब अपने आपको शिवार्पण करते हुए शिवकर्मरत बनाने की प्रार्थना करते हैं। 'इमा' या 'इमथा' का यहीं या अभी वैदिक अर्थ है। अथवा कृष्ण यजुर्वेद में तो 'इमां मतिम्' अर्थात् इस बुद्धि को, स्पष्ट कहने के अनुरोध से यहाँ भी वही समझ सकते हैं। तवसे=प्राचीनतम या बलवान्। सृष्टि के पूर्व होने से वे सबसे बुजुर्ग हैं। बुजुर्गों का बच्चों पर प्रेम प्रसिद्ध है। अतः उनके बच्चों की सेवा की प्रतिज्ञा करने में उस रूप की स्मृति स्वाभाविक है। पर वृद्ध होने पर भी वे बलवान हैं। अतः शिवकर्म में लगने वालों की हर प्रकार की मदद करने में समर्थ हैं। हम अपने को सबल मानकर लोकसंग्रह करने में प्रवृत्त हों, यह भाव है। प्रतिपक्षी वीरों को क्षयद्=क्षीण करते ही रहते हैं। तात्पर्य हुआ कि हम इन जटाधारी रुद्र में मन लगाते हैं, जो विरोधियों को नाश करने वाले प्रबल बुजुर्ग है। विरोधी रूप में कामारिरूप भी

संग्राह्य हैं। अर्थात् लोकसंग्रह में रत होने पर भी हम मद आदि दोषों के शिकार न बनें ऐसी वे कृपा करें। कृष्ण यजुर्वेद में तो तपबल वाला कहा गया है। 'प्रभरामहे' अर्थात् निरन्तर मन में भरते हैं यह भाव है। हमारे सभी कार्य मानव, पशु आदि सभी के लिए कल्याणकारी हों। हमारे कार्यों से इस ग्रामस्थित विश्व=सभी, पुष्ट व आतुरता रहित हों। 'शम् असत्=स्यात्।' अस्ति का लेट् रूप है। अतः 'लेटोडाटौ' से अट् का आगम समझना चाहिये। व्यक्तिगत सुखों की अपेक्षा सामूहिक सुखार्थं प्रवृत्ति शंकरी है। इस बात को ग्राम, विश्व आदि से स्पष्ट करके बताया है। 'रुद्राध्यायी वसेद्यत्र' ग्रामेवानगरेऽपि वा। व्याधि-दुर्भिक्ष-चौरादिबाधा तत्र न जायते॥' आदि व्यासोक्ति इसमें प्रमाण है। रुद्र से दुःखद्रावकता, तवसे से अद्भुत निग्रहानुग्रह सामर्थ्य, कपर्दी से अनन्य साध्य कार्यनिर्वाहकता एवं क्षयद्वीर से प्रागल्भ्य बताया। 'कं गंगाजलं पर्दयति इति कपर्दः'। 'गंगां धारयितुं शक्तं नान्यं पश्यामि शूलिनः।' आदि वाल्मीकि वचन इसमें प्रमाण हैं। शिवभक्त को इसी प्रकार का होना चाहिये यह भाव है।

●

४९

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

या ते रुद्र शिवा तनूः शिवा विश्वाहा भेषजी।
शिवा रुतस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

या ते रुद्र शिवा तनूशिवा विश्वाह भेषजी।
शिवा रुद्रस्य भेषजी तया नो मृड जीवसे॥

हे रुद्र! तुम्हारा कल्याणकारी **तथा** शान्त जो शरीर है, उससे (तया)

हमें जीवनदान करके सुखी करो। अर्थात् हम उसके सहारे सुख के जीयें। जीवसे=जीवितुं। 'छन्दसि से प्रत्ययः'। वह शरीर विश्वहा=सर्वत्र भेषजी=रोग दरिद्रता आदि का नाशक है। अथवा 'विश्वेषु अहःसु' सभी दिनों में औषधि है। सभी रुतस्य=दुःखों की वही कल्याणकारी औषधि है। अतः चरक का 'मृत्युञ्जय-महादेव-वृषभध्वज-कीर्तनात्। नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहं' एवं मृत्युञ्जयोपासना वेदप्रमाणसिद्ध है। 'रुद्र! ते शिवा तनूर्या विद्यते तया= तन्व्या नः जीवसे मृड। यस्मादेवं विश्वाहा भेषजी= औषधवद्विनाशहेतुस्तस्माच्छिवा तनूः।'

कृष्ण यजुर्वेद में इसके बाद 'इमारुद्राय०', 'मृडानो०', 'मानो महान्तं०', 'मानस्तोके०', 'आरात्ते०', 'स्तुहि श्रुतं०', इन मन्त्रों के बाद 'परिणो रुद्रस्य' आदि मंत्र है। इसका विचार ५३ के मंत्र के बाद किया है।

५०

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

परि नो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परि त्वेषस्य दुर्मतिरघायोः।
अवस्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृड॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

परिणो रुद्रस्य हेतिर्वृणक्तु परि त्वेषस्य दुर्मतिरघायोः।
अव स्थिरा मघवद्भ्यस्तनुष्व मीढ्वस्तोकाय तनयाय मृडय॥

रुद्र के हेति=आयुध हमेशा हमें दूर रखें, अर्थात् उनके विषय हम न बनें। न केवल आयुध वरन् पाप करके जीवन बिताने की इच्छा (अघायु) भी हममें न आवे। रुद्र हमारे प्रति क्रोध से दीप्त (त्वेषस्य) दुर्मति=हमारा नाश करने की बुद्धि वाले न बनें। भाव है कि विहित करण व निषिद्ध वर्जन

का हमारा स्वभाव बन जाये, जिससे उनको क्रोध करने का अवसर या भाव भी न आवे। इस प्रकार पापेच्छा से दुःख पर्यन्त सभी से हमें वे बचावें।

किंच हे मीढ्वः=भक्तों की भरपूर कामनाओं को पूर्ण करने वाले! स्थिरा=नित्य ही अपनी कृपा, मघवद्भ्यः=आपको महान् मानकर आपकी स्तुति, पूजा, बलि आदि करने वाले भक्तों पर, अवतनुष्व=फैलावें। तथा तोकाय=बच्चों को व विशेषकर तनयाय=सत्पुत्र मार्गी जो सर्वत्र आपके यश व नाम को फैलाते हैं उनको मृडय=सुखी करें। मीढ्वः! हेतुर्गभित है। चूंकि आप वर्षा करने वाले हैं अतः करें, यह आपका स्वभाव है यह भाव है। वस्तुतस्तु रुद्र की हेति अविद्या ही है। वह हमारे पुनर्जन्म का कारण न बने। परिवृणक्तु=परिवर्जयतु। त्वेष=प्रज्ज्वलित होने पर उस अविद्या का रूप अहंकार है जिससे मनुष्य 'अघायुरिन्द्रियारामः' होकर 'मोघं जीवति'। ऐसी अघायुओं के योग्य दुर्मति भी हमसे दूर रहे=परिवृणक्तु। तथा 'मघवद्भ्यो= यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्॥' रूप से सर्वकर्मार्पण रूपी हवि देने वालों को स्थिरा=स्थिर प्रज्ञा अवतनुष्व=प्रदान करें ऐसी कृपा हम बच्चों पर जो आपके तनय हैं, आप करें। शिव प्रसाद से ही स्थितप्रज्ञता सम्भव है यह भाव है।

●

५१

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव।
परमे वृक्ष आयुधं निधाय कृत्तिं वसान आ चर पिनाकं बिभ्रदा गहि॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

मीढुष्टम शिवतम शिवो नः सुमना भव ।

परमे वृक्ष आयुधन्निधाय कृत्तिं वसान आचर पिनाकं बिभ्रदागहि ।।

हे मीढुष्टम !=समग्र धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, श्रद्धा, भक्ति, ज्ञान आदि की सर्वाधिक वृष्टि करने वाले शिव ! हे शिवतम !=कल्याण स्वरूप से अभिन्न करके सर्वाधिक कल्याण करने वाले ! नः=हमारे लिये, शिवः=शिव से भरे, सुमनाः=सुन्दर मन वाले भव=बनो । अथवा हमें शिव भावों से तथा शिव प्रेम से भरकर शुभ मन वाले बना दो । मन में सदा शिवस्मृति चलती रहे, तो शिवकृपा पूर्ण हो गई यह समझ लेना चाहिये । तथा परम वृक्ष पर अपने आयुध को रखकर आओ । चर्ममात्र पहनकर, पिनाक को धारण कर समीप में आओ । 'बिभ्रत्=भूषणमात्राय पिनाकं हस्ते धारयन् आगहि=समीपं आगच्छ ।' तात्पर्य है कि प्रारब्ध के फल के भोग के लिये बाधितानुवृत्ति से वृक्ष रूपी शरीर पर अहंकार का स्थापन करें, तथा वैराग्यपूर्ण जीवन के चिह्न रूपी सर्वकर्म संन्यास को धारण कर तदनुकूल हमसे आचरण करावें । शिव, पदार्थों की अलभ्यमानता से नहीं, वरन् अपना विषय वैतृष्ण्य प्रकाशने के लिये ही कृत्तिवसान बने हैं । वैसे ही परमहंस का त्याग भी अलाभनिमित्तक नहीं है, वरन् ज्ञानजन्य है । उस अवस्था में पुनः संसार में पिनाकरूपी उपनिषद् धनु को शोभा रूप से धारण करके प्रवेश करें । संन्यासी संसारियों को निरन्तर उपनिषद् श्रवण करावें यह उनकी शोभा है । शिव दक्षिणामूर्त्ति रूप से वट वृक्ष के नीचे रहते हैं यह प्रसिद्ध है । गुरु ही उनकी मूर्ति है । शैव परम्परा में यह मन्त्र विद्वत्संन्यासिविषयक प्रचलित है ।

५२

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

विकिरिद्र विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः ।
यास्ते सहस्रँ् हेतयोऽन्यमस्मिन्नि वपन्तुताः ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

विकिरद विलोहित नमस्ते अस्तु भगवः ।
यास्ते सहस्रँ् हेयतोन्यमस्मिन्निवपन्तु ताः ॥

पूर्वमन्त्र में कृत्ति से नृसिंह चर्म को धारण करने वाला ध्वनित किया गया था। कृती धातु छेदने के अर्थ में हैं। उससे निष्पन्न कृत्ति शब्द अत्यंत अकाट्य धन, कुल, दारादि के अभिमान को छेदने वाले उपलक्षण से संन्यासी को बता रहा है। शरभावतार में नृसिंह का छेदन किया गया यह पुराणों में प्रसिद्ध है। नराभिमानिता ही नृसिंह है। अब इस मंत्र में विकिरि अर्थात् वराहावतार के नाशक रूप को कहते हैं। जब विष्णु वराहावतार में लक्ष्मीरूपिणी वराही से रमण में मस्त होकर अपने वास्तविक स्वरूप को विस्मृत कर गये, तब शिव ने ही त्रिशूल से उनका छेदन कर नारायण को मुक्त किया था यह प्रसिद्ध है। किरि=वराह, श्रेष्ठ वराह=विकिरि। उसे द्रावयति=नाशयति, अतः विकिरिद्र। इस प्रकार बुद्धि में घुसे हुए अहंकार को छोड़ना यहां इष्ट है। उसे मारने से लहू लुहान होने से वे विलोहित हो जाते हैं। अन्य अहंकार को छोड़ने पर 'ब्रह्माहं' के प्रकाश का पूरी तरह फैल जाना ही विलोहित हो जाना है। शिव प्रेम से ही रक्त है। शिव जीव पर प्रेम करके विलोहित है, तो जीव शिव से प्रेम करके, यह भाव है। ऐसे भगवान्! आपको प्रणाम हो। जो तुम्हारे असंख्य अस्त्र हैं वे जो तुमसे अपने को अलग समझते हैं उन पर मार करें। अर्थात् हम जो अनन्य भावी हैं, उन पर तुम अपने अस्त्रों को नहीं मारो। भेद-वादी को श्रुति जन्ममरण के चक्र में पड़ने वाला बताती है। अतः वे काम क्रोध

आदि अस्त्रों के विषय बनें। जो शिवाद्वय स्वीकार कर सर्वथा उनकी शरण हो जाते हैं उनको वे निष्काम बना देते हैं यह भाव है।

५३

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

सहस्राणि सहस्रशो बाह्वोस्तव हेतयः।

तासामीशानो भगवः पराचीना मुखा कृधि ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

सहस्राणि सहस्रधा बाहुवो स्तव हेतयः।

तासामीशानो भगवः पराचीना मुखाकृधि ॥

जो तुम्हारे असंख्य भुजयुग्म हैं, एवं उनमें धृत असंख्य अस्त्र हैं, उनके मुख हमसे दूसरी तरफ होवें, क्योंकि हे भगवान्! आप हमारे ईशान=शासक हैं। आप उन अस्त्रों के भी ईशान हैं। अतः आप कृपा कर हमें इन आयुधों से बचावें। सहस्राणि से एक एक विषय, तथा सहस्रधा से प्रतिविषय की अनन्त वृत्तियों का निर्देश है। ज्ञान व क्रिया ही दोनों भुजायें हैं। इनके द्वारा ही अस्त्र चलते हैं। अर्थात् कुछ जानने को व कुछ करने की ही इच्छा उत्पन्न होती है। 'शूलाच्छूलसहस्राणि निष्पतन्त्यस्य तेजसा' आदि व्यासोक्ति इसमें प्रमाण है।

कृष्ण यजुर्वेद का दशमानुवाक् यहीं समाप्त होता है।

वहाँ ४८ वें मन्त्र के बाद निम्नलिखित मन्त्र भी मिलते हैं।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[मन्त्र नहीं]

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

मृडानो रुद्रोत नो मयस्कृधि क्षयद्वीराय नमसा विधेम ते ।
यच्छं च योश्च मनुरायजे पिता तदश्याम तव रुद्र प्रणीतौ ॥

तात्पर्य है कि हे रुद्र ! हमें इष्टार्थ तथा मोक्ष देकर सुखी करो। हम आपको नमस्कार करते हैं। यह नमन हमारे पापों को नष्ट कर, हमें आपकी कृपा के योग्य बना देगा। मनु जो हमारे आदि थे, वे इसी प्रकार आपकी प्रणीति=प्रीति प्राप्त करके आयजे=भोग व मोक्ष प्राप्त कर सके थे। हम भी उनकी सन्तान होने से इसे प्राप्त करें, यह भाव है।

इसके बाद 'मानस्तोके' आदि मन्त्र है जो शुक्ल यजुर्वेद के क्रम में १६ वां है। तदनन्तर ये मन्त्र हैं।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[मन्त्र नहीं]

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

आरात्ते गोघ्न उत पूरुषऽघ्ने क्षयद्वीराय सुम्नमस्मे ते अस्तु ।
रक्षा च नो अधि च देव ब्रूह्यथा च नः शर्म यच्छ द्विबर्हाः ॥

भाव है कि आपका जो इन्द्रियों तथा अहंकार को वश में करने वाला रूप है, वह हमारे समीप रहे। सुम्नं=अघोर रूप। हे देव आप सभी विरोधियों को नाश करने में समर्थ हैं। अस्मे=अस्मै। 'तुम्हारी रक्षा हो गई', ऐसा आप कह दें। द्विबर्हाः=भोग मोक्ष दोनों के वर्द्धक। हमें शर्म=शान्ति, यच्छ=देवें।

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

[मन्त्र नहीं]

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

स्तुहि श्रुतं गर्तसदं युवानं मृगन्न भीम मुपहत्नुमुग्रम् ।
मृडा जरित्रे रुद्र स्तवानो अन्यन्ते अस्मन्निवपन्तु सेनाः ॥

तात्पर्य है कि हे जीव ! शिव की स्तुति करो। वे प्रसिद्ध, हृदयगर्त के वासी, सुन्दर युवा, सिंह की तरह भयंकर, एवं अभक्तों के उपसंहर्ता हैं। हे रुद्र ! हम तुम्हारी स्तुति करते हुए जरिमे=वृद्ध शरीर में स्थित हैं। हमें मृडा=मृडया=सुखी करो। जो आपकी भूतप्रेतादि सेना है, वह अभक्तों का नाश करे।

५४

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

असंख्याता सहस्राणि ये रुद्रा अधिभूम्याम् ।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

सहस्राणि सहस्रशो ये रुद्रा अधिभूम्याम् ।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽव धन्वानि तन्मसि ॥

दशानुवाकों से यहाँ तक सर्वेश्वर का नमन व प्रार्थना करके अब निग्रहानुग्रह समर्थ, लोकेश्वरों की जो सकल ब्रह्माण्ड के अधिष्ठाता हैं, स्तुति की जा रही है। ये गुरुरूप से मानव लोक में यतिमण्डली के रूप से भी भ्रमण करते

हैं। 'परस्परानुरक्ताश्च परस्परनमस्कृताः। शिवप्रियतमा नित्यं शिवलक्षण-लक्षिताः। विरूपाश्च सुरूपाश्च मुण्डाश्च जटिलास्तथा।' आदि पुराणोक्ति इसमें प्रमाण है। असंख्य गण भूमि को अधिष्ठित करके स्थित हैं, उनको नमस्कार है। वे अपने धनुषों को हमसे हजार योजना दूर ही रखें। यह प्रार्थना है। 'अवतन्मसि=अवततज्यानि कुर्मः।' वस्तुतस्तु जीवन्मुक्ति में हम कामादि विरोधियों को दूर रखते हैं, यह भाव है।

●

५५

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि
तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

अस्मिन् महत्यर्णवेऽन्तरिक्षे भवा अधि।

जो भव गण इस महान् परिदृश्यमान् अन्तरिक्ष समुद्र में, अर्थात् आकाशगंगा व नक्षत्र समूहों में, अधिष्ठाता रूपसे विद्यमान हैं, वे भी हमारी रक्षा करें। 'अधि अन्तरिक्षे' इस प्रकार का अन्वय है। कृष्ण यजुर्वेद में इसके बाद पहले 'नीलग्रीवाश्शितिकण्ठाः शर्वा अधः' आदि मंत्र है। शुक्ल यजुर्वेद में क्रम भिन्न है।

●

५६

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नीलग्रीवाः शितिकण्ठा दिवँ रुद्रा उपश्रिताः ।

तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ।।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नीलग्रीवाश्शितिकण्ठा दिवँ रुद्रा उपश्रिताः ।

जो जीव कालकूट विष खाने के पूर्व शिव से सारूप्यभाव को प्राप्त कर चुके थे, वे सफेद कण्ठ वाले हैं। उसके बाद शिवभाव को प्राप्त करने वाले नीलग्रीवा वाले हैं। ये सभी सारूप्य, सामीप्य, सायुज्य मुक्ति को प्राप्त कर चुके हैं। ऐसे शिवगण दिवं अर्थात् द्युलोक में स्थित इन्द्र, वरुण, अग्नि आदि देवताओं के नियामक है। 'उपश्रिताः=नियन्तृरूपेण स्थिताः।' इन नियामकों के द्वारा हमारी रक्षा हो, अर्थात् कोई भी देवगण हमारे विरोधी न बनें। वस्तुतस्तु शितिकण्ठ से ऐसे जीवन्मुक्त संगृहीत हैं जो भूमिकारूढ होकर मौन रहकर प्राणियों का कल्याण कहते हैं। नीलग्रीव से उनका संग्रह है जो लोकसंग्रह में प्रवृत्ति करते हैं, तथा उपदेश आदि से उपकार करते हैं। इन जीवन्मुक्त लाकसंग्रहियों में अविवेकी लोगों को अविद्यालेश से मायाविता की प्रतीति होती है। हम सामान्य प्राणी दोनों के अनुग्रह को प्राप्त करें। कोई ऐसी भूल न हो कि वे हमें दण्ड दें।

●

५७

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधःक्षमाचराः

तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ।।

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
नीलग्रीवाः शितिकण्ठाः शर्वा अधःक्षमाचराः

जो अधः क्षमाचराः, भूलोक के नीचे पातालादि के ईश्वरों के ईश्वर शर्व हैं उनसे रक्षा की प्रार्थना है। इस प्रकार भूमि व द्युलोक में रुद्र रूप की, अन्तरिक्ष में भवरूप की, व निम्नलोकों में शर्व रूप की प्रधानता प्रतिपादित की गई। रुद्र में सत्वगुण की, भव में रजोगुण की, व शर्व में तमोगुण का प्रवृत्तियाँ आती हैं। तीनों गुणों पर शिवशासन अमोघ है, यह भाव है। जीवन्मुक्त की सभी प्रवृत्तियाँ शिवेच्छा से होती हैं यह यहाँ स्पष्ट है।

●

५८

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
ये वृक्षेषु शष्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि॥
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
ये वृक्षेषु सस्पिञ्जरा नीलग्रीवा विलोहिताः।

इस प्रकार महेश्वर रूपों का वर्णन करके अब पृथ्वी पर जो रुद्र के रूप जीव के पापों के फलस्वरूप दुःख पहुँचाते हैं उनसे कृपा की प्रार्थना करते हैं। वृक्षों में जो बालतृण रूप से, तथा लालरूप से रहने वाले नीलग्रीव हैं, वे हमारी रक्षा करें। वृक्षों में अनेक प्रकार के विष हैं। उनके अधिष्ठाता से प्रार्थना है कि वे विष हमारे रोगों के नाशक बनें, रोग उत्पाक नहीं। दो प्रकार के वर्णन से जो भेद किया गया है वह विज्ञान का विषय है। यहाँ तो रक्षा की प्रार्थना प्रधान होने से अधिक विस्तार नहीं करते हैं।

●

५९

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

ये भूतानामधिपतयो विशिखासः कपर्दिनः ।

जो यहाँ मानवों के मार्गदर्शक परमहंस व वानप्रस्थी हैं वे हमारे रक्षक हों, हमें युक्तिजाल व भ्रम फैलाकर पथभ्रष्ट न करें। जीवन्मुक्त की दृष्टि में भौतिक आकर्षण का त्याग ही योग बन जाता है। साधना के दोनों रूप हैं। वह तो सदा शिव प्रेम में मस्त रहता है। एतदर्थ प्रार्थना है। इसके बाद कृष्ण यजुर्वेद में 'ये अन्नेषु' आदि मंत्र है। शुक्ल यजुर्वेद में क्रम भिन्न है।

●

६०

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा आयुर्युधः ।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

ये पथां पथिरक्षय ऐलबृदा यव्युधः ।

जो मार्गों में मार्गरक्षकों के अधिष्ठाता, व मार्ग में अन्नदायक हैं, एवं आयु के नाशक हैं वे हमारे रक्षक रहें। प्रचारक को नित्य भ्रमण करना

पड़ता है अतः वह भ्रमण आयुनाशक न होकर आनन्ददायक रहे यह भाव है। अन्य प्रतिबन्धक दूर हों, यह तो स्पष्ट ही है। अथवा वैदिक धर्म्म मार्ग के रक्षक सदाव्रत क्षेत्रादि मे अन्नदान, तथा औषधिदान करते रहें तथा इस मार्ग के बाधक सफल न हों। कृष्ण यजुर्वेद के पाठ 'यण्युध' में तो पापियों के निरोध का भाव है। अर्थात् सदाचारी पुण्य में प्रवृत्त हों अन्नादि का भोग करें, पापियों का निरोध हो।

●

६१

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—
ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकाहस्ता निषङ्गिणः
तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वनि तन्मसि ॥
कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—
ये तीर्थानि प्रचरन्ति सृकावन्तो निषङ्गिणः।

खुकरी व असि धारण करने वाली जो रुद्रमूर्तियां तीर्थों की रक्षा करती हुई घूमती हैं, वे हमारी रक्षक बनें। यह नागा संन्यासियों के अखाड़ों का स्पष्ट निर्देश है। यहाँ 'तीर्थ' से उनके गुरु परमहंसों को भी कहा गया है। प्रचारक परमहंसों का रक्षण आज तक नागा ही शस्त्रधारी बनकर करते हैं। इस प्रकार धर्म रक्षा में शस्त्र का प्रयोग जीवन्मुक्त के लिये वेदविहित भी है।

●

६२

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

ये अन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान् ।

पाप फल स्वरूप जो प्राणी अन्न, पान तथा पीने के पात्रों में विद्यमान रह कर बाधा करते हैं वे हमें रक्षित करें। यहाँ स्पष्ट ही कीटाणुओं से होने वाले रोगों का, जो खानपान के द्वारा आते हैं, निर्देश है। भाष्यकृत् 'क्षुद्रत्वेन गूढत्वेनावस्थितः' कहकर और भी इस बात का स्पष्ट प्रतिपादन करते हैं। वस्तुतः लोकसंग्रही का निरन्तर भ्रमण होने से, एवं भूमिकारूढ का शरीर रक्षण की ओर ख्याल न होने से, इस प्रकार के रोगों की बहुलता स्वाभाविक है। अतः प्रार्थना है। वैसे सामान्य व्यक्ति भी प्रमाद के कारण इनका शिकार बनता है, अतः प्रार्थना उचित ही है। अन्नपान की शुद्धि रखें यह भाव भी है। शैव इसीलिये शौचाचार का पालन करता है।

●

६३

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

य एतावन्तश्च भूयाँसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेषाँ सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

य एतावन्तश्च भूयाँ् सश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे ।
तेषाँ् सहस्रयोजनेऽवधन्वानि तन्मसि ॥

जो इनसे भिन्न और भी अनन्त रुद्र सभी देश व कालों में व्याप्त होकर स्थित हैं वे सभी हमारे रक्षक हों। शिवगणों की कहीं सीमित गिनती न समझ ली जावे, अतः जाने बेजाने सभी से रक्षा की प्रार्थना है। शिवगणों की पूरी कोटियाँ समझना मानो विश्व के सभी नियामकों को जान लेना है, जो असम्भव है।

६४

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमोऽस्तु रुद्रेभ्यो ये दिवि येषां वर्षमिषवः। तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दशप्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु ते नोऽवन्तु ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्च नो द्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

नमो रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येऽन्तरिक्षे ये दिवि येषमन्नं वातो वर्षमिषवस्तेभ्यो दश प्राचीर्दश दक्षिणा दश प्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तेभ्यो नमस्ते नो मृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्चनो द्वेष्टि तं वो जम्भे दधामि ॥

स्वर्गस्थ देवरुद्रों को नमस्कार करते हैं। वर्षा ही इनके बाण हैं अर्थात् अतिवृष्टि अनावृष्टि तथा सुवृष्टि के ये ही कर्त्ता हैं। उनको नमस्कार क र

को हम अपनी दसों अंगुलियाँ क्रम से पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर तथा ऊपर को करते हैं। प्रणाम में दसों अंगुलियों का प्रयोग सर्वथा समर्पण का प्रतीक है। व्यवहार में भी यही है। अंग्रेजों में हाथ उठाना (hands up) जैसे शरण (surrender) का रूप है, वैसे ही वैदिक परम्परा में हाथ जोड़ना है। जीवन्मुक्त सभी रुद्र हमें ज्ञान की वर्षा से तृप्त करें। हम उनका कुछ भी उपकार करने में असमर्थ हैं। अतः उपनिषदों में प्रतिपादित नमस्कार ही करते हैं, यह भाव है। ज्ञान वर्षा हमारी साधना के अधिकार से न कम हो न ज्यादा, यह भाव है। वे रुद्र हमारी रक्षा करें। वे हमें सुखी करें। हमारे ऊपर काम्य पदार्थ व मुक्ति पथ की वर्षा सदा होती रहे। जिनसे हम द्वेष करते हैं, व जो हमसे द्वेष करते हैं, उन्हें तुम्हारी जम्भे=जंभाई में=फाड़े मुंह की दाढ़ों में, दध्मः डालते हैं अर्थात् उन्हें तुम खा जाओ। सर्वथा वे अदृष्ट हो जावें। काम, क्रोधादि वृत्तियाँ हमारे आत्मस्वरूप व उसके ज्ञान से द्वेष करती हैं, एवं हम भी उनसे द्वेष करते हैं। वे सर्वथा नष्ट हो जावें यह भाव है। 'वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशंति' आदि गीता इसमें प्रमाण है। कालकूटभक्षण तथा भैरव मूर्तियाँ मुँह फाड़े हैं। पाप सर्वथा आप में लीन होकर बाधित हो जाये यह वेदान्त रहस्य है।

कृष्ण यजुर्वेद में तो इसी मन्त्र में 'पृथिव्यां, अन्तरिक्षे दिवि', तीनों को कहा है, पर शुक्ल यजुर्वेद में एक-एक के अलग-अलग मन्त्र हैं।

●

६५

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमोस्तु रुद्रेभ्यो येऽन्तरिक्षे येषां वात इषवः तेभ्यो दशप्राचीर्दश दक्षिणा दशप्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वाः। तेभ्यो नमो अस्तु तेनो वन्तु तेनोमृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्चनोद्वेष्टितमेषां जम्भे दध्मः॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[मन्त्र नही]

अन्तरिक्ष में वायु विकार प्रयुक्त रोगों के बाण वाले रुद्र हैं। आज के वातदूषक पदार्थों की अधिकता (environmental conscious age) के युग में तो यह सर्वथा स्पष्ट है। जीवन्मुक्त योग का सम्यक् प्रतिपादन करें यह भाव है। अतः योगाचार्यों को भी नमस्कार है।

●

६६

शुक्ल यजुर्वेद माध्यन्दिन शाखा—

नमोस्तु रुद्रेभ्यो ये पृथिव्यां येषामन्नमिषवः तेभ्यो दशप्राचीर्दश दक्षिणा दशप्रतीचीर्दशोदीचीर्दशोर्ध्वास्तेभ्यो नमो अस्तु तेनो वन्तु तेनोमृडयन्तु ते यं द्विष्मो यश्चनोद्वेष्टि तमेषां जम्भे दध्मः ॥

कृष्ण यजुर्वेद तैत्तिरीय शाखा—

[मन्त्र नहीं]

पृथ्वी लोक में हिंसा का साधन अन्न ही है। अपथ्य भक्षण, अतिभक्षण, अभक्षण आदि रोगोत्पादक हैं। इसी के निमित्त लोग चोरी आदि भी करते हैं। इन सबसे हमारी रक्षा हो। अन्न से मन बनता है। अतः भाष्यकार के मत में तो सभी भोग्य अन्न पद के वाच्य है। अतः कामादि विकारों से रहित असंग भाव से भोग करके हम दोषों से मुक्त रहें। इस प्रकार निष्काम कर्म के उपदेशक जीवन्मुक्त आचार्यों को नमस्कार है। दश से कायिक, तेभ्यो से मानस, नमो से वाचिक नमस्कार साम्प्रदायिकों ने यहाँ माना है। यहीं नमकाध्याय समाप्त है। वैद्यगण तो वर्षा से कफ, अन्न से पित्त व वात से वायु रोगों का ग्रहण करते हैं।

कृष्ण यजुर्वेद में 'त्र्यम्बकं यजामहे०' आदि विशेष मंत्र भी हैं।

इस प्रकार इस अतिसंक्षप्त रुद्राध्याय के विचार से भी सुस्पष्ट हो जाता है कि यह वेदान्त का संक्षिप्त, काव्यात्मक, अतिभावुक, पर पूर्णरूपेण प्रतिपादन है। पाठक इन अर्थो पर गम्भीरता से विचार करेंगे तो साधना के अनेक गूढ रहस्य स्वतः स्पष्ट होते जावेंगे। समय समय पर आगे के मंत्रों की भी इसी प्रकार विस्तृत, पर साधना केन्द्रित, व्याख्या प्रस्तुत होती रहेगी।

इस ग्रन्थ के टंकणकर्त्ता श्री मदनलाल खट्टर (वर्तमान में श्री स्वामी महानन्द गिरि) रहे है। उनके निःस्वार्थ प्रयत्न के बिना यह असम्भव ही था। भूमिका के प्रेरक श्री सोमजी रहे हैं। मुद्रणार्थ लेख मुद्रणालय में गुम ही गया होता यदि श्रीमान् मधु एवं श्रीमती मिलन जी एकान्त भाव से अन्वेषण न करते। निष्कामभाव से इसका मुद्रण करने का श्रेय उन्हें है। आगरा युनिवर्सिटी प्रेस ने अत्यन्त सुन्दर मुखपृष्ठ तैयार किया एवं सुरुचिपूर्ण संशुद्ध ग्रन्थ छापा। इन सभी को हम हार्दिक आशीर्वाद देते हैं कि वे शिव के प्रिय गण बनकर सदा ही शिव सन्निधि प्राप्त करें। इतिशम्

आबू, — भगवत्पादियो

मकर संक्रान्ति, ११९२ शंकरान्द। — **महेशानन्द गिरिः**

७-२-७५

ॐ

रुद्राध्याय के प्रथम मंत्र की व्याख्या

ॐ नमः ते रुद्र ! मन्यवे उत उत ते इषवे नमः ।
बाहुभ्याम् उत ते नमः ॥१॥

हे रुद्र ! तुम्हारे मन्यु=रूठे हुये रूप को नमन हो एवं पुनः तुम्हारे बाण को नमस्कार हो तथा तुम्हारी दोनों भुजाओं को नमस्कार है।

वैदिक देववाद यद्यपि एकात्मवाद पर आधारित होने से वहुदेववाद कभी भी नहीं रहा, पर ध्यानार्थ विहित मूर्त्तियों में एवं प्रकृति के नियामकों तथा महापुरुषों में एकता का दर्शन करने वाले ऋषियों के अभिप्रायों से अनभिज्ञ अनेक लोक बहुदेववाद के भ्रम में अवश्य पड़े। इनमें से कुछ तो स्वाभाविक रूप से अन्य मतवादों की तरह अपने इष्टदेव को ही महादेव समझ बैठे तो कुछ अन्य महादेव को ही देव समझ बैठे। ऐन्द्र, गाणपत्य आदि प्रथम के दृष्टान्त हैं तो आग्न, भागवत आदि द्वितीय के। इसी से वैदिक अर्थ अस्पष्ट हो पड़े। अतिप्राचीन काल के मोहन्जादाड़ो आदि के ध्वंसावशेषों में शिवलिंग तथा पशुपति मूर्त्तियाँ इस वात का प्रमाण हैं कि यही प्राचीनतम ध्येय व अर्च्य रूप थे। तव से अब तक अखण्ड रूप से शिवलिंगपूजा प्रचलित है। शिवपूजा के समान प्राचीन काल में अन्यदेवपूजामूर्त्तियों के अभाव से यह स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक तथा परवर्ती काल में प्रायः बुद्ध के एक सहस्र वर्ष पूर्व तक अन्यदेवपूजा प्रचलित नहीं हो पायी थी।

संभवतः भारतेतर देशों में इसके प्रचलन के बाद ही भारत में इसका प्रचलन बाहुल्येन हुआ हो। पर यह सब दृढ़प्रमाणों के आधार पर नहीं निर्णीत किया जा सका है।

इस देववाद के फलस्वरूप पुराणों में महादेव का भी देव-स्वरूप से वर्णन किया गया तथा संहारक देवता के रूप में वे प्रतिष्ठित किये गये। परन्तु वैदिक अध्ययन के समय यह पौराणिक रूप जितना मन से दूर किया जा सकेगा उतना ही रुद्राध्याय का अर्थ स्पष्टतर हो पड़ेगा। वैदिक साहित्य में तो रुद्र के उग्र या घोर तथा सौम्य या अघोर शिव दो रूप मिलते हैं। अग्नि घोर है व सोम शिव। अग्निषोममय ही सारा विश्व है। रुद्राध्याय में प्रधानतः शिवरूप से प्रार्थना है कि हमें घोर रूप का दर्शन न हो।

मन्यु का अर्थ रूठना या मान करना है। यह मानों पीठ दिखा-कर मुख छिपाना है। शिव की पीठ होने से सत्, चित्, आनन्द रूप वाले होकर भी वे असत्, जड, दुःखरूप प्रतीत हो रहे हैं। यही घोर रूप है। यह भी शिव ही है, पर अशिवरूप से प्रतीत हो रहा है, शिव के अज्ञान से। अज्ञान शिवाश्रित तथा शिवविषयक होने से शिव से भिन्न सत्ता वाला नहीं है। अतः उससे भी प्रार्थना है कि वे अपनी अज्ञान शक्ति को, तिरोधान शक्ति को, ज्ञान शक्ति से, आविर्भावशक्ति से, करुणाशक्ति से दूर कर दें। इस करुणाशक्ति को अवरुद्ध करता है हमारा 'अहं'। अतः नमः से इस अहं को त्यागने का संकल्प किया जा रहा है। ते=तुम्हारे लिये। अहं का त्याग रुद्र की ज्ञप्ति के निमित्त कर रहा हूँ यह भाव है। अर्थात् तुम्हारे जगद्रूप=मन्यु को नमस्कार करता हूँ कि वह तुम्हारे स्वस्वरूप का दर्शन करने दे। जैसा भाष्यकार भगवान् शंकर कहते हैं कि देवताओं को प्रसन्न करके ही शिव-दर्शन सम्भव है अतः शन्नो मित्रः आदि मंत्रों से उनकी प्रार्थना की जाती है। इसी प्रकार यहाँ नामरूपात्मक अविद्या से प्रार्थना है कि नामरूप की निवृत्ति करे जिससे शिवदर्शन हो सके। नामरूप के बाध विना

आत्मदर्शन सम्भव नहीं। पुनः शिव से प्रार्थना है कि 'मैं'पने को तुम्हारी प्राप्ति के लिये छोड़ रहा हूँ। 'अहं' नहीं (त्याग) तव ब्रह्मास्मि (भाग) इस प्रकार की भागत्यागलक्षणा यहाँ बताई गई है। ब्रह्मप्राप्ति वास्तविक नहीं। क्योंकि जीव प्राप्ति भी वास्तविक नहीं। भ्रांति से अहं को जीव समझकर जीवात्मैक्य रूपी बंधन था। ज्ञान से भ्रांति नष्ट होकर नित्य स्थित अहं की ब्रह्मरूपता प्रकट हो जायगी, यह भाव है।

इस अहं का त्याग कैसे किया जाय ? इषु=बाण बन कर। जीव ही बाण है, पर कब ? जब 'शरं उपासानिशितं सन्धयीत' बने। उपासना से तेज किया बाण ही शिव के हाथों के योग्य होता है। इसी रुद्राध्याय के अन्त में 'येषां वर्ष इषवः' 'येषां वात इषवः' 'येषां अन्नं इषवः' कहकर रुद्रभक्तों को तीन कोटि में बाँटेंगे। द्युलोक के रुद्रभक्त वर्षा के जल अर्थात् निर्मलचित्तरूपी जल को निरंतर शिवाकार बनाकर उपासना करते हैं। अंतरिक्ष के वात अर्थात् प्राणायामादि योगाभ्यास से उपासते हैं। एवं पृथ्वीलोक के भक्त अन्नमय अर्थात् शरीर की क्रिया से शिवोपासना करते हैं। प्रथम देह से, फिर प्राणों से तथा अन्त में मन से इस प्रकार उपासना क्रमों का निरूपण किया जायगा। स्थूल दृष्टि से आचार तथा यज्ञ आदि कर्मकाण्ड, बाह्यपूजा इत्यादि प्रथम है। योगाभ्यास आदि से मानसपूजा, चक्रोत्थान आदि मध्यम हैं तथा वेदान्त विचार व निदिध्यासन अन्तिम है। इस प्रकार उपासनाओं से निशित ही शिव के भुजाओं द्वारा ग्रहण किया जायगा।

'नमः' का उच्चारण भी 'यज्ञो वै नमः' इस शातपथी श्रुति से यज्ञ है। अर्थात् वाणी से उच्चारण व साष्टांगदण्डवत्प्रणाम करने पर वाह्यपूजा, मन से अपने को शिव का समझने से आन्तर-पूजा, तथा 'अहं' के द्रष्टा रूप से अहं का त्याग करने पर अध्यात्म-पूजा सिद्ध हो जाती है। भगवान शंकर तो इसीलिये कहते हैं कि देह में जन्म इस बात का प्रमाण है कि पूर्व जन्मों में शिव को

नमन नहीं किया। इस जन्म में नमन कर लिया अतः पुनर्जन्म सभंव नहीं। इसलिये हे शिव दोनों पूर्व तथा अपर के अनमनरूपी अपराध को क्षमा कर देना। तात्पर्य है कि एक जन्म में ही नमस्कार संभव है। इसीलिये रुद्राध्याय में शतशः नमः का प्रयोग हुआ है। इसका पाठ भो पूर्ण साधना है यह भाव है।

महर्षि जैमिनि इसी मंत्र के प्रथम पाद को स्पष्ट करके कहते हैं 'नमस्ते रुद्रभावाय नमस्ते रुद्रकेलये। नमस्ते रुद्रशान्त्यै च नमस्ते रुद्रमन्यवे।' अर्थात् रुद्रभाव की प्राप्त्यर्थ अर्थात् शिवात्मैक्य में स्थित्यर्थ में शिव के खेलने वाले जीव जगद्रूप को भी नमन है। इस घोर रूप की शान्ति के लिये नमन है। ये सभी नमस्ते रुद्रमन्यवे का तात्पर्य स्वीकार्य है।

८-२-७५

परमेश्वर के मन्यु रूप का विचार किया, और प्राण अर्थात् उपासना के द्वारा जो तेज कर लिया गया है, सान पर चढ़ा लिया गया है अर्थात् बाण वनने की जिस जीव में योग्यता आ गई है, उसका विचार किया गया। अब उस बाण को जिन भुजाओं से छोड़ा जाता है, उन भुजाओं के ऊपर विचार करेंगे। कृष्ण यजुर्वेद में रुद्राध्याय की तैत्तिरीय शाखा के तृतीय चरण में "नमस्ते अस्तु धन्वने" के अनुसार यहाँ धनुष का भी वर्णन है। लेकिन यहाँ शुक्ल यजुर्वेद का विचार कर रहे हैं, इसलिये धनुष का प्रसंग नहीं है। फिर भी उपनिषद् रूपी धनुष के ऊपर उपासना के द्वारा निशित किया हुआ (तेज बनाया हुआ) बाण चढ़ रहा है। उसको चढ़ाने वाली दो भुजायें हैं। 'वाहुभ्यां' द्विवचन का प्रयोग है, क्योंकि जव धनुष छोड़ा जाता है तो उसमें बायाँ और दायाँ दोनों हाथ काम करते हैं, इसीलिये द्विवचन का प्रयोग किया। उपनिषद्रूपी धनुष के ऊपर परमेश्वर की भुजाओं के द्वारा चढ़

सकते हैं, क्योंकि उपनिषद् वेद का ही ज्ञानभाग है। इसीलिये उपनिषद् के अन्दर प्रवेश, उपनिषद् के अन्दर मनुष्य का ठीक प्रकार से समावेश करना, केवल गुरु के द्वारा श्रवण करके ही बनता है। वेद को हमारे यहाँ इसीलिये श्रुति कहा है कि "श्रूयत इति श्रुति:" अर्थात् जो गुरु के मुख से सुनी जाये। अपने मन से वेद आदि शास्त्रों का अध्ययन करके उनका ठीक-ठीक प्रकार से अर्थ समझना सम्भव नहीं है। जव वेद के अन्दर प्रवेश किया जाता है, तभी यज्ञोपवीत इत्यादि कर्म किये जाते हैं। इसीलिये यज्ञोपवीत के विना वेद आदि सच्छास्त्रों में प्रवेश नहीं बनता। आजकल लोग कई बार शंका करते हैं कि किताब खरीदकर पढ़ने से ज्ञान होगा। बनारस संस्कृत विश्वविद्यालय के एक प्रधानाचार्य मिस्टर आर्थर वेनिस वेद और संस्कृत के विद्वान थे। उन्होंने एक बार पंडित शिवकुमार शास्त्री से कहा कि मुझे गायत्री मंत्र बता दीजिये। उन्होंने कहा कि तुम्हें इसका अधिकार नहीं है क्योंकि जब तक यज्ञोपवीत के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाये, तब तक कोई इसका अधिकारी नहीं वनता। आर्थर ने कहा कि मुझे यज्ञोपवीत दे दो। शास्त्रीजी ने कहा कि ऐसे यज्ञोपवीत नहीं मिलता। उन्होंने पूछा—कैसे मिलेगा। शास्त्रीजी ने कहा—तुम प्रयाग में जाकर अक्षयवट से कूदकर गङ्गा-यमुना के संगम में अपने प्राण छोड़ो। उसके वाद अगले जन्म में तुम द्विज के घर में उत्पन्न होगे, तब तुम्हारा यज्ञोपवीत संस्कार होगा और तब तुम गायत्री को ठीक से समझोगे। आर्थर विद्वान तो थे ही, उन्होंने कहा कि मैं आपको इसी जन्म में गायत्री सुना देता हूँ और उन्होंने झट गायत्री बोल दी। शास्त्री जी बोले कि तुमने गायत्री की जिस ध्वनि का उच्चारण किया, वह मंत्र नहीं है। समान उच्चारण करने मात्र से वह गायत्री हो जायेगी, ऐसा कुछ नहीं है, क्योंकि एक ही चीज यदि अधिकार के द्वारा उच्चारण की जाती है तो कुछ और फल होता है, बिना अधिकार के उच्चारण करने से उसका कुछ और ही फल होता है। उन्होंने

एक दृष्टांत से समझाया। एक राजा था। उसके मन में भी यही प्रश्न आया कि अधिकार अनधिकार क्या है ? उसको समझाने के लिये उसके मित्र ने बड़े जोर से कड़क कर चोपदार से कहा कि राजा को पकड़ कर जेल में बंद कर दो। शब्द वही थे जो राजा बोलता था। चोपदार उसका मुंह देखता रहा कि वह क्या बक रहा है। उसकी इस प्रकार की चेष्टा को देखकर राजा को भी क्रोध आ गया और कहा कि इसे पकड़ लो। यह कहने के साथ ही वह झट उसके हाथ पकड़कर बांधने लगा। मित्र ने कहा कि यही वाक्य मैंने भी कहा था, तुमने भी कहा है लेकिन तुम्हारे बोलने से झट असर हो गया, हमारे बोलने से कोई असर नहीं हुआ। वाक्य वही है, तुम बोल रहे हो तो अधिकार के साथ बोल रहे हो, मैं बिना अधिकार के बोल रहा हूँ। सर्वत्र ही नियम है कि यदि अधिकारपूर्वक बोला जाता है तो असर होता है। जिसके मन में त्याग की पूर्णता है वह जब किसी को कहता है कि यह संसार वस्तुत: पोल है, ग्रहण करने योग्य नहीं है, धोखा ही धोखा है, तो उसके हृदय में वैराग्य के अनुभव के आधार पर उसे यह कहने का अधिकार है। उसके सामने बड़े से बड़ा व्यक्ति जो भोगी हो सकता है, नम्र पड़कर कहता है कि आप ठीक कहते हैं। लेकिन जिसके अन्दर खुद भोगाभिलाषा हो, वह यही बात कहता है तो उसका कोई असर नहीं होता। इदानीं काल में भी देखा गया है कि लालबहादुर शास्त्री ने एक बार कहा था कि अन्न की कमी को देखते हुए सोमवार का व्रत रखना चाहिए। हजारों व्यक्तियों ने उस दिन से सोमवार का व्रत प्रारम्भ कर दिया क्योंकि वह खुद सोमवार का व्रत करते थे। वैसे ही आज भी रोज यही कहा जा रहा है कि तुम अन्न की जगह कुछ और खा लो लेकिन जब कहने वालों को देखते हैं तो उनकी तौंद रोज बढ़ती जा रही है। उनसे सुनकर किसी से व्रत नहीं रखा जाता है। सबके मन में यही होता है कि इनके कहने का कुछ महत्त्व नहीं है। इसी प्रकार शिवकुमार

शास्त्री ने कहा कि तुम जो बोल रहे हो वह साधिकार न होने से फल को उत्पन्न नहीं करेगा। गायत्री का फल बहुत बड़ा है। अपनी बुद्धि को सर्वथा परमेश्वर के अधीन कर देना है। 'य: न: धिय प्रचोदयात्' हे परमेश्वर ! तुम हमारी बुद्धि को प्रेरित करो, इसके अन्दर तुम्हारे सिवा और कोई विचार न आये। बुद्धि में प्रेरणा उठाने वाले तुम ही हो। इसीलिये गायत्री का इतना प्रभाव हमारे शास्त्रों में बताया गया है, क्योंकि मनुष्य की बुद्धि यदि ठीक हो गई, उसकी बुद्धि का निर्णय ठीक हो गया, तो बाकी चीजें अपने आप ठीक हो जायेंगी। बुद्धि ही मनुष्य के जीवन की सारथि है। कठोपनिषद् में कहा है "बुद्धिं तु सारथिं विद्धि शरीरं रथमेव तु। इन्द्रियाणि हयान्याहुः... ..." शरीर को एक रथ मानकर कल्पना की गई है। इस शरीररूपी रथ में इन्द्रियांरूपी घोड़ों से, मन रूपी लगाम के द्वारा चलाने वाली बुद्धि सारथि है। महाभारत में इसी गायत्री 'धियो यो न: प्रचोदयात्' को सामने रखने के लिये भगवान कृष्ण को साक्षात् सारथी बना कर रखा है। अर्जुन ने उन्हें सारथि बनाया। जिस प्रकार किसी भी चीज में अधिकार की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार उपनिषदों के धनुष के ऊपर चढ़ने के लिये जिन भुजाओं के द्वारा चढ़ा जाता है, जिसके द्वारा इस अधिकार की प्राप्ति होती है, वे भुजायें गुरु और दीक्षा हैं। धनुष चलाते समय दायाँ हाथ, जो शक्तिमान हाथ है, वह तो पीछे रहता है और बायाँ हाथ आगे होता है। अविचार से देखने पर लगेगा कि बाण बायाँ हाथ छोड़ रहा है. लेकिन विचारवान् जानता है कि असल में जितनी शक्ति से दायाँ हाथ खींचेगा, उतना ही बाण तेज चलेगा। इसी प्रकार दीक्षा के पीछे शक्ति गुरु की है। 'बाहुभ्यां' में दक्षिण हाथ गुरु और बायाँ हाथ दीक्षा है। दीक्षा का प्रभाव दीखता है लेकिन शक्ति गुरु की है। आचार्य सर्वज्ञात्ममहामुनि तो यहाँ तक कहते हैं कि शास्त्र भी अनादि काल से आज तक थे, वेद अनादि हैं, परमेश्वर भी अनादि काल से आज तक था,

लेकिन अनादि काल से रहने वाले परमेश्वर ने भी हमारे जन्ममरण, के चक्र को नहीं हटाया, अनादि काल से रहने वाले शास्त्र ने भी नहीं हटाया। जन्म-मरण को हटाया गुरु ने, इसलिये जहाँ तक हमारे मोक्ष का सम्बन्ध है, उसमें गुरु ही प्रधान हैं। यदि कभी किसी वीर को बाण छोड़ते हुए देखा है या महाभारत आदि ठीक प्रकार से पढ़े हैं तो याद होगा कि अच्छे बाण को जब कोई महारथी धनुष पर चढ़ाता है तो पहले बड़े प्रेम से उस पर हाथ फेरता है, क्योंकि उसी अस्त्र से ही तो उसे काम करना है। बाण को विशिष्ट मंत्रों के द्वारा पूजित किया जाता है, इसलिये उसे बड़े प्रेम का विषय माना जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी तेज किया हुआ बाण इन भुजाओं के द्वारा बड़े प्रेम से उठाया जाता है। गुरु का शिष्य के प्रति अहैतुक प्रेम है। संसार में जितना भी प्रेम देखने में आता है उसमें साक्षात् या परम्परा से कहीं न कहीं कोई न कोई स्वार्थ निहित होता है, और जब कभी उस स्वार्थ पर आपत्ति आती है तो प्रेम ढीला पड़ने लगता है। पत्नी को पति पर चाहे जितना प्रेम हो, लेकिन जिस दिन व्यापार ढीला पड़ जाये और पति कहे कि मैं तेरे गहनों को बाजार में बेच देता हूँ तो काम बिगड़ जाता है। पत्नी को लगता है कि सारा प्रेम गाड़ी के चक्के में छिद्र होने की तरह फिस्स हो गया है। कहती है—आज तक तुमने क्या-क्या गहने बनवा दिये जो आज माँग रहे हो। उसे सारी सूची उसी दिन याद आती है। चाहे जितना प्रेम हो, कहीं न कहीं उसके अन्दर स्वार्थ या प्रयोजनीयता रह जाती है। पिता और पुत्र का प्रेम बड़ा जबरदस्त प्रेम माना जाता है। पिता सब कुछ पुत्र को देना चाहता है। फिर भी जिस दिन पुत्र सचमुच कुछ दबाले, तो पिता दुःखी होता है कि क्या कर रहा है। जब तक न दबाये तभी तक सब कुछ उसे देना चाहता है। नहीं तो मन में आता है कि अभी मेरे जीते जी ही यह हाल है। सारा प्रेम ढीला पड़ जाता है। गुरु का प्रेम निर्हेतुक होता है। इसका क्या कारण है ? संसार के किसी भी

पदार्थ की जिसको किंचित् भी कामना है, वह कभी भी उपनिषदों के तत्वज्ञान को दूसरों को नहीं बतायेगा। उपनिषदों के द्वारा पहला काम होता है कि अपने हृदय में संसार के प्रति जितनी आसक्तियाँ हैं वे ढीली पड़ जाती हैं। यह पहला काम है। वैसे षद् धातु के तीन अर्थ होते हैं—विषरण अर्थात् ढीला पड़ना, गति अर्थात् आगे जाना और अवसादन अर्थात् नष्ट होना। उपनिषद् इन तीनों को बताता है। उपनिषदों में प्रवृत्ति होने पर पहला ही फल होता है कि संसार के पदार्थों से मन ढीला हो जाता है। हम तो कई बार लोगों को इसलिये कहते हैं कि वेदान्त श्रवण करोगे तो परमेश्वर मिलेगा या नहीं, यह हम नहीं कहते। यह तो इस पर निर्भर करता है कि आगे तुम कितना प्रयत्न करोगे। 'सह वीर्यं करवावहै' गुरु शिष्य दोनों प्रयत्न करें तो दृढ़ ज्ञान होता है। इसीलिये परमेश्वर मिलेगा या नहीं, यह हम नहीं कहेंगे। लेकिन यह जरूर कह सकते हैं कि संसार का मजा हम तुम्हारा किरकिरा जरूर कर देंगे। संसार में जैसा रस पहले आता था, वह उपनिषदों के श्रवण के बाद नहीं आयेगा। भोग भी कर लोगे, पदार्थों को कमा भी लोगे, लेकिन जो भी काम कर लोगे, उसके बाद एक प्रश्न हृदय में आयेगा कि इसे पाकर हुआ क्या ? ततः किं ततः किं ? उपनिषदों के श्रवण के पहले मनुष्य के मन में यह प्रश्न ही नहीं आता। उसको तो लगता है कि आज यह कमा लिया, कल वह कमा लूँगा। इसके सिवा और उसके मन में प्रश्न ही नहीं उठता। उल्टा होता है कि आज इसे दबा लिया, कल उसे दबा लूँगा। उपनिषदों को सुनने के बाद यह प्रश्न हृदय में बार-बार आता है 'ततः किं ततः किं ?' इससे लाभ क्या हुआ ? फिर उसके बाद यदि उपनिषदों में कही हुई उपासना करेगा तो गति होगी। परमेश्वर की तरफ गति हो जायेगी और यदि उपनिषदों में कही हुई बात को ठीक-ठीक प्रकार से साक्षात्कार कर लेगा तो अवसादन अर्थात् यह संसार बन्धन हट जायेगा। संसार के पदार्थों की जिसके हृदय में कामना बनी हुई है, वह उपनिषद् का उपदेश तुम्हें कर ही नहीं सकता। इसलिये संसार की किसी चीज

की उसको हेतुता नहीं रहती। परमेश्वर को उसने प्राप्त कर लिया है, इसलिये परमेश्वर की भी हेतुता नहीं रही। गुरु इसीलिये जब तुम्हें तत्वज्ञान देता है तो निर्हेतुक देता है, बिना किसी प्रयोजन के देता है। जहाँ कोई प्रयोजन नहीं होता, वहीं सच्चा प्रेम हुआ करता है, क्योंकि प्रेम में प्रयोजन नहीं होता है। प्राय: लोग इस चीज को गड़बड़ कर देते हैं। संसार में किसी मतलब से किये हुए अच्छे प्रिय व्यवहार को प्रेम नाम से कहा जाता है। किसी भी मतलब से आदमी यदि तुमसे मीठा व्यवहार करता है तो लोक में उसे प्रेम कहते हैं। इसीलिए जब हम किसी के सच्चे प्रेम के व्यवहार को भी देखते हैं तो उस वासना से वासित अन्त:करण के निमित्त से हम समझते हैं कि इसके अन्दर भी कोई मतलब होगा। यहाँ तक कि लोग तो परमेश्वर के प्रेम में भी मतलब की कल्पना करते हैं। अपनी पूजा कराना चाहता है, इसीलिये तो वह भक्ति चाहता है। नास्तिक जो ऐसा कहते हैं उसके पीछे भावना यही है। परमेश्वर का या गुरु का निर्हेतुक प्रेम इसलिये होता है कि उसे जिस पदार्थ, परमात्मा, की प्राप्ति करनी थी, वह तो उसने प्राप्त कर लिया, और संसार के किसी अन्य पदार्थ की कामना उसे है नहीं। इसीलिये वह सबसे पहला उपदेश त्याग का करेगा क्योंकि त्याग ही एक चीज है जो मनुष्य को आगे ले जाती है। 'वैराग्यस्य फलं बोधो बोधस्योपरति: फलं' भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद लिखते हैं कि वैराग्य का फल बोध है। जब बोध हो जाता है तो उपरति आती है। इस वैराग्य के शिक्षण को लोग पहले प्रेम नहीं समझते। जैसे बाण को जब उठाया था तो मारने वाले ने बड़े प्रेम से उठाया था, बड़े प्रेम से उस पर अपना हाथ फेरा। लेकिन प्रेम से हाथ फेरने के बाद उसे रख नहीं दिया। वह तो उसे छोड़ना है। बाण के मन में आयेगा कि इसे प्रेम होता तो अपने पास रखता। मुझे अपने से दूर क्यों करता। बाण के मन में यह आना स्वाभाविक है। इसी प्रकार जब गुरु शिष्य को प्रेम करता है और प्रेम करके वैराग्य की बात बताता है तो शिष्य को लगता है कि यदि

इन्हें मुझसे प्रेम होता तो मुझे संसार की कोई चीज देते। यह तो उल्टा वैराग्य का उपदेश करके जिन चीजों को मैं लेने आया था उन्हें भी छोड़ने को कह रहे हैं। लगता है कि इन्हें मुझसे प्रेम नहीं है।

दक्षिण भारत में जाजूमल नाम का एक सेठ था। बहुत बड़ा और सफल व्यापारी था। विदेशों में जाकर बड़ा धन कमाया करता था। साथ ही साथ उसे अजीबोगरीब चीजों को लाने का भी शौक था। विचित्र विचित्र चीजें लाया करता था। लोग जानते थे, इसलिये कोई भी विचित्र चीज हो, वह उसे उसके पास लाते थे क्योंकि वह उसके पूरे दाम दे देता था। एक बार वह किसी देश में गया हुआ था तो किसी ने उसे एक तोता दिया। सेठ ने पूछा कि इस तोते का क्या महत्त्व है। उसने कहा कि इससे जो राय पूछोगे, वह ठीक ही देगा, इसकी कही हुई बात गलत नहीं होगी, यही इसकी विशेषता है। उसका दाम उसने एक लाख रुपया बताया। पुराने जमाने का लाख रुपया समझना। सेठ को शौक तो था ही, उसने वह तोता खरीद लिया। अब उसने उस तोते से कभी-कभी कोई बात पूछनी शुरू की। प्रयोग किया और देखा कि जो बताता है, वह ठीक हो जाता है। घूमते-घूमते व्यापार करके वापस अपने शहर में गद्दी पर पहुँच गया। व्यापारी होने के नाते जब उसने दस बीस चीजों में तोते के निर्णय को ठीक पाया तो अब उससे व्यापार की सलाह भी लेने लगा। जो कुछ भी बात पूछनी होती, सस्ती महंगी के बारे में या कहाँ से सामान मंगाये, कहाँ बेचें, सब में उसकी राय ठीक निकलने लगी। सेठ उसे और प्रेम से रखने लगा। धीरे-धीरे यह हाल हो गया कि व्यापार की कोई भी बात हो, झट उसी से पूछे और जैसा वह तोता कहे, वैसा करले। फायदा भी उसे खूब होने लगा। सारे मुनीम उस तोते के घोर दुश्मन बन गये। वे सोच-समझकर कोई सौदा लायें कि सेठ को इसमें फायदा है तो सेठ उनसे पूछे कि तुम्हारी योजना क्या है, और फिर उनसे कहे कि अब

आगे कुछ कहने की जरूरत नहीं, कल बताऊँगा। वह जाकर तोते से पूछे। मुनीम सोचें कि इस सेठ की कैसी बुद्धि है, कुछ समझाओ, इसकी समझ में ही नहीं आता। तोता ही मालिक बना बैठा है। इसमें मुनीमों का कुछ नुकसान भी हो जाता था। जानते ही हो कि कभी बिकवाल से तो कभी खरीदार से कमीशन मिल जाया करता है। कभी सौदा ठीक हो गया तो सेठ खुश होकर दे देता था। तोते के आने से सब मामला ढीला हो गया। तीन-चार साल बीत गये। एक बार किसी व्यापार के सिलसिले में सेठ जी का विदेश जाना जरूरी हो गया क्योंकि ज्यादा व्यापार विदेशों में चलता था। सेठ जाते हुए कह गया कि मेरे पीछे सब काम तोते से पूछकर करना। अब मुनीमों के मन में और भी गुस्सा आया। सेठ जाजूमल तो विदेश में व्यापार करने चला गया। इधर जब तोते के हाथ में सारी ताकत आई तो उसने विचार किया कि अब स्वतन्त्र होकर क़ाम करना है। तोते ने कहा कि बहुत बड़ी जमीन खरीदो। चार-पाँच हजार एकड़ जमीन खरीदवा दी। मुनीमों ने कहा कि सेठ ने आज तक खेती आदि का काम नहीं किया, हमें भी यह काम नहीं आता है। मुनीम डरते थे कि खेती का काम करने कहाँ धूप में जायेंगे। जब जमीन खरीद ली गई तो तोते ने कहा कि उसके अन्दर कुम्हड़ा बो दो। सब कहने लगे कि इतनी जमीन खरीदवाई है तो इसमें तिलहन, चावल आदि कोई फायदे की चीजें बुवाते, कुम्हड़े से क्या होगा। तोते ने कहा कि तुम्हें बीच में बोलने का कोई हक नहीं है। मुझे सेठ का व्यापार देखना है कि तुम लोगों की बात सुननी है। कुम्हड़ा बो दिया गया, तैयार हो गया तो मुनीमों ने कहा कि इतना कुम्हड़ा एक साथ तो बिकेगा नहीं, थोड़ा-थोड़ा बिके तो तोते ने 'न' कह दिया। कुम्हड़ा पक गया तो मुनीमों ने कहा कि अब तो पूरा पक गया है। तोते ने कहा—वहीं रहने दो। कुछ दिन बाद लोगों ने कहा कि सड़ने लगा है। कहा—सड़ने दो। धीरे-धीरे सारा कुम्हड़ा सड़ गया। मुनीम आपस में बातें करने लगे कि अच्छा हुआ, सेठ को पता तो लगेगा कि तोते

के विश्वास का क्या फल होता है। वरसात का मौसम आ गया। तोते से पूछा कि सारा सड़ गया है तो अब इसमें गन्ना वो दो। गन्ना बो दिया गया। जब गन्ना तैयार हो गया तो लोगों ने आकर कहा कि गन्ना तंयार हो गया। किसी गुड़ वनाने वाले को दें या इसकी खाण्ड बना दें या गन्ने रूप में ही बेच दें। तोते ने पूछा—बिल्कुल तैयार हो गया है तो एक भी गन्ना नहीं तोड़ना और सारे को आग लगा दो। मुनीमों ने कहा—कुछ तो सेठ पर दया कर। एक खेती सड़ा दी, दूसरी को जलाने को कहता है। सेठ वापस आकर कहेंगे कि यह तो पक्षी की जात थी, मुनीमों, तुम तो कुछ सोचते। तव हम क्या जवाव देंगे। तोते ने कहा—सेठ जी कह गये हैं कि तुम मेरी बात के अनुसार चलना। गन्ना जला दिया गया। लोगों ने कहा—अच्छा हुआ। सेठ ने हममें से किसी का विश्वास नहीं किया। अब उन्हें भी पता लगेगा। आकर तोते को खवर दी कि सारा गन्ना इकट्ठा करके जला दिया है। अब क्या करना है। तोते ने कहा कि उसकी सारी राख गोदाम में भर कर रख दो। उन लोगों ने कहा कि राख को यहाँ लाकर क्या करेंगे। तोते ने कहा कि यह सब मुझे तुमसे नहीं पूछना है। लाकर रख दो और ताला बन्द कर दो और चावी लाकर मेरे पिंजड़े में बन्द कर दो। मुनीम चाबी लेकर आये और कहा—ले चावी, वड़ा धन इकट्ठा किया है।

सेठ के वापस आने का समय हो गया। दो चार साल तक निरन्तर तोते की सलाह से कार्य करते-करते सेठ की भी व्यापार करने की और सोचने की शक्ति क्षीण हो गई थी। यह नियम है कि किसी भी शक्ति का प्रयोग नहीं करोगे तो धीरे-धीरे वह शक्ति क्षीण होती जायेगी। गांव में पाँच चार मील चलना कोई चलना नहीं माना जाता है। घर से निकलकर रहट पर नहाने गये, वाहर ही जंगल मैदान गये, सबेरे शाम यह करने में पाँच चार मील घूम लेते हैं। कोई गिनती नहीं है। उसे कोई घूमना नहीं मानेगा। जव कलकत्ते में पाँच-सात साल रह लेते हो तो विक्टोरिया का आधा

मील का चक्कर लगाकर कहते हैं कि रोज वाकिंग (घूमने) को जाते हैं। वह घूमना नहीं है क्योंकि आदत नहीं रही। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा 'अनभ्यासे विषं विद्या' जिस विद्या का अभ्यास नहीं करोगे वह अन्त में विष के जैसी हो जाती है। कई वर्षों से उस सेठ ने व्यापार के बारे में खुद नहीं सोचा था इसलिए उसकी सोचने की शक्ति क्षीण हो गई थी। इसीलिये जहाँ-जहाँ विदेशों में गया, वहाँ-वहाँ उन्हें घाटा ही घाटा हुआ। व्यापारी और विद्वान का एक नियम है। विद्वान कहीं जाये और उसे बार-बार हारना पड़े तो उसका स्वभाव चिड़चिड़ा हो जाता है। व्यापारी चाहे करोड़पति हो लेकिन यदि सौ-सौ रुपया भी रोज घाटा होने लगे तो उसका स्वभाव भी चिड़चिड़ा हो जाता है। करोड़पति को भी सौ रुपये से फरक पड़ता है। दस रुपए का भी फायदा हो तो उसका मन कुछ शान्त होता है। सेठ जाजू का स्वभाव भी विदेश में घाटे से चिड़चिड़ा हो गया, वापस आकर सारे मुनीमों को बुलाकर कहा कि हिसाब-किताब समझाओ। उन्होंने कहा कि हमसे हिसाब-किताव कैसे पूछ रहे हो, तोते से ही पूछो। सेठ ने कहा कि तोते से क्या पूछूं, तुमने तोते के अनुसार किया, लेकिन हिसाव तो तुम ही बताओ। उन्होंने कहा—सुनिये, दुःखी मत होइये। आप जितना रुपया छोड़ गये थे, उससे तोते ने पाँच हजार एकड़ जमीन खरीदवा दी है। उसका हिसाब शान्ति से सुनिये, कहीं हृदवरोध न हो जाये। सेठ ने कहा कि तोता बात तो ठीक बताता है। जमीन में फायदा हुआ होगा। मुनीमों ने वताया कि पहले उसमें कुम्हड़ा बुवाया और सारा सड़वा दिया। सेठ ने कहा कि इसमें भी उसका कुछ मतलब रहा होगा। मुनीमों ने कहा कि फिर उसने उसमें ईख बुवाया लेकिन वह भी सारी जलवा दी और उसकी राख गोदाम में रखवा दी है। आपके जाने के वाद नफा-नुकसान का यह हिसाब है, बही क्या दिखायें। सेठ का स्वभाव तो चिड़चिड़ा हो ही गया था। वार-वार के नुकसान से उसके हृदय में दुःख था। कहने लगा—इस तोते ने किस जन्म का वदला निकाला है। मैंने इसे अच्छी तरह खिलाया,

सोने के पिंजड़े में रखा। लेकिन इसने तो मेरा सत्यानाश कर दिया। घर गया, तोते ने कहा—आओ, सेठ जी। सेठ ने उससे कहा—शरम नहीं आती, तुमने किस जन्म का बदला निकाला है। यह कहते ही तोते को पिंजड़े से निकालकर उसकी गर्दन मरोड़ दी और गुस्से में भरे हुए लौटे। तू भी इस राख में जा, ऐसा कहकर जैसे ही उसे राख में फेंका, वह तोता सोने का बनकर तुरन्त उड़ कर पेड़ पर पहुँच गया। जाजू यह देखकर आश्चर्य-चकित रह गया। तोते ने कहा—कम से कम मेरे से पूछना तो चाहिये था। मैंने तो ठीक प्रकार से ठीक नक्षत्रों में ऐसी चीज बुवाई कि इसमें तू जो चीज डाल देगा, सोने की बन जायेगी। आगे मुझे इस राख के द्वारा ऐसी चीज तैयार करनी थी जिसके सेवन से तू अमर हो जाता। लेकिन तेरी निर्बुद्धि को देखकर मैंने यह निर्णय किया है कि तू इस लायक नहीं है। अब सेठ हाथ जोड़कर कहने लगा कि आप वापस आ जाओ। तोते ने कहा कि इतने वर्षों में तुमने हमारा प्रभाव देखा। फिर भी तुमने मुझे बिना पूछे मारा, नहीं रहूँगा। सेठ ने उस भस्मी से खूब सोना बनाया। यह दृष्टान्त है। सेठ जाजू की तरह जीव है। जीव के मन में होता है कि हमको सब प्रकार की चीजों की प्राप्ति हो। जैसे वहाँ सेठ को एक लाख रुपये से तोता प्राप्त हुआ वैसे ही यहाँ पर भी जब जीव के पुण्यों का उदय होता है तो इसे तोता रूपी गुरू की प्राप्ति होती है। गीता में भी भगवान ने अर्जुन से कहा "उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्वदर्शिन:" तत्वदर्शी ज्ञानी लोग जब समय आयेगा, तब तुमको तत्वज्ञान का उपदेश करेंगे। समय आयेगा अर्थात् जब अनेकों जन्मों के पुण्य संचित होते हैं, तभी गुरू की प्राप्ति होती है। जब गुरू की आज्ञा के अनुसार मनुष्य पहले पहल चलता है तो उसे संसार के पदार्थों की प्राप्ति हो जाती है। गुरू के ऊपर ज्यादा भार छोड़ता है तो वह सोचते हैं कि इसका कल्याण करें। पहले गुरू शिष्य को कहता है कि कुम्हड़ा बोवो। मनुष्य शरीर रूपी यह क्षेत्र है। इस क्षेत्र में

कर्म रूपी कुम्हड़े को बुआता है। जब इसमें कर्मों का फल तैयार हो जाता है तो शिष्य पूछता है कि इस कर्म के फल का क्या करना है ? गुरू कहते हैं—इसके फल को मत ले, यहीं सड़ जाने दे। कर्म तो कर लेकिन कर्म के फल का त्याग कर दे, उसे वहीं खतम हो जाने दे। जब कर्म फल का त्याग कर देता है तब इसी क्षेत्र में जो अन्त:करण है, उसमें गन्ना वोया जा सकता है। भक्ति में रस होता है, मिठास होती है। कर्म तो कुम्हड़े की तरह बड़ा विशाल, लम्बा चौड़ा है। जब भक्ति रूपी गन्ना वो देता है तो शिष्य कहता है कि गन्ना तो तैयार हो गया, अन्त:करण में भक्ति आ गई अब क्या करूँ ? गुरू कहता है कि इस भक्ति के द्वारा जो सुख का अनुभव होता है, उसे भी राख बना दे। 'नास्वादयेत्' क्योंकि भक्ति के रसास्वाद में रह गया तो परमात्मा को नहीं पा सकता। भक्ति से अपने को प्रसन्नता होने पर प्रेम नहीं आयेगा। इसलिए उस रस को भी अपने लिये मत ले, जल जाने दे। इस प्रकार जब दोनों चीजें खत्म हो गई तो जीव मन में सोचता है कि इन्होंने तो कर्म के फल का त्याग कराया भक्ति के रस का भी त्याग करवाया। यह तो मेरे जीवन को शून्य बनाना चाहते हैं। कच्चा जीव घबरा जाता है। कर्म और भक्ति का जिसने इस प्रकार फल छोड़ा है तो ब्रह्मलोक की प्राप्ति तो उसे निश्चित होनी है। आगे गुरू कहता है कि इसी कर्म और भक्ति के त्याग से, वैराग्य से, तू मेरे साथ आगे चलता तो ज्ञान रूपी अमरता का फल पैदा करवाता। जब मनुष्य कर्म और उपासना के त्याग को देखता है तो पहले पहल उसे लगता है कि हाथ से सब गया लेकिन गुरू पहले वैराग्य का उपदेश इसीलिए देते हैं कि उसके द्वारा ही अमरता को प्राप्ति सम्भव है। इसीलिये पहले वैराग्य का उपदेश और फिर उसके द्वारा ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। लेकिन जाजूमल की तरह वैराग्य से घबराना नहीं चाहिए। गुरू प्रेम के द्वारा तुम्हारा कल्याण करने के लिये तुम्हें उपदेश कर रहे हैं। गुरू और दीक्षा दो भुजायें हैं। इनके द्वारा किस प्रकार कार्य होता है, इस पर आगे विचार करेंगे।

६-२-७५

परमेश्वर की दो बाहुओं का वर्णन करते हुए बताया कि दक्षिण बाहु गुरू है और वाम बाहु दीक्षा है। गुरू का विचार कर अब वाम भुजा दीक्षा का विचार करेंगे। इन्हीं दो भुजाओं के द्वारा उपनिषद् रूपी धनुष पर चढ़ा उपासना के द्वारा निशित जीव रूपी बाण अपने लक्ष्य परमेश्वर को प्राप्त करता है। यह मंत्र का शब्दार्थ है। वस्तुत: मानव किसी भी चीज को जब तक देखता नहीं तब तक उसके अन्दर रहने वाला ज्ञान भी दबा रहता है, छिपा रहता है। मनुष्य और अन्य प्राणियों का जब विचार करते हैं तो पता लगता है कि गाय का बच्चा पैदा होते ही कुछ मिनटों में अपने पैरों पर खड़े होकर गाय के स्तनों को खुद पीने लगता है। मछली का बच्चा पैदा होकर तुरन्त तैरने लगता है। इसी प्रकार अन्य-अन्य पशुओं को देखने से पता लगता है कि उनके अन्दर निहित ज्ञान, जिसे आजकल के लोग इंस्टिक्ट (Instinct) कहते हैं, वह स्वत: ही काल आने पर प्रस्फुटित हो जाता है। परन्तु मनुष्य के विषय में ऐसा नहीं है। यदि पैदा हुए बच्चे को माता स्वयं उठाकर स्तनपान न कराये तो वह मिट्टी का लोथड़ा सा पड़ा रोता रहेगा, स्वयं स्तन नहीं पी सकेगा, न स्वयं पैरों पर खड़ा हो सकेगा, न स्वयं किसी भाषा का अध्ययन कर सकेगा। यह मनुष्य के अन्दर विशेषता है कि शिक्षा देने पर यह सब कुछ बन सकता है। यदि ठीक प्रकार की सीख इसको मिले तो मनुष्य से देव भाव को प्राप्त कर सकता है, गलत शिक्षा इसको मिले तो यह राक्षस भाव को प्राप्त कर सकता है। ऐसा और कहीं भी सम्भव नहीं है। बाकी जितने भी प्राणी हैं, बाकी जितनी भी योनियाँ हैं, उनके अन्दर निहित ज्ञान (Instinct) को ही प्राप्त किया जा सकता है। मनुष्य की ही यह विशेषता है कि यह देव भी बन सकता है, राक्षस भी बन सकता है, क्योंकि इसके अन्दर जितने निहित ज्ञान भी हैं, वे जब

तक उसको सिखाये नहीं जायें, तब तक प्रकट नहीं होते। ज्ञान तो वहाँ विद्यमान है लेकिन वह विद्यमान ज्ञान बिना शिक्षा के स्फुट नहीं होते, प्रकट नहीं होते। लोक में अनेक पदार्थ ऐसे होते हैं जिनके अन्दर स्वभाव से उनका गुण प्रकट होता है, कुछ होते हैं जो स्वभाव से प्रकट नहीं होते। जैसे पानी के बहने के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। पानी स्वतः बहता है। इसी प्रकार लकड़ी का जलना भी स्वाभाविक ही है, लेकिन जब तक लकड़ी को तुम प्रयत्न पूर्वक रगड़ो नहीं, तब तक उसमें ही छिपी हुई आग पैदा नहीं होगी। इसी प्रकार से दूध को रख दो, उसमें हाथ डालो तो हाथ पर चिकनाई आ जाती है। दूध के अन्दर घी का जो हिस्सा है, वह दूध में बिना प्रयत्न के हाथ डालने पर भी हाथ पर लग जाता है। यदि दूध को पड़ा रहने दो तो दो-चार घण्टे में अपने आप उसके ऊपर मलाई वाला हिस्सा आ जाता है जिसे क्रीम कहते हैं। पर तिलों के अन्दर अपना हाथ चाहे घण्टा भर रखे रहो, लेकिन हाथ में चिकनाई नहीं आयेगी। तिल में भी तेल है लेकिन केवल तिल में हाथ डालने से चिकनाई नहीं आयेगी जब तक कि उन्हें पेरा नहीं जायेगा। दूध में छिपा हुआ घी बिना प्रयत्न के भी प्रकट हो जाता है। लेकिन तिलों में तेल रहने पर भी बिना प्रयत्न के प्रकट नहीं होता। इस प्रकार देखते हैं कि संसार में दो प्रकार के पदार्थ हैं। एक में जो भी गुण वहाँ छिपा हुआ है, वह बिना प्रयत्न के प्रकट हो जाता है, दूसरे में बिना प्रयत्न के प्रकट नहीं होता है। ठीक इसी प्रकार पशु-पक्षियों के अन्दर जो ज्ञान निहित है, छिपा हुआ है, वह बिना प्रयत्न के ही प्रकट हो जाता है। परन्तु मनुष्य में जो निहित ज्ञान है, वह जब तक शिक्षा के द्वारा उद्दीप्त न किये जायें, शिक्षा के द्वारा जब तक उसे तेजस्वी न बनाया जाये, तब तक प्रकट नहीं होता। मनुष्य के अन्दर अनेक प्रकार के निहित ज्ञान हैं। उनमें से कुछ ज्ञान अगर मौका न मिले तो कभी प्रकट नहीं होते। सारे का सारा हमारा भारतीय शिक्षा

शास्त्र इसीलिये संगवाद पर जोर देता है। मनुष्य के मन को जिस प्रकार का संग प्रारम्भ से अन्त तक मिलता रहेगा, मनुष्य वैसा ही बनता रहेगा। अच्छे संग से मनुष्य देवता बन जायेगा, बुरे संग से मनुष्य राक्षस बन जायेगा। इसी दृष्टि से हमारे यहाँ बार-बार संग पर जोर दिया गया क्योंकि संग के द्वारा ही मनुष्य का निर्माण होता है। शिक्षा के द्वारा मनुष्य के गुण प्रकट होते हैं। अब शिक्षा और दीक्षा में कुछ फरक है। है तो दीक्षा भी एक प्रकार की शिक्षा हो, लेकिन फिर भी दोनों में कुछ फरक है। दीक्षा का तात्पर्य होता है किसी दिशा की तरफ मनुष्य को प्रवृत्त करना। शिक्षा अर्थात् जैसा पदार्थ है वैसा उसे सीखना पर दीक्षा अर्थात् उस शिक्षा में प्रयोजनीयता का आधान करना। आज हमारे सामने विद्यार्थियों में जो इतनी ज्यादा अनुशासनहीनता देखने में आती है, मनमर्जी काम करना इत्यादि प्रवृत्तियाँ देखने में आती हैं, उसको देखकर कई बार लोग सोचते हैं कि हमारे लड़के बिगड़ गये। किन्तु हम बराबर लोगों को कहते हैं कि हमारे लड़के बिगड़े नहीं हैं, इनको हमने बिगाड़ा है; क्योंकि हमारी जिन पाठशालाओं में, विद्याघरों में इनको जो शिक्षा दी जाती है, उससे शिक्षा तो मिलती है लेकिन उसमें दीक्षा वाले अंश को हमने बिल्कुल खत्म कर दिया है। उस शिक्षा के अन्दर कहीं भी हमने उनको प्रयोजनीयता का ज्ञान नहीं दिया कि तुम्हारा उद्देश्य क्या है। नन्हों से लेकर विश्वविद्यालय की शिक्षा तक तुम आचार्य होकर, वारिधि भी कर लो, कहीं यह नहीं सिखाया जायेगा कि इस संसार में क्या करने आये हो, इस समग्र जीवन का तुम्हारा उद्देश्य क्या है? यह हमने अपने बच्चों को नहीं बताया। जब उद्देश्य बताया ही नहीं गया तो हम क्या आशा करते हैं कि वह अपने आप उद्देश्य सीख लें। अपने आप मनुष्य को कोई भी चीज नहीं आती। यदि बच्चों को हमने कोई दीक्षा, कोई दिशा (Direction) बताई हो और फिर वह नहीं मानते तो हम समझते कि वे बुरे हैं। लेकिन जब हमने उन्हें सिखाया ही नहीं तो बच्चों

की क्या बुराई करें। हमने उन्हें एक ही बात सिखाई है कि स्कूल में क्यों पढ़ना है ? नहीं पढ़ेगा तो नौकरी नहीं मिलेगी, नौकरी नहीं करेगा तो पैसा नहीं कमायेगा। बस यह एक ही चीज हमने अपने बच्चों को सिखाई है। जब हम बच्चों को लोरी गाते हैं तो कहते हैं कि बेटा कलेक्टर या बैरिस्टर बनेगा, व्यापारी या करोड़पति बनेगा। बच्चों को लोरी से लेकर पूरी उमर होने तक यह एक ही चीज हमने सिखाई है। धन कमाने में कोई अच्छा रास्ता है और कोई बुरा रास्ता है, यह भी हम उन्हें नहीं सिखाते। उल्टा हम यह मानकर चलते हैं कि किसी भी मार्ग से सफलता प्राप्त करना है। "Nothing succeeds like success." किसी भी तरह से तुम्हार पास धन आ जाये, सफलता मिल जाये तो काम बन जाये। नतीजा इसका है कि बच्चे बिगड़े, नहीं उनको बिगाड़ा गया है। दीक्षा शिक्षा से इस दृष्टि से भिन्न है। शिक्षा में केवल पदार्थ ज्ञान दिया जाता है और दीक्षा के अन्दर दिशा बताई जाती है कि किस तरफ को जाना है, जीवन का क्या प्रयोजन है। आखिर हम इस मनुष्य शरीर में क्यों आये। आखिर जिस समाज में हम रहते हैं उस समाज से हमारा क्या सम्बन्ध है। जिस देश या राष्ट्र में हम रहते हैं, जिस मानव समाज के साथ हमारा सम्बन्ध है, उससे हमारा क्या सम्बन्ध है ? क्या हमारी जिम्मेदारी इसके ऊपर है ? इससे भी आगे चलकर कि इस समग्र सृष्टि को बनाने वाला जो परमेश्वर है, जो हमेशा बिना एक पैसा चार्ज किये दिन भर हमें सूर्य की रोशनी देता है, रात्रि में ठण्डक देता है, बिना जल दाय लिये दो महीने तक वर्षा देता है, हमको अपनी जीवन रक्षा के लिये वायु देता है, इन सब चीजों को देने वाले उस परमेश्वर के प्रति कभी जीवन में कृतज्ञता का भाव प्रकट करना सिखाया जाता है ? उल्टा जिस ढंग से हम अपनी कृतज्ञता प्रकट करते थे, प्रातःकाल उठकर हाथ में जल लेकर, हो सके तो लाल फूल नहीं तो फूल का पत्ता, कुंकुम, चंदन डालकर सूर्य को अर्घ्य देते थे 'दिवि सूर्य सहस्रांशो तेजोराशि जगत्पते' हे भगवान सूर्य ! आप दिन भर हमारे

ऊपर कृपा करेंगे, इसके लिये मैं और क्या कर सकता हूँ ? भारतीय परम्परा के अनुसार अपने से बड़े को अर्घ्य दिया जाता है, वह दे रहा हूँ, आपको पूज्य मान रहा हूँ, उस भाव को सर्वथा नष्ट करने के लिये कहते हैं कि पानी देने से क्या होता है ? अगर यहाँ दिया हुआ पानी सूर्य को मिल जाये तो नीचे के तल्ले में पानी दे दिया करो, आठवें तल्ले में मिल जायेगा, ऐसी-ऐसी कुतर्कना करते हैं। यह तो मान लिया गया कि सूर्य का तो काम है रोशनी देना, इसमें कृतज्ञता की क्या बात है। उसी चीज का रूप कुटुम्ब में और राष्ट्र में आया। पिता का काम ही है कि हमें पढ़ावें और कर्जा लेकर भी सूट बनाकर दें। पिताजी की किसी कठिनाई को न समझना एवं वृद्धावस्था में जब पिता कमाने में समर्थ नहीं हैं अतः बहिन की शादी की व्यवस्था करनी हो तो कहता है कि क्यों उन्होंने पैदा किया था ? हमारे अपने ही बच्चे बहुत हैं, बहिन की शादी कहाँ से करें। इस प्रकार की वृत्ति की चरम काष्ठा गत वर्ष हमको दिल्ली में हाईकोर्ट के एक जज ने बताई कि स्वामी जी ! इस हफ्ते तो हमने ऐसी बात सुनी है कि हद है। किसी विषय में माँ-बेटे का झगड़ा चल रहा था जिसमें माँ ने दुःखी होकर कहा कि यह सुनने के लिये मैंने तुझे नौ महीने पेट में रखा था, तो बेटा भरी अदालत में कहता है कि नौ महीने का भाड़ा ले ले, क्या जान लेगी। जज सत्संगी थे, कहने लगे कि शरम से मेरा सिर नीचे हो गया कि क्या करूं। क्यों यह दृष्टि बनती है ? जब सूर्य हमको बारह घण्टे रोशनी-गर्मी देता है, उसके प्रति थोड़ा सा अर्घ्य हमसे बर्दाश्त नहीं होता। कृतज्ञता के भाव को नहीं सिखाया गया, उसी का नतीजा घर में आया और यही नतीजा राष्ट्र में आया है। सरकार हमारे लिये अच्छे से अच्छा कुछ भी करे, करती है नहीं करती है, यह आप जानें, लेकिन जब वह करती है तो हमारा भाव बनता है कि यह तो सरकार का कर्तव्य ही है। इसमें उसने किया क्या। हमारे घर में दस साल तक कोई चोरी नहीं हुई। क्या मन में कोई कृतज्ञता आई कि हमारे घर

का संरक्षण दस साल तक चलता रहा। एक दिन चोरी हो गई तो कहने लगे क्या सरकार है? रक्षा की कोई व्यवस्था नहीं। उस समय दस साल की रक्षा याद नही रहती। एक दिन की असुरक्षा याद रहती है क्योंकि शिक्षा ही इस वात की दी गई कि कृतज्ञता किस वात की, करती है तो वह तो उसका कर्तव्य है। मैं उसके प्रति क्या करूं, यह भाव ही नहीं है। दीक्षा वह चीज है जो हमको जीवन में एक दिशा देती है। किस तरफ जाना है, इस चीज को सिखाती है। इस दीक्षा की प्राप्ति किस चीज से होती है? शिक्षा की प्राप्ति तो जो भी जिस चीज को जानने वाला है, उसके पास चले जाओ तो शिक्षा मिल जायेगी। लेकिन दीक्षा के लिये यजुर्वेद कहता है 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति' व्रत के द्वारा दीक्षा की प्राप्ति होती है। व्रत का मतलब होता है किसी चीज का वरण करना। वृ वरणे धातु से व्रत शब्द वनता है। जव हम किसी चीज का वरण करें, तभी दीक्षा मिल सकती है। जव तक हम नियमवद्धता में नहीं आयेंगे, जब तक वरण नहीं करेंगे कि हमको कहाँ जाना है, तव तक दीक्षा नहीं मिलेगी। मोटी भाषा में समझ लो कि रेल्वे स्टेशन पर जाकर यदि हमने यह वरण कर लिया कि हमको दिल्ली जाना है तो आगे वहाँ नियुक्त कार्याध्यक्ष तुमको दिशा या मार्ग वता सकेगा कि किस प्रकार जाओ। किस गाड़ी से सवेरे पहुँचोगे, किस में शाम को। साथ भाड़ा भी वता देता है कि किसमें भाड़ा कम और किसमें ज्यादा लगेगा। यह सारी वातें वह तभी वता सकता है जव पहले तुम वरण करो कि दिल्ली जाना है। यदि आप वहाँ जाकर कहो कि अभी मैंने निश्चय तो नहीं किया है कि कहाँ जाना है लेकिन आप रास्ता वताओ तो वह क्या वतायेगा? इसी प्रकार हमको अपने जन्म में कुछ वरण करना है। प्राचीन मर्यादाओं में तो जन्म ही हमारी वहुत-सी चीजों का व्रत वन जाता है। व्राह्मण के घर पैदा हुए तो अनेक नियमों का हमारे ऊपर वरण आ गया कि ये नियम करने हैं, ये नहीं करने हैं। क्षत्रिय हुए तो दूसरे नियम, वैश्य हुए

तो तीसरे नियम, शूद्र हुए तो चौथे नियम और अन्त्यज हुए तो पाँचवें नियम आ गये। ब्राह्मण को जब दिशा बताते थे तो देखते थे कि इसकी विद्या की अभिवृद्धि कैसे हो। वैश्य के लिये धन की अभिवृद्धि कैसे हो। शूद्र को बताते थे कि इसको भोग कैसे प्राप्त हों, आदि। फिर कुछ चीजें माता-पिता के द्वारा व्रत हो जाती थीं। हम ऋग्वेदी हैं तो हमें आश्वलायन शाखा का अध्ययन करना है या वैश्य हैं तो अपने यहाँ कपड़े का काम होता है। वातावरण के द्वारा वरण कि यह काम सीखना है। आज इन सब वर्णों में जो कठिनाई होती है उस पर फिर कभी विचार करेंगे। लेकिन हर हालत में जब तक नियम में बद्ध होने के लिये वरण नहीं करोगे तब तक तुमको दिशा कैसे बताई जाये। वह वरण चाहे पिता करे, चाहे माता करे। अथवा कई देशों में समग्र राज्य का भी एक वरण होता है। जैसे इंग्लैण्ड की यह पद्धति है कि समुद्र पर नियंत्रण ही सबसे बड़ी चीज है। इंग्लैण्ड एक छोटा सा टापू है। उन्होंने सोचा कि यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है इसलिये दूसरे देशों में जायेंगे तभी काम बनेगा। इतना बड़ा भारतवर्ष, पाकिस्तान, बर्मा, बंगलादेश, सीलोन ये सब तो उन्होंने एक दिन में छोड़ दिया, लेकिन भारतीय समुद्र के पाँच सात मील के छोटे-छोटे टापुओं को नहीं छोड़ा। अभी थोड़े दिन से अमरीका एक छोटे टापू पर कुछ कर रहा है तो हल्ला गुल्ला मच रहा है। छोटे-छोटे टापुओं को उन्होंने नहीं छोड़ दिया क्योंकि जानते हैं कि उनके द्वारा समुद्र का शासन रहेगा तो उनका शासन बना रहेगा। यह एक दृष्टिकोण है, वह चाहे कुटुम्ब से आये, चाहे राष्ट्र से अथवा चाहे जिस तरफ से आये। जब तक मनुष्य किसी नियम में बद्ध होने को वरण नहीं करता है तब तक उसे किधर जाने की दिशा दिखायें। लेकिन यदि यह निर्णय हो गया कि तुम्हें बम्बई जाना है तो आगे रास्ता बता सकते हैं। दीक्षा प्रयोजनीयता को लेकर है, किसी उद्देश्य को लेकर है, तुमको कहीं पहुँचाने के लिये है। कहाँ पहुँचना है, इसका निर्णय हो जाये

तो आगे रास्ता मिल जाये। इसलिये वेद कहता है 'व्रतेन दीक्षामाप्नोति'। अब दीक्षा के द्वारा वैदिक दृष्टि से जहाँ पहुँचना है उसे यहाँ 'वाहुभ्यां उत ते नमः' से कह रहे हैं। वैदिक शास्त्रों में तो बुद्धि का परमात्मा की तरफ जाना ही प्रधान उद्देश्य है। भिन्न-भिन्न वर्ण और भिन्न-भिन्न आश्रमों के द्वारा वैदिक धर्म तो यही शिक्षा देता है कि किस प्रकार बुद्धि परमात्मा की तरफ जाये। यही दृष्टिकोण है जो गायत्री में बताया है। जैसा पहले बताया था 'शेमुषी दक्षिणाप्रोक्ता' दक्षिणा अर्थात् परमात्मा की तरफ जाने वाली बुद्धि। हमारे यहाँ भगवान का जो रूप है, जिसका बहुत प्रकट रूप देखना चाहो तो अर्द्धनारीश्वर में प्रत्यक्ष है, अन्यथा वैसे भी दक्षिण भाग पुरुष भाग अथवा शिरोभाग और वाम भाग शक्ति भाग माना जाता है। इसलिये दक्षिणा अर्थात् जब शिव को, परमात्मा को विषय करना चाहो, तब वह बुद्धि दक्षिणा बुद्धि है। संसार को विषय करने वाली बुद्धि को वामा कहते हैं। दीक्षा वैदिक दृष्टि से परमेश्वर के अभिमुखीभूत करेगी। जब जीव अभिमुखीभूत होगा तो वास्तविक श्रद्धा आयेगी। कहने को हम सब भी श्रद्धालु हैं, परमेश्वर में श्रद्धा है, लेकिन वह काम चलाऊ श्रद्धा है। हमारे कमरे में लट्टू लगा है, जब उसका खटका दबाते हैं तो वह चम-चम करता है, स्थिर नहीं है। इसका कारण यह है कि लूज़ कान्टेक्ट है अर्थात् दो तार नज़दीक तो हैं लेकिन ठीक से जुड़े नहीं हैं, नजदीक होने के कारण कभी बिजली जोर मारती है, कनेक्शन पूरा हुआ तो रोशनी आई, फिर ढीला हुआ तो बुझ गई। कभी-कभी तो जहाँ सजावट करते हैं वहाँ इस प्रकार का जोड़ लगाया जाता है जो चम-चम करता है, उसमें प्रयत्नपूर्वक ऐसा बना दिया जाता है। हर हालत में एक क्षण में सम्बन्ध हुआ, दूसरे क्षण सम्बन्ध हट जाता है। इसी प्रकार हम लोगों की श्रद्धा है। एक क्षण में लगता है कि सचमुच परमेश्वर ही कर्मफल-को देने वाला है, वही सत्य है, संसार के पदार्थ तो व्यर्थ हैं। वह श्रद्धा का क्षण हुआ।

थोड़ी देर में कनेक्शन ढीला हो जाता है कि परमेश्वर क्या फल देगा, इस अफसर को पाँच सौ के नोट पकड़ाओ तो काम होगा। यहाँ फिर ढीला पड़ गया। जेठानी ने अपने लड़के को मलाई वाला दूध दे दिया। श्रद्धा का क्षण हुआ तो मन में आया कि यह तो प्रारब्ध के अनुसार है, जहाँ जो भोग मिलना है वह प्रारब्ध से मिलना है। वह कनेक्शन ढीला हो गया तो आज तो अलग होने का निश्चय करके ही सोना है। रोज बात टाल देते हैं, आज तो इस पार या उस पार। यह जो श्रद्धा है, इसका सम्बन्ध होता है, फिर टूटता है, फिर होता है। लेकिन जब दक्षिणा अर्थात् परमेश्वराभिमुखी प्रवृत्ति हो जाती है तो फिर यह सम्बन्ध कभी नहीं टूटता है और तब इस श्रद्धा की प्राप्ति होती है।

विद्यापति बंगाल के बहुत बड़े कवि और संत हुए हैं। उस समय बंगाल और बिहार, एक ही था। आज के हिसाब से वह मिथिला बन गया है लेकिन तब सारा बंग देश ही था। उनके गाँव के पास में एक तालाब था। उस तालाब के किनारे शिवप्रतिमा थी। विद्यापति बचपन से ही निरन्तर वहाँ जाकर भगवान के प्रेम में उनकी स्तुति करते रहते थे। बचपन से ही उनको वह संस्कार था। कई बार लोग कहते हैं—महाराज! परमेश्वर का भजन करना है तो हृदय में करना है। यह बाहर इतना करने की क्या जरूरत है कि मूर्ति रखो, शृङ्गार करो, चन्दन भस्मी लगाओ। भजन तो मन में करना है। बात बिल्कुल ठीक है लेकिन जिस मन में भजन करोगे, वह तो तुम्हें स्वसम्वेद्य है। तुम्हीं को पता है कि तुम भजन कर रहे हो। घर के दूसरे लोग कैसे सीखेंगे कि भजन करना चाहिए। यह समस्या बहुत बड़े क्षेत्र में आती है। पहले ऐसा होता था कि अपने यहाँ फैक्ट्री हो या कुछ हो समय-समय वहाँ पूजा होती थी। दीवाली हो या होली हो, उस समय सबके अन्दर यह भावना होती थी कि हम लोग पूजा करें। अब धीरे-धीरे वह सब कम होता गया। इसके कई कारण हुए। अब

दीवाली की पूजा भी गद्दी में ही कर ली तो हो गया और कहीं करने की क्या जरूरत है। इसी प्रकार से सभी पूजाओं में होता जाता है। बाह्य पूजा का उद्देश्य यही था कि यदि बाहर होती तो बच्चे और न समझने वाले भी उसे देखकर कुछ सीखते। नहीं तो वह स्वसंवेद्यता तुम्हारा लाभ तो करेगी लेकिन दूसरों का लाभ कैसे करेगी। शिक्षा के लिए इसकी आवश्यकता है। स्कूलों के अन्दर भी पहले जो निरन्तर प्रार्थना करवाते थे, उसका भी दृष्टिकोण यही है। अब पाश्चात्य देशों की नकल से एक नई चाल चली है। कोई बात हो तो कहते हैं कि दो मिनट का मौन रखो। कोई मर जाये तो भी कहते हैं कि दो मिनट का खड़े हो, मौन रखो। हमारी इसमें दो समस्यायें होती हैं। एक तो अपने यहाँ जब कोई काम या भजन करना हो तो भगवान बादरायण ने ब्रह्मसूत्र में कहा है कि बैठ कर करो। इस प्रकार खड़ंग-ध्यान का कहीं वर्णन नहीं आया, यह एक समस्या है। फिर एक व्यावहारिक समस्या यह है कि यदि कहीं किसी को गम्भीर ध्यान लग गया और वह लुढ़क गया तो क्या होगा? पहले हम सोचते थे कि ध्यान गम्भीर न हो जाय अतः देखते रहें। थोड़े दिन बाद रामकृष्ण परमहंस की बात याद आ गई। उस जमाने में ब्राह्म समाज बना था और केशवचन्द्र सेन उसके नेता थे। रामकृष्ण परमहंस से उनका बड़ा प्रेम था। एक बार राम-कृष्ण वहाँ पहुँचे तो वहाँ प्रार्थना हो रही थी। केशवचन्द्र ने कहा कि अब सब ध्यान लगाओ, परमेश्वर के अन्दर सब लीन हो जाओ। यह कहते ही सबने आँख बन्द कर लीं। बाद में रामकृष्ण केशवचंद्र से कहते हैं कि मैं यह देखता रहा कि अब सब लोग ध्यान में कैसे लीन होंगे। मेरे को लगा कि जैसे बंदर पेड़ पर चुपचाप बैठा हुआ सोच रहा हो कि कब लपक कर आम तोड़ूं, ऐसे ही तेरे शिष्य सोच रहे थे कि कब ध्यान खतम हो और हम अपने-अपने काम करें। कोई उस समय जूता खरीदने की सोच रहा था तो कोई कुछ और ही सोच रहा था। परमात्मा में लीन होता मेरे को तो कोई

दीखा नहीं। ठीक यही वात हमको उस मौन ध्यान में प्रत्यक्ष हो गई कि जैसे ही दो मिनट खतम हुए, सामने वाले ने कहा—अच्छा। और सवकी आँख खुल गई। यदि इसके वदले उन्हें कहा जाये कि अमुक ढंग से प्रार्थना करो, कुछ मुँह से बुलवायें तो वात कुछ समझ में आये। पूजा के अथवा प्रार्थना के बाह्य जितने चिह्न हैं, वे सब इसलिये हैं कि हमको ठीक-ठीक रास्ता मिल जाये।

विद्यापति वहाँ रहते थे और निरन्तर वाणेश्वर की प्रार्थना करते थे और वड़े भावुक हृदय से प्रार्थना करते थे। उनका हृदय अन्तः-करण शुद्ध था। धीरे-धीरे जवान हुए, लेकिन वह वृत्ति वढ़ती रही। संसार को चारों तरफ देखते थे तो दुःख रूप ही दीखता था। उस समय की एक प्रार्थना में उन्होंने लिखा है 'हे भोलानाथ दुःख ही जनम भएल' हे भोलानाथ! मेरे दुःख का हरण कव होगा? दुःख में ही इतने जन्म हुए। विचार करो कि जन्म लेकर हम क्या करते हैं। भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं 'मलमलिप्तवपुः नोशक्तश्चेन्द्रियेभ्यः' जन्म के वाद यही होता है कि मल से शरीर भरा हुआ है। यह नहीं समझ लेना कि पुराने जमाने में ही वच्चे मल में रहते थे, आजकल भी यही होता है। फरक यही किया है कि आज-कल नये ढंग का हाफ पेण्ट वच्चे को कस देते हैं। उसी में पेशाव टट्टी निकल कर इकट्ठी होती रहती है, बाहर नहीं निकलती है। जब फुर्सत मिलती है तो साफ करते हैं। फरक इतना हुआ है कि पहले कम से कम खुला होता था तो जल्दी साफ कर देते थे। उसको स्तन-पान की पिपासा होती है तो भी वह कुछ नहीं कर सकता है। मक्खी मच्छर को नहीं उड़ा सकता है। भिन्न-भिन्न प्रकार के रोग होते थे तो रोना ही उसके वश में है। कुछ भी हो; यही एक चीज कर सकता है, रो सकता है। विद्यापति कहते हैं कि यह जन्म मैं विता भी दुःख में ही रहा हूँ। सुख तो स्वप्न में भी मैंने नहीं देखा। किसी प्रकार से इस दुःख से मुझे छुड़ावें। अभी उनकी वयस् छोटी थी 'कौमारांते वयसि' उनकी प्रार्थना से भगवान शंकर वड़े प्रसन्न हो गये कि इस व्यक्ति

का कितना शुद्ध भाव है। अन्त में भगवान शंकर प्रेम के वश होकर एक दिन एक नौकर का रूप लेकर उसके पास आये और कहने लगे कि मैं तुम्हारे यहाँ काम करूँगा। उस जमाने में वचपन में विवाह हो जाता था। विद्यापति का विवाह हो गया था। उन्होंने देखा कि वड़ा सुन्दर वोलने वाला और देखने में भी बड़ा सुन्दर बच्चा है। देखते ही मन में बड़ा मोह हुआ कि अपने घर में रहे तो वहुत अच्छा है। लेकिन विद्यापति ब्राह्मण थे। पास में पैसा नहीं था। कहा— अच्छे तो लगे लेकिन नौकर रखूंगा तो वेतन कहाँ से दूंगा ? मेरे पास पैसा नहीं है। उसने कहा कि मुझे धन नहीं चाहिए, मुझे तो दो समय भोजन करना है। वड़े खुश हुए, लेकर घर आये। पत्नी से कहा कि यह लड़का अपने यहाँ काम करना चाहता है। पत्नी ने कहा कि यहाँ तो अपना ही खाने का हिसाब मुश्किल पड़ता है, उस पर एक नौकर और ले आये। लगता है तुम्हारे दिमाग में कुछ खपत है। विद्यापति ने कहा कि यह कहता है कि रोटी पर रह जाऊँगा। उसने कहा कि अपने रोटी ही कौनसो पूरी पड़ रही है, कोई जरूरत नहीं है। लड़के ने छोटा मुँह करके कहा कि एक ही बार खा लूंगा। अब विद्यापति ने पत्नी को डाँट कर कहा कि मान ले। एक समय हो ही जायेगा। भगवान जुगाड़ कर देंगे। वह लड़का काम करने लगा। वड़ी अच्छी सेवा करता था। उसका नाम उगना था। साल छः महीने निकल गये। एक दिन विद्यापति किसी काम से उस देश के किसी वड़े जमींदार के यहाँ गये तो उगना को भी साथ लेकर गये कि साथ रहेगा तो कुछ काम कर देगा। रास्ते में बड़ी गर्मी थी। चलते-चलते विद्यापति थक गये तो मार्ग में एक जगह पेड़ के नीचे लेट गये और उगना से कहा कि कहीं से एक गिलास पानी लाकर पिला दे। उगना गया और दो मिनट भी नहीं हुए लोटा भर पानी ले आया। पूछा—कहाँ से लाया ? कहा पास से लाया हूँ। पानी पिया तो उन्हें उसमें शुद्ध गंगा जल का स्वाद आया। पीकर आश्चर्य हुआ कि यह पानी कहाँ से लाया। उगना से कहा—यह किसी कुएँ के पानी का स्वाद नहीं है। चलूँ देखूँ कि कुँआ

कहाँ है। उगना ने कहा—जाने दीजिये। विद्यापति को और भ्रम हुआ, सोचा कि कोई भूत-प्रेत तो नहीं है? यह है कौन? जब बहुत जोर लगाया तो अन्त में उन्होंने कहा कि ले देख। सिर में ही जटा-जूट में गंगा थी। कहा—यह भेद किसी को बताना नहीं, नहीं तो मैं तुरन्त चला जाऊँगा। विद्यापति ने प्रतिज्ञा की कि किसी से नहीं कहूँगा। जो भी काम था, खतम करके घर आये। पत्नी ने बड़े प्रेम से स्वागत किया। जमींदार से धन आदि की प्राप्ति हो गई थी। पत्नी जरा प्रसन्न भी हुई। औरत धन से जल्दी प्रसन्न हो जाती है। लेकिन उसने एक दो दिन में देखा कि हर बात में उगना की ही बात करते हैं। उगना ने खाया पिया या नहीं आदि। उसे उगना से चिढ़ हो गई कि यह तो मेरी सौत जैसा हो गया। जितना ही विद्यापति उगना को प्रश्रय दे, उतना ही वह उसे ज्यादा कड़ो होकर डाँटे। विद्यापति ने उसे समझाया कि उगना का थोड़ा ख्याल रखा कर। एक समय हो भोजन करता है। कहने लगी—कुछ भी नहीं करता है। सारा काम तो मैं करती हूँ। एक दिन उसने उगना को साग लेने भेजा। वह वापस आया तो उसे डाटने लगी कि तू इतनी देर करके क्यों आया? उसने कहा कि अभी-अभी तो गया था, दो मिनट में आ गया हूँ, पता नहीं तुम क्यों उल्टी बात करती हो। यह सुनते ही वह उसे जलती आग की लकड़ी लेकर मारने दौड़ी। कहा—मुँह खोलकर मेरे से बात करता है? अब विद्यापति से नहीं रहा गया। उनके मुँह से निकल गया—अरी अधम क्या कर रही है? साक्षात् महादेव को मारेगी। इसके साथ ही उगना तो वहाँ से चला गया। जब तक विद्यापति लकड़ी छीनें उगना तो वहाँ से गायब हो गया। उसके बाद निरंतर विद्यापति प्रार्थना करते रहे कि हे उगना! तू मेरा होकर कहाँ चला गया। जब इस प्रकार प्रार्थना करते रहे तो अन्ततोगत्वा भगवान ने उन्हें दर्शन दिया और कहा कि कलियुग में साक्षात् दर्शन अल्प काल का ही होता है, दीर्घकाल का नहीं होता। इसलिए तू ध्यान के द्वारा अब अन्दर दर्शन कर।

जैसे विद्यापति के जीवन में हुआ ऐसे ही सबके जीवन में होता है। जब साधना करते हैं तो पहले पहल श्रद्धा आती है 'दक्षिणा श्रद्धामाप्नोति' जैसे उगना को देखकर, भागीरथी के जल को देखकर विद्यापति को दृढ़ अनुभूति हुई। केवल उसे ही नहीं, जो भी एकाग्र भाव से अपने को परमेश्वरार्पण करता है तो वही अनुभूति होती है। यही व्रत है। इसके द्वारा मनुष्य श्रद्धा तक पहुँचा। जब श्रद्धा पूर्ण होती है तो सत्य की प्राप्ति होती है। यहाँ स्वयं भगवान शंकर ने उगना का रूप लेकर दृढ़ दीक्षा का मार्ग बता दिया। जब साधना व्रत पूर्वक करते रहे, तब भगवान शंकर ने ठीक प्रकार का मार्ग बता दिया। जब तक हम जीव में व्रत धारण नहीं करते, तब तक दीक्षा की प्राप्ति नहीं होती। जैसे विद्यापति ने परमेश्वर की उपासना का व्रत किया, तब उन्हें मार्गदर्शन मिला। जब वह उगना चला गया तो उनकी वृत्ति सर्वथा शिवमुखी हो गयी और अंत में सत्य की प्राप्ति हुई। दूसरी भुजा दीक्षा के द्वारा मनुष्य परमात्मा की तरफ रास्ता पाता है। जब तक यह दीक्षा जीवन में नहीं आती तब तक मनुष्य का रास्ता सपष्ट नहीं होता है। शिक्षा में तो सामान्य रूप बताया जाता है। दीक्षा में किस मार्ग से हमको जाना है यह बताया जाता है।

१०-२-७५

ॐ

रुद्राध्याय के द्वितीय मंत्र की व्याख्या

या ते रुद्र शिवा तनूः अघोरा पापकाशिनी ।
तया नः तन्वा शन्तमया गिरिशन्त ! अभिचाकशीहि ।।२।।

पूर्व मंत्र में परमेश्वर के मन्यु अर्थात् मान करने वाले रूप का प्रतिपादन किया था । वहाँ मन्युरूप को नमस्कार था । यह जगत ही परमेश्वर का मन्युरूप है, यह वताया । फिर इस सृष्टि में जीव उपासना के द्वारा परमेश्वर की गुरू और दीक्षा रूपी भुजाओं के द्वारा उपनिषद् रूपी धनुष पर चढ़ने की सामर्थ्य प्राप्त करता है । जव इस प्रकार वह वाण वन जाता है तव परमेश्वर का कौन-सा रूप उसके सामने प्रकट होता है, उससे क्या फरक है, इसे यहाँ दूसरे मन्त्र के द्वारा वता रहे हैं । 'हे रुद्र ! जो आपका शिवा अर्थात् कल्याण का रूप है, वह कल्याणकारी रूप अघोर है । संसार का रूप तो घोर है, कष्टप्रद है, दुःख रूप है । आपका यह जो शिवा तनूः अर्थात् अघोर रूप है, कष्टप्रद नहीं है वह घोर संसार को नष्ट करता है । वह कल्याणकारी रूप कैसा है ? 'पापकाशिनी' पाप को काटकर दूर करने वाला है । आगे विचार करेंगे तव वतायेंगे कि यहाँ पाप और अपाप दोनों वताए गए हैं क्योंकि परमेश्वर धर्म और अधर्म दोनों का ही ज्ञान के द्वारा नाश कर देता है । विचारशील को जैसे पाप बंधन का हेतु है, वैसे ही अपाप अर्थात् धर्म भी वंधन का हेतु है । वह हमारे पाप अर्थात् जो कुछ हमको परमेश्वर से दूर करने वाला है, उसको नष्ट करने

वाला रूप है। हे गिरिशंत ! हिमालय पर्वत पर शयन करने वाले होने से उनको गिरिशंत कहते हैं। वह जो कल्याणकारी स्वरूप है, उसके द्वारा वह न केवल कल्याण करने वाले हैं, वरन् अत्यधिक कल्याण करने वाले हैं, जिससे और अधिक कल्याण करने वाला और कोई नहीं है। तर प्रत्यय का अर्थ दूसरे से ज्यादा, और तम प्रत्यय का अर्थ होता सवसे ज्यादा है। उस रूप के द्वारा आप हमारे सामने प्रकट हो जायें। 'अभिचाकशीहि' यहाँ दो सम्वोधन हैं—रुद्र और गिरिशंत। वाकी परमेश्वर के शिवातनु के प्राक्टय करने की प्रार्थना है और उसके द्वारा यह भी वताया गया कि परमेश्वर के साक्षात्कार से मनुष्य के सारे पाप नष्ट हो जाते हैं। यह मंत्र का वाक्यार्थ है। इसके पूर्व परमेश्वर के रूप को मन्यु कहा था और यहाँ अघोर कहा है। इसका विवेचन आज करेंगे।

परमेश्वर के दो रूप हैं—एक न्यायकारी और दूसरा, दयामय। दोनों रूप परमेश्वर के ही हैं। जैसे माता-पिता अपने वच्चे को दण्ड देते हैं तो कोई प्रसन्न होकर नहीं देते। वच्चे को दण्ड देते समय उनको स्वयं भी दु:ख होता है और वच्चे को भी दु:ख होता है। वच्चा इस वात को समझता नहीं, यह वात तो है लेकिन उनको भी दु:ख अवश्य होता है। जितना वच्चे को दु:ख होता है, उससे कुछ ज्यादा दु:ख माता-पिता को उसे दण्ड देने से होता है। दण्ड देना पड़ता है क्योंकि यदि दण्ड नहीं दिया जाये तो वच्चे का जीवन विगड़ जाये। जव यह वात साधारण माता-पिता के लिए सच्ची है तो 'मातृपितृसहस्रेभ्योऽपि वत्सलतरा श्रुतिः' जो हजारों माता-पिताओं से अधिक हमको प्रेम करता है, वह जव अपने न्यायकारी रूप से हमको दण्ड देता है तो वह इससे कोई खुश थोड़े ही हो सकता है। दण्ड देता है क्योंकि यदि दण्ड न दे तो पाप के द्वारा हमारा अन्तःकरण आक्रान्त हो जाये। पाप हमारे अन्तःकरण में इतना भर जाये कि इस संसार समुद्र से वाहर निकलना असम्भव हो जाये। अतः हमारे पाप दूर करने के निमित्त से, अर्थात् हम ठीक हो जायें, इस उद्देश्य से वह दण्ड देता

है। उस दण्ड से हमें कष्ट होता है, इसलिये परमेश्वर भी हमें मन्युरूप लगता है। परमेश्वर भी दण्ड देकर प्रसन्न नहीं होता। अतः वह भी मन्युरूप है। अव जब जीव वहाँ से अपनी वृत्ति को हटाकर परमेश्वर के हाथ का वाण वन गया तो अव परमेश्वर का दयामय रूप दीखता है। जैसे जब बच्चा अपनी गलती को समझ लेता है और निश्चय कर लेता है कि यह गलती अव मैं कभी नहीं करूँगा तो फिर माता-पिता दण्ड नहीं देते। परमेश्वर केवल न्यायकारी ही नहीं, दयामय भी है। केवल न्यायकारी जो होता है वहाँ नियम होता है। तूने मेरे दाँत तोड़े, मैं तेरे दांत तोड़ूँगा। तूने मेरे घर की घुसाई, मैं तुम्हारे घर की घुसाऊँगा। यह न्यायकारिता का रूप है। लेकिन माता-पिता केवल न्यायकारी नहीं हैं, उनके दण्ड देने का एकमात्र उद्देश्य बच्चे को सुधारना है। इसलिए जैसे ही बच्चा यह निर्णय कर लेता है कि अब मैं यह गलती कभी नहीं करूँगा तो फिर माता-पिता का दण्ड देना व्यर्थ होता है। इसलिये वे दण्ड नहीं देते। इसी प्रकार जैसे ही हम संसार के दृष्टिकोण को छोड़कर परमेश्वर के बाण बनते हैं, वैसे ही दयामय रूप प्रकट हो जाता है। यही बात भगवान ने गीता में कही कि यदि तुमने ठीक निश्चय कर लिया कि अब गलती नहीं करूँगा तो 'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥९-३०॥' केवल दुराचारी ही नहीं, वरन् अत्यन्त आग्रहपूर्वक भी जो दुराचार में प्रवृत्त है, ऐसे व्यक्ति ने भी यदि ठीक-ठीक दृढ़ निश्चय कर लिया कि अव संसार के पदार्थों की तरफ दृष्टि न करके मुझ पर ब्रह्म परमात्मा को ही वह अनन्य रूप से समझता है, वह आगे साधु या भला आदमी बनेगा, ऐसा नहीं, वरन् जैसे ही उसने निश्चय कर लिया, वैसे ही उसको साधु पुरुष ही समझना चाहिये। सम्यक् निश्चय में ही परमेश्वर की दया है। अनादि काल से न जाने कितने पाप हम करते रहे हैं, वे सव भोगने ही पड़ेंगे लेकिन तभी तक जव तक परमेश्वर के हाथ का वाण नहीं बनते। परमेश्वर के हाथ का वाण वने तो फिर वह सव चीज

समाप्त हो जाती है। इसलिये उसे अघोर कहा। भगवान शंकर की सबसे बड़ी विशेषता जो शास्त्रों में बार-बार कही है, वह उनकी आशुतोषता है। अर्थात् वह शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं। जहाँ तुमने निश्चय किया कि वह प्रसन्न हो जाते हैं। यह आशुतोषता दया के कारण ही है। इस दया के कारण कई बार लोग उनसे गलत काम भी करवा लेते हैं। नियम है कि जो दयालु होता है उसको कई बार ठग लिया जाता है। पुत्र माता को चाहे दस बार ठग ले, ग्यारहवीं बार फिर यदि वह आँख में पानी भरकर कहता है कि माँ अब नहीं करूँगा, तो क्या माँ कहेगी कि बहुत बार हो गया, अब मौका नहीं दूँगी ? वह ऐसा नहीं कहेगी। यही तो उसकी मातृरूपता है। इसी प्रकार पुराणों में अनेक दृष्टांतों के द्वारा समझाया गया कि भगवान शंकर की आशुतोषता क्या है ? उनकी दयारूपता का कई असुरों ने लाभ उठाया। इतना लाभ उठाने पर भी भगवान शंकर की दयारूपता उनके प्रति कभी कम नहीं हुई। वस्तुतः भगवान शंकर की बारात के वर्णन में आता है कि भूत, प्रेत, पिशाच, गंधर्व, किन्नर, दो पैर वाले, तीन पैर वाले, मुँह में सिर वाले, सिर में मुँह वाले, दो मुँह वाले, इत्यादि वहाँ थे। वर्णन पढ़कर मनुष्य के मन में आने लगता है कि यह सब क्या है ? ऐसे लोगों को क्यों इकट्ठा कर रखा है ? यही तो दयारूपता है। दया का स्वरूप ही यह है कि जो जैसा आया, उसको वैसे ही ग्रहण करते चले गये। न्यायकारिता मनुष्य की योग्यता देखती है। दया में योग्यता नहीं देखी जाती। घर में जब अपने बच्चे को कुछ देते हो तो क्या दिन भर का हिसाब करके देते हो कि कितना काम उसने दिन में किया और कितना देना है ? नौकर के साथ न्यायकारिता है, इसलिए हिसाब करते हो। पुत्र के प्रति दया का भाव है, इसलिये हिसाब का प्रश्न ही नहीं उठता है। इसी दया के भाव में उन्होंने घोर विष का भी पान किया। जिस समय समुद्र-मंथन हुआ, उस समय हरेक ने तो कोई ऐसा रत्न-हाथ में

लेने का प्रयत्न किया जिससे उसका ऐश्वर्य बढ़े। किसी ने ऐरावत, किसी ने कौस्तुभमणि, पांचजन्य शंख, किसी ने कामधेनु आदि भिन्न-भिन्न रत्नों को लिया। समर्थ भगवान शंकर शांतभाव से बैठे रहें। 'न हि स्वात्मारामं विषयमृगतृष्णा भ्रमयति' जिसको अपनी आत्मा में ही परम आनन्द की प्राप्ति होती है, वह कभी विषयमृगतृष्णा की भ्रान्ति में नहीं फँसता। यह बात सामान्य ज्ञानी के विषय में सत्य है कि संसार के स्वरूप को समझने के बाद संसार के किसी पदार्थ की क्षणमात्र को भी उसके मन में अभिलाषा उत्पन्न नहीं होती। दृष्ट-नष्ट-स्वभाव के पदार्थ हैं। जिसको पता है कि यह सीप है, उसको कितनी भी चमक वाली चाँदी वहाँ दिखाई दे, वह क्या उसे लेने जायेगा ? 'न तस्य मिथ्यार्थसमर्थनेच्छा' जो दृष्ट-नष्ट-स्वभाव के मिथ्या पदार्थ हैं, उनकी किसी प्रकार की इच्छा, अर्थना या चाहना सम्भव ही नहीं है, और इसीलिए जागतिक पदार्थों को बटोर कर रखने की उसकी दृष्टि बनती ही नहीं। यह बात सामान्य ज्ञानी के लिए भी ठीक है तो 'स पूर्वेषामपि गुरुः कालेन अनवच्छेदात्' जो परमेश्वर नित्य ही ज्ञानस्वरूप हैं, उसके लिए तो यह साधारण बात हुई। समुद्र-मन्थन से सारे रत्न निकलने पर भी वह स्थिर भाव से बैठे रहे। बाकी सभी देवगण तो अमृत को निकालने के लिए एकत्रित हुए थे, भगवान शंकर वहाँ देखने के लिए आये हुए थे कि ये सचमुच अमृत की इच्छा वाले हैं भी या नहीं। उन्हीं की प्रेरणा से समुद्र का मन्थन होने पर उसमें से तरह-तरह के रत्न निकले। कूर्म मथानी का आधार बना, मेरु स्वयं मथानी बना, वासुकि उसकी रस्सी बना, देव असुर दोनों ने मिलकर मन्थन किया। भगवान शंकर यह देखना चाहते थे कि ये सब अमृत के लिए प्रयत्न कर भी रहे हैं या नहीं, क्योंकि होता यह है कि बाहर से मनुष्य एक काम के लिए प्रयत्न करता है लेकिन उसके लिए उसकी पूर्ण इच्छा नहीं होती। रत्नों को प्रकट करके उन्होंने देख लिया कि जब रत्न आता था तो

परमेश्वर की सेवा मानोगे तो वह परमेश्वर की सेवा नहीं, अपनी आसक्ति की ही सेवा होगी। जब तक समुद्र-मथन में अच्छे-अच्छे सुख के पदार्थ आते रहे तब तक देवगणों की दृष्टि यह रही कि यह भी समुद्र ने ही दिया है, अमृत आयेगा तो वह भी ले लेंगे। इन्हें रखने में क्या हर्जा है ? यह अनासक्ति आभास है। जब विष निकला तो सारी अनासक्ति ढीली पड़ गई, क्योंकि हालाहल के निकलते ही सारी सृष्टि जलने लगी। भयंकर विष था, लोगों को मृत्यु सामने दीखने लग गई। अब सब घबराये और घबराकर कहा कि इसे कहाँ ले जायें ? कौन ले ? किसी ने इन्द्र से कहा कि आप देवराज हैं, आप सम्हालें। देवराज कहने लगे—हम ही मिले हैं। चतुर्मुखी ब्रह्मा बैठे हैं, उनसे कहो। ब्रह्माजी ने कहा कि विष्णु भगवान के पास जाओ। सभी एक दूसरे को इशारा करने लगे। अन्त में विष्णु ने कहा कि शंकर जी को अब तक कुछ नहीं मिला, इसलिये उधर चलो। यह भेंट उन्हीं के लायक है। विष लेकर उनके पास पहुँचे। भगवान ने कहा अब तक हम यदि नहीं आये। सब कहने लगे—गलती हो गई, बात बाद में करना। पहले तो आप इसे उपसंहृत करो, पहले जान तो बचे। देवता लोग कह रहे थे कि आप पी लो। वहीं भगवती हेमवती बैठी हुई थीं। उन्होंने भगवान से कहा—नहीं पीना। उमा को लगा कि जिस हालाहल को सारे देवगण मिलकर सहन नहीं कर पा रहे हैं, उसे मेरे पति कैसे सहन करेंगे। कहने लगीं—ऐसा मत करो। भगवान शंकर ने उमा से कहा कि मत घबराओ। ये जितने देव और असुर मेरे सामने आये हैं ये सब प्राणों से युक्त रहना चाहते हैं, ये प्राण की इच्छा वाले हैं। इन्हें अभय देना मेरे लिये ही ठीक है क्योंकि मेरे पास ये सब मुझे बड़ा समझकर ही आये हैं। प्रभु शब्द का अर्थ क्या है ? कोई मुझे बड़ा अर्थात् प्रभु मानता है तो किसलिये ? क्या प्रयोजन है ? तुम्हारे पास करोड़ रुपया है, इतने मात्र से हम तुमको क्यों बड़ा मानें ? हमको यदि यह पता है कि हमारे लिये

जव दीनता की अवस्था आयेगी, तव तुम हमको कुछ दोगे, तभी तुम्हारे रुपये के द्वारा हम तुमको वड़ा मानेंगे। तुम चाहे राज्यपाल हो, यदि हमको यह पता है कि हम तुम्हारे पास जायेंगे तो तुम अपने पद के प्रयोग से हमारे दुःख को दूर करोगे तभी हम तुमको राज्यपाल मानकर सलाम करेंगे। यदि हमको पता है कि तुम राज्यपाल हो, या कोई हो, वात तुमको हमारी सुननी नहीं, तो तुमको हम किस वात का वड़ा मानें। यह आज के जीवन में समझने की चीज है क्योंकि मनुष्य विना किसी दीन का पालन किये हुए जवरदस्ती अपने को वड़ा मनवाना चाहते हैं। वड़ा कोई वन नहीं सकता, जव तक कि उसका हृदय से आदर न हो। कानून के द्वारा, नियम या डण्डे के द्वारा कभी वड़ा बना नहीं जाता। आज मनुष्य समझता है कि चूँकि मेरे पास शक्ति है, चूँकि मेरे पास धन है, इसलिये लोग मुझे वड़ा मानें, लेकिन कोई वड़ा मानने को तैयार नहीं है। विचार करो कि पहले घर में नौकर होता था, मालिक को थोड़ी तकलीफ हो तो रातभर जागकर मालिक के पास बैठता था। मालिक कहता भी था कि सो जा, वह कहता था 'नहीं'। आज ठीक उसके विपरीत तुम कहते हो थोड़ा काम वाकी रह गया है, साढ़े पाँच बजे तक खतम हो जायेगा, वह कहता है कि कल आकर करूँगा। क्या कारण है? नौकर यह जानता था कि तुम्हारा धन, तुम्हारी सम्पत्ति उसके परिपालन के काम आयेगी। घर में व्याह आ गया, मौत या वीमारी आ गई तो हिसाब नहीं देखते थे, वह तो उसको देना ही हुआ। आज वह दृष्टि नहीं रही। आज तो हिसाब है, वह ले जाओ। वह भी हिसाब के अनुसार काम कर देता है। भगवान शंकर ने कहा कि ये सव हमारे पास आये हैं तो हमें प्रभु मानकर आये हैं। यदि मैं इनको अभय नहीं दूँगा तो मेरा वड़प्पन क्या रहा। इस प्रकार से भवानी को समझाया। 'विश्वभावनः' विश्व ही उनके प्रेम का विषय है। वह किसी एक ही व्यक्ति की भलाई

नहीं चाहते । अब उन्होंने विष का भक्षण करना प्रारम्भ किया । पी गये लेकिन पीने पर भी उन्होंने उसे गले के नीचे ले जाने का प्रयत्न नहीं किया । ऐसा क्यों ? भगवान शंकर के उदर में ही तो सारी सृष्टि है । यदि देवता और असुरों की बात मानकर विष पीकर पेट तक पहुँचा देते तो मानवों का क्या होता ? विश्व-भावन होने के कारण ही विष पीकर उसे उदर में न उतारा, और विश्वभावन होने के कारण ही देव असुरों की रक्षा के लिये उसे पी भी लिया । गले में ही रख लिया । कभी कोशिश करके देखना लेकिन ज्यादा कोशिश मत करना, छोटा सा सोंफ का दाना लेकर उसे गले के बीच में रोकने का प्रयत्न करना । न उसे नीचे उतारना और न ही वह बाहर आ सके ऐसा प्रयत्न करना । शायद आधा मिनट तक रख पाओगे और उसी में ही आँख नाक में से पानी निकल आयेगा । बहुत सम्भव है, थोड़ी सी खाँसी के साथ ही सोंफ का वह दाना बाहर निकल आयेगा । जब इतनी साधारण सी चीज को वहाँ रोकना कठिन है तो हालाहल विष को प्रलयकाल तक उसी कण्ठ के मध्यभाग में रखना कितना कठिन मामला है, इसकी कल्पना करो । लेकिन यही उनकी दया-स्वरूपता है कि इतने भयंकर, इतने कष्टकारी, क्लिष्ट कर्म को करके भी वह वैसे के वैसे शांत हैं । यह उनकी दयामयता है ।

अध्यात्म विचार से तो प्रत्येक जीव के अपने अंदर भी समुद्र-मंथन होता है । मूलाधार रूपी इसका कूर्म पृष्ठ है । अपनी सुषुम्ना नाड़ी ही मेरु पर्वत है । कुण्डलिनी रूपी वासुकि नाग के द्वारा इसका मंथन किया जाता है । अमृत तत्त्व की प्राप्ति के लिए मंथन किया जा रहा है । मूलाधार के द्वारा जब सुषुम्ना को मथा जाता है तभी अमृत प्राप्त होता है जो मनुष्य के जन्ममरण को खतम करता है । जब इसको मथने लगते हो तो मनुष्य में चूँकि देव और असुर दोनों वृत्तियाँ रहती हैं, दोनों मिलकर ही इसे मथते हैं । देवासुर की जो यह मथने की प्रवृत्ति है, इससे तरह-तरह के रत्न अर्थात्

सिद्धियाँ मनुष्य में आती हैं। जिसमें तो परमेश्वर की अभिलाषा एकांत रूप से होगी, वह तो इन सिद्धियो की तरफ प्रवृत्ति नहीं करेगा। लेकिन जिसके अन्दर यह एकांत भावना, अनन्य भावना नहीं होगी, वह सोचने लगता है कि सिद्धि आई है तो इसका प्रयोग क्यों न कर लिया जाये। कोई कहेगा दूसरे के कल्याण के लिए। कोई लोक-कल्याण के लिए आदि अनेक प्रकार से प्रयुक्ति होती हैं। प्रत्येक साधक में सिद्धि आती अवश्य है। अविचारशील समझते हैं कि यह सिद्धि आध्यात्मिकता का फल है। वास्तविकता यह है कि जहाँ वैराग्य पूर्ण नहीं होगा वहीं सिद्धि में प्रवृत्ति होगी। शक्ति सब में आती है लेकिन जिसमें वैराग्य होगा, वह उन चीजों की पूर्ति की तरफ नहीं जायेगा। अगर गया तो फिर इसमें से हालाहल विष प्रकट होता है। इसी को योगभ्रष्टता कहते हैं। जब मनुष्य इन सिद्धियों का प्रयोग करता है तो योगभ्रष्ट हो जाता है। यही हालाहल विष है। किया हुआ योग सारा बेकार हो जाये, यह विष ही हुआ। तब साधक को पता लगता है कि सारा परिश्रम व्यर्थ हो गया। उसे लगता है कि अब तो हम नष्ट हो जायेंगे। कैसे? अर्जुन कहता है 'कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति' (६-३८) जैसे बादल हवा के टुकड़े-टुकड़े होकर नष्ट हो जाते हैं, इसी प्रकार नष्ट हो जायेंगे। भगवान शंकर कहते हैं कि ऐसे हाला-हल को भी मैं पी लूँगा। चला तो वह मुझे पाने था, रास्ता चूक गया। इसलिये जैसे उन्होंने हालाहल विष पी लिया, वैसे ही उसकी योगभ्रष्टता के दोष को वह दूर कर देते हैं। यदि उसका राग अत्यधिक है तो 'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोभिजायते' लेकिन वहाँ भी जाकर फिर योगमार्ग में ही लगता है 'ह्रियते ह्यवशोऽपि सः'। यदि उसमें किसी कारण-विशेष से आसक्ति आ गई जो स्वाभाविक नहीं है तो 'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमतां' हर हालत में उसकी योगभ्रष्टता रूप विष वह पी जाते हैं। क्षमा करके पुनः उसे उसी मार्ग में लगा देते हैं जिसमें वह अमृत प्राप्त

कर सके । उनकी इसी दयापूर्णता को यहाँ कहा 'हे रुद्र ! आपका जो अघोर अर्थात् दण्ड न देने वाला दयामय रूप है, यह मनुष्यों के पापों को भी नष्ट करता है । यहाँ तक कि योगभ्रष्टता के विष को भी पान कर लेते हो जिससे प्राणियों का अकल्याण न हो । एक वार जिसने परमेश्वर की तरफ अपना पैर रख दिया और चल दिया, उसको वह अपनी दया के द्वारा अवश्य उद्देश्य तक पहुँचा देते हैं । इसमें संदेह नहीं है ।

११-२-७५

परब्रह्म परमात्मा के कल्याणतम रूप को देखने की प्रार्थना की गई । वह कल्याणतम रूप अघोर है अर्थात् उनका मन्यु रूप जिस प्रकार से उनकी महत् शक्ति को बताता है, वैसे ही यह अघोर रूप उनकी दयामयता को बताता है । 'एवं·····दयावतारो न कर्मतंत्रः' इसी बात को बताते हुए कहा गया कि समग्र विश्व का ईश्वर अर्थात् अधिपति है । उसकी पारमेश्वरता या माहेश्वरता इसी में है कि इसके द्वारा वह अपनी दया को प्रकट करता है । वह कर्म के अधीन नहीं है । वैसे लोक में तो कर्म के अनुसार फल देने का हक छोटे से मैजिस्ट्रेट, हाईकोर्ट के जज या सुप्रीम कोर्ट के जज को है । अर्थात् संसार में जितने कार्याध्यक्ष हैं, सबको अधिकार है कि कर्म के अनुसार तुम्हारी बात का फैसला करें । उसके लिये विधान बने हुए हैं । उन विधानों या नियमों के अनुसार अथवा कानूनों के अनुसार वह ठीक-ठीक निर्णय देता है, अर्थात् जैसा होना चाहिये, वैसा करता है । लेकिन राष्ट्रपति के हाथ में यह भी शक्ति है कि बड़े से बड़ा अपराध भी किसी ने किया हो तो उसको वह दया करके क्षमा कर दे । यह जो क्षमा करने की शक्ति है, यह केवल राष्ट्रपति को ही दी गई है । यह शक्ति प्रधान मंत्री के हाथ में भी नहीं । किसी ने खून कर दिया, सर्वोच्च न्यायालय ने उसको

मृत्युदण्ड सुनाया। उसके उस मृत्युदण्ड को कोई निषिद्ध नहीं कर सकता। राष्ट्रपति भी यह नहीं कह सकता कि इसे मृत्युदण्ड गलत दिया गया है। वह कहने का अधिकार तो सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाध्यक्ष को ही है कि इस आदमी ने खून किया, इसलिये यह सजा के लायक है। परन्तु ऐसे खूनी को भी राष्ट्रपति अपने विशेष दया के अधिकार के द्वारा जेलसे छुड़वा सकता है अथवा आजीवन कारावास की सजा दे सकता है, परन्तु इतना निश्चित है कि यह अधिकार सिवाय राष्ट्रपति के और किसी को नहीं दिया जा सकता। अभी कुछ दिन पहले अमरीका के अन्दर एक वहुत बड़ा काण्ड हुआ। कई लोगों के जेल जाने का प्रश्न हुआ। यहाँ तक कि वहाँ के राष्ट्रपति को भी इस्तीफा देना पड़ा, नहीं तो उनके ऊपर भी मुकदमा चलाना पड़ता। उसके इस्तीफा देने पर उसको भी अगले राष्ट्रपति ने क्षमा किया तो केवल दया के अधिकार से ही किया। यही दया का अधिकार उसे सर्वोच्च सत्ता वाला वना देता है, नहीं तो कर्मानुसार दण्ड तो सभी अधिकारी दे सकते हैं।

परमेश्वर की इस दया से हम लोगों को क्या शिक्षा मिलती है? गीता भाष्य में भगवान भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं 'सर्वत्र एव हि अध्यात्मशास्त्रे कृतार्थलक्षणानि यानि तानि एव साधनानि उपदिश्येन्तयत्नसाध्यत्वात्।' सभी जगह अध्यात्म शास्त्रों में यह नियम है कि जो चीज सिद्ध के अन्दर स्वभाव से रहती है, उसको साधक प्रयत्नपूर्वक करे। परमेश्वर की दया का विस्तृत वर्णन शास्त्रों ने इसलिये किया कि जहाँ हमको दया करने का अधिकार है वहाँ यदि हम दया करते हैं, तभी परमेश्वर की इस दया का हमारे ऊपर अवतरण होता है। जो दूसरे को क्षमा नहीं कर सकता, जो दूसरे पर दया नहीं कर सकता, वह फिर परमात्मा से दया की भीख नहीं माँग सकता। माँगने पर भी वह उसका अधिकारी नहीं है। हम लोग प्रायः यह करते हैं कि जहाँ हमारा अधिकार चलता है, वहाँ तो पूरे जोर-शोर के साथ हम न्याय की वात करते हैं लेकिन जब अपने से बड़े के सामने जाते हैं तब न्याय को छोड़कर दया

मन में आती है। प्रतिदिन के व्यवहार में यही होता रहता है। हमसे जो नीचे काम करने वाला है, हमारे घर में बर्तन माँजने वाला जब कहता है कि मेरी पत्नी बीमार है तो हम कहते हैं कि तेरे घर में तो एक न एक बीमार पड़ा ही रहता है, हमारा काम कैसे चलेगा, यह सब बहाना है। जब हम अपने सेठ से कहते हैं कि हमारी घर वाली बीमार है, उस समय हम सेठ से दया की आकांक्षा करते हैं। सेठ जब कहता है कि मुनीम जी! साल में १२० दिन की छुट्टी तो ले चुके हो, अगर पत्नी की ही रखवाली करनी है तो एक साथ इस्तीफा देकर एक बार लगकर इलाज करवा लो। तब कहते हैं--सेठ जी! कुछ तो विचार करो, मैं रात-रातभर आपके घर आकर इन्कमटैक्स के रिटर्न देखता रहा। लेकिन क्या तुम अपने बर्तन माँजने वाले के ऊपर यह विचार करते हो। दया का अधिकार तभी होता है जब हम पहले दया करना सीखें। इसीलिये जब कहा 'दयावतारः न च कर्मतंत्रः' उसका तात्पर्य यह है कि हम भी अपने जीवन में दया के व्यवहार को लाकर उसके अधिकारी बनें। यह जो परमेश्वर का अघोर रूप है, यह तभी हमारे सामने प्रकट होगा जब हम स्वयं अघोर रहेंगे अर्थात् अपनी घोररूपता (कठोररूपता) को छोड़ेंगे। दया और याद एक ही शब्द हैं। अक्षरों के थोड़ा आगे-पीछे के क्रम का भेद है। शिव की याद और प्राणियों पर दया ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। प्राणियों पर जो दया नहीं करेगा, उसको शिव की याद भी नहीं आयेगी और जिसे शिव की याद आयेगी, वह प्राणियों पर दया न करे, यह हो ही नहीं सकता। ये दोनों एकसाथ चलते हैं। दया से मनुष्य का अंतःकरण शुद्ध हो जाता है क्योंकि अंतःकरण में अशुद्धि कहाँ से आती है? विचार करने से पता लगता है कि दूसरों की सच्ची और झूठी गलतियों को हम जो अपने मन में भरते रहते हैं, वही तो हमारे अंतःकरण को अशुद्ध बनाता है। दूसरों की सच्ची गलतियों को सोचना भी बेकार है। उल्टा सोचते-सोचते वे गलतियाँ हमारे मन में बसने लगती हैं।

जैसे जैसे हम दूसरे की सच्ची और झूठी दोनों गलतियों को अपने चित्त से हटा देते हैं, उल्टा यदि कोई गलती करता है तो हमारे हृदय में दया आती है कि यह व्यक्ति अपना भला-बुरा नहीं समझता है। जैसे छः महीने का कोई छोटा बच्चा यदि किसी पड़े हुए चक्कू पर अपना हाथ मार दे, छोटे बच्चे की आदत होती है कि वह अपना हाथ इधर-उधर करता रहता है, ऐसा बच्चा यदि अपने हाथ पर घाव कर ले तो तुमको उस पर दया आती है या ऊपर से उसको एक थप्पड़ और जमा देते हो। दया ही आयेगी क्योंकि इस बेचारे को तो पता ही नहीं है कि उधर हाथ मारना उसके लिये दुःख का कारण है। इसी प्रकार जो भी व्यक्ति गलत काम करता है, विचार करके देखो कि वह जानता नहीं है कि इसका आगे क्या फल होना है। वह तो पहले ही गलत काम करके अपने लिये नरक चढ़ने की सीढ़ी तैयार कर रहा है। यह पाप करके आगे नरक की अग्नि जलाने को जा रहा है। ऊपर से और क्रोध करके या डाँटकर क्या लाभ होगा। वह तो दया का पात्र है। दया के द्वारा उसको या तो वह पाप कर्म करने से रोको। यह तो दया है। जैसे यदि छोटे बच्चे के शरीर में घाव हो जाता है तो न समझने के कारण वह बार-बार अपने नाखून से उस घाव को रगड़ता है। जब घाव भरने लगता है, उस पर पपड़ी जमने लगती है तो खाज आती है। छोटा बच्चा न समझने के कारण उस पर खाज कर देता है और पपड़ी को उखाड़ देता है। इसलिये वह यह काम न कर सके, इस निमित्त से उसके हाथ को बाँध देते हैं अथवा एक तरह का मोजा आता है जो उसके हाथ पर पहना देते हैं। इसमें तो हमने उसको घाव को बिगाड़ने से बचाने का प्रयत्न किया, यह तो दया है। लेकिन ऊपर से थप्पड़ मारने से कुछ फायदा नहीं होगा। गलत काम से रोकना और यदि उसको रोक न सको तो कम से कम उस गलत काम का फल उसे समझा देना। 'बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः' भगवान शंकर भगवत्पाद तैत्तिरीयभाष्य में लिखते हैं कि बुद्धि का धर्म है कि जहाँ उसने सच्ची बात को

समझा वहाँ वह सच्ची वात को पकड़ लेती है। यदि किसी को तुम समझा सको कि यह चीज गलत है तो वह स्वयं उस चीज को छोड़ देगा। अत: गलती करने वाले को गलती करने से रोकना भी दया है; समझाना भी दया है। लेकिन गलती करने वाले को केवल गलती के लिये दण्ड देना दया नहीं है। यह तो एक तरह की हृदय के अन्दर वदला रोग की भावना है कि इसने मेरा विगाड़ा तो मैं इसका विगाड़ूँ। यही घोर रूप है कि यह अपने भले-बुरे को नहीं समझता, इसलिये यह गलती कर रहा है। यह जो दया का रूप है इसे अच्छी तरह से समझना जरूरी है क्योंकि आजकल प्राय: दया के इस रूप को लोग नहीं समझते। यदि शिव को भूलकर, क्योंकि शिव की याद ही भूतों पर दया है, इसलिये शिव की याद के बिना भूतों पर दया का प्रयास तो उल्टा उस गलत रास्ते में ले जाने का साधन है। जैसे आजकल के माता-पिता मोह के कारण बच्चों को सब तरह की सुख-सुविधायें और धन तो पहले ही दे देते हैं और कहते हैं कि बेचारे बच्चे पर हम दया कर रहे हैं। दया नहीं कर रहे हैं, मोह के कारण घोर कर्म कर रहे हैं। अविवेकी दया नहीं कर सकता। शिव की याद के साथ ही भूतों पर दया होती है। एक वार एक वहुत धनी सेठ था। वह तीर्थयात्रा करने के लिये चला। मार्ग में उसको तरह-तरह की चीज़ें देखने को मिलती थीं। रामेश्वरं पहुँचा तो वहाँ उसने देखा कि मछुओं की संख्या वहुत ज्यादा है। वे बेचारे दिन भर परिश्रम करते हैं, मछलियाँ लाकर बेचते हैं। इस प्रकार बड़ी मुश्किल से उनका गुजारा चलता है। सेठ के मन में दया आई कि ये बेचारे इतना परिश्रम करते हैं और फिर मछलियों को मारने का पाप भी करते हैं। उसने उन्हें समझाया कि मछलियाँ मारना छोड़ दो। तुम्हारी थोड़ी सी तो आमदनी है, इतनी आमदनी हम तुम्हें वैसे ही दे देंगे। उन्होंने अपना खर्च बता दिया। सेठ बड़ा आदमी था, उसने उनका खर्चा बाँध दिया। मछुओं ने मछली मारना छोड़ दिया और सेठ के रुपयों से उनका खर्चा चलने लगा। घूमते हुए

सेठ मल्लिकार्जुन के पास पहुँचा तो देखा कि जंगल में अनेक व्याध अपना जाल फैलाये हुए थे और चिड़ियों को पकड़कर और बाजार में बेचकर अपना गुजारा चलाते थे। सेठ के मन में आया कि ये इतनी चिड़ियों को मारते हैं और इन्हें मिलता कुछ नहीं है। सेठजी ने उनसे भी वही बात की कि तुम इतना पाप क्यों कमाते हो। उन्होंने कहा—फिर हमारा खर्चा कैसे चले। सेठ ने कहा कि तुम्हारी थोड़ी सी आमदनी है, हमें बताओ, हम तुम्हें दे देंगे। व्याध भी मान गये। इसी प्रकार सेठ जी घूमते हुए पुष्कर के पास पहुँचे तो अजमेर में मुसलमान कसाई बहुत थे। उन्होंने देखा कि ये तरह-तरह के प्राणियों को लेकर मारते हैं, विचार किया कि यह बुरी बात है। उनसे कहा कि तुम भी पशुओं को पकड़कर मारते हो, यह ठीक नहीं। उन्होंने कहा कि इतना खर्चा कैसे चले। सेठ ने कहा—हमें बताओ, हम तुम्हारा इन्तजाम कर देंगे। वहाँ भी खर्चा तय हो गया। आगे चले तो ज्वालामुखी पहुँचे। वहाँ देखा कि लोगों ने शराब के भट्टे लगा रखे हैं। उन लोगों से कहा कि तुम लोग शराब का इतना काम करते हो, यह अच्छा नहीं। उन्होंने भी कहा कि इसके विना हमारा खर्चा फिर कैसे पूरा हो। सेठ ने उनसे भी कहा कि हम तुम्हारा खर्चा बाँध देते हैं। इस प्रकार चारों जगह पर खर्चा बाँधकर सेठजी घर वापस पहुँचे। मुनीमों से कहा कि अमुक-अमुक चार जगहों पर हर महीने इतना खर्चा भेज दिया करो। काफी खर्चा हो गया। व्यापार से यदि रुपया निकलने लगे तो जानते ही हो कि व्यापार तो एक चक्र है। मुनीमों ने सेठ से दो-एक वार कहा कि खर्चे की रकम कुछ कम कर दो तो अच्छा है, काम नहीं चलता है। सेठ ने कहा कि यह विल्कुल कम नहीं करना है। थोड़े दिनों के बाद व्यापार पर असर आया। धीरे-धीरे सेठ के व्यापार की ऐसी स्थिति हो गई कि अब आगे चलना मुश्किल हो गया, खर्चा जाना भी बन्द हो गया। सेठ जी सत्संगी तो थे ही। महात्मा के पास गये और कहा कि आपसे एक प्रश्न करना है। मैंने इस प्रकार से धर्म के निमित्त से खर्च

किया परन्तु इससे मेरा बड़ा नुकसान हो गया। मुझे अपने घाटे का तो कोई दुःख नहीं है, यह तो अपने प्रारब्ध से हो जाता है। लेकिन मैंने जो चार सत्कार्य किये, इनका खर्चा बंद हो रहा है, इसका मुझे दुःख है। महात्मा सेठ की सारी बात सुनकर हँस पड़े। कहने लगे कि तुम दया तो करने गये लेकिन बिना शिव को याद किये दया की, इसीलिये यह सारी गड़बड़ी हुई। पहले यह बताओ कि उन मछुओं ने, कसाइयों ने, व्याधों और कलालों ने सचमुच मछली मारना, पशु मारना, चिड़िया मारना और शराब का पीना पिलाना बन्द किया या नहीं, इसका भी तुमने कभी कोई पता लगवाया। दूसरी बात है कि जो धन तुम्हारा गया, उससे उन्होंने आगे क्या किया, यह भी कुछ पता लगाया। यह समस्या हमेशा की है। मनुष्य सोचता है कि दया भी आलस्य के साथ हो। मैं जिस धन का सदुपयोग करना चाहता हूँ, उसका आगे उपयोग हुआ या नहीं हुआ, इसको देखने का कुछ प्रयत्न करें। दिया और छुट्टी करो। यह दया का रूप नहीं हुआ करता है। जिस पर दया करोगे, उसके साथ छुट्टी होने वाली बात नहीं होगी क्योंकि जब तक हृदय से उसके प्रति एक स्नेह का सम्बन्ध नहीं बनेगा, तब तक दया नहीं हो सकती। हम लोगों के व्यवहार में प्रायः यही होता है। सेठ जी से महात्मा ने पूछा कि क्या कभी इन इन बातों का भी पता लगाया। सेठ ने कहा कि यह तो मैंने पता नहीं लगाया। महात्मा ने कहा कि जरा मुनीमों को भेजकर पता लगाओ। देखा कि मछुओं को जब पैसा मिलने लगा तो जुआ इत्यादि चीजों में उनका पैसा जाने लगा। वह सारा रुपया तो वे पाँच-सात दिनों में शराब आदि में उड़ा दें और उनका अपना काम वैसा का वैसा बना रहा। यही हाल व्याधों, कसाइयों और कलालों का था। वापस आकर जब सेठ जी को यह खबर मिली तो उन्होंने महात्मा के पास जाकर कहा कि आपकी बात सच्ची निकली। महात्मा ने कहा कि अब विचार करो। जिन लोगों के बापदादा पड़दादा लापड़दादा सारे मछलियाँ, चिड़ियाँ पकड़ते और मारते रहे,

शराव पीते और पिलाते रहे। क्या एक दिन के तुम्हारे कहने से उनका वह स्वभाव वदल जायेगा। उल्टा तुम्हारे धन से वे और ज्यादा दुष्कर्म करने में प्रवृत्त हुए और ज्यादा दुष्कर्म करने का मौका मिला, इसलिये दया के द्वारा तुमने जो धर्म किया, इसका फल अधर्म ही हुआ, धर्म नहीं। इसकी अपेक्षा तो लोगों को पहले यह सिखाते कि दूसरे प्राणियों की निरर्थक हत्या करने में क्या खरावी है। धीरे-धीरे इनके संस्कार बदलते तो ये सुधरते और सुधारने में कई पीढ़ियाँ लग जाती हैं। एक पीढ़ी में सुधार नहीं होता है। यह जवरदस्ती से थोपने की चीज नहीं होती है। यह सब तो तुमने किया नहीं। तुमने केवल ऊपर दया का विधान किया, उसी का यह फल हुआ। धर्म का फल कभी दुःख नहीं होता, अधर्म का फल ही दुःख होता है। सेठ समझ गया। उसी दिन से उन सव खर्चों को सेठ ने वन्द कर दिया। थोड़े दिन में उनका व्यापार फिर ठीक हो गया। आजकल की विचारसरणी में एक बहुत वड़ी कमी हो गई है। हम लोग दया के इस स्वरूप को न समझने के कारण ही किसी योग्य वैदिक ब्राह्मण को कुछ देना पड़े तो मन में सोचते हैं कि यह तो खाते पीते हैं, इसकी अपेक्षा तो किसी कोढ़ी को देना ही ठीक है। आपलोगों में चाहे न हो, आज-कल के वच्चों में यह विचार आ रहा है। इस दया का ज्यादा सदुपयोग नहीं है, आगे विचार नहीं है। जो योग्य वैदिक ब्राह्मण आज तुमसे लेगा, वह तो उसे वैदिक मंत्रों के द्वारा अनुष्ठान आदि करके खर्च करेगा। कोढ़ी को दोगे तो वह शाम को जाकर क्या करता है, जाकर देखो। हम बनारस में गंगा के किनारे देखते रहते हैं। आपस में झगड़ा करना, मारपीट करना, यहाँ तक कि शराव पीना आदि सब कर्म होते हैं। उन लोगों के भोजन आदि की व्यवस्था की जाये जिससे वे दुष्कर्म न कर सकें, यह प्रयत्न तो ठीक है। लेकिन प्रायः यह कर्म नहीं करते। आगे चाहे वह उसकी शराव पिये, चाहे कुछ करे, इस तरफ कोई ध्यान नहीं। यहाँ तक स्थिति है कि आगरे में जापान वालों ने कोढ़ियों का वहुत वड़ा

अस्पताल खोला है, वहाँ जापान के डाक्टर भी काम करते हैं। हम वहाँ गये उन्होंने बड़ा अच्छा इंतजाम किया है। वहीं हमने उन कोढ़ियों की गोद में दो-दो चार-चार महीने के बच्चों को देखा। हमने डाक्टर साहब से पूछा यह सब क्या है ? इससे तो आगे और कोढ़ी पैदा होते जायेंगे। डाक्टर बेचारा कहने लगा कि हम लोग मना तो करते रहते हैं लेकिन ये मानते नहीं। हमने कहा कि जैसी सुविधायें तुमने यहाँ कर रखी हैं, इसमें तो हमें आगे कोढ़ियों की संख्या बढ़ने की बात समझ में आ रही है। आजकल अधिकतर दया इसी प्रकार की होती है, उसका सदुपयोग नहीं होता। इसीलिये इतना सब किया हुआ भी व्यर्थ जाता है। राज्य की तरफ से भी होता है, अन्य सबकी तरफ से भी होता है लेकिन कभी कोई प्रश्न भी उठता है कि इतना सब होने पर देश के अन्दर जो खुशहाली और सुख बढ़ना चाहिये थे, वह नहीं बढ़ रहा है। यह प्रश्न हृदय में उठना चाहिये। उसका कारण ही यह है कि दया का ठीक उपयोग न होने से शिव को न याद करके जो दया करोगे, वह वास्तविक दया नहीं रहेगी। तीक्ष्ण विवेकियों का तो यह कहना है कि दया धर्म नहीं है, धर्म का मूल है। किसी भी धर्म को करने के लिये मूल रूप से तो दया है लेकिन जब दया आये तो आगे विचार करना चाहिये कि मैं जो करने जा रहा हूँ वह धर्म है या नहीं है। इसे ठीक से समझना क्योंकि बिना दया के तो कोई धर्म चलेगा ही नहीं लेकिन धर्म का मूल दया है और उस मूल के द्वारा हमें कहाँ किधर जाना है इसका निर्णय करना पड़ता है, सोचना पड़ता है, खोजना पड़ता है। उपयुक्त कथा सेठ और मछुओं की ही नहीं समझना। आज के जीवन में तुम लोग क्या करते हो ? मछुए क्या करते हैं ? पानी में तैरने वाली मछलियों को पकड़ते हैं। उसी प्रकार आजकल बहुत से लोग किन मछलियों को पकड़ते हैं ? भक्ति रूपी जल में तैरने वाले साधक भक्तों को पकड़ते हैं और उनके जीवन को कष्टमय बनाते हैं। कोई आदमी अपने मुँह पर चाहे जितना रंग पोत ले या और कुछ भी पोत ले

तो किसी को आपत्ति नहीं होती लेकिन कोई अपने भाल पर भस्मी लगा ले या चन्दन लगा ले तो मछुए पीछे पड़ जाते हैं। कहते हैं बड़ा धर्मात्मा बना है बड़ा भक्त बना है। इस प्रकार उनको पकड़-कर दुःखी करते हैं। कोई व्यक्ति हाथ भर की लंगोट अपनी गर्दन में लटकाकर घूमे तो कोई नहीं कहता कि फालतू की टाँगकर क्यों घूम रहा है, लेकिन कहते हैं कि अच्छा जनेऊ पहनता है, धागा लगाकर घूमता है, अरे डोरा डालने से क्या होगा और उस लंगोट टाँगने वाले को कोई नहीं कहता कि यह लगाकर क्यों घूम रहा है। इस प्रकार की प्रवृत्ति वाले मछुए हैं जो भक्तों को कष्ट देते हैं। इसी प्रकार से आजकल के जो व्याध हैं वे वैराग्यरूपी जंगल में घूमने वाले साधकों पर, वैराग्य की दृष्टि अपनाने वालों पर तरह-तरह के लांछन लगाकर उन्हें कष्ट देते हैं। एक व्यक्ति अपने जीवन के अन्दर एक दिन भोजन नहीं छोड़ता। एक दिन भोजन न मिले तो सारा घर उसके सामने काँपने लगता है लेकिन किसी व्यक्ति को एकादशी व्रत करते देखेंगे तो कहेंगे कि एकादशी का व्रत करने से क्या होता है, मन में भक्ति होनी चाहिये, बाहर दिखावे से क्या फायदा। ये सारे व्याध हैं। इसी प्रकार से जिस प्रकार कसाई भोलेभाले पशुओं को पकड़कर मारते हैं उसी प्रकार से जो आधुनिक कसाई होते हैं वे भोले-भाले कर्मनिष्ठ व्यक्तियों को पकड़ते हैं जिन्होंने अपने पिता या अपने बड़ों को जैसा करते देखा, उनसे जो सीखा, वैसा करते हैं। गीता में अर्जुन का प्रश्न ही इसको लेकर था कि जो व्यक्ति शास्त्र आदि नहीं समझते लेकिन श्रद्धा के द्वारा कर सकते हैं, कर्मनिष्ठ हैं। वे बेचारे समझते नहीं, ऐसे भोले कर्म-निष्ठ साधक श्रद्धालुओं की श्रद्धा पर आधुनिक कसाई तरह-तरह के वार करेंगे कि यह जो पिण्ड तुम यहाँ दे रहे हो, यह तुम्हारे पितरों को कैसे पहुँचता है, क्या हवाई जहाज पर बैठकर पहुँचता है। उसको अपने कर्मनिष्ठा से किसी प्रकार हटाने का प्रयास करते हैं। अच्छा, गंगा जी में सवेरे स्नान करते हो, देखो ये जितने नावें वाले मुसलमान हैं, ये सब भी स्नान करते हैं, वे सब भी क्या मुक्त

हो जायेंगे ? वह अगर कहे कि हो जायेंगे तो कहेंगे कि फिर तुम भी मांस मिट्टी खा लिया करो, मुक्त तो हो ही जाओगे। इस प्रकार से भोले कर्मनिष्ठ साधकों को रास्ते से इधर-उधर करते हैं, जैसे मछुए भक्त को भक्तिरूपी जल से निकाल लेते हैं, व्याधे वैराग्यशील को वैराग्यरूपी जंगल से निकालकर बाहर करते हैं, कसाई भोले कर्मनिष्ठ साधकों को पकड़कर भ्रष्ट करते हैं। आधुनिक कलाल संसारी पदार्थों की शराब पिलाते हैं। अरे परलोक किसने देखा है, वापस आकर कोई नहीं बताता। देखो, अमरीका वाले कितनी उन्नति कर गये, मौज-शौक कर रहे हैं और तुम मन्दिर में ठाकुर जी की घण्टी हिलाते रहे। देखो क्या हो गया, राष्ट्र देश कहाँ चला गया। इस प्रकार इस संसार के भोगों की मदिरा पिलाते हैं कि देखो वे लोग चन्द्रमा पर पहुँच गये। बहुत से लोग उस शराब के नशे में आ जाते हैं और वे इस प्रकार उन्हें पथभ्रष्ट करते हैं। अब विचार करना। इन पथभ्रष्ट करने वालों पर ही हम लोग दया करते हैं इस प्रकार के प्रचार करने वाले चाहे किसी भी राजनीति, धर्मनीति, अर्थनीति किसी नाम से आये, उन सबको धन देने वाला आस्तिक ही है। आस्तिकों से ये सब धन झटक कर ले जाते हैं कि हम लोग इस-इस प्रकार देश का, राष्ट्र का, मानवता का, धर्म का उपकार कर रहे हैं। कभी देखा कि उस धन का सदुपयोग हुआ या नहीं। इस प्रकार की नीति का समर्थन करने वाले एक-एक स्कूल चलाते हैं जिनमें इस प्रकार की शिक्षा मिलती है और उन स्कूल-कॉलेजों को हम अपना धन भी देते हैं और अपने बच्चे भी भेजते हैं। बहुत से लोग आकर जब हमसे कहते हैं कि आजकल के लड़के बड़े नास्तिक हो रहे हैं तो हम बार-बार उनसे कहते हैं कि लड़के नास्तिक बिल्कुल नहीं हैं। तुमने जितना प्रयत्न उन्हें नास्तिक बनाने का किया है, उसके अनुसार तो उन्हें अब तक नास्तिक बन जाना चाहिए था जो अभी बेचारे नहीं बने हैं क्योंकि उनका खून अच्छा है। ईसाई स्कूल में भी भेजोगे, वहाँ नहीं भेजोगे तो ऐसे स्कल अवश्य हैं जहाँ सारी शिक्षा

की व्यवस्था ही ऐसी है कि जहाँ कोई दिशा तो मिलनी ही नहीं है, विदेशों का गौरव ही बार-बार बतायेंगे। कोई आदमी तुम्हारे पास आकर बैठे और अंग्रेजी बोले तो जितने आदमी वहाँ बैठे हुए होते हैं, वे सब कहते हैं कि कितना पढ़ा-लिखा है। कोई यह नहीं कहता कि यह मूर्ख कहाँ से आ गया, इसे हिन्दी भी नहीं आती और यदि किसी व्यक्ति के सामने अंग्रेजी बोलो तो वह खुद कहता है कि मैं पढ़ा-लिखा नहीं हूँ, मुझे भी अंग्रेजी पढ़ाओ। संस्कृत का विद्वान आकर संस्कृत में बोलता है तो किसी को नहीं जँचता कि यह बहुत बड़ा विद्वान आदमी है। इसी का प्रभाव हमारे बच्चों पर पड़ता है। इस प्रकार की शैक्षणिक संस्थायें, इस प्रकार की तथाकथित सांस्कृतिक संस्थायें तथा अन्य अनेक संस्थाओं के अन्दर हमारा धन जाता है और हम उसको दया मानकर कहते हैं कि इस सबसे दया होती है, धर्म होता है। लेकिन उसका असर उल्टा ही होता है। दया धर्म का मूल है। लेकिन मूल होने के कारण दया जब आगे आये तो विचार करो कि इससे जो करूँगा, उसका फल क्या होगा। आँख मीचकर उल्टी जगह दया करोगे तो वह दया शिव की याद से रहित होने के कारण दया की जगह दुःख का कारण पाप का कारण बन जायेगी। परमेश्वर का अघोर तनु तभी प्रकट होगा जब जीवन में दया लाओ लेकिन दया वह जो शिव की याद से युक्त है, इसके बिना दया नहीं। इसी अघोर रूप का आगे और विचार करेंगे।

१२-२-७५

इसमें परमेश्वर के अघोर शिव तनु के प्रकट होने की प्रार्थना करते हुए कहा कि शिवा अघोर तनु पापों को नष्ट करने वाला। परमेश्वर के कल्याणकारी देह के साक्षात्कार से ही समग्र पापों की निवृत्ति सम्भव है। इसीलिये वह परमेश्वर का तनु ही पापों को नष्ट करने वाला है। यद्यपि परमात्मा हमेशा ही हमारे

सन्निहित है। हमारे नजदीक है। यहाँ तक कि जितना परमेश्वर हमारे नज़दीक है, उतना नज़दीक हमारा शरीर और हमारा मन भी नहीं है। जिस समय हमको गहरी नींद (सुषुप्तावस्था) आ जाती है, उस समय न शरीर का भोग रहता है, न मन का भोग रहता है। शरीर और मन का उस काल में भान न रहने पर भी इस शरीर की रक्षा करते हुए परब्रह्म परमात्मा फिर भी जगता ही रहता है। इसलिये परमेश्वर हमारे नज़दीक है कि जब मन हमारा साथ छोड़ देता है, शरीर साथ छोड़ देता है, तब भी वह हमारा साथ नहीं छोड़ता। लेकिन ऐसा होने पर भी लगता है मानो परमेश्वर बहुत दूर है। शास्त्रों में भी जहाँ कहीं परमात्मा को बताया, वहाँ कहा 'तत् उ अन्तिके' वह परमेश्वर बिल्कुल समीप है। गीता में भी भगवान श्रीकृष्ण ने यही कहा, 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति' हे अर्जुन ! सारे प्राणियों के हृदय के अन्दर परमेश्वर रहता है। अपने हृदय से और कोई भी चीज हमारे नज़दीक नहीं हो सकती है। इतने नज़दीक होने पर भी वह दूर लगता है। इसलिये कि हम उसको पहचानते नहीं, जानते नहीं। जो चीज पहचानने में नहीं आती, वह पास रहने पर भी दूर हो जाती है। सामवेद की कौथुमी शाखा को छांदोग्य उपनिषद् में बताया कि किस प्रकार एक आदमी एक खेत का मालिक था। वह खेत उसका अपना ही था। उस खेत के अन्दर वह खेती करता था। जो कुछ भी उससे अनाज इत्यादि पैदा होता था, उससे वह अपना कार्यनिर्वाह करता था। उससे उसका पेट भरने का काम तो हो जाता था परन्तु जब उसकी लड़की के विवाह आदि का काल आया तो वह किसी के पास कर्जा लेने गया। जिसके पास कर्जा लेने गया, वह उसके पिता से परिचित था। उसने कहा—अरे, तुम्हारे पिता जी के पास तो बहुत सोना था, उस सारे सोने का तुमने क्या किया। उसने कहा कि जब पिता जी मरे, उस समय मैं घर में नहीं था। जब आया तो मुझे एक तोला सोना भी नहीं मिला। सेठ ने कहा कि जाकर अपनी माँ से

पता लगाओ। उसने माँ से आकर पूछा कि जब मेरे पिता जी मरे थे तो अमुक व्यक्ति कहता है कि उनके पास बहुत सोना था लेकिन मुझे तो कुछ मिला नहीं, क्या इस बीच घर से कोई निकालकर ले गया है। माँ ने कहा कि ऐसी बात नहीं है। मैंने भी यहाँ सोना नहीं देखा था। उसने अपने मन को सम्हालने के लिये थोड़ा-बहुत ढूँढा लेकिन कुछ नहीं मिला। अंत में उसने सेठ से जाकर कहा कि हम लोगों को इसके बारे में कुछ पता नहीं चला। सेठ ने कहा—सोना था तो जरूर, लेकिन नहीं मिला तो क्या किया जाये। उसने रुपया उधार दे दिया और उस आदमी ने अपनी लड़की का विवाह कर दिया। अब उसने विचार किया कि कर्जा उतारने के लिये मैं अगर अपने खेत की ज्यादा जुताई करूँ तो उपज बढ़ जायेगी और कर्जा जल्दी उतार दूँगा। खेत का नियम है कि जितनी गहरी जुताईकरोगे, जितना मिट्टी को नीचे-ऊपर करोगे, उतना ही अधिक अन्न उपजेगा और जितना खेत केवल ऊपर ऊपर से जोता जाता है, उतनी ही खेती कम होती है। अब चूँकि उसने कर्जा उतारना था, इसलिये सोचा कि जरा अधिक परिश्रम किया जाये। गहरा खोदकर जब मिट्टी ऊपर नीचे करने लगा तो एक जगह उसका फावड़ा लगा तो टन की आवाज हुई। उसे लगा कि यहाँ कोई पत्थर की चट्टान होगी, इसे निकाल दें तो अच्छा रहेगा, खेत और अधिक उपजाऊ हो जायेगा। इस दृष्टि से उसने अपने बच्चों को भी बुलाया और वहाँ की खुदाई की तो अंदर से एक मटका निकला, उसे उसने बाहर निकाला तो उसमें सोना भरा हुआ था। बड़ा प्रसन्न हुआ और चारों तरफ ढूँढ़ने लगा। उसमें उसको तीन मटके सोने के भरे हुए मिले। बहुत प्रसन्न हो गया! जब कर्जा उतारने गया तो सेठ ने पूछा कि इतनी जल्दी धन कहाँ से आ गया। उसने कहा कि आपकी बात सच्ची निकली। खेत के अन्दर यह सोना गड़ा हुआ था। छांदोग्य की श्रुति कहती है 'अहरहक्षेत्रज्ञ.......' खेत को ठीक प्रकार से नहीं जानने वाले लोग प्रतिदिन उस पर से आते जाते हैं, उस पर काम

भी करते हैं, उससे कुछ उत्पन्न भी कर लेते हैं लेकिन उस खेत में क्या दबा हुआ है, इसको नहीं जानने के कारण जो उसका असली माल है, उसका लाभ नहीं उठा पाते। ऊपर ऊपर संचरण करते रहते हैं, ऊपर ऊपर उसे खोदते हैं लेकिन गहरे जाकर असली चीज का पता नहीं लगा पाते। उसका धन कोई दूर नहीं था, वहीं उसके खेत में ही गढ़ा हुआ था। लेकिन ज्ञान न होने के कारण उसका लाभ उठाने में समर्थ नहीं था। ठीक इसी प्रकार से यह जो मनुष्य शरीर है यह एक क्षेत्र है। यह भी एक खेती ही है। इस खेती के अन्दर ऊपर ऊपर में कुछ भोगों की प्राप्ति कर लेते हैं, कुछ सांसारिक विषयों को ले लेते हैं। सोचते हैं कि यही इस शरीर का सार है, इस शरीर से बस यही उग सकता है। काम और अर्थ दो की पूर्ति ही इस शरीर से हो सकती है 'अन्य······न जानाति' अन्य चीज को नहीं जानते कि इसमें और क्या चीज है। इससे इनका प्रतिदिन का काम चलता रहता है। जैसे उस आदमी का काम चलता था ऐसे ही इनका काम भी जन्म-मरण रूपी भोग से ही चलता है। किसी काल में जब यह इतने से संतुष्ट नहीं होता तो सोचता है कि बार-बार सुनते हैं कि मानव देह अत्यंत दुर्लभ है तो क्या यही इसकी दुर्लभता है ? क्या यही इसमें सब कुछ है ? जब यह प्रश्न आता है तो कुछ अधिक आनंद की इच्छा होती है। केवल काम और अर्थ इसको संतुष्ट नहीं कर पाते। तब यह शास्त्र रूपी सेठ के पास जाकर कहता है कि इसमें कुछ और प्राप्ति का साधन भी है क्या ? शास्त्र उसको पहले बताता है कि सम्पूर्ण आनन्दघन तो तू ही है 'विज्ञानं आनन्दं ब्रह्म रातिर्दातुपरायणम्' सारे आनंद की पूर्णता तो तेरे में ही है। जरा अपने अन्दर देख तो सही। जाता है, देखने का प्रयत्न करता हैं, देखता है कि कुछ खास आनंद नहीं मिला। थोड़ी देर बैठकर ध्यान करता है। हृदय के अन्दर कुछ देखूं तो काम बन जाये। लेकिन वहाँ केवल अंधकार ही उसे नज़र आता है। युक्ति रूपी माता से पूछता है कि शास्त्र कहता है कि मेरे पिता परमेश्वर ने अपने घर में आनन्द का

भण्डार रखा है क्या ? युक्ति रूपी माता से पूछता है कि इस सोने को प्राप्त करने का कोई उपाय है क्या ? युक्ति कहती है कि मेरे को भी पता नहीं क्योंकि श्रुति का कहना है 'नैषातर्केण'....... आपनेया (प्राप्नेया) यह परमात्मविषयक अनुभव तर्क के द्वारा नहीं मिलता। भगवान वेदव्यास कहते है 'तर्कादप्रतिष्ठानात्' तर्क की कोई प्रतिष्ठा नहीं है। युक्ति कहती है कि इस आनन्दधन का मुझे भी पता नहीं है। अब यह साधक अक्षेत्रज्ञ (क्षेत्र को न जानने वाला) उस शास्त्र रूपी सेठ से कहता है कि तुम जो कहते हो कि परमात्मा ने वह धन (आनंद) मेरे अन्दर गाड़ा हुआ है, वह मुझे तो कहीं मिला नहीं। आँख बंद करके बैठता हूँ तो अंधकार नज़र आता है और कोई धन तो नज़र आता नहीं। युक्ति रूपी माता से भी पूछा तो उसे भी पता नहीं है, वहाँ भी नहीं मिला। शास्त्र कहता है कि यदि तू अक्षेत्रज्ञ है तो फिर स्वर्ग से लेकर ब्रह्मलोक के सुख को तू उपासना के द्वारा प्राप्त कर ले। यही उसको धन दे देना है। यद्यपि यह सुख संसार के सुखों से तो बहुत बड़ा सुख है लेकिन जो आनन्द धन रूप है उसकी तुलना में कुछ नहीं है। अब जब वह इस धन की दृष्टि से उपासना के द्वारा काम करता है तो अपने हृदय को कुछ गहरा खोजता है। वहाँ यद्यपि वह परमेश्वर को अपने से भिन्न देख रहा है लेकिन उस परमेश्वर की उपासना के लिये उसे बाहर की वृत्ति कम करनी पड़ती है। जब बाहर की वृत्ति कम करता है तब इसको धीरे-धीरे थोड़े से अंतःप्रकाश का पता लगता है। यह पता लगने पर वह सोचता है कि और गहरे जाकर देखूँ कि क्या है। जैसे उसने खेत को और ज्यादा सफलता प्राप्त करने के लिये गहरा खोदा, वैसे ही वह भी अपने अन्दर बैठे हुए हृदय गुफा को और ज्यादा अच्छी तरह गहरे जाकर देखता है। देखने पर मानों वह धन कुछ नहीं है। इसी प्रकार उपासना की तीव्रता में, उपासना की गम्भीरता में बीच-बीच में अहंकारात्मिका वृत्ति लय होती है और उसे बड़े आनंद का स्फुरण होता है। उस स्फुरणकाल में इसके मन में

होता है कि यह कुछ है। गया तो था भेद-दृष्टि से उपासना करने, लेकिन वह उपासना जहाँ गहरी हुई वहाँ अहं लीन हो जाता है और जहाँ अहं लीन हुआ वहाँ परम आनंद का स्फुरण होने लगता है। यह परम आनन्द के स्फुरण के धनागम को सुनकर सोचता है कि इसे जरा अच्छी तरह से निकालकर देखें। जव देखने के लिये अन्दर प्रविष्ट होता है तव इसे वहाँ क्षेत्रज्ञ का पता लगता है क्योंकि मैं रूपी अहंता और ममता रूपी ही वह वृत्ति है जिससे यह क्षेत्रज्ञ दवा हुआ है। 'अहं ममेति बंध करे पदे द्वे' शास्त्रकार कहते हैं कि अहं मम ये दो चीजें ही बंधन करने वाली हैं और कोई बंधन अपने ऊपर नहीं है। मनुष्य न जाने कितने बंधनों की कल्पना करता है लेकिन बंधन केवल मैं और मेरा ही है। अन्यत्र भी कहते हैं 'ममेति बध्यते जन्तुः निर्ममेति विमुच्यते' जिस चीज के साथ 'मेरा'पने का यह आंकुड़ा या खटका लगा दोगे, वहीं बंध जाओगे और जहाँ मेरेपने के भाव को हटा दिया वहीं छूट जाते हो। प्रतिदिन के अनुभव में देखते हो। हमारा एक वहुत वढ़िया मकान है, वड़ा सुन्दर मकान वनाया, वह मेरा मकान है। कलकत्ते का मकान है, इसलिये भाड़े भी देना हुआ। यदि सीढ़ी के ऊपर कोई आदमी वाल्टी ठन्न करता है तो छाती में लगता है कि जैसे किसी ने सुई चुभो दी। वहीं से चिल्लाते हैं कि सीढ़ी मार्बल की है, जरा धीरे चला करो। अगर कोई आदमी दीवार में कील ठोंकने लगा तो लगता है कि मेरे हाथ में ही कील ठोंक रहा है। उससे कहते हैं कि ऐसे दीवार में कीलें मत ठोका करो, दीवार कमजोर हो जाती है। वार-वार कील ठोकोगें और निकालोगे तो उसमें खटमल भर जायेंगे। और भगवान न करे कहीं भूकम्प आ जाये तो वाकी सव तो वाहर भागेंगे और यह पीछे देखता रहेगा कि कुछ निकाल लें। यह ममता का आंकुड़ा है। अव उसके वाद किसी कारण से हमने सोचा कि वड़ा वाजार में वहुत रश (भीड़) है, वालीगंज में कहीं मकान वनायें। अच्छा खरीदार भी मिल गया। तीन लाख में वनाया था, १८ लाख का

खरीदार मिल गया। १८ को पहले ही दो हिस्सों में बाँटोगे क्योंकि आजकल रुपया दो तरह का होता है। हमको तो दो तरह का नहीं दीखता, हमें एक ही तरह का रुपया दीखता है। १८ लाख रुपये मिल गये और वह मकान बेच दिया। अब उस मकान की सीढ़ी को कोई तोड़ता भी है तो मन में दुःख नहीं होता है। अव उसमें कोई कील छोड़कर लोहे का छड़ भी गाड़ दे तो भी दुःख नहीं होता है। 'निर्ममेति विमुच्यते' उसमें से ममता हट गई। भगवान न करे किसी कारण से बिक्री के १५ दिन बाद बिजली का कोई कनैक्शन ढीला पड़ जाने से उसमें आग लग जाये और सारा मकान जल जाये तो दुःख होना तो दूर रहा, और मन में प्रसन्नता होती है कि अच्छा हुआ मैंने समय से बेच दिया, बिका न होता तो आज मेरा क्या हाल होता। ममता हट गई, यही हुआ। वहाँ से हटकर अब ममता उन नोटों में लग गई। अव वे नोट जिस तिजोड़ी में रखते हैं, उसकी चावी सम्भाल कर अपनी जेव में रखते हैं। गर्मी पड़ रही है, हवा का नाम निशान नहीं है, तब भी रात में तिजोड़ी के पास ही बिस्तर लगाकर सोते हैं। कोई कहता भी है कि ऊपर चले आओ तो कहते हैं कि यही अच्छा है, हवा में जुखाम होने का डर है। अब तिजोड़ी में ममता हो गई। थोड़े दिन बाद वे नोट तिजोड़ी से निकालकर किसी बैंक में जमा कर दिये या किसी कम्पनी में जमा कर दिये। अब नोटों की तो चिंता नहीं लेकिन अब रोज देखते हैं कि वह बैंक ठीक है या नहीं, कम्पनी में जमा किया तो रास्ते चलते भी पूछते हैं कि जैन्सन और निकल्सन की स्थिति कैसी है। अब उस कम्पनी में अपनी ममता हो गई कि अपना रुपया उसमें चला गया है। इस प्रकार प्रतिदिन के व्यवहार में देखते हैं कि जहाँ जहाँ ममता का आँकुड़ा फँसा, वहाँ वहाँ मनुष्य बंधता है और जहाँ-जहाँ से ममता का आँकुड़ा निकाल लेते हो, वहाँ-वहाँ से छूट जाते हो। जब गहरी समाधि के अन्दर इस 'मैं' का भाव लाते हैं तब आनन्द का स्फुरण होता है। उस आनन्द के स्फुरण के

लिये जब अच्छी तरह देखते हैं तो अब जानकर उस 'मैं' और मेरे-पने को अलग करते हैं। उपासना की गहराई में तो बिना जाने हुए मैं लीन हुआ था क्योंकि तब ध्यान करने गये थे लेकिन ध्यान का स्वभाव है कि ध्यान की गम्भीरता में 'मैं' लीन हो जाता है। महर्षि पतंजलि लिखते हैं 'तदा द्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानं' अब इस अनुभव के द्वारा पता चल गया कि यह मैं ही, हमारे अन्दर रखे हुए क्षेत्रस के आनन्द को दबा रहा है। इसलिए अब जान-बूझकर इस मैं और मेरे भाव को हटाने लगते हैं। 'मैं' को हटाने के लिये यह पहले विचार करता है कि यह मैं क्या चीज है ? क्योंकि मैं रूपी जीव का पता ठीक तरह लग जाये तो फिर हटाना सरल हो जाये। इसलिये अब यह विचार करना प्रारम्भ करता है 'कोऽहं' मेरा क्या स्वरूप है, मैं क्या चीज है जो इतना बड़ा बंधन कर रहा है ? जब इस अहं का पता लगाने जाता है तब इसका विचित्र अनुभव होता है कि यह मैं विचार करने पर कुछ भी नहीं है। बिना विचार के तो यह बड़ा मजबूत है और विचार करने जाओ तो यह कुछ भी नहीं है। मैं तो आत्मा भी नहीं है। यदि कहो कि मैं आत्मा है तो आत्मा नित्य है और मैं रोज ही सुषुप्ति में खतम हो जाता है। इसलिये मैं को नित्य भी नहीं कह सकते, आत्मा नहीं कह सकते। फिर मैं को अनात्मा या जड़ मान लें। किन्तु अनात्म पदार्थों में स्व पर प्रकाश की सम्भावना नहीं होती। अनात्मा किसी पदार्थ को ज्ञान नहीं देता और यह मैं अपने आपको भी जानता है और बाकी सब चीजों को भी जानता है। चूंकि जानता है इसलिये इसे अनात्मा अर्थात् जड़ नहीं कह सकते। चूंकि अनित्य है इसलिये इसे चेतन परमात्मा भी नहीं कह सकते। फिर अपना काम कैसे चलता है। एक जगह बहुत बड़े आदमी का व्याह था। पुराने जमाने का ब्याह समझना। आजकल तो पहले ही पूछते हैं कि कितने आदमी लाओगे ? 25 या तीस। एक समय भोजन करेंगे या बहुत जोर लगाओ तो दो समय। पहले तो बारात में हजार पन्द्रह सौ आदमियों से इज्जत मानी जाती थी। हफ्ता पन्द्रह दिन

रहे, बड़े आनन्द से ब्याह होता था। आगरे में हमारे एक परिचित हैं। उनका व्याह बनारस में हुआ था। सत्तर साल पहले की बात है, अब उनकी उम्र 80 की है। नौ साल में ब्याह हुआ था। वह कह रहे थे कि बनारस पहुँचे, ब्याह हो गया। पाँच सात दिन बारात रही। जब कार्यक्रम समाप्त हो गया तो मेरे पिता जी ने लड़की वालों से कहा कि अब शिवरात्रि में दस दिन ही बाकी रह गये हैं। इससे पहले आगरे वापस कहाँ जायेंगे। तुम कहो तो मैं अपने खर्चे से यहाँ रह जाऊँ। लड़की वाले ने कहा कि आनन्द से यहीं रहिये। दस दिन रहकर शिवरात्रि का त्योहार करके वापस आगरे आये। क्या आजकल इसकी कल्पना भी कर सकते हो। पहले हजार पन्द्रह सौ आदमियों की बारात जाना कोई बड़ी बात नहीं मानी जाती थी। बारात पहुँच गई तो एक आदमी वहाँ पूछने आया कि आपको सब चीजों की सुविधा तो है, किसी चीज की जरूरत तो नहीं है। बारात वालों ने सोचा कि लड़की वालों की तरफ से आया होगा। कह दिया कि अमुक चीज की सुविधा हो जाये तो अच्छा है। उसने जाकर लड़की वालों से कहा कि अमुक चीज वहाँ भेज दो। उन्होंने बड़े हाथ-पैर जोड़कर कहा—जी अभी इन्तजाम करवा देते हैं। इन्तजाम करवा दिया। इस प्रकार एक दो दिन हुए, वह व्यक्ति कभी इधर डाँटे और कभी उधर डाँटे। दो दिन बाद जब लड़की और लड़के के पिता किसी बात को लेकर मिले तो लड़के वालों ने कहा कि बाकी सब तो ठीक है लेकिन आपका मैनेजर बड़ा दुःखी करता है। उन्होंने कहा कि मेरा तो कोई मैनेजर नहीं है। तब उन्होंने कुछ चिह्न बताये कि ऐसा कोई आदमी है जो यहाँ आकर इस इस प्रकार से बातें करता है। उन्होंने भी कहा कि वह तो आपकी तरफ का है, वही हमसे भी पूछने आता है। लड़की वालों ने कहा कि हमारा भी नहीं है। दोनों ने तुरन्त उसे बुलवाया। वह व्यक्ति तो बड़ा चतुर था, जब उसे बुलावा आया तो उसने जान लिया कि दोनों साथ ही हैं। उसने बहाना बनाया और वहाँ से ऐसा भागा कि फिर कभी

उसने मुँह नहीं दिखाया। जैसा उस आदमी का हाल है, वैसा ही 'मैं' का हाल है। जब अनात्म पदार्थों से व्यवहार करता है, शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि से व्यवहार करता है तब तो अपने को आत्मा का एजेण्ट बताता है। मैं कौन, तो कहता है 'मैं आत्मा'। शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि जो अनात्म पदार्थ हैं, वे इसे आत्मपक्ष का मानकर दब जाते हैं। जब यह आत्मा की तरफ जाता है तो वह पूछता है कि तू कौन? कहता है 'मैं अनात्मा' अहंकार की वृत्ति बनती है तो जब तक वृत्ति है तब तक मैं अनात्मा है, आत्म पदार्थों की तरफ से आया हूँ। आत्मा के पास मन का दूत बनकर जाता है, मन की बात को लेकर अहं के पास जाता हैं तो भी यही कहता है कि यह मैं चाहता हूँ। देह आदि के रोग को लेकर जाता है तब भी यही लेकर जाता है। रोग शरीर में है और अपने आपको जताता है कि मैं रोगी हूँ, मैं दुःखी हूँ, मन का प्रतिनिधि बन गया। मैं बुद्धिमान, मैं धर्मात्मा, बुद्धि का प्रतिनिधि हो गया। जब यह आत्मा के सामने जाता है तब तो अपने को अनात्मा का दूत बताता है, अनात्मा के पक्ष का बताता है। जब यह अनात्मा की तरफ आता है तो अपने को ज्ञान वाला होने के कारण आत्मा के पक्ष का बताता है और इस प्रकार अतिदीर्घ काल से अपना काम चलाता रहता है। जब यह प्रश्न साधक के मन में उठता है कि यह आत्मा क्या है, अहं क्या है 'कोऽहं'। विचार करता है कि यह तो न आत्मपक्ष का और न अनात्मपक्ष का सिद्ध होता है। आत्मपक्ष का होता तो नित्य होता और अनात्मपक्ष का होता तो जड़ होता। जैसे ही इसे पता लगता है कि विवेक के द्वारा उसकी यह पोल खुल गई वैसे ही यह अहं ऐसा भाग जाता है कि फिर कभी मुँह दिखाता ही नहीं है। यह जो आत्मा और अनात्मा दोनों का प्रतिनिधि बनना है, इसीलिये इसको शास्त्रों में अनेक जगह हृदय-ग्रंथि कहा। गाँठ कोई चीज नहीं हुआ करती। दो भिन्न-भिन्न धागों को इकट्ठा कर दिया तो कोई गाँठ पैदा थोड़े ही हो गई लेकिन लगता है कि पैदा हुई है। जहाँ दोनों धागों को अलग कर

दो तो गाँठ नाम की कोई चीज नहीं रह जाती। इस प्रकार यह अहं आत्मा और अनात्मा की गाँठ बना हुआ है। जैसे ही विवेक के द्वारा पता लगा कि आत्मा का हिस्सा यह अलग हुआ अनात्मा का हिस्सा यह अलग हुआ। भिद्यते हृदयग्रंथिः छिद्यन्ते सर्व संशयाः। क्षःयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन दृष्टे परावरे' अथर्व वेद का मंत्र कहता है कि हृदय की गांठ अहं ही है। बस अलग हो गया। तब जितने भी संशय हैं, सब नष्ट हो जाते हैं। जगत कहाँ से आया, जगत के निर्माण का कारण क्या, जगत की प्रतीति क्यों? परमेश्वर जगत का नियंत्रण कैसे करता है? सुख दुःख का भोग करने वाला कौन है? इत्यादि अनेक संशय हैं जिनके बारे में अनादि काल से आज तक बड़े-बड़े विचारक बैठकर निर्णय करना चाहते हैं, लेकिन किसी एक निर्णय पर नहीं पहुँच पाते। ये आधारभूत संशय हैं। आदमी चाहता है कि इन संशयों को अहं के रहते ही मैं निवृत्त करूँ। वह यह भूल जाता है कि सारा टण्टा डालने वाला यही तो है। जैसे उस आदमी के रहते हुए लड़के और लड़की वालों में सिवाय मनमुटाव और झगड़े के क्या होगा, जब तक कि वह आदमी वहाँ से न हटे। इसी प्रकार इस अहं के रहते हुए क्या तुम्हारे संशय दूर होने हैं? जब तक अहं आत्मा अनात्मा की गाँठ डालने वाला है तब तक समस्या और उलझती जायेगी, सुलझेगी नहीं। जितना बुद्धि से विचार करोगे, युक्ति से सोचोगे, उतना ही मामला ज्यादा उलझेगा। जब विवेक कर लिया, अलग कर लिया तो सारे संशय नष्ट हो जाते हैं और जितने कर्म हैं, वे सारे समाप्त हो जाते हैं। फिर वे कर्म उसे फल नहीं दे सकते। 'तस्मिन् दृष्टे परावरे' यह जो परावरता का दर्शन है यही परमेश्वर का कल्याणकारी तनु है, दयामय रूप है। जब इस तनु का दर्शन हो जाता है, अहं से आत्मा अनात्मा को अलग करके जान लेता है, तब फिर 'अघोरा पापकाशिनी' उसी को यहाँ कहा कि समग्र पापों को नष्ट कर देते हैं। यद्यपि आत्मा अपने पास है लेकिन चूँकि उसको गहरे खोदा नहीं, इसलिये वह

मिला नहीं। जब गहरा खोदते हैं तब पता लगता है कि न यह आत्मा का धर्म है और न अनात्मा का धर्म है। दोनों से रहित हुआ यह व्यर्थ ही सारे संशयों को पैदा करता रहता है। अब यह जो आत्मा के स्वरूप को समझना है, यहाँ जो इसको खोजना है, इस पर आगे विचार करेंगे।

१३-२-७५

उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व के पापनिवर्तक रूप का प्रतिपादन किया, कल्याणमय रूप का प्रतिपादन किया। कल बताया था कि वस्तुतः मनुष्य के इस शिव रूप को प्राप्ति में अहं ही बाधक बनता है। पता लगने पर यह अहं नहीं रहता है। जब तक इसका पता नहीं लगता तब तक यह बड़े जोर-शोर से बना रहता है। वस्तुतः सारे व्यवहारों का बीज यह अहं ही है। संसार में आत्मा और अनात्मा दो चीजें हैं। प्रश्न होता है कि आत्मा नित्य शुद्ध है, फिर आत्मा में बिगाड़ कैसे? अहं के विवेक से इस रहस्य का पता लगता है। आत्मा परमात्मरूप, सच्चिदानन्द रूप होने के कारण उसमें कभी कोई बिगाड़ (विकार) नहीं आ सकता। उसमें असत्, जड़, दुःख, परिच्छिन्नता इत्यादि दोष वैसे ही नहीं हो सकते जैसे सूर्य में अंधकार, ठण्डक इत्यादि दोष नहीं हो सकते। परमात्मा सच्चिदानन्द नित्य शुद्ध रूप होने के कारण उसमें किसी प्रकार का दोष सम्भव नहीं है। संसार में दो ही पदार्थ हैं—आत्मा और अनात्मा। यदि आत्मा में कोई दोष नहीं तो अनात्मा में ही दोष होगा। विचार करके देखो तो अनात्मा में भी बिगाड़ नहीं है। क्योंकि अज्ञान और माया का कार्य होने से वह तो हमेशा ही बिगड़ा हुआ है। अनात्म जगत बिगड़ नहीं सकता क्योंकि वह तो बिगाड़ रूप ही है। आत्मा बिगड़ नहीं सकता क्योंकि सच्चिदानन्द रूप है और जब वह बिगड़ा ही नहीं तो सुधार कैसे हो। फिर कहोगे कि अनात्मा बिगाड़ रूप है या माया का कार्य है। स्वरूप से भ्रष्ट होना ही माया का बिगाड़ है।

हमेशा दोष से युक्त होना ही तो माया है। इसलिये अनात्मा में भी विगाड़ नहीं होता। जैसे कोयला यदि काला है तो कोयले का कालापन दोषरूप नहीं है क्योंकि वह तो नित्य ही काला है। कोयले का काला होना धर्म है, इसलिये कोयले का काला होना दोष नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार संसार माया का कार्य होने के कारण इसमें माया का रहना, माया के दोषों से युक्त होना दोष नहीं है। जो चीज पहले शुद्ध होती है और फिर अशुद्ध होती है, उसी को विगड़ा हुआ कहा जाता है। जो हमेशा ही अशुद्ध है उसमें विगड़ने की वात कैसे करोगे, उसे कहाँ से सुधारोगे। आत्मा इसलिये नहीं विगड़ा कि विगड़ सकता नहीं, अनात्मा इसलिये नहीं विगड़ा कि विगाड़ रूप है। तव फिर सुधार या शोधन किस का करोगे ? यह प्रश्न आता है। विगड़ने वाली चीज व्यवहार है। न आत्मा विगड़ा है और न अनात्मा विगड़ा है परन्तु आत्मा का और अनात्मा का जो यह ग्रन्थि रूप अहं है, इसके कारण व्यवहार विगड़ा है। इसलिये व्यवहार को सुधारना, व्यवहार को शुद्ध करना ही प्रथम चीज है। व्यवहार सुधर गया तो सव सुधर जायेगा। स्मृतिकारों ने इसीलिये कहा 'आचारः प्रथमो धर्मः' तथा 'आचारहीनः न पुनन्ति वेदाः' कहते हैं कि मनुष्य का प्रथम धर्म आचार अर्थात् व्यवहार है। यही ठीक करना है। चाहे सारे वेदशास्त्रों को पढ़ लो, सारे सत्संगों को कर लो, सारे मन्दिरों में घूम आओ, सारी तीर्थयात्रायें कर लो, वद्रीनारायण से रामेश्वर तक सव जगह पर स्नान कर लो, गंगोत्री से जल लेकर अपने कंधे पर काँवर रखकर रामेश्वर पर चढ़ा लो, परन्तु यदि तुम्हारा व्यवहार नहीं सुधरा तो सव व्यर्थ है। आज के युग में यह वहुत समझने की चीज है क्योंकि लोग वस इस व्यवहार को टालना चाहते हैं। वाकी सव चीजें करने के लिये तैयार हो जाते हैं। उनसे कहो कि इतनी वार जप करलो, कर लेंगे, इतने दिन व्रत रख लो तो रख लेंगे। लेकिन उनसे कहेंगे कि तुम्हारे व्यवहार से घर में किसी को दुःख न हो तो कहेंगे कि यह जाने

फिर बता देंगे कि क्या करना क्योंकि एक काल्पनिक भाई को मानकर तुम फतवा यह लेना चाहते हो कि कभी-कभी भाई का विरोध करना पड़ता है। जैसे जिसको शराब पीने की आदत हो तो वह कहता है कि यदि कोई बीमार पड़ा हो, अमरनाथ की यात्रा में जा रहा हो, साँस टूट रही हो, आयुर्वेदिक औषधि वहाँ प्राप्त न हो और डॉक्टर कह दे कि हमको शरब या ब्राण्डी लेनी पड़ेगी तो क्या करना ? हम उससे कहते हैं कि जब ऐसा हो, उस समय हमसे पूछना। इसी प्रकार जिसको मांस खाना होता है तो वह कहता है कि टुण्ड्रा में जहाँ किसी प्रकार की साग-भाजी नहीं मिलती वहाँ के मनुष्य के लिये मांस खाना उचित या अनुचित। हम उससे पूछते हैं कि वहाँ कभी गये हो, आँख से देखा है। कहता है नहीं जी, भूगोल की किताबों में पढ़ रखा है। तब हम उससे कहते हैं कि जब वहाँ जाओ तो पूछना। इस प्रकार की बातों से एक असम्भव परिस्थिति की कल्पना करके मनुष्य केवल अपने मन को सांत्वना देना चाहता है। व्यवहार सापेक्ष्य होता है, इसलिये किसी भी व्यवहार की स्थिति में, किसी न किसी परि-स्थिति में उसमें दोष निकल ही आयेगा। विचारने की चीज तो यह है कि कौनसी चीज समाज में अधिकतर रूप से लाभ देती है। कहीं का दृष्टांत होने से काम नहीं चलेगा। व्यवहार ही बिगड़ता है और व्यवहार को ही सुधारना पड़ता है क्योंकि बिगड़ने वाली चीज व्यवहार है, परमार्थ नहीं है। व्यवहार माने क्या ? शब्द प्रतीति और क्रियाओं का नाम ही व्यवहार है। किसी न किसी शब्द को लेकर और किसी न किसी क्रिया को लेकर ही व्यवहार होता है। यह व्यवहार चाहे सत् शब्द प्रयोग का हो, तब हो सकता है, चाहे क्रिया का हो, सत् हो सकता है। चाहे असत् शब्द और असत् क्रिया हो सकती है। व्यवहार क्रिया और शब्द है और क्रिया तथा शब्द सत् और असत्, ठीक और गलत, उचित और अनुचित हो सकते हैं। इसलिये क्रिया और शब्द को ही ठीक करना है। जैसे सीप में चाँदी दीखती है

तो चाँदी यह शब्द हुआ और चाँदी को पकड़ने के लिये प्रवृत्ति क्रिया हुई। यह असत् क्रिया है क्योंकि सीप में चाँदी है नहीं और सीप की चाँदा ग्रहण नहीं की जा सकती। इसलिये सीप में चाँदी की प्रतीति, सीप में चाँदी शब्द का प्रयोग और सीप के द्वारा चाँदी को उठाने की क्रिया ये सब असत् व्यवहार हैं। दूसरी तरफ सीप को सीप जानना, सीप को सीप कहना और सीप से बटन इत्यादि सीप की ही चीज बनाना इत्यादि कर्म करना सब सत् क्रिया, सत् व्यवहार है। जो चीज जैसी है, उसका उसके अनुरूप समझना, क्रिया करना, शब्द का प्रयोग करना, यह सत् व्यवहार है। जो चीज जैसी नहीं है, उसको वैसा समझना, उसके लिये वैसा शब्द प्रयोग करना और उसके प्रति वैसी क्रिया करना, यह असत् व्यवहार है। अब विचार करो कि जगत में सत्य बुद्धि करना व्यवहार का बिगड़ना हुआ क्योंकि जगत असत्य है और तुम इसमें सत्य बुद्धि करते हो। सत्य वह होता है जो अपने रूप को न छोड़े। जगत में जितने पदार्थ हैं, वे सब अपने रूप को छोड़ते हुए दीख रहे हैं। फिर भी 'जगत को सत्य समझना और सत्य मानकर जगत के अन्दर व्यवहार करना असत् व्यवहार है। शरीर में चेतनरूपता क्योंकि शरीर जड़ है। प्रत्येक व्यक्ति को दीखता है कि जब जीव इसमें से निकल जाता है तो यह पड़ा रह जाता है। अतः जड़ शरीर में चेतन बुद्धि को करना, तद्नुकूल शब्द प्रयोग करना, क्रिया करना आदि सबका सब असत् व्यवहार है। इसी प्रकार स्त्री धन, आदि के अन्दर सुख बुद्धि वरण करना, स्त्री धन सुख का कारण है, यह असत् क्रिया, असत् व्यवहार है, असत् शब्द का प्रयोग है। जगत में सत्यत्व धी, शरीर में चेतन बुद्धि, स्त्री धन आदि पदार्थों में सुख बुद्धि, ये सब असत् व्यवहार हैं। इसी प्रकार आत्मा में कर्तृत्व धी करना, अकर्त्ता अभोक्ता आत्मा को कर्त्ता समझना, भोक्ता समझना, सुखी-दुःखी, परिच्छिन्न समझना, यह सारे का सारा असत् व्यवहार है और तदनुकूल प्रवृत्ति करना

भी सारा असत् व्यवहार है। जगत में असत्य बुद्धि करना, पदार्थों में दुःख बुद्धि करना, आत्मा में अकर्त्ता अभोक्ता बुद्धि करना सारे सत् व्यवहार हैं। जितना कुछ विगड़ रहा है, वह इसीलिये विगड़ रहा है कि हमने यह व्यवहार विपरीत कर रखा है। व्यवहार की विपरीतता से ही ये सारे दुःख देते हैं। भाई-भाई का झगड़ा क्यों होता है ? धन में सुख बुद्धि करके ही तो ऐसा होता है। धन में यदि दुःख बुद्धि हो तो क्या कभी भाई-भाई का झगड़ा हो सकता है। एक कहेगा तू ले जा, दूसरा कहेगा तू ले जा।

एक ब्रह्मचारी मगध देश (जिसे आजकल विहार कहते हैं) के अन्दर पढ़ता था। जहाँ वह रहता था, उसके पास में एक क्षेत्र था, वहाँ भोजन करने जाता था। वहीं पर एक वर्तन माँजने वाली लड़की थी। उसके साथ उसका कुछ स्नेह सम्वन्ध हो गया। कुछ दिन तो चलता रहा। कुछ दिन के वाद उत्सव का कोई समय आया, उस लड़की ने कहा कि मेरे को पाँच सौ अशर्फी लाकर दो। उसने कहा कि मैं तो अभी पढ़ रहा हूँ और खाने भी इस क्षेत्र में ही आता हूँ। अशर्फी कहाँ से लाकर दूँ। लड़की ने कहा कि मुझे तो लाकर देनी ही पड़ेंगी। उसे उपाय भी वता दिया कि मगध नरेश रोज प्रातःकाल उस व्यक्ति को जो उनके सामने सवसे पहले आता है, सौ अशर्फी दे देते हैं। तू पाँच दिन तक वहाँ जायेगा तो तेरे को ५०० अशर्फी मिल जायेंगी। लेकिन सवेरे सवसे पहले वहाँ पहुँचना पड़ेगा। ब्रह्मचारी ने सोचा कि उपाय तो ठीक वता दिया। उस जमाने में घड़ी होती नहीं थी। रात्रि में उस ब्रह्मचारी की जव आँख खुली, वह उठ बैठा, सोचा सोने से कहीं देरी न हो जाये, झटपट नहा धोकर कपड़े पहनकर राजमहल में पहुँच गया। उधर से पहरेदार लोग निकले तो रात को दो वजे उसे वहाँ देखा तो उन्होंने सोचा कि यह कोई चोर है। उसे पकड़ लिया। वह कहने लगा कि मैं ब्रह्मचारी हूँ। उन्होंने कहा—अच्छा ब्रह्मचारी है, रात में दो बजे यहाँ कैसे आया ? उसे पकड़कर बन्द कर दिया।

उसने बड़ा हल्लागुल्ला मचाया लेकिन वहाँ कौन सुने। सवेरे उसको राजा के पास पेश किया गया कि यह इस-इस प्रकार से रात के दो बजे राजमहल में चोरी करने आया था, वहीं पकड़ा गया। इसको दण्ड देना चाहिये। राजा ने उससे पूछा कि क्यों आया था? कहने लगा कि सच्ची बात यह है कि आप सवेरे-सवेरे सौ अशर्फी देते हैं, यह मुझे किसी ने बताया था, इसीलिये आया था। राजा ने पूछा—सौ मिल जायें तो तेरा काम हो जायेगा। कहा—नहीं, चाहिये तो पाँच सौ अशर्फी हैं। राजा ने कहा कि पाँच सौ का क्या करेगा। तू पढ़ने वाला ब्रह्मचारी है, तेरे को पाँच सौ किसलिये चाहिये। सच्ची बात बता। भोला था, थक भी गया था। उसने कहा—मैं जिस क्षेत्र में रोटी खाने जाता हूँ वहाँ की नौकरानी के साथ मेरा कुछ सम्बन्ध हो गया है। वह कहती है कि अमुक उत्सव से पहले मुझे पाँच सौ अशर्फी लाकर दे। उसी ने यह उपाय भी मुझे बताया कि पाँच दिन जा, तो मिल जायेंगी। मैं इसीलिये आया था। यह बात सुनकर राजा को निश्चय हो गया कि बोल तो यह सत्य रहा है क्योंकि ऐसा भी कह सकता था कि सौ से काम चल जायेगा। फिर इसने अपनी कमजोर बात भी कह दी। इसलिये कह तो यह सच ही रहा है। राजा ने फिर पूछा कि और भी कुछ चाहिये? कहा—नहीं जी पाँच सौ अशर्फियों की ही जरूरत है। राजा कहने लगा कि आज तू और सोच ले, उस लड़की से मिलकर और बात कर ले। मैं तुम लोगों की शादी करवा दूँगा और जो कुछ भी चाहिये एक बार में माँग लेना और सोचकर माँगना कि फिर तेरे को ऐसा काम न करना पड़े। उसने घर ज़ाकर सोचा कि पाँच सौ अशर्फी तो इसने पहले ही माँग लीं, ब्याह हो गया तो कितना माँगेगी, तीस साल में कितना हो जायेगा, ब्याह के बाद खाने-पीने का खर्चा भी होगा। सोचा कम से कम एक लाख अशर्फी हों तो काम चलेगा। फिर कपड़ों का क्या हाल होगा, इसको गहने भी चाहिये। विचार किया कि एक करोड़ हों तो ठीक है। फिर सोचने लगा कि एक

करोड़ मिल गई तो रखूंगा कहाँ, इसलिये एक वढ़िया पक्का मकान भी चाहिये। यह तो मन है, एक वार इसको कामना के घोड़े पर विठा दो तो देखो, कैसा दौड़ता है। उसने सोचा कि मकान भी हो गया, एक करोड़ भी उसमें रख लिये तो उनकी रक्षा के लिये पुलिस फौज भी चाहिये। कामर्स के एक विद्वान लिखते हैं कि एक खर्चा करो तो उसके लिये और चार खर्चे तैयार हो जाते हैं। अव वह विचार करने लगा कि पुलिस के लिये खाने-पीने को भी कुछ चाहिये। साथ में कुछ खेती हो तो उनका खर्चा चले। सोचते-सोचते अंत में इस निर्णय पर पहुँचा कि मगध का राज्य मिल जाये तो ही गुजारा चलेगा। इससे कम में काम नहीं चलेगा। जीवन में यही रोज होता रहता है। एक कामनापूर्ति के लिये दूसरी चीज, उसके लिये तीसरी चीज, यही चक्र चलता रहता है। ब्रह्मचारी दूसरे दिन सवेरे पहुँचा, भोला तो था ही। राजा ने पूछा—सोच लिया, क्या लेगा? कहने लगा—सोचकर यही पाया कि विना मगध का पूरा राज्य मिले गुजारा नहीं। राजा हँस पड़ा और कहा—तूने वहुत अच्छी वात कही। उस राजा के कोई पुत्र नहीं था। कहा—अरे ब्रह्मचारी! मेरी भी उमर वढ़ रही है, मेरे कोई संतति नहीं है। राज्य का काम महान कठोर है। एक वार फस जाओ तो इसमें से निकलना मुश्किल है। आज साक्षात् परब्रह्म परमात्मा ने तुझे मेरे पास भेज दिया। मैं यही सोच रहा था कि राज्य किसी योग्य अधिकारी को देकर मैं इसमें से किसी तरह से निकलूँ। आज भगवान ने तुझे मेरे पास भेज दिया। मैं क्षत्रिय तू ब्राह्मण, इसलिये भी तू मेरे से श्रेष्ठ है। जवान भी है, पढ़-लिख भी रहा है। तेरे को देखकर मेरा चित्त प्रसन्न हो रहा है। तू कल आना, मैं पण्डितों से मुहूर्त दिखाकर तुझे राज्याभिषेक करके जंगल चला जाऊँगा। ब्रह्मचारी वहाँ से चला। उसका माथा ठनका कि जिस राज्य को मैं सोचता था कि तीन काल में नहीं मिलेगा, वह राज्य यह इतनी सरलता से दे रहे हैं और प्रसन्न हो रहे हैं कि मेरे से जा रहा है। यह अवश्य ही

कीचड़ होगा। जिस कीचड़ से यह निकलना चाहते हैं, उसमें मैं भी फंसने वाला नहीं हूँ। घर आकर क्षेत्र पहुँचा। नौकरानी ने पूछा—दो दिन कहाँ रहा। ब्रह्मचारी हाथ जोड़कर कहता है—तूने मेरी बुद्धि को ठिकाने लगा दिया। एक दिन तो जेल भुगत आया। तूने सवेरे जल्दी पहुचने को कहा, मैं दो ही वजे वहाँ पहुँच गया और पकड़ा गया। दूसर दिन संसार की उधेड़बून में लगा रहा। उसे सारी वात वताई कि राजा ने कहा था कि सोचकर एक वार हा जो कुछ माँगना है माँग ले। वही हिसाव-किताव दिन भर करता रहा कि कितना माँगूं। नौकरानी ने कहा—फिर हजार-दो हजार माँगा। कहने लगा—मैंने तो सारा राज्य माँग लिया। वह माथा ठोंककर कहने लगी कि तेरी तकदीर खोटी है। अरे, माँगता तो कोई देने-लेने लायक चीज माँगता। ब्रह्मचारी ने कहा—आगे तो सुन भली मानस। राजा ने देना भी स्वीकार कर लिया है। वह स्तब्ध रह गई। ब्रह्मचारी ने कहा—परन्तु मुझे लेना स्वीकार नहीं है। यह सारा काण्ड तेरे साथ मेरा सम्वन्ध होने से हुआ। अव तुम्हारे को नमस्कार है, तेरा मुँह भी नहीं देखूँगा। मैं तो अव जंगल जा रहा हूँ। उसने कहा—वात तो वता, क्या हुआ? उसने सारी वात वता दी कि इस-इस प्रकार से राजा ने कहा कि इस कीचड़ से निकलना चाहता हूँ। मैंने विचार किया कि जिस राज्य को अपने अधिकृत करके, यह छोड़ना चाहता है, उस कीचड़ में मैं तेरे लिये फँसूँगा। वड़े आनन्द से पढ़ता-लिखता हूँ। तू मुझे ठीक व्यवहार में ले आई, इसलिये मैं तो तुम्हें अपना गुरू ही मानता हूँ कि तूने मुझे ठीक रास्ता वताया। दूसरे दिन ब्रह्मचारी राजा के पास पहुँचा। राजा ने कहा कि मैंने मुहूर्त्त निकालने के लिये पण्डितों को वुलाया है। उसने कहा—अव पण्डितों की कोई जरूरत नही है। जिस कीचड़ से तुम निकलना चाहते हो, उसमें मैं फंसने वाला नहीं हूँ। राजन्! तुमने मेरे मन से तृष्णा रूपी वीमारी को निकाल दिया। राजा ने कहा कि मैं तो वड़ा खुश हो रहा था। उसने कहा—खुश हो रहे थे तो अव मत होइये। मैं तो

जा रहा हूँ, लेकिन राजन् ! मुझे केवल यह वताओ कि तुम इतना सब करते हुए भी इन भोगों से अस्पृष्ट कैसे बने रहे। राजा ने गम्भीर होकर कहा—'रागद्वेषवियुक्तैः विषयान् चरन् आत्मवश्यैः प्रसादमधिगच्छति।' महाभारत में भगवान वेदव्यास कहते हैं कि यदि व्यवहार करना है तो कैसे करो ? रागद्वेष से रहित होकर। व्यवहार करते हुए किसी भी पदार्थ को सुख देने वाला मानकर परमेश्वर से माँग न करो और किसी भी पदार्थ को दुःख देने वाला समझकर उससे द्वेष भी मत करो। राग-द्वेष रूपी काँटे को निकाल कर जो इन्द्रियों के द्वारा विषय रूपी स्थलों में घूमता है, अर्थात् व्यवहार करता है तो उसकी जो इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि इत्यादि हैं, वे उसके वश में रहती हैं। व्यवहार के विगड़ने का मतलव है कि आत्मा का राग-द्वेष के वश में हो जाना और व्यवहार सुधरने का मतलव है राग-द्वेष के वश में आत्मा का न होना। फिर शास्त्रों ने जो विधि बताई, उसे करने में उसे कोई कठिनाई नहीं पड़ती। भाई-भाई का झगड़ा धन को लेकर है, और जिस दिन उस राजा की तरह समझ लेंगे कि धन दुःख का कारण है, सुख का कारण नहीं, फिर लोगों के घरों में झगड़े का कोई कारण नहीं रह जायेगा। मूल से ही खतम हो जायेगा। यह विचारने की ही चीज है। करोड़पति को देखते हैं कि रात भर करवट वदलता रहता है, नींद नहीं आती। दो-चार दिन पहले एक सज्जन ने वहुत मजे की वात कही कि धन तो आजकल अफीम हो गया है। जैसे पहले किसी के घर में एक दो किलो अफीम होती थी तो वह डरता था कि कहीं पकड़े न जायें वैसे ही आज जिसके घर में करोड़ दो करोड़ रुपये पड़े होते हैं वह डरता है कि कहीं सरकार को पता न लग जाये। धन अफीम हो गया है। रात में नींद कहाँ से आयेगी। विचार करो कि धन से सुख होता तो करोड़ रुपये सुख देते कि नींद और उड़ा देते। और दूसरी तरफ उसी दिन प्रवचन के वाद जब हम यहाँ से जा रहे थे तो कलाकार स्ट्रीट का मामला, रास्ता जाम हो गया था, चारों तरफ भीड़, उसमें एक

ठेला जा रहा था, उस पर माल लदा हुआ था, उस माल पर एक आदमी टेढ़ा-मेढ़ा पड़ा बड़े आनन्द से सो रहा था। एक तरफ से मोटरें हार्न दे रही थीं, दूसरी तरफ रिक्शे वाले हल्ला मचा रहे थे, यह भी निश्चित समझो कि उस समय उस सोये हुए आदमी की जेब में पाँच का नोट भी नहीं होगा। क्या धन सुख का कारण है। उसी धन के लिए हम भाई से झगड़ा करते हैं। 'आत्मवश्यै:' जब इस प्रकार से जैसे उस राजा ने समझा था, वैसे हम व्यवहार करते हुए ऐसा जानते हैं कि यह दुःख का कारण है, जैसे राजा राज्य कर रहा था, सब कुछ ठीक से सम्भाल रहा था लेकिन राज्य को छोड़ना वह राज्य को पकड़ने से ज्यादा सुख वाला मानता था, इसी प्रकार सारे व्यवहार करो लेकिन यह जानो कि ये सारे व्यवहार राग-द्वेष से रहित होकर करने हैं। धन पास में है तो अच्छा, चला जायेगा तो और अच्छा। है तो उससे द्वेष नहीं लेकिन इतना जानो कि चले जाने में ज्यादा सुख है। तभी मनुष्य शान्ति और आनन्द को प्राप्त करता है। आजकल के जितने सुधारमण्डल हैं, वे इस बात को नहीं समझते, इस व्यवहार को सुधारना है, इसे नहीं समझते। गलत चीज में गलत चीज को समझना, शब्द प्रयोग करना और क्रिया करना सत् व्यवहार है। इसी प्रकार जगत में सत्य बुद्धि, शरीर में चेतन बुद्धि, धन स्त्री इत्यादि में सुख बुद्धि, आत्मा में कर्त्ता भोक्ता बुद्धि, इन असत् व्यवहारों को छोड़ना है। इसी असत् शब्द और क्रिया से राग-द्वेष होता है। जहाँ यह राग-द्वेष छूट जायेगा, तब आत्मवश्य होकर शान्ति को प्राप्त करोगे। सुधार तो इस चीज का करना है। आजकल के सुधारवादी उल्टा स्वार्थमूलक व्यवहार करते हैं और लोगों को और ज्यादा स्वार्थी बनाने का प्रयास करते हैं तथा समझते हैं कि इन स्वार्थ के व्यवहारों से सुधार होगा। बिगड़े को और बिगाड़ते हैं। शास्त्र कहता है कि एक बार लड़की का विवाह हो गया तो फिर उस विवाह के बाद 'सकृत् कन्या प्रदीयते' उसका पति एक बार निर्णीत हो गया, उसे नहीं बदला जा

सकता। प्रश्नकर्त्ता प्रश्न करता है कि कोई बालविधवा हो जाये तो ? प्रश्न का हृदय है कि उसके स्वार्थ की इच्छा पूरी नहीं हो रही है, इसलिये उसको अपनी कामना पूर्ति करने का कोई उपाय बताओ। इसके द्वारा वह स्वार्थमूलक व्यवहार का प्रचार करता है कि यह अपनी कमना पूर्ति कैसे करे। इसके बाद प्रश्न होता है कि यदि विवाह होने पर पति के साथ उसका स्वभाव न मिले तो वह अपना स्वार्थ कैसे सिद्ध करे ? फिर तलाक चलाओ। उसमे भी दो साल लग जाते हैं। इस स्वार्थमूलक प्रवृत्ति की कहीं समाप्ति नही। जहाँ कोई रुकावट करोगे, वहाँ कोई न कोई स्वार्थमूलक प्रवृत्ति आ खड़ी होगी। शास्त्र दृष्टि कहती है कि कामना को छोड़ो। उल्टा उस कन्या को यदि हम यह कहते हैं कि तेरा बड़ा सौभाग्य है कि जिन कामनाओं को पूरा करके लड़के बच्चों के चक्कर में पड़कर भगवत् भजन की सम्भावना नहीं रह जाती, तेरे को बालकपन से ही यह सुविधा मिल गई। यह तो सुधार की दृष्टि है। कामना के त्याग को जो श्रेष्ठ समझेगा वह तो इसे सुधारेगा। जो कामना की पूर्ति को सुधार मानेगा, वह स्वार्थमूलक प्रवृत्ति से व्यवहार करेगा। इसी प्रकार सब जगह समझना। भाई ने झगडा करके तुम्हारा कुछ धन रख लिया, मान भी लो, तो उस धन का तुमने जो त्याग किया, उससे जो तुम्हारी कामना पूण नहीं हुई, यही नुक्सान हुआ। तुमको तो और प्रसन्न होना चाहिये कि भाई ने धन न रखा होता तो लड़के दबाव देकर घर मे टेलिविज़न लाकर रखते। अच्छा हुआ कि भाई ने धन ले लिया मेरे लडके तो नहीं बिगड़ेंगे। यह स्वार्थ त्यागी का दृष्टिकोण है। इसके विपरीत आजकल के सुधार-वादी का दृष्टिकाण स्वाथमूलक है। इसलिए व्यवहार को सुधारना है और व्यवहार को सुधारना माने जगत में सत्यत्व बुद्धि, शरीर में आत्मबुद्धि, धन आदि में सुख बुद्धि और आत्मा में कर्त्ता भोक्ता बुद्धि को छोडना है। इसको छोड़ने से राग-द्वेष से निवृत्ति होगी और निवृत्ति से शांति की प्राप्ति होगी। इसके

विपरीत स्वार्थमूलक प्रवृत्ति होगी तो सिवाय दुःख के और कुछ नहीं मिल पायेगा। यह पापकाशिनी शिवा तनु सारे पापों को जब नष्ट कर सकेंगे तब पापमूलक राग-द्वेष को छोड़ेंगे। परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि हमारी इस तरफ प्रवृत्ति होकर राग-द्वेष हटे और आपका शिवा तनु प्रकट हो।

१४-२-७५

इसमें उस परब्रह्म परमात्मा के शिवा तनु को प्रकट करने की प्रार्थना की। वह शिवा तनु कल्याणमय है, सारे पापों को नष्ट करने वाला है। पापकाशिनी के स्वरूप का विचार करते हुए बताया कि वस्तुतः क्या चीज है जो शुद्ध होती है और सुधार करने लायक है? न आत्मा में कोई विगाड़ होता है और न अनात्मा में कोई विगाड़ होता है। विगाड़ केवल आत्मा और अनात्मा के अन्योन्याध्यास से होता है जो इन सारे व्यवहारों को करता है। वह व्यवहार ही शुद्ध करना है क्योंकि प्रायः आत्मा की निर्विकारता को हेतु बनाकर लोग अपने व्यवहार को भ्रष्ट करना चाहते हैं। मनुष्य की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति है। व्यवहार की ही शुद्धि अपेक्षित है, आत्मा की शुद्धि अपेक्षित नहीं क्योंकि आत्म स्वरूप से शुद्ध है। व्यवहार अर्थात् अध्यास। शास्त्रकारों ने बताया 'सच्छब्द क्रिये सदि चर्ये।'

कई बार यह शंका होती है कि सदाचार माने क्या है? आधुनिक युग में यह प्रश्न और भयंकर हो गया है क्योंकि पहले जो शिष्ट पुरुष होते थे, बड़े लोग होते थे, उनके जैसा आचरण करना सदाचार होता था। आज परिस्थिति इसके बिल्कुल विपरीत है। जिनको बड़े आदमी माना जाता है, चाहे वह राज्य दृष्टि से हों, चाहे धन दृष्टि से हों, वे सदाचार की जगह उससे विप-

रीत असदाचार में कहीं ज्यादा प्रवृत्ति करते हैं। इसलिये ऐसे लोगों की बात को देखकर तदनुकूल आचरण करना सदाचार की जगह असदाचार हो जाता है। यद्यपि मनुष्य का स्वभाव है कि जिसको बड़ा मानता है, उसकी नकल करता है। सब देशों में यह सत्य है, भारतवर्ष में और भी सत्य है। कुछ अंशों में तो सभी देशों में यह दृष्टि होती है कि जिसे बड़ा मानते हैं तदनुकूल आचरण करते हैं। भगवान ने भी गीता में यही कहा—अरे अर्जुन ! साधारण व्यक्ति गलती करता तो मैं इतना प्रयत्न उसे सुधारने का न करता। लेकिन तू श्रेष्ठ पुरुष है। लोगों की दृष्टि में तू बड़ा है। इसलिये यदि तू गलती करेगा तो तेरी देखादेखी सब गलती करेंगे। 'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥३-२१॥' श्रेष्ठ पुरुष जैसा-जैसा आचरण करता है, उसकी देखादेखी दूसरे भी वैसा ही आचरण करते हैं। वह जिस चीज को प्रमाण मान लेता है, ठीक मान लेता है दूसरे लोग भी तदनुवर्तते अर्थात् उसी को प्रमाण मानने लगते हैं। गांधी जी के पहले भारतवर्ष में प्रजातंत्र की बात अपने में से कोई नहीं जानता था। हमेशा से राजा चले आये थे, राजा ही राज्य करते थे। गांधी जी ने कहा कि प्रजातंत्र ठीक है। उन्होंने उसको प्रमाण रखा तो लोगों को आज तक प्रजातंत्र स्वीकार है। छोटी से छोटी बात भी हो तो लोग प्रजातंत्र की बात करते हैं। कई जगह हम जाते हैं तो लोग हम से भी यही कहते हैं। हम कहते हैं कि अब यहाँ से जाने के दिन आ गये और इस तारीख को जाना है। लोग कहते हैं अभी नहीं जाना है। वहाँ भी गांधी जी की नीति चलाते हैं कि सबसे पूछकर देख लीजिये कि बहुमत क्या है ? हम कहते हैं कि हम प्राचीन समय के आदमी हैं, हम बहुमत को नहीं मानते। किसी तत्त्व का निर्णय बहुमत से हो, यह हमारी समझ में नहीं आता। कितने आदमी किसी बात को कहते हैं, इससे ठीक बात का निर्णय कैसे होगा। घर में भी यही समस्या है। लड़की का विवाह करना

है तो पूछते हैं कि सबको क्या करना है ? पहले इसकी कल्पना ही नहीं करते थे। बड़े को जो करना है, वह करता था। छोटे अपनी राय देते थे। आगे घर का बड़ा जो चाहे सो करे 'स यत्प्रमाणं कुरुते'। गांधी जी के बाद नेहरूजी बड़े बने, उन्होंने समाजवाद को प्रमाण माना तो आज जगह-जगह समाजवाद की बात हो रही है। श्रेष्ठ पुरुष के जैसा ही सारे व्यक्ति आचरण करते हैं, चाहे अच्छा हो, चाहे बुरा हो, यह स्वभाव है। सभी देशों में हैं, भारतवर्ष में अधिक है। इसीलिये भगवान ने कहा कि तू मुझे देख। मेरे को संसार से कुछ लेना-देना नहीं है। 'न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकषु किंचन। नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि ॥३-२२॥' भगवान ने कहा कि इन तीनों लोकों, भूः भुवः स्वः, में अथवा भूत, वर्तमान और भविष्य तीनों कालों में मुझे कुछ कर्त्तव्य नहीं है। किसी लोक अथवा काल में मेरा कोई कर्त्तव्य नहीं है। अर्जुन ने कहा—ऐसा क्यों, कुछ तो कर्त्तव्य होगा। भगवान ने कहा—कर्त्तव्य का मतलब होता है कुछ पाने की इच्छा तो न अनवाप्तं कोई चीज ऐसी नहीं जो मुझे पहले से प्राप्त नहीं। कर्त्तव्य अर्थात् कुछ पाना और संसार में त्रिलोकी में कुछ भी नहीं जो मेरे को प्राप्त न हो। प्राप्ति होने पर भी कुछ नई चीजों की इच्छा होती है। कहा—न अवाप्तव्यं आगे कुछ प्राप्त करने की इच्छा भी नहीं कि अमुक चीज ऐसा करके प्राप्त कर लूँ, ऐसा भी कुछ नहीं है। जैसे औरतें होती हैं, यदि पति गहना नहीं बनवा पाता है तो पहले गहने को ही तुड़वाकर दूसरे नये डिज़ाइन का बनवा लेती हैं। इसी प्रकार कोई कह सकता था कि भगवन् ! आपको सब कुछ प्राप्त है लेकिन कुछ नई चीजों की, दूसरे डिज़ाइनों की इच्छा होती होगी। वह भी कुछ नहीं। इतने होने पर भी कर्मणि वर्त एव अर्थात् कर्म में लगा ही रहता हूँ। ऐसा क्यों ? भगवान कहते हैं कि लोग मुझे श्रेष्ठ मानते हैं। 'यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मन वर्त्मा-नुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥३–२३॥' यदि मैं नहीं करूँगा तो

मेरी देखादेखी कोई नहीं करेगा। मैं विना किसी तंद्रा के, विना किसी प्रमाद के कर्म में इसलिये लगा हुआ नहीं हूँ कि मुझे कुछ पाना है। लेकिन यदि मैं नही लगा रहता हूँ तो मेरी देखादेखी दूसरे भी ऐसे ही हो जायेंगे। उनके मन में कामनायें तो भरी रहती हैं, कामनायें तो उनका हटेंगी नहीं, मेरी देखादेखी कर्म जरूर छोड़ देंगे। अन्दर ही अन्दर कामनायें प्रज्वलित होती रहेंगी, बस यही होगा। उसका नतीजा होगा 'उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहं।' लोगों का अकल्याण होगा। पहले का श्रेष्ठ पुरुष वार-वार यह सोचता था कि मेरे से कोई ऐसा काम न हो जाये, कोई परम्परा ऐसी न बन जाये कि हमेशा के लिये गलत रास्ता बन जाये। आज उल्टी स्थिति है। श्रेष्ठ से श्रेष्ठ पुरुष कहते हैं कि जैसा मर्जी वैसा करें। उल्टा जो जितना बड़ा आदमी है, वह उतना ही मनमानी करना अपना अधिकार समझता है। पहले तो जो जितना बड़ा होता था, उतना सावधान रहता था। आज ठीक विपरीत परिस्थिति है कि जो जितना बड़ा है, वह उतना ही स्वच्छन्द रहना चाहता है। नतीजा यह है कि यदि ऐसे पुरुषों के आचरण को हम सदाचार मान लेंगे तो बजाय व्यवहार सुधरने के और बिगड़ जायेगा। फिर किस व्यक्ति का आचरण सदाचार हो सकता है? कहा—'सत् शब्दः····' सत् शब्द साधु पुरुष को बताता है। कौन साधु पुरुष है? 'क्षीणदोषाच्च' जिसने अपने मन से राग-द्वेष रूपी दोषों को हटा दिया है। इसी बात को तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा—'अलूक्षा धर्मकामास्युः···' जो केवल धर्म की कामना वाला है, इससे अतिरिक्त उनके मन में और कोई कामना न हो, राग-द्वेष से प्रवृत्ति करने वाले लोग न हों बल्कि राग-द्वेष रूपी दोष उनके क्षीण हों। ऐसे लोगों का जो आचरण होता है, वही सदाचार कहा जाता है। चाहे जिस चीज को सदाचार नहीं कहते।

सदाचार के अन्दर सबसे पहला आचार हमारे यहाँ गिना गया है कि जिन ऋणों के साथ हम उत्पन्न हुए हैं, उन ऋणों को

चुकाना। वार-वार वेद में प्रार्थना आती है—'उऋणमेस्यां ··' ऋण मेरे न हों, न रहें। वार-वार उन प्रार्थनाओं को पढ़ते हुए मन में आता है कि क्या हमारे ऋषि लोग सबसे कर्जा ही लेते रहते थे? ऐसा संदेह होता है, क्योंकि हमारे ऊपर ऋण न हो, यह प्रार्थना वार-वार करते हैं। विचार करने पर पता लगता है कि दूसरों का धन लेने को वह कर्जा नही मानते थे। यह तो व्यवहार की चीज है। इतना ही नहीं, उस युग में धन का इतना प्रचलन भी नहीं था, यह तो अभी सौ साल पहले ही धन का इतना प्रचलन हुआ है। इसलिये उसके अतिरिक्त वास्तव में जिन तीन ऋणों के साथ हम उत्पन्न हुए हैं वे हैं—ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण। अनृणस्यां की प्रार्थना का मतलव है कि ये तीनों ऋण हम चुका दें। जन्म होते ही ये तीन ऋण मनुष्य पर आते हैं। इन तीन ऋणों को चुकाने में पहला ऋण कहा कि ऋषियों को तृप्त करें। वेद आदि सच्छास्त्रों के अध्ययन से ऋषियों को तृप्त करना है। वेद आदि सच्छास्त्रों का अध्ययन न करने से एक तो हमको मार्ग नहीं मिलता, लेकिन केवल मार्ग ही न मिलता हो, यह वात नहीं वल्कि हम उस ऋण को ही नहीं चका पाते जो ऋषियों ने हमारे ऊपर किया है। आजकल इस ऋपिऋण की तो लोग वात ही नहीं करते। वेद आदि सच्छास्त्रों का अध्ययन तो इस समय वैसा ही हो गया है जैसे कोई आकाश का कुसुम है। यहाँ तक कि जो संस्कृत विद्या के अध्ययन में जाते भी हैं वे साहित्य पढ़ते हैं, कुछ जोर लगाया तो व्याकरण पढ़ते हैं, अथवा ज्योतिष और आयुर्वेद तक पहुँच पाते हैं। वहुत ही जोर लगा लिया तो दो-चार साल में एक दो न्यायाचार्य हो गये। काशी में अपनी संस्कृत पाठशाला है। न्याय वेदान्त के विद्यार्थी वनें, इसके लिये उन्हें विशेष सुविधायें देने पर भी वे तैयार नहीं होते। कहते हैं—स्वामी जी! वड़ा कठिन विषय है, फेल हो जायेंगे, नहीं चल पायेंगे। घेरघार कर किसी साल एक-दो से कहते हैं कि न्याय ही ले लो तो किसी साल मान लेते हैं। केवल अपने यहाँ ही नहीं, विश्वविद्यालय में भी न्यायमीमांसा

को यह स्थिति है कि संस्कृत विश्वविद्यालय में न्याय और मीमांसा विभाग में छः-छः अध्यापक नियुक्त हैं, लेकिन मीमांसा और न्याय में किसी साल एक विद्यार्थी और किसी साल वह भी नहीं रहता। अध्यापक छः और विद्यार्थी एक साल बाद देकर या एक साल में एक मिल जाता है। फिर वेद की क्या बात ? वेद का अध्ययन करना तो और भी दुष्कर है। क्या कारण है ? जब पूछते हैं तो लोग यही कहते हैं—महाराज ! वेद-वेदांत पढ़कर आजकल कहीं नौकरी नहीं मिलती। बात ठीक है क्योंकि साहित्य पढ़ाने के लिये स्कूल-कॉलेजों में मास्टरों की जरूरत है, व्याकरण के लिये भी कॉलेजों में जरूरत है। ज्योतिष का तो सेठों को और मंत्रियों को भी शौक होता ही है। जब डाक्टर सिर हिला देते हैं तो वैद्यजी को भी काम मिल ही जाता है। यही प्रश्न रहता है कि पेट कैसे भरे ? हम हमेशा उन लोगों से कहते हैं कि वेद का अध्ययन धन के लिये नहीं करना है, धन प्राप्ति उसका उद्देश्य नहीं है। उसका उद्देश्य तो ऋषिऋण को चुकाना है। उससे तुम्हारे चित्त में जो एक ज्ञान की आभा आयेगी, ज्ञान की स्थिति बनेगी, हर परिस्थितियों को समझने की प्रज्ञा का उन्मेष आयेगा, वही उसका लाभ है। उसका लाभ धन की प्राप्ति नहीं अथवा अर्थकरी विद्या वह नहीं है। यह जो दृष्टि वेद आदि शास्त्रों से लोगों की हटती चली गई, बस यही हमारा व्यवहार बिगड़ने का मूल कारण है। जिस चीज का हमको पता ही नहीं लगे, उस चीज को हम करेंगे क्या ? इसकी जगह यदि मुसलमान ईसाइयों को देखो तो हमने देखा है कि दर्जी तक अपने लड़के को लेकर मस्जिद में जाकर कुरान पढ़वाता है। वह यह नहीं सोचता कि कुरान पढ़ने से हमको किसी अर्थ की प्राप्ति होती है या नहीं। स्कूल-कॉलेजों में तो पढने के लिये जाते ही हैं लेकिन हम मुसलमान हैं, इसलिये कुरान तो पढ़नी ही हुई, यह दृष्टि है। इसी प्रकार ईसाइयों के यहाँ सण्डे स्कूल्स होते हैं, रविवार को कक्षायें लगती हैं जिसमें लोग अपने बच्चों को लेकर जाते हैं। केवल हम लोगों ने, सनातनधर्मियों ने यह मान लिया है कि यदि

वेद विद्या धन कमाने का साधन बने तो ठीक, नहीं तो क्यों पढ़ना और क्यों पढ़वाना। हम सनातनी हैं, इसलिये हमको सनातन धर्म का ज्ञान आवश्यक है, ऐसा कुछ हम नहीं मानते। इसकी कोई आवश्यकता सनातनी बने रहने के लिये है, यह हम नहीं मानते। हाँ, कोई अनुष्ठान आदि मिलें तो पढ़ भी लें, नहीं तो क्या फायदा। इस ऋषि यज्ञ को जैसे-जैसे हम भुलाते जाते हैं वैसे-वैसे आचार परम्परा का लोप होता चला जाता है। धीरे-धीरे यह स्थिति बन रही है कि विवाह, उपनयन इत्यादि के जो कार्य हैं, उसकी असली आचार्य वृद्धा स्त्रियाँ होती जा रही हैं, उन क्रियाओं का जितना शास्त्रीय हिस्सा है, वह तो हर साल कम होता जाता है और जितना लौकिक हिस्सा है, वह बढ़ता जाता है। शादी के मंत्रों में बहुत समय लगता है, इसलिये पण्डित जी ! शादी जल्दी कराओ। और शादी की पार्टी देते हो, उसकी तैयारी में जो आठ घण्टे लगाते हैं, क्या उसमें भी कमी करने जाते हो। जात देने जाने में बहुत खर्चा पड़ता है, तीर्थ यात्रा होती है, उसमें तो खर्चा कम करो। दहेज आदि देने में कहते हो कि बहुत खर्चा है, जाने दो। लौकिक और सामाजिक व्यवहार कम होने की जगह बढ़ते जा रहे हैं और जितना उनका शास्त्रीय अंग है, वह कटता जाता है। इसलिये आगे फल उत्पन्न नहीं होता हैं। ऋषि ऋण को न चुकाने के कारण ही हमारे संस्कार धीरे-धीरे उपहासास्पद बनते जा रहे हैं। आजकल के पठितवर्ग जब इन संस्कारों को होते देखते हैं, उनके मन में जो अश्रद्धा आती है, वह शास्त्रीय कार्यों से नहीं आती है। वह उन सामाजिक व्यवहारों से आती है जो बुड्ढी औरतें जबरदस्ती लाद देती हैं और कराने वाले पुरोहित की भी हिम्मत इतनी कच्ची हो गई है कि अपनी आँख उधर मिलाये रहते हैं कि इनकी मर्जी की कोई बात न कट जाये, नहीं तो मैं समाज में मूर्ख रह जाऊँगा। यजमान ने कहा कि यह काम ऐसा करना है तो कहते हैं—हाँ जी, चाहे उसे कुछ पता न हो। जो विवाह आदि संस्कार हमारे यहाँ मनुष्य के

अंत:करण को शुद्ध करने के लिये बनाये गये थे, वे अब इस ऋषि ऋण को न चुकाने के कारण धीरे-धीरे केवल एक लौकिक क्रियामात्र रह गयें हैं। इसलिये इस पर इतना जोर दिया गया 'धर्मधीर्वेदपाठेन' बिना वेदों के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, पुरुष, स्त्री, राजा, प्रजा इत्यादि के धर्मों का ज्ञान नहीं हो सकता और इसीलिये हमारे यहाँ आजकल वर्णसांकर्य चला है। ब्राह्मण के धर्म को क्षत्रिय लेना चाहता है, क्षत्रिय के धर्म को ब्राह्मण लेना चाहता है। वैश्य के धर्म को शूद्र लेना चाहता है, शूद्र के धर्म को वैश्य लेना चाहता है। इस धर्म सांकर्य के कारण लोगों को मार्ग ही नहीं मिलता है, सारा मार्ग गड़बड़ा जाता है। इसी प्रकार पुरुष धर्म को स्त्री पालन करने लग जाती है और स्त्री धर्म को पुरुष पालन करने लग जाते हैं। यह जो सारा धर्मसांकर्य है, उसका कारण ही यह है कि मूल वेद का अध्ययन न होने से जितना हमने पढ़ा है, उसी का प्रचार करने लग जाते हैं। क्षत्रिय के धर्म को कहीं बाँच लिया तो सबको वही धर्म बताने लग गये, बनिये को भी वही बताने लगे। ब्राह्मण के धर्म को बाँचकर शूद्र को बताने लग गये। सबका धर्म अलग-अलग होता है। औरत के पेट में गर्भ है। शास्त्र का नियम है कि जब तक गर्भ पेट में रहता है, तब तक गर्भिणी को व्रत आदि नहीं करने चाहिये। उसका व्यावहारिक कारण भी है कि गर्भ की पुष्टि पर असर आयेगा, उसको तो दो आदमियों की खुराक चाहिये। हम लोगों को देखते हैं कि उस काल में भी उनके लिये व्रतों का विधान करते रहेंगे। आगे विचार ही नहीं करेंगे कि गर्भिणी के लिये उपवास शास्त्रविहित भी है या नहीं। इसीलिये न जाने कितने आचारों को हमने बिगाड़ा है। इसी प्रकार से कितने प्रकार के अशौच हैं, उन सब अशौचों का आचरण कोई नहीं करता। कहते हैं इसमें क्या फरक पड़ता है। यदि पुरुष महीने में तीस दिन माला फेरकर शंकर को जल चढ़ा सकता है तो स्त्री क्यों नहीं चढ़ा सकती। यह सब इसलिये कि मूल धर्म की अनुपलब्धता

इसमें कारण है। ऋषि यज्ञ के अभाव में मनुष्य जितना वेदाध्ययन आदि से रहित होगा, उतना ही उतना विगाड़ होता जायेगा। शास्त्रकारों ने इसीलिये सबसे पहले ऋषि ऋण को उतारने के लिये ब्रह्मचर्याश्रम का विधान किया। प्रत्येक मनुष्य को पहले ब्रह्मचर्याश्रम में इसीलिये भेजा जाता था कि वहाँ जाकर पहले ऋषि ऋण उतार ले। वह ऋण उतारकर उसे पता लग जायेगा कि वेद क्या कहता है तव आगे वह जीवन में प्रवेश करेगा तो उसे पता रहेगा कि हमको क्या करना है, नहीं तो उसे कुछ पता ही नहीं रहता कि मुझे क्या करना है। इसीलिये यहाँ सबसे पहले कहा कि ऋषियों का हमारे ऊपर ऋण है और वह इस प्रकार से चुकाना है।

जैसे ऋषियों का हमारे ऊपर ऋण है, वैसे ही देवताओं का भी एक ऋण है। इन्द्र समय पर वृष्टि करते हैं, मरुत समय पर वायु प्रदान करते हैं, सूर्य समय पर ऊष्मा देते हैं। नदी समय पर जल के द्वारा हमारे खेतों को वढ़ाती है। ये सव देवता हमारे ऊपर वरावर उपकार कर रहे हैं। इन देवताओं के उपकार के वदले में जो हम उनके लिये भावना करते हैं, उसको हवन के द्वारा उतारा जाता है कि यह जो देवऋण हमारे ऊपर चढ़ा है, वह दूर हो। शास्त्र में वताया है कि देवता अग्निमुख हैं। इसलिये जव अग्नि में आहुति दी जाती है तो वह आहुति जिस देवता के निमित्त से दी जाती है उसी देवता को मिल जाती है। 'प्रजापतये स्वाहा, अग्नये स्वाहा, इन्द्राय स्वाहा, सोमाय स्वाहा' आदि के द्वारा जिस देवता के लिये आहुति डालोगे, अग्नि उस देवता का मुख होने के कारण वह आहुति उसे मिल जायेगी। इसका एक कारण है। शतपथ ब्राह्मण में वताया है—'देवा: न खादन्ति न पिवन्ति' देवता लोग न किसी पदार्थ को खाते हैं और न पीते हैं। केवल उसके घ्राण मात्र से उनकी तृप्ति हो जाती है। उस पदार्थ की गंध ग्रहण करने मात्र से उनकी तृप्ति होती है। भिन्न-भिन्न प्राणियों के खाने के साधन अलग अलग होते

हैं। सब लोग न एक तरह से खाते हैं और न एक तरह का पदार्थ ही खाते हैं। खाने के तरीके और पदार्थ सबके अलग-अलग हैं। लेकिन खाना सबको पड़ता है। एक योगी थे। वह किसी राजा के यहाँ पहुँचे। राजा से कहा—राजन् ! मैं छः मास की समाधि लगाऊँगा, न कुछ खाऊँगा और न पायूँगा। खूब अच्छी तरह से चारों तरफ से मुझे बन्द कर दो। जिस दिन छः महीने पूरे हों, उस दिन तुम अपने सारे परिवार और प्रजा को बाजेगाजों के साथ लेकर आना और फिर मेरी गुफा को तुड़वाना। राजा ने उन्हें अच्छी तरह से बंद कर दिया। छः महीने के बाद राजा वहाँ पहुँचा। उसके मन में भय था कि क्या पता योगी जीवित है या मृत। सब तरह के लोग होते हैं। कोई कहने लगा—हवा पानी के बिना वैसे ही मर गया होगा। जाकर खोला तो वह योगी बिल्कुल कमजोर अवस्था में था, लेकिन जीवित था। बड़े जोरों से जयजयकार हुई, ढोल-बाजे बजे। यह सब सुनकर योगिराज को जरा और अच्छी तरह होश आया। देखा कि लोग आये हुए हैं, राजा नमस्कार कर रहा है, सब जयजयकार कर रहे हैं। योगी ने कहा—अब मैं एक साल की समाधि और लगाऊगा। साल भर बाद इसी प्रकार तुम फिर आना। लोगों को अब उन पर श्रद्धा हो गई, राजा ने कहा भी कि कुछ दिन आराम करके लगाइयेगा। कहा—नहीं अभी लगाऊँगा। फिर बन्द कर दिया गया। साल भर बाद बाजेगाजे के साथ खोला गया। अब क्या था, अब तो राज्य के बहुत आदमी उनके दर्शन करने के लिये उमड़ पड़े। उन्हें बाहर निकाला। जैसे-जैसे बाजे बजने लगे, धीरे-धीरे उन्हें फिर होश आया, देखा कि बड़ी जनता आई हुई है, सब उनकी जयजयकार कर रहे थे। उन्होंने राजा से कहा कि मैं दो साल की समाधि और लगाता हूँ। लोगों ने मना भी किया, लेकिन वह नहीं माने। दो साल लम्बा समय था, इस बीच एक संन्यासी महात्मा वहाँ आये। उनसे किसी ने जिक्र किया कि इस प्रकार यहाँ एक योगिराज आये हुए हैं, वह बिना कुछ खाये पिये ही सब काम करते हैं और इस

समय दो साल की समाधि में हैं। संन्यासी ने विचार किया कि 'अन्नमयं हि सौम्य मनः' इसलिये बिना कुछ खाये पिये आदमी का गुजारा नहीं हो सकता, इसलिये कुछ तो जरूर खाता होगा। लोगों ने कहा--बिल्कुल नहीं जी, हम लोगों ने खूब परीक्षा करके देखा है। महात्मा भी वहीं रुक गये। पाँच चार दिन में पता लगाया तो सारी बात का पता लगा। राजा सत्संगी था, वह भी महात्मा के पास आया। महात्मा ने बात बात में योगिराज की बात चलाई। राजा ने कहा कि वह तो बड़े प्रसिद्ध हैं, ऐसा तो हमने किसी को देखा ही नहीं। महात्मा ने कहा—राजन्! 'सोयं पुरुषो रसमयः' बिना खुराक के कोई आदमी इस प्रकार से नहीं रह सकता। राजा ने कहा—यह प्रत्यक्ष बात है। कैसे मानें? दो-चार दिन में गुफा खुलने वाली है, आप भी देख लीजिये। महात्मा ने कहा—मेरी एक शर्त है कि उस दिन बाजेगाजे और जनता वहाँ नहीं पहुँचेगी। तुम और मैं केवल दो ही चलकर गुफा खोलेंगे। चारों तरफ मनादी कर दी गई कि इस बार वहाँ कोई नहीं आयेगा क्योंकि उनको कष्ट होगा। महात्मा और राजा वहाँ गये। जब गुफा खोलकर उन्हें बाहर निकाला तो बड़ी मुश्किल से होश आया, मुँह से आवाज तक नहीं निकल रही थी। कहा—राजन्! जनता का क्या हुआ, बाजेगाजों का क्या हुआ। राजा ने महात्मा की तरफ देखा। महात्मा ने कहा—योगिराज! आपको इतनी कमजोरी क्यों, छः महीने में इतनी कमजोरी नहीं आई, दो साल बाद तो और पुष्टि आनी चाहिये, फिर इतनी कमजोरी क्यों? आपका यह व्यर्थ कथन है कि मैं कुछ नहीं खाता। यह जो जयजयकार और यश है, यही आपका भोजन है। योगी ने सिर हिलाकर कहा कि बात तो ठीक है। महात्मा ने कहा कि अब सब लोगों को बाजेगाजे के साथ बुलाओ। हमको तो केवल यह देखना और दिखाना था कि भिन्न-भिन्न प्रकार का अन्न भिन्न-भिन्न लोगों का हो सकता है लेकिन 'सोयं पुरुषो रसमयः' यह श्रुति वाक्य तो ठीक ही है। ठीक इसी प्रकार देवगण होते हैं। यह अभी थोड़े दिन पहले हमने देखा। सन् १९७१-७२ में चुनाव हुआ था।

एक औरत अपनी भक्त है। वह इन्दिरा गांधी के साथ बराबर उस चुनाव अभियान में रही थी। वह कहती थीं कि उन दिनों इन्दिरा गांधी सबेरे एक ब्रेड मक्खन लगाकर लेती है और दो कप काफी। दिन के समय दो बार चाय, रात को सोते समय दो कटोरी सब्जी और चूंकि वह मांसभक्षी है, एक कटोरा वह। उस पर इतना परिश्रम करती है। हम लोगों से नहीं हो सकता और खाती इतना ही है। हमने उससे कहा कि जरा जयजयकार कम होने दो, तब खुराक का पता चलेगा। यह बात प्रत्यक्ष देखने में आती है कि जैसे भिन्न-भिन्न अन्न भिन्न प्राणियों का होता है इसी प्रकार देवता गंध को लेकर ही तृप्त हो जाते हैं। इसीलिये आहुति के द्वारा जो चीज दी जाती है, वही उनको तृप्ति का हेतु होती है। बिना आहुति के उनकी तृप्ति नहीं होती है। यह दूसरा ऋण हुआ। ऋषि ऋण चुकाने के लिये वेदपाठ के द्वारा हमको सदाचार का पता चला। देवताओं की आहुति के द्वारा एक तो उनके प्रति हमारा कर्जा चुकता है, साथ में हमको यह समझ मे आता है कि हमको चलाने वाली शक्तियाँ केवल हमारे शरीर में नहीं, बाहर भी हैं। अभी मनुष्य यह मानकर चलता है कि हम सब कुछ कर सकते हैं। वह यह नहीं समझ पाता कि चक्षु अभिमानी देवता सूर्य है, इसलिये चक्षु पर सूर्य का अनुग्रह नहीं होगा तब तक चक्षु देखने में समर्थ नहीं होगी। जब तक हाथ के देवता इन्द्र का अनुग्रह नहीं होगा तब तक हाथ अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होगा। देवता की अनुग्रहता का जो अनुभव होता है, वह देवऋण चुकाने वाले को स्पष्ट होता है। अनुभव की एक बात बताते हैं, अपने ऊपर घटाकर देखना। आज से ४०-५० साल पहले अपने बचपन को याद करो कि उस समय कितने डाक्टर थे रोग कितने कम होते थे। जरा अपने दादाजी, ताऊ जी के स्वास्थ्य को याद करो, फिर अपने स्वास्थ्य को देखो और फिर कभी अपने बच्चों पर भी नजर डाल देना। कभी विचार किया कि पहले कभी हार्ट अटैक सुनने को नहीं मिलता था, कैंसर कहीं सुनने को नहीं मिलता था।

आज हर तीसरे घर में किसी न किसी को कुछ न कुछ हुआ होता है। क्या कारण है ? आजकल जो नई-नई चीजें निकाली हैं कि अमुक रस पियो, अमुक टॉनिक लो। जितने पूर्व में जाओगे तो पाओगे कि इतना सब उनके पास कुछ नहीं था। खूब डट-कर दूध-घी खाते थे और पुष्ट रहते थे। उसका कारण यही था 'देवान् ·····।'

उसके अधिष्ठाता देवता होते थे, उनको प्रतिदिन प्रसन्न करते थे। उसी का नतीजा होता था कि अनुग्रहीत होकर वे देवता हमारा अंग बन जाते थे। जब हम कहते थे 'जीवेम् शरदः शतं' तो हमारा मतलब लकड़ी टेककर, कमर टेढ़ी करके जिन्दा रहना नहीं था। बल्कि पश्येम् शरदः शतं शृणुयां शरदः शतं' सौ सालतक हमारे आँख, कान सब ठीक काम करेंगे। सौ साल तक हम प्रसन्न ही प्रसन्न होते रहेंगे। यह किस बूते पर हम कहते थे ? 'देवान्·· ·····' अब देवताओं की अनुग्रहता हमारे साथ नहीं है इसलिये न जाने क्या-क्या दवाइयाँ और क्या-क्या इंजेक्शन लोग लेते रहते हैं। दो-तीन दिन पहले हम कह रहे थे कि इस बार हमने देखा कि कलकत्ते में दवाइयों की दुकानें बहुत बढ़ गई हैं, हर तीसरी दुकान दवाई की है। पहले तो हमने सोचा कि इनकी बिक्री क्या होती होगी। यहाँ आते हुए दो-चार दिन देखा तो सब में भीड़ ही भीड़ देखी। एक बार दूसरी तरफ से आये तो कपड़े की दुकानें खाली देखीं। हमने पूछा कि यहाँ कपड़े कम बिकते हैं क्या ? दवाइयों की दुकानों पर खूब भीड़ थी। इतना सब होने पर भी बीमारियाँ नहीं हटतीं। देवताओं को जो थोड़ी आहुति दी जाती है, वह सबको खटकती है कि अन्न की बरबादी नहीं करनी चाहिये, यह धन बचाना चाहिये, आहुति देने से क्या होता है ? लेकिन औषधियों से धन की बरबादी लोगों की समझ में नहीं आ रही है। ऋषि यज्ञ के द्वारा सत्य का प्रकाश, मार्गदर्शन और देवयज्ञ के द्वारा समष्टि देवगणों में एक दृष्टि बनती है जिससे हमें उनका अनुग्रह प्राप्त होता है और उस

अनुग्रह के कारण हमारा शरीर आदि पुष्ट होते रहते हैं। पितृऋण पर आगे विचार करेंगे।

१५-२-७५

परब्रह्म परमात्मा के शिवा तनु को अनावृत करने के लिये प्रार्थना की जा रही है। वह परब्रह्म तत्त्व किस प्रकार कल्याण रूप में प्रकट होता है, इसको बताते हुए कहा था कि जब मनुष्य का आचार ठीक होता है, तभी उसके प्रकट होने की सम्भावना होती है। सदाचार को बताते हुए कहा कि सबसे पहले मनुष्य को ऋण-मुक्त होना चाहिये। वह ऋण, ऋषि ऋण, देव ऋण और पितृ ऋण के रूप में मनुष्य के ऊपर है। उसमें से ऋषि ऋण और देव ऋण का विचार हुआ। पितृ ऋण पर अब विचार करेंगे। हम लोगों को शरीर देने वाले माता-पिता दोनों को पितृ शब्द से कहा गया है। पितृ का मतलब केवल पिता से नहीं होता है। संस्कृत भाषा में माता और पिता इन दो शब्दों का जब समास होता है तो पितरौ शब्द बनता है। 'माता च पिता च पितरौ।' पितृ चूँकि भारोपीय (Indo-European) शब्द है, इसलिये अंग्रेजी में भी इस पितृ शब्द से बना पैरेंटल (Parental) शब्द दोनों को विषय करता है। माता-पिता का जो हमारे ऊपर ऋण है वह पितृ ऋण कहा जाता है। जब तक वे जीवित रहें तब तक तो अपने तन, मन, धन से उनकी सेवा करनी चाहिये। यदि उनके जीवित काल में हमको उन पर श्रद्धा नहीं है, तो मरने पर श्राद्ध करना व्यर्थ है। बहुत बार होता यह है कि जीवित काल में तो हम अपने माता-पिता की तरफ कुछ ध्यान नहीं देते, पर उनके जाने के बाद, जब उनके श्राद्ध आदि का समय आता है तो उस समय जीवित काल में हमने माता-पिता के प्रति जो भी कुछ अयुक्त कार्य किया है, उन सबका प्रायश्चित्त कर लेना चाहते हैं। श्राद्ध श्रद्धा को विषय करता है। जहाँ श्रद्धा नहीं

होती वहाँ श्राद्ध नहीं हो सकता है। जीवित काल में जो अपने माता-पिता पर श्रद्धा नहीं करते, उनकी तन, मन, धन से सेवा नहीं करते, वे जब बाद में श्राद्ध के नाम से श्रद्धा प्रकट करने का प्रयास करते हैं तो वह व्यर्थ है, क्योंकि वस्तुत: माता-पिता पर श्रद्धा नहीं है। वे तो समाज में अपनी कीर्त्ति प्रतिष्ठापित करने के लिये, अपनी इज्जत बढ़ाने के लिये, दूसरों से ईर्ष्या इत्यादि दुर्गुणों से युक्त होकर प्रवृत्ति करने के कारण या अपनी बड़ाई जताने के लिये श्राद्ध करते हैं। वह वस्तुत: श्राद्ध का रूप नहीं हैं। जिसने जीवित काल से तन, मन, धन से माता-पिता की सेवा की है, वही श्राद्ध करने का अधिकारी है, नहीं तो श्राद्ध करने का अधिकार उसे नहीं है। यह नहीं समझना कि श्राद्ध एक तरह का बाह्य कर्म मात्र है। श्राद्ध नित्य नैमित्तिक और काम्य होता है। कामना की पूर्ति भी श्राद्ध से होती है। शास्त्रों में बताया है कि जैसे अन्य अनेक काम्य कर्म होते हैं, वैसे ही श्राद्ध एक काम्य कर्म भी है और जितनी जल्दी श्राद्ध से कामना पूर्ति होती हैं, उतनी जल्दी दूसरे उपाय से नहीं होती। इसका कारण है कि माता-पिता के हृदय में हमारे प्रति एक स्वाभाविक स्नेह होता है। इसलिये जब विधिवत् प्रेत भाव को पितृ भाव में परिणत कर लिया जाता है, उनकी सामर्थ्य हमारा उपकार करती है। सहज स्वाभाविक स्नेह के कारण वे जल्दी प्रसन्न भी हो जाते हैं। अत: शास्त्रों में काम्य रूप से भी श्राद्ध का प्रतिपादन किया गया है। इसीलिये उपनयन, विवाह आदि किसी भी प्रकार का शुभ कर्म हो तो सबसे पहले नांदी श्राद्ध किया जाता है। इसमें पितरों से यही प्रार्थना की जाती है कि हमारा प्रारब्ध कार्य सानंद समाप्त हो जाये। श्राद्ध नैमित्तिक कर्म भी है। यदि हमने अपने जीवनकाल में माता-पिता पर श्रद्धा करके उन्हें प्रसन्न नहीं किया तो हम इस नैमित्तिक और काम्य फल से वंचित रह जाते हैं। वह फल फिर हमें नहीं मिल सकता। कई बार लोग सोचते हैं कि श्राद्ध का फल माँ-बाप को मिलता है तो कर्त्ता को क्या फायदा है? यह

काम्य श्राद्ध तो कर्त्ता को ही सद्यः फलप्रद है। नित्य नैमित्तिक श्राद्ध भी पुण्योत्पादक होने से कर्त्ता को लाभप्रद है। जहाँ श्रद्धा नहीं होती वहाँ श्राद्ध मरने के बाद भी नहीं हो सकता। अल्मोड़ा जिले के कूर्माचल प्रान्त में एक पण्डित जो थे। यह आज से ४०-४५ साल पहले की बात है। वह कहीं श्राद्ध कराने गये। पहाड़ का छोटा-सा गाँव था। सड़कें उस जमाने में थीं नहीं, पहाड़ की चढ़ाई और पैदल जाना था। गाँव में तो श्राद्ध कराने के एक दिन पहले ही पहुँचना होता था। शास्त्रीय विधि भी यही है कि श्राद्ध को पूर्वरात्रि का भोजन, दुग्धपान आदि श्राद्ध वाले के यहाँ या श्राद्ध वाले की तरफ से किया जाये। इसीलिये पूर्वरात्रि में विधिवत् पण्डित का आमंत्रण किया जाता है। उस दृष्टि से भी वह गये हुए थे। घर का मालिक कहीं बाहर गया हुआ था और वह बाहर बैठे हुए थे। थोड़ी देर में मालिक आ गया। अन्दर गया तो अपनी पत्नी को चावल बीनते हुए देखकर कहा कि आज बढ़िया चावल क्यों बीन रही है? उसने कहा कि कल आपके पिता जी का श्राद्ध है, पण्डित जी आये हुए हैं। वह जोर से चिल्ला पड़ा कि ये चावल कोई श्राद्ध के लिये हैं, इसके लिये तो मोटा वाला चावल निकाल। यह बात पण्डित जी बाहर बैठे सुन रहे थे। थोड़ी देर में जब वह आदमी बाहर आया तो पण्डित जी ने पूछा, 'क्या आपके घर में अच्छा चावल है?' उसने कहा 'है'। तो पूछा, 'क्या भाव है?' उसने कहा, 'ढाई आना सेर।' पण्डित जी ने झट पाँच आने निकाले और कहा कि दो सेर तोल दो। चावल लेकर वह अपनी पोथी बाँधकर चलने लगे। घर के मालिक ने पूछा कि कहाँ जा रहे हो तो कहा कि घर जा रहा हूँ। तीन दिन बाद मेरे पिता जी का श्राद्ध है, उसके लिये चावल ले जा रहा हूँ। उसने कहा कि आप मेरे पिता के श्राद्ध के लिये आये हैं। उन्होंने कहा कि आया तो इसीलिये था, लेकिन अब तुम्हारे यहाँ श्राद्ध नहीं कराऊँगा। उसने कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि जब तुम अपने बाप को ही उत्तम चावल नहीं दे सकते तो तुम्हारे घर खाकर क्या लाभ है। मैं तो ये चावल अपने पिता के श्राद्ध के लिये ले जा रहा

हूं। वह घर आये और श्राद्ध विधि की एक किताब लिखी। उसके बाद कभी श्राद्ध कराने नहीं गये। जब कोई आता था तो कहते थे कि मैं श्राद्ध नहीं कराऊँगा। कोई ज्यादा कहे तो कहते थे कि किताब ले जा, देखकर घर पर कर लेना। इस युग में श्राद्ध कराने वाले नहीं रह गये हैं। श्रद्धा के बिना श्राद्ध नहीं हुआ करता। देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृ ऋण तीनों को जब मनुष्य चुका देता है तब मनुष्य परमेश्वर की भावना करने में समर्थ होता है। जब तक इन तीन ऋणों को नहीं चुकाया जाता तब तक प्रयत्न करने पर भी मनुष्य जब परमेश्वर की ध्यान धारणा में लगता है, तो उसका मन स्थिर नहीं होता। बार-बार यह शिकायत सुनने को मिलती है कि ध्यान में मन नहीं लगता। उसका कारण ये ऋण ही हैं। लोक में भी देखोगे कि किसी आदमी के ऊपर यदि कर्जा है तो उसे आन्तरिक शान्ति नहीं है। आजकल बड़े से बड़ा धनी पुरुष भी हमेशा कर्जे से दबा रहता है। कुछ कर्जा बैंक ओवरड्राफ्ट से, कुछ सरकार की वित्तीय संस्थाओं से और कुछ बाजार से ले रखा होता है। इन सब कर्जों से दबे होने के कारण ही आज अच्छे से अच्छे व्यापारी को देखते हैं कि उसके चित्त में कोई प्रसन्नता नहीं है। ऋण की यह विशेषता है कि वह जब तक रहेगा तब तक अंतः-करण को, अन्दर के अनुभव को हमेशा सालता रहेगा। ऊपर से कुछ भी भाव दिखाओ, मन में हमेशा यह रहेगा कि कर्जा है। इसी प्रकार इन तीन ऋणों के द्वारा चूँकि अंतःकरण दबा रहता है, इसीलिये लोग ध्यान धारणा के रास्ते में जाते हैं तो तरह-तरह की कठिनाइयाँ महसूस होती हैं और उन्हें लगता है कि कुछ होता नहीं है। जब ये तीन ऋण उतर जाते हैं तब परमेश्वर की तरफ सरलता से प्रवृत्ति होती है। 'शिवे तृप्ति समायाते शुद्धो धर्मो विवर्धते। शिव तृप्त होने पर ही सदाचार बढ़ता है, अन्यथा जितना भी सदाचार मनुष्य करता है उसमें अपने को कुण्ठित अनुभव करता है। सदा-चार आगे नहीं बढ़ता है। जब सदाचार बढ़ता है तो सत् ब्रह्म की

तरफ मनुष्य का आचरण जाता है। सदाचार की विवृद्धि होने पर मनुष्य ज्ञानमार्ग में अधिष्ठित हो पाता है। ज्ञानमार्ग में उसकी स्थिति बन पाती है। जब तक इन ऋणों को चुकाकर मनुष्य परमात्मा की तरफ प्रवृत्ति नहीं करता, तब तक अपना आत्मकल्याण करने में समर्थ नहीं हो पाता। जब इन ऋणों को चुकाकर आगे बढ़ता है तो उसका सदाचार प्रतिदिन बढ़ता जाता है और बढ़ते-बढ़ते अंततोगत्वा वह परमात्मतत्त्व को प्राप्त कर लेता है। परमेश्वर की प्राप्ति हुए बिना मनुष्य को कभी भी पूर्ण शान्ति की प्राप्ति नहीं होती है। समग्र पापों को नष्ट करने वाली कल्याणकारी स्थिति 'पापकाशिनी' बिना परमात्मा प्राप्ति के सम्भव नहीं है।

पुराणों में परशुराम की कथा के द्वारा इस तत्त्व को ही प्रतिपादित किया गया है। जमदग्नि महर्षि ने विदर्भराज की कन्या को प्रयत्नपूर्वक स्वयं वरण किया। कई बार लोग यह प्रश्न भी करते हैं कि परशुराम ब्राह्मण के घर उत्पन्न होकर मारने-काटने के काम में क्यों लगे रहे? उसका कारण यहाँ पर संकेतित है। उनकी माता राजकुल से आई थीं। दूसरी तरफ चरुओं की गड़बड़ होने से जो चरु ब्राह्मणों के पास जाना था, वह विश्वामित्र के पितरों की तरफ चला गया और उधर का चरु ब्राह्मणों की तरफ आ गया। शुक्र व शोणित दोनों का विचार करने पर उत्तर स्पष्ट है। इसीलिये उनकी वृत्ति ऐसी हुई थी। जमदग्नि महर्षि ने विदर्भराज की कन्या रेणुका से विवाह किया। उनके सुषण्वन्तु, सुषेणु, वसु और विश्वावसु नाम के चार पुत्र हुए। पाँचवें पुत्र के रूप में स्वयं भगवान् वासुदेव उसके घर उत्पन्न हुए।

जन्म के साथ ही हाथ में परशु लेकर उत्पन्न हुए थे। इसीलिये यद्यपि उनका नाम तो राम रखा गया लेकिन हमेशा परशु हाथ में रखने के कारण लोक में परशुराम (फरसेवाले राम) प्रसिद्ध हुए। जिस प्रकार दाशरथि राम का प्रधान उद्देश्य रावण हनन, कृष्ण का प्रधान उद्देश्य शिशुपाल हनन था, उसी प्रकार परशुराम का

प्रधान उद्देश्य कार्तवीर्य का हनन करना था। इसीलिये परशु के साथ उत्पन्न हुए थे। विदर्भराज की कन्या रेणुका ही राजा की लड़की होने के कारण स्वभाव से विलासी वृत्ति की थी। उसका विवाह तो हो गया लेकिन राज्यप्रदत्त भोगों की अभिलाषायें जमदग्नि महर्षि के आश्रम में कहाँ पूरी होनी थीं। राजा की लड़की ऋषि के घर आई। ऋषि के घर तो भोगत्याग ही प्रधान रहना है। यद्यपि वह वहाँ भोगों को त्याग कर रहती थी लेकिन अन्दर की अभिलाषायें कशमकश करती रहती थीं। इसीलिये शास्त्रकारों का बार-बार यह कहना है कि किसी भी कामना को दबाकर यदि कोई प्रवृत्ति की जाती है तो समय आने पर वह कामना पुनः खड़ी होकर बाधा देने लगती है। जो व्यक्ति तीनों ऋणों को ठीक प्रकार से उतार देता है उसके लिये इस बाधा की सम्भावना नहीं रहती। यद्यपि रेणुका ने जमदग्नि महर्षि से विवाह तो कर लिया और पाँच पुत्र भी उत्पन्न हो गये, जिनमें एक साक्षात् भगवान वासुदेव थे, पर उसके मन से राज्यभोगों की कामना नहीं गई। पाँचों बच्चे बड़े हो गये। परशुराम ने वेद, धनुर्वेद आदि सब विद्याओं में बड़ी योग्यता प्राप्त कर ली थी। उस उमर में एक दिन रेणुका गंगा के किनारे स्नान करने गई। जब वहाँ पहुँची तो चित्रमुख नाम का राजा भी वहीं स्नान कर रहा था। उसके साथ उसकी बहुत-सी पत्नियाँ भी थीं। वह राजा वहाँ राजकीय भोगों के साथ अपनी पत्नियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। उसको देखकर रेणुका के हृदय में भी इसी प्रकार के भोगों की अभिलाषा जागृत हो गई। सोचने लगी कि ऐसे राजा से मेरा विवाह हुआ होता तो कितना अच्छा होता। तेजस्वी राजा को देखकर उसका मन भी खराब हो गया। उसका मन इतना खराब हो गया कि उसके कारण उसका शरीर भी पसीने से भर गया और उसी अवस्था में वह आश्रम पहुँची। महर्षि जमदग्नि तो सर्वज्ञकल्प थे। उन्होंने देखा कि आज

यह घबराई-घबराई सी लग रही है। जाते समय जो तेज इसके चेहरे पर था, वह सारा नष्ट हो गया है। पूछा कि क्या रास्ते में कोई शेर या साँप दीख गया ? उसने कहा कि कुछ नहीं हुआ। जमदग्नि के मन में और संशय हुआ कि यह इतना छिपा क्यों रही है ? उन्होंने समाधि के द्वारा देखा कि क्या कारण है जो यह इतना घबरा रही है। जब देखा तो उन्हें पता लगा कि यह तो इस प्रकार के मानसिक ताप से युक्त हो गई है। उन्होंने पहले तो उसे बहुत धिक्कारा कि अब तक त्याग के आनन्द को समझना नहीं सीखा। अब तुम मेरे घर में रहने लायक नहीं हो। अपने सबसे बड़े पुत्र को बुलाकर कहा कि यह पाप कर्म में निरत हो इस तरह की प्रवृत्ति कर रही है, इसलिये इसकी गर्दन काट देनी चाहिये। मन से भी यदि मनुष्य के मन में दूसरों के प्रति भोग भावना आ जाती है तो वह पुरुष या स्त्री व्यभिचारी कहा गया है। केवल शरीर मात्र की रखवाली करने से नहीं होता है। यह तो मन का धर्म है। क्या कारण है कि हम लोग बार-बार कहते हैं कि चलचित्रों में मत जाओ क्योंकि वहाँ जाकर इस प्रकार की भावनायें हृदय में जन्म लेती हैं कि यह अभिनेता या अभिनेत्री बहुत सुन्दर है। आजकल तो लोग खुद ही अपनी पत्नी को ले जाते हैं। जब महर्षि ने बड़े लड़के से माँ की गर्दन काट देने को कहा तो वह चक्कर में पड़ा कि पिता जी कह तो रहे हैं कि माँ को गर्दन काट दे, लेकिन क्या पुत्र को यह अधिकार है कि माँ के चरित्र का निरीक्षण करे ? इतना ही नहीं कई जगह शास्त्रों में कहा है 'पितुर्दशगुणा माता गौरवेणातिरिच्यते' पिता से माता गुरुत्व अथवा पूज्यत्व दृष्टि से दसगुना ज्यादा है। माता के दोष की तरफ दृष्टि करना पुत्र का काम नहीं है। दूसरी तरफ पिता की आज्ञा भी माननी चाहिये, यह भी शास्त्रों में कहा गया है। मैं क्या करूँ, इस चक्कर में वह बेचारा वहाँ वैसा का वैसा स्तब्ध

रह गया। दूसरे लड़के सुषेणु को बुलाया तो वह भी ऐसा का ऐसा स्तब्ध रह गया। वसु और विश्ववसु भी वहाँ आकर स्तब्ध खड़े रह गये। जमदग्नि महर्षि को वड़ा गुस्सा आया। उन्होंने कहा कि तुम जड़वत् खड़े रहे, अतः ऐसे ही जड़ हो जाओगे। ....बुद्धि पत्थर की तरह तुम्हारी बुद्धि जड़ बनी रहेगी। यद्यपि वे ब्राह्मण थे, इसलिये विद्या ही उनका धन था, किन्तु वे मूर्ख ही रहे। इसी प्रकार गौतम आदि महर्षियों के श्राप के कारण ब्राह्मण के कुल में ऐसे लोग उत्पन्न हुए। गौतम ने भी ब्राह्मणों को श्राप दिया था कि तुम लोग वेदाचार से रहित हो जाओगे। आजकल लोग प्रश्न पूछते हैं कि ब्राह्मणों के घर में ऐसा देखने में आता है, फिर आप कैसे कहते हैं कि जन्म से ही जाति का निर्णय हो। वस्तुतः इसका यही कारण है। ऋषियों का जो श्राप लगा हुआ है तदनुकूल ही संतति उत्पन्न होती है, इसमें कोई आश्चर्य नहीं करना चाहिये। जमदग्नि महर्षि ने अपने चारों पुत्रों को श्राप दे दिया कि मेरे आदेश को सुनकर तुम ऐसे के ऐसे जड़ की तरह खड़े रहे हो तो तुम्हारी ऐसी ही जड़ बुद्धि हो जायेगी। तब तक परशुराम भी वहाँ आ गये। वे कहीं बाहर गये हुए थे। महर्षि ने उनसे भी वही बात कही। वह जानते थे कि पिता कैसे तेजस्वी हैं। इसलिये पिता के कहने के साथ ही उन्होंने माता का सिर गर्दन से अलग कर दिया। जमदग्नि तो ऋषि थे। ऋषि का क्रोध जल की लकीर की तरह होता है। जब क्रोध आता है तो लगता है कि शायद दुनिया को भस्म कर देंगे, लेकिन वह क्रोध टिकता नहीं है। जैसे ही परशुराम ने यह काम किया वैसे ही प्रसन्न हो गये कि बेटे ने आज्ञा का पालन किया है। उसी समय क्रोध चला गया। परशुराम को बड़े प्रेम से पुचकारा और कहा कि मेरे से कुछ वरदान माँग ले। उसने कहा कि मेरा पहला वरदान तो यह है कि मेरी माँ जी जाये, और उसको मैंने मारा, इस बात की उसे स्मृति भी न रहे। मेरा मातृहत्या का पाप निवृत्त हो जाये। ये तीन चीजें उन्होंने माँगी। जमदग्नि कहने लगे कि पहली दो चीजों का तो मैं वरदान दे देता हूँ। यह पुनः

जीवित हो जायेगी और इसे इस बात की स्मृति भी नहीं रहेगी कि तूने इसे मारा है। लेकिन तीसरा वरदान मातृहत्या के पाप की निवृत्ति केवल वरदान से होने वाली नहीं है। 'न पुत्र········ मातृहत्या·······' मातृहत्या का निवारण वरदान से नहीं होता है। आजकल के बाप होते तो कहते कि तूने मेरे कहने से किया है इसलिये जाने दे, कुछ नहीं होगा। मातृहत्या तो मातृहत्या ही है। यह केवल वरदान से नहीं जायेगी। तब उसे बताया कि मानसरोवर के पास वृषोदक नाम के ब्रह्मकुण्ड में जाकर स्नान करने से तेरे मातृहत्या रूपी दोष की निवृत्ति हो जायेगी। परशुराम ने वहाँ जाकर स्नान किया और उसी ब्रह्मकुण्ड में उन्होंने अपना फरसा भी धोया जिससे उन्होंने माता को मारा था। जहाँ उन्होंने अपना फरसा धोया था, वहीं आज भी लौहित्य कुण्ड मिलता है। उसी कुण्ड से शोणभद्र नाम की लाल नदी निकली जो बिहार में आकर गंगा में मिलती है।

यहाँ तो बता रहे थे कि इस कथा के द्वारा किसी तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है। भगवान परशुराम क्यों परशु को साथ रखते हैं? शास्त्रकार कहते हैं कि वैराग्य ही ऐसा परशु है जिसके द्वारा मनुष्य अपनी सारी रजोगुण की रागात्मिका प्रवृत्तियों को नष्ट कर सकता है। क्षत्रियों के २१ बार नाश करने का मतलब यह है कि क्षत्रिय रजोगुण से उत्पन्न होता है, रजोगुणी होता है। इसलिये न केवल क्षत्रिय का राज्य मारना ही उसमें बताया गया है, वरन् प्रत्येक मनुष्य के हृदय में रहने वाला राग रजोगुण से ही उत्पन्न होता है। 'रजो रागात्मकं विद्धि' गीता में भी भगवान ने बताया कि रजोगुण से राग उत्पन्न होता है। रजोगुण से उत्पन्न होने वाले राग को बार-बार नष्ट करना ही परशुराम का वैराग्य रूपी परशु के द्वारा क्षत्रियों का नाश करना है। यह वैराग्य उत्पन्न कहाँ हुआ? वैराग्य जमदग्नि महर्षि और रेणुका के गर्भ से उत्पन्न होता है। जो तेजस्वी अग्नि होती है उसे जमत् अग्नि, नियंत्रित अग्नि

कहते हैं। जिस अग्नि को नियंत्रण में करोगे, उसका तेज रहेगा। हम लोगों के शरीर में मूलाधार के अन्दर निरंतर अग्निकुण्ड जल रहा है। लेकिन वह अग्नि नियंत्रित न होने के कारण भोगों की तरफ चली जाती है। इसीलिये वह तेजस्वी अग्नि नहीं रह पाती। तीन ऋणों को जब हम चुकाते हैं तो आगे बढ़ पाते हैं। मूलाधार का केन्द्र विसर्जन आदि है, स्वाधिष्ठान का केन्द्र पुत्रोत्पत्ति इत्यादि मणिपुर का केन्द्र जितना भी हम अध्ययन आदि करते हैं, वह सब उसी की शक्ति से करते हैं। नाभि ही अग्नि के पाचन का केन्द्र है। जिसने तीनों अग्नियों को नियंत्रित कर लिया, जमदग्नि का यही तात्पर्य है। रेणु रज को भी कहते हैं, धूलकण को भी रेणु कहते हैं। यह भी रजोगुण को बताता है। ये तीनों अग्नियाँ अर्थात् क्रिया के द्वारा ही इन तीनों ऋणों को चुकाकर मनुष्य आगे बढ़ता है। जमदग्नि और रेणुका अर्थात् सम्यक् क्रिया करके तीनों अग्नियों को नियंत्रित करके ही उनके घर वैराग्य रूपी परशु के साथ राम का जन्म होता है। वह उत्पन्न तो कर्म के द्वारा होता है, यह सूक्ष्म बात है। वैराग्य भी बिना कर्म के उत्पन्न नहीं होता है, रजोगुण के द्वारा ही उत्पन्न होता है लेकिन उत्पन्न होने के बाद ही वैराग्य रूपी परशुराम को अपनी माता रजोगुण को ही खत्म करना पड़ता है क्योंकि जब तक इसको खत्म नहीं करेगा, जब तक राग रूपी रजोगुण समाप्त नहीं होगा तब तक आगे ब्रह्मनिष्ठा नहीं होगी। कर्म से भी वैराग्य उत्पन्न भी होता है और उत्पन्न होकर के कर्म का ही नाशक भी होता है। इसीलिये परशुराम को मातृ-हत्या करनी पड़ती है। इस हत्या को करने में प्रथम चार पुत्र मना कर देते हैं। ये चारों, कर्म, उपासना, योग और विचार को बताते हैं। इन चारों के द्वारा जब हम राग को समाप्त करने जाते हैं तो ये चारों राग को समाप्त नहीं कर पाते। यह भी उत्पन्न तो होता है नियंत्रण के द्वारा ही, चाहे उपासना करो, कर्म करो, जब तक जमत् अग्नि न बनो तब तक उत्पन्न नहीं कर सकते। लेकिन स्वयं कर्म रूप होने से कर्म के

नाशक नहीं बनते। पाप कर्मों को चाहे ये दबा दें, नष्ट कर दें लेकिन पाप और पुण्य दोनों कर्मों को, कर्म की जड़ को नष्ट करने में समर्थ नहीं होते। यही चारों का मना कर देना है। जड़वत् खड़े रहना है, जबकि जमदग्नि कहते हैं कि इसे खत्म करो। अन्त में परशुराम रूपी वैराग्य अस्त्र के द्वारा इस राग की समाप्ति होती है। राग का सिर काट दिया। अब जब राग समाप्त हो गया तब क्या होता है? राग समाप्त होने पर वैराग्य रूपी परशुराम कहता है कि फिर से माता जीवित हो जाये और इसे पहले की स्मृति भी न रहे। इसी को वेदांत में रागाभास कहते हैं क्योंकि वेदांतशास्त्रों में दो बातें कही हैं। कहीं-कहीं तो कहा गया है 'रागादय: संतुकाम:' और कहीं पर कहा गया है 'रागोलिगमवोधस्य' इसलिये संदेह होता है कि जब वैराग्य के द्वारा राग को समाप्त कर दिया जाता है, उसके बाद जो राग व्यवहार काल में दीखता है, वह रागाभास है। है तो राग की तरह लेकिन पहले की तरह वह राग बंधन करने वाला नहीं है। उसकी ताकत नहीं है। इसके बाद फिर कभी भी रेणुका की दृष्टि इस प्रकार की नहीं बनी क्योंकि जो दोष था, वह जन्मान्तर में निवृत्त हो गया। अगर कोई ब्राह्मण के घर पैदा हुआ तो अगले जन्म में उसके ब्राह्मणत्व की बात थोड़े ही हुई थी। पहले वह विदर्भराज के घर उत्पन्न हुई थी, अब जब वरदान से उत्पन्न हुई तो पहले वाली बात थोड़े ही रही। इसीलिये यह रागाभास है। अब इस हत्या की निवृत्ति के लिये अर्थात् राग को जब खतम कर दिया गया, फिर चाहे वह रागाभास रह गया लेकिन इस दोष की निवृत्ति कैसे हो? जब जमदग्नि उन्हें वृषोदक कुण्ड में स्नान करने को कहते हैं। वृष धर्म को कहते हैं। जिस धर्म में अथवा जिस समाधि में धर्म बरसता है वह धर्मवृषभ ही है, वैराग्य के द्वारा जब तक धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति नहीं करते हैं, तब तक यह वैराग्य पूर्णरूप से शुद्ध वैराग्य नहीं बन पाता है। क्योंकि वैराग्य भी एक निष्फल चीज होती है यदि परमात्मप्राप्ति में प्रयुक्त न हो। इसीलिये ब्रह्म ही कुण्ड है। वैराग्य के द्वारा शुद्ध किया हुआ

मन यदि परमेश्वरप्राप्ति तक नहीं पहुँचता है तो वह वैराग्य बेकार होता है। अनेक लोग समझते हैं कि वैराग्य अपने में ही होता है। वैराग्य परमेश्वरप्राप्ति का साधन तो है लेकिन यदि परमेश्वर को प्राप्त नहीं कराया तो वह वैराग्य बेकार हो जाता है। जैसे मान लो, यहाँ से बीकानेर जाना है तो दिल्ली होकर जाओगे, वहाँ गाड़ी बदलनी पड़ेगी। परन्तु यदि तुम यहाँ से दिल्ली पहुँच गये और वहाँ पहुँचते ही रेलों की हड़ताल हो गई और इस हड़ताल के कारण दिल्ली से बीकानेर की रेलें बंद हो गईं। तब तुम सोचोगे कि इससे तो कलकत्ता नहीं छोड़ते तो ही अच्छा था, दिल्ली में ही फँस गये। अब वापस भी नहीं जा सकते। जैसे बीकानेर पहुँचने के लिये दिल्ली जाना जरूरी है परन्तु दिल्ली में ही अटक जाओ और आगे की गाड़ी न मिले तो उससे घर ही रहते तो अच्छा था। उसी प्रकार वैराग्य रास्ते में आने वाला एक बहुत बड़ा साधन है। वैराग्य के द्वारा ही हमको परमात्मा तक पहुँचना है। लेकिन अगर वैराग्य में ही अटक जाओ और परमात्मा की प्राप्ति न हो तो बेकार हो गया। इसलिये ब्रह्मकुण्ड में जाकर उनकी इस हत्या के दोष की निवृत्ति हुई। इसी प्रकार से पहले वैराग्य को प्राप्त करना पड़ता है। वैराग्य के द्वारा राम की समाप्ति करनी पड़ती है। यह तब तक नहीं हो सकता जब तक जमदग्नि अर्थात् इन तीनों अग्नियों को, इन तीनों ऋणों को ठीक प्रकार से समाप्त न कर लो। तभी इसके आगे बढ़ना बनता है और जब वैराग्य रूपी अस्त्र के द्वारा ब्रह्मकुण्ड तक अर्थात् धर्ममेघ समाधि तक पहुँचते हो, तभी काम बनता है। वह पापकाशिनी कर्म आनंदप्रद कर्म है। अब शंतमया के ऊपर आगे विचार करेंगे।

१६-२-७५

परब्रह्म परमात्मतत्त्व से प्रार्थना की जा रही है कि आपका जो आत्मकल्याणकारी तनु है, शिवा तनु है, वह हमारे सामने प्रकट

हो जाये। वह समग्र पापों को नष्ट करने वाला है। पापों का नाश किस प्रकार सदाचार से होता है, इस पर विचार किया। अब आगे उसी रूप को कहते हैं कि 'तयानस्तन्वा शन्तमया' अर्थात् वह जो आपका तनु है, वह न केवल पापों को नष्ट करने वाला है, वरन् शंतमया है। 'शं कल्याण' शं शब्द का अर्थ कल्याण और सुख होता है और जो अत्यंत कल्याणस्वरूप, सुखस्वरूप है, उसे शंतमया कहते हैं। तमत् प्रत्यय हमेशा कम से कम तीन पदार्थों में जो सबसे अच्छा हो, उसके लिये प्रयुक्त होता है। शं, शंत और शंतम् अर्थात् सुख, सुखतर और सुखतम। यहाँ परमात्मा के उस रूप को सुखतम रूप बताया। शास्त्रों में सुख के या आनन्द के तीन रूप बताये हैं—ब्रह्मानन्द, वासनानन्द और प्रतिबिम्बानन्द। 'ब्रह्मानन्दो वासना च.........' इन तीनों आनन्दों में सबसे श्रेष्ठ ब्रह्मानन्द है, इसलिए इसी को यहाँ शंतमया शब्द से कहा। इन तीनों आनन्दों का रूप जरा बता देते हैं। प्रतिबिम्बानन्द उसको कहते हैं जो किसी इष्ट पदार्थ की प्राप्ति होने पर होता है। किसी चीज की तीव्र इच्छा होने पर यदि वह चीज प्राप्त हो जाती है तो जो आनन्द होता है, उसको प्रतिबिम्बानन्द कहते हैं। इसे क्यों प्रतिबिम्बानन्द कहते हैं ?

'विषयेश्वपि.........जब इच्छित पदार्थ की प्राप्ति होती है तो वह इच्छा उपरामता को प्राप्त हो जाती है, वह इच्छा उपरत हो जाती है अर्थात् हट जाती है। अब जब इच्छा थी तब तक तो अंतःकरण, मन, इन्द्रियों के द्वारा उस इच्छित पदार्थ को, विषय को प्राप्त करने के लिये बाहर की तरफ देख रहे थे। इच्छा ही मनुष्य को अपने अन्दर से बाहर को धकेलने वाली चीज है। जब तक इच्छा थी, तब तक उस इच्छा की ताकत से अंतःकरण इन्द्रियों के द्वारा बाहर को जा रहा था। जैसे ही वह पदार्थ मिला, मिलने के साथ ही जो चलाने वाली इच्छा थी, वह उपरत हो गई। 'लब्धेषु तदिच्छो परमेसति अंतर्मुखमनोयुक्तौ आनन्दं प्रतिबिम्वितं।' अब वह मन जो बाहर जा रहा था, जब बाहर जाने वाला कारण समाप्त हुआ तो फिर वह अंतर्मुख हो गया। इच्छा के कारण बाहर को जा रहा था

जैसे ही इच्छा शांत हुई, स्वभावतः वह अंतःकरण अन्दर हो गया। जब वह अन्दर जाने को हुआ तो अन्दर में रहने वाले आत्मा का उसमें प्रतिबिम्ब पड़ गया। यद्यपि मन वहाँ आनन्दरूप परमात्मा को विषय करने नहीं गया था। वह तो स्वभाव से ही अन्दर की तरफ जा रहा था, लेकिन जब अन्दर की तरफ उसका मुख हुआ तो अंतःकरण तैजस् पदार्थ होने से उसके सामने जो भी चीज आयेगी, उसका प्रतिबिम्ब उसमें पड़ जायेगा। जब बादाम की बर्फी की तरफ मन गया तो मन में बादाम की बर्फी आ गई, अंतर्मुख होने के लिये अंतःकरण ने मुख किया तो अन्दर रहने वाले आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ गया। यह जो प्रतिबिम्ब पड़ता है इसी से हमको लगता है कि विषय से आनन्द आया। विषय के मिलने पर, अन्तःकरण अन्तर्मुख हुआ, आनन्द तो आया उस अन्तःकरण या मन के अन्तर्मुख होने पर लेकिन चूँकि अन्तर्मुख हुआ इच्छा निवृत्ति होने पर और इच्छा निवृत्ति हुई पदार्थ की प्राप्ति में, इसलिए भ्रम हो जाता है कि मुझे पदार्थ प्राप्ति से आनन्द हुआ। वस्तुतः वहाँ पर भी पदार्थ प्राप्ति से आनन्द नहीं है, वहाँ पर भी मन की अन्तर्मुखता से ही आनन्द है। इसी को शास्त्रीय भाषा में प्रतिबिम्बानन्द कहते हैं। यह एक आनन्द है। इस आनन्द की अपेक्षा अधिक तीव्र और अधिक अच्छा आनन्द वासनानन्द है। जब हमारी वृत्ति बिना किसी विषय की इच्छा के ही शांत हो जाती है, कई बार बैठे हुए मनुष्य का अनुभव होता है कि आज मुझे कोई चिंता नहीं है; रविवार का दिन है, मुझे दुकान पर काम करने भी नहीं जाना है, आज तो बड़े आनन्द से घर में आराम से बैठा हुआ हूँ, कोई दूसरा आदमी भी वहाँ नहीं है, कोई विषय भी वहाँ नहीं है, लेकिन बिना किसी विषय के स्वभाव से वृत्ति की जो शांतावस्था है, उसके अन्दर जो आनन्द होता है, वह आनन्द भी स्वरूप का आनन्द है। यह आनन्द विषयप्राप्ति के आनन्द से ज्यादा भी होता है और उसकी अपेक्षा शुद्ध भी होता है। ऐसा क्यों? जब हमको प्रतिबिम्बानन्द की प्राप्ति होती है किसी

विषय को लेकर, तब तो उसके पहले मन परिश्रम करता रहा है इसलिए उसमें रजोगुण की छाप रहती है। उस रजोगुण की छाप लेकर जब अन्त:करण अंतर्मुख होता है तो आनन्द का जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वह झिलमिल-झिलमिल करता हुआ आनन्द प्रतिबिम्बित होता है। जिस प्रकार किसी घड़े को लेकर तुम एक फर्लांग दूर से पानी भर करके ला रहे हो तो स्वभावत: उसमें भरा पानी छलक-छलक कर रहा है। अब यदि उस घड़े का मुँह खुला हुआ है तो उसमें भी सूर्य का प्रतिबिम्ब तो पड़ रहा है, सूर्य के प्रतिबिम्ब के कारण उस जल में रोशनी भी है, लेकिन वह रोशनी झिलमिल-झिलमिल करती हुई रोशनी है, साफ नहीं है, लेकिन यदि घड़ा घर में चुपचाप रखा हुआ है और उस घड़े में पानी है तो स्वभाव से वह पानी स्थिर है, हिलडुल नहीं रहा है। उसमें जो सूर्य का प्रतिबिम्ब पड़ेगा, वह बिल्कुल स्पष्ट और साफ पड़ेगा। उसमें प्रकाश बिल्कुल अच्छी तरह से दीखेगा। इसी प्रकार इच्छा के द्वारा अन्त:करण रजोगुणी बना, रजोगुणी बनकर के उस पदार्थ की प्राप्ति के लिये उसने काफी प्रयत्न किया। पदार्थ की प्राप्ति हो जाने पर जब वह अन्तर्मुख हुआ तो उस रजोगुण के संस्कार के कारण उसमें अभी लहरें उठ रही ही हैं, स्थिरता नहीं है, इसलिये उसमें पड़ने वाला आनन्द उतना स्फुट और स्पष्ट नहीं होता है। लेकिन जो व्यक्ति संतुष्ट हुआ अपने घर में बैठा हुआ है, किसी विषय को लेकर उसमें कोई इच्छा नहीं है और उस विषय की प्राप्ति के कारण आनंद नहीं होने से वहाँ रजोगुण के अभाव में सत्वगुण की अधिकता का आनंद है। शंका होगी कि वहाँ सत्वगुण को क्यों मानें? यह समझ लो कि चुपचाप बैठे हुए व्यक्ति को तभी आनंद आ सकता है जब वह संतोषी व्यक्ति हो। जिसका अंत:करण कामनाओं से भरा हुआ है, वह तो रविवार के दिन उल्टा दु:खी होगा कि आज तो सवेरे से शाम तक कोई बिक्री ही नहीं हुई है, यदि सरकार ने छुट्टी का कानून न बनाया होता तो अच्छा था। इसलिये बैठे-बिठाये कोई काम नहीं होगा तो बिना

मतलब का कोई काम अपने सिर पर ले लेगा। संतुष्ट और संतोषी व्यक्ति सत्वगुण की अधिकता में ही हुआ करता है। रजोगुण की अधिकता में संतोष नहीं होता है। वहाँ तो रोज नई कामनायें, रोज नई-नई अभिलाषायें बढ़ती ही रहती हैं उनका कोई अंत नहीं आता। जैसे महाराजा मनु कहते हैं 'हविषा……' जैसे अग्नि में जितना घी डालोगे उतनी अग्नि भड़केगी, वैसे ही रजोगुणी व्यक्ति की कामनायें जितनी पूरी होंगी, उतनी ही और ज्यादा भड़केंगी। सत्वगुण के अन्दर ही संतोष उत्पन्न करने की सामर्थ्य है। यह जो सत्वगुण की वृत्ति है, इसको लेकर जो आनंद होता है इसे शास्त्रीय भाषा में वासनानंद कहते हैं क्योंकि यहाँ कोई विषय नहीं है, विषय के बिना आनंद आ रहा है। अब सुख और दुःख के बीच में जो उदासीन भाव है, यह उस उदासीनता के भाव से होने वाला आनंद है। इसीलिये यह आनंद बढ़ता ही जायेगा, घटेगा नहीं। विषयानंद में तो सामने विषय है, इसलिये घटता-बढ़ता है। विषय जितना ज्यादा मिला, उतना सुख ज्यादा और विषय जितना कम मिला, उतना सुख कम। लेकिन यह तो विषय के अभाव का सुख है, इसलिये यह आनंद कभी भी दुःख का प्रतियोगी नहीं बनता। इस आनंद में कभी दुःख नहीं रहता। संतोष और शान्ति से कभी किसी को दुःख नहीं हुआ करता। सुख कम-बेशी हो जायेगा लेकिन दुःख कभी नहीं होगा। कई बार इस औदासीन्य (उदासीन भाव) के आनंद को मनुष्य स्वरूपानंद या निजानंद भी मान लेता है। लेकिन वस्तुतः यह स्वरूपानंद नहीं है। स्वरूपानंद को सिद्ध करने वाला तो यह है लेकिन यह स्वयं स्वरूपानंद नहीं है क्योंकि इसमें अहंकार की वृत्ति बनी रहती है। मुझे कोई चिंता नहीं है, मैं आज बड़े आनंद से बैठा हुआ हूँ। यह जो मैं का अनुवर्तन है, यही इसे ब्रह्मानंद या स्वरूपानंद से अलग करता है। फिर भी ब्रह्मानंद को सिद्ध करने वाला तो यही है। कई बार मनुष्य सोचता है कि इस ब्रह्मानंद में, ब्रह्मस्थिति में आनंद है, यह कैसे पता चले? कई बार लोग शंका

करते हैं कि ब्रह्मस्थिति में जब कोई दूसरा है नहीं तो वहाँ आनंद है, इस बात का कैसे पता लगता है। इसीलिये कुछ तार्किक लोग उस अवस्था में दुःख का अभाव तो मान लेते हैं लेकिन आनंद की भाव स्थिति नहीं पकड़ पाते। कुछ लोग कहते हैं कि उस वृत्तिशून्यावस्था में सुख-दुःख दोनों नहीं हैं। वेदांतशास्त्र बार-बार कहता है कि वहाँ दुःख नहीं है, यह तो ठीक लेकिन सुख नहीं है, यह नहीं बनता। उसी सुख को भगवान श्रीकृष्ण ने भी सबसे बड़ा सुख कहा 'सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्। वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्वतः ॥६-२१॥' उसे आत्यंतिक सुख कहा है। परमात्मा का स्वरूप दुःखाभाव वेद आदि सच्छास्त्रों में नहीं बताया है, बल्कि उसे आत्यंतिक सुख बताया है, अर्थात् जिससे बड़ा और कोई सुख ही नहीं है। लेकिन शंका होती है कि जब वहाँ त्रिपुटी नहीं है, ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का भेद नहीं है तो वहाँ आनंद की वृत्ति कैसे? और कुछ लोग तो इसी भय के मारे कि कहीं अद्वैत स्थिति में सुखाभाव भी न हो, अद्वैत से दूर ही रहना चाहते हैं। वे कहते हैं कि उस अद्वैत आनंद को लगे तो हमारा प्रमाता प्रमाण प्रमेय भाव नष्ट हो जायेगा, फिर उस आनंद को कैसे लेंगे। लेकिन इस औदासीन्य आनंद से उस आनन्द की सिद्धि होती है। किसी घड़े के अन्दर बर्फ रखी हुई है। घड़े में बरफ रखते हो तो घड़े के बाहर भाप जम जाती है। उस भाप को देखकर पता लग जाता है कि इसके अन्दर बरफ है। फिर यदि उस घड़े के ऊपर अपना हाथ लगा दो तो ठण्डातीत लगता है और निश्चय हो जाता है कि इसमें बरफ है। ऐसा तो नहीं कि उसको देखने से ही पता लगा कि उसमें बरफ है या नहीं। आजकल के जो बच्चे होते हैं, वे बोतल में कोकाकोला या फैण्टा खरीद कर पीते हैं? कैसे पीते हैं? बोतल को हाथ से पकड़ते हैं, अगर ठण्डी लगती है तो खुश होकर कहते हैं कि खोल दो। अगर पकड़ने पर उन्हें ठण्डी नहीं लगती तो वापस कर देते हैं कि तुम्हारा फ्रिज काम नहीं कर रहा है, नहीं पियेंगे, आगे जाकर दूसरी दुकान से पी लेंगे। ऐसा तो नहीं कहते कि खोल

दो, हम उसमें उँगली डालकर देखें, वह दुकानदार कभी उसे अपना माल नहीं देगा। ठीक इसी प्रकार से जैसे-जैसे ध्यान की एकाग्रता आती है और उसके अन्दर, अहं पहले की अपेक्षा ज्यादा लीन होता है। सामान्य औदासीन्य आनंद वासनानंद, तो हो गया जबकि चुपचाप बैठे हो। जब चुपचाप बैठने की अपेक्षा ध्यान कर रहे हो तो वह आनंद वासनानंद से और ज्यादा है। सविकल्प समाधि में जितनी तुम्हारी वृत्ति बढ़ती जायेगी, उतना-उतना तुम्हारा आनंद और बढ़ता रहेगा। आनंद के बढ़ने से ही पता लगता है कि जितना अहं ज्यादा लीन होता है उतना आनंद और अधिक बढ़ता है। जहाँ सर्वथा अहं लीन हो जायेगा, वहां के आनंद का क्या ठिकाना। इसीलिये इसको वासनानंद कहते हैं क्योंकि अंत:करण में परमेश्वर की वासना ध्यान के द्वारा जितनी बढ़ती है, उतना ही सत्वगुण अधिक होने के कारण औदासीन्य भाव बढ़ता है; और जितना औदासीन्य भाव बढ़ता है, उतना ही वासनानंद बढ़ता जाता है। यहाँ वासना का मतलब संसारी वासना नहीं ले लेना, क्योंकि यह शास्त्रीय शब्द है। आनंद रूप ब्रह्म का प्रतिविम्ब पड़ने से जो आनंद आया, वह प्रतिविम्वानन्द, आनन्दरूप ब्रह्म की वासना बन जाने से जो आनंद आया, वह वासना आनंद; और स्वरूप या ब्रह्मरूप आनंद ब्रह्मानंद। इस प्रकार तीन प्रकार के आनंदों को शास्त्रों ने बताया। इसमें जो अंतिम आनंद है, इसको भगवान ने भी आत्यंतिक और बुद्धिग्राह्य कहकर अतीन्द्रिय कहा है, अर्थात् यह इन्द्रियों का विषय नहीं है, केवल शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही ग्रहण होता है। '......नचैवालम्वन ....' केवल बुद्धि के द्वारा व्यक्ति इसे समझता है और इसमें स्थिर होने के बाद फिर कभी नीचे नहीं होता है। जब इस ब्रह्मानंद की प्राप्ति होती है तो उसकी आँखों में ऐसा अजीब नशा छाया रहता है कि सारे संसार में बड़े से बड़ा राजा उसे कंगला लगता है। भगवान ने गीता में कहा—'यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः। यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते ॥६-२२॥' इस आत्यंतिक सुख को जिसने प्राप्त

कर लिया फिर अपरं लाभं ततः अधिकं न मन्यते, अर्थात् उससे अधिक और कुछ मिलना अथवा मुझे कुछ अधिक मिल गया, ऐसा नहीं होता। जैसे मान लो किसी आदमी के पास दस अरब रुपये हों और उसे पाँच पैसे का सिक्का और मिल जाये तो क्या उसे लगता है कि मैं पहले से ज्यादा बड़ा आदमी हो गया। अथवा जिस औरत के पास हजार तोले सोने के गहने हों और उसे एक लोहे की अँगूठी या छल्ला पहनने को मिले तो क्या वह समझती है कि मेरा गहना बढ़ गया। ठीक इसी प्रकार से जिसने उस परब्रह्म परमात्मतत्त्व ब्रह्मानंद को पा लिया उसके सामने संसार का बड़े से बड़ा सुख उतना भी नहीं जितना हजार तोले सोने के सामने लोहे की एक अँगूठी, इसके प्राप्त होने से उसे कुछ नहीं लगता कि मुझे कुछ और ज्यादा मिला। 'यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।' उस ब्रह्मानंद में स्थित होने के बाद बड़ से बड़ा दुःख भी उसको वैसा ही लगता है जैसे दस अरब वाले को पाँच पैसे का नुकसान। यदि सारे संसार का इन्द्रपद तक भी उसे मिल जाये तो भी दस अरब वाले को पाँच पैसे मिल जाने जैसा है; और उसका शरीर घोर से घोर कष्ट में पड़ा हुआ हो तो भी उसका दुःख उतना ही होता है जैसे दस अरब वाले को पाँच नये पैसे का नुकसान हो जाने से होता है। जैसे कोई फर्क ही नहीं पड़ता। यह जो उसकी पूर्ण आनंदरूपता है, यही उसकी वास्तविक स्थिति है। यही उस ब्रह्मानंद का रूप है, इसकी प्राप्ति होती है। उसी को भगवान ने यहाँ कहा कि यह इन्द्रियों के अतीत विषय है, इन्द्रियों से परे का विषय है। इन्द्री के द्वारा नहीं पकड़ा जा सकता। जब हम इस तत्त्व को इन्द्रियों के द्वारा, मन के द्वारा पकड़ने का प्रयत्न करते हैं तो बड़ा नुकसान होता है। इसी बात को सप्तशती के अन्दर महासरस्वती के चरित्र से बताया गया है जिनका आज जन्मदिन है। सप्तशती का वैकृतिक रहस्य कहता है—'गौरीदेहात्समुद्भूता या सत्त्वैकगुणाश्रया। साक्षात्सरस्वती प्रोक्ता शुम्भासुरनिर्बर्हिणी॥' सरस्वती कौन है? गौरी के

देह से उत्पन्न है और केवल सत्वगुण को आश्रय किये हुए है। वह साक्षात् सरस्वती शुम्भ असुर को मारने वाली है। गौरी देह से इसकी उत्पत्ति पंचम अध्याय में बताई जब शुम्भ और निशुम्भ दोनों भाइयों ने धीरे-धीरे समग्र देवताओं के पास जो कुछ था, उस सबको दबा लिया। इन्द्र, कुबेर, यम, अग्नि इत्यादि जितने देव थे, उन सबका राज्य उन्होंने हरण कर लिया। इसलिये केवल आजकल ही नहीं समझ लेना कि मन्दिरों का हरण भी लोग करना चाहते हैं, मठों का हरण भी करना चाहते हैं, सब चीजें अपने ही हाथ में हों, इस भावना से प्रभावित होकर लोगों की प्रवृत्ति पहले से ही चली आई है। प्रवृत्ति ही ऐसी होती है। शुम्भ और निशुम्भ ने देवताओं के सारे अधिकारों का हरण कर लिया। देवता सत्वगुणी होने से असुरों के सामने टिक नहीं पाये। अब उनके सामने केवल परमेश्वर की आराधना के बिना और कोई उपाय नहीं था और वे सब आराधना ही करते रहे। यह हमेशा याद रखना क्योंकि आजकल सत्वगुणी उपासक भी कई बार सोचते हैं कि लड़ाई-झगड़ा करके हम जीत जायेंगे। यह तो रजोगुण की प्रधानता वाला व्यक्ति ही कर सकता है। सत्वगुणी में जब तक सत्वगुण प्रधान रहता है, वह रजोगुण से युक्त व्यक्ति से नहीं जीत सकता। उसके लिये तो परमेश्वर की उपासना का ही एकमात्र अवलम्ब है जिससे वह उस को जीत सकता है। उन लोगों ने भगवती की प्रार्थना की। जहाँ वे प्रार्थना कर रहे थे, वहीं पर पार्वती गौरी स्नान करने के लिये आ गई, और इन लोगों की स्तुति को सुनकर उसने प्रश्न किया कि तुम लोग किसकी स्तुति कर रहे हो? देवता लोग उसी की स्तुति कर रहे थे। जैसे स्वयं भगवती ने प्रश्न किया, वैसे ही स्वयं भी उन्होंने जवाब भी दे दिया 'शरीरकोशतश्चास्याः समुद्भूताब्रवीच्छिवा। स्तोत्रं ममैतत् क्रियते शुम्भदैत्यनिराकृतैः ॥' पार्वती के शरीर रूपी कोश में से निकली उसी को यहाँ शिवा तनु से कह रहे हैं 'या ते रुद्र शिवातनुः'। उसी को सप्तशती में गौरी देह से उत्पन्न होने वाली बताया। उसने कहा कि ये लोग तो मेरी ही स्तुति कर

रहे हैं। वह शरीर कोश में से निकली। कोश म्यान को कहते हैं। जैसे म्यान में तलवार को रखते हैं उसी प्रकार इस शरीर रूपी कोश में ही वह ब्रह्मानंद रहता है, इसलिये यह शरीर कोश है और इसमें रहने वाला तलवार की जगह ब्रह्मानंद है। 'शरीरकोशाद्यत्तस्याः पार्वत्या निःसृताम्बिका। कौशिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते ।।' जैसे यहाँ उसका नाम कौशिकी पड़ गया, वैसे ही ब्रह्मानंद के विचार को करने वाला जो शास्त्र ब्रह्मसूत्र है, उसे शारीरक मीमांसा कहते हैं। जैसे कोश से कौशिकी वैसे ही 'शरीरे भवः शारीरकः' शरीर में होने वाले ब्रह्म का जहाँ विचार हो, वही शारीरक शास्त्र है। कौशिकी निकली और उसने ही यह कहा कि यह मेरी ही स्तुति कर रहे हैं। इन सब लोगों का काम बन जायेगा। देवता लाग प्रसन्न हो गये। वह वहीं एक शिला पर बैठ गई। शुम्भ निशुम्भ के चार (गुप्तचर या सी० आई० डी०) लोग वहाँ चारों तरफ घूमते रहते थे। जैसे आजकल लोग ऐसे गुप्तचरों से डरते रहते हैं कि कब किसको ले जायेंगे, कोई ठिकाना नहीं है। रात में सोते हुए भी लोग डरते हैं कि कहीं किसी की आँख न पड़ जाये। अपना ही गहना होता है, किसी शादी ब्याह में जाना हो तो पति कहता है कि पहन-कर मत जाना। कोई चोरी का नहीं है। हम पूछते हैं क्या बात है। कहते हैं—स्वामी जी, किसी की नजर न पड़ जाये। यही शुम्भ निशुम्भ के समय में था। उन लोगों ने इसे देख लिया कि बैठी हुई है और बड़ी सुन्दर स्त्री है। तुरन्त जाकर शुम्भ निशुम्भ को खबर दी कि तुमने संसार में बहुत से देवताओं के रत्न को लिया है। कामधेनु, ऐरावत, उच्चैश्रवा आदि जितने भी रत्न हैं, वे सब तो तुमने ले लिये 'एवं दैत्येन्द्र रत्नानि समस्तान्याहृतानि ते।' लेकिन 'स्त्रीरत्नमेषा कल्याणी त्वया कस्मान्न गृह्यते' इसी प्रकार स्त्रियों में यह रत्नरूपी अत्यंत सुन्दरी हम लोग जो देखकर आये हैं, इसको क्यों नहीं हरण कर लेते। वह उसके रूपसौन्दर्य को सुनकर झट तैयार हो गये। रजोगुणी तो थे ही, असुर थे। उन्होंने कहा कि उसे ले आओ। अपनी ही शक्ति से लाने के लिये प्रवृत्त हुए और कहा

कि उसको कहो कि हमारे पास आ जाये। खुद नहीं गये, दूतों को भेजा। दूतों ने जाकर कहा 'स्त्रीरत्नभूतां त्वां देवि लोके मन्यामहे वयम्। सा त्वमस्मानुपागच्छ यतो रत्नभुजो वयम्॥' क्योंकि रत्नों से शोभित होना हमारा स्वभाव है और तुम रत्नरूप हो, इसलिये हमारे पास आ जाओ। यह आसुरी भाव होता है। दूतों ने जाकर यह बात बता दी। सत्वगुणस्वरूपिणी महासरस्वती उनकी सारी बात सुनकर हंसकर कहती है कि तुमने बात बिल्कुल ठीक कही। शुम्भ निशुम्भ इस समय संसार का एकछत्र अखण्ड राज्य कर रहे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है, लेकिन क्या बताऊँ, मैंने भी एक प्रतिज्ञा कर रखी है 'यो मां जयति संग्रामे यो मे दर्पं व्यपोहति। यो में प्रतिबलो लोके स मे भर्त्ता भविष्यति।' मैं ना नहीं कर रही हूँ। लेकिन मैंने भी यह प्रतिज्ञा कर रखी है कि जो संग्राम में मुझसे युद्ध करके मुझे जीत ले, मेरे अन्दर जो यह दर्प है कि मेरे जैसा और कोई नहीं है, इसलिये जो मेरे जैसा ही बल वाला हो, उसी को मैं अपना भर्त्ता मानूंगी। तुम लोग कह रहे हो, और बात भी ठीक है कि वे ताकतवर हैं, आ जायें और मुझे हराकर ले जायें। मेरी तरफ से कोई ना नहीं है। दूतों ने कहा--अरे, क्यों अपनी बरबादी कराती है? उसने कहा--'मैं क्या करूँ, बरबादी हो, चाहे जो हो, नियम कर लिया सो कर लिया।' उन लोगों ने जाकर शुम्भ निशुम्भ से कह दिया कि वह तो ऐसा-ऐसा कहती है और नहीं आती है। शुम्भ को गुस्सा आना ही था। उसने कहा कि 'तामानय बलाद् दुष्टां केशाकर्षणविह्वलाम्' उस दुष्टा को बालों का झोटा पकड़कर बलपूर्वक खींचकर ले आओ। झट यह हुक्म दे दिया और वहां फौज पहुँच गई। पहले धूम्रलोचन पहुँचा। उसको भी भगवती ने समाप्त कर दिया। उसके बाद कुछ और लोग पहुँचे। उनको भी भगवती के साथ लड़ने वाले वीरों ने खतम कर दिया। उसके बाद चण्ड मुण्ड को मारा, रक्तदन्तिका रूप से रक्तबीज राक्षस को भी इस बीच मारा। उसके बाद निशुम्भ को मारा। अब जब अपने भाई को मरा देखा तो फिर शुम्भ स्वयं युद्ध करने के लिये पहुँचा।

भगवती उस समय में खेल करने के लिये अपने अनेक स्वरूप बना-कर लड़ रही थी। शुम्भ पहुँचकर कहता है कि तुमने तो यह कहा था कि जो मुझे लड़कर जीते, लेकिन 'अन्यासां वलमाश्रित्य युद्ध्यसे यातिमानिनी।' तू तो दूसरों का सहारा लेकर लड़ रही है। बात तो तूने यह कही थी कि जो मेरे से जीते, और तू इतने लोगों को लेकर लड़ रही है, इसलिये तेरा अतिमान ठीक नहीं है। भगवती ने कहा—मूर्ख तू समझा नहीं, तू गलत समझ रहा है। 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' मैं एक ही हूँ। अत्र एकैवाहं जगति। ईशावास्य उपनिषद् भी कहती है 'जगत्यां जगत्' उसी को यहाँ अत्र जगति से कहा है। 'द्वितीया का ममापरा' मेरे सिवा और दूसरी चीज कुछ नहीं है, फिर भी तू देख रहा है कि मैं बहुत हूँ। 'अहं विभूत्या बहुभिरिह रूपैर्यदास्थिता' मैं एक होने पर भी युद्ध करने के लिए अपनी विभूतियों को बहुत रूप से प्रकट कर रही हूँ। फिर भी यदि तू कहता है तो ले इन सबको मैं अपने में लीन कर लेती हूँ 'तत्संहृतं मयैकैव तिष्ठाम्याजौ स्थिरो भव' उन सब विभू-तियों को मैं अपने में उपसंहृत कर लेती हूँ। अब तू युद्ध के अन्दर स्थिर हो जा। युद्ध शुरू हुआ। भगवती ने बहुत अल्प काल के अन्दर उसके घोड़े, सारथि इत्यादि सबको खतम कर दिया। 'हताश्व: स तदा दैत्यश्छिन्नधन्वा विसारथि:' जब इस प्रकार उसके घोड़े मर गये, उसका धनुष भी कट गया और सारथि से भी वह रहित हो गया, तो वह भी भयंकर युद्ध करने वाला था, कोई मामूली तो था नहीं, वह वहाँ से शून्याकाश में चला गया और वहाँ से युद्ध करने लगा। देवता लोग सोचने लगे कि अब युद्ध कैसे होगा? 'तत्रापि सा निराधारा युयुधे तेन चण्डिका' वहाँ पर भी निराधार होकर, बिना किसी आधार के ही भगवती ने वैसा युद्ध किया और फिर शूल के द्वारा उसका हनन कर दिया, शुम्भ भी मारा गया। सारे देवता प्रसन्न हो गये। अग्नियां शांत हो गई। देवताओं ने उनकी प्रार्थना की। महासरस्वती की उत्पत्ति की यह कथा सप्तशती में आती है।

महासरस्वती ब्रह्मानन्दस्वरूपिणी हैं। इस ब्रह्मरूपी आनंद को लेने के लिये शुम्भ निशुम्भ जवरदस्ती का सहारा लेते हैं। देवताओं ने स्तुति की, तव तो वह प्रसन्न होकर उनकी सहायतार्थ आ गई। लेकिन शुम्भ निशुम्भ ने स्तुति नहीं की, उन्होंने उससे जबर्दस्ती करने का प्रयत्न किया। साधारण मनुष्य भी इसी प्रकार से उस परब्रह्म परमात्मा के आनन्द को विना परमेश्वर की शरणागति के अपने ही प्रयत्न से लेना चाहता है। कोई उसे तर्क से समझना चाहता है, कोई बुद्धि से समझना चाहता है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न साधनों के द्वारा अपने प्रयत्न से जबर्दस्ती उसको लेना चाहते हैं क्योंकि सुन तो सबने रखा है "स्त्रीरत्नमेषा कल्याणी त्वया कस्मान्न गृह्यते" ब्रह्मविद्या महाकल्याणी है, सबसे बड़ा रत्न है। हम लोगों ने संसार के वहुत भोग भोगे, इसे भी ले लें। कुछ लोग तो कहते हैं—महाराज! विज्ञान ऐसे वढ़ते-बढ़ते एक दिन परमात्मा को भी पा लेगा। यह कहना भी उसे जवर्दस्ती पकड़ने जैसी वात है। जवर्दस्ती उसे पकड़ना चाहोगे तो वह पकड़ में नहीं आयेगा। उसका कहना यह है कि यदि तुम मेरे भर्त्ता वनना चाहते हो तो मेरी वरावरी के वनो। तभी ले सकता है क्योंकि वह विद्या ज्ञानस्वरूपिणी है। संवित् स्वरूपिणी जो भगवती है उसके जैसा कोई दूसरा नहीं है। वह एक अखण्ड ही है। इसलिये उसकी वरावरी का कौन अंत:करण हो सकता है। इसीलिये भगवान ने भी उसे अतीन्द्रिय और आत्यंतिक कहा। उसी को यहाँ 'शंतमा' से कहा अर्थात् सबसे ज्यादा आनंद, जिसके समान कोई आनंद न हो। उसे वह जवर्दस्ती बिना अनुभव का सहारा लिये हुए, अपने आपको उसके विना अर्पित किये हुए लेना चाहता है और पहले धूम्रलोचन को भेजता है। धूम्रलोचन कर्म को वताता है क्योंकि प्राय: मनुष्य हर चीज की प्राप्ति कर्म से करता है। होम भी कर्म का प्रतीक है। मनुष्य कर्म के द्वारा जवर्दस्ती उस परमात्मा को पकड़ना चाहता है। श्रुति कहती है 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैकेऽमृतत्वमानशु:'। धूम्रलोचन को भी वह समाप्त करती हैं क्योंकि धूम्रलोचन रूप कर्म से प्रतिविम्बानन्द की प्राप्ति होगी।

कर्म से जो मिलेगा, वह कोई न कोई विषय ही होगा और विषय से होने वाला प्रतिबिम्बानंद ही होगा। ब्रह्मानंद के सामने प्रतिबिम्बानंद्र की कोई स्थिति नहीं है। धूम्रलोचन को मारने के बाद निशुंभ से युद्ध हुआ। निशुंभ वासनानंद को बताता है। उपासना, योग के बल से जब मनुष्य उसको पकड़ना चाहता है तो वहाँ भी जबर्दस्ती है। जैसे कर्मिष्ठ कहता है 'मंत्राधीना हि देवता:' हम जो चाहे देवताओं,से करा सकते हैं, उसी प्रकार योगाभ्यासी उपासनापरायण कहता है कि मैं सब कुछ कर सकता हूँ, मैं अपनी साधना से सब कुछ प्राप्त कर सकता हूँ, जरूर कर लूँगा। इसलिये निशुम्भ इसी वासनानंद को नताता है। वह भी मारा जाता है क्योंकि वासनानंद यद्यपि है तो नजदीक, फिर भी ब्रह्मानंद के सामने कुछ नहीं है। अब रसास्वाद रूप जो शुम्भ है वह कहता है कि तुमने तो कहा था कि 'मेरे' सामने युद्ध करो लेकिन तुमने तो कई साधन अपना रखे हैं क्योंकि वह ब्रह्मानंद भी परमात्मा के चिंतन और मनन में प्रकट होता है, परमेश्वर के ध्यान में प्रकट होता है, इत्यादि भिन्न-भिन्न तरह से होता है। इसीलिये कहा—'स्वाध्याय याद्योगमभ्यस्त:' भिन्न-भिन्न प्रकार से यह ब्रह्मानंद स्फुरित होता है। इस औदासीन्य को मारने के लिये भगवती कहती है कि मैं अकेली वहाँ हूँ। इसीलिये श्रुति कहती है 'आनन्दस्य मात्रां जीवन्ति' यह ब्रह्मानंद का सुपुत्र है। इसकी बूँद से ही तो प्रतिविम्बानंद, वासनानंद पैदा हो रहा है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन में जो आनंद आता है, इन सभी के अन्दर आने वाले आनंद में है तो ब्रह्मानंद की ही मात्रा। ले इन सबको मैं अपने में समेट लेती हूँ। यह निष्ठा की स्थिति हो गई, परप्रेम हो गया। पूर्ण निष्ठा अर्थात् एकत्व की प्राप्ति हो गई। तब शुंभ के अश्व मारे गये। घोड़े इन्द्रियों को बताते हैं अर्थात् वहाँ इन्द्रियों की गति रुद्ध हो गया है। अतीन्द्रिय हो गया, और कामना रूपी सारथि भी खतम हो गयो है। जब कामना समाप्त हो गई, इन्द्रियाँ समाप्त होकर अतीन्द्रिय हो गयी तो वह शुम्भ ऐसी स्थिति में शून्याकार वृत्ति बनाता है। जब मनुष्य सब

तरफ से अपने को बन्द कर लेता है तो कुछ नहीं जैसी स्थिति आती है। कबीर इसको भ्रामरीगुहा के द्वारा बताते हैं। बौद्धों में इसे शून्य नाम से कहा है। लगता है कि इस शून्य में ब्रह्मानंद का प्रवेश कैसे हो सकता है। शून्य की स्थिति में कैसे होगा। लेकिन यह ब्रह्मानंद शून्य को भी समाप्त करने में समर्थ है। वहाँ भी यह वृत्ति चलती रहती है। मन शून्याकार हो जाने पर भी ब्रह्मानंद को लेने के लिये जो वृत्ति एक बार आ गई, उसके लिये चलती रहती है। लोक में भी देखने में आता है कि साइकिल को तेज गति से पैडल मारकर चला रहे हों और अकस्मात पैडल मारना बन्द कर दो तो साइकिल कुछ दूर तक चलती रहती है। इस युद्ध में शुम्भ देवी के शूल से मारा जाता है। इस एकाग्रता में तत्वमस्यादि महावाक्य की अखण्ड वृत्ति या तत् और त्वं की एकता रूप शूल से शुम्भ रूपी जीव मारा जाता है, और फिर उस जीवात्मा की ब्रह्मानंद से तृप्ति हो जाती है अर्थात् उसके जितने भी ऋण हैं, सब चुक जाते हैं। शरीर की इन्द्रियाँ भी तृप्त हो जाती हैं और जीव जगत के द्वैत की निवृत्ति के द्वारा बुद्धि भी तृप्त हो जाती है। इसलिये महासरस्वती को उत्पन्न करना ब्रह्मानंद की प्राप्ति करना है। कौशिकी अर्थात् पाँच कोशों का विवेचन करके इन कोशों में फँसे हुए आत्मा को निकालकर विषयानंद अर्थात् प्रतिबिम्बानंद और औदासीन्य अर्थात् वासनानंद को समाप्त करके केवल ब्रह्मानंद में स्थिर होता है। जब वहाँ स्थिर होंगे तब वह शंतमा रूप, महासरस्वती का रूप प्रकट होगा। यहाँ यही प्रार्थना है कि 'हे गिरिशंत, इस रूप से आप हमारे सामने प्रकट हों'।

१७-२-७५

ॐ

रुद्राध्याय के तृतीय मंत्र की व्याख्या

यामिषुङ्गिरिशन्तहस्तेबिभर्ष्यस्तवे ।
शिवाङ्गिरित्रताङ्कुरुमाहिंसीःपुरुषं जगत् ॥३॥

प्रथम मंत्र में यह जो विश्व रूप है इसके बारे में बताया। द्वितीय मंत्र में जो उसका कल्याणतम रूप है, उसे वताया। प्रथम मंत्र में जिस आत्मा रूपी वाण को वताया था, उसी को विस्तार से वतायेंगे। मंत्रार्थ है—हे गिरिशंत! यह सम्बोधन है। गिरि के ऊपर, पर्वतराज हिमालय के ऊपर शयन करने वाले परमात्मा ! जिस वाण को अपने हाथ में धारण किये हुए हैं, आप अपने हाथ में जिस बाण को छोड़ने के लिए धारण किये हुए हैं। हे गिरित्र ! गिरियों अथवा पर्वतों का त्राण करने वाले, शिवां कुरु, अर्थात् उस वाण को कल्याणस्वरूप करो। 'जगत् पुरुषं मा हिंसीः' संसार का और इसमें रहने वाले प्राणियों का किसी प्रकार अनिष्ट न हो। आप जिस वाण को छोड़ने वाले हैं, उस बाण को कल्याणकारी बनायें, और जगत्, जीव दोनों में से किसी का अनिष्ट न हो। यह मंत्र का वाक्यार्थ है। अव वाण का वर्णन कर रहे हैं। प्रथम मंत्र में ही कहा था कि परमात्मा के हाथ में धारण किया जाने वाला बाण जीव है 'शरो ह्यात्मा' पहले बता आये हैं, इसलिए जीव वह वाण है जिसको परमेश्वर छोड़ने के लिए अथवा फेंकने के लिए, अर्थात् उसके जीवभाव को निवृत्त करने के लिए जीवभाव को अस्त करने के लिए अपने हाथों में धारण किये हुए हैं। जीव को वे इस मायापाश के बंध से छटकारा देने के लिए धारण करते हैं। जव तक साधना में पकाया नहीं जायेगा

तब तक जीव का कल्याण नहीं हो सकता। साधना की पकावट के समय जीव घबरा जाता है। प्रत्येक जीव, प्रत्येक प्राणी इस संसार-बंधन से छूटना तो चाहता है लेकिन छूटने के लिए प्रयत्नशील होने पर जो साधना की तपन आती है, साधना की गर्मी आती है, उससे घबराता है। जैसे दाल का सीरा तो खाना चाहता है परन्तु उसे तैयार करने में, दाल को पीसने में जो मेहनत करनी पड़ती है, अर्थात् पहले दाल को भिजाना, फूलने पर उसका छिलका उतारना, पीसना इत्यादि जो श्रम है, उससे ही लोग थक जाते हैं। उसका स्वाद तो चाहते हैं। मूँग की दाल को या किसी भी दाल को धोकर, हाथ से मसलकर यदि उसकी दाल भी वनाओ तो स्वादिष्ट वनती है। लेकिन आलसी आदमी विना धोये ही मूँग की दाल बनाकर खा लेते हैं। छिलका उतारने का श्रम नहीं करना चाहते। उसके वाद उसे पीसना तो और भी मुश्किल काम है। इसलिए वहुत-सी जगह पर दाल को वाहर ले जाकर पिसवाते हैं, खुद पीसना नहीं चाहते। इन सव कष्टों से वचने के लिए कहते हैं कि दाल ही खाओ, वड़ी हल्की होती है, क्योंकि इतना सारा परिश्रम कौन करे। इसी प्रकार से हम सव चाहते तो हैं कि उस परब्रह्म परमात्मा के आनंद का भोग करें, लेकिन उसके लिये जो साधना की तपस्या करनी है, उससे घबराते हैं। जैसे सीरे का स्वाद लेने के लिये सवसे पहले दाल को भिजाना पड़ता है, जल से सिक्त करना पड़ता है, उसी प्रकार साधक को सवसे पहले अपने आपको भिजाना पड़ता है, अर्थात् कर्म रूपी जल में जव तक वह भीजता नहीं तव तक इसका छिलका फूलता नहीं है, फूलने पर ही उसको अलग किया जा सकता है। उसी प्रकार श्रुतियों में अनेक जगह कर्म को अप् (जल) शब्द से कहा है। अप् अर्थात् जल। वस्तुतः समग्र कर्मों के अधिष्ठाता होने के कारण प्रायः करके भगवान नारायण को समुद्र में शयन करने वाला, रहने वाला बताया जाता है। 'आपोनारा इति प्रोक्ताः'। जल कर्म का प्रतीक है। इसीलिये हम लोग जव कोई भी कर्म प्रारंभ करते हैं तो सवसे पहले

जल से आचमन करते हैं, जल के कलश की स्थापना करते हैं क्योंकि कर्म का जल से घनिष्ठ सम्बन्ध है। जव कर्म करते हैं तब धीरे-धीरे हम अपने आपको फुलाते हैं अर्थात् अपने परिच्छिन्न भाव को हटाकर व्यापक भाव की तरफ जाते हैं। जव तक आदमी विवाहित नहीं होता तव तक उसको यदि देखो तो उसमें स्वार्थ-परायणता अधिक होती है। विवाह के बाद कम से कम किसी न किसी काम के लिए अपनी पत्नी से तो पूछ लिया करता है, यह स्वाभाविक हो जाता है। फिर उसके बाद बाल-बच्चे हो गये तो किसी भी काम में पत्नी और बाल-वच्चों की भी तो सोचेगा। कर्म के द्वारा इस प्रकार मनुष्य के अन्दर कुछ फुलाव आता है, अपनी स्वार्थपरायणता को छोड़ने की वृत्ति वनती है। इसीलिए शास्त्रकारों ने जहाँ विवाह को संस्कार माना है, वहाँ केवल बच्चों को पैदा करने की दृष्टि से नहीं, वरन् कर्म के द्वारा यह फुलाव लाने के लिए। यह एक संस्कार है। पहले कर्मरूपी वारि (जल) के अन्दर इसे फुलाना पड़ता है। फिर छिलके को हटाना पड़ता है। रात-दिन जो अपने शरीर और उसी की शोभा, सौन्दर्य, लावण्य की तरफ ही दृष्टि वनी रहती है, यह ऊपर का छिलका है। इसी के ऊपर लोग परिश्रम करते रहते हैं। अन्दर की कोई सफाई नहीं, केवल ऊपर से सफाई करते रहते हैं। आजकल इसका वहुत ज्यादा दौर यहाँ तक बढ़ा है कि अब तो अपने शरीर की भी सफाई नहीं करते। शरीर के ऊपर के कपड़ों की सफाई पर ही ज्यादा जोर देते हैं। स्नान चाहे चौबीस घण्टे में एक ही बार करेंगे लेकिन कपड़े दिन में तीन बार बदलेंगे। वस्त्र के ऊपर शरीर की सफाई से भी ज्यादा जोर हो गया है। जब तक इस शरीर रूपी छिलके से अलग नहीं होंगे, तब तक साधना प्रारंभ ही नहीं होगी। 'मुन्जात् इषीका' यजुर्वेद कहता है कि जैसे सरकण्डे से उसके अन्दर रहने वाले तत्त्व को निकालना पड़ता है, वैसे ही इस शरीर में से आत्म तत्त्व को निकालना पड़ता है। अव जव दाल का छिलका हट गया, इस स्थल शरीर से अभिमान कुछ कम हो गया। पहले रात-दिन जो

इसके अन्दर ही लगे रहते थे, अव कुछ उससे आगे बढ़े ।

छिलका हट गया तो पीसना पड़ता है। अर्थात् दाल के भिन्न-भिन्न टुकड़े पीसकर सब एक जैसे करने होते हैं। इसी प्रकार हमारे अन्दर जो अनेक वासनायें हैं, उन सबको एकत्रित करके एक परमात्मा की वासना ही करनी है । अभी तो हमारी वासनायें अनंतमुखी हैं। न जाने किस-किस चीज की इच्छा मनुष्य में निरन्तर बनी रहती है । रास्ते में जाते हुए मोटर देखी, उसकी इच्छा हो गई, तब तक किसी दुकान के अन्दर चाँदी के बर्तन देखे तो उसकी इच्छा हो गई, उसके आगे साड़ियों की दुकान आई तो उसकी इच्छा हो गई। इस प्रकार रास्ते चलते हुए जो चीज देखता जाता है, उसी की इच्छा होती चली जाती है। इन वासनाओं का कोई अन्त नहीं है। जव इन्हें पीसते हैं तो कोई एक वासना रह जाती है। परमात्मा की तरफ जाने से वाकी सव वासनायें दब जाती हैं। इसी एकमुखी वासना को करने के लिए प्रार्थना करते हैं--'त्वमेव माता च पिता त्वमेव, त्वमेव बन्धुश्चसखा त्वमेव। त्वमेव विद्या द्रविणं त्वमेव, त्वमेव सर्व मम देव देव।' अर्थात् माता के प्रति हमारा जो प्रेम है, पिता के प्रति जो प्रेम है, इसी प्रकार वन्धु, मित्र, ज्ञान (विद्या), धन के प्रति जो हमारा प्रेम है, वह आपकी तरफ हो। इस प्रार्थना का उद्देश्य यही है कि भिन्न-भिन्न जगहों में बँटा हुआ जो हमारा प्रेम है, वह एकसूत्रता में आ जाये। सुई में धागा डालने में जैसी एकसूत्रता की आवश्यकता होती है वैसे ही दाल का सीरा वनाने में दाल की एक जैसी घुट्टी का होना आवश्यक है। ज्यादा दाल का सीरा बनाना हो और दस आदमियों को पीसने के लिए विठा दो, उनमें से कुछ तो दाल को पीसकर विल्कुल मक्खन वना दें और कुछ उसमें मोटा-मोटा दाना छोड़ दें, उसको मिलाकर यदि दाल का सीरा बनाओगे तो सीरा ठीक नहीं वनेगा। वह तो सारा का सारा एकरूप होगा, तभी काम चलेगा। इसी प्रकार से अपने अंतःकरण में जितना भी प्रेम है वह सव अच्छी तरह से एकाग्र होकर पिस जाना चाहिये, नहीं तो आगे चलकर झगड़ा होता है।

यदि दाल की पिट्ठी ठीक नहीं पीसी गई और हम उसका सीरा बनाने गये तो उसका कोई हिस्सा पक जायेगा, कोई कच्चा रह जायेगा। घी बेकार खराब होगा, परिश्रम भी व्यर्थ जायेगा। इसी प्रकार से यदि कहीं पर भी संसार के किसी पदार्थ की वासना रह गई तो साधना में आगे बढ़ने पर जब सिद्धियाँ सामने आने लगेंगी तो किसी न किसी सिद्धि में फँस जाओगे क्योंकि पहले की वासना अन्दर बैठी हुई है। जब तक सिद्धि नहीं आती तब तक वह वासना दबी रहती है। कई बार हम लोगों को कहते हैं कि तुम लोग जब कहते हो कि हमारे बच्चे ऐसे गड़बड़ काम करने लग गये कि जो हमने कभी नहीं किये, तो यदि अपने हृदय को टटोलोगे तो देखोगे कि उनमें से बहुत-से काम तुम करना तो चाहते थे लेकिन कर नहीं पाये। इच्छायें थीं। क्योंकि पुत्र में पिता के ही तो धर्म आयेंगे। कार्य में कारण के ही तो धर्म आयेंगे। तुमने इच्छा उत्पन्न तो कर दी थी लेकिन उस इच्छा को तुम स्थूल रूप नहीं दे पाये थे। वही इच्छा तुम्हारे बच्चों में गई और वह उसे पूरा करने में समर्थ हो रहे हैं। क्या कारण है? परिस्थितियाँ ऐसी बनीं जिसमें तुम्हारे लिए वह इच्छा पूर्ण करना असम्भव हो गया था। वे परिस्थितियाँ चाहे समाज की हों अथवा राष्ट्र की, सबका असर पड़ता है। ठीक इसी प्रकार से जब तक हमारे सामने सिद्धियों की शक्ति नहीं आती तब तक तो वह वासना दबी रहती है जिसे हमने पीसकर, परिश्रम करके प्रकट नहीं किया है। लेकिन जब सिद्धि आती है अर्थात् उस वासना को प्रकट करने की सामर्थ्य या शक्ति आती है तो फिर आदमी उसकी तरफ चला जाता है। जहाँ सिद्धि की तरफ गये, वहाँ परमेश्वर के मार्ग में किया हुआ प्रयत्न सारा व्यर्थ हो जाता है। इसलिए उससे बचना बड़ा आवश्यक है। एक साथ सारी वासनाओं को पीस डालना है, समाप्त कर देना हैं। इस प्रकार से तैयार पिट्ठी को सेंकने के लिए कड़ाई में डालना हैं।

इसी प्रकार फिर उस साधना को तपस्या रूपी अग्नि में अच्छी प्रकार से पकाना पड़ता है। शम, दम, उपरति, तितिक्षा–ये सब

आंच है। मन वाहर विषय में जाता है, तो उसको रोकने में अन्दर ही अन्दर जलन होती है। इन्द्रियाँ वाहर जायेंगी, उनको वाहर जाने से रोकने में अन्दर ही अन्दर जलन होगी। वाहर के सुख-दुःख आयेंगे और उनको दूर करने के लिए प्रवृत्ति होगी, उस प्रवृत्ति को रोकने में जलन होगी। इस जलन को सहन करना पड़ता है।'शांतो दांत उपरत स्तितिक्षुस्समाहितो भूत्वा आत्मनि आत्मानं पश्येत्।' यजुर्वेद का मंत्र स्पष्ट कहता है कि इन चीजों को किये विना आत्म-दर्शन सम्भव नहीं है। आजकल लोग आत्मदर्शन के लिये इस तपस्या से घवराते हैं और उसके लिए तरह-तरह के कारण भी वना लेते हैं। कुछ लोग भी उन्हें मिल जाते हैं जो कहते हैं कि कोई चिन्ता नहीं करो, यह सव साधना करना जरूरी नहीं है। आजकल अनेक तरह के मतमतांतर हैं। कोई कहता है कि हमने तुम्हारा कान फूँक दिया है, हो गया तुम्हारा काम। कोई हाथ रखकर कहता है हो गया शक्तिपात इत्यादि, इत्यादि। कुछ लोग उसका सिद्धान्त भी वना लेते हैं कि मन ही तो विषयों में जाता है, मन को जाने दो, तुम तो द्रष्टा साक्षी हो, तुम तो शुद्ध हो, वस हो गया काम। अव तो यहाँ तक लोग प्रतिपादन करने वाले कर जाते हैं कि सांसारिक भोग भी तो एक समाधि ही है। चित्तवृत्ति उसमें भी एकाग्र हो जाती है। एक नियम है कि जिस चीज का ग्राहक होता है, उसका विकवाल भी पैदा हो जाता है। एक वार गाँव में रहने वाले एक आदमी के मन में आया कि मेरे पास भी एक घोड़ा हो तो वहुत अच्छा हो। लेकिन घोड़े के दाम वहुत होते हैं। उसने अपनी वुद्धि से विचार किया कि घोड़ा तो मैं नहीं खरीद सकता, लेकिन यदि घोड़े का अण्डा सस्ता मिल जाये तो मैं आगे उसे से लूँगा। कहीं वहुत वड़ा वाजार लगता था। वहाँ जाकर उसने एक दुकानदार से कहा कि मुझे घोड़े का अण्डा चाहिए। उसने कहा कि घोड़े का अण्डा नहीं होता। ग्रामीण ने कहा—कैसे नहीं होता। चिड़िया का अण्डा, कवूतर का अण्डा, वगुले और मुर्गी का अण्डा होता है तो घोड़े का कैसे नहीं होता? तुम्हारे पास नहीं होगा,

इसलिए ऐसा कहते हो। इस प्रकार दस-पाँच दुकानदारों ने 'ना' कर दिया। वह हरेक से यही कहता कि तुम्हारी दुकान में नहीं होगा, ऐसा क्यों कहते हो कि होता ही नहीं है। एक दुकानदार बुद्धिमान था। उसने देखा कि लगता तो यह अव्वल दर्जे का बेवकूफ है। उसने कहा—है तो सही लेकिन महँगा है। उसने पूछा—कितना महँगा है। दुकानदार ने कहा—तेरे पास रुपये कितने हैं? उसने कहा—दस रुपये हैं। कहा—आता तो १२ रुपये का है लेकिन तेरे को दस में ही दे दूँगा। वह अन्दर जा एक वहुत बड़ा कुम्हड़ा (सीताफल) लेकर उस पर झट सफेद चूना लगा दिया और निकाल लाया। उससे कहा—जल्दी ले जा कहीं फूट न जाये। उसने सोचा कि चीज तो ठीक ही लग रही है क्योंकि कबूतर छोटा तो उसका अण्डा भी छोटा और घोड़ा वड़ा होता है तो उसका अण्डा भी वड़ा होना चाहिए, इसलिए माल तो ठीक ही है। उसने घर जाकर घरवाली से कहा कि घोड़े का अण्डा लाया हूँ। घर वाली ने माथा पीटा कि घोड़े का अण्डा कहाँ से मिल गया। थोड़े दिन में कुम्हड़ा सड़ गया। पुराने जमाने में बाजार होता था जो किसी एक जगह नहीं लगा करता था। वापस जाओ तो वह बाजार तो आगे चला गया होता था। कोई स्थिर बाजार होता तो वह जाकर कहता लेकिन तब तो एक गाँव से दूसरे गाँव में बाजार लगता था। जैसे वह घोड़े का अण्डा चाहता था, वैसे ही आजकल के आदमी चाहते हैं कि हम मनमर्जी का काम करते रहें और परमात्मप्राप्ति, मोक्ष भी हो जाये, ऐसा कोई रास्ता हो तो अच्छा है। किसी शास्त्रज्ञ के पास जाते है तो वह कहता है कि यह सौदा हमारे पास नहीं है। बिना शम, दम, उपरति, तितिक्षा, समाधान, श्रद्धा आदि सब किये हुए यह काम नहीं हो सकता। वह कहता है कि इनको पता नहीं है, और कहीं जरूर होगा। इस प्रकार जब वह जगह-जगह जाता है तो कोई एक चतुर बिकवाल सोचता है कि यह अव्वल दर्जे का बेवकूफ है, क्योंकि चाहता है कि हमको आगे जाकर शान्ति मिले लेकिन यहाँ मन शांत न हो। यहाँ अशांत रखो और

मरने के बाद झट शान्ति मिल जाये। वह कहता है कि हमारे पास सौदा है। पूछता है, कितने का है? बिकवाल तो असली हैं। कोई कहता है कि हजार का है, कोई पाँच हजार का और कोई दस हज़ार का बताता है, क्योंकि उनको तो एक ही बार माल बेचना है, रोज-रोज थोड़े ही बेचना है। अब वह समझता है कि हमारे हाथ में कोई सस्ता मार्ग आ गया। न हमें तत्त्व का अभ्यास करना, न तपस्या करनी, और न शम दम आदि करने। हमारा काम बन गया। अब जितने हमारे मन में इस संसार में करने के दुष्कर्म हैं, कर लेंगे, आगे तो मुक्ति है ही, क्या चिन्ता है। यह जो तपस्या है, दाल को भिजाकर पीसना है, उस तपस्या से बचना चाहता है। उससे काम नहीं होता। फिर जैसे हलवे के लिए घी चाहिये और वह भी असली गाय, भैंस का घी चाहिये। वैजीटेबल से बनाया हुआ सीरा नहीं खाया जायेगा, उल्टा पेट और खराब होगा, इसी प्रकार यहाँ शुद्ध शास्त्रीय संस्कार होने चाहिए। शास्त्र में अड़तालीस संस्कार बताये। जिनसे ये न हो सकें, उनके लिये चौवीस संस्कार बताये। फिर उसमें भी असमर्थ को कम से कम सोलह संस्कार तक बताये। यह जो शुद्ध वैदिक संस्कारों का घी है, यह पड़ना चाहिये। आजकल तो अशुद्ध संस्कारों का, वैजीटेबल घी का मामला है। वह घी कैसा होता है? शास्त्र कहता है 'वेदांतमनुप्राप्य' या तो चारों वेदों को पढ़ो, या दो को पढ़ो, या फिर कम से कम अपना एक वेद, अपनी एक स्वशाखा तो पढ़ो ही। उसके बाद समावर्तन संस्कार होता है अर्थात् वापस घर आने का संस्कार होता है। यह तो शास्त्र की आज्ञा है जो असली घी वाला मामला है। उपनयन संस्कार करके वेदाध्ययन के लिये गये और वेदाध्ययन करके वापस घर आये। वैजीटेबल घी का मामला है कि नौ बजे उसका यज्ञोपवीत हुआ, वेद पढ़ने के लिये घर से काशी चला और सड़क के मोड़ तक जाकर समावर्तन के लिये वापस घर ले आये। अब आजकल तो वैजीटेबल घी से भी आगे वाला घी चल गया है। मिट्टी के तेल या चर्बी के तेल का भी उसमें प्रयोग करते हैं। आजकल

के उपनयन संस्कार में वहाँ तक जाने की भी जरूरत नहीं है। कल विवाह है, आज डोरा डाल देना है। डोरा ही तो डालना है। यज्ञोपवीत कर्म के पहले मुण्डन होना चाहिए। कहते हैं—पंडित जी, क्या बात करते हो, कल तो विवाह है, आज मुण्डन कराने के लिए कहते हो, शोक की बात करते हो, लोग क्या कहेंगे। अब बताओ और कौनसा कर्म उससे करवाया जाये। जैसे उपनयन का मामला वैसे ही विवाह तक सारे संस्कारों का हाल है। इस वैजीटेबल घी से काम नहीं चलेगा। जब तक शुद्ध संस्कारों का घृत नहीं पड़ता है, तब तक अच्छी तरह से एकीकृत पीठी और शम दम आदि की तपस्या से भी माल अच्छी तरह से, पूरी तरह से तैयार नहीं होगा। शुद्ध संस्कारों के घृत के बिना उसका स्वाद खिलता नहीं है। यही कारण है कि हम लोग जो भी धर्मशास्त्र की चर्चा करते हैं, सुनते हैं, पुस्तकें छापते हैं, सभी निष्फल होती हैं। पहले बड़े से बड़े गाँव के अन्दर गीता की एक-दो पुस्तकें होती थीं। कोई मर जाता था तो दौड़कर लेकर आना पड़ता था। आज हर घर में गीता की पाँच-पाँच, छः-छः पुस्तकें मिलती हैं। पुस्तकों की कमी नहीं है। गीता रामायण की अर्थ वाली पुस्तकें भी पड़ी हैं। सब कुछ है, पढ़ते भी हैं। फिर भी क्या कारण है कि चित्त इतना अशांत है ? क्या कारण है कि जीवन में कोई रस नहीं, कोई आनन्द नहीं, कोई तेज नहीं ? जिसको देखो, वही उदास नजर आता है। जिससे बात करो, वही दुःखी नज़र आता है। कोई ऐसा तो मिलता ही नहीं है जो खुलकर कहे कि बड़ा अच्छा चल रहा है, बहुत सुन्दर है, बहुत आनन्द आ रहा है, धन्य है भगवान को, इससे ज्यादा और क्या हो। एक बरसात हो जाती थी तो गाँव वालों के चेहरे खिल जाते थे कि भगवान ने कैसी वृष्टि की है। अब लोगों की दो-दो, तीन-तीन दुकानें हो गई हैं, उनसे पूछो तो कहते हैं कि क्या बतायें बड़ी कठिनाई में पड़े हुए हैं। क्या कारण है ? शुद्ध संस्कारों का उसमें आधान न होने से अपने अंतःकरण के अन्दर, अपने मन में जो स्निग्धता आनी चाहिये थी, वह नहीं आती, क्योंकि व्यवहारों

में जब तक स्निग्धता नहीं होगी तब तक वह व्यवहार किसी को सुख नहीं देगा। जैसे मशीनों को चलाने के लिये उसके अन्दर चिकनाई डालनी पड़ती है, मशीन का तेल आदि डालते हैं, ताले को ठीक रखने के लिए उसमें साल-दो साल में एक बार तेल डालना पड़ता है नहीं तो वह ताला कट-कट करता है। इसी प्रकार लोगों के आपस के व्यवहारों में, उनके संस्कारों में जब तक स्निग्धता नहीं आयेगी तब तक काम नहीं चलेगा। इस समय संस्कारों के अभाव में सबका व्यवहार एक दूसरे के प्रति सर्वथा स्वार्थ की शिष्टता को लेकर है। इसके कारण जीवन में कोई रस नहीं रह गया है। किसी से बात करो तो तुम भी समझते हो कि किसी मतलब से कर रहा है और वह भी समझता है कि तुम किसी मतलब से कर रहे हो। एक दूसरे का मतलब समझते रहते हैं। जब तक संस्कारों का घृत जीवन को स्निग्ध नहीं करेगा, तब तक व्यवहारों में स्निग्धता नहीं आयेगी। संस्कारों का निर्माण ऋषियों ने जीवन को स्निग्ध करने के लिये किया था जिससे प्रत्येक कार्य में जीवन के प्रत्येक व्यवहार में हमें पता लगे कि हम क्यों कर रहे हैं, इसका क्या उद्देश्य है और प्रत्येक संस्कार स्वार्थरूप विकार को हटाये। एक जगह भगवान वेदव्यास ने कहा है कि समग्र संस्कारों का रहस्य समझ लो। जितना-जितना तुम्हारा हृदय दूसरे के दुःख से दुःखी हो, उतना-उतना तुम समझो कि तुम संस्कृत हो रहे हो, तुम्हारे अन्दर संस्कार आ रहा है और जितना-जितना अपने दुःख से दूसरे को दुःखी करना चाहो, उतना-उतना समझो कि तुम्हारे में विकार आ रहा है। यही फर्क है। विकारों को कम करके संस्कारों का आधान करने के लिये ही संस्कार बनाये गये थे। अब तो उल्टा जैसा बताया कि संस्कार वैजीटेबल घी की तरह दीखते हैं लेकिन जो कार्य होना चाहिए था, वह नहीं होता है। अब जब इतनी तैयारी हो, तब दाल का सीरा बने और तब उसे आनन्द से खाया जाये।

अब तक क्या होता है ? संदेश बनाते हो तो अच्छे भले दूध को फाड़ते हो, इसी प्रकार से वेदरूपी गौओं से हमें जो दूध मिलता

है, उसमें कुतर्करूपी नींबू निचोड़कर उस दूध को फाड़ते हो और उस फटे हुए दूध में जवर्दस्ती थोड़ी-वहुत चीनी मिलाते रहते हो। यह ऊपर के कुछ रूपक को वनाये रखना है। कल ही हम देख रहे थे कि सरस्वती की प्रतिमायें जगह-जगह रखी हुई हैं, कहीं नाला है तो वहीं सरस्वती बैठी हैं। कहीं कूड़े का ढेर लगा है, वहाँ भी बैठी हैं। आमने-सामने दो सरस्वतियाँ और दोनों एक छोटी-सी गली के दो कोनों में बैठी हैं। यह सरस्वती की पूजा है या उसका अपमान है। जो कुछ करते हो ठीक है लेकिन हमें तो यह लग रहा था कि यह सरस्वती की पूजा नहीं हो रही है, एक तरह का हंसीमजाक हो रहा है, और वहाँ जो गीत वज रहे थे, वे ऐसे थे जिन्हें किसी भले घर की औरतों और वच्चों के सामने उच्चारण भी नहीं करना चाहिये। जैसे यह सरस्वती जी की पूजा पूजा लग रही है लेकिन उसमें कुछ सार नहीं है, केवल एक ऊपर का दर्शनमात्र है। उसी प्रकार वेदों से निकलने वाले रस को कुतर्क से हम फाड़ देते हैं। थोड़ा-वहुत उतना ही रहने देते हैं जिसे हम कभी-कभी अपने काम में ला सकें। लड़का कभी कोई वात न माने तो दशरथ राम का किस्सा सुनायेंगे तो सुविधा रहेगी। जिस दिन लड़का वापस पूछेगा कि फिर आपने भाई के साथ मुकदमेवाजी क्यों की थी, तव कहते हैं कि वड़ों के सामने मुँह खोलता है। इसलिये केवल ऐसे सिद्धान्त सामने रखते हैं जिससे अपने को सुविधा हो। यहाँ जो शास्त्र यह कह रहा है 'हस्तेविभर्ष्यस्तवे' आपने मुझे आत्मा को, जीवात्मा को वाण रूप से लिया है तो इसलिए कि आप मुझे इस संसार समुद्र से पार छोड़ दें। हे गिरिशंत! आप मुझे इस कल्याणकारी मार्ग पर ले जाना, चाहे जितना तपाना, लेकिन तपाकर उस शिव स्थिति में पहुँचा देना। उससे पहले मुझे न छोड़ना। मैं उन साधकों में नहीं जो तपस्या की गर्मी से डरते हैं। इसलिए मेरी इस आत्मा को सर्वथा शांत शिवरूप वनाना तथा अपने हाथ में रखना।

यह प्रार्थना की गई। यह किस प्रकार, किस साधन से वनता है इस पर आगे विचार करेंगे।

१८-२-७५

परब्रह्म परमात्म तत्त्व का जो आत्मारूपी वाण को अपने हाथ में लेना है वह जन्म-मरण के वन्धन की निवृत्ति के लिये है, यह इस मंत्र में वताया। जिस आत्मारूपी वाण को परमेश्वर ग्रहण करते हैं, वह किस प्रकार के अंत:करण से युक्त है ? किस प्रकार के अंत:करण से युक्त होकर हम उस वाण के स्वरूप को प्राप्त कर सकते हैं, इसको समझने के लिये पहले उस अंत:करण के धर्मों का जरा विचार करेंगे। अंत:करण के धर्मों का जहाँ विचार किया है, वहाँ पाँच प्रकार के अंत:करणों का प्रतिपादन है। भिन्न-भिन्न पाँच प्रकार के अंत:करणों को जहाँ वताया गया, उनमें अंत:करण की प्रथम अवस्था को क्षिप्त अवस्था कहते हैं। अंत:करण या मन की जो सामान्य अवस्था बनती है, उसे क्षिप्त अवस्था कहते हैं। इस सामान्य अवस्था में मनुष्य में राग-द्वेष पूर्ण होने के कारण वह अंत:करण को नियन्त्रित करने में सर्वथा असमर्थ रहता है, अंत:करण को नियन्त्रित नहीं कर पाता। राग-द्वेष के कारण ही उसका मन अत्यंत चंचल होता है। किसी भी चीज में यदि वह अपने मन को लगाना चाहता है तो मन वहाँ से तुरन्त फिसल कर दूसरे पदार्थों में चला जाता है। परमात्म-विषयक चिंतन की बात तो दूर रही, सांसारिक विषय के चिंतन में भी उसका मन स्थिर नहीं हो पाता। ऐसा व्यक्ति यदि विद्यार्थी है तो उसकी शिकायत ही यह रहती है कि पढ़ने में मन नहीं लगता। यदि व्यापारी है तो दुकान में बैठता है, फिर थोड़ी देर वाद उठकर पड़ोसी की दुकान में जायेगा, कुछ और-और काम करने चला जायेगा। दुकान में टिककर नहीं बैठ सकता। भोजन बनाने को भी यदि बैठेंगे तो एक साग छोंक दिया, बीच में कुछ और काम करने चले

जायेंगे। किसी भी चीज में वह अपने मन को स्थिर नहीं कर पाते हैं। राग-द्वेष के सर्वथा अनियन्त्रित होने के कारण, राग-द्वेष की सर्वथा परतन्त्रता के कारण वह थोड़ी देर तक मन को सांसारिक विषय में भी स्थिर नहीं कर सकते। यहाँ तक कि भोजन भी करने बैठेगा तो उस समय में भी इसको चंचलता रहेगी। भोजन परोसने में देरी होगी तो थाली को ही खड़क-खड़क करने लगेगा, गिलास को इधर से उधर रखने लगेगा। थोड़ा-सा भोजन कर लिया, इस बीच में यदि कोई भोजन आने में देरी हुई तो थाली में लकीरें ही बनाने लगेगा। अपने वस्त्र के छोर को गोल-गोल उसी को उंगलियों में घुमाता रहेगा, अथवा हाथ-पैर हिलायेगा अर्थात् निष्प्रयोजन क्रियायें करता ही रहेगा, क्योंकि कहीं भी वह अपने मन को एकाग्र नहीं कर पाता। इसीलिये भगवान भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर इस क्षिप्त अवस्था का वर्णन करते हुए कहते हैं 'हृदयकपिमत्यंतचपलं', यह हृदय अर्थात् मन एक बन्दर की तरह अत्यंत चंचल है। जैसे बन्दर चंचल होता है, स्थिर नहीं बैठ सकता, ऐसे ही यह मन (अंत:करण) अत्यंत चंचल रहता है। मन या अंत:करण की यह सामान्य अवस्था है। सामान्य व्यक्तियों का प्राय: यही अनुभव होता है क्योंकि उनका मन रजोगुणी होता है, इस अवस्था में मन में रजोगुण प्रवल रहता है। इसीलिये ऐसे लोगों की जितनी भी व्यवहार प्रणाली है, उसमें रजोगुण प्रधान रहता है। खाने में भी उन्हें रजोगुणी चीज ही अच्छी लगती हैं। 'कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिन:' उन्हें भोजन में अति खट्टा अच्छा लगता है। पहले दाल में अमचूर डाल लिया, फिर कैरी का अचार भी पास में रख लिया, ऊपर से एक नीबू भी काट कर रख लिया। इसी प्रकार से अति लवण का प्रयोग करता है। यद्यपि मनुष्य के लवण खाने की एक सीमा है। लेकिन ये लोग लवण के कई प्रकार बनाते हैं। कोई पदार्थ बनायेंगे तो उसमें काला नमक डाल देंगे, किसी में सेंधा नमक और किसी में क्षार (सज्जी) डाल देंगे। हर हालत में कई प्रकार के लवणों का प्रयोग करके अतिलवण का सेवन करेंगे। अतिऊष्ण अर्थात् खाने का

पदार्थ इतना गरम होना चाहिये कि हाथ भी जलें और होठ भी जलें। थोड़ा भी ठण्डा हो तो कहेंगे विगड़ गया है। इसी प्रकार अतिरूक्ष पदार्थ का सेवन करेंगे। किसी सब्जी को बनाना होगा तो उसे तब तक भूजेंगे जब तक बिल्कुल सूख न जाये और उसमें पानी का नाम निशान न रह जाये। यहाँ सर्वत्र 'अति' पद को याद रखना क्योंकि सामान्य रूप से तो भोजन में षड्रस माने ही हैं अर्थात् भोजन में छओं रसों की उपस्थिति आवश्यक है क्योंकि भिन्न-भिन्न रस शरीर के भिन्न-भिन्न अवयवों को (अंगों को) पुष्ट करने के लिये अपेक्षित हैं। इसलिये आवश्यकता सबकी है। लेकिन उसमें अत्य-धिकता होना ही रजोगुणी की निशानी है। क्यों निशानी है? इसका कारण यह है कि मन की वृत्ति चचल है, इसलिये मन का स्वभाव है कि चंचलता के कारण स्वादों का हेर-फेर करना उसे अच्छा लगता है। जितना खट्टा एक बार खा लिया, उतना ही खट्टा बार-बार खाने में मजा नहीं आयेगा, यह नियम है। वृत्ति की चंचलता के कारण ही वह उसको बदलता रहता है। गरम चीज का भी सेवन करोगे तो देखोगे कि पहले पहल कोई गरम चीज खाओ तो थोड़ी गर्म बर्दाश्त होती है। लेकिन फिर जैसे-जैसे आगे चलते जाते हो, वैसे-वैसे प्रतिदिन अधिकाधिक गरम चीज की अपेक्षा होती चली जाती है। रजोगुणी व्यक्ति चंचल वृत्ति का होने के कारण ही हर चीज में अतिशयता करता है। प्रायश: राक्षसों के अन्दर दैत्यों के अन्दर यह रजोगुणी वृत्ति और भी अधिक बढ़ती जाती है। राक्षस या दैत्य का मतलब केवल बड़े दांत और जबड़े वाला नहीं समझ लेना। बृहदारण्यक भाष्य में भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि मनुष्य में ही मानव, दानव और देव हुआ करते हैं। जो राक्षसी प्रवृत्ति के व्यक्ति होते हैं उनमें रजोगुण की अत्यधिक प्रधानता होने के कारण जैसे भोजन आदि में उनकी अतिशयता होती है, वैसे ही उनके व्यवहारों में भी रजोगुण की प्रबलता के कारण क्रूरता अधिक होती है। क्षिप्त मनुष्य को जल्दी किसी पर दया नहीं आती। उल्टा उसके मन में होता है कि यदि यह व्यक्ति कष्ट पा रहा है तो

अपने पापों से पा रहा है, हो सके तो इसे एक लात और मार दो। यह रजोगुणी व्यक्ति की प्रवृत्ति होतो है क्योंकि उनके हृदय में क्रूरता अधिक होती है और वह इसे वीरता या बहादुरी मानता है। अपने से समानता वाले के साथ जो युद्ध किया जाता है, वह तो सत्वमिश्रित रजोगुण है, और जो अपने से नीचा है, उसको जब दबाया जाता है, वह रजोगुण है जिसके अन्दर तमोगुण का लेश रहता है। क्षिप्त अवस्था में मनुष्य के अन्दर जैसे भोजन आदि में अतिशयता वैसे ही दूसरे प्राणियों से व्यवहार के समय स्नेह न होकर उसमें क्रूरता अधिक होती है। विचार करो कि उत्पन्न होते ही बालकों को कंस मारता चला गया। क्या विना हृदय की क्रूरता के यह सम्भव है। अथवा छोटी सो अवस्था में बालक प्रह्लाद को हिरण्यकश्यपु ने कभी हाथी के नीचे दबाया, कभी आग में डाल दिया। यह सबकासब क्रूर हृदय होने पर ही सम्भव है। क्षिप्त चित्त जितना होगा उतनी ही मनुष्य में क्रूरता ज्यादा होती जायेगी। कई जगह यदि बाह्य क्रूरता नहीं होती है तो अंतःक्रूरता होती है। रास्ते में जा रहे हैं, एक आदमी सड़क पर तड़प रहा है। क्षिप्त अवस्था के अंतःकरण वाला जाते देखता भी है कि यह तड़प रहा है, फिर भी सोचता है कि कौन टण्टे में पड़े, यद्यपि वहाँ किसी के जीवन-मरण का प्रश्न है। और अपने को कुछ टंटा हो सकता है, यह सोचकर झट से जब हम आगे चले जाते हैं तो यह भी हृदय की क्रूरता है। जिसके हृदय में क्रूरता नहीं होगी, वहाँ उससे सहन हो नहीं हो सकेगा। अमरीका के एक राष्ट्रपति वाशिंगटन थे। वह अपने घर से कार्यालय जा रहे थे। उस जमाने में इतनी मोटरें नहीं चली थीं। वह घोड़ा गाड़ी पर जा रहे थे। उन्होंने देखा कि एक सूअर कीचड़ में फँसा हुआ है। उन्होंने झट से घोड़ा गाड़ी रुकवाई और कहा कि इस सूअर को बाहर निकालो। सईस (कोचवान) उतरा, निकालने लगा लेकिन वह नहीं निकल रहा था। फिर वह खुद भी गाड़ी से उतरकर उस सूअर को निकालने लग गये। कीचड़ काफी था, डेढ़ घण्टे के परिश्रम

के बाद उसे बाहर निकाला, उनके सारे कपड़े कीचड़ से सन गये। जब वह अपने कार्यालय में पहुँचे, तब तक सारे शहर में हल्ला मच गया कि देखो राष्ट्रपति कितने दयालु हैं। कई लोग बधाई देने आये कि आपने कितना अच्छा काम किया। उन्होंने कहा कि मेरे में दया है, ऐसा कुछ नहीं है। यदि मैं उस सूअर को उस अवस्था में छोड़ आता तो यहाँ आकर जितनी देर बैठा रहता उतनी देर बार-बार मन में आता कि उस सूअर का क्या हुआ होगा। यह जो अपने हृदय का क्लेश है इसकी निवृत्ति के लिये ही मैंने यह किया, कोई दया करके नहीं किया। विचार करो एक पशु और वह भी जो सामान्य दृष्टि से हीन पशु माना जाता है, उसके प्रति भी हृदय में उसके कष्ट को सहन न करने की भावना, चाहे जितना कष्ट करना पड़े। दूसरी तरफ एक मनुष्य जैसा प्राणी भी तड़प रहा है और अपने को कुछ असुविधा होगी, यह मानकर जब हम आगे चल देते हैं तो वस्तुतः उसके पीछे हृदय की क्रूरता ही है। क्षिप्त अवस्था में चूँकि रजोगुण अधिक होता है, इसीलिये उसके भोजन आदि पदार्थों में भी रजोगुणी प्रवृत्ति होती है। इसीलिये उसके अन्दर क्रूरता अधिक है। क्रूरता अन्दर से भी होती है और बाहर से भी होती है, इसलिये क्षिप्त अवस्था के अन्दर रजोगुण का दूसरा कार्य ईर्ष्या भी बहुत रहती है। ऐसा व्यक्ति किसी दूसरे को कोई चीज करते देखेगा तो उससे और अधिक करना चाहेगा, यह ईर्ष्या की अधिकता है। यदि दूसरे ने वस्त्र पहने हैं तो उससे ज्यादा चमकीले वस्त्र होने चाहिए। दूसरे ने आभरण (गहने) पहने हैं तो अपने गहने उससे ज्यादा होने चाहिये। दूसरे ने बिजली की रोशनी की है तो अपनी उससे ज्यादा होनी चाहिये। यह जो अंतःकरण की वृत्ति ईर्ष्या है वह भी क्षिप्त अवस्था को बताती है। जैसे-जैसे अंतः-करण की क्षिप्त अवस्था कम होती जायेगी वैसे-वैसे स्वभावतः ईर्ष्या कम होती जायेगी और तब यह मन में नहीं आयेगा कि हम इससे अधिक अच्छा करें। अपनी सामर्थ्य के अनुसार हमको करना है, उसमें दूसरे से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जैसे ईर्ष्या का भाव अधिक

होता है, वैसे ही किसी दूसरे ने अपने ऊपर कोई अपकार या बुराई की हो तो उसकी स्मृति भी लोग लम्बे समय तक रखते हैं। दूसरे के किये हुए उपकार को तो जल्दी भुला देते हैं; लेकिन दूसरे ने जो बुराई कर दी हो उसे लम्बे समय तक याद रखते हैं। उसकी ऐसी गाँठ बन जाती है कि दूसरा चाहे जितना प्रयत्न उसकी निवृत्ति के लिये करे लेकिन उसके मन से वह गाँठ निकलती ही नहीं है। जब मनुष्य की क्षिप्त अवस्था कम होती है तो इसके विपरीत दूसरे का किया हुआ अपकार, दूसरे का किया हुआ नुक्सान तो मनुष्य झट भूल जाता है और दूसरे ने यदि थोड़ा भी उपकार किया हो, अपना लाभ किया हो तो उसे वह दीर्घ काल तक याद रखता है। जैसे-जैसे क्षिप्त अवस्था बढ़ता है, वैसे-वैसे यह दोष बढ़ता जाता है, लेकिन हैं ये सब क्षिप्त अवस्था के ही प्रतीक। इस क्षिप्त अवस्था में मन की चंचलता होने के कारण किसी भी प्रकार का तत्त्व उपदेश करना सम्भव ही नहीं होता। किसी भी तत्त्व को, वास्तविकता को समझने के लिये चित्त को कुछ क्षणों तक तो स्थिर रहना ही पड़ता है। क्षिप्त अवस्था के अन्दर उसकी स्थिति इतनी चंचल होती है कि किसी भी चीज को ठीक प्रकार से समझने के लिये जितना समय अपेक्षित है, उतना समय वह नहीं लगा सकता। वह बैठा तो रहेगा लेकिन मन से हमारी बात को लम्बे समय तक नहीं सुन सकेगा क्योंकि उसकी वृत्ति बार-बार चंचल हो जायेगी। जैसे अगर कहीं पर अलात (Torch) लेकर खड़े हो और बार-बार दबाते रहो तो रोशनी तो होती जायेगी लेकिन बार-बार रोशनी होने पर भी चूँकि रोशनी स्थिर नहीं है, इसलिये यदि उसमें किताब पढ़ने का प्रयत्न करोगे तो नहीं पढ़ पाओगे क्योंकि बत्ती जलती है, बुझती है, फिर जलती है बुझती है। यदि रोशनी में स्थिरता हो तब तो कुछ कर सकते हो लेकिन जब रोशनी अस्थिर होती है तो कुछ नहीं कर सकते। इसी प्रकार से चित्त की चंचलता के कारण एक चीज को पकड़ो और फिर छोड़ो, फिर पकड़ो और फिर छोड़ो, इसलिये ऐसे अंतःकरण की वृत्ति में कोई भी तत्त्व स्थिर नहीं हो पाता। अस्थिरता

बनी रहती है। तत्त्व का उपदेश उस समय व्यर्थ हो जाता है। इसीलिये क्षिप्त चित्त की अवस्था में, रजोगुण की अवस्था में, मनुष्य को प्रयत्नपूर्वक केवल कर्म में लगाना पड़ता है, और कुछ उससे अपेक्षा नहीं कर सकते। उसको तो एक के बाद एक काम में लगाये रखो। इसीलिए हम लोग शास्त्र में कहते हैं कि छोटे बच्चों को समझाने का प्रयत्न व्यर्थ है। आजकल हम देखते हैं कि दो-ढाई साल के लड़के को भी लोग समझाने की कोशिश करते हैं लेकिन वह क्या समझेगा। जब बच्चा छोटा होता है, उस समय उसको यह कह सकते हो कि ऐसा करो, ऐसा मत करो। विधि निषेध (Do's and Dont's) उस समय बच्चे की समझ में आयेंगे। लेकिन अगर उसे विचार के घपले में डाल दोगे तो वह कुछ नहीं समझ सकेगा और होता यही है। कारण यह है कि बच्चे के सामने हमारा व्यवहार विरोधी व्यवहार होता है। बच्चे ने सत्य बोला और अगर हमको अच्छा नहीं लगा तो उससे कहते हैं कि बड़ों से ऐसा कहता है। छोटी उमर का बच्चा समझता है कि मैंने कुछ गलत काम किया। अब उसने विचार किया कि वह बात कही जाये जो अच्छी लगती है। अगली बार जब वह अच्छी लगने वाली बात बोलता है तो कहते हैं कि झूठ बोलता है! वह सोचता है कि बड़ों से झूठ भी नहीं बोलना, सत्य भी नहीं बोलना, तो करूँ क्या। फिर बच्चे को समझाने लगते हैं कि देख बड़ों के सामने ऐसा सत्य और ऐसा-ऐसा झूठ बोला कर। लेकिन बच्चा यह नहीं समझ सकता। वह तो विधि-निषेध ही समझ सकता है कि सत्य बोलो तो बोलो, झूठ बोलो तो बोलो। विवेक उसमें जाग्रत नहीं हो सकता क्योंकि उसका चित्त अत्यंत चंचल है। जैसे-जैसे उमर बड़ी होती है वैसे-वैसे चित्त में कुछ स्थिरता आती है तब उसको समझाने का प्रयत्न किया जा सकता है। क्षिप्त चित्त की अवस्था में विधिनिषेधमूलक केवल कर्म का ही प्रतिपादन कर सकते हैं कि ऐसा करो, ऐसा मत करो। जैसे बालक अवस्था, ऐसे ही साधक की प्रारम्भिक अवस्था होती है। साधना का जो प्रारम्भ का समय है उस समय में मनुष्य को विधि-

निषेध कर्मकाण्ड में ही लगाया जा सकता है। कर्म के द्वारा ही उसे आगे बढ़ाया जा सकता है, क्योंकि कर्म करने से धीरे-धीरे यह रजोगुण सारे का सारा खत्म होने लगता है। कर्म में रजोगुण का विनियोग होता है, रजोगुण के विना कर्म नहीं होगा। रजोगुण में कर्म विनियुक्त होकर जैसे दूध का उफान निकलता है, ऐसे ही उसका रजोगुण कम होने लगता है। सामान्य दृष्टि से प्रत्येक मनुष्य को देखोगे कि जैसे-जैसे उमर आती जाती है, वैसे-वैसे उसके अन्दर अपने आप चंचलता कम होती जाती है, वह चाहे साधना न भी करे क्योंकि शरीर और इन्द्रियों में चंचलता की सामर्थ्य नहीं रह जाती। चंचलता करने के लिये अधिक क्रियाशील वनना पड़ता है, वह सामर्थ्य ही नहीं रह जाती। अपने आप ही उसमें कमी आ जाती है। इसी प्रकार जैसे-जैसे कर्म रूपी साधना करता है वैसे-वैसे वह रजोगुण उफान की तरह निकलता जाता है। अंततोगत्वा रजोगुण कुछ कम हो जाता है, क्षिप्त अवस्था कम होने लगती हैं। तव फिर आगे का उपदेश देना सम्भव होता है। पहली अंत:करण की अवस्था क्षिप्त अवस्था सहज और स्वाभाविक अवस्था है, अधिकतर प्राणियों में होती है, इसकी पहचान रजोगुण को क्रियाओं से होती है और इस अवस्था के अन्दर साधक को कर्म का सहारा लेना पड़ता है। अव आप लोग कहेंगे कि कर्म तो हम लोग रात-दिन करते ही हैं। अच्छा भोजन वनाते हैं, वर्तन माँजते हैं, कपड़े धोते हैं, दुकान खोलते हैं, हिसाव-किताव लिखते हैं इत्यादि रात-दिन काम ही तो कर रहे हैं। फिर शास्त्रीय कर्मों में क्या विशेषता है। शास्त्रीय कर्म रजोगुण को कम कर पाते हैं, लौकिक कर्म नहीं, यही शास्त्रीय कर्मों की विशेषता है। कारण यह है कि शास्त्रीय कर्म ऐसे वनाये गये हैं जो एक तरफ तो कर्म हो जाये और दूसरी तरफ वह रजोगुण को दवाता जाये। यह शास्त्रीय कर्मों की ही विशेषता है। यद्यपि कर्म रूप से तो सारे कर्म एक ही हैं लेकिन भगवान भाष्य-कार कहते हैं कि जैसे शहद खाओ तो कोई नुक्सान नहीं है, अच्छी चीज है। घी खाओ तो कोई नुक्सान नहीं, अच्छी चीज हैं। लेकिन

यदि घी और शहद बराबर मात्रा में मिलाकर खाओ तो शरीर को नुकसान पहुँचायेंगे क्योंकि जहर हो जाता है। अब यदि कोई कहे कि मधु में जहर नहीं, घृत में जहर नहीं तो दोनों को मिलाने से जहर कहाँ से आ गया तो यह बात नहीं बनेगी क्योंकि उनका यह गुण है। उसी प्रकार शास्त्रीय कर्म और लौकिक कर्म, दोनों कर्म, तो हैं लेकिन शास्त्रीय कर्मों का विधान इस प्रकार से किया गया है कि उनसे रजोगुण कम हों। लौकिक कर्म इस प्रकार के हैं कि इनसे उल्टा रजोगुण अभिवृद्ध होता है। ऐसी अनेक चीजें हैं कि जिनका प्रयोग ठीक ढंग से किया जाये तो असर बदल जाता है। साँप का जहर बड़े नुकसान की चीज है, उससे आदमी मर जाता है। होम्योपैथी के चिकित्सक साँप के जहर से भी दवाई बनाते हैं और उससे रोग ठीक हो जाता है। पुरानी चीज कुछ देर तक पड़ी रहे तो उसके ऊपर फफूंद जम जाती है। उसे यदि खा लो तो वह जहर का काम करती है। उसी को साफ करके एक दवाई बनाते हैं जिसे पैनिसिलिन कहते हैं। कोई रोग हो तो उसका इंजेक्शन लगाते हैं, और वह रोग उससे ठीक हो जाता है, जबकि है वह जहर। इसलिए ठीक ढंग से प्रयुक्त करने से वही चीज लाभकारी हो जाती है। इसकी अपेक्षा यदि कोई कहे कि फफूंद ही खा लेंगे तो नहीं चल सकता। ठीक प्रकार से उपयोग करना पड़ता है। वैसे ही शास्त्रीय कर्मों के अन्दर कर्मों का विनियोग इस प्रकार का कराया गया है कि वे रजोगुण को कम करते हैं। लौकिक कर्मों से क्षिप्त चित्त हटता नहीं है उल्टा क्षिप्त चित्त के अन्दर तेजी आती है। रजोगुण और ज्यादा बढ़ता है। दूसरा एक और कारण भी है। लौकिक कर्मों में मनुष्य को प्रवृत्त करने वाली चीज ही कामना है। लौकिक कर्मों में मनुष्य जब प्रवृत्त होता है तो 'कामस्य चेष्टितं' जब-जब किसी लौकिक कर्म में प्रवृत्ति करोगे तो उसके पीछे कोई न कोई कामना अवश्य रहेगी। शास्त्रीय कर्म में शास्त्र के आदेश से प्रवृत्ति होती है, किसी कामना को बढ़ाने की अपेक्षा नहीं रहती। लौकिक कर्मों में यदि व्यक्ति कामना नहीं बढ़ाता तो थोड़े दिन में असफल हो

जाता है। ब्राह्मण प्रायः व्यापार में ज्यादा सफल नहीं होता। उसका कारण ही यह है कि ब्राह्मण को जहाँ शाम को सौ रुपये मिले तो सोचता है कि आज खूब कमाई हुई, चलें वगीची में और छानें वादाम पिस्ते की ठण्डाई और करें अपना काम। चूँकि कामना की कमी है, इसलिये सौ से ही उसकी इच्छा पूरी हो गई। दूसरी तरफ जहाँ कामना की अतिशयता होती है वह सौ की कमाई करने पर सोचता है कि पच्चीस का तो घर का खर्चा है, ७५ वचे उसे फिर दुकान में लगाया तो आगे विक्री बढ़ेगी। लौकिक कर्म को वढ़ाने वाली चीज कामना है। कामना की कमी होने पर मनुष्य लौकिक कर्मों में आगे नहीं वढ़ सकेगा। दूसरी तरफ शास्त्रीय कर्म चूँकि तुम्हारी कामना की अपेक्षा नही करते, इसलिये कामना को विना वढ़ाये हुए ही शास्त्रीय कर्मों की प्रवृत्ति करना संभव हो जाता है। अग्निहोत्र किया तो आगे चातुर्मास व्रत करना ही है, आग्रहायण अग्निकर्म करना ही पड़ेगा। वह इसकी अपेक्षा नहीं रखता कि कुछ कामना है या नहीं। शास्त्रीय कर्मों के लिए कामना वढ़ाना जरूरी नहीं होता और लौकिक कर्मों के लिए कामनाओं को वढ़ाना जरूरी होता है। जितनी-जितनी कामना बढ़ाओगे उतना-उतना रजोगुण वढ़ेगा और जब रजोगुण वढ़ता जायेगा तो फिर उसकी कमी की क्या सम्भावना है। कहोगे कि उमर के साथ तो कम हो जाती है। विचार करो, उमर के साथ हमने वताया कि शरीर की और इन्द्रियों की सामर्थ्य कम हो जाती है। मन, बुद्धि की सामर्थ्य कम हो जाती है। यह तो ठीक है लेकिन अन्दर की जो तृष्णा है, उसकी सामर्थ्य कम नहीं होती। शरीर नहीं चलता, इन्द्रियाँ नहीं चलतीं लेकिन अन्दर की तृष्णा तो पहले से ज्यादा वढ़ जाती है। इसलिए आदमी जितना अपने पुत्र को नहीं खिलाता, गोद में भी शायद नहीं लेता, उससे कहीं अधिक पोते को लेकर घूमता रहता है। अपने लड़के के समय तो कहेगा कि इसे ले जा, मुझे काम करना है। कारण यह है कि तृष्णा प्रवृद्ध हो चुकी है। शरीर, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि तो कमजोर हो जाते हैं लेकिन तृष्णा के रूप में जो रजोगुण वैठा हुआ

है वह उमर के साथ नहीं घटता है। उल्टा उसको अनासक्ति भाव से कर रहा हूँ आदि, अनेक नामों से अपने ही ऊपर लाद लेता है। है तो तृष्णा से करना, लेकिन नाम उसमें अनासक्ति का लेता है। हम, लोगों को कई बार एक सीधा चिह्न बताते हैं। अनासक्ति का मतलब है कि जो कार्य सामने हो, वह किया और जैसे ही वह कार्य सामने से हट गया तो उसका प्रभाव मन पर न रहे। यही अनासक्ति का लक्षण है। जब तुम अपने पोते को खिला रहे हो, उस समय बड़े आनन्द से सोचो कि यह पोता मर जाये, कोई बुरी बात नहीं है 'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः' चाहे आज मरे, चाहे कल, मरना तो है ही। यदि उसकी मृत्यु के क्षण को उस समय याद रख सको और हृदय में कोई खेद न हो, हृदय में किसी भी प्रकार के दुःख का स्पर्श न हो तब तो समझो कि बच्चे को खिलाने में अनासक्ति है। और यदि हृदय में आ रहा हो कि 'नहीं यह बचा रहे' तो फिर वह हृदय की तृष्णा ही है और कुछ नहीं है। इसलिये अनासक्ति की परीक्षा मनुष्य बड़ी जल्दी कर सकता है। दुकान में बैठे हुए हो, यदि इसी समय दुकान में आग लगकर सारा माल जल जाये तो मन क्या कहेगा ? यदि मन कहता है कि कोई फर्क नहीं है, तब तो समझो कि अनासक्ति है और नहीं तो तृष्णा है। तृष्णा कोई बुरी चीज है, यह नहीं कह रहे हैं। यहाँ तो केवल यही बताना इष्ट है कि तृष्णा बढ़ती है तो उसको हम बहुत बार अनासक्ति के नाम से ढाँक देते हैं। लेकिन हृदय से साक्षी दे यदि देखो तो पता लगता है कि रजोगुण बढ़ता जाता है, लेकिन तृष्णा कम नहीं होती। शरीर, इन्द्रियों का रजोगुण कम हुआ, अपने अन्दर का रजोगुण कम नहीं हुआ। दूसरी तरफ जो शास्त्रीय कर्मों में लगते हैं, वे जैसे-जैसे शास्त्रीय कर्म करते जाते हैं, वैसे-वैसे अन्दर का रजोगुण कम होने लगता है। इसीलिए जगत् के विस्तृत व्यापार की तरफ उनकी दृष्टि कम होती है। यह शास्त्रीय कर्मों को करने का फल है। आप लोगों में से बहुतों को याद होगा कि आपके पिताजी नहीं तो दादा जी जहाँ तीन-चार साल की मुसाफिरी कर लेते थे,

उसके बाद हमेशा देश जाकर साल छः महीने आराम से रहते थे। उन तीन-चार सालों में वे कोई लाखों करोड़ों नहीं कमाते थे। क्या कारण है कि तीन-चार साल में थोड़ी कमाई करके साल भर के लिए देश चले जाते थे, और आप लोगों को वैद्य भी कह रहा होता है कि यहाँ रहने से स्वास्थ्य ठीक नहीं रहेगा। अपने को भी लग रहा है कि यहाँ हल्लागुल्ला बहुत है, सब कुछ होने पर भी साल में पन्द्रह दिन भी क्या कहीं जाने को मन मानता है। लगता है कि हम जायेंगे तो सारा संसार खत्म हो जायेगा, हम नहीं रहेंगे तो काम कैसे चलेगा। यह जो मन में स्थिर आग्रह है, इसका कारण क्या है? वे लोग शास्त्रीय कर्म करते थे। सवेरे उठकर सोचते थे कि गंगा स्नान तो करना ही है। गंगा स्नान करके आ रहे हैं तो रास्ते में मन्दिर दर्शन करना ही है। अष्टमी, मंगलवार इत्यादि अवसरों पर कालीजी के दर्शन करने जाना ही है, जबकि उस जमाने में घोर जंगल में से होकर जाना पड़ता था। लेकिन यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति थी। आज गंगाजी का तो पानी ही मैला है, क्यों नहाना चाहिये? मन्दिरों की तो व्यवस्था ही खराब हो गई है, वहाँ क्या दर्शन करना? काली जी में पण्डे ही पीछे पड़ जाते हैं, वहाँ क्या जाना है? इत्यादि। वैसे तो सारी व्यवस्था बिगड़ी हुई है, लेकिन क्या आयकर का रिटर्न बनाते समय भी सोचते हो कि पैसा क्यों कमाना, कौन टण्टा करे। जितना वे पण्डे तंग करते हैं, आयकर अधिकारी उससे कम तंग नहीं करते होंगे। शास्त्रीय कर्म के अन्दर मनुष्य के अंदर की तृष्णा स्वभावतः कम होती है। रजोगुण कम होता है और क्षिप्त चित्त से बाहर निकल पाते हैं। लौकिक कर्मों को यदि अनासक्ति के नाम से करते रहते हैं तो चूँकि अनासक्ति का मार्ग बहुत कठिन मामला है, वहाँ अनासक्ति होती नहीं है, उल्टा रजोगुण का कर्म और बढ़ता जाता है। तृष्णा मिटती नहीं और जीवन के अंतिम काल तक क्षिप्त अवस्था बनी रहती है। यह अंतःकरण की प्रथम अवस्था क्षिप्त अवस्था है। अन्य अवस्थाओं पर आगे विचार करेंगे।

१९-२-७५

परब्रह्म परमात्मा से प्रार्थना करते हैं कि आप जिस जीव रूपी वाण का कल्याण करने के लिए आते हैं, उस वाण को शिवा अर्थात् कल्याण रूप तक पहुँचाओ। किन चीजों से यह शुद्ध होता है, शिव भाव को प्राप्त होता है, उसे समझने के लिए पहले अन्तःकरण के स्वरूप का कुछ विचार कर रहे थे। मन की पाँच अवस्थाएँ हैं। वही मन पाँच अवस्थाओं में से गुजरता है। मन एक ही है, अन्तःकरण, परन्तु अवस्था भेद से उसमें भेद है। उसमें भी जो उसकी प्रथम अवस्था क्षिप्त अवस्था है, उसपर विचार किया। रूप रस आदि विषयों के अन्दर जो उसकी अत्यधिक चंचल अवस्था है, यह प्रथम अवस्था क्षिप्त अवस्था है। सामान्य रूप से जो अवस्था उपलब्ध होती है, जिसका कारण रजोगुण है, उस अवस्था में कर्म ही एकमात्र साधन है, यहाँ तक बताया।

अन्तःकरण की दूसरी अवस्था मूढ़ अवस्था कही जाती है। इस अवस्था में तमोगुण प्रधान रहता है। जैसे प्रथम अवस्था में रजोगुण है, वैसे ही इस अवस्था के अन्दर तमोगुण है। इसमें मनुष्य को स्वभाव से ही निद्रा आती है, तंद्रा आती है, कुछ भी न करने की प्रवृत्ति रहती है। किसी भी चीज की सत्यता का निर्णय करने की इच्छा नहीं होती। यह सब मूढ़ अवस्था में होता है। जब वृत्तियाँ सर्वथा लीन हो जाती हैं, उस अवस्था को निद्रा कहते हैं। अथवा अभाव प्रत्ययालम्वन वाली जो अन्तःकरण की स्थिति है, उसे निद्रा कहते हैं। वहाँ सब चीजों के अभाव का ही ज्ञान रहता है और उस से उठकर मनुष्य कहता है कि मैंने कुछ नहीं जाना। कुछ नहीं अर्थात् अभाव को जाना। यह जो अभाव प्रत्ययालम्वन है, यह निद्रा का लक्षण है। इसलिये औषधि इत्यादि का प्रयोग करके, अथवा सुँघनी इत्यादि सुँघाकर या क्लोरोफार्म इत्यादि के द्वारा जो अवस्था आती है, वह प्रायः निद्रा नहीं होती। अगर सुँघनी सुँघाने के बाद, जब उस व्यक्ति को होश आये, उसे देखो

तो वह कहता है, और दीखता भी है, कि वह बड़े दुःख में था । उसकी स्मृति यह नहीं होती कि मैंने कुछ नहीं जाना, अथवा बड़े सुख से सोया वरन् यह स्मृति होती है कि बड़ा कष्ट हुआ । जो लोग दवाई की गोली खाकर सोते हैं, उनको दूसरे दिन प्रातःकाल यदि देखो तो बजाय उस नींद से स्वस्थ होने के उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन होता है । निद्रा आ जाने पर स्वभाव में जो एक शांति आनी चाहिये, आनन्द की लहर आनी चाहिए, वह नहीं आती । न केवल उनके स्वभाव में चिड़चिड़ापन होता है वरन् उनका शरीर भी अपने आपको हल्का महसूस नहीं करता । शरीर में भारीपन की अनुवृत्ति रहती है । अंगप्रत्यंग के अन्दर जो एक सार्जव सहज भाव की प्राप्ति होनी चाहिए थी, वह नहीं हो पाती है । यह भी इस बात को बताती है कि वह अवस्था निद्रा से भिन्न है । चिन्ताग्रस्त होने के कारण चिन्तामुक्त होने के लिये मनुष्य इन गोलियों का प्रयोग आजकल बहुत करने लग गया है । हर व्यक्ति को देखो तो नींद आने की गोलियों की दो-दो, चार-चार शीशियाँ, और चिन्ता निवृत्त होने के ट्रेंक्विलाइज़र लेता है, लेकिन यह सब मनुष्य की केवल आदत बना देते हैं जिससे थोड़े समय के बाद उन औषधियों के बिना वह नहीं रह सकता । परन्तु वस्तुतः जो ताजगी आनी चाहिये थी, वह नहीं आती । तदपेक्षया यदि मनुष्य कुछ थोड़ा सा प्राणायाम अथवा ध्यान आदि का अभ्यास कर ले तो थोड़े ही परिश्रम से उसको वास्तविक गम्भीर निद्रा का अनुभव हो जाये जिससे उसका हृदय शरीर मन सभी कुछ हल्का हो जाये । लेकिन आजकल तो हर चीज को लोग कहते हैं कि कोई दूसरा ही करे, गोली बनाकर दे तो ठीक है । उसको कहो कि काढ़ा बनाकर पियो तो कहता है कि शीशी में काढ़ा बनाकर दे दो तो पी लेंगे । लोगों की वृत्ति ही यह हो गयी है । मूढ़ अवस्था के अन्दर मनुष्य को या तो निद्रा आती है अर्थात् अभाव की वृत्ति का आलम्बन हो जाता है अथवा तन्द्रा आती है । निद्रा में तो सब चीजों का अभाव है और तन्द्रा के अन्दर विशिष्ट-

ग्रहणता का अभाव है। सामान्य ग्रहण तन्द्रा में भी होता है। जैसे कोई आदमी कुछ बोल रहा है तो यह भान तो रहता है कि कुछ बोल रहा है और कुछ सुन रहा हूँ, लेकिन क्या बोल रहा है और क्या सुन रहा हूँ, इसका भान नहीं रहता है। यह तन्द्रा की अवस्था है। यह भी तमोगुण की अवस्था ही होती है। कई बार मनुष्य की नींद पूरी न हो तो तन्द्रा आ जाती है, अथवा भोजन आदि के समय तमोगुणी भोजन कर ले तो तन्द्रा आ जाती है। इसी प्रकार से तमोगुण के बढ़ने पर विवेक न करने की प्रवृत्ति भी होती है। किसी भी पदार्थ की सत्यता का निर्णय न करके, चलो जाने दो, कुछ भी हो, अपना क्या गया आदि भी तमोगुण की वृत्ति है। तमोगुण की वृत्ति वाला इसीलिये हर चीज को कल पर टालना चाहता है। उसके मन में यह भाव रहता है कि आज का दिन तो टला, कल शायद कुछ हो जायेगा। कुछ लोग तो यहाँ तक तमोगुणी होते हैं कि सोचते हैं कि मेरी जिंदगी निकल जाये, आगे बच्चे पोते झगड़ते रहें तो झगड़ा करें, मैं तो चला जाऊँगा, यह सब भी तमोगुण की वृत्तियाँ हैं। जैसे रजोगुण के अन्दर चांचल्य स्वभाव है, वैसे ही तमोगुण के अन्दर किसी भी परिस्थिति को ठीक प्रकार से न देखने का, न विचारने का, न करने का अनुवर्तन बना रहता है। जैसे भैंस, अजगर आदि तमोगुण के निशान हैं। भैंस एक जगह पड़ी रहेगी तो पड़ी ही रहेगी, सड़क के बीच में खड़ी हो गई तो हो गई, फिर कुछ भी बजाते रहो, उसे कोई फरक नहीं पड़ता। यह उसकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसीलिये हमारे यहाँ भैंस के दुग्ध इत्यादि का सेवन करना अच्छा नहीं माना गया है, क्योंकि उसमें तमोगुण की अधिकता होती है। आजकल लोग इसका ख्याल नहीं करते। आजकल तो कहते हैं कि दूध में घी पुष्कल होना चाहिए, सत्वगुण, रजोगुण से अपने को क्या मतलब ? इसकी तरफ ध्यान नहीं देते। इसी प्रकार अजगर भी पड़ा रहेगा, कुछ आ गया तो खा लिया नहीं तो पड़ा ही रहेगा। यह भी तमोगुण की वृत्ति है। व्यावहारिक दृष्टि में भी

जिनमें तमोगुण होता है, वे यही करते रहते हैं। तमोगुण की वृत्ति से लड़ने के लिये मनुष्य में कामना का उत्पन्न होना जरूरी है। क्षिप्त अवस्था को बताते हुए तो कहा था कि धीरे-धीरे कर्म से कामना खतम होती जाती है। तमोगुणी व्यक्ति में जब तक कामना नहीं आयेगी, तब तक वह रजोगुण की तरफ भी नहीं जायेगा। शास्त्र में इसीलिये काम्य कर्मों का इतना वर्णन किया गया है। नहीं तो क्या आवश्यकता थी शास्त्रों को स्वर्गलोक, ब्रह्मलोक, वैकुण्ठलोक, कैलाशलोक, गोलोक इत्यादि लोकों का विस्तृत वर्णन करने की, और वहाँ के भोग्य पदार्थों को अच्छी तरह से प्रतिपादित करने की, और यह बताने की कि वहाँ पर गंधर्व, अप्सरायें, कल्पवृक्ष, नन्दन वन इत्यादि कैसे हैं? इनके वर्णन न शास्त्रों ने कहे होते और न लोगों की उधर प्रवृत्ति होती। यह प्रश्न मन में आता है। यह सब तमोगुणी साधक के लिये हैं। उनके मन में किसी न किसी प्रकार से यदि इन पदार्थों की कामना का अनुवर्तन आ जायेगा तो उसकी प्राप्ति के लिये ये लोग कर्म में प्रवृत्ति करेंगे। जब तक कामना नहीं होती तब तक मनुष्य तमोगुण से नहीं हटता। निद्रा से भी मनुष्य उठता है तो प्रायः करके किसी न किसी कामना के आधार को लेकर के ही कर्मफल मनुष्य को उठता है। है तो वहाँ परमेश्वर ही जो कर्मफल के निमित्त से उठाता है। 'स एव स्वपिति प्रबुद्धः' जन्मान्तर के जो कर्म हैं, उन कर्मों का भोग भोगने के लिए ही मनुष्य उठता है। यह निस्संदिग्ध है। परन्तु वे कर्म फलोन्मुख कैसे किये जायें? रात में सो रहे हो। या प्यास लगी, या लघुशंका की निवृत्ति की इच्छा हुई, या मच्छर के काटने से खाज की तेजी का अनुभव हुआ, या अकस्मात् ऊपर से पानी बरसने से शरीर में ठण्डक का अनुभव हुआ, तो उसको दूर करने की आवश्यकता पड़ी। उठ तो जन्मान्तर कर्मयोग से रहे हो लेकिन उसे फलाभिमुख करने के लिये किसी न किसी कामना का ही आधार लिया जाता है। सर्दी लगी तो रजाई लेने के लिये आँख खुल गई, वह सर्दी दूर करने की कामना और गर्मी लगी तो

पंखे का खटका दबाने की इच्छा हुई, किसी न किसी कामना का आधार लेकर ही मनुष्य सुषुप्ति से उठता है। इसी प्रकार तन्द्रा, प्रमाद इत्यादि जितने भी मूढ़ भाव तमोगुण के हैं, उनके निवृत्त्यर्थ किसी न किसी कामना का आधार लेना पड़ता है। शास्त्र में जो भिन्न-भिन्न प्रकार की कामनाओं का प्रतिपादन किया गया, उसका उद्देश्य यही है। बंधन में ले जाना उन काम्य कर्मों का उद्देश्य नहीं है। तमोगुणी व्यक्ति को प्रवृत्त करना उनका उद्देश्य है। यह मूढ़ अवस्था है। ये दो अवस्थायें सामान्य पुरुषों को प्राप्त हैं।

तीसरी अवस्था विक्षिप्तावस्था है। पूर्व जन्मों के पुण्यपुंज के परिपाक से जब मनुष्य का रजोगुण कुछ कम होने लगता है तब चांचल्य की अधिकता होने पर भी बीच-बीच में थोड़ा-सा उसका अंतःकरण स्थिर होने लगता है। यही काल है जब मनुष्य की सत्संग आदि में प्रवृत्ति होती है। लोक में भी प्रायः करके देखने में आता है कि ५० के आसपास की उमर में अधिकतर लोगों की कुछ न कुछ प्रवृत्ति जप, ध्यान, सत्संग, मन्दिर इत्यादि में होने लगती है। उसका भी मूल कारण वही है, क्योंकि उस उमर में जाकर स्वभाव से रजोगुण कुछ दबने लगता है। जब रजोगुण के अन्दर कुछ कमी आयेगी, चंचलता कुछ कम होने लगेगी, तब यद्यपि अधिकतर समय तो मनुष्य चंचल रहेगा, लेकिन कुछ समय के लिए मन थोड़ा शांत होने लगेगा, और सत्संग आदि के श्रवण में, ध्यान, जप आदि में मन में कुछ थोड़ी-सी शांति थोड़े समय के लिये आने लगेगी। यह चूँकि क्षिप्त अवस्था से कुछ अच्छी है, इसलिये इसको शास्त्रीय भाषा में विक्षिप्त अवस्था कहते हैं। है तो चंचलता की अधिकता अथवा रजोगुण की अधिकता लेकिन थोड़ा-सा सत्वगुण अपना मुँह उठाने लगता है। यही काल है जब मनुष्य को धीरे-धीरे परमात्ममार्ग में प्रवृत्त किया जा सकता है। जब तक क्षिप्त और मूढ़ अवस्थायें हैं, तब तक तो कर्म और कामना के चक्र से उसे नहीं छुड़ा सकते परन्तु जब विक्षिप्त अवस्था आने लगती है तब

शांति के क्षण में वह अनुभव करता है कि यह सब जो मैं कर रहा हूँ इसका उद्देश्य कुछ सिद्ध नहीं हो रहा है। बच्चे पैदा कर लिये, दुकान कर ली, लड़कियों की शादी कर ली, गहने दे दिये, दहेज ले दे लिये, बच्चों को पढ़ा लिया लेकिन हुआ क्या? जिस समय चित्त शांत होता है, तब अन्दर से प्रश्न होता है कि यह सब तो किया लेकिन हुआ क्या? यह जो प्रश्न है, यही शान्ति का बीज है। यहीं से जिज्ञासा का प्रारम्भ होता है और यहीं मनुष्य को ठीक प्रकार के मार्ग निर्देश की आवश्यकता होती है, क्योंकि यह जो परमार्थ मार्ग है, इसके अन्दर पहले का अपना अनुभव कुछ नहीं है। सामान्य रूप से जो व्यक्ति अपने पिता को व्यापार करते देख चुका है, अपने बड़े भाई, ताऊ, चाचा सबको व्यापार करते देख चुका है, वह जब व्यापार शुरू करता है तो बहुत ज्यादा नुकसान या ठगाई नहीं करता। पर जिसने यह कभी नहीं देखा हो, वह व्यापार में सफल नहीं होता। अमरीका में एक सौश्रुत ने अपनी आत्मकथा लिखी है जिसमें उन्होंने बहुत-सी बातें लिखीं हैं। उसके दादा, बाप, ताऊ सब वैद्य थे और वह खुद भी वैद्य था। उसने अपने सब अनुभव लिखे हैं। उन अनुभवों के अन्दर वह लिखता है कि हम लोग पैसा बनाना तो खूब जानते हैं लेकिन हम लोगों का पैसा हमारे पास टिकता नहीं है। वह अपनी जीवनी में लिखता है कि एक बार मेरे पास एक रोगी आया। बात-बात में एक दिन मैंने उससे पूछा कि तुम क्या करते हो? अमरीका की बात है। उसने कहा मैं सुअरों को पालकर बेचता हूँ। इसमें लाखों कमाता हूँ। बहुत फायदे का काम है। एक सुअर चार महीने में छः से आठ बच्चे दे देता हैं। वह इतनी खुराक खाता है। वे बच्चे दो-तीन महीने में फिर तैयार हो जाते हैं और इतनी खुराक वे खा लेते हैं और इतने में बिक जाते हैं। इसलिये एक के पच्चीस बनते हैं। वह कहता है कि मैं सोचने लगा कि यह तो बड़ा अच्छा काम है। अपने तो सबेरे से शाम तक शल्य करते-करते थक जाते हैं तब कहीं

हजार पाँच सौ बनते हैं। मैंने उससे कहा कि मैं भी थोड़े से सुअर खरीदना चाहूँ तो क्या तुम मेरी मदद करोगे। उसने कहा—साहब! इसमें मदद की क्या बात है, हम दोनों हिस्सेदार बन जाते हैं। मेरे पास भी काफी रुपया है, आपका रुपया भी डाल दूंगा और आधा-आधा हिस्सा कर लेंगे। मैंने कहा कि यह अच्छा आदमी है, झटपट सब ठीक कर दिया। उसने सुअर खरीद लिये। मैं रोज देखने जाऊँ, वह दिखाये कि आपके पैसे से खरीदे हुए हैं। थोड़े दिनों में उनके गर्भ भी रह गया, बच्चे भी होने वाले हो गये। मेरे मन में भी रोज खुदर-खुदर लगे कि कब होंगे, कितने होंगे। इसी ख्याल में कई बार रोगी भी आयें तो मैं उनसे कह दूँ कि समय नहीं है, मुझे और कुछ काम करने हैं। अब हुआ कि आज रात में बच्चे होने वाले हैं। वह लिखता है कि किसी भी रोगी के मरने की चिन्ता रात को मुझे नहीं हुई जितनी चिन्ता होती रही कि क्या हुआ। अंततोगत्वा सवेरे जब टेलीफोन किया तो उसने बताया कि बच्चे तो हो रहे हैं लेकिन मरे हुये हो रहे हैं। मैं अपने सारे औजार लेकर दौड़कर वहाँ पहुँचा कि इंजेक्शन आदि देकर देखूँ कि क्या बात है। जब तक मैं वहाँ पहुँचूँ तब तक बच्चे हो चुके थे और मरे हुए थे। उसने कहा कि ये सब रोगी हो गये, पता नहीं क्या कारण है। तीन दिन के बाद उसका टेलीफोन आने लगा कि अब तो सुअर भी मर रहे हैं, बच्चे मरे सो मरे। होते हवाते वह कहता है कि पाँच-सात दिन में मेरे और उसके सब सुअर मर गये। अब उसने कहा—डाक्टर साहब! और रुपये दो तो कुछ और सुअर लाऊँ। मैंने अपनी पत्नी से कहा कि अब की बार तो घाटा हो गया लेकिन अब कुछ सुअर और मँगा लूँ तो शायद फायदा हो जाये। डाक्टर लोग अपना पैसा पत्नी को दे देते हैं, अपने पास कम रखते हैं। उसकी पत्नी किसी व्यापारी की लड़की थी, उसने कहा कि मैं एक धेला देने वाली नहीं हूँ। तुमने मेरे से पूछा होता तो पहले ही 'ना' कर देती। इतने रुपये दे आये तो क्या करूँ? वह कहने लगी कि व्यापार में तो हमेशा ही दीखता है

कि अब की बचा, अब की हाथ मारा और करते-करते घर के बर्तन भी बिकने लगते हैं। इसलिये मैं एक धेला देने वाली नहीं। उस समय तो मुझे गुस्सा आया लेकिन आज उस बात को पन्द्रह साल बाद जब सोचता हूँ कि मेरे अनेक साथी पचास-पचास साल की उमर तक प्रैक्टिस करके, सफलतापूर्वक पैसा कमाकर, रिटायर होकर पैसा व्यापार में लगा देते हैं। पाँच साल में सारा पैसा उड़ गया कि फिर अस्पताल में काम करने आ गये। मैंने पूछा क्या बात है ? कहते हैं—रुपया व्यापार में लगाया था, सब चला गया। कारण यही है कि जो तो व्यापारी के घर का व्यक्ति है उसको तो व्यापार के विषय में कुछ अनुमान, कुछ अन्दाज रहता है और जिसने यह काम कभी नहीं किया उसको इस विषय में ज्ञान तो रहता नहीं और झट धोखा खा जाता है। यही बात सत्संग के विषय में है। जिस व्यक्ति ने वेद, गीता आदि शास्त्रों को बचपन में कुछ अपने बड़ों से सुना समझा है, उसकी जब यह क्षिप्त और मूढ़ अवस्था कम होकर चित्त कुछ शान्त होने लगता है, विक्षिप्त अवस्था आती है तो वह तो उन्हीं सद्ग्रंथों में बताये मार्ग की तरफ प्रवृत्त होता है, और जिसको इनके बारे में कुछ पता नहीं होता, पहले का कोई संस्कार होता नहीं तो उसको तो जैसा भी उल्टा सुल्टा बता दिया गया कि बस यह आध्यात्मिक मार्ग है तो वह उसी से चलने लगता है। जब तक उसको पता लगता है, तब तक जीवन समाप्त होने पर आ जाता है। शास्त्रकार बराबर जो कहते हैं कि बाल्यावस्था में लड़के के संस्कार ठीक कर देने चाहिये, उसका कारण यही है कि प्रायः विक्षिप्त अवस्था तक लोग स्वभाव से पहुँच जाते हैं लेकिन आगे की दो अवस्थाओं को इसलिये प्राप्त नहीं कर पाते कि ठीक मार्ग नहीं पकड़ पाते। कुछ को मार्ग मिलता नहीं और कुछ तमोगुण के कारण प्रयत्न भी नहीं करते। सत्य का पता लगाने के लिये जो थोड़ा तमोगुण कम होना चाहिये, वह जिसमें नहीं होता है, वह सोचता है कि कुछ भी मानने से काम चल जायेगा। भगवान

भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं "अविचारेण यत्किंचित् प्रतिपद्यमानो निःश्रेयसाद्धीयते अनर्थञ्‍ च ईयते" अविचार से, बिना विचार किये हुए जिस किसी उल्टे-पुल्टे मार्ग को पकड़ने वाला निःश्रेयस् कल्याण के पथ से गिर जाता है और अनर्थ को प्राप्त करता है। उल्टा नरक आदि जाने वाला बन जाता है। इसीलिये विक्षिप्त अवस्था के समय विचार की बड़ी आवश्यकता होती है। साधना में विचार प्रथम है। बिना विचार के चलना बड़ा ही खतरनाक मार्ग है। विचार सभी साधनों का आधार है। बिना विचार के साधना आगे नहीं बढ़ती।

जब विक्षेप की अवस्था ठीक सम्भाल ले जाता है तब अंतःकरण की चौथी अवस्था, एकाग्र अवस्था होने लगती है। एकाग्र अवस्था में अधिकतर देर तक चित्त स्थिर और शांत रहता है। बीच-बीच में थोड़ा चंचल हो जाता है। यह अभ्यासी जिज्ञासु की अवस्था है। इसमें एक विषय के बारे में जब सोचता है तो मन इधर उधर नहीं जाता, उस विषय के ऊपर ही मन टिका रहता है। 'एक' ब्रह्म का नाम है। 'सदेवसोम्येदमग्रआसीद् एकमेवाद्वितीयं' यहाँ एक का मतलब परब्रह्म परमात्मा है क्योंकि अद्वितीय आगे कहा है। इसलिये एक परमेश्वर का नाम है। एकाग्र का मतलब है परमेश्वर ही है आगे जिसके। उस समय यह परमात्मा का चाहे साकार चाहे निराकार, चाहे सगुण चाहे निर्गुण, परमात्मा के जिस रूप का भी चिंतन करता है वह उसके आगे ही बना रहता है। विक्षिप्त अवस्था में परमेश्वर के विषय में कुछ वृत्ति इधर-उधर हो जाती है। विक्षिप्त अवस्था और एकाग्र अवस्था में यही फर्क है। जैसे जोर से पंखा चल रहा हो और वहाँ तुम दिया जला दो तो दिया बहुत ही जोर से लपलप करता है। लेकिन देखोगे कि लपलप करते हुए बीच में सैकेण्ड आधे सैकेण्ड के लिये स्थिर भी हो जाता है। उसी स्थिरता को देखकर हम कहते हैं कि पंखा बन्द करने की जरूरत नहीं है। यह कहते ही दिया झट बुझ जाता है। ठीक इसी प्रकार विक्षिप्त अवस्था के अन्दर

अधिकतर अंतःकरण विषय से हिलता रहता है, बीच-बीच में सत्वगुण की अवस्था की स्थिरता होती है। वहाँ स्थिरता का कारण हवा है। जब हवा चलती है तो हवा के बीच का जो हिस्सा होता है उसमें यदि चारों तरफ की हवा का जोर एक समान आ जाये तो स्थिरता हो जाती है। लेकिन वह कादाचित्क है। अगले ही क्षण वहाँ से हट जाती है। यह विक्षिप्त चित्त की अवस्था है। और जिस समय चित्त एकाग्र होता है, वह अवस्था है जिस समय में हवा नहीं चल रही है। जब हवा नहीं चल रही है, तब दीपक स्थिर रहता है लेकिन कितना भी स्थिर रहे बीच में एकाध लपक मार जाता है। उसका कारण है कि दीपक के पास की हवा को दीपक ही गरम कर देता है और वह गरम हुई हवा स्वयं ही गतिशील हो जाती है। फिर भी अधिकतर स्थिर रहता है, बीच-बीच में थोड़ा सा लप-लप कर जाता है। उधर अधिकतर अस्थिर रहता है, बीच में स्थिर हो जाता है। यही विक्षिप्त और एकाग्र स्थितियों में फरक है। जब तक परमेश्वर के रूप को ठीक से समझ नहीं लेते हैं, तब तक इस एकाग्रता की प्राप्ति नहीं होती है क्योंकि अंतःकरण में बुद्धि बैठी हुई है और 'बुद्धेर्धर्मोनाग्रहः' जो बात पूरी तरह से बुद्धि को पचती नहीं, उस बात के अन्दर मन भी पूरी तरह से नहीं लगता है। बैठ भी जाओगे, कर भी लोगे, लेकिन वह जँची हुई बात नहीं है, इसलिये उसमें बीच-बीच में बुद्धि का स्पन्द उसे उखाड़ता रहेगा और इसीलिये उसमें एकाग्र अवस्था की प्राप्ति नहीं हो पाती।

पुराणों में पुरुरवा की कथा आती है। वैसे यह ऋग्वेद की कथा है। ऋग्वेद में पुरुरवा उर्वशी संवाद आया है। उसी के आधार पर पुराणों की कथा है। पुरुरवा एक बहुत बड़ा राजा हुआ है। विष्णुपुराण में उसे अतिदानी, अतियज्वा, अतितेजस्वी कहा है। यज्ञ भी सामान्य नहीं वरन् अतियज्ञ करता था। इसी प्रकार दान करता था तो सामान्य दान नहीं अतिदान करता था। युद्ध इत्यादि में जो उसका तेज था, वह भी सामान्य नहीं,

अतितेज होता था। अति का मतलब होता है कि अपने सामने वालों में जितना हो, उस सबसे अतिशय, और वह अतिशय १९-२० वाला नहीं, इतना अधिक फर्क हो कि झट दूसरे की नजर में आ जाये। पुरुरवा ऐसा ही राजा था। एक बार स्वर्ग में उर्वशी को श्राप लगा। मित्रावरुणों ने उसकी किसी गलती के कारण उसे श्राप दिया कि तेरे को मानवीय योनि में जाकर रहना पड़ेगा। वह विषय दूसरा है। इसीलिये वह मानवी होकर यहाँ रहने को आई तो उसने विचार किया कि कहाँ रहना चाहिये। अन्त में उसने यह निश्चय किया कि पुरुरवा की ही रानी बनकर रहा जाये क्योंकि मानव लोक में उसे पुरुरवा ही सबसे श्रेष्ठ पुरुष लगा। एक बार पुरुरवा कहीं गया हुआ था, वहाँ उसने उर्वशी को देखा। उर्वशी भी इसी निमित्त से गई हुई थी। उसको देखकर उसकी सुकांति, सौकुमार्य और लावण्य इत्यादि गुणों से वह मुग्ध हो गया और उससे पूछा कि तू किसकी पत्नी है? उसने कहा कि मैंने किसी से विवाह नहीं किया। पुरुरवा ने कहा कि मैं राजा हूँ, तेरे से विवाह करना चाहता हूँ। उसने कहा कि मैं विवाह तो करूँगी लेकिन मेरी तीन शर्तें हैं। इनमें से यदि कोई बात तुमने पूरी नहीं की तो मैं तुम्हें तुरन्त छोड़ दूँगी। एक तो मेरे पास दो मेढ़े (मेष) हैं। ये हमेशा मेरे पास रहते हैं। चाहे रात हो दिन हो, कोई भी समय हो ये मेरे से अलग नहीं होते। किसी समय तू कहे कि इन्हें छोड़ दूँ या यहाँ न रखूँ तो यह नहीं होगा। ये मुझे पुत्र की तरह प्यारे हैं। दूसरे, मैं तुम्हें कभी भी नग्न न देखूँ अर्थात् विना वस्त्र के न देखूँ और तीसरे, मैं केवल देसी घी खाऊँगी और कुछ नहीं खाऊँगी। पुरुरवा ने मान लिया। उर्वशी उनके साथ रहने लगी। रहते-रहते उर्वशी को भी पुरुरवा से अत्यधिक स्नेह हो गया, इतना स्नेह हो गया कि उसकी वापस स्वर्ग जाने की इच्छा भी नहीं रही। योग्य पुरुष के साथ रहने से ऐसा हो जाता है। उधर पुरुरवा भी उसके साथ रहकर इतना प्रसन्न हुआ कि प्रति-दिन उसका भी उसके प्रति अनुराग बढ़ता ही चला गया। कभी

चित्ररथवन में, कभी मानसरोवर में वे दोनों घूमते रहते थे। होते-होते सात हजार वर्ष बीत गये। यह पुराणों का कालमान है। अतिदीर्घ काल बीत गया। मित्रावरुणों के शाप की अवधि को समाप्त हुए भी बहुत समय बीत गया लेकन जब कभी वे जाकर उर्वशी से स्वर्ग में चलने को कहें तो वह कहे कि नहीं आऊँगी। यहीं बड़े आनंद में हूँ, स्वर्ग में आकर क्या करूँगी। उर्वशी के बिना देवताओं, गंधर्वों को स्वर्ग की शोभा कम लगती थी। उसके बिना स्वर्ग की शोभा उतनी नहीं रह गई थी जो उसके रहते थी। सब लोग बैठकर विचार करने लगे कि उसे स्वर्ग में कैसे वापस लायें। यह तो वहीं जाकर बैठ गई। वहाँ विश्वावसु नाम का गंधर्व बैठा था। उसे पता था कि उन दोनों की आपस में क्या शर्तें तय हुई हैं। उसने कहा कि मैं यह काम कर लूँगा। एक दिन रात्रि में विश्वावसु ने जाकर उर्वशी के एक मेढ़े का हरण कर लिया। जैसे ही उसका हरण किया, वह मेढ़ा बिलबिलाने लगा अर्थात् जो भी उसके बोलने का तरीका होता है, उसमें चिल्लाने लगा। उर्वशी ने कहा कि मेरे मेढ़े को कोई लिये जा रहा है, कोई द्वारपाल मेरे मेढ़े को बचाओ। विश्वावसु तो गंधर्व था, वह उसे आकाश में ले गया था, वहाँ कोई दरवान या चौकीदार क्या करे। वहाँ एक मेढ़ा जाकर रखा और फिर लौटकर दूसरे को ले जाने लगा। अब उर्वशी और जोर से चिल्लाने लगी और कहा कि मैं अभर्तृका हूँ और जिस पुरुष के साथ में रहती हूँ, वह कायर है, किसी काम का नहीं है क्योंकि आज कोई मेरे पुत्रवत् मेषों का हरण कर रहा है और यह कुछ नहीं कर रहा है। तेजस्वी पुरुष को यदि वाणी का बाण मारो तो सहन नहीं होता। ऐसी कड़वी बात सुनने से पुरुरवा के मन में भी क्षोभ हुआ। फिर उसने सोचा कि रात का समय है, यह अंधकार में मेरे को थोड़े ही देखेगी। वह सो रहा था। झट से तलवार लेकर उठा, कहा—कौन ले जा रहा है? मैं इसे अभी मार डालता हूँ। जैसे ही वह उठा, विश्वावसु ने वहाँ रोशनी चमका दी। वह बेचारा

मेढ़ों को लेने गया, जब तक लेकर आया, देखा कि उर्वशी तो वहाँ से चली गई थी। उसने तो प्रण किया हुआ था। पुरुरवा बड़ा दुःखी हुआ। विश्वावसु ने उससे कहा—पुरुरवा ! दुःखी मत हो। यह तो देवताओं का निर्णय है, इसलिए यह किया गया है। तुम आखिर मानव देह वाले हो, अप्सरा तुम्हारे पास कब तक रहेगी, हमेशा तो रह नहीं सकती। फिर भी पुरुरवा बड़ा दुःखी हुआ। साल भर के बाद एक दिन मानसरोवर में स्नान करने के लिए गया हुआ था, वहाँ से लौटकर कुरुक्षेत्र में आया। पर्व विशेष होने के कारण देवगण भी कुरुक्षेत्र के तालाब में स्नान करने आये हुए थे। उनके साथ उर्वशी भी स्नान करने आई थी। पुरुरवा ने उर्वशी के सामने जाकर दीनता प्रकट की कि मैं तेरे बिना नहीं जी सकता। पहले तो उर्वशी ने उसे बहुत समझाया और अन्त में कहा कि तेरा गर्भ मेरे पेट में है, इसलिए अभी तो नहीं, जब बच्चा हो जायेगा, तब आऊँगी और तुम्हारे पास एक दिन रह जाऊँगी। पुरुरवा मान गया। जैसा उर्वशी ने कहा था, वैसा ही किया। आकर पुरुरवा के साथ उसने एक दिन और एक रात्रि व्यतीत की और उसके बाद चली गई। उस एक रात्रि में ही उर्वशी को पाँच पुत्रों का गर्भ रह गया। जब गंधर्व लोक में वे उत्पन्न हुए तो गंधर्व लोग पुरुरवा से बहुत प्रसन्न हुए क्योंकि उनको पाँच गंधर्व मिल गये थे। पहले तो यह था कि एक पुत्र रह जायेगा। वह उर्वशी ने पुरुरवा को दे दिया था। अब उन्हें एक के बदले पाँच पुत्र मिल गये तो प्रसन्न हो गये। उन्होंने आकर पुरुरवा से कहा—कोई वरदान माँग लो। पुरुरवा ने कहा कि मेरे पास धन दौलत, सुख की कोई कमी नहीं है। मैं तो चाहता हूँ कि मुझे उर्वशी ही मिले, इसलिए मुझे उर्वशी ही दो। गंधर्वों ने कहा कि तुम्हारे मनुष्य रहते हुए तो हमारे लिए यह सम्भव नहीं है। परन्तु हम तुम्हें एक विशिष्ट अग्नि देते हैं, इसमें तुम नियमपूर्वक आहुति दोगे तो अंत में गंधर्व लोक में पैदा होगे। पुरुरवा उस अग्निस्थालि को लेकर आ रहा

था। देवताओं ने फिर विचार किया कि यह यहाँ आ जायेगा तो उर्वशी फिर इसी से स्नेह करेगी। देवताओं ने उसके चित्त में भ्रम पैदा कर दिया। वह सोचने लगा कि मेरे को गंधर्वों ने टाल दिया। कब यज्ञ पूरा होगा ? कब मरूँगा ? तब गंधर्व लोक में जाऊँगा। यह सोचकर उसने वह अग्निस्थालि वहीं रख दी। घर आया, तब तक देवताओं का किया हुआ चित्तभ्रम का असर हट गया। देवताओं ने अपना काम बना लिया। अब उसने विचार किया कि मैंने गड़बड़ काम किया। मुझे अग्निस्थालि का उपयोग करना था, उसके बजाय मैंने गलत काम किया। वहाँ से चलकर फिर उसी स्थान पर पहुँचा जहाँ उसने अग्नि छोड़ी थी। उसने देखा कि अग्निस्थालि वहाँ नहीं है। देवताओं ने पहले ही सोचा था कि शायद वापस आ जाये, इसलिए वे लोग वहाँ से उस अग्निस्थालि को उठा ले गये थे। पुरुरवा ने ध्यान से देखा कि वहाँ एक शमी का वृक्ष और एक पीपल (अश्वत्थ) का वृक्ष था। उसने विचार किया कि जब मैं यहाँ अग्निस्थालि छोड़ गया था, तब तो ये दोनों वृक्ष यहाँ नहीं थे। हो न हो अग्निस्थालि ही ये दोनों वृक्ष बन गये हैं। वह दोनों को ले आया और उनका मंथन करके उसमें से अग्नि प्रकट की तथा विधिपूर्वक उसमें आहुति दी जिसके फलस्वरूप गंधर्वलोक में उत्पन्न हुआ और वहाँ उसे उर्वशी से नित्य संयोग की प्राप्ति हुई। यह कथा पुराणों में आती है। वस्तुतः ऋग्वेदमूलक पौराणिक पुरुरवा की कथा के द्वारा अंतःकरण और अंतःकरण की अवस्थाओं का प्रतिपादन किया गया है। पुरु अर्थात् 'बहुत और रव माने आवाज, इसलिये बहुत आवाज करने वाले को पुरुरवा कहते हैं। मन रात-दिन में एक मिनट भी चुपचाप नहीं रहता। रास्ते चलते भी बोलता रहेगा कि उस आदमी ने वैसा किया, मैंने उससे ऐसा कहा, वह वहाँ जा रहा है, वह पीली साड़ी वाली जा रही है। इससे कहो थोड़ी देर शान्त हो जाओ तो नहीं होता। पुरुरवा मन को बताता है और उर्वशी प्रकृति को बताती है क्योंकि प्रकृति का सौन्दर्य ही इस मन को

हमेशा मुग्ध करता रहता है ।·यद्यपि यह प्रकृति है तो परमेश्वर की शक्ति लेकिन जीव के सामने यह नृत्य करती रहती है । जीव के सामने यह उपस्थित हो जाती है । यह मित्रावरुणों का एक तरह का श्राप है । जब मन इस विश्वप्रकृति से मुग्ध होकर इसको देखता रहता है तो कहता है कि मैं तुमसे हमेशा युक्त रहूँ । वह तीन शर्तें बताती है और कहती है कि जब तक ये तीन शर्तें पूरी करोगे, तब तक मैं तुम्हारे साथ बनी रहूँगी । दो मेढ़े पुत्रवत् हैं । अहंता और ममता ही दो मेढ़े हैं । प्रकृति के साथ मन का सम्बन्ध अहंता और ममता को रखकर ही होता है । मैं और मेरा भाव रूपी मेढ़ों से यह कभी नहीं छूटती । इसलिये ये दोनों हमेशा उसके साथ ही रहेंगे । दूसरे, कभी नग्न न देखूँ अर्थात् मन कभी भी वासना रहित न हो । वस् धातु का अर्थ बसना होता है, इसी धातु से वस्त्र शब्द बनता है । यदि मैं और मेरेपन में से कोई चला गया तो भी प्रकृति तुम्हारे साथ नहीं रह पायेगी, और यदि तुमने वासनाओं को छोड़ दिया तो भी प्रकृति तुम्हारे सामने क्या करेगी ? तीसरी शर्त है कि मैं केवल घृत ही खाऊँगी । घृत स्नेह या चिकनाई को कहते हैं । जब तक तुम प्रकृति से केवल स्नेह करते रहोगे तब तक वह तुम्हारे पास रहेगी । यदि तुमने कहीं वैराग्य को बीच में लाकर प्रकृति के प्रति स्नेह को हटा दिया तो भी वह चली जायेगी । मन और प्रकृति, पुरुरवा सौर उर्वशी, का जो सम्बन्ध है, वह इन तीन काँटों पर तुला हुआ है । जब तक अहंता ममता रहेगी, जब तक वासना रहेगी और जब तक प्रकृति के प्रति तुम्हारा स्नेह भाव रहेगा तब तक विश्वप्रकृति से सम्बन्ध नहीं छूटेगा । साधना की अवस्था में इसलिए इन तीनों को एक-एक करके हटाना है क्योंकि प्रकृति का भोग तो अब तक चला है । अतिदीर्घ काल से, अनादि काल से आज तक इसके साथ ही रह रहे हैं और भिन्न-भिन्न प्रकार की जगहों पर जाते रहते हैं । न यह मन प्रकृति को छोड़ना चाहता है और न प्रकृति मन को छोड़ना चाहती है । दोनों एक दूसरे से पूरी तरह से बँधे हुए हैं । अब इसके ऊपर कल्याण

दृष्टि करने की इच्छा से, जीव को इसके पंजे से छुड़ाने के लिये, विश्वावसु तैयार हो जाता है। विश्वः च वसुश्च विश्वावसुः अर्थात् जो विश्व हो, और वसु हो, सब जगह रहने वाला हो, वह विश्वावसु है। वासुदेव परमात्मा सब जगह रहने वाले होते हैं। वह किसी काल में अहंता ममता का आकस्मिक हरण करते हैं। यह विक्षिप्त अवस्था को बताने के लिए है। कभी-कभी अहंता ममता चली गई तो चित्त स्थिर हो गया। इस अवस्था को देखकर, अहंता ममता के हरण को देखकर इसे कापुरुष कहते हैं। थोड़ी सी अहंता ममता कम करना चाहो तो सारे लोग यही कहते हैं कि यह संसार के कर्त्तव्यों को छोड़ रहा है। लोक में ऐसा होता है कि बच्चों को बड़ा कर लिया तो अब पोतों को भी खिलाओ। ऐसा न करो तो कहते हैं कि अपना कर्तव्य पूरा नहीं कर रहे हो। ममता कम करो तो कापुरुषता का लांछन लगाने लगते हैं। मन भी उस काल में अविचार करके अपनी पुरुषता को प्रकट करने के लिए अपने को प्रकट करता है। जब प्रकट करता है। तो इसकी वासना रहितता प्रकट होती है। जैसे ही यह प्रकट होती है, वैसे ही प्रकृति और पुरुष का विच्छेद हो जाता है। यही एकाग्र और अंतिम निरुद्ध अवस्था को बताता है। अब दोनों के अलग रहने के बाद जब उसकी निरुद्धावस्था दृढ़ और पूर्ण हो जाती है, तब फिर जीवन्मुक्तिकाल के अन्दर उसे पुनः उसकी प्राप्ति होती है। फिर यदि वह प्रकृति में रहता भी है तो उसे 'पश्यन् श्रृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्' देखते हुए, छूते हुए, सुनते हुए आदि सब कुछ करते हुए भी बिना मोह के रहते हुए रहता है। यह देवलोक, गंधर्व लोक की स्थिति हुई। इन पाँचों अवस्थाओं में से निकलते हुए अंतिम निरुद्ध अवस्था को प्राप्त करके हमारा अंतःकरण शिव अर्थात् कल्याणमय हो, यह प्रार्थना की गई। निरुद्ध अवस्था की प्राप्ति पर आगे विचार करेंगे।

२०–३–७५

जो जीवात्म रूपी बाण मुक्ति के लिए पारब्रह्म परमात्मा के द्वारा अपने हाथ में लिया गया, उसके लिये प्रार्थना करते हुए कह रहे हैं—हे गिरित्र ! शिवां कुरु। मेरे ऊपर कल्याण करें। यह कल्याण अंत:करण निमित्तक है। मन के कारण ही यह आत्मा बँधता है और मन के निवृत्त होने पर ही यह मुक्त होता है। मन ही इसके बन्धन और मोक्ष का कारण है। इसीलिए अन्त:करण की भिन्न-भिन्न दशाओं का विचार किया। उसमें से क्षिप्त, मूढ़, बिक्षिप्त और एकाग्र इन चार दशाओं का विचार किया। अब जो वस्तुत: प्राप्त करने योग्य अवस्था है, जिसको प्राप्त करना चाहिये, जिसको यहाँ 'शिवां कुरु' कहा है, जो कल्याणकारी अवस्था है उसी को निरुद्ध अवस्था कहते हैं। बाकी चारों अवस्थायें अशिव हैं और यह अन्तिम अवस्था शिवस्वरूप है। यही वस्तुत: प्राप्त करने के योग्य अवस्था है। जैसे चावल को जब पकाया जाता है तो बिल्कुल कच्चा होता है। फिर कहते हैं इसमें दो कणी रह गई, फिर एक कणी रह गई और अब पूरा पक गया। यद्यपि पहले की अवस्था से दो कणी वाली अवस्था ज्यादा पकी हुई है लेकिन फिर भी वह जुष्ट नहीं है। यदि उस अवस्था में भी उस चावल को खा लिया जायेगा तो वह नुकसान ही करेगा, लाभ नहीं करेगा। इस दृष्टि से सर्वथा कणी न होने वाली जो अवस्था है, वही शिव अर्थात् कल्याणकारी अवस्था है। बाकी जितनी अवस्थायें हैं, वे यद्यपि एक दूसरे की अपेक्षा श्रेष्ठ और अश्रेष्ठ हैं। कोई किसी से अधिक पकी हुई अवस्था है, इसलिये श्रेष्ठ है, कोई उससे कम पकी हुई अवस्था है, इसलिए कनिष्ठ है। लेकिन वस्तुत: प्राप्त करने लायक अवस्था तो अंतिम पूरी पकी हुई अवस्था है। इसी प्रकार जो अवस्था आज बता रहे हैं वह अंतिम निरुद्ध अवस्था है। 'यदा न लीयते चित्त: न च विक्षिप्यते पुन:। अनिंगनं अनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा' भगवान गौड़पादाचार्य कहते हैं 'तदा ब्रह्म निष्पन्नं' उस

अवस्था में ब्रह्मनिष्पत्ति हो जाती है अर्थात् ब्रह्मभाव की प्राप्ति हो जाती है, 'यदा चित्तं न लीयते' जव चित्त किसी भी प्रकार से लीन न हो रहा हो, मूढ़ अवस्था की प्राप्ति न हो रही हो, चित्त सर्वथा स्वरूपरहित होकर अभावाकार न वन रहा हो अर्थात् हमारी चेतना पूर्ण कार्य कर रही हो, चित्त में किसी प्रकार के तमोगुण का प्रवाह न हो, निद्रा, तन्द्रा, आलस्य, प्रमाद इन सव चीजों की स्थिति चित्त में न हो और पूरी जाग्रत अवस्था हो। अब पूरी जाग्रत अवस्था होने पर मनुष्य विषयों का चिंतन करने लगता है इसलिए कहते हैं 'न च विक्षिप्यते पुनः' चित्त में यद्यपि चेतना का प्रकाश है, चेतना के प्रकाश में तो कोई कमी नहीं परन्तु फिर भी वह चित्त किसी भी विषय की तरफ नहीं जा रहा है। चेतना पूर्ण लेकिन निर्विषयक, किसी भी प्रकार का विषय वहाँ नहीं है। कहते हैं कि निरुद्ध अवस्था फिर भी न मान ली जाये जिसको पहले बता आये हैं। एकाग्र अवस्था में जो प्रवाह होता है, वह प्रवाह भी न हो, बिल्कुल स्थिर हो। जब दिया जलाते हो तो दिये के अन्दर यद्यपि हमको गति नहीं दीखती लेकिन किंचित् गति रहती है। तेल का एक हिस्सा आया, जला, धुआँ बनकर ऊपर निकला। एकाग्रता का स्वरूप बताते हुए कहा था कि यद्यपि बाहर की किसी हवा का प्रभाव तो नहीं लेकिन दीपक की स्वयं एक ऊष्मा होती है, दिये में खुद एक गर्मी होती है जिसके कारण उसमें किंचित् कंप हो जाता है। आखिर जब तेल का बिन्दु जलेगा तो धुआँ अवश्य निकलेगा। इसीलिए जहाँ दीपक की पूजा की विधि बताई है, वहाँ कहा है कि उस दीपक की गर्मी चार अंगुल से आगे बिल्कुल प्रतीत न हो, यह लक्षण किया है। आजकल तो हर चीज में तेजी है इसलिए दीपक में भी आदमी सोचता है कि जितना मोटा दिया जलायें उतना अच्छा है। लेकिन शास्त्रकार कहते हैं कि दीपक ऐसा होना चाहिये कि चार अंगुल से आगे उसकी गर्मी का पता न लगे। चार अंगुल केवल बगल में नहीं गिन लेना चाहिए। एक व्यक्ति को हमने देखा, अच्छे कर्मकाण्डी थे। हमने

उससे कहा कि तेरा दीपक तेजी से जलता है। कहता है कि चार अंगुल से ज्यादा की तेजी नहीं है। हमको बड़ा आश्चर्य हुआ कि कौनसा तेल जलाता है। हमने चार अंगुल पर हाथ रखा तो हाथ जलने लगा। हमने कहा दस अंगुल तक जलता है, चार तक नहीं। कहने लगा कि मैं बगल की तरफ से देखता हूँ। बगल की तरफ से चार अंगुल से आगे तो क्या गर्मी पहुँचायेगा, इसलिए लपट से ऊपर चार अंगुल देखना पड़ता है। उद्देश्य यह है कि उसके अन्दर धुआँ भी न्यूनतम होगा और उसकी ऊष्मा के द्वारा वायु में भी किसी प्रकार का विकार नहीं आयेगा। एकाग्र अवस्था में यद्यपि यह ठीक है कि चित्त किसी बाह्य कारण से इधर-उधर नहीं होता लेकिन ध्यान के अपने जो सूक्ष्म भेद होंगे, उनको लेकर के तो परिवर्तन हो जाता है। लेकिन यह जो निरुद्ध अवस्था है उसमें वह परिवर्तन भी नहीं। इसलिए कहा 'अनिगनं' सर्वथा विषयों के अभाव के अन्दर भी इतनी पूर्णता है कि उसमें किसी प्रकार का इंगन नहीं। अनाभास में अंतःकरण की ऐसी अवस्था हो जाती है कि फिर वह स्वयं ऐसा प्रकाशित हो जाता है कि उसको आभास की आवश्यकता भी रहती नहीं। यह जो अनाभास अवस्था है, इसको बाद में विस्तार से बतायेंगे क्योंकि वेदांतशास्त्र का यह एक रहस्य है। ब्रह्मज्ञान और संसार के सब ज्ञानों में यह फरक है। उस ज्ञान को छोड़कर सारे ज्ञानों में आभास ज्ञान होता है और ब्रह्मज्ञान के अन्दर किसी प्रकार का आभास ज्ञान नहीं। इसलिए कहा 'अनिगनं अनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा' इसमें न लीन अवस्था है, न विक्षेप अवस्था अर्थात् विषयावभास है, न एकाग्र अवस्था अर्थात् ध्यान की अपनी जो सूक्ष्म कलनायें हैं, वे हैं। ये सभी न रह जायें, तब इसकी प्राप्ति होती है। यह चित्त की वह अवस्था है जिसे प्राप्त करने पर मनुष्य कल्याण का भागी होता है। इस अवस्था को धीरे-धीरे प्राप्त करना पड़ता है। इसमें जल्दबाजी का काम नहीं है। भगवान ने भी इसीलिए कहा 'शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया। आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न

किंचिदपि चिन्तयेत् ॥६-२५॥' बुद्धि के द्वारा, लेकिन कैसी बुद्धि हो ? जो धैर्य से बँधी हुई है। यह जो आत्मज्ञान का मार्ग है, यह धैर्य के बिना तै नहीं होता है। धीरे-धीरे इसमें लगने से ही काम बनता है, जल्दबाजी में नहीं क्योंकि जब ध्यान करने बैठोगे तो मन तो अपने पूर्व संस्कारों के कारण दौड़ेगा ही और जितना इसे जबर्दस्ती नियंत्रण में लाना चाहोगे, जितना जल्दी-जल्दी इस पर नियंत्रण करना चाहोगे, उतना ही यह ज्यादा आगे जायेगा। यह मन का धर्म है। लोग चाहते हैं कि इसे जबर्दस्ती पकड़कर लगायें। लेकिन मन को पकड़ना पड़ता है जिस समय मन असावधान हो। मन को यदि तुमने कह दिया कि मैं पकड़ने वाला हूँ तो यह पहले सावधान हो जाता है और जब यह असावधान हो तब पकड़ में आता है। इसीलिए जब परमेश्वर के किसी भी विग्रह का अथवा नाम का सहारा लेकर के मनुष्य ध्यान करता है तो मन सोचता है कि यह तो इस विषय में ही मुझे लगा रहा है तो वह उसी विषय में लगने की सोचता है। दीर्घकाल तक इसका अभ्यास करने पर मन ध्येयाकार बनने लग जाता है। है यह विषयाकार ही, चाहे वह कितना ही सूक्ष्म विषय या विग्रह हो। मन ध्येयाकार बनने लगता है और समझ लेता है कि यह तो मुझे ध्येय में ही लगाना चाह रहा है। नतीजा यह होता है कि यह ध्येय में लगते-लगते बीच में ध्येय रहित हो जाता है क्योंकि मन का स्वभाव है कि इससे जो काम करवाओगे, उससे थोड़ी-सी भिन्न तरह से करेगा। पूरी बात न मानना इसका स्वभाव है। घर में भी छोटे बच्चों को देखते होगे कि जब बच्चे को कहते हैं बेटा इस दीवार पर हाथ नहीं लगाना, इस पर मांड़ना मांडा है। यदि बच्चे को कुछ न कहो तो कोई बात नहीं, वह खेलता रहेगा। यदि तुमने उसको कह दिया कि इस पर हाथ नहीं लगाना तो शतप्रतिशत समझ लो कि वह जरूर हाथ लगायेगा। यह मन का स्वभाव है। बड़ों के मन का भी यही स्वभाव है। जहाँ पर लोग लिख देते हैं कि यहाँ अभी ताजा रंग किया है, कृपया

हाथ न लगायें तो आदमी जरूर उँगली लगाकर देखता है। अपनी उँगली भी खराब और उसका रंग भी खराब। कुछ नहीं लिखा तब तो रास्ते चला जायेगा। मन का यह स्वभाव है। जब मन को एक ध्येय के आकार का बराबर बनाते हैं तो मन अपने स्वभाव के कारण बीच-बीच में ध्येयशून्य हो जाता है। यही वह छिद्र है जिसके द्वारा उसको निर्विषयक बनाया जाता है, विषयरहित अवस्था में उसे लगाया जाता है। इसीलिए कहा कि धैर्यपूर्वक करना पड़ेगा। जल्दबाजी करने से यह काम नहीं होगा क्योंकि जहाँ जल्दीबादी की, वहाँ तो चित्त झट विक्षेप की तरफ चला जायेगा। न केवल ध्येय शून्य करने के लिए वरन् ध्येयाकार वृत्ति को लीन करने के लिए भी समय चाहिए। जल्द-बाजी में ध्येयाकार वृत्ति भी कभी खतम नहीं होती। सामान्य रूप से देखोगे कि किसी भी नई सड़क पर चलना प्रारम्भ करो और एक दिन में चाहो कि तुम जल्दी बिना ध्यान दिये चलो तो नहीं चल सकते, चाहे २५-३० बार उस सड़क पर घूम आओ। लेकिन जब उसी सड़क पर महीना डेढ़ महीना थोड़ा-थोड़ा करके घूम लेते हैं, तब फिर उस पर घूमते समय ध्यान नहीं देना पड़ता। एक दिन में करना चाहो तो नहीं होता है। आजकल स्कूल में लड़के इसीलिये कुछ पढ़ नहीं पाते क्योंकि इम्तिहान के चार दिन पहले सब चीजें याद करना चाहते हैं। वह याद उतना ही होता है कि जाकर पर्चा लिख दें। अगर उनसे महीने भर बाद पूछो कि तुमने क्या लिखा था तो उन्हें याद नहीं है। इसी प्रकार से स्तोत्र आदि जो याद करते हैं तो बहुत से लोग बैठकर एक ही दिन में स्तोत्र को घोखना चाहते हैं, बार-बार रटते हैं। अन्त में दस-पाँच दिन के बाद कह देते हैं—स्वामी जी ! अब तो ऐसी उमर हो गई है कि स्तोत्र याद नहीं होता। उपाय क्या है ? एक दिन में बैठकर मत घोखो, रोज बैठकर स्तोत्र का पाठ करते रहो। एक दिन में सात बार घोखने से जितना याद नहीं होगा, उससे बीस गुना ज्यादा याद हो जायेगा दो महीने तक एक पाठ रोज करने से।

यही धैर्य है। धीरे-धीरे मन का रुजुआत करना पड़ता है, जल्द-बाजी से यह काम नहीं होता है। इसीलिये भगवान ने भी कहा 'शनैः शनैः उपरमेत्' धीरे-धीरे इसको उपरत करना पड़ता है! इस मन का नियंत्रण करने के लिये केवल इसको विषयों से दूर रखने से भी काम नहीं चलता। उसमें भी यह निरुद्ध अवस्था नहीं बन पाती। भगवान शंकर के चरित्र में इसीलिये यह बताया कि सती के देह त्याग के अनन्तर भगवान शंकर तप करने के लिये हिमालय पर जहाँ गंगा का अवतरण हुआ, औषधिप्रस्थ के पास जाकर रहने लगे। वहाँ पर वह क्या करते थे? 'तत्र भर्गः परमात्मानं भर्गः भर्जयति पापानि इति भर्गः' जो पापों को भूंज दें, नष्ट कर दें, ऐसे भर्ग भगवान शंकर अपनी ही आत्मा का चिंतन और ध्यान वहां पर करते थे। वह आत्मा कैसा है? अक्षरं परतः परं अविनाशी है और पर से पर जो चीज हम सोच सकते हैं उससे भी परे है। 'यतो ज्ञानमयं नित्यं ज्योतिरूपं निराकुलं' केवल चिन्मात्र है, केवल ज्ञानस्वरूप है। ऐसी जो वह निराकुल, किसी भी प्रकार की आकुलता अर्थात् किसी भी प्रकार की वासना से रहित अवस्था है, जिसे आजकल के अंग्रेजी पढ़े लड़के लड़कियाँ कहते हैं कि बैठे-बैठे बोर अर्थात् आकुल हो गये क्योंकि चित्त के अन्दर जो सूक्ष्म संस्कार हैं, वे उद्‌बुद्ध नहीं हो पाये। इसी को शास्त्रों में कहीं-कहीं कषाय अवस्था भी कहा है और निराकुल अर्थात् किसी भी प्रकार की अनुद्‌बुद्ध वासना से रहित, ऐसे अपने आत्मस्वरूप का ही वह ध्यान कर रहे थे। हिमालय को इस बात का पता लगा कि साक्षात् परब्रह्म परमात्मा हमारे गंगावतरण स्थल में आकर तपस्या कर रहे हैं। वह वहाँ पहुँचा। भगवान शंकर ने कहा कि हम तुम्हारे राज्य में आकर रह रहे हैं क्योंकि हमें एकांत की अभिलाषा थी। भगवान शंकर के यह कहने पर हिमालय ने कहा कि यह तो हमारा बड़ा ही सौभाग्य है कि जिनके दर्शन के लिये लोग अतिदीर्घ काल तक तपस्या करते हैं वह स्वयं आकर मेरे यहाँ तपस्या कर रहे हैं। इसलिये यह तो हमारा बड़ा सौभाग्य

है। वहाँ से जाते हुए वह विचार करने लगा कि कोई भी अपने यहाँ आये तो उसकी व्यवस्था करनी चाहिए तो मैं भी इनकी सम्यक् व्यवस्था करूँ। घर आकर सेवकों को लेकर तिल, कुश, पुष्प इत्यादि सामग्री लेकर और साथ में अपनी कन्या को लेकर वापस आया। भगवान शंकर से उसने निवेदन किया कि आप यहाँ मेरे राज्य में तपस्या कर रहे हैं तो मेरे द्वारा आपकी सेवा करना योग्य है। इसलिये मैं सारी व्यवस्था करके आया हूँ और इस समग्र व्यवस्था का ठीक प्रकार से संचालन करने के लिये मैं अपनी पुत्री को भी लाया हूँ। 'भगवन् स्वीकुरु तनया मे' अपनी कन्या को आपकी सेवा करने के लिये लाया हूँ, इसलिये आप कृपा करके इस समग्र सेवा को और सेवा को चलाने के लिये मेरी पुत्री को आज्ञा दें। भगवान शंकर ने विचार किया कि व्यवस्था तो इसने ठीक बनाई है और बाकी सब इंतजाम भी इसने ठीक किया है लेकिन यह जो अपनी कन्या को लाया है, यह गड़बड़ मामला है। उसको देखकर उनके मन में हुआ 'ध्यानपंजर निर्बद्धं मनो येषां' ध्यान करते-करते जिनके शरीर का पंजर शिथिल हो गया है, तपस्या करते-करते शरीर के जोड़ शिथिल हो जाते हैं, ऐसे जो मुनि हैं उनके भी मन को अपनी तपस्या से हिला देने वाली जो इसकी यह कन्या है, जिसके दर्शन से ही वे शिथिल हो जायें, उसे ला इसने ठीक नहीं किया। लेकिन फिर विचार किया कि यह इतने प्रेम से लाया है तो ना करना भी ठीक नहीं। उन्होंने मान लिया। वह उनकी सेवा करती रहती थी और पूर्व संस्कारवशात् उनको ही बार-बार देखती रहती थी। जब कभी कार्य समाप्त हो जाता था तब उन्हीं का ध्यान करती रहती थी। इस बात का पता नारद के द्वारा देवगणों को लगा। देवता बड़े प्रसन्न हुए। देवताओं ने विचार किया कि अब हमारा काम बना क्योंकि तारकासुर को मारने के लिये भगवान शंकर के पुत्र की हमें आवश्यकता है। पार्वती वहाँ पहुँच गई है तो हमारा काम बन जायेगा। इस भरोसे अतिदीर्घकाल व्यतीत हो गया। इन्द्र ने कई बार जाकर

पता लगाया तो मालूम पड़ा कि निरंतर वह सेवा भी कर रही है लेकिन भगवान शंकर के मन में उसके प्रति कोई भावना नहीं है। अब तो इन्द्र घबराया और जाकर ब्रह्माजी से कहा कि तारकासुर का उपद्रव बढ़ता जा रहा है। इधर भगवान शंकर के पास पार्वती रहती है लेकिन आगे कुछ पुत्र वगैरा होने की सम्भावना नहीं मालूम होती। ब्रह्माजी ने कहा मैं क्या कर सकता हूँ, मैं तो तारकासुर को नहीं मारने वाला क्योंकि मैंने ही उसको वरदान दे रखा है। इन्द्र बहुत रोया गाया और कहा कि कुछ तो व्यवस्था आप करो। ब्रह्माजी ने कहा कि तेरे को मैंने कामदेव दे रखा है उससे अपना काम बना। इन्द्र वापस आया। उसने आकर कामदेव को बुलाया और कहा कि तू बड़ी सामर्थ्य वाला है। हम सब देवताओं में तू ही बड़ा है। सबसे पहले तू ही पैदा हुआ। यह मनुष्य का स्वभाव है कि जिस समय उसको आवश्यकता पड़ती है, उस समय किसी को भी अपने से बड़ा बना लेता है। रास्ते में खड़ा हुआ सिपाही अगर तुम्हारी गाड़ी का नम्बर लेने वाला हो तो कहोगे कि हमारे लिये तो तू ही राष्ट्रपति है। कहने में क्या देरी लगती है। यह मनुष्य का स्वभाव है। पहले तो कामदेव ने कहा कि मेरे को ही क्यों मरने को भेज रहे हो। मैं ही मिला, और किसी का इंतजाम करो। इन्द्र ने उसकी और प्रशंसा की कि तुम्हारे बिना यह काम और कौन कर सकता है। तू ही कर सकता है, तेरे बाण बहुत तेज हैं और तूने बहुत काम किया है। मनुष्य का स्वभाव है कि प्रशंसा सुनने पर वह अपने स्वरूप और सामर्थ्य को भूल जाता है। कामदेव तैयार हो गया। उसने सोचा ठीक ही कहते हैं 'सदेवासुरनरे निवर्तन्ते नित्यं जगति जयिनो यस्य विशिखा:' मेरा बाण देवता, असुर, मनुष्य सबके ऊपर जाकर आज तक असफल नहीं रहा, सब जगह सफल रहा, मैं जरूर सफल हो जाऊँगा। अपनी सारी तैयारी करके वह वहाँ आकर देखने लगा कि कब भगवान शंकर का ध्यान उस अक्षर परब्रह्म परमात्मतत्व स्वात्मतत्त्व से हिले तो मुझे प्रवेश मिले क्योंकि काम का प्रवेश तभी बन

सकता है। उसको वहाँ रहते हुए दीर्घ काल बीत गया। दो-चार बार इन्द्र ने आकर पूछा कि क्या हुआ? कहने लगा कि मेरे बाण जाने का कहीं छिद्र मिले तब न मेरा काम बने। एक समय जब भगवान शंकर अपनी समाधि खोल रहे थे और ठीक उसी समय पार्वती भी वहाँ मौजूद थी। उसका वर्णन करते हुए बताया है 'एकं योगवियोजनात् मुकुलितं चक्षुर्द्वितीयं पुनः पार्वत्या जघन-स्थलस्तनतटे श्रृंगारभाराल्लसद्। अन्यद्दूरनिरस्तचापमदनक्रोधा-नलोद्दीपितं शम्भोर्भिन्नरसंसमाधिसमये नेत्रत्रयंपातुवः॥' उस समय उनके नेत्र थोड़े-थोड़े से समाधि से खुलने लगे थे लेकिन अभी पूरे नहीं खुले थे अर्थात् समाधि से व्युत्थान अवस्था के अन्दर आ रहे थे और पार्वती वहीं खड़ी हुई थी। स्वाभाविक है कि समाधि की जो खुमारी होती है, समाधि की जो तीव्रता की लपट होती है उससे जब मनुष्य व्युत्थान में आयेगा तो उसको बाहर की चीजों को सावधान होकर समझने में कुछ काल लगता है। रोज नींद में यह अनुभव करते ही हो। जब नींद से आँख खुलती है तो बाहर की चीजों को अच्छी तरह देखने में दो चार सेकण्ड लग जाते हैं, खासकर यदि शाम के समय जरा अच्छी तरह से छान ली हो तो नींद जरा गहरी होती है। तब दूसरे दिन सवेरे उठते हो तो जरा खुमारी बनी रहती है। इसलिये थोड़ा समय लगता है। ठीक उस असावधानी के समय ही पार्वती सामने खड़ी थी, जब तक उसके अंग विशेष पर उनको दूसरी दृष्टि थी, वही जो असावधानी का क्षण कामदेव को मिला तो बस वह तो तैयार ही बैठा था अपना काम बनाने के लिये। सोचा यही मौका है। पार्वती भी मौजूद है। झट अपने बाण का प्रयोग उस समय कर दिया। इसलिये भगवान शंकर के एक नेत्र में श्रृंगार का भार कुछ अलसाई अर्थात् प्रमाद की वृत्ति लिये हुए हो गया। जैसे ही यह हुआ, वैसे ही विचार आया कि मैंने तो अपनी तरफ से कोई ऐसा संकल्प किया नहीं, फिर यहाँ यदि प्रमाद के मार्ग से कामना का प्रवेश हुआ है तो

जरूर कोई बाह्य कारण है । किसी ने इस कारण को पैदा किया है क्योंकि अन्दर से तो समाधि से उठ रहा हूँ, संकल्प का प्रसंग ही नहीं है । लेकिन उस एक क्षण के प्रमाद में भी कामदेव ने तो अपना काम कर दिया क्योंकि उसने सोचा कि जब मैंने 'सदेवासुनरे निवर्तन्ते न' सबको सँभाल लिया तब हमारा काम तो बन गया । उसने यह विचार नहीं किया कि जिसको मारने के लिये हमको इतने समय तक अवसर ही नहीं मिला तो वहाँ बाण का प्रयोग करने से पहले जरा सोच तो लूँ । लेकिन नहीं सोचा । उसने सोचा कि जैसे सब पर बाण चलता है, ऐसे ही भगवान शंकर पर भी चल जायेगा । जैसे उसकी ऐसी दृष्टि भगवान शंकर की तरफ हुई और बाण मारा तो भगवान शंकर के मन में विचार आया कि यह संकल्प कहाँ से आया? अन्दर तो वासनाशून्यता है 'ज्योतिर्मयः केवलः' । जब चारों तरफ जरा नजर मारी' तो देखा कि काम खड़ा हुआ बाण मार रहा है । काम ने जैसे ही देखा कि नेत्र उसकी तरफ आ रहा है तो उसने सोचा कि यह असावधानी टिकी नहीं, उसने झट अपना धनुष फेंक दिया । वह जो धनुष को फेंके हुये मदन अर्थात् कामदेव था, भगवान ने उसको देख लिया और देखने के साथ ही उनमें क्रोध उत्पन्न हुआ कि देखो यह कैसा काम कर रहा है । आचार्य पुष्पदन्त लिखते हैं 'स्मरः स्मर्तव्यात्मा नहि वशिषु पथ्यः परिभवः' अब याद ही रहता है कि कामदेव पहले हुआ था, उस कामदेव का दर्शन अब किसी को नहीं होता है । उसका नाम अनंग पड़ गया । जैसे ही भगवान शंकर को यह पता लगा, वैसे ही क्रोध की अग्नि उत्पन्न हुई और उसने जाकर तुरन्त उस कामदेव को जलाकर भस्म कर दिया, देरी ही नहीं लगी । कालिदास लिखते हैं कि जब तक देवता उनसे कहें कि रुको रुको, तब तक तो काम हो गया 'भस्मावशेषं मदनं' जब तक देवताओं के मुख से निकले 'महाराज !' तब तक तो वहाँ भस्मावशेष रह गया । कामदेव समाप्त हो गया । अब उन लोगों ने आकर कहा—महाराज ! यह आपने

क्या किया। भगवान शंकर कहने लगे—फिर इसको तुमने पहले क्यों नहीं समझाया ? देवताओं ने कहा—इसको तो हम ही लोगों ने भेजा था। कहा—तब फिर तुम ही इसे बचाओ। ब्रह्मा इत्यादि देवता कहने लगे—महाराज ! संसार चक्र कैसे चलेगा। भगवान शंकर ने कहा—नहीं चलेगा तो हर्जा क्या हो जायगा। इसी के पीछे तो लोग सारे के सारे दुःख पा रहे हैं। न यह होगा, न लोगों को दुःख होगा। सब शान्ति से बैठो और भजन करो। फिर रति इत्यादि ने भी बहुत प्रार्थना की। अंततोगत्वा भगवान शंकर ने कहा कि अब इसको शरीर तो वापिस नहीं मिल सकता लेकिन यह बिना शरीर के ही बेचारा किसी तरह अपना गुजारा निकालता रहेगा। जो भी हो। यहाँ तो बता रहे थे कि यह निरुद्ध अवस्था है जिसमें जितने विभिन्न भाव हैं, वे सब एक साथ समुपस्थित रहते हैं। योग का नियोजन तो सत्वगुण का कार्य है क्योंकि पहले जो चार अवस्थायें बताईं उसमें क्षिप्त अवस्था में रजोगुण प्रधान, मूढ़ अथवा मोहावस्था के अन्दर प्रधान रूप से तमोगुण, एकाग्र अवस्था में प्रधान रूप से सत्वगुण और विक्षिप्त अवस्था में सत्वगुण कुछ आना प्रारम्भ हुआ था अर्थात् उन अवस्थाओं में एक एक गुण प्रधान था। निरुद्ध अवस्था के अन्दर तीनों गुणों का समन्वय रह पाता है क्योंकि किसी प्रकार की वासना का बीज वहाँ नहीं है। भगवान शंकर के तीनों नेत्रों का वर्णन किया है कि एक नेत्र योग का, इसलिये उसमें तो सत्वगुण प्रधान रहेगा, दूसरे नेत्र में कामदेव के बाण का प्रयोग होने पर पार्वती की देह को देख रहे हैं, इसलिए उसमें रजोगुण प्रधान है, किसी चीज को देख रहे हैं, इसलिये विक्षेप है। तीसरे नेत्र के अन्दर क्रोध की पूर्णता है, तमोगुण विद्यमान है। सामान्यतः सत्वगुण, रजोगुण, तमोगुण तीनों साथ साथ रहा नहीं करते। बाकी अवस्थाओं में तो एक गुण प्रधान रूप से रहेगा। लेकिन यहाँ युगपत् (एक ही साथ) तीनों गुण उपस्थित हैं, तीनों गुणों की स्थिति है। जैसे बराबर सामर्थ्य वाले तीन डण्डे यदि एक दूसरे को पूरी ताकत से सम्भाल लें तो स्थिर रह जाते हैं और तीनों

में से कोई नहीं गिरेगा। टेलीफोन के तार को जहाँ मजबूत करते हैं, वहाँ वे स्थिर रहते हैं क्योंकि बराबर शक्ति वाले हैं। यही निरुद्ध अवस्था है। इसलिये कहा 'शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातुवः' यहाँ भिन्नरसता है। निरुद्ध अवस्था वह है जिसके अन्दर सत्व, रज, तम तीनों समान अवस्था में होने के कारण तीनों ही कोई कार्य नहीं कर सकते, तीनों ही अपनी क्रिया से अक्षम हैं अर्थात् तीनों ही अपनी क्रिया करने में क्षमता से रहित हैं। इसलिये भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद जहाँ पूर्ण अवस्था को बताते हैं, वहाँ कहते हैं कि अन्तःकरण या भाव वृत्ति वाला बन जाता है रजोगुण के काल में, या तमोगुण के काल में अभाव वृत्ति वाला बन जाता है। जब भाव और अभाव दोनों रूपों से अंतःकरण निर्मुक्त हो जाता है, तब पूर्ण अवस्था की प्राप्ति होती है। उसी को यहाँ भगवान गौड़पादाचार्य कहते हैं—यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः। अनिंगनं अनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा॥' इसके द्वारा जब सत्व की व्यावृत्ति हो गई, तब उसमें न भाव का अवभास अर्थात् प्रतीति और न अभाव की प्रतीति रह गई। कहीं कहीं पर इसलिये 'भावाभावविनिर्मुक्तं तत्वं आध्यात्मिकं' उस आध्यात्मिक तत्व को भाव और अभाव दोनों से निर्मुक्त बताया है। यह जो स्थिति है, यह निरुद्ध चित्त की स्थिति है। यही शिवा अवस्था है जिसको यहाँ कहा 'शिवां गिरित्र तां कुरु' गिरित्र सम्बोधन से यह संकेत कर रहे हैं कि आपने हिमालय रूपी गिरि के ऊपर रहकर ही यह कार्य किया। जैसे आपने गिरि पर रहकर यह कार्य किया, उसी प्रकार से आप हमारे अन्तःकरण में भी इस प्रकार की निरुद्ध अवस्था को लायें क्योंकि हिमगिरि के ऊपर रहते हुए ही आपने इस प्रकार किया था, इसलिये उसी चीज को स्मरण करके हमारा भी आप त्राण करो। इसलिये हमें इस शिवा अवस्था की प्राप्ति कराओ। इसकी प्राप्ति न करने से क्या हानि होती है, 'मा हिंसीः पुरुषं जगत्' इस पर कल विचार करेंगे।

२१-२-७५

मा हिंसीः पुरुषं जगत्—इसमें परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि वह जो निरुद्ध अवस्था हमें प्राप्त होनी चाहिये, उसको बीच में छोड़ न देवें। पुरुष की हिंसा मत करो। पुरुष माने क्या? पुरुषार्थ जिस उद्देश्य से किया जाता है, वही पुरुष शब्द का वाच्य है। यहाँ जो प्रार्थना की गई 'हे गिरित्र! तां शिवां कुरु' वह जो शिव अवस्था की प्राप्ति है जिसे प्राप्त करने के लिये अंत:करण की निरुद्ध अवस्था बताई, उसकी प्राप्ति के साधनों के बीच में किसी प्रकार का विघ्न मत करो। साधना के बीच में आने वाले विघ्न ही वस्तुतः पुरुष की हिंसा है। उस आत्मतत्व की प्राप्ति करने जब मनुष्य जाता है तो कई प्रकार के विघ्न आते हैं। इन को मोक्ष में प्रतिबंधक कहा जाता है अर्थात् ये मोक्ष में रुकावट करने वाले हैं। ये प्रतिबंधक कई प्रकार के हैं और इनकी निवृत्ति परमेश्वर की कृपा के बिना सम्भव नहीं है। इनकी निवृत्ति केवल स्वपुरुषार्थ से सम्भव नहीं होती। इसीलिए यहाँ प्रार्थना रूप से कह दिया कि पुरुष की हिंसा मत करो अर्थात् पुरुषार्थ में लगे हुओं के मार्ग में जिन प्रतिबंधकों की सम्भावना होती है, वे प्रतिबंधक हमारे को रुकावट न करें। वस्तुतः परमात्म ज्ञान के मार्ग में रुकावट करने वाली जो चीजें हैं, उनको शास्त्रकारों ने कई भेदों में बाँटा है। एक वर्तमान अर्थात् जो उस काल में रहती हैं जो वर्तमान में रहते हुए मनुष्य के परमात्म प्राप्ति में विघ्न करती हैं। उनको बताते हुए शास्त्रकारों ने कहा है कि प्रतिबंध वर्तमान वालों के कई कारण हैं। उसमें वर्तमान का जो प्रतिबंधक है, उसमें विषयों के प्रति जो आसक्ति है, यह एक बहुत बड़ा प्रतिबंधक है जो मनुष्य के निरुद्ध चित्त को उत्पन्न ही नहीं होने देता। विषयों की आसक्ति में लगा हुआ पुरुष परमात्म मार्ग में लग नहीं पाता। इसी प्रकार से मंद प्रज्ञा अर्थात् किसी चीज को ठीक प्रकार से समझने की असामर्थ्य। जब मनुष्य प्रज्ञाहीन होता है तब किसी चीज को ठीक प्रकार से विचार करने में समर्थ नहीं होता।

उसे प्रज्ञा का मंदता कहते हैं। तीसरे, कुतर्क अर्थात् इस प्रकार के तर्क करना जो मनुष्य को पुरुषार्थ से हटायें। विपर्यय अर्थात् विपरीत ज्ञान का हो जाना। जैसा ज्ञान होना चाहिए, उससे ठीक विपरीत ज्ञान का हो जाना। दुराग्रह अर्थात् गलत चीज को पकड़ लेना और उसके ऊपर दृढ़ आग्रह करके बैठ जाना। इस प्रकार से कई ऐसे प्रतिबंधक या रुकावटें होती हैं जो वर्तमान काल में रहते हुए पुरुषार्थ में प्रवृत्त मनुष्य को बीच में रोकती हैं। मनुष्य का मन एक ऐसा पदार्थ है कि जैसी इसको प्रेरणा मिलती है, तदनुकूल ही यह झट काम करने लग जाता है। यह प्रेरणा चाहे अन्दर से आये, चाहे बाहर से आये। मन एक तैजस् पदार्थ होने से इसकी विशेषता यह है कि जिस चीज के साथ बैठता है, उसकी शक्ल पकड़ लेता है। जैसे अग्नि को यदि तुम लम्बे लोहे या छड़ के साथ करो तो छड़ के अन्दर जब अग्नि प्रविष्ट हो जायेगी तो अग्नि की शक्ल वही हो जायेगी जो छड़ की शक्ल है। 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो' अग्नि जिस पदार्थ में प्रविष्ट होगी, उस पदार्थ का रूप लेती जायेगी। गोल लोहे के टुकड़े को गरम करोगे तो अग्नि वहाँ पर गोल शक्ल की, और चौखटी चीज के साथ अग्नि का सम्बन्ध करोगे तो वह अग्नि चौखटा रूप ले लेगी। जैसे अग्नि तैजस् पदार्थ है तो जिस-जिस पदार्थ के साथ संयुक्त होती है, उसी-उसी पदार्थ की शक्ल को लेती है। ठीक इसी प्रकार से मन तैजस् पदार्थ होने से जिस-जिस पदार्थ के साथ होता है, उस-उस पदार्थ का रूप धारण कर लेता है। मन की चंचलता का भी यही कारण है। उसका एक स्थिर रूप नहीं क्योंकि वह पार्थिव चीज है। जिस प्रकार की बात करोगे, मन वैसे आकार वाला होगा। पुरुषार्थ की तरफ चलने वाले प्राणी को यदि उस पुरुषार्थ में लगने वाली ही बातें मिलें, तब तो वह उधर लगा रहेगा और किसी ने उसको उस पुरुषार्थ से गिराने वाली बात कह दी तो धीरे-धीरे मन उस दूसरे आकार को ले लेता है।

महाभारत में एक कथा आती है। विदिशा नगर में एक

माता-पिता का इकलौता पुत्र था। वह पुत्र अप्राप्त यौवनावस्था में अर्थात् 16 वर्ष की उमर में अकस्मात् मर गया। अपने कुल में वह एक ही पुत्र था। दुःखी होकर उसको लेकर गये और श्मशान में जाकर रखा। वड़े दुःखी होकर के रो रहे थे जो स्वाभाविक है। एक गीध ने उन लोगों को इस प्रकार रोते देखा तो उसने सोचा कि ये लोग अधिक देर तक रोते रहेंगे तो मुझे खाने को कव मिलेगा। वह गीध उनसे कहता है—अरे, तुम लोग यहाँ क्यों इस प्रकार दुःखी हो रहे हो ? क्या इसके पहले यहाँ दूसरे लोग अपने मृत सम्वन्धियों को लेकर नहीं आये और उनको छोड़कर नहीं गये। तब फिर तुम लोग ही इतना दुःख क्यों कर रहे हो। 'एकात्मकं लोके' इस संसार में अकेला ही प्राणी आता है। अव यह मर चुका, इसलिये इसको छोड़कर तुम लोग जाओ। अधिक विलम्व करने से क्या लाभ होगा। जरा विचार करके देखो, सभी प्राणी ऐसे ही आते हैं। यह गीध कह रहा है। 'तं सुखदुःखंवमिश्रितं' इस संसार को देखो, सुख और दुःख एक जैसा सव प्राणियों को इस सारे जगत में हैं। सारे जगत में कोई ऐसा नहीं जिसमें सुखः दुःख न हो। जहाँ-जहाँ संयोग है, वहाँ-वहाँ वियोग अवश्य है। तुम इसको रो रहे हो, मैं यहाँ देखता रहा हूँ कि जो-जो यहाँ किसी को लेकर आते हैं और वड़े दुःखी होकर जाते हैं, कुछ काल के वाद उनको कोई दूसरा लेकर के आता है! इसलिये हर प्राणी को इस मृत्यु का सामना करना पड़ता है। इस मृत्यु को निमित्त वनाकर तुम लोग इतने दुःख को प्राप्त मत करो। चाहे जितना प्रिय मनुष्य हो, चाहे सारे संसार के लोग उससे द्वेष करते हों लेकिन सव प्राणियों की गति यही होती है। इसलिये अव तुम लोग व्यर्थ इसके लिये रोकर समय मत खराव करो। अव इसको छोड़कर जाओ, यहाँ रहने से कोई फायदा नहीं है। यह गिद्ध कह रहा है क्योंकि वह सोचता है कि ये यहाँ से जायें तो मेरा काम वने। वे बेचारे उसकी वात सुनकर चल दिये कि यह ठीक ही कह रहा है। जव चल दिये तो वहाँ

बिल में एक सियार रहता था। उसने जब उन्हें जाते देखा तो उसने सोचा कि दिन के समय में यह गिद्ध सारा माल खा जायेगा, मेरे हाथ कुछ नहीं लगेगा। रात्रि में गिद्ध को दीखता नहीं है, दिन में ही दीखता है। उसने सोचा कि यह काम तो गड़बड़ हो रहा है। इसलिये ये लोग कुछ विलम्ब लगायें तो अच्छा है। वह सियार बाहर निकला और कहता है कि देखो, संसार में कैसे-कैसे लोग होते हैं कि ऐसे सुन्दर पुत्र को छोड़कर जा रहे हैं। वह कहने लगा 'आदित्य स्तपते धुना' अरे, अभी तो सूर्य जगमगा रहा है। तुम लोग मूर्ख की तरह सूर्य के रहते ही अपने बच्चे को छोड़कर जा रहे हो। कुछ तो स्नेह तुम लोगों में अपने बच्चे के प्रति होना चाहिये। केवल यह भय खाकर कि हमको भी मरना पड़ेगा, श्मशान भयंकर जगह है, यह सोचकर इसको छोड़कर जा रहे हो। यह अकस्मात् मरा है। अकस्मात् मरा हुआ प्राणी कभी-कभी कालान्तर में जी भी जाता है। अभी तो दिन का समय है, सूर्य है, अभी से भय खाकर क्यों जा रहे हो। कुछ तो अपना स्नेह दिखाओ। एक ही मुहूर्त्त बहुरूप का होता है इसलिए उस मुहूर्त्त में कोई तीव्र काल मृत्यु का आ जाता है लेकिन थोड़े समय के बाद मुहूर्त्त भेद हो जाने पर मनुष्य का प्रारब्ध बदल जाता है तो मनुष्य जी भी जाता है। इसलिये तुम लोगों को इसे छोड़कर नहीं जाना चाहिये। ऐसा नहीं कि लाये, पटका और चले गये। दीर्घकाल तक तो तुम लोग इसके भाषण, इसकी बात को सुनकर बड़े प्रसन्न होते थे। यह थोड़ा-सा बोल देता था तो तुम लोग बहुत खुश हो जाते थे। अब यह मर गया है तो कुछ देर तो इसके अन्तिम दर्शन कर लो, अन्तिम बार प्रेमपूर्वक कुछ देर देख तो लो। यह बात उन लोगों को सियार समझा रहा है कि इतनी जल्दी तुम लोग अपने प्रिय पुत्र को छोड़कर जाते हो, यह ठीक नहीं। बन्दरी को देखो कि इस भरोसे कि शायद अभी बच्चा जी जाये, बन्दरी भी अपने बच्चे को जल्दी दूर नहीं करती। तिर्यक् अर्थात् पशु योनि में भी देखो कि प्रेम के कारण बन्दरी भी

अपने बच्चे को इतनी जल्दी नहीं छोड़ती और तुम लोग इतने समझदार बुद्धिमान मनुष्य जाति के होकर इस प्रकार जल्दी से इसको छोड़कर जा रहे हो। वे बेचारे भोले-भाले लोग थे। सियार की वैसी बातें सुनकर वे सारे फिर शव की तरफ वापिस आ गये और चारों तरफ आकर बैठ गये कि क्या पता शायद बच जाये। गृद्ध ने विचार किया कि हमारा काम तो गड़बड़ हो गया, हमारा माल हाथ से निकल गया। रात हो जायेगी तो सियार का काम बन जायेगा, फिर मुझे क्या मिलेगा। वह गीध उन लोगों से कहता है कि अरे तुम लोग इस अल्पमेधा सियार की बात मानते हो। ऐसा लगता है कि तुम लोगों में प्रबल विचार की शक्ति नहीं है। लोग तो स्वार्थ के कारण शास्त्र और युक्ति की बात करते ही हैं। ऐसा लगता है कि तुम लोगों के अन्दर अपना कोई निश्चय नहीं है। एक सियार की बात मानकर वापिस आ गये और चारों तरफ बैठकर इस मरे को रो रहे हो। 'तस्मात् शोचस्व स्वां तनुं' यह जो निश्चेष्ट मरा हुआ लकड़ी की तरह पड़ा हुआ लड़का है, इसका शोक कर रहे हो, अपना शोक क्यों नहीं करते कि एक दिन हमको भी मरना पड़ेगा, उसका विचार करो। मरे हुए को क्या सोच रहे हो। इसलिए तपस्या का अवलम्बन करो। तपस्या का सहारा लेकर अपने घोर पापों को निवृत्त करो। इसको यहाँ छोड़कर घर जाओ। तपस्या के द्वारा मनुष्य को सब चीजों की प्राप्ति होती हैं, यहाँ व्यर्थ का विलाप करके समय बरबाद करने से क्या फायदा। वे लोग तो भोले थे। वह गृद्ध जब उनको समझाने लगा कि प्राज्ञ पुरुष भी मरता है, जवान वृद्ध भी मरता है, सब लोग मरते हैं, इसलिए मरने का नहीं, मेरा क्या बनेगा, इसका विचार करो। इसको व्यर्थ में रोकर कोई लाभ नहीं। उन लोगों ने सोचा यह भी ठीक ही कह रहा है, भोले थे। जैसा अपना मन होता है, जैसा संग मिले, वैसा बन जाता है। भोलेपन के अन्दर फिर वे लोग वापिस चल दिये। सियार ने सोचा कि ये फिर जा रहे हैं, अभी सूर्य अस्त तो हुआ ही नहीं है। सियार फिर उनको समझाने

लगा—अरे, भले आदमियों ! देखो तो सही, इस लड़के के मुख की कान्ति अभी फीकी नहीं पड़ी है, जरा इसके मुँह की तरफ देखो। सोने की तरह इसके मुख पर चमक अभी वनी हुई है। यह आगे जाकर पितरों को सुख देगा। तुम लोग अपने मन में यह मत सोचो कि इसे क्यों रोयें। जहाँ स्नेह होता है, वहाँ पर आदमी विलाप करता ही है। आखिर जव सीता का वियोग हुआ था तो राम जी भी तो रोये थे। प्राचीन काल में शंबूक भी मरा हुआ था, श्वेत नाम का राजर्षि भी मरा हुआ था, फिर भी ये लोग जी उठे थे। इसलिए इतनी जल्दी आशा छोड़कर तुम लोग न जाओ। जरा अच्छी तरह डटकर रो लो। क्यों ? 'सियार कहता है 'तदा सिद्धादि-कृपया' कभी ऐसा होता है कि जहाँ तुम रो रहे हो वहाँ से कभी कोई सिद्ध अथवा कोई मुनि या कोई देवता आदि उधर से निकल जाता है। वह अगर प्राणियों को रोते देखता है, अत्यंत कातर भाव में देखता है तो उसके हृदय में करुणा आ जाती है और फिर वह कृपा करके उस आदमी को जिला देते हैं। इसलिए तुम लोग यदि यहाँ पर अच्छी तरह से रो रहे होगे और कोई ऐसा सिद्ध मुनि इधर से निकल गया और उसको तुम्हारे ऊपर करुणा आ गई तो तुम्हारा लड़का जी जायेगा, और यही तुम्हारे पितरों को पिण्ड देने वाला है। इसलिये विल्कुल स्नेहहीन होकर इतनी जल्दी यहाँ से नहीं जाओ। यह सियार ने कहा क्योंकि वह सोचता है कि किसी तरह शाम तक ये लोग डट जायें तो, गिद्ध का काम न वने, मेरा काम वन जाये। युक्तियुक्त वात वोल रहा है और शंबूक आदि का पुराणों का प्रमाण भी दे रहा है। उसकी वात सुनकर वे लोग सभी उस बच्चे को अपनी गोद में रखकर बहुत जोर से रोने लगे। उनके मन में यह भाव वना कि सियार ठीक ही कह रहा है। गिद्ध ने विचार किया कि ये लोग तो फिर यहाँ आकर बैठ गये, अव कैसे काम बनेगा। जव उनका जोर से रोना थोड़ा कम हुआ तो फिर गिद्ध अपनी वात कहता है—अरे, क्या तुमको अभी संदेह है कि यह नहीं मरा 'मृत ते जीवे पुनर्देहो न

विद्यते' जो आदमी मर गया वह शरीर से सर्वथा निकल गया। फिर इससे आशा नहीं। शंबूक, राजर्षि इत्यादि जी गये थे तो उनके प्राणों का कुछ अवरोध रहा होगा, लेकिन इसे तो मरे हुए काफी देर हो गई, अब कहाँ से इस शरीर में इसकी दृष्टि पुनः बनने वाली है। सौ वर्ष भी बैठकर इसे रो लोगे तो भी यह जीवित होने वाला नहीं। चाहे जितने तुम आँसू बहा लो, चाहे जितने जोर से रो लो इसमें अब जीवन आने वाला नहीं है। इसलिए व्यर्थ तुम लोग इसके प्रति अपना शोक कर रहे हो। उन लोगों ने फिर उसको अपनी गोद से नीचे उतार दिया। जाने लगे तो सियार ने सोचा, गजब हो गया। सियार कहने लगा कि संसार के सभी लोग स्वार्थी ही हैं। तुम लोग भी सब स्वार्थी हो जो इस प्रकार अपने प्रिय पुत्र को छोड़कर जा रहे हो। कहता है कि मैं अपनी दीर्घ दृष्टि से देख रहा हूँ 'पश्यामि मनसा शांतं' तुम हमारी बात मानो क्योंकि मुझे दीर्घ दृष्टि से दीख रहा है कि यह अभी थोड़ा जी रहा है। यह गीध तो तुम्हें व्यर्थ में रोक रहा है। गीध—अब तो सूर्य अस्ताचल को जा रहा है। रात के समय शमशान के अन्दर भूत, प्रेत, यक्ष, राक्षस इत्यादि आते रहते हैं, यहाँ उनका डर है और जाते हुए भी तुमको रास्ते में कहीं शेर इत्यादि मिल जायेगा। यह एक तो मरा सो मरा, इस सियार की बात मानोगे तो तुम में से कई मर जाओगे। यहाँ भी भूत प्रेत का डर रास्ते में भी खतरा, इसलिए इसके भरोसे को छोड़कर अब तुम घर जाओ, झूठ बोलने वाले सियार के चक्कर में न पड़ो। 'स्वकार्य साधने रतौ' इस प्रकार गिद्ध और सियार दोनों ही बड़ी सुन्दर और युक्तियुक्त बात एक दूसरे को सुना रहे थे। शास्त्र का अवलम्बन करके टाल रहे थे तब तक सायंकाल का समय हो गया। सायंकाल को वहाँ भगवान भूतनाथ आया करते थे क्योंकि भगवान शंकर को श्मशान पसन्द है। 'श्मशानेष्वासीनः स्मरहर पिशाचा सहचराः' उनको भूतप्रेत, पिशाच सब पसन्द हैं। श्मशान में उन्हें खेलना पसन्द है। विवेकियों का कहना है कि चौबीस घण्टे में किसी न किसी समय भगवान शंकर

प्रकट होते हैं। यहाँ जो महाश्मशान है वहाँ चौबीस घंटे में एक प्राणी जरूर जलने को आता है। आज तो क्या ठिकाना कि कितने पहुँच जाते हैं। वैसे सन् ३६-४० के अन्दर जिस काल में जापान के डर से सब लोग यहाँ से भाग गये थे, उस काल में भी यहाँ के रहने वालों का अनुभव है कि चौबीस घण्टे में एक मुर्दा फिर भी पहुँच जाता था, नहीं तो सोचते हैं कि कलकत्ता बहुत बड़ा शहर है, एक न एक तो पहुँच ही जायेगा। यह महाश्मशान का लक्षण है। संध्याकाल भगवान भूतनाथ के आने का था। संध्या हुई तो भगवान शंकर वहाँ पहुँचे और देखा कि सारे के सारे रो रहे हैं और सब भोलेभाले लोग हैं। भगवान तो भोलेनाथ हैं। भोलेभाले व्यक्तियों को देखते हैं तो कहते हैं कि इनमें कोई कुटिलता नहीं है, बहुत शांत लोग हैं, इसलिए उनके ऊपर जल्दी कृपा कर देते हैं। भगवान ने उनसे कहा कि तुमको कोई वर माँगना हो तो माँग लो। उन्होंने कहा 'पुत्रस्य जीवनं देहि' हम लोगों को और कुछ नहीं चाहिए, यह जो हमारा पुत्र है, यह जीवित हो जाये। उन्होंने प्रार्थना की तो भगवान शंकर के लिये कोई दुर्लभ चीज तो है नहीं। उन्होंने उसके जीव को उस शरीर में डाला और कहा कि मैं इसे इसके शरीर में सौ वर्ष के लिए रख देता हूँ अर्थात् यह सौ वर्ष तक जियेगा। 'वरं पिनाकी भगवान सर्वभूतहिते रतः' पिनाक धनुष धारण करने वाले भगवान शंकर ने वरदान दिया क्योंकि भगवान सबके हित में हैं। जब बच्चा जीवित हो गया और उनके साथ खेलता हुआ चलने लगा तो गिद्ध और सियार दोनों एक दूसरे को कोसने लगे। गिद्ध कहता है—अरे, इन लोगों को पहले चला जाने देता तो कुछ टुकड़ा तो तेरे को भी मिल गया होता। सियार कहता है कि यदि तूने इन्हे बार-बार तपस्या और वैराग्य की याद न दिलाई होती तो भगवान शंकर की कृपा न होती और सवेरे तक कुछ बचा रहता तो तेरे को भी मिल जाता। दोनों भूखे के भूखे रह गये। वह बच्चा जीवित होकर चला गया। मनुष्य का मन भी ठीक इसी प्रकार का है। जैसे इसको कोई ठीक प्रकार से समझादे वैसा यह समझ लेता

है, यह इसका स्वभाव है। जीव जब परमात्म मार्ग में लगता है तब भी भिन्न-भिन्न प्रकार के विचार इसको आंदोलित करते हैं। कोई विचार तो कहता है कि परमेश्वर की तरफ लग जाओ। कोई विचार इसको कहता है कि अरे, परमेश्वर का तो दृढ़ निश्चय नहीं है, संसार को कैसे छोड़ें। जैसे गिद्ध बार-बार कहता था, छोड़ जाओ, सियार बार-बार कहता था, रह जाओ। इसी प्रकार जीव के मन में अंतर्द्वन्द्व होता रहता है और जो इसे वातावरण मिलता है, वह भी इसे लाभकारी नहीं होता। कभी परमात्मा की तरफ थोड़ा चल देता है तो कभी उस मार्ग को छोड़कर फिर संसार की तरफ चलता है। इसीलिए परमेश्वर के मार्ग में लगकर नहीं चल पाता। अब यदि इस जीव के ऊपर कोई संध्या का काल आता है। संध्या अर्थात् जो काल न गिद्ध का है और न सियार का है, मध्यकाल है। इसी प्रकार इन रास्तों में दौड़ता हुआ कोई काल इसका ऐसा भी आता है जब यह वस्तुतः विषयों से विरक्त हो जाता है; और यद्यपि अभी परमात्मा की प्राप्ति तो इसने की नहीं है, वह मध्य-काल किसी काल में आ जाता है। तब इस पर परमेश्वर की कृपा होती है। यह जो यहाँ बताया कि संध्या काल में भगवान शंकर आये तो वह इसी चीज को बताने के लिए कहा कि ध्यान का जो सम्यक् काल है, जिसमें अभी यद्यपि विषयवासना सर्वथा निवृत्त नहीं हुई है, फिर भी भली प्रकार से ध्यान काल में यह स्थिर है। लेकिन होती यह कृपा उसी पर है जो भोला है। बार-बार ऋषियों ने यह नियम किया है 'अव्रजिनः श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य बृहदारण्यक और तैत्तिरीय उपनिषद् (कृष्ण यजुर्वेद और शुक्ल यजुर्वेद) दोनों में कहा है कि परमात्म तत्त्व की प्राप्ति के लिए 'अव्रजिनः' मनुष्य को कुटिलता से रहित होना चाहिये। जिसके चित्त में कुटिलता बनी हुई है, उसको संध्या काल में अर्थात् ध्यान काल में भी परमात्म प्राप्ति सम्भव नहीं होती है। हम लोग सोचते हैं कि जैसे संसार के पदार्थों की प्राप्ति के लिये कुटिलता और चतुराई अपेक्षित होती है, ऐसे ही परमेश्वर के मार्ग में भी

कुटिलता और चतुराई से काम चल जायेगा और हम लोग इसका प्रयोग भी वहाँ करते रहते हैं। लेकिन परमेश्वर के मार्ग में भोला व्यक्ति ही जीतता है, कुटिल नहीं। भगवान शंकर की कृपा हो गई तो जो उसका पुत्र रूप उद्देश्य था, वह उसे प्राप्त हो गया अर्थात् जीवन का जो उद्देश्य परमात्मप्राप्ति है, वह पूर्ण हो जाता है। उसके सारे प्रतिबंधक हट जाते हैं। परमेश्वर की यह कृपा प्राप्त करने के लिए ही यहाँ प्रार्थना की 'मा हिंसी: पुरुषं जगत्' जिस पुरुषार्थ में लगे हैं उस पुरुष की हिंसा न हो अर्थात् हमारे मार्ग में ऐसे कोई विघ्न न आ जायें। जैसा बताया कि वे विघ्न कुतर्क, विपर्यय और दुराग्रह रूप हैं। परमेश्वर के विषय में कुतर्क रूप विघ्न है कि परमेश्वर नहीं है। इस प्रकार के कुतर्कों को सुनकर मनुष्य पुरुषार्थ से हट जाता है। तरह-तरह के कुतर्क लोग करते रहते हैं। इसी प्रकार से विपरीत ज्ञान (विपर्यय) अर्थात् परमेश्वर है तो किसको मिलता है जी। कुतर्की तो कहता है कि परमेश्वर है ही नहीं। विपर्यय ज्ञान वाला कहता है कि परमेश्वर है लेकिन सारे पाप दूर हो जायें, सारी शुद्धियाँ हो जायें, मन में किसी प्रकार का दोष न रह जाये, वातावरण इत्यादि सब शुद्ध हो जायें। इस लोक में किसका यह सब होता है, वैजीटेबल घी खाने वाले परमात्मा को क्या पायेंगे। यह विपर्यय ज्ञान है कि यह सब हमसे नहीं होना है। परमेश्वर मिलना नहीं तो फिर संसार को क्यों छोड़ रहे हो। इस प्रकार के कुतर्क और विपरीत ज्ञान को सुनते-सुनते मनुष्य में दुराग्रह आ जाता है अर्थात् फिर संसार और इसके कर्त्तव्यों के प्रति वह ऐसा आग्रह वाला हो जाता है कि चाहता है कि केवल कर्मछिद्र में हम ब्रह्म का अन्वेषण करें। किसी भी प्रकार से हमारे सांसारिक कर्त्तव्यों में विघ्न न आये, इसे संभाल करके ही परमात्मा की तरफ दृष्टि करें, यह दुराग्रह होने लगता है। इसके कारण भी फिर वह परमात्म तत्त्व की प्राप्ति नहीं करता। परमेश्वर का अनुग्रह होने पर ही उनके वरदान से ही मनुष्य के ये

विघ्न दूर होते हैं और तब यह परमात्म प्राप्ति के योग्य बनता है। इसलिए प्रार्थना को 'मा हिंसीः पुरुषं जगत्' हमारे पुरुषकार की अर्थात् जो हमारा उद्देश्य है उसकी भी हिंसा न करें और जगत् की भी हिंसा न करें।

चतुर्थ मंत्र की व्याख्या

२२-२-७५

शिवेनवचसात्वागिरिशाच्छावदामसि ।
यथानः सर्वमिज्जगदयक्ष्मं सुमना असत् ।।४।।

प्रथम मंत्र में परमात्मा के सृष्ट रूप का अर्थात् व्यक्त रूप का वर्णन किया। द्वितीय मंत्र में परमेश्वर के अघोर रूप का वर्णन किया, संसार बंधन से छुड़ाने वाले रूप का वर्णन किया। फिर तृतीय मंत्र में वताया कि किन साधनों से परमेश्वर के हाथ में रहने वाला वाण वनकर के अंतिम उद्देश्य तक पहुँचा जा सके। अव जहाँ पहुँचते हैं उसका वर्णन चतुर्थ मंत्र से करते हैं। हे गिरिश! गिरि अर्थात् हिमालय पर्वत के ऊपर रहने वाले, शिवेन वचसा अर्थात् जो कल्याणकारी वचन हैं, कल्याणकारी वाणी है, उस वाणी के द्वारा। स्पष्ट प्रकार से कव हम वाणी से प्रतिपादन करते हैं? जव 'यथानः इदं सर्वम् जगत् अयक्ष्मं' यह सारा परिदृश्यमान जगत् जो हमको दीख रहा है, यह दुःखों से रहित हो जायेगा। परमात्मा के ज्ञान के पूर्व जिस संसार में दुःखों का अंत नहीं, परमात्मज्ञान के वाद वही संसार सर्वथा दुःखरहित हो जाता है। न केवल जगत् दुःखरहित हो जाता है, वरन् 'सुमना असत्' मन भी सुमन हो जाता है अर्थात् अपनी कुमति को छोड़ देता है। इसमें जो कुमति का काँटा पड़ा हुआ है, वह निकलकर यह सुमति अर्थात् सुमन वन जाता है। यह उस परमात्म रूप को जहाँ पहुँचना है, साधना के द्वारा जिसे पाना है, उसको वताता है। वह कल्याणकारी वाक्य क्या है? यह कल्याणकारी वाणी कैसी

है ? जीव निरंतर दुःख का अनुभव कर रहा है। इसके लिये किसी प्रमाण को देने की जरूरत नहीं है। जीव दुःख का अनुभव कर रहा है, यह स्वतः सिद्ध है, स्वभाव से सिद्ध है। जीव चाहता है कि इस दुःख की निवृत्ति हो जाये। दोनों अनुभव हैं। निरंतर दुःख का अनुभव और निरंतर दुःख से छूटने की इच्छा और उसके लिए प्रयत्न। ये दोनों अनुभव होते हैं। किस साधना को करने से हम इस दुःख से छूट जायें, यह प्राणिमात्र की जिज्ञासा है। अत्यन्त कल्याणकारी वेदवाक्य तुमको कहता है कि तुम अपने को दुःख वाला समझ रहे हो, वस्तुतः तो तुम आनंदघन हो। यह कल्याणकारी वाक्य है। 'अयमात्मा ब्रह्म' जिसे तुम सुख-दुःख का अनुभव करने वाला समझ रहे हो, वह सुख-दुःख का अनुभव करने वाला नहीं, वरन् वस्तुतः अनंत आनंद रूप है। जैसे कोई व्यक्ति अपने पुत्रशोक से पीड़ित हो, उसके पास तार आ गया और चिट्ठी से भी खबर आ गई कि तुम्हारा पुत्र जिस रेल में जा रहा था, आकस्मिक रेल दुर्घटना में कल मर गया। अब तुम्हारा निश्चय हो गया कि मेरा पुत्र अब नहीं रहा क्योंकि विश्वासी खबर है। सरकार की तरफ से खबर आ गई, दुर्घटना की खबर रेल विभाग वाले भी दे देते हैं। इसलिये निश्चय हो गया और तुम पुत्रशोक में पीड़ित हो। कोशिश कर रहे हो कि किसी तरह उसका शरीर मिल जाये, कम से कम अंत्येष्टि कर्म तो करें। जैसी भी दुर्घटना हुई हो, कम से कम उसका मुख देखने को तो मिल जाये। ऐसे काल में तुम्हारा कोई अत्यंत विश्वासी व्यक्ति आकर तुमसे कहता है कि भगवान की कृपा से तुमको बधाई हो। आदमी रोते हुए कहता है—किस बात की बधाई दे रहे हो ? वह कहता है—तुमको पता नहीं क्या ? कहता है—हमको कुछ पता नहीं। वह कहता है कि हम तो इस बात की बधाई दे रहे हैं कि जो रेल दुर्घटना हुई थी उसमें हम और तुम्हारा पुत्र एक ही डिब्बे में बैठे थे। हम दोनों बाल-बाल बच गये! आदमी मुँह फाड़कर कहता है कि मेरा पुत्र बच गया, मजाक कर रहे हो। वह कहता है कि इसमें कोई

मजाक की वात है। हम दोनों एक ही डिब्वे में थे, सारे डिब्बे उलट गये और हम वहाँ से उलटकर एक गड्ढे में पड़ गये। बेहोश जरूर हो गये लेकिन कोई भी चोट भगवान की कृपा से नहीं लगी। इतना सुनने मात्र से ही तुम्हारा शोक उड़ जायेगा या नहीं। सांस में सांस आ जायेगी। वह कहेगा कि इस वात को तो मैंने वधाई दी, अब तुम बताओ कि तुम किस वात का शोक कर रहे हो। कहते हो—यह रेल्वे विभाग का तार है। तार देखकर वह हँस पड़ता है कि हम लोग नहीं मिले तो रेल्वे वालों ने सोचा कि वहुत सी लाशों में हम भी होंगे। अब उससे पूछते हो कि मेरा पुत्र कैसा है ? वह कहता है कि पहले तो साथ ही आने की वात थी। फिर उसने कहा कि मेरे को रास्ते में कुछ काम है, वह खतम करके आ रहा हूँ, आप जाकर घर खवर दे आना। इसलिये वह कानपुर उतर गया, दो तीन दिन में आ जायेगा। अभी तुमने पुत्र देखा नहीं है लेकिन तुम्हारा शोक निवृत्त हो गया। प्रसन्न होकर ड्राइवर से कहते हो कि गाड़ी तैयार करो, काली जी के दर्शन करके प्रसाद चढ़ा कर आयें। इन्होंने बहुत बढ़िया खवर दी। जैसे यहाँ पर पुत्र शोक का अनुभव होने पर आप्तवाक्य के द्वारा, प्रामाणिक मनुष्य के वाक्य के द्वारा वह शोक निवृत्त हो गया। उसकी वाणी को कल्याणकारी वाणी मानते हो कि उसने बड़ी अच्छी वात कही, शिववाणी कही। इसी प्रकार से तुम रात-दिन संसार के आधि-दैविक, आधिभौतिक और आध्यात्मिक त्रिविध ताप से संतप्त होकर निरंतर दुःख का ही अनुभव करते जा रहे हो, इस दुःख में से निकलना क्या सम्भव भी है, क्या हम इस दुःख से निकल सकते हैं। नहीं ही निकल सकते, ऐसा लगता है। कोई कहता है 'ध्याने-नात्मनि पश्यति' ध्यान का अभ्यास करो, प्राप्ति हो जायेगी। ध्यान करने बैठते हो तो यह मनीराम है, आधे घण्टे की कौन कहे, आधा मिनट बैठता नहीं। कोई कहता है कि साँस-साँस में हरि जपो। कोशिश करते हो साँस-साँस में जपने को और हर पाँच मिनट वाद वह जप तो भूल जाते हो और संसारी पदार्थों में मन

पहुँच जाता है। अनेक प्रकार के साधन वताते हैं, उन साधनों से जी उलटा घवराता है और अंत में मन कहता है कि यह तो हमसे होगा नहीं। हम तो दुःख ही भोगते रहेंगे। ऐसे काल में आप्त वेद तुमसे कहता है कि घवराओ नहीं 'अयमात्मा ब्रह्म'। तुम सोचते हो कि तुम दुःख में पड़े हुए कैसे निकलोगे, जवकि सच्ची वात यह है कि तुम आनन्दघन शुद्धरूप हो। आगे वनोगे, ऐसा नहीं वरन् 'अयमात्मा ब्रह्म'। जैसे उस आप्तवाक्य में यह नहीं कहा कि तुम्हारा लड़का जी जायेगा, जैसा कि गिद्ध कह रहा था कि जी जायेगा, वह वाला मामला नहीं। उस आप्तवाक्य से उसी समय अनुभव हो रहा है कि वह जीवित ही है। इसी प्रकार से आप्त वेद कहता है कि तुमको यह दुःख स्पर्श भी नहीं कर सकता 'असंगो नहि सज्जते अशीर्यो नहि शीर्यते'। वेद कहता है कि तुम तो ऐसे असंग तत्त्व हो कि अनादि काल से इस माया का सम्वन्ध रखने पर भी तुमको राग लगा नहीं, और चाहे जितनी चीजें विनष्ट होती चली जायें, उनका विनाश तुमको स्पर्श नहीं कर सकता। शरीर को शरीर इसलिये कहते हैं कि 'शीर्यते इति शरीरः'। जो जीर्ण (पुराना) और शीर्ण अर्थात् कमजोर हो जाता है। शीर्ण होता रहता है, इसलिये इसका नाम शरीर है। वेद कहता है 'अशीर्यो नहि शीर्यते', चाहे जितने शरीर तुम लेते चले जाओ लेकिन तुम शीर्ण नहीं हो सकते। यह जो शिववाणी है, इसको सुनते ही मनुष्य का शोक कम हो जाता है। मनुष्य कहता है इसका मतलब है कि गलती से ऐसा मैंने समझ लिया है तो अब दूर कर देंगे। जैसे अगर वह कहता कि तुम्हारा लड़का मर गया है, जिलाने के लिए तपस्या करनी पड़ेगी तब तो घबराते, लेकिन वेद ऐसा नहीं कहता है। वह तो कहता है 'असंगोहि अयं पुरुषः' तुम्हारा वह ब्रह्मभाव कहीं गया नहीं है। इस क्षण भी तुम वैसे ही आनंदघन परमात्मा हो। उसी को यहाँ कहा 'शिवेनवचसात्वागिरिशाच्छावदामसि' यह जो शिव वचन आप्त वचन है इसके द्वारा परमात्मा का भली प्रकार से प्रतिपादन होता है। प्रश्न हो सकता है कि फिर हमको

प्रतीति उल्टी कैसे ? लड़का जिंदा है, खबर हमारे पास गलत कैसे आ गई। उसने कहा—खबर देने वाला तो रेल्वे विभाग है, वह थोड़े ही तुम्हारे लड़के को पहचानता है। वह तो सीधा जानते हैं कि अमुक आदमी वहाँ नहीं मिले तो दुर्घटना में चले गये होंगे। एक-एक आदमी का चेहरा देखकर थोड़े ही वे कोई खबर देते हैं। उनको क्या पता कि कौन किसका चेहरा है। इसी प्रकार से तुम्हारे मन को यह पता तो है नहीं कि तुम हो कौन ? मन आत्मा को जानता तो है नहीं, क्योंकि मन का विषय वह नहीं है, इसलिये मन आत्मा को पहचानता नहीं। मन ने आज तक संसार की चीजों को देखा और संसार की चीजें दुःखरूप हैं, इसलिये इसने निर्णय कर लिया कि जैसे ये सब दुःखरूप हैं और इससे भिन्न आत्मा का कोई ठिकाना है नहीं, इसलिए तुम भी दुःख रूप हो। यह तो मन ने तार दे रखा है कि तुम दुःखी हो। मैं दुःखी हूँ, यह खबर देने वाला मन है। जब तक मन खबर नहीं देता, तब तक तुम क्या कहते हो ? मन किस समय नहीं होता ? गहरी नींद में मन नहीं होता है। उस समय तुम्हारा अनुभव है 'सुखमहं अस्वाप्सं' बड़े सुख में था। तुम दुःखी हो, आत्मा दुःखी है, यह खबर देना मन का काम है और वह मन आत्मा को पहचानता नहीं है। उसने तो किसी सुख की चीज को देखा नहीं, इसलिए तुमको भी खबर दे दी कि तुम भी दुःखी हो। उस मन के तार के भरोसे तुम दुःखी होकर बैठ गये और यहाँ तक सोच लिया कि कम से कम उसका मुर्दा ही मिल जाये, उसका मुंह ही देख लें। ऐसे ही तुम भी सोचते हो कि किसी तरह से हमारा यह दुःख हट जाये, चाहे थोड़ी ही देर के लिये हटे। कहीं गोलोक, बैकुण्ठलोक में पहुँचे तो कुछ तो सुख हो जाये, या योग के द्वारा समाधि अवस्था में पहुँचें तो थोड़ी देर के लिये तो सुख किसी तरह रहे। अब वेद ने जब कह दिया कि ऐसा नहीं, दुःख का कारण तो मन का संग ही होता है तब मन यह भूल क्यों करता है ? इसे ठीक से समझना। जो चीज जैसी नहीं है, उसको वैसा समझना शास्त्रीय भाषा में अध्यास कहा जाता है। जैसे

सिगरेट की पेटी का काग़ज होता ऐलुमिनियम का है और लगता है चाँदी का है। रस्सी में साँप तो शायद किसी ने देखा हो, किसी ने न भी देखा हो, लेकिन आज जहाँ जाओ लोग सिगरेट निकालते रहते हैं। वह कागज चाँदी की तरह चम चम करता है। जो चीज जैसी नहीं है, उस चीज में वैसी प्रतीति का नाम अध्यास है। अब अध्यास हुआ ऐलुमिनियम में चाँदी का। फिर एक इसका प्रकार होता है तादात्म्य अध्यास। जिस समय अपने आपको ही गलत समझ लेते हो वहाँ तादात्म्य अध्यास होता है। जहाँ दूसरी चीज को गलत समझो वह अध्यास, और जहाँ अपने आपको ही उस चीज से गलती से एक होकर गलत समझ लो, तो उसका नाम तादात्म्य अध्यास है, अर्थात् अपने ऊपर ही उस गलती को ले लेना। लोक में अनेक जगह आदमी को तादात्म्य अध्यास होता है। आजकल के ज़माने का एक तादात्म्य अध्यास बता दें। तुमने रेल में बैठे हुए किसी आदमी से पूछा—तुम कौन हो? वह बजाय यह कहने के कि मैं ब्राह्मण या क्षत्रिय हूँ, कहता है कि मैं जनसंघी हूँ या कांग्रेसी हूँ या कम्युनिस्ट हूँ। यह तादात्म्य अध्यास स्वयं अपने साथ कर लिया। क्यों इसे तादात्म्य अध्यास मान लिया? तीन साल बाद वह मिलता है तो उससे पूछते हो कि जनसंघ कैसी चल रही है। वह कहता है कि वह तो मैंने छोड़ दी, अब तो मैं कम्युनिस्ट बन गया हूँ। यदि सचमुच जनसंघी होता तो जन्म-जन्मान्तर तक बना रहता। इसलिए उसने जनसंघ की दो-चार बातें उसको अच्छी लगीं तो तादात्म्य अध्यास करके, उसने उसके साथ एकता का अनुभव कर लिया। यह तादात्म्य अध्यास है। अब की कुम्भ में हमें एक बच्चा बार-बार कह रहा था कि नापासर का कार्यक्रम बनाइये। अपना ही बच्चा है, वहाँ का रहने वाला है एक दो बार हमने सुना। फिर हमने कहा कि तू तो कलकत्ते रहता है। दो साल में कभी पाँच-सात दिन के लिए नापासर जाता है। बार-बार क्यों दबाव दे रहा है, कलकत्ते में ही सत्संग सुन लेना। कहने लगा कि बात तो ठीक है लेकिन ये दूसरे सब लोग कुम्भ में

नापासर से आये हुए हैं, इन्होंने मुझे आगे कर दिया। इतनी देर तक वह है कलकतिया, लेकिन अध्यास कर लिया कि मैं नापासरिया हूँ। यह तादात्म्य अध्यास है। ऐसे बहुत से तादात्म्य अध्यास अपने ऊपर होते रहते हैं। इसी प्रकार से जीव का तादात्म्य अध्यास पहली चीज है। अध्यास अर्थात् जो चीज जैसी नहीं है उसको वैसा समझ लेना। अपने आपको कुछ और समझ लेना, यह तादात्म्याध्यास है। यह तादात्म्य अध्यास जीव के साथ तीन प्रकार का होता है—सहज तादात्म्य अध्यास, कर्मज तादात्म्य अध्यास और भ्रमज तादात्म्य अध्यास। सहज अर्थात् जो साथ-साथ जन्म ले जैसे एक पेट में जन्म लेने वाले भाई सहोदर कहे जाते हैं। ऐसे ही जो साथ-साथ जन्म ले उसको सहज कहते हैं। जब जब अहं की वृत्ति पैदा होती है अर्थात् मैं की वृत्ति बुद्धि में उठती है तब-तब उस वृत्ति के साथ ही उसमें चेतन का प्रतिबिम्ब पड़ता है, चित् प्रतिबिम्ब (चिदाभास) पड़ता है। पहले में वृत्ति के साथ चेतन का आभास पड़ने से चिदाभास रूप अहं की वृत्ति साथ-साथ पैदा हुई। जैसे विचार करो कई बार घरों में बाड़ी वाला तुमसे कहता है कि एक ही पोइंट तुम अपनी कोठरी में जला सकते हो। तुम कहते हो कि दो जला लेने दो पैसे ज्यादा ले लेना। लेकिन वह कहता है कि एक ही बत्ती मिलेगी। तब आदमी क्या करता है। एक ऐसा प्लग मिलता है जो एक खटके में डाल दो तो उसमें से दो छेद निकल आते हैं। एक में लट्टू लगा देते हो, दूसरे में पंखा लगा देते हो क्योंकि बाड़ी वाले ने एक ही पोइंट देना हुआ और गर्मी के मौसम में पंखा जरूर चलाना हुआ। इसलिए एक ही प्लग में तुमने दो लगा दिये, एक पंखा और दूसरा बिजली। अब जब तुम एक खटका दबाते हो तो दोनों साथ जलते हैं। यह सहज है। कोई नया आदमी तुम्हारे घर आया, तुमने तो उसे चला दिया। रात का समय है। वह यह चाहता है कि वत्ती तो बंद हो जाये क्योंकि नींद लेनी है और पंखा चलता रहे। वह खटका वन्द करता है तो पंखा भी बंद हो जाता है। उसे गर्मी लगती है, फिर खटका दबाता है

तो बिजली भी जल जाती है। उसको यह रहस्य पता नहीं कि दोनों अलग-अलग हैं। यदि लट्टू का प्लग निकाल दो तो लट्टू और पंखे का प्लग निकाल दो तो पंखा बंद हो जायेगा। लेकिन उसने तो साथ ही चलते देखा है और खटका बेचारा दबा ही रहा है। एक ही खटके से बिजली और पंखा साथ-साथ चलने के कारण वह समझ लेता है कि ये तो दोनों साथ ही चलते हैं। इसी प्रकार जब-जब बुद्धि की अहंकारात्मिका वृत्ति पैदा होती है तब-तब उसमें चिदाभास का प्रकाश आता है। इसलिए सहज तादात्म्य अध्यास हो जाता है कि जहाँ-जहाँ मैं रूपी वृत्ति है वहाँ-वहाँ मैं हूँ, और जहाँ-जहाँ मैं रूपी वृत्ति नहीं, वहाँ-वहाँ मैं नहीं है। साथ-साथ पैदा होने के कारण यह सहज तादात्म्याध्यास है। यह सहज तादात्म्य अध्यास बिना विचार के नहीं हटता, विचार करने से ही यह हटेगा।

दूसरा कर्मज तादात्म्य अध्यास है। कर्म करता तो है मनुष्य खुद लेकिन उस मनुष्य को दण्ड देने का कोई तरीका नहीं। मैंने अपने हाथ से तलवार लेकर पड़ोसी का सिर काट दिया। मैंने काटा लेकिन मुझे सरकार दण्ड नहीं दे सकती। इसलिये दण्ड शरीर को देती है, शूली की सजा शरीर को मिलती है। इसी प्रकार यद्यपि अपराध करने वाला जीव है लेकिन जीव ने शरीर के माध्यम से किया तो शरीर को ही दण्ड दिया जा सकता है, जीव को नहीं दिया जा सकता। इसीलिये देश या धर्म के लिये जो बड़े-बड़े शहीद होते हैं, उनको सरकार शूली की सजा देती है, फाँसी पर चढ़ा देती है लेकिन वे फाँसी पर हँसते हुए जाते हैं। उनको तनिक भी दुःख नहीं होता क्योंकि वह जानता है कि देश या धर्म के लिये बलिदान हो रहा है। उनको सरकार दुःखी नहीं कर पाती, क्योंकि वह उसके शरीर को ही तो शूली दे सकेगी। कहीं-कहीं इससे भी आगे जाना पड़ता है। कोई आदमी यदि अपराध करके भाग गया और अब उसको पकड़कर दण्ड देने का तरीका नहीं रहा तो उसके घर वालों को, उसकी पत्नी को और बच्चों को जेल में डाल देते हैं, उसकी

जमीन जायदाद पर भी कब्जा कर लेते हैं और इस बात को अखबारों में खूब निकाल देते हैं जिससे वह जहाँ भी हो, इसको बांचकर दुःखी हो। यही तो उसका उद्देश्य है और कुछ नहीं है क्योंकि उसके घरवालों ने और बच्चों ने कुछ नहीं किया। लेकिन वह बच्चों को चूंकि अपना मानता है, इसलिये जहाँ उसके शरीर को दण्ड नहीं दे सके वहाँ जिसको वह अपना मानता है, उसको दण्ड दें, इसलिये पत्नी और बच्चों को दण्ड देते हैं। कर्म का फल देने के लिये जिस तादात्म्य अध्यास का सहारा लिया जाता है उसको कर्मज तादात्म्य अध्यास कहा जाता है। हम लोगों को भी अपने शरीर में इसीलिये जब-जब कर्मफल का भोग भोगना पड़ता है तब-तब शरीर के साथ तादात्म्य अध्यास हो जाता है। गर्मी में ठण्डी हवा चली तो यह पुण्य का फल है। गर्मी में ठण्डी हवा शरीर को लगेगी तो सुख होगा, वह सुख पुण्य का फल है; लेकिन सीधा वह पुण्य तुमको कैसे दें। तुम चूँकि शरीर को अपना मानते हो, शरीर के साथ तुम्हारा तादात्म्य अध्यास है, है तो वह कर्मज तादात्म्य अध्यास, उसी का सहारा लेकर तुमको पुण्य का फल दे देते हैं। अध्यास हुआ चीज को गलत समझना, जो आत्मा जैसा नहीं है, उसे वैसा समझ लेना तादात्म्य अध्यास हुआ। अपने को गलत समझ लेना, अहं में जो तादात्म्य अध्यास है, वह सहज है और शरीर में जो तादात्म्य अध्यास है, वह कर्मज है, ये दोनों अलग-अलग हो गये।

तीसरा तादात्म्य अध्यास भ्रम से हो जाता है। जो न अहं के साथ है न शरीर के साथ है, भ्रम के कारण हो जाता है। भ्रमज तादात्म्य अध्यास वैसा ही है जैसे मनुष्य भाँग के नशे में अपने को संसार का राजा समझता है। एक बार हमारे आबू में एक मिस्त्री काम करने वाला आया। हमको पता नहीं था कि वह जबर्दस्त नशा करने वाला है। मन्दिर बनाने के काम में लगा हुआ था। एक दिन शाम को वह पूरे नशे में डूबा हुआ था। हम बैठे हुए कुछ देख रहे थे। वह आकर कहता है कि आज बहुत अच्छा हुआ। हमने कहा—

क्या हुआ ? उसने रबड़ की चप्पल पहनी हुई थी, अँगूठे की जगह से वह टूटी हुई थी तो उसमें उसने धागा बाँध रखा था। मजदूर आदमी था। वह कहता है—आज मुझे सिरोही महाराजा ने बुलाया। हमने सोचा कि वह शायद इसे कुछ ज्यादा पैसे देकर काम पर बुलाना चाहते होंगे। कहने लगा—महाराजा मेरे से कहने लगे कि तू सारी स्टेट ले ले और अपनी चप्पल दे दे। मैंने मना कर दिया कि यह चप्पल तो तुम्हारे राज्य के वदले में नहीं मिलने वाली। इतने में ठेकेदार आ गया और उसे डाँट कर वहाँ से ले गया और हमसे कहा कि काम तो करता है लेकिन बड़ा नशे-वाज है। यह भ्रमज तादात्म्य अध्यास है, यह न कर्मज है, न सहज है। भ्रमज तादात्म्य अध्यास का निरूपण करते हुए किसी कवि ने एक दृष्टांत से वताया है। कहते हैं कि एक वार भगवान कृष्ण ने अपनी माँ से कहा 'मातः ! किं यदुनाथ' ? भगवान कृष्ण कहते हैं—हे माँ ! माँ ने कहा—क्या वात है, यदुनाथ। यह अपनी भारतीय संस्कृति के वोलने का तरीका है। वच्चे ने कहा—माँ, और माँ कहती है—यदुकुल के पति, यदुनाथ, क्या कह रहे हो। और आजकल की संस्कृति है 'राम मार्‍यो क्या वोल रहा है, मैं तो काम कर रही हूँ, तू वीच-वीच में आवाज दे रहा है। यह संस्कृति का परिवर्तन है। हम लोगों के व्यवहार में वोली का मिठास इतना कम हो गया है कि आश्चर्य होता है। वड़ी से वड़ी गलती करने वालों को उपनिषद् में कहते हैं—हे सोम्य ! हे प्रिय-दर्शन ! विश्वामित्र भगवान राम को उठाते हैं। रात्रि में चलकर आये, जरा ज्यादा थक गये, सूर्योदय का समय होने लगा, अभी उठे नहीं। आजकल के लोग कहते हैं—अबे उठ, पड़ा सोता रहेगा। विश्वामित्र जी क्या कहते हैं ? विश्वामित्र कहते हैं—'उत्तिष्ठ नृप-शार्दूल पूर्वा सन्ध्या' हे नृपशार्दूल ! हे राजाओं में सिंह की तरह ! अब उठो। पूर्व दिशा के अन्दर थोड़ी सी अरुणिमा की संध्या आने लगी है। अभी भी वड़े घरों में, राजाओं के घरों में युवराज को

कहेंगे कि कुंवर साहब आये या नहीं। अपने यहाँ नाम पुष्कर है, लेकिन कहेंगे–पुकियो आयो कि नहीं। भगवान कृष्ण कहते हैं—माँ! हमको पीने का वर्तन दो। चषक पीने के वर्तन को कहते हैं, आजकल की भाषा में गिलास समझ लो। माँ कहती है—क्या करोगे। कहते हैं—दूध पियूँगा। खुद कह रहे हैं कि दूध पियूँगा। आजकल के लड़कों के पीछे मातायें दौड़ती फिरती हैं, बेटा दूध पी ले, दूध पी ले। वह भागता है और कहता है कि नहीं पियूँगा, नहीं पियूँगा। माँ ने कहा कि अव दूध नहीं मिलेगा 'तन्नास्त्यद्य'। तुमने वहुत पी लिया, अव आज और नहीं मिलेगा। मुँह छोटा करके कहते हैं—आज नहीं तो कब मिलेगा? माँ ने कहा—रात में मिलेगा। रात में सोने के पहले एक गिलास मिलने वाला है, अब तुम पी चुके। माँ ने कहा—रात में मिलेगा तो पूछते हैं कि रात किसको कहते हैं, रात क्या चीज है? माँ कहती है—जब अंधकार आ जाता है, उसे रात कहते हैं। उन्होंने दोनों आँखें बन्द कर दीं तो अंधकार हो गया। माँ ने यही कहा था। दोनों आँखें बन्द करके कहते हैं—यह लो रात तो आ गई अव दूध दे दो और बार-बार कहने लगे कि पीने के लिये दूध दे दो और यह कहते हुए उसकी साड़ी के पल्ले को जोर-जोर से खींचने लगे। ऐसे भगवान कृष्ण रक्षा करें। यह भ्रमज तादात्म्य अध्यास का रूप है। आँख बन्द करने से रात तो नहीं आती, लेकिन आँख बन्द करने वाले अंधकार में रात्रि का अध्यास कि मैं रात में पहुँच गया अर्थात् रात्रि हो गई। रात्रि नहीं हुई क्योंकि रात्रि उस अंधकार का उदय है जब आँख खुली रहे और अंधकार हो। यहाँ तो आँख वन्द की गई हैं। लेकिन तादात्म्य अध्यास होने से, आँख वन्द करने से जिस भ्रांति का, जिस अंधकार का, अनुभव हो रहा है, उसमें जो अंधकार दीखता है, उसका अध्यास करके मान लिया कि मैं रात्रि में पहुँच गया। इस लीला के द्वारा कुछ और गूढ़ रहस्य भी वताया है। भगवान कृष्ण प्रत्येक जीव से कह रहे हैं, केवल यशोदा से नहीं क्योंकि

'मातः' सम्बोधन है। संस्कृत में माता का मतलब माँ भी होता है और प्रमाता (जीव) भी होता है। प्रमीयते अर्थात् जिसके द्वारा कोई भी चीज जानी जाती है, वह प्रमाता। जीव से भगवान कहते हैं–हे प्रमाता ! हे जीव ! 'किं यदुनाथ' इस सारे संसार को यदुकुल ही मानकर जीव कहता है कि सारे संसार के अधिपति तो आप हैं। आप मेरे को प्रमाता (जीव) कह क्यों बुला रहे हैं ? कैसे याद किया ? कहते हैं–तू मेरे को हृदय चषक दे दे। जीव कहता है—मेरे हृदय को लेकर आप क्या करेंगे। 'पातु पयः' जैसे गाय का सार दूध है, वैसे ही तुम्हारी इन्द्रियों का, तुम्हारे ज्ञानों का सार है, वही दूध है, वह मैं पियूँगा। यहाँ पर पातुं में णिजंत समझ लेना। पातुं पीने के लिये, और अंतर्हित णिजंत करके अर्थ होगा तुमको पिलाने के लिये मुझे अपना हृदय दे दो। मैं तुम्हारे हृदय के अन्दर जो सार परमात्मा का अमृत है, वह डालकर तुमको पिला दूँगा। तुम उसे पी लो, इसलिये तुम्हारा हृदय माँग रहा हूँ। किसी पात्र में ही डालूँगा। तुम अपना हृदय दोगे तो उसी के अन्दर डाल दूँगा। कभी ऋषिकेश में काली कमली वाले के क्षेत्र में पहुँच जाओ तो दाल फुल्का तो वे देते हैं लेकिन वर्तन अपना ले जाना पड़ता है। सदाव्रत क्षेत्र में सर्वथा दया करके ही तुमको भोजन मिलता है, लेकिन वहाँ भी वर्तन तो अपना ही ले जाना पड़ता है। इसलिये भगवान स्वयं दया करके कहते हैं कि हे प्रमाता, हे जीव ! तू अपना हृदय रूपी वर्तन दे, मैं उसमें परमात्मसार रूपी अमृत दे देता हूँ, तू पी ले। यह जीव कहता है कि अभी तो हमको समय नहीं है "अद्य तन्न अस्ति"। कहता है इस समय हमारा हृदय खाली नहीं है जी। अभी लड़कों को वड़ा करना है, अभी वहू नई आई है, उसे काम समझाना है, वच्चों का व्याह करना है। यह सब कुछ नहीं तो गर्मी से पहले अचार डालना है। इसलिये अभी वहुत से काम हैं, हृदय कहाँ से दे दें, आज नहीं मिलने वाला है। भगवान पूछते हैं कि फिर तुम अपना हृदय कव दोगे? कहता है "निशि" अर्थात्

जब महाप्रलय हो जायेगी और संसार की कोई जिम्मेवारी व पदार्थ सामने नहीं रहे जायेगा तब आपको हृदय दे दूँगा। सारी जिम्मेवारियाँ खतम होनी नहीं हैं, क्योंकि अन्तिम लड़के का ब्याह करोगे तब तक बड़े लड़के का पोता पैदा हो जायेगा। इसलिये ये खतम तो होनी नहीं हैं। जब तक ये सब जिम्मेवारियाँ खतम नहीं हो जातीं तब तक यह हृदय खाली नहीं है। महाप्रलय में जब कोई पदार्थ नहीं रह जायेगा, तक ले लेना। भगवान ने कहा— निशि से क्या मतलब ? जब अँधेरा होगा अर्थात् जब मुझे किसी प्रकार की जिम्मेवारी का होश नहीं रहेगा, तब। भगवान कहते हैं— यह तो अभी है। जरा विचार करके तू अपनी चेतन रूपी आँख को बन्द करके देख। स्वयं कृपा करके उसकी चेतना रूपी आँख को बन्द करके दिखाते हैं। जिस काल में चेतन रूपी आँख बन्द हुई, उस सुषुप्ति काल में बेटा, पोता, परपोता कोई जिम्मेवारी नहीं रहती। सारी जिम्मेवारियों का अनुभव जाग्रत, स्वप्न में ही तो है। गहरी नींद आई हुई हो तो अपनी बेटी के लिये जो तुमने दहेज में देने के लिये गहने लेकर अल्मारी में रखे हैं, उस समय उन्हें चोर आकर अल्मारी से निकाल ले जाते हैं, तो क्या तुम कुछ करते हो ? क्या उसका हाथ रोकते हो ? भगवान कहते हैं कि सुषुप्ति काल में तुमको कौनसी जिम्मेवारी रह जाती है। चेतन रूप अक्षियुगल बन्द हुए तो सारा काम खतम हो गया। इसलिये विचार करके देखो कि जिन जिम्मेवारियों को तुम खतम करने को कह रहे हो, वे तो इसी समय आई हुई हैं। इसलिये हे प्रमाता, यह हृदय मेरे को दे दे। माँ तो साड़ी पहने हुये थी। जीव के ऊपर जो कपड़े हैं, ये कपड़े पाँच कोश हैं। एक-एक कोश का परिष्कार करके भगवान कहते हैं कि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय और विज्ञानमय से अलग करके देख। अपने हृदय से स्वयं ही एक-एक कोश हटाकर जो अन्तिम आनंदमय कोश है, वह हमारा पोषण करे। सहज तादात्म्य अध्यास और कर्मज तादात्म्य अध्यास इन दोनों के होते हुए जो भ्रमज तादात्म्य अध्यास है उसको पहले हटाना है।

सहज तादात्म्य अध्यास अहं के साथ, कर्मज तादात्म्य अध्यास भोग काल में शरीर के साथ है। इन दोनों से अतिरिक्त भ्रमज तादात्म्य अध्यास इन पाँच कोशों के सम्बन्ध से है। उसको हटाने से ही उस ज्ञान की प्राप्ति होती है। इन पाँच कोशों को कैसे हटाया जाये, स पर आगे विचार करेंगे।

२३–२–७५

कल्याणकारी वचन के द्वारा उस परब्रह्म परमात्म तत्त्व का प्रतिपादन वेद ने किया। जिसको हम शिव कहते हैं उसी के द्वारा परमात्मा का प्रतिपादन किया जाता है। इसी उपाय के द्वारा ही अर्थात् उस शिव वाणी के द्वारा, कल्याणकारी वचन के द्वारा ही मन भी सुमन हो जाता है। वह शिव वचन क्या है ? इसका विचार कल प्रारम्भ किया था। दीर्घकाल से त्रिविध तापों से संतप्त प्राणी को जव यह वचन सुनने को मिलता हैं कि वस्तुत: तू त्रिविध तापों से रहित है; तव उसको तुरन्त एक शांति का अनुभव होता है। लेकिन इसके साथ ही मन में यह प्रश्न उठता है कि फिर मैं इस दु:ख का आश्रय कैसे वना, क्यों वना, किसलिये वना, किसके द्वारा वना ? ऐसी अनेक शंकायें इसके सामने आती हैं। शास्त्र कहता है कि 'पहले यह निर्णय करो कि मेरा स्वरूप क्या है ? जब यह पता लगेगा कि मेरा स्वरूप क्या है तब इस शंका का समाधान मिलेगा। एक तरफ शिव वचन, शिव वाणी, का कथन है कि तुम नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभाव हो। दूसरी तरफ तुम्हारा अपना प्रत्यक्ष अनुभव है कि तुम अनित्य, दु:खी और अल्पज्ञ हो। दो वाणियों का विरोध हुआ। एक प्रत्यक्ष अनुभव और दूसरा परमेश्वर का वचन वेदवाक्य। अब इसका निर्णय कैसे हो ? शास्त्र ने निर्णय का तरीका बताया कि पहले यह विचार किया जाये कि मेरा स्वरूप क्या है ? मैं के स्वरूप पर विचार करने से पता लगता है कि मैं शब्द का प्रयोग कई तरफ से

किया जाता है। उनको एकत्रित करके शास्त्र ने कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय उपनिषद् में पाँच भागों में बाँटा। तैत्तिरीय उपनिषद् ने कहा 'सत्यं ज्ञानं अनंतं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन' ब्रह्म सत् है, चित् है, आनंद है, व्यापक है। यह कहने के बाद ही कहा कि वह है कहाँ? वह परब्रह्म परमात्मा गुहा में स्थित है। गुहा का वर्णन करते हुए कहा 'अन्नादाभ्यन्तरं प्राणः प्राणादभ्यन्तरं मन स्ततः कर्ता ततो भोक्ता' सबसे पहले मैं शब्द का प्रयोग, मैं का अनुभव कहाँ होता है? देह में सबसे पहले अनुभव होता है। मैं गोरा, मैं काला, मैं लम्बा, मैं नाटा, मैं कुबड़ा इत्यादि शब्दों के द्वारा मैं शब्द को हम शरीर के साथ लगाते हैं। यह मैं का एक रूप है। इतना ही नहीं, शरीर के अन्य धर्म भी जो प्रत्यक्ष सिद्ध नहीं, वे भी मैं में प्रतीत होते हैं। जैसे मैं ब्राह्मण। चूँकि मेरा शरीर ब्राह्मण पिता और ब्राह्मणी माता के द्वारा उत्पन्न हुआ, इसलिये मैं ब्राह्मण। अथवा वैश्य पिता, वैश्य माता के द्वारा उत्पन्न हुआ तो मैं वैश्य। यहाँ पर भी तो उत्पन्न होने वाले शरीर को लेकर ही निर्णय करते हो। मैं शब्द का प्रयोग सबसे पहले शरीर में उपस्थित होता है। शास्त्र कहता है कि वह सच्चिदानंद रूप है। यह शरीर तो जड़ दुःख, परिच्छिन्न, असत् रूप स्पष्ट ही प्रतीत होता है। शंका स्वाभाविक है कि मैं जब अपने को शरीर की दृष्टि से कहता हूँ तो मैं असत्, जड़, दुःखरूप हूँ, परिच्छिन्न हूँ, व्यापक नहीं हूँ। फिर शास्त्र कैसे कहता है कि मैं सत्, चित् भूमारूप हूँ। लेकिन विचार करने से पता लगता है कि मैं शब्द का प्रयोग हम केवल शरीर के लिये नहीं करते। तार आया कि तुम्हारे पिताजी बहुत बीमार हैं, मुँह देखना हो तो आ जाना। तार आने के साथ ही तुमने रेल का टिकट खरीदा और टिकट खरीदने में अधर्म भी कर दिया। आजकल जानते ही हो कि जल्दी टिकट खरीदना हो तो गलत काम करना पड़ता है। लेकिन पिता का मुख देखने के लिये अधर्म भी कर दिया। जब घर पर पहुँचे तो बाहर से ही बड़े जोर की

रोने का आवाज सुनकर निश्चय हो गया कि पिता जी चल वसे। अंदर पहुँचते हो, अभी पिता का शव वहीं पड़ा हुआ है, माँ लिपट कर कहती है—बेटा ! तेरा नाम लेते-लेते गये। और हम भी कहते हैं कि पिताजी से हमारा अंतिम मिलन न हो सका । पिता जी का शरीर तो वहाँ पड़ा हुआ है, उनका मुख देख रहे हो, अपने हाथ से पिता का देह संस्कार आदि भी करोगे । फिर कैसे कह सकते हैं कि पिता से मिलना नहीं हुआ। इसका मतलव है कि शरीर से अतिरिक्त कोई चीज है जिसे तुम मिलने आये थे यद्यपि शरीर के साथ अहं शब्द का प्रयोग होता है लेकिन वो मैं होता नहीं। इतना ही नहीं, सूक्ष्म दृष्टि से विचार करो कि जब तक सांस चल रही है तब तक यदि उस व्यक्ति को, अपने पिता को, तुम जोर से अँगूठा से भी दबा दो तो नालायक कहे जाओगे। यहाँ तक कि यदि पिता ने कोई वात कह दी और उसके जवाव में तुमने जोर से 'हूँ' कह दिया तो इतना कहने मात्र से पाप हो गया। पिता की कोई बात तुमको समझ में नहीं आई तो चुप रह जाओ, नीचा सिर करके आ जाओ, 'हुँ' कहना भी दोष का जनक है, तो फिर अँगूठे से दबाने की तो बात ही क्या। लेकिन उसी पिता के शरीर को चिता के ऊपर ले जाकर के अपने हाथ से कपाल फोड़कर घी डालकर जलाते हो और इस कर्म के करने से उलटा पुण्य होता है। यदि प्रमाद के कारण अपने पिता का अंत्येष्टि संस्कार न करो तो दोष के भागी होगे। इसीलिये यदि कोई व्यक्ति अपने पिता की अंत्येष्टि के समय नहीं पहुँच पाता है तो कहता है—क्या वताऊँ मेरे भाग्य में तो पिता का अत्येष्टि संस्कार करना भी नहीं लिखा था। जब तक प्राण चल रहा था तब तक तो 'हुं' कहना भी दोष का जनक और अब उल्टा उस शरीर को जलाना, कपाल क्रिया करना आदि सव पुण्य का जनक। शरीर तो वही है। इसीलिये मानना पड़ेगा कि शरीर के अन्दर कुछ है इतना ही नहीं यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो इस शरीर में आने के साथ ही सुखःदुःख का भोग शुरू हो जाता है। शरीर से उत्पन्न होने के

काल में भी कोई बच्चा बड़ी आसानी से उत्पन्न हो जाता है और किसी बच्चे को डाक्टर लोग शल्यक्रिया के द्वारा बड़े-बड़े चीमटों से खींचकर निकालते हैं। विचार करो कि वह बच्चा कितना कोमल है। आप लोग तो सब बापदादा और कोई-कोई तो परदादा होंगे। बच्चा इतना कोमल होता है कि यदि एक पसवाड़े से अधिक देर तक लेटा रहे तो उसके सिर के अन्दर गड्ढा हो जाता है। इतने कोमल बच्चे के सिर को जब शल्यक्रिया के द्वारा पकड़ कर निकाला जाता है तो उसको कितना कष्ट होता होगा, इसका अनुमान कर सकते हो। एक बच्चा तो ऐसे कष्ट से जन्म लेता है। और दूसरा कुछ नहीं, आराम से पैदा हो गया। अब उस समय उसने कोई कर्म तो किया नहीं। फिर उसके सुख:दु:ख के भोग का क्या कारण है ? इस शरीर ने तो कोई कर्म ऐसा नहीं किया जिसके कारण उसको यह दु:ख होता, और होता अवश्य है, तो मानना पड़ेगा कि इस शरीर से भिन्न कुछ है जिसने पहले कोई पाप कर्म किये हैं। दूसरी तरफ अनेक लोग देखने में आते हैं जो तरह-तरह के पाप कर्म करते हैं परन्तु इस जन्म में कोई भोग भोगते ही नहीं, बच जाते हैं। कई लोग स्वयं जन्मभर चोरी करते रहते हैं और उनके मरने के दस दिन में ही पुलिस वाले, कर अधिकारी पकडने आ जाते हैं, उनके जन्मकाल में कुछ नहीं होता। हमने कई एक ऐसे लोगों को देखा, आप लोगों ने भी देखा होगा। मनुष्य यही कहता है कि उसका भाग्य अच्छा था कि उसके सामने कुछ नहीं बिगड़ा क्या कारण है ? उसने खुद वे सारे दोष और पाप किये; लेकिन क्या वे सारे भोग समाप्त हो जायेंगे ? कृत नाश और अकृत अभ्यागम के दोष के विचार से मानना पड़ता है कि कुछ ऐसा है जो यहाँ कर्म किया उसे आगे जाकर भोगेगा। इन अनेक कारणों से पता लगता है कि शरीर के अतिरिक्त मैं कुछ हूँ। वह क्या हो सकता है ? प्रथम उपस्थित हुआ प्राण। लगता है कि शायद प्राण-वायु ही मैं हूँ, क्योंकि प्रत्यक्ष भी यही कहते हैं कि जब तक प्राणवायु चलती है तब तक मनुष्य जीवित कहा जाता है। प्राणवायु चलना

बन्द होने पर मृत कहा जाता है। प्राणवायु चूँकि यहाँ से गई, इसलिये यह प्राणवायु कहीं दूसरी जगह जाकर कर्मभोग भी कर लेगी। यहाँ भी यह प्राणवायु कहीं से,आई है। इसलिये बहुत से लोग प्राणवायु को ही आत्मा मान लेते हैं। जब प्राणवायु का विवेचन करते हैं तो एक विचित्र परिस्थित देखने में आती है। मैं तो हूँ चेतन और प्राण है जड़। प्राणवायु कुछ जानती नहीं है। विचार करो जब अपने को गहरी नींद आती है तो प्राण-वायु तो चलती रहती है, और कई बार तो ऐसी चलती है कि लोग पड़ोसी की नींद को भी उड़ा देते हैं, इतने जोर से चलती है; लेकिन उस समय में न देखते हो, न सुनते हो. न कुछ जानते हो कि कुछ नहीं है। यदि प्राण ही आत्मा होता तो सबका राजा होता। क्या कोई कहेगा कि सम्राट् तो हाथ में तलवार लेकर मोर्चे पर जा रहा है, बाकी सब सिपाही, पल्टन सोये पड़े हैं? विरमंति न सैनिक:' जब सम्राट् हाथ में तलवार लेकर युद्ध करने जा रहा है तो सिपाही और अफसर सोते नहीं पड़े रहेंगे। इसी प्रकार यदि यह प्राण आत्मा होता तो सोते समय उसके जागते रहते बाकी आँख, कान इत्यादि सब विराम को प्राप्त नहीं हो सकते थे। इसलिये यह जँचता नहीं कि प्राण आत्मा हो सकता है। इतना ही नहीं, 'मैं प्राण हूँ' ऐसा किसी को अवबोध भी नहीं होता। प्राण उत्पत्ति और नाश वाला है। जब साँस छोड़ते हो तो प्राण बाहर जाता है और फिर खींचते हो तो प्राण अन्दर आता है। प्राणों के बाहर जाने मात्र से मैं मर गया, ऐसा अवबोध नहीं होता। इसलिये प्राण भी आत्मरूप नहीं माना जा सकता। 'प्राणादभ्यांतरं मन:' कहते हैं कि प्राणों को छोड़ो मन को ही आत्मा मान लो क्योंकि यह तो जानता भी है, और मैं-मैं अवबोध भी कर रहा है। मैं और मेरा ऐसी इसको प्रतीति भी निरंतर होती रहती है। इसलिये इसे ही आत्मा मान लो। लेकिन मन को आत्मरूपता भी सिद्ध नहीं होती क्योंकि मन हर क्षण में बदलता है। सबेरे जब अपने उठकर बड़े शांत भाव से धोती लेकर गंगा-स्नान करने जा रहे हैं;

उस समय अपने को लगता है कि संसार के जितने पदार्थ हैं, सबमें कोई तत्त्व नहीं है। उस समय यह मन बिल्कुल शांत है। फिर छः घण्टे के बाद जब साढ़े बारह बजे दुकान में बैठे हुए हैं, एक तरफ से सेल्स टैक्स अफसर, एक तरफ वैल्थ टैक्स अफसर, एक तरफ से इन्कम टैक्स अफसर आ रहा है। एक तरफ से मीसा के आदमी ने नोटिस दे रखा है कि तुम्हारे घर में जो विदेशी रेडियो है, वह कहाँ से आया है। ग्राहक अलग खड़े होकर कह रहे हैं कि हमें भुगताओ, नहीं तो हम अगली दुकान पर जायें। उस समय मन पूर्ण अशांत है। अब विचार करो कि मन उस समय शांत और इस समय पूर्ण अशांत है, इसलिये यह विकारी है इतनी जल्दी-जल्दी बदलने वाला है तो यह भी कैसे आत्मा होगा क्योंकि 'अविनाशी वा अरे आत्मा अविच्छित्तिधर्मा, सामान्य दृष्टि से मन को आत्मा मान लेते हैं, ठीक है लेकिन यह भी चीज बैठती नहीं। 'ततः कर्ता' अब लगता है कि अंदर में जो यह कर्त्ता है, सबको कराने वाला विज्ञानमय कोश है, सही शायद आत्मा होगा, अर्थात् मैं पद का वाच्य होगा। यह बात जँचती है लेकिन जब देखते हैं कि गहरी नींद में यह कर्ता भी नहीं रह जाता है। गहरी नींद में मैं कर्ता हूँ, यह नहीं रहता। यदि आत्मा विज्ञानमय कोश को भी मान लो तो सोये हुए आदमी को मरा हुआ आदमी मानना पड़ेगा क्योंकि आत्मा वहाँ नहीं है इसी दृष्टि को लेकर कहीं-कहीं लोक में भी कह देते हैं 'निद्रा च कहिये विना काल मूआ क्योंकि विज्ञानमय कोश काम नहीं कर रहा है। निद्रा वाला मरे जैसा कहा जाता है, बिल्कुल मरा नहीं मान सकते। फिर सुषुप्ति में रहने वाले भोक्ता को ही आत्मा मान लिया जाये क्योंकि भोक्ता उस समय में भी बना रहता है। 'मैं बड़े सुख से सो रहा हूँ। सुख का भोग तो वहाँ भी बना रहा लेकिन जाग्रत स्वप्न में आने पर उस सुख का आभास नहीं रह जाता, और जाग्रत में- जब पुण्यभोग का उदय होता है तो थोड़ी देर के लिये अंतर्मुख वृत्ति बनने पर भी वह उत्पत्ति और नाश वाली बनती है। विज्ञान तो गहरी नींद में नहीं

रहता। कर्त्तापने का भान वहाँ नहीं है। और आनंद का, भोक्तापने का भान जाग्रत स्वप्न में सब समय नहीं रहता है। इसलिये उसको भी आत्मा मानना बनता नहीं। तब शंका होती, है कि फिर यह सब नहीं तो आत्मा चीज कौनसी है। फिर मैं कौन है ? क्योंकि प्रसिद्ध तो यही हैं। इन चीजों के साथ ही मैं लगाते हैं। देह, प्राण, मन, बुद्धि, कर्त्ता, भोक्ता के साथ मैं को लगाते हैं। इससे अतिरिक्त तो कुछ दीख नहीं रहा है, और इनमें से कोई आत्मा सिद्ध नहीं हो रहा है। फिर आत्मा कहीं अन्यत्र मिलेगा। बैकुण्ठ लोक, गो लोक में जायेंगे तो वहाँ शायद परमात्मा का दर्शन होवे, यहाँ तो नहीं मिला; लेकिन वेद ठिकाना बता रहा है 'यो वेद निहितं गुहायां'। जैसे डाभ (कच्चा नारियल) का पानी कहाँ मिलेगा ? ठिकाना बता दिया कि डाभ में मिलेगा। अब आदमी चारों तरफ देखता है, ऊपर-नीचे भी करके देखता है। कि कहीं से पानी टपक ही नहीं रहा है। पहले उसको लगता है कि यह कहाँ से ठोस माल मेरे हाथ में पकड़ा दिया। इसमें तो कहीं नाखून भी नहीं गड़ रहा है और इसमें इसने पानी बता दिया। चारों तरफ देख लिया। उससे कहता है—भले आदमी ! क्यों मेरे को ठगता है मुझे पानी कहाँ मिलेगा। वह कहता है कि इसी में है। फिर उसको युक्ति से दिखाना पड़ता है। बिना युक्ति से देखने पर लगता है नहीं है, लेकिन यदि आप्तपुरुष कहता है कि इसमें है, तो वहाँ नहीं है, ऐसा नहीं, युक्ति से देखना पड़ेगा कि कहाँ है? ये जो पाँच कोश हैं ये आत्मा को ढाँकते भी हैं और आत्मा की उपलब्धि का साधन होने से इनके विचार से ही उनका पता भी लगता है। डाभ का पानी सुरक्षित इसलिये रहता है कि चारों तरफ से अच्छी तरह से ढका हुआ है। यदि ऐसी अच्छी तरह से ढका हुआ न होता तो वह पानी सुरक्षित नहीं रहता, सूख जाता या चूकर खतम हो जाता। वही इसको ढाँकता भी है और वही इसकी उपलब्धि का साधन भी है और वही इसको सुरक्षित भी रखता है। इसी प्रकार इन पाँच कोशों के कारण ही इसके अन्दर रहने वाले मैं का पता

नहीं लगता, लेकिन इन पाँच कोशों के द्वारा ही इस मैं का पता भी लगना सम्भव है। यदि ये शरीर, प्राण, मन, बुद्धि, कर्त्ता, भोक्ता न होते तो कोई इस आत्मतत्व को ढूंढ़ने चलता भी नहीं। ये पाँच कोश हैं, तभी तो हम लोग इसे ढूंढ़ने चल रहे हैं नहीं तो कौन ढूंढ़ने के लिये जाता। जैसे वहाँ डाभ के सिर को फोड़ना युक्ति है। जिसको यह पता नहीं है, वह बगल में मारने लगता है, लेकिन इससे कभी पानी नहीं निकलेगा। उसी प्रकार विवेक यहाँ युक्ति है। विवेक के द्वारा तो मैं का पता इन्हीं पाँच कोशों में लगता है, और अविवेक के द्वारा इन्हीं पाँच कोशों से वह ढका रहता है और अहं का पता नहीं चलता है। विवेक इसीलिये मोक्ष का कारण और अविवेक इसीलिये बन्ध का कारण है। "अविचारकृतो बंधः विचारेण निवर्तते।" बंधन का कारण अविचार, और विचार करने के साथ ही इसकी निवृत्ति हो जाती है ? विवेक ही विचार है। बड़ा सीधा सा विवेक है। मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ ऐसा जाना तो सिद्ध है कि मैं गोरा और काला नहीं। मैं गोरा हूँ, इस बात को मैंने जाना। मैं काला हूँ इसका ज्ञान भी मुझे हुआ। देह के गोरे और कालेपन को जानने वाला जैसा मैं, वैसे ही प्राण चल रहा है, नहीं चल रहा है, इसको भी जानने वाला मैं। प्रातःकाल मन शान्त है और मध्याह्न काल में मन अशान्त है, इन दोनों बातों को जानने वाला मैं। जाग्रत स्वप्न में कर्त्ता हूँ और सुषुप्ति-काल में या पुण्योदय होने पर भोक्ता हूँ, इस बात को जानने वाला मैं। जानने वाला मैं तो सब समय है। कोई समय ऐसा नहीं जब मैं हूँ और जान नहीं रहा हूँ। बाकी चीजें आईं और चली गईं। लेकिन जो इसको जानने वाला है, वह वैसा का वैसा हमेशा मैं ही हूँ, जिसको जानता हूँ, वह तो बदल जाता है। अशांत मन को मैंने जाना, थोड़ी देर में वह शान्त मन हो गया। जवान शरीर को जाना, थोड़े सालों में वह बुढ्ढा शरीर हो गया। बाकी चीजें बदल गईं, जिसे जानता रहा, वह बदलता रहा लेकिन जो जानने वाला मैं, वह तो कभी नहीं बदला। जैसे मैंने बुढ़ापे को जाना,

वैसे ही मैंने वालकपन और जवानी को जाना था। जब विवेक करके देखते हैं कि देखना और दीखना दो चीजें हैं। जो चीज दीखती है, वह देखती नहीं, और जो चीज देखती है, वह कभी भी दीखती नहीं। गहरी नींद के अन्दर मैं भाव नहीं रह जाता, यह भी जानता हूँ। इसीलिये भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं "अहमादि विकारास्ते तद्भावोयमप्यथ' केवल मैं इसके भाव को जानता हूँ, ऐसा नहीं, वल्कि सुषुप्ति के अन्दर मैं कुछ नहीं जानता था, इस वात को विना अहं की वृत्ति के भी जाना, तव न कह रहा हूँ कि मैं कुछ नहीं जानता था। इसी प्रकार समाधि के अन्दर किसी चीज का अववोध नहीं रहता। अहं भी खतम हो जाता है, तभी निर्विकल्प समाधि होती है। सुषुप्ति के अन्दर मैं कुछ नहीं जानता था, समाधि के अन्दर मैं लीन हो गया, केवल परब्रह्म परमात्मतत्त्व ही रह गया था। वह परब्रह्म परमात्मतत्त्व ही वृत्ति के नष्ट होने पर प्रकाशरूप था। तभी न कहते हो कि आज समाधि बढ़िया लगी थी। सव कुछ लीन हो गया था। कुछ भी वहाँ नहीं रह गया था। न केवल अहं भाव को, वल्कि अहं भाव के अभाव को भी जो जानता है पर "यस्स्वयंनानुभूयते"। सव कुछ उसके द्वारा अनुभव किया जाता है लेकिन उसको कोई अनुभव नहीं कर सकता क्योंकि वह तो अनुभवस्वरूप है। जब मैं का विवेक करते हैं तव पता लगता है कि मैं केवल ज्ञानस्वरूप है। इसके सिवाय जितने रूप हैं, वे उसके सामने आते और जाते हैं और यह रूप ऐसा का ऐसा वना रहता है। लेकिन मनुष्य भ्रम के कारण इस वात को देख नहीं पाता। जैसे साधारण आदमी को यदि हीरे की वढ़िया माला दे दो तो वह हीरों की चमक देखता रहता है। जिसमें पिरोया गया है उसको नहीं देखता। सव हीरों के अन्दर पिरोया हुआ पदार्थ मौजूद है। भगवान ने भी गीता में कहा "सूत्रेमणिगणा इवं"। जितने भी हीरे हैं, वे सारे के सारे पोने वाले पदार्थ में गुथे हुए हैं लेकिन मनुष्य हीरे की चमक देखकर, जिसमें पोया गया है, उसको भल जाता है। इसी प्रकार जितने भी ज्ञान होते हैं, उन

सबमें जानने वाला ज्ञानस्वरूप तो पोया हुआ है। वह न हो तो भाव, अभाव, सुख-दुःख, शांत-अशांत इन सब चीजों को कौन जाने। लेकिन साधारण मनुष्य जिस चीज को जान रहा है, उसकी तरफ ध्यान देता है, वह सूत्र उसके हाथ से निकल जाता है। विवेक इसी सूत्र को पकड़वाता है।

एक बार किसी गाँव में एक बहुत बड़ा मेला लगा। पुराने जमाने में गाँवों में मेला लगा करता था और सारे गाँव वाले मेला देखने जाते थे और आसपास के गांव वाले भी देखने जाते थे। कलकत्ते में रहने वाले क्या मेला देखने जायें, यहाँ हर नुक्कड़ ही एक मेला है। गाँव के सारे लोग मेला देखने गये। उसमें एक व्यक्ति अपनी पत्नी को साथ लेकर मेला देखने गया। पुराने जमाने में जल्दी ब्याह हो जाता था। उसकी पत्नी अभी पन्द्रह-सोलह साल की थी। वह मेला देखने लगी तो पहले उसने कभी इतनी चीजें देखी नहीं थीं इसलिये मेला देखने में उसका बड़ा मन लग गया। कहीं आगरे का जूता था, उसको देखने लगी तो कहीं चाँदी की तगड़ी को देखने लगी। लेकिन ये सब चीजें देखने में उसके पति का मन नहीं लग रहा था। वह सोच रहा था कि जल्दी किसी खोमचे की दुकान पर चलकर रबड़ी खाई जाये। इसलिये वह उससे कहे कि जल्दी चल और वह कहे—ठहरो, चलती हूँ। चलो आ रही हूँ। आदमी ने सोचा कि इसके साथ रहूँगा तो ऐसे ही समय लगाती रहेगी, मैं चला जाऊँगा तो आ जायेगी। आगे जाकर उसने बढ़िया लच्छेदार रबड़ी खरीदी, असली वाला मामला, ब्लाटिंग पेपर वाला नहीं। रबड़ी खाने लगा तो भूल गया कि पत्नी भी साथ आई हुई थी। इधर जब वह तगड़ी इत्यादि देख-दाखकर घूमकर देखने लगी कि पति कहाँ गया, वह वहाँ नजर नहीं आ रहा था। तब तक शाम हो गई। वह गाँव की बहू थी, बेटी तो थी नहीं। घूँघट निकाल कर देख रही थी, उसे कौन पहचाने। किसी से कहा भी नहीं, पूछा भी नहीं। वैसे भी पति का नाम नहीं लेना है। थोड़ी देर मे मेला उठ गया, दुकानें बन्द होने लगीं। वह घबरा गई। दूर से आई हुई थी। वहाँ पर एक तेलिन

थी। उसने देखा कि यह बार-बार इधर-उधर आती जाती है। उसका हाथ पकड़कर पूछने लगी—क्या बात है? उसने कहा—मेरा पति नहीं मिल रहा है। तेलिन ने सोचा कि अपने को काम कराने के लिये एक नौकरानी चाहिए, ठीक मिल गई। जवान लड़की है कोल्हू पर बैठकर पेरती रहेगी। उससे कहा—चल मैं तुझे पति से मिला दूँगी। उसका पति अपना सामान बाँध रहा था तेलिन ने जाकर कहा कि एक नौकरानी ले आई हूँ। अपना सामान बाँधकर वे लोग वहाँ से चल दिये। वह देखने लगी कि मेरा गाँव तो दूसरी तरफ था। उसने दो-चार बार बीच-बीच में धीरे से तेलिन से कहा भी कि मेरा गांव उधर है वह कहे कि चुप हो जा तो वह चुप हो जाये। अब रात को बेचारी को नींद भी आ गई अगले दिन न जाने वे लोग किस गांव में पहुँच गये। वह तेली तो जहाँ जाये अपनी चक्की लगायें और उससे कहे कि तू पेरने के काम पर बैठ जा। उसने भी सोचा कि यही मेरे भाग्य में लिखा होगा। वहीं उनके साथ रह कर कोल्हू का काम करती रही। होते होते पांच-सात साल बीत गये। धीरे-धीरे वह तेली भी जगह-जगह घूमते हुए परेशान था। मेले में आमदनी तो खूब होती है लेकिन रोज-रोज कोल्हू एक जगह से उठा, फिर दूसरी जगह लगाओ। अब उमर आने लगी तो उसने सोचा कि किसी बड़े शहर में कोल्हू लगायें और टिककर काम करें। चाहे आमदनी थोड़ी ही हो, अपने शांति से बैठकर खायें। वहाँ एक बहुत बड़ा शहर देखकर उसने वहाँ अपने कोल्हू लगा लिया और अपना गुजारा करने लगा। वह लड़की तो साथ थी ही। वहीं आसपास के जो सेठ लोग होते थे, उनकी औरतें, या जिनके बच्चे होने वाले हों तो ऐसी औरतें तेल की मालिश करवाती थीं। आजकल करवाती हैं या नहीं पता नहीं। नाइन तेल की मालिश किया करती थी और तेल यह दिया करता था। कुछ दिनों में इसने विचार किया कि यहाँ काम तो ज्यादा है नहीं। दुकान पर मुझे बैठना ही पड़ता है, इसलिये कोल्हू पेरने का काम तो वैसे ही हो जायेगा। इसी

को मालिश के लिये भेज दिया करूँ, तेल और तेल मसलाई दोनों के पैसे मिल जायेंगे। उसने उसे उसी काम में लगा दिया। एक बार वह कहीं तेल की मालिश करने गई तो मालिश करते-करते सेठानी से बातचीत होने लगी। उसने कहा—तू नाइन लगती नहीं, तेलिन तू है नहीं, फिर तू मालिश का काम कैसे करती है। उसने कहा कि यह तो मेरे भाग्य की बात है, जाने दो, जब जोर दिया तो कहने लगी कि न मैं तेलिन हूँ, न नाइन हूँ। हूँ तो मैं बनियानी, वैश्य के घर की हूँ; लेकिन मेरा भाग्य खोटा है जो यह सब मुझे आज करना पड़ रहा है। उसके मन में जरा खटका। पुराने लोग थे, विचार किया कि अपनी जात की होकर यह ऐसा काम करती है, यह ठीक नहीं। आजकल के लोग होते तो कहते कि बहुत अच्छा करती है, ऐसा ही करना चाहिये। कोई ब्राह्मण बाटा शू कंपनी की दुकान खोले तो कहते हैं कि उसका काम बहुत अच्छा है। सेठानी ने पूरी बात पूछी। उसने कहा—अब जाने दो, इस बात का निर्णय करने से क्या होगा। कहा—फिर भी बता तो सही। तब उसने सारा किस्सा बताया कि मैं इस प्रकार से बच्ची थी, पति के साथ मेला देखने गई थी और वहाँ पर खो गई। मुझे घबराहट के अन्दर देखकर तेलिन ने कहा कि पहुँचा दूँगी। मैं इनके साथ हो गई। ये लोग मुझे दो समय रोटी और दो कपड़े पहने को दे देते हैं। उसने पूछा कि तुझे कुछ तो याद होगा। इतने दिन से तेली के साथ रहते-रहते उसके पहले के संस्कार कुछ कम पड़ गये थे। उसने सोचा, चलो अब पति का नाम बता ही दो। पहले तो संकोच करती थी। अब उसने कहा कि मेरा अमुक गाँव और पति का अमुक नाम है। उस औरत को बड़ा आश्चर्य हुआ, उसने कहा कि उस गाँव की तो मैं भी हूँ। तू किसके घर की है। उसने घर भी बता दिया, वह घर उसकी कुछ रिश्तेदारी में ही था। उसने कहा कि तू अमुक की बहू तो नहीं है। उसने तो जात ही बताई थी कि बिन्नाणी के घर की हूँ। उसके मूँह से पूरा नाम सुनकर वह रोने लगी कि हाँ वही मेरे पति हैं, आदमी का प्रत्यक्ष

नाम लिया कि नारायण बिन्नाणी के घर की हूँ। वह भी रोने लगी कि सुना तो मैंने भी था, और बड़ा दुःख हुआ था। चारों तरफ आदमी भी भेजे लेकिन कुछ पता नहीं चला। बड़ा अच्छा हुआ जो तू मिल गई। अब उस बेचारी का दिल धुड़क-धुड़क करने लगा कि इतने साल हो गये। अब तक पति देव ने किसी और को पत्नी न बना लिया हो। उसने कहा—जाने दो, अब उस घर में जाकर कहाँ रहूँगी। वह औरत कहने लगी कि अरे, वह लड़का तो ऐसा सोने का निकला कि हमने वहुत कोशिश की कि दूसरी शादी कर ले, लेकिन उसने नहीं की। कहने लगा कि कभी न कभी भगवान मुझे उससे मिला देंगे तो मिलूँगा, अब मैं किसी और से शादी करने वाला नहीं हूँ। उसी समय उसने तेली को बुलाकर डाँटा कि यह तूने क्या काम किया। तेली ने कहा—मैं क्या करूँ, तेलिन ले आई थी। मैंने इसे अपने पास अपनी बेटी की तरह रखा, इस पर मेरी कोई कुदृष्टि नहीं थी। सेठानी ने कहा, चलो इतना तो अच्छा व्यवहार किया। उसका पति आ गया। दोनों का मिलन हो गया और आनन्द से रहने लगे।

यह दृष्टांत है। जैसे पति-पत्नी दोनों मेला देखने गये वैसे ही यहाँ पर सारी सृष्टि रूपी मेला लगाकर इसके अन्दर विज्ञानात्मा और परमात्मा दोनों उस मेले को देखने आये। परा प्रकृति अर्थात् जीव और अपरा प्रकृति ईश्वर दोनों ही इस संसार रूपी मेले को देखने आये। 'स्वयमेव जगद् भूत्वा प्राविशत स्वयं ही जगत् रूप से बनकर उसको जीवरूप से देखने को आये हुए हैं। परमात्मा और विज्ञानात्मा दोनों मेला देखने के लिए इस संसार में आये। इस संसार का मेला देखने वाला जो परमात्मा है उसका तो स्वाभाविक प्रेम ज्ञान की तरफ है, द्रष्टा की तरफ है, इसलिये नित्य साक्षी है उसमें तो कभी कोई कर्त्तृत्व भाव नहीं आता। विज्ञान आत्मा में तो बुद्धि प्रधान है, इसलिए उसमें कर्त्तृत्व प्रधान है। वह सत्वगुण का जो कार्य आनन्द रूप प्रकाश हैं, उसकी तरफ है। रवड़ी खाने की तरफ है। और यह रजोगुण का कार्य चाँदी, तागड़ी की तरफ

लगा हुआ है। दोनों अपने-अपने कार्य की तरफ जा रहे हैं। इसीलिए विज्ञानात्मा और परमात्मा इस संसार रूपी मेले में आकर एक दूसरे से बिछुड़े हुये हैं। विज्ञानात्मा जो जीव है, वह परमात्मा से बिछुड़ कर संसार चक्र रूपी कोल्हू की नौकरी करने लगता है। संसार चक्र भी एक कोल्हू है इस संसार चक्र के कोल्हू के अन्दर इसकी प्रवृत्ति परमात्मा से विछुड़ जाने के कारण ही हुई। घूंघट रखता है, इसलिए पता नहीं लगता। अज्ञान का पर्दा ही घूंघट है। अज्ञान पर्दे से वह अपने को ढांचे हुए है, इसलिये उसको पता नहीं लगता। वह तेली का काम कर रहा है और अनादि काल से गोल-गोल घूम रहा है। कमाता है, खाता है, सोता है, फिर कमाता है, खाता है और सोता है। जीता है, मरता है, फिर ब्याह करता है, फिर बच्चे पैदा करता है। फिर वे वच्चे उसे रोते हैं। फिर दूसरी जगह वच्चे पैदा करता है। गोल-गोल घूमे जा रहा है और पहुँचता कहीं नहीं है। कोल्हू के बैल की तरह चल रहा है। तेली ने सोचा कि खाली इतना ही नहीं, इससे कुछ और भी काम करवायें। अब इसको नाइन का काम, तेलमालिश का काम भी दे दिया अर्थात् इसके हृदय में स्नेह रूपी बीज डाल दिया। स्नेह रूपी बीज के कारण हो कभी न कभी इसके मन में यह प्रश्न उठता है कि मैं इतने लोगों से प्रेम करता हूँ, स्नेह करता हूँ लेकिन क्या कारण है कि यह स्नेह कभी मेरे हृदय को भर नहीं पाता। बच्चों से प्रेम करता हूँ, थोड़े दिन में बच्चा बड़ा हो गया, उसकी शादी हो गई तो अब उसकी पत्नी ही उसके प्रेम का विषय बन गई। इस प्रकार जिस-जिस चीज से प्रेम करता हूँ, कुछ समय के वाद वह चीज मेरे प्रेम को ग्रहण नहीं करती। यदि उसको तेलमालिश का काम न मिला होता, अर्थात् हृदय के अन्दर स्नेह प्रदीप को जलाने का अवसर न मिला होता तव तो यह घूमता ही रहता; लेकिन इसके कारण इसके हृदय में भूख मालूम पड़ती है कि मैं यह काम करता तो हूँ, फिर भी हृदय भरता नहीं है। थोड़े दिन के लिये हृदय भरता है

लेकिन सामने वाला साथ छोड़ जाता है। फिर वह सोचता है कि इन सबमें फिर मेरा क्या है ? यह है दूसरे जाति वाले से, वैश्य से सम्पर्क होना। दूसरा वैश्य गुरु है जब मनुष्य के हृदय में प्रेम की भूख उठती है तो फिर वह सुनता है कि सम्भवतः परमात्मा के प्रेम से हृदय भर सके। ऐसा सोचकर जब इसको गुरु का संग मिलता है तो वह कहता है कि यह तो देख, तू है किस जाति का ? लगता तो नहीं है कि तू तेली या नाई की जाति का हो। शरीर से लेकर बुद्धिपर्यन्त सारे तो देखने वाले पदार्थ हैं। इसलिये तू इनकी जाति का नहीं लगता है। तू तो इनसे भिन्न साक्षी परमात्मा की जाति का है। वह कहता है कि बात तो ठीक है लेकिन अब क्या करूँ। गुरु बताता है कि तू दिखने वाला नहीं, तू तो देखने वाला है। उसे लगता है कि वात तो ठीक है। जहाँ उसने यह सूत्र समझा कि गुरु कहता है कि तू तो मेरी ही जाति का है, मेरी ही रिश्तेदारी में है। जैसे मेरी ब्रह्मस्वरूपता है, वैसे ही तुम्हारी है। जीव को संदेह होता है तो गुरु कहता है कि मैं भी तुम्हारे जैसा ही था। मैंने उस तत्व का साक्षात्कार किया है। यह सुनते ही मनुष्य को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि मैं भी कर सकता हूँ। विश्वास पूर्वक विचार से ही परमात्मा का साक्षात्कार तुरन्त हो जाता है और फिर यह परमात्मा और विज्ञानात्मा जो अलग हुए-हुए थे, नित्य संयोग से एक होकर रहते हैं। यह, पाँच कोषों का विवेक शास्त्रों ने वताया, जिसका शिव वाणी के द्वारा ही पता लगता है। वस्तुतः विज्ञानात्मा का स्वरूप परमात्मा से अभिन्न है। इसमें संदेह होता है। उस संदेह को देह से लेकर आनंदमय तक का विचार करने से, विवेक करने से पता लग जाता है कि देखने वाला तत्व परमात्म-स्वरूप ही मेरा सच्चा स्वरूप है। अल्पज्ञता, दुःख इत्यादि दिखने वाली चीजें हैं, वे देखने वाली चीज नहीं हैं। इसकी प्राप्ति का क्या स्वरूप है, इस पर आगे विचार करेंगे।

२४-२-७५

चतुर्थ मंत्र

परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का वर्णन करके, उस स्वरूप को जो यथावत् शास्त्र के द्वारा समधिगत कर लेता है, वही समग्र दुःखों के पाश से छूटता है और उसी को अन्दर सुमनता की प्राप्ति होती है, यह बता रहे थे। 'शिवेन वचसा' वह शिव वाणी क्या कहती है ? जो जीव अपने को इस प्रकार से बंधन में समझता है, उसको शिव वाणी कहती है कि तेरा स्वरूप बंधन नहीं है। ऐसा सुनने पर कि मेरा वह स्वरूप नहीं है, उसको अनुभव में कैसे लावें ? इस शंका की निवृत्ति करते हुए बताया था कि जैसे मेरे सामने कभी-कभी आने वाली चीज हो, उसको अपना स्वरूप मानकर मैं अपने को बद्ध समझता हूँ वैसे ही। अब प्रश्न होता है कि यदि इन पंचकोशों को, शरीर आदियों को, मैं अपना स्वरूप न समझूँ तो तुम, मैं, यह, इत्यादि जो अलग-अलग प्रतीतियाँ हो रही हैं, ये कैसे होंगी ? हर शरीर में अलग-अलग जीव की प्रतीति होती है, उसकी व्यवस्था फिर कैसे बनेगी ? मन को लेकर, या शरीर को लेकर, या फिर बुद्धि को ही लेकर तो जीव संज्ञा कही जाती है। फिर अलग-अलग शरीरों में अलग-अलग अहं क्यों होता है ? अलग-अलग मैंपने की प्रतीति क्यों होती है ? ये शंकाएँ होती हैं। लेकिन विचार करने से पता लगता है कि वस्तुतः शरीरों को लेकर ही जीव बँधता है, आत्मा तो स्वतंत्र ही है। किसी भी चीज को यदि जानो, किसी चीज को तुम देखो या अनुभव करो, तो पता लगेगा कि यह चीज दूसरी चीज से अलग है या नहीं। जिस चीज का तुमने कभी अनुभव किया ही नहीं, उस चीज के बारे में यह कहना कि यह कई प्रकारों की है, क्या युक्तिसंगत है ? साड़ी तुम्हारी देखी हुई है, तब तुम कहते हो कि साड़ियाँ अलग-अलग होती हैं। यहाँ साड़ी अनुभव की हुई है तब ऐसा कहते हो। पर यदि साड़ी का तुमने अनुभव ही नहीं किया तो यह कैसे कह सकते हो कि साड़ियाँ अलग-अलग होती हैं। जैसे कपड़ों में तुमको पता लगता है कि अमुक

कपड़ा अमुक कपड़े की अपेक्षा गरम है या ठण्डा हैं। अब अगर हम प्रश्न पूछ लें कि ऐस्बैस्टस की बनी हुई चद्दर गरम होती है या ठण्डी ? वह चद्दर तुमने देखी ही नहीं तो उसके बारे में कुछ नहीं कह सकते। अगर अंदाज से कहना चाहोगे तो वह गलत ही होगा। अब आत्मा का क्या तुमने कभी अनुभव किया है कि तुम कहते हो कि हरेक शरीर में आत्मा अलग-अलग है। तुमने तो अनुभव शरीरों का किया है, बस इतना ही तुम्हारा अनुभव है। अपने मन को छोड़कर किसी दूसरे के मन को भी तुमने देखा नहीं। मन का भी शरीरों से अनुमान करते हो। मुँह पर मुस्कराहट देखते हो तो अनुमान करते हो कि यह आदमी खुश है, आँखों में लाली देखते हो तो समझते हो कि यह आदमी नाराज हैं। गले में गद्‌गद्‌पना देखते हो तो समझते हो कि यह दुःखी है। शरीर की भिन्न-भिन्न चीजों का ही तो प्रत्यक्ष करते हो और उससे ही अनुमान लगाते हो। बहुत बार यह अनुमान सच्चा होता है और बहुत बार झूठा भी होता है। आदमी दुःखी होता है, फिर भी अन्दर ही अन्दर अपने आँसुओं को रोक कर ऊपर से हँसता रहता है। लोग समझते हैं कि सुखी है लेकिन उसके हृदय में बड़ा दुःख है। दूसरी तरफ कोई मनुष्य पूर्ण सुखी होता है और अपने को दुःखी ही बता देता है। रो भी देता है, और ऐसा रो देता है कि अड़ोसी-पड़ोसी उसकी मदद करने को आ जाते हैं। वास्तव में उसको दुःख कुछ नहीं है। मनुष्य के शरीर संस्थान को देखकर, शरीर की क्रियाओं को देखकर, शरीर को देखकर तुम मन के विषय में अनुमान लगाते हो। मन का भी प्रत्यक्ष करते नहीं। जब मन का ही प्रत्यक्ष नहीं तो फिर उसके बहुत आगे का जो आत्मा है, उसको तुम क्या जानते हो ? जिस आदमी को जानते ही नहीं, उसके बारे में यह कहना कि हरेक शरीर में आत्मा अलग-अलग है, तो क्या यह केवल बिना विचार करके अपनी मान्यता को कहना नहीं है। जो शंका होती है कि हर शरीर के अन्दर अलग-अलग आत्मा की व्यवस्था कैसे ? यह केवल सुनी-सुनाई बात से शंका करते हैं। केवल सुन रखा है कि

हरेक शरीर में अलग-अलग जीवात्मा है। इसलिये कहते हो कि यह व्यवस्था कैसे? वस्तुतः अनुभव केवल शरीरों के भेद का है। आत्मा का जब दर्शन होता है, अनुभव होता है तो उसमें कभी नाममात्र को भी भेद मिलता नहीं। आत्मदर्शन करने वाले को यदि भेद प्रतीति होती तो समस्या होती। आत्म प्रतीति करने वाले को एकता की प्रतीति होती है। 'एकस्तथान्तरात्मा' सारे प्राणियों में एक ही आत्मा है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः' सारे प्राणियों में एक ही परमात्मदेव है इत्यादि श्रुतियाँ उस आत्मा को एक बता रही हैं। फिर कैसे माना जा सकता है कि आत्मा एक है तो शरीरों की अपेक्षा ही है। जब कहते हैं कि आत्मा एक है तो यह नहीं कहते कि शरीर एक है। शरीर तो अलग-अलग हैं लेकिन उन सबमें रहने वाला आत्मतत्व एक है। कहोगे कि फिर एक ही आत्मा सब जीवों में कैसे रहता है? विचार करो कि अगर बीस घड़े जल भर कर रख दिये जायें तो उन बीसों घड़ों के अन्दर सूर्य का प्रतिबिम्ब (आभास) दीखेगा। क्या एक-एक घड़े में पड़ने वाले प्रतिबिम्बों वाला सूर्य अलग-अलग है? क्या बीस सूर्य हैं? एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न घड़े होने के कारण उनमें प्रतिबिम्बित है। सूर्य एक ही है। "जैसे यहाँ पर हर घड़े में सूर्य एक है, लेकिन दीखता अलग-अलग है, उसी प्रकार वहाँ पर हरेक देह में दीखने वाला जीवात्मा अलग-अलग है, पर आत्मा एक ही है। एक ही सूर्य भिन्न-भिन्न घड़ों के पानी में प्रतिबिम्बित होता हुआ अलग-अलग दीखने पर भी वस्तुतः एक है। अब आगे और विचार करेंगे। उनमें से एक घड़े को हिलाओ और दूसरे को स्थिर रहने दो। जो घड़ा हिलाया जायेगा, उसका प्रतिबिम्ब भी हिलता हुआ दीखेगा, और जो घड़ा स्थिर रखा हुआ है, उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब भी स्थिर दीखेगा। लेकिन क्या सूर्य हिला? सूर्य हिला नहीं, घड़े के पानी के हिलने से हिलता हुआ दीखा। ठीक उसी प्रकार से एक शरीर में यदि विचार प्रवाह के कारण विक्षेप हुआ तो लगा कि यह जीवात्मा विक्षिप्त है, और दूसरे के अन्दर यदि सर्वथा शांति रही,

तो लगा कि इसके अंदर आत्मा स्थिर है। जैसे वहाँ सूर्य (बिम्ब) जैसा है, वैसा ही है, उसी प्रकार यहाँ भी आत्मा हिलने से हिला नहीं, वस्तुतः जैसा है, वैसा ही है। 'एकएव हि भूतात्मा भूते भूते' एक ही वह सब प्राणियों में रहने वाला आत्मा भिन्न-भिन्न उपाधियों के अन्दर भिन्न-भिन्न प्रतीत हो रहा है, जैसे भिन्न-भिन्न घड़ों के पानी के अन्दर भिन्न-भिन्न सूर्य दीख रहे हैं। अब एक घड़े के पानी में लाल रंग की पुड़िया डाल दो, दूसरे घड़े के पानी में पीले रंग की, और तीसरे घड़े के पानी में हरे रंग की पुड़िया डाल दो। जिसमें हरे रंग वाली पुड़िया डाली उसमें सूर्य का प्रतिबिम्ब भी हरा दीखेगा। लाल रंग वाले पानी में सूर्य लाल और पीले रंग वाले पानी में सूर्य पीला दीखेगा। जब तक उसमें लाल रंग पड़ा हुआ है, तव तक लाल ही दीखेगा। जिसमें पीला रंग पड़ा हुआ है, उसमें पीला ही दीखेगा। घड़े को अगर तुमने केवल हिलाया तब तो थोड़ी देर बाद वह अपने आप स्थिर हो जायेगा लेकिन यदि उसमें तुमने रंग डाल दिया तो फिर वह रंग तो उस पानी में बना ही रहेगा, चाहे २४ घण्टे उस पानी को छोड़ दोगे तो भी वह रंग वैसा का वैसा ही रहेगा। ठीक इसी प्रकार से जिस अंतःकरण में सत्वगुण का रंग चढ़ गया, वह सत्वगुणी बना रहेगा, उसमें ज्ञान बना रहेगा। जिस अंतःकरण में रजोगुण डाल दिया, उसमें काम (रजोगुण) वना रहेगा, और जिस अतःकरण में तमोगुण को डाल दिया तो वह क्रूर वना रहेगा, जैसे राक्षसों का अंतःकरण। विक्षेप इत्यादि तो थोड़ी देर आकर दूर हो जायेंगे, लेकिन उसमें पड़ा हुआ सत्व, रज और तम रूपी रंग अति दीर्घ काल तक वना रहेगा। जब तक प्रयत्न करके उस रंग को नहीं हटाया जायेगा, तब तक काम नहीं बनेगा। लेकिन पानी में लाल रंग का दीखने पर भी प्रतिविम्ब ही लाल है, सूर्य तो जैसा है, वैसा ही है। इसी प्रकार प्रतिबिम्ब पीला और हरा दीखने पर भी सूर्य वैसा ही है। इसलिये विष्णु पुराण में 'नित्यं सर्वगतः स्थाणुः' आत्मा नित्य और सर्वव्यापक होते हुए भी कूटस्थ और सारे दोषों से रहित हुआ-हुआ भी अलग-

अलग प्रकार का दीखता है। कैसे दीखता है? शरीररूपी जो घड़ा है, उस घड़े के अन्दर यदि अंत:करण का रंग सत्वगुणी है तो सत्वगुणी दीखता है, और उसका रंग रजोगुणो है तो रजोगुणो दीखता है। यदि उसमें तमोगुण का रंग है तो तमोगुणो दीखता है। और जिस काल में अंत:करण चंचल हो जाता है तो चंचल दीखता है, जिस काल में स्थिर हो जाता है, उस काल में स्थिर दीखता है। यहाँ इन सब भेदों में दिखते हुए भी आत्मा एक ही है। अब यदि उस घड़े को फोड़ दो या उसमें से पानी को निकाल दो तो फिर उसमें सूर्य का कोई प्रतिबिम्ब नहीं दीखेगा। उसी प्रकार से शरीर जब मर जाता है तो इसमें रहने वाला अंत:करणरूपी पानी निकल जाता है। इसलिये शरीर यहीं बना रहता है, लेकिन शरीर के बने रहने पर भी इस शरीर में कोई भी प्रतिबिम्ब आत्मा का नहीं पड़ता। शरीर यहाँ रहा, लेकिन आत्मा का प्रतिबिम्ब पड़ा नहीं, इसीलिये इसको जलाने में पाप नहीं और इसको माता-पिता इत्यादि मानकर घर में भी नहीं रख सकते, क्योंकि अंदर रहने वाला जो अंत:करण उस आत्मा के प्रतिबिम्ब को ले रहा था, वह वहाँ नहीं रहा। अथवा घड़े के फूट जाने की तरह महाप्रलय के समय जितने भी पांच भौतिक पदार्थ हैं सारे नष्ट हो जाते हैं। जब पांच भौतिक पदार्थ नष्ट हो गये तो पाँच भूतों से बननें वाला जो अंत:करण है, वह भी नष्ट हो गया। महाप्रलय के पहले नष्ट नहीं होता, इसलिये एक शरीर से निकला दूसरे शरीर रूपी घड़े में पड़ गया तो वहाँ पर फिर प्रतिबिम्ब आ गया। जहाँ-जहाँ जिस-जिस शरीर में पहुँचेगा वहाँ-वहाँ प्रतिबिम्ब पड़ेगा। लेकिन एक बात याद रखना कि लाल रंग के घड़े के पानी को तुमने निकाला तो भी वह पानी लाल रंग का ही रहेगा। उसको तुमने दूसरे घड़े में डाला तो वहाँ भी लाल रंग का ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। हरे रंग का पानी निकाला तो हरे रंग का ही पानी रहेगा और उसमें हरे रंग का ही प्रतिबिम्ब पड़ेगा। घड़े के बदल जाने पर भी पानी का रंग नहीं बदलेगा क्योंकि रंग तो पानी से एक हो गया है। इसी प्रकार अपने मन में जो भी गुणों के संस्कार बनाये,

अच्छे या बुरे, वे सारे के सारे वैसे ही रहेंगे। यदि यहाँ तुमने काम-क्रोध रूपी व्यवहार के साथ जीवन व्यतीत किया है, तो जहाँ कहीं शरीर मिलेगा, वहाँ भी वही काम क्रोध के व्यवहार फिर करोगे। इसीलिये यद्यपि आदमी कहता है, कि अब तो मैं बड़ा दुःखी हो गया, भगवान उठा ले तो अच्छा है, यह कहना बुद्धिमत्ता नहीं है क्योंकि यहाँ अगर दुःखों में तुम किताब बंद करोगे तो जहाँ पहुँचोगे वहाँ दुःख का ही पाठ फिर शुरू हो जायेगा। कोई फरक नहीं पड़ना है। इसलिये यहाँ यतः हमने अनुभव कर लिया है कि संसार के पदार्थ दुःख रूप हैं, इसलिये यहाँ तो प्रयत्न करके सुख का पाठ जल्दी शुरू हो जायेगा। जैसे मान लो तुमने कपड़े का व्यापार किया और जीवन के ४० साल कपड़े के व्यापार में लगा दिये। अब किसी कारण से तुम्हारा कपड़े का काम ढीला पड़ गया तो तुम सोचते हो कि कपड़े की दुकानदारी उठाकर इसकी जगह लोहे की दुकान डाल-कर काम शुरू करें, क्योंकि आजकल लोहे के काम में बहुत फायदा है। लेकिन इसमें क्या भूल रह जायेगी। कपड़े की दुकान को खतम करके जितने रुपये आयेंगे, रुपये तो उतने ही आयेंगे क्योंकि उतने ही रुपये तुम्हारे पास हैं। ऐसा तो नहीं कि कपड़े की दुकानदारी उठाओगे तो कहीं ऊपर से रुपये आ जायेंगे। नुक्सान यह होगा कि कपड़े की दुकानदारी में ४० साल से जमे हुए हो, उधार माल भी मिल जाता है, दस आदमियों को तुम्हारी दुकान का पता भी है और जितना तुम्हारा उस जगह में प्रतिष्ठा का व्यवहार है, वह सारा का सारा लोहे का काम शुरू करने पर नहीं रहेगा। दूसरे, कपड़े के विषय में जितना तुम्हारा अनुभव है, तुमको पता है कि कहाँ से कौनसा कपड़ा अच्छा होता है, कहाँ से मँगाना सस्ता पड़ता है, किस जगह किस कपड़े की खपत ज्यादा है, यह जो इतना अनुभव है वह अनुभव भी तुम्हें लोहे का नहीं है। तब यदि कपड़े के काम में इन सब चीजों के होते हुए तुमको नुक्सान होता है तो लोहे के काम में फायदा नहीं होना है क्योंकि पूँजी उतनी ही रहेगी। इसी प्रकार से यहाँ पर तो तुमने संसार के पुत्र, पत्नी, मित्र, पोते, सहयोगी

इन सबके साथ व्यवहार करके यह निर्णय किया है कि यही सब करके दुःख हो रहा है। इसलिये यहाँ तो तुम्हारी कुछ जानी हुई बातें हैं। यहाँ से अगर तुमने मृत्यु को वरण किया तो तुमको कोई नया अनुभव तो आ नहीं जायेगा। उल्टा जहाँ पहुँचोगे वहाँ भी पत्नी, पुत्र, मित्र इत्यादि दुःख देने वाले हैं, यह समझने में फिर २५-३० साल बीत जायेंगे। तब फिर पता लगेगा कि यह कैसा अनुभव है। इसलिये इस जीवन में ही, यहाँ रहते हुए ही, इस दुःख का लाभ उठाकर सुख रूप परमात्मा की प्राप्ति करके ही जायेंगे, ऐसा निश्चय करना चाहिये। यहाँ यदि तुमने सुख का पाठ पढ़ लिया तो आगे भी सुख का ही पाठ शुरू होना है। जैसे घड़े से जिस रंग का पानी निकालकर किसी और घड़े में डालेंगे तो पानी का रंग वही रहेगा। इसलिए यहीं पर उस पानी के रंग को ठीक कर लेना है, आगे के लिये छोड़ना नहीं है। मनुष्य ऐसा कर क्यों नहीं पाता है? मनुष्य के अन्दर यह स्वाभाविक है कि वह व्यर्थ की चिन्ताओं को अपने सिर पर लाद लेता है। इसलिये कहते हैं कि जियेंगे तब तक तो चिन्ता करेंगे ही; मर जायेंगे तो चिन्ता खुद छूट जायेगी। यह जो मनुष्य प्रयत्न करता है, वह इसलिये नहीं करता कि यहाँ के बाल-बच्चों की चिन्ता के कारण ध्यान समाधि नहीं कर पा रहे हैं, बाल-बच्चों से ही छूट जावें तो फिर भजन करें। वह यह भूल जाता है कि जहाँ भी जायेंगे, वहाँ बाल-बच्चे तो रहेंगे ही। जिस शरीर में जाओगे उसमें फिर नये बाल-बच्चे हो जायेंगे। जैसे एक बाड़ी (मकान) को छोड़कर आदमी दूसरी बाड़ी में चला जाता है, क्योंकि पहले वाली बाड़ी में नल में पानी थोड़ा आता है, और संडास में लम्बी लाइन लगानी पड़ती है, इसलिये उस बाड़ी को छोड़ देता है। विचार करो कि आज से दस साल पहले जो कोठरी तुमने दस रुपये भाड़े पर ली थी, आज जब तुम नई लोगे तो छः रुपये वाली ही अब दस रुपये में मिलेगी। रुपये तुमको दस ही देने हैं, दो चार हजार की सलामी और ऊपर से देते हो। वह छः रुपये वाली कोठरी लेकर तुमको कहाँ अलग नल लगा

हुआ मिल जाना है, वह तो जहां जाओगे, फिर नल और संडास के झगड़े वैसे के वैसे रहेंगे। दो-चार हजार रुपये की मार तुमने फालतू खाई। ठीक इस प्रकार से इस शरीर में रहते हुए जिन पुत्र आदियों का पालन तुमने किया है, उन्हें छोड़कर जिस किसी दूसरे शरीर में गये, झंझटें तो वही की वही रहेंगी, इनमें कोई फरक नहीं पड़ना है। उल्टा यहाँ के अनुभव को छोड़कर वहाँ फिर नया अनुभव प्रारम्भ करोगे, बस यह नुक्सान और हो जायेगा। यहां तुम जो चिन्तायें कर रहे हो, वे चिन्तायें व्यर्थ की चिन्तायें हैं।

भगवान शंकर का एक गण भृंगी है। श्रृंगी और भृंगी दो गण भगवान शंकर के दरवाजे पर हमेशा खड़े रहते हैं। उनमें से भृंगी बड़ी चिन्ता करने वाला गण है। उसको तरह-तरह की चिन्तायें हैं, इसलिये वह बहुत दुबला-पतला और कमजोर है। वह क्या चिन्ता करता है? 'दिग्वासा पि पिनाकी' चिन्ता के मारे भृंगी का शरीर अस्थिपंजर है, केवल हड्डियाँ ही बेचारे की दीख रही हैं। उसकी चिन्ता है कि मेरा मालिक जो भगवान शंकर है, वह दिगम्बर रहता है लेकिन साथ में पिनाक धनुष रखता है। उसकी चिन्ता देखो, अपने विषय में उसको कोई समस्या नहीं है। चिन्ता यह है कि अगर मेरे मालिक को दिगम्बर ही रहना है, पास में कुछ रखना हो नहीं है तो धनुष हमेशा क्यों रखा हुआ है, क्योंकि सामान्यत: देखा जाता है कि जिनके पास हीरे, पन्ने, रुपये रहते हों वही लोग बंदूक को साथ रखते हैं, और जहाँ पहले ही खाली लँगोटी वाला मामला हो, वह बंदूक वाले पहरेदार का क्या करेगा? यह उसकी एक चिन्ता है। फिर शस्त्रास्त्र को रखते हैं तो कोई बात नहीं, लेकिन साथ में भस्म को क्यों लगाते रहते हैं? क्योंकि अस्त्र के अन्दर जितनी चिकनाई हो, उतना अस्त्र बढ़िया चलता है, और भस्म हरेक चिकनाई को सोख लेती है। अगर यह अस्त्र रखते हैं तो अस्त्रों को चिकना रखना चाहिये, ये इसको भस्म लगा-लगा कर निकम्मा क्यों करके रखते हैं? ये उसको चिन्ता हो रही है। चलो मान लिया कि इसको फालतू अस्त्र

रखने का शौक होगा, इसलिये दिगम्बर रहकर भस्म लगाता है। अगर यह इतना त्यागी है कि केवल शौक के लिए अस्त्र रखता है तो साथ में औरत को क्यों रखता है ? पत्नी काहे के लिए रख छोड़ी है ? आदमी पत्नी रखता है तो उसके लिए गहनों, कपड़ों और मकान इत्यादि का इन्तजाम करता है। अब इसको सामान तो अपने पास में कुछ रखना नहीं है और फिर पत्नी को साथ रखता है। कहत है कि इसको कामना होगी, इसलिए रखता है, बाकी चीजें त्यागा दी हों, काम का त्याग न किया हो। अगर पत्नी को रख ही लिया है तो फिर कामदेव के साथ इतना द्वेष करके उसको जला क्यों डालता है। दिगम्बर भी रहता है और धनुष भी पास रखता है। त्यागी भी है और पत्नी को भी नहीं छोड़ता है। 'इत्यन्योन्यविरुद्धचेष्टा' वह सोचता है कि ये जो विरुद्ध चेष्टायें इनमें हैं, उनका किस प्रकार समाधान करे ? यह विचार करते-करते इसकी केवल हड्डियाँ' ही बेचारे की रह गई हैं। क्योंकि इसको कोई जवाव नहीं मिलता है। जैसे भृंगी की चिन्ता अपने बारे में नहीं है, ऐसे ही हरेक मानव की चिन्ता अपने बारे में नहीं है। यह तो कभी देखता हो नहीं कि मैं कौन हूँ, मेरा क्या स्वरूप है, इस शरीर मन आदि से मेरा क्या सम्बन्ध है ? यह अपने विषय में चिन्ता नहीं करता है। यदि यह अपने विषय में चिन्ता करे तो सारी चिन्ताओं से निर्मुक्त होकर उस परम आनन्द को प्राप्त कर ले। अगर इसे यह विचार आ जाये कि जिस भगवान शंकर के दर्शन के लिए देवगण भी तरसते हैं, मैं तो उनके दरवाजे पर नित्य खड़ा हूँ, यह विचार करे तब तो तगड़ा हो जाये। लेकिन वह अपना विचार नहीं करता है। ठीक इसी प्रकार यह मनुष्य भी शरीर का विचार करता है। थोड़ा-सा सिर दर्द हो जाये तो पास डाक्टर के जाता है। थोड़ा सा मच्छर काटने लगता है तो मच्छरदानी लगाता है। इस शरीर के वारे में तो वड़ा विचार करता है, लेकिन क्या कभी यह सोचता है कि शरीर के साथ मेरा क्या रिश्ता है ? अपनी वात नहीं सोचता, शरीर की चिन्ता में लगा हुआ है। लोग रात-दिन कमाते रहते हैं, उसमें सबसे

बड़ी चिन्ता किसा बात की है ? नहीं कमायेंगे तो शरीर कैसे चलेगा ? बुढ़ापे में क्या होगा ? अर्थात् इस शरीर का क्या होगा ? शरीर की चिन्ता के पीछे सबेरे से शाम तक लगा रहता है। पत्नी, पुत्र आदि की चिन्ता भी तो उन शरीरों की चिन्ता ही है कि ये शरीर कैसे सुन्दर हों, कैसे इनके शरीर हृष्ट-पुष्ट हों। अगर इससे कुछ आगे चला तो थोड़ा बहुत मन का विचार करता है, लेकिन उसे भी सोचने वाले कम ही हैं। कोई ही सोचता है कि मेरा मन स्वस्थ हो, मूलतः तो शरीर को ही सोचते रहते हैं। यथाकथंचित् कोई मन को भी सोच लेता है, लेकिन आत्मा के विषय में तो कोई सोचता ही नहीं है। वह तो चिन्ता करता रहता है। यदि आत्मा के विषय में उसने सुन लिया तो वह चिन्ता करता है कि 'दिग्वासा पि पिनाकी' क्यों यह आत्मा निस्संग है ? क्योंकि जब आत्मा के विषय में सुनता है तो सुनता है कि उसके ऊपर कोई आवरण नहीं, कोई ढक्कन नहीं। तब यह सोचता है कि यदि आत्मा निर्वासा और असंग है तो असंग आत्मा का प्रतिपादन करने के लिए उपनिषदों की क्या आवश्यकता ? शब्द से जब किसी का निरूपण करोगे तो किसी जाति, गुण या क्रिया या सम्बन्ध से करोगे। इन चार चीजों से ही नाम होता है। जैसे यह आदमी है तो मनुष्यत्व जाति इसमें है। यह जाति से नाम पड़ा कि आदमी है। यह रसोइया है, क्रिया से नाम पड़ा है, क्योंकि 'रसोई बनाना' क्रिया है। यह भद्र पुरुष है, यह गुण से नाम पड़ा। अथवा सम्वन्ध से नाम पड़ा कि यह पुत्र है। किसी भी चीज का नाम इन चार के द्वारा ही पड़ता है। सोचता है कि यदि यह परमात्मा दिग्वासा अर्थात् असंग है तो असंग में न जाति होगी, नहीं तो जाति का संग हो जायेगा, और न गुण, न क्रिया और न सम्बन्ध ही होगा, तो फिर इस असंग का प्रतिपादन करने के लिये उपनिषदों की क्या आवश्यकता? फिर आगे यह जीव सोचता है कि मान भी लिया कि यह उपनिषद् रूपी धनुष रखता है। किसी विचित्र सम्वन्ध से अपने आपको लक्षणा इत्यादि से प्रतिपादन करने के कारण उपनिषदों की आवश्यकता

मान भी ली, तो फिर 'किं भस्मना' अर्थात् इस असंग पुरुष की प्राप्ति के लिए नामरूप का बाध करना क्यों जरूरी ? इसलिए यह कहता है कि नामरूप ऐसे ही बने रहें और आत्मज्ञान हो जाये, ऐसा कोई उपाय हो तो अच्छा है क्योंकि नामरूप का बाध नहीं करना चाहता, नामरूप को छोड़ना नहीं चाहता। इसलिए यदि इसे उपनिषद् इत्यादि किसी सम्बन्ध से, लक्षणा सम्बन्ध से प्रतिपादित करते भी हैं तो फिर नामरूप की भस्म को धारण कराना क्यों जरूरी होता है ? अब यदि भस्म धारण कर भी ली, नामरूप का बाध कर लिया तो फिर परमात्मा में बुद्धिवृत्ति को लगाना क्यों जरूरी होता है ? बुद्धिवृत्ति ही पत्नी है। यदि यह असंग पुरुष है तो है, नामरूप का बाध है तो है, फिर बुद्धिरूपी पत्नी को इसमें लगाना क्यों पड़ता है ? और यदि बुद्धिवृत्ति को लगाना भी है तो जहाँ बुद्धि भी खत्म हो जाती है, वहाँ तत्त्व की प्राप्ति हो जाती है, ऐसा क्यों ? वृत्ति को लगाना भी है और अन्त में बुद्धिवृत्ति समाप्त भी हो जाती है तो भी यह बुद्धिवृत्ति से द्वेष क्यों करता है ? जीव इस प्रकार के ऊहापोह में पड़ा हुआ उस ब्रह्म का विचार करता है कि वह असंग है तो कैसे है, असंग है तो फिर उसका प्रतिपादन वेद कैसे करेगा, प्रतिपादन कर देगा तो नामरूप के बाध की क्यों जरूरत है, बाध की जरूरत हो भी तो बुद्धिवृत्ति क्यों बनाना, बुद्धिवृत्ति बनानी पड़ी तो फिर उस बुद्धि को क्यों खत्म करना ? इस प्रकार के ऊहापोह से यदि साधना में लग भी गया तो विना मतलब दुबला होता जायेगा। उसकी जगह यह सोचे कि वह परब्रह्म परमात्म तत्त्व असंग पुरुष है और जहाँ मैं खड़ा हूँ मेरे अन्दर ही है। मेरे खड़े होने की जगह हृदय है और उसी हृदय के अन्दर वह परब्रह्म परमात्मा बैठा हुआ है। पहले बता आये हैं 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'। बजाय प्रसन्न होने के कि मैं उस ब्रह्म के इतना नजदीक हूँ कि जहाँ मैंने थोड़ी सी नजर अन्दर की तरफ की तो उसके दर्शन से कृतकृत्य हो जाऊँगा, बजाय यह सोचने के, इस ऊहापोह में कि यह कैसे हुआ, यह कैसे हुआ इसी चिन्ता के मारे

यह कमजोर होता चला जाता है। यहाँ कह रहे हैं 'अयक्ष्मः सुमना असत्' उस आनन्द की प्राप्ति के लिए, दुःखरहितता की प्राप्ति के लिये, बजाय इसके कि व्यर्थ की इस चिन्ता में पड़े कि वह एकात्मरूप परब्रह्म असंग पुरुष हमारे हृदय में कैसे प्रकट होता है, बजाय इस शंका के करने के यह निर्णय कर ले कि अपने आपको उसके अन्दर प्रविष्ट करके समग्र दुःखों से निवृत्त होकर सुमन बनना है। यही प्रार्थना इसमें की गई है। इसकी प्राप्ति के लिए अहं का किस प्रकार विचार करें, इस पर आगे विचार करेंगे।

२५-२-७५

चतुर्थ मंत्र

परब्रह्म परमात्म तत्त्व के सम्यक् प्रकार से शिव वाणी के द्वारा अवगत कर लेने पर, अनुभव कर लने पर, सर्वदुःख निवृत्ति-पूर्वक सुमन की प्राप्ति वताई। यह कैसे प्राप्त होता है? इसके ऊपर विचार करते हुए देखा कि किस प्रकार सूर्य भिन्न-भिन्न घड़ों के अन्दर प्रतिबिम्बित हुआ-हुआ अनेक रूप से दीखता है 'यथा सलिलमाविश्य बहुधा भाति भास्करः। तथा शरीराद्याविश्य बहुधा भातिरीश्वरः॥' जिस प्रकार से घड़ों के पानी में प्रविष्ट हुआ-हुआ सूर्य बहुत प्रकार का प्रतीत होता है, लाल पानी में लाल, पीले पानी में पोला, हिलते पानी में हिलता हुआ, उसी प्रकार शरीरों के अन्दर प्रविष्ट हुआ-हुआ बहुत प्रकार से वह ईश्वर प्रतीत होता है। एक ही परब्रह्म परमात्म तत्त्व उपाधियों से अनेक रूप वाला प्रतीत हो रहा है, यहां तक विचार किया। आगे श्रुति कहती है कि केवल इतना ही नहीं कि वह प्रविष्ट है, बल्कि जगत् रूप में भी वही बना है। 'स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशज्जीवरूपतः' जगत् रूप को उसने धारण किया और फिर स्वयं ही उसमें प्रतिबिम्बित भी है। प्रति-बिम्बित हुआ-हुआ उन उपाधियों में कहीं पूज्य भाव को प्राप्त होता है, कहीं पूजक बना हुआ दीखता है। वह एक ही परमात्म तत्त्व श्रेष्ठ शरीर की उपाधि में गया हुआ पूज्य भाव को प्राप्त होता है।

'सत्त्वाधिक्यतमे देहे प्रविष्टो देवताभवत्' अर्थात् विष्णु, ब्रह्मा आदि देहों में वही पूज्य भाव को प्राप्त होता है। वहीं परमेश्वर पूज्य होता है। दूसरी तरफ 'मर्त्यादिदेहेभक्तोभूत्' मनुष्य इत्यादि शरीरों प्रविष्ट हुआ-हुआ वही फिर देवता का भजन करता है। पूजक और पूज्य अलग-अलग नहीं। श्रेष्ठ उपाधि को लेकर के पूज्य है, कनिष्ठ उपाधि को लेकर के पूजक है। है वह एक ही परमात्म देव। पूजक और पूज्य भाव से बना हुआ वह दो नहीं है, एक ही है। जब यह विचार कर लेता है, तब तो बंधन से छूट जाता है, क्योंकि इसका विचार न करना ही बंधन है 'अविचारकृतो बन्धः विचारेण निवर्तते।' विचार न करो तब तक तो पूज्य और पूजक अलग-अलग प्रतीत होते हैं, विचार करने पर पूज्य और पूजक अलग-अलग नहीं लगेंगे। 'विचारजन्यज्ञानेन परब्रह्माधिगच्छति' जहाँ बुद्धि में विचार के संस्कार जमे, विचार के द्वारा बुद्धि शुद्ध हुई और उसने परब्रह्म तत्त्व को अधिगत कर लिया। अविचार के द्वारा ही उपाधि के भेद से आत्मा में भेद समझ लेता है। भेद है शरीर रूपी उपाधियों का, और समझ लेता है कि वह भेद आत्मा में है। चूँकि आत्मा में भेद को मान लेता है, इसलिये भेद वाले संसार को अपना घर मानता है। भेद कहाँ है? उपाधि वाले संसार में भेद है। अपने में भेद नहीं, आत्मा में भेद नहीं, परन्तु भेद वाले संसार को बिना विचार के अपना रूप मानता है, इसलिये संसार को अपना घर मान लेता है। विचार करने पर पता लगता है कि यह संसार अपना घर नहीं है। यह तो माया का घर है। यह तो नाम रूप की उपाधि बनाने वाली जो माया है, उसका घर है, अपना घर नहीं है। फिर अपना इसके साथ क्या सम्बन्ध है? विचार करो, क्योंकि आप लोग तो सम्बन्धों का हिसाब लगाते रहते हो। यह माया का घर है, इसलिये मायापति परमेश्वर का यह ससुराल है। जीव माया का पुत्र है क्योंकि माया से ही उत्पन्न होता है। इसलिये यह मायापति का ससुराल और जीव का ननिहाल (नाना का घर) है। जीव नाना के घर हुआ। अब घर जैसा सुख नाना के

घर में कैसे मिल सकता है। लेकिन भ्रांति से यह समझता है कि जैसा सुख घर में, वैसा ही सुख नाना के घर में मिल जायेगा। नाना के घर में दो तीन दिन का सुख होता है, ज्यादा दिनों का सुख वहाँ नहीं मिलता है और न ससुराल के अन्दर मायापति को ही सुख मिल सकता है। ससुराल में सुख मिलता है लेकिन दो चार दिन के लिये। ससुराल में बैठ ही जाये तो फिर सुख नहीं है। नीतिकार कहते हैं 'श्वशुरगृहनिवासः सर्वसौख्यं ददाति यदि भवति विवेकी' ससुराल के अन्दर जाकर रहने पर सारी सुख सुविधायें मिलती हैं। सास, ससुर, साले, सालियाँ सब दौड़-दौड़ कर देखते हैं कि इंतजाम ठीक हुआ या नहीं। कुंवर साहब जंवाई जो आये हैं। सब दौड़-दौड़कर सेवा करते हैं। विवेकी होता है तो पांच-छः दिन ही वहाँ रहता है। ये नीतिकार तो पुराने थे आजकल इन्फ्लेशन का जमाना है, इसलिये आधे दिन समझना। दो-तीन दिन में ही मामला ढीला पड़ने लगता है। अगर कहीं विवेकी नहीं हुआ और 'दधि मधु घृतलोभात्' सोचा दोनों समय बढ़िया दही की लस्सी मिलती है, मलाई वाली, छाछ तो बच्चों को देते हैं। इसी प्रकार खूब घी, बाजरे की खीच में जब तक ना न करो, तब तक घी की कुल्छी डालते हैं। इस लोभ से यदि महीना भर डट जाये तो फिर ससुराल में उसका प्रयोग गधे की जगह किया जाता है। कहते हैं अमुक काम करो, अमुक काम करो, लाण्ड्री में कपड़े दिये हुए हैं, यह रसोद और ये रुपये, कपड़े ले आओ। यह काम गधे का ही तो है। 'प्रभवति खरतुल्यः' इस बात को, विचार और अविचार को, परमेश्वर जानता है। यह संसार माया का घर है। माया का घर होने से मेरा ससुराल है इसलिये थोड़े समय का निवास यहाँ ठीक है। इस विचार से ही परमेश्वर इस संसार में तटस्थ और उदासीन भाव से रहते हैं। संसार में माया के अनुसार यह सब चलता रहता है। नामरूप सृष्टि कर्मविपाक से चलती रहती है। परमेश्वर इसके काम में हस्तक्षेप नहीं करते। कर्म के अनुसार सृष्टि को चलने देते हैं। स्वय तटस्थ और उदासीन भाव से रहते हैं। यदि कभी

कदाचित् बार-बार ससुराल से निमंत्रण जाने पर आ भी जाते हैं। जब बार-बार कभी पृथ्वी जाकर पुकार करती है कि अब अधर्म सहन नहीं होता, कभी इंद्र, वरुण, यम आदि देवता जाकर प्रार्थना करते हैं कि अब और सहन नहीं होता, अब तो आपके आये ही सरेगा, आपके आये बिना अब काम नहीं होगा, इस प्रकार जब बार-बार उनके पास निमंत्रण जाता है तब राम, कृष्ण आदि रूप लेकर आते हैं और काम करके तुरंत वापस चले जाते हैं। यह नहीं कि आ गये तो यहीं बैठ गये। आये, जैसे ही अवसर समाप्त हुआ वैसे ही चले गये। कार्य की आवश्यकता पर, बहुत बुलाने पर आते हैं और काम समाप्त होते ही चले जाते हैं। यह तो इसलिये हुआ कि परमात्मा इस माया के घर को समझते हैं, लेकिन इनका यह जो पुत्र है, वह ननिहाल को सुख की चीज मान बैठा है। चाहिये तो यह था कि पुत्र भी पिता का अनुसरण करता। जीवरूप से जहाँ माया के संसार में आया था, विचारपूर्वक रहता और यहाँ से ऐसा चला जाता कि फिर वापस लौटकर न आता। यही भगवान ने गीता में अर्जुन को कहा कि देख अर्जुन ! मैं यहाँ आता हूँ तो काम करते ही चला जाता हूँ। 'मां उपेत्य' तू भी मेरे पीछे चलता, तो फिर 'पुनर्जन्म न विद्यते' तू इस जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ेगा। भगवान ने कहा, श्रुतियाँ भी यही कहती हैं कि यहाँ आये हो तो 'प्रारब्धक्षयमीक्षते' प्रारब्ध को समाप्त करके परम आनंद में लीन हो जाओ। लेकिन यह जीव ऐसा नहीं करता। इसीलिये इसकी लोकहसाई होती है, क्योंकि इसके मामा थोड़े बहुत नहीं, सात मामा हैं, मामाओं की कमी नहीं है। लेकिन सात मामाओं का भांजा होकर भी यह यहाँ भूखा ही मरता है। हरेक मामा सोचता है कि कोई दूसरा इसको खिला देगा, क्योंकि यह तो अब यहाँ आकर डटकर ही बैठ गया। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य और अज्ञान ये सात जीव के मामा और माया के भाई हैं। माया के बाद ये सात ही उत्पन्न होते हैं, एक के बाद एक आते हैं। जहाँ माया आई, वहाँ काम उत्पन्न हुआ। माया आये और काम उत्पन्न न हो, यह कभी नहीं हो

सकता। कामना में जहाँ रुकावट आई, वहाँ खट क्रोध तैयार है क्योंकि सारी कामनायें किसी की पूरी नहीं हुईं। आज तक किसी भी प्राणी की सारी कामनायें पूर्ण नहीं हुई तो अपनी कहाँ से होनी हैं; और जो कामना पूर्ण नहीं होगी, वह क्रोध को अवश्य उत्पन्न करेगी। इसलिये काम के बाद जीव का अगला मामा क्रोध है। यदि कामना पूरी हो जाये तब भी तो भूख मिट नहीं जाती है, क्योंकि कहा है कि सात मामा का भांजा होकर भी भूखा बैठा है। कामना से सुख नहीं। कामना भी पूर्ण नहीं होती। कामना पूर्ण न होने पर क्रोध हुआ तो सुख नहीं, और यदि एक कामना पूर्ण होती है तो उसके पूर्ण होते ही लोभ उत्पन्न हो जाता है। यही होता रहता है। बहुत से लोग जब द्यूत (जुआ) खेलते हैं तो उस खेल में होता ही यह है। खेलने के साथ ही यदि हार गये तो दु:ख होता है कि हार गये, और अगर जीत जाते हैं तो जीतने पर शांत नहीं बैठते। जितना जीता है, वह पुन: लगा देते हैं, यह सोचकर कि अब और ज्यादा आ जायेगा। यदि जुआ खेलने में सफलता मिली तो पुन: सोचते हैं कि और ज्यादा लाभ करें। इसी चक्कर में उस धन को फिर लगा देते हैं। इसी प्रकार अधिकाधिक की कामना करते हुए जब तक फिर हारकर सारा खो नहीं देते तब तक यही काम करते रहते हैं। ठीक इसी प्रकार से यदि कामना पूरी हो गई तो तुरंत लोभ उपस्थित हो जाता है, उस लोभ में भी सुख नहीं है। अब यदि किसी कारण से लोभ भी पूरा हो गया तो फिर मनुष्य में मोह आता है, अर्थात् अविवेक आता है। भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि 'हृष्टो दृप्यति दृप्त: धर्ममतिक्रामति।' जब मनुष्य को अपनी कामनायें पूर्ण होने का अवसर आता है तो उसके अन्दर दर्प आता है, और जब दर्प आता है तो धर्म का अतिक्रमण करता है। वह धर्म को फिर कुछ नहीं समझता। यदि मनुष्य को कामना पूर्ण हुई, लोभ भी पूर्ण हुआ तो फिर धर्म का अतिक्रमण कराने वाला मोह आ जाता है कि मैं जो चाहूँ सो कर सकता हूँ, मुझे क्या चिंता है, यह तो कमजोर लोग

धर्म को माना करें, मेरे को क्या पड़ी है। उसी से फिर मद आता है, एक नशा आता है। जब अपने अन्दर नशा आता है, और किसी दूसरे में कोई गुण दिखाई देता है, तो झट से मात्सर्य आ जाता है कि उसमें जो गुण दीख रहा है, उसके पीछे कोई बुराई है। इसीलिये मद वाला आदमी किसी दूसरे की उन्नति को देखकर प्रसन्न नहीं हो पाता, झट उसके अन्दर मात्सर्य आ जाता है। दूसरे ने धन कमाया तो जरूर चोरी करके कमाया है, अपने भाई का पैसा मारकर कमाया है, अरे जी मुनीम को एक पैसा नहीं देता है। दूसरे का धन हमेशा बुराई से आया हुआ लगता है। इससे उनका अज्ञान और पुष्ट हो जाता है। किसी भी तरह उसको सुख नहीं मिलता। सातों मामाओं में से कोई इसको खिलाने वाला नहीं है, कोई सुख देने वाला नहीं है। इस बात का यदि यह विचार करे तब तो समझ ले, लेकिन विचार न करने से वह समझता नहीं। अगर विचार करे तो जैसे परमेश्वर इस संसार में सारी सृष्टि को चलाते हुए भी तटस्थ उदासीन भाव से रहता है, उसी प्रकार यह भी सारे संसार का व्यवहार करते हुए तटस्थ और उदासीन भाव से बना रहे। 'उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते' प्रत्येक पदार्थ के अन्दर मध्य दृष्टि को पकड़कर रहे, गुणों के द्वारा विचलित न हो, जैसे परमेश्वर नहीं होता है। कोई आदमी खड़ा होकर परमेश्वर को एक हजार गाली दे तो क्या परमेश्वर उसकी जबान बंद करता है? या उसकी रोटी खाना बंद करता है? उसके ऊपर वज्र गिराता है? जबकि परमेश्वर के लिये यह सब करना बहुत सरल है। वाणी को बंद करने में कोई देरी थोड़े ही है, लेकिन नहीं करते क्योंकि यही उदासीन भाव है। जब इसका काल आयेगा उसके अनुसार इसका फल मिलेगा। हम लोगों में यह धैर्य कहाँ है। हम लोग तो कहते हैं कि अभी इसने गाली दी तो अभी ही हम इसको थप्पड़ मार दें। उदासीन भाव कहाँ है? क्योंकि यदि इसने गाली दी तो गाली देने वाली भी माया की उपाधि, गाली सुनने वाली भी माया की उपाधि, मैं क्यों अपनी

तटस्थ नीति को छोड़ूँ ? मैं क्यों अपना तटस्थ भाव छोड़ूँ ? यह जीव नहीं कर पाता। इसीलिये यह सच्चे सुख को पा नहीं सकता। यद्यपि माया के सम्बन्ध से ईश्वर भी है, माया के सम्बन्ध से जीव भी है लेकिन ईश्वर माया के सम्बन्ध को जानकर के, विचार करके जैसा इसको व्यवहार करना है, वैसा करता है। जीव अविचार के कारण जैसा व्यवहार नहीं करना चाहिये, वैसा व्यवहार करता है। इसलिए सुख न पाकर वार-वार दुःख ही पाता रहता है। विचार ही मनुष्य का सबसे बड़ा बल है। नीतिकार कहते हैं 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' जिसमें बुद्धि होती है, उसी में सच्चा बल होता है। एक कहानी आती है कि एक खरगोश (शशक) बड़ा बुद्धिमान था। वह जिस जंगल में रहता था, उस जंगल वालों ने मिलकर विचार किया कि शेर रोज आकर दो-तीन को मारता है और एक आध को खाता है तो अपनी जनसंख्या कम होती जाती है। इसलिये उन लोगों ने आपस में फैसला किया कि अपने रोज नियम से बारी-बारी एक हो शेर के पास चले जाया करें तो शेर एक को खा लेगा, बाकी जो बिना मतलब के मरते हैं, वे बच जायेंगे। यह उस जंगल के प्राणियों ने आपस में निर्णय कर रखा था। एक बार उसी खरगोश की बारी आई जो बुद्धिमान था। सबने कहा कि आज तो तुम्हारी ही बारी है। उसने कहा -कोई बात नहीं। मेरा नम्बर है तो भगवान ने चाहा तो हमेशा के लिये तुम्हारा झंझट खतम कर दूँगा। उसने अपने सभी बड़े बुजुर्गों से कहा कि मुझे आशीर्वाद दो कि मैं शेर को मार डालूँ। बड़े-बूढ़े हँसने लगे कि हमारे आशीर्वाद से तू शेर को मार सके, यह कैसे हो सकता है। उसने कहा कि आप लोग दो तो सही आशीर्वाद। यह तो बुद्धि है। खरगोश वहाँ से चला और रास्ते में एक जगह सो गया। घण्टा दो घण्टा आराम करके ताजा होकर दिमाग में सोचते हुए फिर आगे चला। शेर के पास पहुँचते-पहुँचते देरी हो गई। शेर गरम हो रहा था। आदमी भूखा हो तो उसे जल्दी क्रोध आता है। उसने कहा कि इतनी देरी से कैसे आया। खरगोश ने

कहा – वड़ी मुश्किल से आया हूँ, यह तो पहले सोच, देरी की पूछ रहा है। शेर ने कहा कि मेरे से झिड़क कर बोलता है। उसने कहा—और क्या, अरे तू मुझे खायेगा, बहुत गुस्सा करेगा तो भी खायेगा। तेरे से प्रेम से बोलूँगा तो खायेगा। फिर जवान से क्यों जाऊँ। शेर को और गुस्सा आया और कहा – बता, क्यों देरी से आया ? उसने कहा—रास्त में तेरे स भी एक तगड़ा शेर मिला था। कहने लगा, मैं तेरे को खाऊँगा। मैंने कहा—न भाई, हमारी परम्परा बँधी हुई है। मैं नहीं जाऊँगा तो हमारे कुल का अधिपति शेर भूखा मर जायेगा। जब वह शेर मेरे से और ज्यादा बोलने लगा तो मैंने उससे कहा कि मेरा धर्म तो मुझे मानने दे, मैं वहाँ पहुंच जाऊँ और मुझे वह शेर मारकर खा ले, उसके बाद तुम जाकर उस शेर से मर्जी आव जितना लड़ लेना और जो जीत जाये वही आगे इस जंगल का राजा हो जायेगा। लेकिन तुम्हें यह बता देता हूँ कि वह शेर तेरे को खतम जरूर कर देगा। मैं तो अपना धर्म पालन करने के लिए आ गया हूँ ले कन अब तू यह समझ ले कि तेरे दिन भी पूरे हो है शेर का जब तक पेट नहीं भरता, तब तक तो वह लड़ाई अच्छी तरह से करता है। पेट भरने के बाद शेर अच्छी तरह से लड़ नहीं सकता। वैसे तो यह बात सभी प्राणियों के लिए है। अपना भी पेट अच्छी तरह से भर गया हो तो फिर कोई कहे कि लकड़ी चलाओ तो चला सकेंगे ? या दण्ड पेलने को कहे तो पेल सकेंगे ? फिर तो पड़कर सोना ही अच्छा लगेगा। ऐसे ही शेर का है। शेर ने सोचा कि यह पीछे ही आने वाला है, अपना पेट भरा हुआ होगा और वह भूखा होगा। यह खरगोश उसकी बड़ी तारीफ कर रहा है। खरगोश से कहा –चलकर मुझे दिखा, मैं उस पर आक्रमण करके, तेरे देखते ही देखते उसे खतम करता हूँ। खरगोश ने कहा कि मुझे खा ले और अपनी दुम दबाकर भाग जा, उस शेर का मुकाबला मत कर, तू उसे खतम नहीं कर सकेगा। शेर को और ज्यादा क्रोध आया कहा— फालतू की बात मत कर, मेरे को उस जगह ले चल। खरगोश ने उसे ले जाकर एक कुएँ के अन्दर मुँह

डालकर कहा कि इसके अंदर देख। कुएँ में शेर को अपना प्रतिविम्ब दिखाई दिया। कहा—हाँ शेर तो है और तगड़ा भी दीखता है। वह बड़े जोर से गरजा। वह तो कुआँ था, नीचे से फिर गर्जने की आवाज आई, प्रतिध्वनि (Echo) हुई। खरगोश धीरे से कहता है कि मैंने कहा था न, अब भी भाग जा। शेर को तो गुस्सा था, और जोर से गर्जा, और गर्जने के साथ ही जोर से जो छलांग मारी तो कुएँ में। अब पानी में बेचारा शेर क्या करे। खरगोश वापस घर आ गया। सब बड़ों को आकर नमस्कार किया कि आपके आशीर्वाद से काम फल गया। लोगों ने कहा—अरे छिपछिपाकर भाग आया लगता है। कल वह शेर आकर अपने सारे कुटुम्ब को खा जायेगा। तू डर कर आ गया है। उसने कहा—नहीं, डर कर नहीं आया हूँ। आपको सवेरे चलकर दिखा दूँगा कि शेर को मार आया। अगले दिन जाकर दिखा दिया। सबने देखा कि शेर मरा हुआ पानी में तैर रहा था, क्योंकि शेर पानी का प्राणी नहीं है। कुएँ से बाहर नहीं निकल सका और वहीं मर गया। बता रहे थे कि बुद्धि से ही बल आता है, अन्यथा नहीं 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य'। विचार करो यहाँ शेर की जगह काल है। महाकाल ही शेर है। सभी लोग इकट्ठे खतम न हो जायें, इसलिये नम्बर बँधा हुआ है। देखना हो तो नीमतल्ले के श्मशान घाट पहुँच जाओ, एक के बाद एक नम्बर-वार मामला है। सब प्राणी इस प्रकार से मरते जाते हैं, काल के हाथ में जाते रहते हैं और डरते रहते हैं कि अब काल ने खाया, अब खाया, और इस डर के मारे विचार भी नहीं करते। कोई सोचता ही नहीं, उल्टा कहते हैं कि मरने की बात मत करो। बजाय उसके बारे में विचार करने के उल्टा उसका नाम नहीं सुनना चाहते हैं। इसीलिये शास्त्रकारों ने कहा है 'मृत्योर्विभेषि किं तात भीतं मुंचति किं यमः। अजातं नव गृह्णाति कुरु यत्नमजन्मनि॥' हे तात! हे प्रिय! मृत्यु से तुम भय क्यों खाते हो? डरे हुए को क्या यमराज छोड़ देते हैं। यदि छोड़ देते हों तब तो डरने से फायदा है कि डरेंगे तो बच जायेंगे। जन्मरहित परमात्मा के साथ जो अपनी एकता

को समझ लेता है, उसको फिर यह काल नहीं पकड़ सकता। इसलिए उसके लिये प्रयत्न करो, डरने से काम नहीं होगा। साधारण पुरुष तो केवल भय खाता रहता है। कोई एक बुद्धिमान शशक की तरह विचार करता है तो पाता है कि यह कालरूपी शेर मर सकता है। ऐसा नहीं कि नहीं मर सके। काल रूपी शेर को इसके प्रतिबिम्ब से ही भिड़ा दो। हम क्यों मरते हैं? शरीररूपी उपाधि के साथ एक होते हैं, तब काल हमको पकड़ता है। अब इस उपाधि को यदि किसी के प्रतिबिम्ब के सामने कर देंगे तो उपाधि और उपाधि आपस में खतम हो जायेंगे और हमारी अमरता वैसी ही बनी रह जायेगी। जैसी हमारी पंचकोशों की उपाधि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय की उपाधि है, ऐसे ही समष्टि की उपाधि है। यह जो समष्टि विराट् ब्रह्माण्ड है, यह भी तो उस परमेश्वर की उपाधि ही है। इसलिये यदि इस उपाधि को हम उसमें लीन कर देते हैं, व्यष्टि को समष्टि में लीन कर देते हैं तो व्यष्टि और समष्टि की जहाँ एकता की, व्यष्टि और समष्टि एक दूसरे से बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव में आये, वहाँ जीव का काम बन गया। ऐसा जीव जीवन्मुक्ति का अनुभव करके जब दूसरे को कहता है कि मैं तो इस मृत्यु के पार चला गया, तब दूसरे जीव को जल्दी से विश्वास ही नहीं होता है। सोचता है कि जीव कहाँ से परमात्मा को पायेगा। लेकिन अन्त में जब देखता है कि उसको जीवन के प्रतिक्षण में सिवाय आनन्द के और कुछ अनुभव होता ही नहीं, तब मन में सोचता है कि अपने तो आनंद को ढूढ़ते हैं और आनन्द की छाछ भी मिलती नहीं, और यह हमेशा आनन्द के मक्खन पर ही हाथ रखता है तो अवश्य मृत्यु का अतिक्रमण कर गया ऐसा लगता है। 'बुद्धिर्यस्य बलं तस्य' इस प्रकार से बुद्धिपूर्वक जब मनुष्य व्यष्टि को समष्टि में लीन करता है, अपने शरीर में होने वाले पृथ्वी तत्त्व को समष्टि के पृथ्वी तत्त्व में, अपने अन्दर होने वाले जल तत्त्व को समष्टि जल तत्त्व में, अपने अंदर होने वाले वायु तत्त्व को समष्टि वायु तत्त्व में, इसी प्रकार व्यष्टि-आकाश को समष्टि आकाश में

लीन कर देता है तो उपाधिरहित हो जाता है। उपाधिरहित हो गया तो अब इसको वह कालरूपी शेर कैसे पकड़ेगा ? व्यष्टि को समष्टि में लीन करने का तरीका आगे बतायेंगे। जब तक यह तरीका नहीं समझते, तब तक इस संसार में तो जानते ही हो कि मूर्ख प्रयत्न करता रहता है, 'अंधा पीसे कुत्ता खाय' जैसे ही काम करता रहता है, पर हाथ कुछ नहीं लगता। इसलिये बुद्धिपूर्वक करने पर ही उसकी प्राप्ति होगी। इसको बुद्धिपूर्वक कैसे प्राप्त किया जाये, इस पर आगे विचार करेंगे।

२६-२-७५

पंचम मंत्र की व्याख्या

अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक् ।
अहीँश्चसर्वाञ्जम्भयन्त्सर्वाश्च यातुधान्यो धराचीः परासुव ।।५।।

पिछले मंत्र में बताया था कि नित्य दुःख प्राप्त करने वाले जीव को शिव वचन के द्वारा यह पता लगता है कि मेरा स्वरूप वस्तुतः नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त रूप है। यह शुद्ध बुद्ध मुक्त रूपता तब होती है जब इसको पंचकोशों से अलग करके जानता है। दोनों के उपाधि-रहित रूप को भली प्रकार से समझने पर यह होता है। यह पूर्व मंत्रों में बताया। अविचार से बंधन है और विचार से मुक्ति है। अविवेक के कारण अहं है और विवेक होने पर शिव है। यह विवेक किस प्रकार से हो, इसे बताने के लिये यह पंचम मंत्र प्रारंभ होता है। "अध्यवोचत् अधिवक्ता" जिस चीज को हम प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा जानकर बोलते हैं उसको वक्ता कहते हैं। प्रत्यक्ष से हमने आँखों के द्वारा कुछ देखा, अनुमान से हमने कुछ जाना, ऐसा प्रत्यक्ष और अनुमान से हुआ ज्ञान जब हम दूसरे को बताते हैं तो इसका मतलब वक्ता है अर्थात् बोलने वाला। जिसका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान से कभी न हो सके, ऐसी चीज को जो बताये, उसको अधिवक्ता कहेंगे। अधिवक्ता जो परमात्मा, वह कैसा है? "प्रथमः" इस समग्र ब्रह्माण्ड में सबसे प्रथम हैं, अर्थात् सर्वाधिक पूज्य हैं, और सृष्टिक्रम में भी उससे पहले और कुछ नहीं। "दैव्यः" दैवीगुण सम्पत्ति वाले देवताओं का वह हमेशा हितकारी है और "भिषक्" समग्र दुःख शोक और रोगों को नष्ट करने वाला होने से भिषक् है। वैसे भिषक् रोगनिवर्त्तक, चिकित्सक या वैद्य को कहते हैं। परमेश्वर

अधिवक्ता है, प्रथम है, दैव्य है, भिषक् है और "अधि अवोचत्" अर्थात् उसी ने परमात्मप्राप्ति के मार्ग का प्रतिपादन किया। परमात्मा की प्राप्ति किस प्रकार हो, इस मार्ग का प्रतिपादन भी वही करता है। वही साधन भी है और साधन का प्रतिपादन करने वाला भी वही है। साधन के द्वारा जिसको प्राप्त किया जाता है, वह साध्य भी वही है। यहाँ अध्यवोचत् से कहा कि उसी ने परमात्मप्राप्ति के मार्ग का निरूपण किया। उस परमात्मा से प्रार्थना करते हैं "अहीं सर्वान् जम्भयन्" जितनी भी इस परमात्म प्राप्ति के बीच में रुकावटें हैं, परमात्मप्राप्ति करने के लिये जो जो चीज प्रतिबंधक बनती है या रुकावट डालती है, उन सारी रुकावटों को आप समाप्त करें। "सर्वाः धराचीः परासुव" इतना ही नहीं धरा (पृथ्वी) अर्थात् नीचे की तरफ ले जाने वाली जितनी हमारी काम आदि वृत्तियाँ हैं, उन सबको भी आप दूर कर दें, परे कर दें। इसी प्रकार से "यातु" (जादू) अर्थात् भिन्न-भिन्न प्रकार की संसार की सिद्धियों की तरफ प्रवृत्ति कराने वाले जो साधन हैं साधना मार्ग में जाने पर, परमेश्वर की तरफ चलने पर जो सिद्धियाँ आकर हमको अपने उद्देश्य की तरफ टिकने नहीं देती, उनको भी आप हमसे दूर करें। इस प्रकार इस मंत्र में कई साधनों का निरूपण किया।

विचार करने के पूर्व मन के अन्दर उस विचार की सामर्थ्य कैसे आये, इन साधनों को बताने वाला यह मंत्र है। मनुष्य हमेशा ही और वर्तमान काल में तो स्पष्ट है कि दुःख भार से अत्यन्त पीड़ित है। अनादि काल से, हमेशा से ही मनुष्य के ऊपर कोई न कोई दुःख बना ही रहा है, लेकिन वह दुःख का भार काल के साथ घटा नहीं है, बढ़ता गया है। हम सोचते हैं कि जैसे-जैसे वैज्ञानिक और दूसरी प्रगतियाँ होती हैं, वैसे-वैसे हमारा दुःख-भार कम होगा लेकिन यह दुःखभार बढ़ता ही जाता है। हम लोगों के सामने ही अँग्रेजों के राज्य के समय लोग सोचते थे कि स्वतन्त्रता होने के बाद

हमारा दुःख दूर हो जायेगा। सबके मन में यही आशा लग रही थी कि कब स्वतंत्रता आये और कब हमारा दुःखभार दूर हो। स्वतंत्रता आने के बाद लगता है कि वह दुःखभार पहले से हजार-गुना ज्यादा बढ़ गया है, यह तो अपने-अपने हृदय में सभी अनुभव कर रहे होंगे। इसी प्रकार मनुष्य सोचता है कि सम्भवतः कुछ हो जाये तो दस साल में परिस्थिति सुधर जायेगी। सुधरने से उसका मतलब है कि यह दुःखभार कम हो जायेगा, लेकिन संसार का रूप है कि दुःखभार बढ़ता ही जाता है, कभी घटता नहीं। जैसे व्यक्ति के जीवन में विवाह करके दुःख घटता हो, ऐसा कुछ नहीं है। लगता है कि दोनों समय गरम-गरम फूले हुए फुलके खाने को मिल जायेंगे। लेकिन, अधिकतर तो आप लोगों में विवाह किये हुए हैं, मिलते हैं गरम-गरम फुलके? अगर घरवाली बनाने को तैयार है तो अपने को खाने की फुर्सत नहीं और जिस दिन अपने को खाने की फुर्सत होगी उस दिन घरवाली को पीहर या बहन के घर जाना होगा। मनुष्य सोचता है कि सुख की प्राप्ति होगी लेकिन होती नहीं। इसी प्रकार सोचते हैं कि बेटे का विवाह हो जायेगा, बहू आयेगी तो आराम से रहेंगे, सारे घर का काम वह कर लेगी। जब पुत्र का विवाह हो गया तब अनुभव क्या होता है? इसको सहने की अपेक्षा तो मेरी सास ही अच्छी थी, जितनी इसकी तीमारदारी इस जवानी में करनी पड़ती है उतनी तो बुढ़ापे में सास की नहीं करनी पड़ी। मनुष्य समझता है कि दुःखभार कम होगा लेकिन कम होने वाला नहीं है। जैसे व्यक्ति के जीवन में दुःखभार कम नहीं होता, वैसे ही समाज के जीवन में भी यह दुःखभार कभी घटता नहीं है, बढ़ता ही जाता है।

इसकी निवृत्ति के उपाय को जब तक मनुष्य नहीं जान लेगा तब तक यह दुःखभार कैसे हटेगा? न केवल यह कि वह दुःख को हटाना नहीं जानता, वरन् इस दुःख को उठाने की इसमें सामर्थ्य भी नहीं है। ऐसा लगता है कि यह दुःख सहने

की शक्ति भी इसमें आ जाती तो अच्छा था। परन्तु होता यह है कि दु ख सहन करने की सामर्थ्य भी उपलब्ध नहीं होती क्योंकि दुःख वहन करने की सामर्थ्य हो, चाहे दुःखनिवृत्ति की सामर्थ्य हो, यह बिना परमेश्वर के सम्बन्ध हुए होता नहीं है। संसार के पदार्थ स्वयं दुःखरूप होने से इनसे दुःख को हटाने का प्रयत्न वैसा है जैसे कोयले के चूरे से कपड़े की कालिख मिटाने का प्रयत्न हो। कोई सोचे कि कोयले के चूरे को रगड़कर कपड़े की कालिमा हटा देंगे तो कालिमा हटेगी या बढ़ेगी। अथवा कई बार कपड़ा नया आता है तो उसके किनारे से धागे कुछ लटकते हैं। उस धागे को देखकर कई बार लोग हमसे कहते हैं—महाराज! इस धागे को हटा दें। हम उनसे कहते हैं कि यह धागा हटेगा तो अगला वाला बाहर निकलेगा। इस प्रकार यदि धागे हटाते रहोगे तो थोड़ी देर के बाद वहाँ कपड़ा नहीं रह जायेगा। इसलिए वह जैसा है वैसा पड़ा रहने दो। थोड़े दिन में जम जायेगा और फिर नहीं निकलेगा। यदि निकालने का प्रयत्न करोगे तो जो नया निकलेगा वह तो और जमा हुआ नहीं होगा। जैसे धागे को निकालकर उसको सीधा नहीं कर सकते, कोयले के चूरे से मैले कपड़े को साफ नहीं कर सकते, ऐसे ही संसार के दुःखमय पदार्थों से दु.ख की निवृत्ति नहीं हो सकती। दुःख की निवृत्ति का उपाय तो, जिसका संसार रूपी दुःख से कोई स्पर्श नहीं है, ऐसा परमात्मा ही है। मनुष्य चूंकि दुःख की निवृत्ति सांसारिक पदार्थों के द्वारा चाहता है, इसीलिए उसे हटा नहीं पाता। दुःख की निवृत्ति होगी तो परमेश्वर से ही होगी, परमात्मा को प्रसन्न करना बड़ा कठिन मामला हो, ऐसी बात नहीं है। परमात्मा अतिशीघ्र और बिना किसी पदार्थ के भी प्रसन्न हो सकता है। आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र कहते हैं 'अर्कद्रोण प्रभृति कुसुमैः' हे परमात्मन्, हे भगवन्! आपका पूजन करने में क्या चाहिए? आकड़े के फूलों से भगवान प्रसन्न हो जाते हैं। आकड़े के फूल को चाहे जहाँ प्राप्त किया जा सकता है। बंगाल के तर प्रदेश में तो

आकड़ा सुलभ हो, कोई आश्चर्य की बात नहीं लेकिन बीकानेर के रेगिस्तान में भी आकड़ा तो मिल ही जाता है। कोई ऐसा स्थल नहीं जहाँ यह साधी सी चीज न मिल जाये। इतने मात्र से परमेश्वर प्रसन्न हो जाते हैं। कहते हैं कि उसी से आपकी अर्चना हो जाती है। साधारण अर्क से ही नहीं, भगवान शंकर तो इतने आशुतोष हैं कि उसके बिना भी शीघ्र प्रसन्न हो जाते हैं।

'पेरियापुराणम्' दक्षिण भारत का एक ग्रन्थ है जिसमें शिवभक्तों की लीला का वर्णन है। उसमें शाक्य नायनार नाम के शिवभक्त का कथानक है। उस काल में दक्षिण भारत में बौद्ध, जैनों का बहुत जोर था इसीलिये वहाँ का राजा किसी को शिवभक्ति करने ही नहीं देता था और उसमें रुकावट पैदा करता था। वहाँ एक घर में भाई-बहन दो ही प्राणी थे। शाक्य नायनार की बहन का नाम अक्का था। उनके माता-पिता छोटी उमर में ही मर गये थे। अक्का का विवाह नहीं हुआ था और वह निरंतर भगवान शंकर की भक्ति करती थी। बड़े होने पर भाई ने दो-चार बार ज़िक्र भी किया कि विवाह कर ले तो वह कहे कि क्यों विवाह के चक्कर में पड़ूँ। परमेश्वर के भजन में ही जीवन बिता दूँगी। तेरे को बड़ा करने में मेरी उमर भी हो गई है, अब वैसे भी मेरी विवाह करने की इच्छा नहीं है। भाई भी देखता था कि अधिकतर समय तो यह परमेश्वर के भजन में लगाती है, इसीलिए उसने भी ज्यादा जोर नहीं दिया। अक्का बराबर उसको कहे कि तू भी जरा पूजा जप किया कर, परमेश्वर का ध्यान किया कर। मनुष्य जीवन में आये हो तो इस मनुष्य जीवन का कुछ लाभ उठाओ। यहाँ भी आकर के जो पशु जीवन में करते रहे, खाना-पीना ओढ़ना, सोना, वही सब करने में मत लगे रहो। ये भी करो, तुम्हें कोई ना नहीं करती लेकिन इस मनुष्य जीवन का जो प्रधान उद्देश्य है उसको भी तो कुछ करो। लेकिन भाई के बात बैठती नहीं थी। यह एक विचित्र चीज होती है। जिसको संसार की

सत्यता की दृष्टि दृढबद्धमूल होती है, उसको कितना भी समझाओ तो जैसे कमल के पत्ते पर पानी डालने से टिकता नहीं, वैसे ही उसके मन में यह वात टिकती नहीं। वह कहता था'—वहन ! तेरे काम में हस्तक्षेप नहीं करता, तू भजन पूजन किया कर और मेरे जीवन में हस्तक्षेप मत कर।' फिर भी बहन बड़ी होने से बीच-बीच में उसे समझाती ही रहती थी। नायनार को राजा के यहाँ नौकरी मिल गई और वह वहाँ का कार्याध्यक्ष हो गया। अच्छी स्थिति हो गई। अच्छी स्थिति होने पर वह तरह-तरह से लोगों पर अत्याचार करने लगा। अगर अच्छे आदमी को कोई सामर्थ्य की प्राप्ति होती है, प्रभुता या शक्ति मिलती है तो वह तो दूसरे की रक्षा करने में उसको काम में लाता है और अयोग्य व्यक्ति को वही शक्ति मिलती है तो भले आदमियों को सताने में उसी शक्ति का प्रयोग करता है, यह सर्वत्र देखने में आता है। चाहे जिसको पकड़कर के दो साल तक जेल में बन्द करने का अधिकार क्या किसी खूनी, डकैत, चोर-लुटेरे को पकड़ने के लिये आज तक कोई करता है। जो व्यापार करता है, दस पैसे कमाकर घर में लाया है उन्हीं को पकड़ने के लिये इसका प्रयोग होता है। कोई किसी का खून करके भाग गया, उसको पकड़ने की कहाँ किसी को फुर्सत है। क्या कारण है ? 'शक्तिः परेषां' परपीडनाय' आने पर यह नहीं लगता कि हम दूसरे के दुःख को दूर करें, वल्कि यह लगता है कि दूसरे को दुःखी कैसे करें। यही उसका हाल हुआ। वहन के हृदय में वड़ा दुःख होता था। वह सोचती थी कि मैंने इसे वड़ा किया, इसके लिए सव कुछ किया लेकिन यह इस प्रकार के आचार में प्रवृत्त हुआ है ता उसको लगता था कि इस दोष में मैं भी भागी हू। भले आदमियों को यह होता है। वह भगवान शंकर से वरावर प्रार्थना करे कि हे प्रभु ! किसी तरह से इसकी बुद्धि शुद्ध करो। हम लोग वरावर प्रार्थना हो यह करते हैं कि किसी तरह हमारी बुद्धि शुद्ध हो। जब तक बुद्धि शुद्ध नहीं होती तब तक संसार में कुछ शुद्ध

नहीं हो सकता। बुद्धि शुद्ध हो गई तो बाकी चीज़ें शुद्ध हो जायेंगी। इसलिए बुद्धि की शुद्धि के लिए पहला प्रयत्न शास्त्रकार बताते हैं। प्रत्येक मनुष्य को यज्ञोपवीत के समय मंत्र ही यह दिया जाता है "धियो यो नः प्रचोदयात" हमारी बुद्धि को आप प्रवृत्त करें, बुद्धि को ठीक करें। अक्का यही प्रार्थना करती थी। भगवान शंकर तो आशुतोष हैं। थोड़ी सी भी कोई प्रार्थना करे तो सुन लेते हैं और वह तो भक्त थी। भगवान शंकर ने विचार किया कि इसकी प्रार्थना के अनुसार इसे ठीक करना है लेकिन कुछ निमित्त बनाना चाहिए। परमेश्वर किसी भी कार्य को सीधा नहीं करते हैं। कुछ न कुछ निमित्त बनाकर करते हैं। एक दिन नायनार के पेट में बहुत भयङ्कर दर्द हुआ। शूल (Colitis) में पेट में भयंकर दर्द होता है। अच्छे से अच्छे वैद्य उसके पास थे, क्योंकि राजा का कर्मचारी था। बीच बीच में राजा के लिये दूर देश के वैद्य आते थे, उन्होंने भी इसे देखा। बड़ी बड़ी कीमती औषधियों का प्रयोग किया गया लेकिन वह रोग तो ऐसा आया था कि कम होने का भी नाम न लेता तो हटने का तो नाम ही क्या लेगा। होते-होते उसका शरीर भी जीर्ण हो गया। अब उसके मन के अन्दर अभिमान की जो एक ठसक आई थी, वह भी कुछ ठण्डी पड़ने लगी। बीच-बीच में बहन उससे कहे कि देख तू यह सब करता है जरा भगवान शंकर के मृत्युंजय का पूजन भी करके देख। लेकिन यह बात उसके नहीं जँची। महर्षि चरक ने सारी दवाइयाँ बताईं, तरह-तरह की औषधियों का वर्णन किया, रोग का निदान कैसे किया जाये, रोग का कैसे पता लगाया जाये, यह सब लिखा। लेकिन अंत में वह कहते हैं कि कभी दवाई नहीं मिलेगी, कभी रोग का पता नहीं लगेगा इत्यादि कई विघ्न आयेंगे। एक दवाई ऐसी बताता हूँ जो सरलता से मिलेगी और सब रोगों पर लगेगी। जैसे आजकल एक बायोकैमी चली है कि आठ दवाइयों में ही सब रोग ठीक कर दे। ऐसे ही महर्षि चरक ने कहा

कि एक ही दवाई बताता हूँ जो सब रोगों को दूर कर देगी। वह है "मृत्युंजय महादेव वृषभध्वज कीर्तनात् नश्यन्ति सकला रोगाः सत्यं सत्यं वदाम्यहं।।" मृत्युंजय महादेव वृषभध्वज इन नामों का कीर्तन अर्थात् वार-बार उच्चारण करने से जितने रोग हैं, सब नष्ट हो जाते हैं। अव यह दवाई सुलभ भी है, कोई वहुत बड़े बक्से में ले जाने की भी जरूरत नहीं। छोटासा नाम ही तो है याद कर लो 'मृत्युंजय महादेव वृषभध्वज', और इसमें न यह पता लगाने की जरूरत कि रोग का निदान क्या है, कौनसा रोग है, कैसे हुआ, क्या पथ्य है, कुछ नहीं जानना है। दवाई भी सरल है और यह भी नहीं कि आजकल की ऐस्प्रो, नावल्जिन आदि खाने की तरह रोग दब जाये, जड़मूल से सारा रोग चला जाता है। किसी ने कहा कि ऐसे ही वढ़ा चढ़ा कर बात करते होंगे, ऐसे थोड़े ही रोग नष्ट हो जाता होगा। कहते हैं 'सत्यं सत्यं वदाम्यहं' प्रतिज्ञा करके कहता हूँ, निश्चित सत्य वात कह रहा हूँ, संदेह का प्रश्न नहीं है। बहन उसको कई बार समझाती कि एक बार यह दवाई भी तो लेकर देख। लेकिन वह हँस दे कि इस दवाई से क्या होना है। लेकिन धीरे-धीरे जैसे-जैसे शरीर कमजोर होता गया तो अंदर का अहं कुछ ढीला पड़ा। वीच-वीच में सोचे भी कि कर ही लूँ, क्या हर्जा है लेकिन फिर अन्दर से सोचे कि अगर ऐसा करते हुए मुझे किसी ने देख लिया तो राजा मुझे एक दिन तन्खा देने वाला नहीं है, क्योंकि राजा का नियम था कि कोई शंकर की भक्ति न करे, ईश्वर की ही भक्ति न करे। इसलिये मन फिर संकोच कर जाये और फिर सोचे कि इतने वड़े-बड़े राजा महाराजा और इतने बड़े-वड़े लोगों का काम विना शंकर के चलता है तो मेरे को ही क्या जरूरत पड़ी है। आज-कल भी यही होता है कि परमेश्वर को न मानने वाले राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, मुख्यमंत्री, करोड़पति, बैंक के चेयरमैन बन जाते हैं तो अपने भी काहे को भजन करें, इसमें क्या रखा है। मनुष्य के मन में आ जाता है। लेकिन धीरे-धीरे जैसे-जैसे रोग वढ़ता गया, अन्दर की

वृत्ति में फरक पड़ा। शाम के समय वह अपने मित्रों के साथ घूमने जा रहा था तो रास्ते में शंकर का एक मन्दिर था जहाँ बड़ा सुन्दर शिवलिंग था। उसके मन में आया कि 'इसकी पूजा करूं' और साथ में यह भी आया कि ये सब साथी राजा से शिकायत कर देंगे। मन में बड़ी विचित्र प्रेरणा हुई। भगवान शंकर तो मायाधीश हैं ही। नायनार ने दो छोटे-छोटे कंकड़ (पत्थर के टुकड़े) उठाये और मन में कहा कि हे परमात्मन्! इनको तुम फूल ही समझना। मैं तो तुम्हारी पूजा ही कर रहा हूँ। मन में ऐसी भावना करके वे दो पत्थर उसने शिवलिंग पर फेंक दिये। उसकी भावना तो किसी की समझ में आई नहीं। साथ वाले बड़े खुश हुए कि यह हम लोगों से भी पक्का नास्तिक है, अपने तो मन्दिर नहीं जाते, नमस्कार नहीं करते, पूजा इत्यादि नहीं करते और यह तो पत्थर भी मारता है। लेकिन भगवान शंकर तो 'भावग्राही महेश्वरः' हृदय के भाव को देखते हैं। अब उसके वाद उसके मन में कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि रोज उधर से निकले तो यही काम करे। नियम कर लिया कि रोज शाम को सूर्यास्त के बाद घूमने के लिये मन्दिर के मार्ग से निकले और वह प्रदोष काल हुआ ही करता है। भगवान शंकर के पूजन के लिये प्रदोष काल ही प्रधान काल है। जैसे भगवान विष्णु के पूजन के लिये प्रत्यूषकाल वैसे भगवान शंकर के पूजन के लिये प्रदोष काल श्रेष्ठ है। अव ऐसा होते-होते एक वर्ष पूरा हो गया। जिस दिन एक वर्ष पूरा हुआ और उसने फिर वहाँ पत्थर फेंका। उस दिन वह अकेला ही था क्योंकि वर्षा का मौसम था और दूसरों ने घूमना कम कर रखा था। लेकिन उसने तो अपना नियम वना लिया था। चीज नियम ही है। जब हृदय में भाव शुद्ध हो और नियम पक्का हो तो वाह्य उपचार में क्या लेते हो इससे ज्यादा फरक नहीं पड़ता। उस दिन भगवान शंकर ने प्रकट होकर कहने लगे कि तू क्या चाहता है, वोल? उसने कहा—महाराज! पेट की पीड़ा सहन नहीं होती, उदरशूल अत्यन्त कष्टदायक है। भगवान

शंकर ने उसी समय कहा—यह उदरशूल तो किसी निमित्त से आया था। अब तू अपनी बहन से जाकर पंचाक्षरी मंत्र का श्रवण कर ले। "ॐ नमः शिवाय" इस पंचाक्षरी का निरंतर जप करते रहना। तू रोग से निर्मुक्त हो गया। उसी समय उसका उदर रोग सर्वथा दूर हो गया। घर आया, बड़ा प्रसन्न था। बहन को सारी बात बताई। बहन ने भी उसको पंचाक्षरी मंत्र जपने की विधि बता दो। अब धीरे-धीरे उसके मन में वृत्ति का प्रवाह होने लगा। समझदार था ही। राजा के यहाँ कार्याध्यक्ष के पद से भी उसने इस्तीफा दे दिया और इस्तीफे में लिखा ही यह कि राजन्! तुम घोर अंधकार में पड़े हुए अपने सारे राज्य को नरक के मार्ग में ले जा रहे हो। इस प्रकार सब लोगों को नरक के काम में धकेलने में मैं तेरा सहयोग नहीं करूंगा। परमेश्वर के साथ सम्बन्ध होते ही हृदय में निर्भयता आ जाती है। वह व्यक्ति फिर किसी से भय नहीं खा सकता। नहीं तो आजकल मनुष्य के भय का कोई ठिकाना है। सेलसटैक्स अफसर तीन सौ रुपये कमाने वाला उसको बाबूजी बाबूजी करते जीभ घिस जाती है। इन्कमटैक्स अफसर पांच सौ रुपये कमाने वाला कुर्सी पर बैठा हुआ, तुम उसके सामने जाते हो, साल में २५-५० हजार रुपये आयकर तुम देते हो, उस अफसर की तन्खा से कहीं ज्यादा और वह बैठता है मालिक बनकर और तुमको खड़ा रखता है मुजरिम बना कर। यहाँ का तो पता नहीं, दिल्ली के लोग तो कहते हैं कि अफसर बैठने को कुर्सी भी नहीं देते। वह अफसर तो बैठा रहता है और आदमी खड़ा भय खाता रहता है। उसको हिम्मत नहीं कि कह सके कि भले आदमी! तुम्हारी तन्ख्वा तो मैं आयकर में भर रहा हूँ। इन सब भयों को छोड़कर जब मनुष्य एक परमेश्वर को पकड़ता है तो सर्वथा निर्भय हो जाता है। फिर उसको बड़े से बड़ा चक्रवर्ती राजा यहाँ तक कि देवराज इंद्र भी ऐसा लगता है जैसे तुमको अपना झाड़ू लगाने वाला नौकर लगता है। उनमें कुछ दम नहीं है। जब तक परमात्मा से सम्बन्ध नहीं होता तभी तक हृदय में

यह भय छिपा रहता है। राजा को उसका इस्तीफा पढ़कर क्रोध आ गया। इस बात को सुनने के साथ ही उसने तुरंत सिपाही भेजकर उसे बुलवाया और पूछा कि यह चिट्ठी तूने लिखी है। उसने कहा—हाँ। राजा ने कहा—जानते हो, इसका दण्ड क्या होगा। उसने कहा—इस चिट्ठी को लिखने का क्या दण्ड होगा, यह तो तुम जानो लेकिन तुमने मुझे इस प्रकार पकड़कर इस प्रकार बुलाया है इसका दण्ड तुम्हें क्या होगा, यह मैं जानता हूँ। यह सुनकर राजा को और क्रोध आया और उसने सिपाहियों को आदेश दिया कि इसको अंधेरी कोठरी में धक्का मारकर फेंक दो। सिपाहियों ने ले जाकर उसे कोठरी में फैंक दिया। तीन दिन तक वह वहीं पड़ा रहा। तीसरे दिन उस राज्य पर कालयवनों (जातिविशेष) का बड़ा भारी आक्रमण हुआ। राजा ने अपनी फौज वहाँ युद्ध करने के लिए भेजी, वह फौज भी हारने लगी और अब राजा भी स्वयं युद्ध के लिये पहुँचा। उसके पहले वह प्रायः जीता करता था लेकिन अब की बार वह दो-तीन दिन तक बराबर हारता रहा। इस प्रकार पूरे नौ दिन निकल गये। नवें दिन राजा विचार करने लगा कि क्या कारण है कि मैं जो काम करता हूँ, सो उलटा पड़ता है। उसके मन में जरा विचार जाग्रत हुआ। राजा ने जब अपने मंत्री से विचार किया तो मंत्री ने कहा—राजन्! एक बात मेरी समझ में आती है कि आपने बिना किसी अपराध के उस कार्याध्यक्ष को बंधन में डाल दिया है, वह कहीं कुछ न कर रहा हो। राजा के भी बात बैठी। राजा वहाँ गया। देखता है कि अंधेरी कोठरी प्रकाश से भरी हुई है और वह बड़े आनन्द से बैठा हुआ है। राजा ने इधर-उधर जाकर चारों तरफ देखा कि यहाँ रोशनी कहाँ से आ रही है। लेकिन वह कहीं बाहर से थोड़े ही आ रही थी। उसने उससे पूछा कि तू बड़े आनन्द से यहाँ बैठा हुआ है, नौ दिन हो गये, तेरे को भूख-प्यास कुछ नहीं लग रही है। वह कहता है—राजन्! तुमने मेरा बड़ा उपकार किया। जो आनन्द यहाँ की

शांति में बैठकर 'नमः शिवाय' का जप करने में आ रहा है, वह बाहर कहीं कभी नहीं आया, कुछ न कुछ विघ्न विक्षेप हो जाता था। यहाँ न भोजन पानी की चिन्ता और जब भोजन पानी हो नहीं तो बाकी भी कोई कार्य करने की जरूरत नहीं है। मैं तो यहाँ बड़े आनन्द से भगवत भजन कर रहा हूँ, मेरे को कोई दुःख नहीं है। अब राजा का मन और भी ढीला पड़ा। कहने लगे-भई, तू कुछ हमारे खिलाफ तो नही कर रहा है। उसने कहा—राजन्! मैं किसके खिलाफ करूँ 'शिवः कर्त्ता शिवो भोक्ता शिवः सर्वमिदं जगत्। शिवो यजति यज्ञश्च सोऽहमस्मि सदाशिवः॥' जहाँ कहीं कुछ भी किया जा रहा है, वह करने वाला शिव है, जहाँ जो कुछ भी भोगा जा रहा है, वह भोगने वाला शिव है। जितना दीख रहा है वह सब शिवरूप है, यज्ञ करने वाला भी शिव और यज्ञ भी शिव है। मेरे कण-कण के अन्दर केवल वह शिव ही नृत्य कर रहा है। मैं कैसे किसी के विषय में कोइ बुरी चिंतना कर सकता हूँ। तुम्हारे मन में यह व्यर्थ का भाव है। 'शिव' शब्द का अर्थ ही कल्याणमय होता है। उस कल्याणमय का चिंतन करने वाला कभी किसी के अनिष्ट का चिन्तन थोड़े ही कर सकता है। सत्य की वाणी में बड़ा जोर होता है। जब उसकी यह बात सुनी तो राजा को बात झट जँच गई। राजा ने कहा कि मैं नौ दिन में बड़ा परेशान हो गया। वह हँस पड़ा, कहा—राजन्! मैंने तुमसे पहले ही कहा था कि मुझे तो तुम दण्ड दे नहीं सकोगे लेकिन ऐसा करोगे तो तुम्हारे ऊपर व्यर्थ दण्ड आकर गिरेगा। तुमने आकर मेरे से पूछा भी नहीं। तेरे ऊपर दूसरे शत्रुओं ने चढ़ाई कर रखी हैं। राजा ने कहा—हाँ। उसने कहा—वे शत्रु तुमने स्वयं ही पैदा कर रखे हैं। शिव से द्वेष का मतलब अशिव से प्रेम है। 'शिवं द्वेष्टि शिवेतरः' यह भागवत में सती ने दक्ष को कहा है। शिव से अतिरिक्त अशिव हुआ हुआ ही तू शिव से द्वेष करता है। इसलिये राजन्! जैसे ही तुमने अपने शिव रूप से द्वेष किया तो अशिव रूप तो तूने खुद धारण किया। आज भी अपने हृदय से अशिव भावना को हटा दे तो यह सारा अशिवमय तुम्हारे लिये भी

कल्याणमय हो जायेगा। राजा उसी समय कार्याध्यक्ष को बड़े आदर भाव से निकालकर वाहर लाया और उसके साथ बैठकर उसने भी भगवान् शंकर का पूजन किया। पूजन के बाद जब युद्ध के मैदान में पहुँचा तो वहाँ बड़े जोर की आँधी आई हुई थी और वह आँधी उस राज्य की तरफ से चलकर विरोधी की तरफ बढ़ रही थी। इसलिये उन लोगों के शस्त्रास्त्र, आँखें, बाल सब धूल से भरे हुए थे। अब वे युद्ध तो क्या करते, वे तो उस आँधी के भय से ही वहाँ से भाग रहे थे। उनके तम्बू इत्यादि सब उड़ रहे थे। राजा उनके पीछे जाने लगा तो लोगों ने कहा, काहे को जाते हो, ये तो खुद ही जा रहे हैं। राजा वापस आया और उसने परमेश्वर के प्रति अपने द्वेष को छोड़कर फिर से अपने राज्य के सब लोगों से कहा—मैंने तुमको गलत रास्ते लगाया, इस गलती का मैंने फल पाया। पहले राजाओं से एक फायदा होता था। वह एक राजा होता था और वह अपनी गलती जान लेता था तो राज्य को सुधार लेता था। प्रजातंत्र में टण्टा ही यह है कि एक राजा नहीं। एक जना समझ भी ले कि क्या कारण है कि इतने साल से हमको अनाज ही पूरा नहीं पड़ रहा है, जरा भगवान् की स्तुति करके देखें, यह बात एक को जँच भी जाये तो राजा तो कई हैं, दूसरों को नहीं जँचती। वह तो राजाओं का राज्य था। इसलिये उस राजा ने भी अपने देश में सब लोगों को परमेश्वरपरायण बनाने में प्रवृत्ति की। धीरे-धीरे सब कल्याण के भागी बने। विचार करो, यहाँ तो यह बता रहे थे कि शाक्य नायनार ने केवल पत्थर से ही पूजन किया और वह भी भगवान् शंकर ने स्वीकार कर लिया। आचार्य अप्पय-दीक्षितेन्द्र इसीलिये कहते हैं' "अर्चनन्ते विधेयं प्राप्यन्तेन स्मरहर फलं मक्षसाम्राज्य लक्ष्मीं" इतने पूजन से ही वह मोक्ष साम्राज्य की लक्ष्मी तक की प्राप्ति करा देते हैं।

ऐसा नहीं कि पूजा की सामग्री आकड़े का फल कुछ नहीं जैसा, तो फल भी थोड़ा सा मिलता होगा, क्योंकि हेतुगर्भ

विशेषण देते हैं 'स्मरहर'। भगवान शंकर तो कामनाओं को नष्ट करने वाले हैं। जो कामनाओं को नष्ट करने वाला है, वह कभी भी संसार के पदार्थों की तरफ तो कामना की दृष्टि करेगा ही नहीं। इसलिये आचार्य अप्पयदीक्षितेन्द्र कहते हैं कि इस बात को मैं जानता हूँ कि भगवान शंकर का पूजन करने में सामग्री कोई ज्यादा नहीं और फल बहुत बड़ा। यह बात मैं जानता हूँ लेकिन हे शिव, हे शिव ! मैं व्यर्थ अपना समय खो देता हूँ। विचार करो कि हम लोग जीवन का कितना समय व्यर्थ खोते हैं, कोई ठिकाना है। पड़ोसी के घर में क्या हुआ, नानी की पोतबहू को क्या तकलीफ है, आदि कहाँ-कहाँ की बात लोग याद रखते हैं। आजकल तो इससे भी आगे की सोचते हैं कि वियतनाम में क्या हुआ, इजराइल अरब के आपसी सम्बन्ध कैसे हैं, इत्यादि कहाँ-कहाँ की बात याद रखते हैं। किसी को कहो कि नमः शिवाय की हजार माला फेर लिया कर। कहता है—महाराज ! समय नहीं मिलता। कुछ देर बाद पूछो कि इजराइल की नीति अच्छी या अरब वालों की तो देखो गरमागरम सारी रिपोर्ट तैयार है। दुनिया भर की चीजों में व्यर्थ ही अपना काल मनुष्य खोता है। "एतज्जानन्नपि, शिव शिव व्यर्थयन्कालमात्मन्नात्मद्रोही' स्वयं ही हम अपने द्रोही हैं, कोई दूसरा हमारा नुक्सान नहीं करता है। हम स्वयं ही अपना नुक्सान करते हैं। इसी से बार-बार नरक-रूपी योनियों में जाना पड़ता हैं। यह जो यहाँ पर श्रुति बता रही है कि इस प्रकार से परमेश्वर की तरफ दृष्टि करके परमेश्वर के सम्बन्ध से ही दुःख भोग हटेगा। हम लोग जो यह समझते हैं कि हमारा दुःखभोग हम सांसारिक उपायों से दूर कर लेंगे तो यह कभी होने वाला नहीं है। यह तो तभी होगा कि जब उस शिव कल्याणमय का सहारा लिया जायेगा, उसके बिना इसकी निवृत्ति नहीं। उसका सहारा लेने का क्या तरीका है ? इस पर आगे विचार करेंगे।

२७-२-७५

इस मन्त्र में, पूर्व मन्त्र में बताये, परमात्ममार्ग में चलने वाले साधक के लिये आवश्यक जो विचार, उनकी प्राप्ति के साधनों का विवेचन कर रहे हैं। जब तक विचार करने की सामर्थ्य न आ जाये तब तक विचार नहीं होता है। इस विचार की प्राप्ति की सामर्थ्य कैसे प्राप्त हो ? इस पर विचार करना है। यहाँ पर सामर्थ्य की प्राप्ति में सबसे पहले कहा 'अध्यवोचदधिवक्ता' प्रत्यक्ष और अनुमान के द्वारा ज्ञान करके जो चीज कही जाती है, वह कहना वक्ता का काम है और प्रत्यक्ष व अनुमान से जिसका ज्ञान नहीं हो सकता, उसको कहना अधिवक्ता का काम है। कौनसी ऐसी चीज है जिसका ज्ञान हम लोगों को इन्द्रियों से नहीं हो सकता ? वह परमात्मा ही है। परमात्मा कभी भी इन्द्रियों का और मन का विषय नहीं बनता। इसीलिये केनोपनिषद् के प्रारंभ में ही जब शिष्य प्रश्न करता है कि उस परमात्म तत्व को कैसे समझें तो गुरू जबाव देते हुए कहते हैं 'यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनोमतं। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते ॥' जिसके बारे में मन तो विचार कर नहीं सकता, मन उसके बारे में नहीं सोच सकता, वरन् जिसकी सामर्थ्य से, जिसकी शक्ति से मन मनन कर रहा है, ऐसा कहा जाता है। मन उसको विषय नहीं कर सकता क्योंकि वह मन के अन्दर बैठकर मन को चलने की सामर्थ्य देता है, उसको ही तुम परमात्मा (ब्रह्म) समझना, मन जिसको विषय करता है, वह नहीं। जब मन ही वहाँ नहीं जा सकता, उसको विषय नहीं कर सकता तो बाकी इन्द्रियों की सामर्थ्य तो स्वतः असिद्ध है क्योंकि बाकी इन्द्रियों को चलाने वाला मन है। जब बाकी इन्द्रियों को चलाने वाला मन भी उसे विषय नहीं कर सकता तो उसके द्वारा चलने वाली इन्द्रियों में सामर्थ्य तो आयेगी कहाँ से। इसीलिये उसका ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार पर नहीं हो सकता। उस तत्त्व का प्रतिपादन शास्त्र करता

है इसीलिये उस शास्त्र को कहने वाले परमेश्वर को यहाँ अधिवक्ता नाम से कहा। अब वह जब अधिवक्ता रूप से उस तत्व को समझाये तो समझाने के लिये शब्दों की सहायता अपेक्षित होती है। चाहे इन्द्रिय के विषय को समझो, चाहे इन्द्रियातीत विषय को समझो, समझने के लिये शब्द की आवश्यकता अवश्यंभावी है।

शब्द कैसे चलता है और कैसे अर्थ को प्रकट करता है, यह थोड़ा समझायेंगे। किसी भी शब्द से हमको ज्ञान कैसे होता है? प्रत्येक शब्द कई प्रकार से हमको अर्थ का ज्ञान कराता है। एक तो हमने कोई चीज देखी और किसी ने बता दिया कि इसका यह नाम है। गाय जा रही थी, बच्चे ने पूछा यह क्या है? माँ ने कह दिया 'इयं गौ' यह गाय है तो उसको ज्ञान हो गया कि यह गाय है। यह एक तरीका है। इस तरीके में व्यक्ति के नाम का पता तो लग जाता है लेकिन अन्य नहीं। पहले पहल बच्चे को जब कहते हैं 'इयं गौ' तो दूसरे दिन वह उस दिन वाली सफेद गाय की जगह काली गाय की तरफ उंगली करके फिर पूछता है 'का इयं' यह क्या है? तुम फिर कहते हो 'इयं गौ', यह गाय है। बच्चा कहता है कि कल सफेद वाली को गाय कहा, आज काली वाली को गाय कह दिया, यह क्या बात है। इसी प्रकार कई गौओं को देखने के बाद उसके अन्दर एक शक्ति आ जाती है जिससे वह समझ लेता है कि गोत्व एक जाति है जो अनेक व्यक्तियों में रहती है। अब जिस गाय को उसने कभी नहीं देखा उसको भी देखकर पहचान लेता है कि यह गाय है। छोटे बच्चों को इसीलिये पहले पहल शब्द समझने में कठिनाई होती है। दो जनों को बुलाकर बच्चे को कह देते हो कि यह भी चाची और यह भी चाची। बच्चे की समझ में नहीं आता। यदि किंचित् भेद कर दो कि बड़ी चाची और छोटी चाची तब तो उसे अर्थबोध हो जायेगा और धीरे-धीरे जाति का बोध होने लगता है। जैसे गोत्व (गोपना) एक धर्म है जो कई व्यक्तियों में रह सकता है तो फिर ज्ञान हो जाता है। यह तो शब्दज्ञान का एक प्रकार हुआ। दूसरा

प्रकार चीजों को कुछ क्रिया करते देखकर शब्द का ज्ञान हो जाता है जैसे भोजन को पकाने वाले को देखकर 'यह रसोइया' यह ज्ञान हो जाता है। मोटर चलाने वाले को देखकर 'यह सारथी या ड्राइवर' यह ज्ञान हो जाता है। इससे भी ज्ञान हो जाता है। एक शब्द को दूसरे शब्द के साथ-साथ देखकर ज्ञान हो जाता है। यह शब्दों के ज्ञान का एक प्रकार है। बिलकुल प्रारंभ में यह ज्ञान का प्रकार है लेकिन धीरे-धीरे शब्द की शक्ति के विषय में ज्यादा ज्ञान आता है। उस ज्ञान में मनुष्य शब्द के अर्थ को छोड़कर उससे सम्बन्ध वाले पदार्थों को भी समझने लगता है। शास्त्रीय भाषा में इसको लक्षणा कहते हैं। जैसे किसी को कह दिया गया कि लाल जीतेगा। शनिवार को तुम्हारे कलकत्ते में रेस होती है, वहाँ कह दिया कि लाल जीतेगा। इससे क्या ज्ञान हो जाता है? लाल घोड़ा जीतेगा जबकि लाल तो रंग का नाम है। अथवा तुम्हारे फीचर के अन्दर पूछते हैं कि कौनसा नम्बर आयेगा? उसने इशारा किया तो तुमने समझ लिया कि सात नम्बर आयेगा। यहाँ पर मनुष्य किसी एक चीज से सम्बन्धित दूसरी चीज को समझ लेता है। इसको लक्षणा कहते हैं। इसी प्रकार से शब्दों में एक व्यंग्यार्थ भी हुआ करता है। जैसे किसी मूर्ख को देखकर कहा कि यह तो बहुत बड़ा पण्डित है। इस वाक्य में पण्डित का और मूर्ख का कोई सम्बन्ध नहीं लेकिन सामने वाला समझ जाता है कि यह मूर्ख है।

यहाँ तो यह विचार कर रहे हैं कि परमेश्वर के प्रतिपादक शब्दों का ज्ञान कैसे हो। शब्दज्ञान का जो पहला तरीका बताया, वह तो परमेश्वर के विषय में कभी घटेगा नहीं। जैसे उँगली से सिखलाते हैं 'इयं गौ' लेकिन 'अयं परमात्मा' ऐसा नहीं कह सकते। कोई पूछे कि परमात्मा क्या है? उसके सामने हम खड़ा करके बता सकें कि 'अयं परमात्मा' तो नहीं बताया जा सकता। न परमात्मा को किसी दूसरे पदार्थ के सम्बन्ध के साथ

ही देख सकते हैं। इसलिये परमात्मा का ज्ञान प्रथम प्रकार से तो हो ही नहीं सकता। अब सोचना पड़ेगा कि दूसरे तरीके से हो सकता है या नहीं। परमात्मा के ज्ञान का तरीका लक्षणा ही है। कैसे ? वेद कहता है 'सत्यं ज्ञानमनंतम् ब्रह्म' ब्रह्म सत्य है। 'सत्य' शब्द से तुमने समझा कि जो चीज बदलती नहीं और जैसी होती है, उसको लोक में सत्य कहते हैं। अर्थात् 'सत्य' शब्द का अर्थ हुआ जो चीज बदलती नहीं और जो चीज यथाभूत होती है। तुमने एक आदमी से पूछा कि कल कहाँ थे ? उसने कहा—दिल्ली में। दूसरा वही बात पूछता है तो वह कहता है बम्बई में था, तीसरा पूछता है तो कहता है कि कल में कलकत्ते में था। समझ लेते हो कि यह सत्य नहीं बोल रहा है क्योंकि बदलता जाता है। यदि प्रत्येक व्यक्ति को यही कहता कि कल मैं दिल्ली में था तब तो वह बात सत्य होती। यह तो हुआ कि जो चीज बदलती रहती है वह सत्य नहीं होती। दूसरे, यदि वह सबसे कह भी दे कि मैं दिल्ली में था लेकिन कल हम उसको कलकत्ते में देख रहे थे तो यथाभूत न होने से अर्थात् जैसी बात थी वैसी न होने से वह भी सत्य नहीं। इन दो चीजों से सत्य का पता लगता है। इसलिये 'सत्य' शब्द का वाच्यार्थ अर्थात् उसका जो अर्थ हमारी पकड़ में आता हैं, वह यह हुआ कि जो बदले नहीं और जैसा हो वैसा ही कहा जाये। लेकिन जब सत्य शब्द का आगे विचार करने लगते हैं तो देखते हैं कि संसार में कोई चीज़ ऐसी नहीं जो बदलती नहीं, चाहे कोई साल में बदले. कोई शताब्दी में और कोई युग में बदले। जितने पदार्थ हैं सारे बदलने वाले ही मिलते हैं। इसलिये किसी चीज को सचमुच सत्य नहीं कह सकते। किसी से पूछा—तुम्हारा नाम क्या है ? वह कहता है—केदार। फिर उससे पूछा—सत्य बोल रहा है ? कहता है—हां जी। उससे कहते हैं कि आज से पचास साल पहले भी तेरा यह नाम था ? वह कहता है—पचास साल पहले मुझे पता ही नहीं कि मैं कहाँ था तो नाम का क्या पता ? फिर उससे पूछते हैं कि पचास

साल बाद भी तेरा नाम यही रहेगा ? वह कहता है—कहाँ जाऊँगा, और क्या नाम होगा, किसको पता है। वह कहता है कि मेरा नाम केदार है और साथ में यह भी मानता है कि पचास साल पहले मेरा यह नाम नहीं था और पचास साल बाद भी यह नाम नहीं रहेगा तो क्या यह सचमुच सत्य हुआ। आगे उसी से पूछते हैं तुम कौन हो ? तुम्हारा यथार्थ रूप क्या है ? वह शरीर की तरफ हाथ करके अपने को दिखाकर कहता है कि यह मैं हूँ। यही अपना सत्यरूप मानता है और लोग भी यही मानते हैं। किसी दूसरे से कहते हैं कि यह कहता है कि केदार हूँ, क्या यह सच्ची बात है, झूठी तो नहीं ? वह कहता है—नहीं, जैसा है वैसा ही इसने कहा है। जब से यह पैदा हुआ तब से इसको जानता हूँ। दस आदमी गवाही भी दे रहे हैं कि इसने ठीक कहा। अब आगे उन सब गवाहों से यदि पूछो कि क्या यही केदार पचास साल पहले था और पचास साल बाद केदार रहेगा ? उनके पास भी कोई जवाब नहीं। 'मैं केदार हूँ' यह नाम और यह देह दोनों अभी हैं, पहले नहीं थे, आगे नहीं रहेंगे। इसलिए यह सापेक्ष सत्य हुआ।

एक बार एक सज्जन हमारे पास आये, वह राजनीति में रुचि लेते हैं। अपनी-अपनी रुचि होती है। वेदांत का कुछ अध्ययन चल रहा था। उसमें उन्हें कुछ शंका थी। उन्होंने कहा कि देश और समाज का उद्धार तो हर हालत में प्रधान ही है। आप चाहे जितना ब्रह्म के विषय में विचार करो लेकिन देश और समाज का उद्धार किये बिना काम नहीं चल सकता। हमने उनसे कहा कि बात तो हम आपकी मानते हैं लेकिन आप जो यह मानते हैं कि यह जीवन का उद्देश्य है, वह कैसे मान लें। हमने उन्हें एक दृष्टांत दिया कि अभी आप देश के उद्धार का मतलब समझ रहे हैं भारत का उद्धार। कल यदि आप यहां से मरकर चीन में उत्पन्न हो जायेंगे तो आप भी वहाँ राजनैतिक नेता होकर कहेंगे कि हिन्दुस्तान पर चढ़ाई करके सबको रगड़ मारना चाहिये। आप ही यह भी कहेंगे।

इसी प्रकार जब तुम समाज के उद्धार की बात करते हो तो वह कौनसा समाज है। जिस समाज को तुम आज अपना मान रहे हो, वही समाज किसी समय पराया हो जायेगा। यहाँ तक पुराणों में तो बताया है कि एक बार महर्षि नारद और महर्षि पर्वत दोनों कहीं जा रहे थे। ये दोनों वैसे मामा भांजे हैं। मार्ग में एक जगह नारद को हँसी आ गई। पर्वत उनकी तरफ देखकर कहने लगा कि क्या बात हुई, हँसी कैसे आ गई? बोले—ऐसे ही हँसी आ गई। पर्वत ने कहा—ऐसे ही नहीं, बताओ क्या बात है? नारद ने कहा—जाने दो। दो व्यक्ति चल रहे हों, एक बिना कारण हँसे तो दूसरा सोचता है कि मेरे ऊपर हँसा होगा। पर्वत कहने लगे—बताओ, किस बात से हँसी आई। मैंने कोई हँसी की या अनुचित बात कही? बहुत पीछे पड़ने पर नारद कहने लगे—वहाँ तुमने देखा नहीं था कि एक दुकान के अन्दर एक बकरे ने मुँह मारा तो दुकानदार ने बड़े जोर से उस पर लट्ठ दे मारा। इससे हँसी आ गई। पर्वत कहने लगे—बात बनाते हो, बेचारे बकरे को चोट लगी और तुमको हँसी आई, यह बात मैं कैसे मान लूं। यह नहीं हो सकता, सच्ची बात बताओ। नारद कहने लगे—बात तो यही है। यह जो बकरा है, यह पूर्व जन्म में, जिसने इसे डण्डा मारा उस लड़के का बाप था। उसी ने यह दुकान खोली, उसी ने मकान बनाया, उसी के परिश्रम से यह व्यापार इसका यहाँ चला। कालांतर में मर गया तो रात दिन यहीं के संस्कार होने के कारण यहीं बकरा बनकर पैदा हुआ और जन्म भर सांसारिक व्यवहारों में, विषयों में चरने की ही इसकी इच्छा होने के कारण यह यहाँ भी चरने ही वाला बकरा होकर पैदा हुआ। कर्मफल का परिपाक है। पूर्व संस्कारों के कारण यह बार-बार इस दुकान की तरफ खिचकर आता है 'ह्रियते ह्यवशोऽपि सः' नियम है कि मनुष्य के मन में जैसे संस्कार पड़ेंगे तदनुकूल ही जन्म जन्मान्तर में भी उसकी प्रवृत्ति होगी। मनुष्य यह जानता नहीं है। रेल में चढ़ते हो, डिब्बे में तीस

आदमी बैठे हुए हैं। उनमें से किसी एक और दो के साथ तो तुम्हारी बड़ी मित्रता हो जाती है। किसी एक-दो के साथ व्यर्थ ही झगड़ा भी हो जाता है। क्या कारण है? जिसका जिसके साथ पूर्व जन्म का सम्बन्ध खिचाव का होता है तो वह यहाँ भी हो जाता है। जिसका जिसके साथ सम्वन्ध दुराव का होता है तो वह आगे भी चलता है। यह वकरा भी पूर्व संस्कारवशात् इस दुकान के ऊपर आता है लेकिन लड़को को क्या पता, इसलिये वह डण्डा मारता है कि इस वकरे को कितना ही मारो, यहाँ से जाता ही नहीं। इसलिये मुझे हँसी आई कि देखो, इसी ने यह दुकान विठाई, इसी ने यह मकान वनाया, इसी ने यह पुत्र पैदा किया और आज एक मुट्ठी अनाज लेने पर डण्डा खाना पड़ता है। यह संसार का स्वरूप है।

इसलिये जब विचार करके देखते हैं तो पाते हैं कि जिसको हम सत्य कहते हैं, वह भी वदल जाता है और वह भी यथार्थ को नहीं कहता है। सत्य के दो लक्षण देखे थे, जो बदले नहीं और जो जैसी वात है, जैसा पदार्थ है, वैसा वताये। यह चीज संसार के किसी विषय के वारे में नहीं हो सकती। इसलिए संसार के अन्दर 'सत्य' शब्द का अर्थ लेना पड़ता है सापेक्ष सत्य अर्थात् वह सत्य किसी चीज की अपेक्षा रखता है। मेरा नाम केदार है अर्थात् पचास साल आगे पीछे छोड़कर केदार, इतनी अपेक्षा रखकर यह सत्य है। इसी प्रकार मेरा स्वरूप क्या है? इसके वारे में भी पचास साल आगे पीछे को छोड़कर के ही उसको सत्य मानना पड़ेगा। जैसे तुम बैंक पर चैक या हुण्डी काटते हो तो उसकी मियाद होती है कि छः महीने में उसे भुना लो तो वह चैक सच्चा, नहीं तो झूठा। किसी को तुम चैक दो और वह यदि उसके पास छः महीने तक पड़ा रह जाये तो बैंक वाले उसका पैसा नहीं देते। वह बैंक से कहता है—क्या बात है, रुपया नहीं है या दस्तखत ठीक नहीं हैं। बैंक वाला कहता है कि चैक तो सच्चा है लेकिन मियाद से बाहर का

है। छः महीने के अन्दर यदि बैंक वाले उसका रुपया देने से नट जायें तो छाती पर चढ़कर कह सकते हो कि झूठा चैक कैसे दिया, ठगी करते हो। लेकिन छः महीने के बाद के चैक को दिखाकर क्या उस पर मुकदमा कर सकते हो कि इन्होंने चारसौबीसी या ठगी की। यह नहीं कह सकते, वह कहेगा कि मियाद हट गई। इसी प्रकार इस लोक में जितने भी सत्य हैं, वे मियादी सत्य हैं अर्थात् अमुक मियाद तक सत्य हैं, उसके आगे पीछे नहीं। मियाद अलग-अलग है। इसी को सापेक्ष सत्य कहते हैं। अब जब वेद कहता है 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म' तो सत्यं का यह सापेक्ष अर्थ हमको पता है। अब इससे लक्षणा होगी कि क्योंकि सापेक्ष सत्य या मियादी सत्य हमको संसार में मिलता है, इसलिये यह बेमियादी निरपेक्ष सत्य ब्रह्म का सिद्ध हो गया। देखने में तो म्यादी सत्य आया और ज्ञान हुआ उसके द्वारा बेमियादी सत्य का।

परमात्मा के जितने नाम हैं, वे इस प्रकार से सापेक्ष और निरपेक्ष आधार पर हमको उनका ज्ञान करा देते हैं। शब्दों का ज्ञान संसार में सापेक्ष रूप से, ब्रह्म उनका निरपेक्ष रूप, इस प्रकार शब्द अधिवक्ता बन जाता है अर्थात् जिसका अनुभव न हो सके, उसको वताने वाले वे शब्द हो जाते हैं। इसलिये परमात्मा के नामों का बार-बार आवर्तन करने का विधान किया गया। विचार करने की सामर्थ्य तव आये जव हम बार-वार परमेश्वर के इन नामों का आवर्तन करें, उन्हें दोहरायें। मन में, वाणी से, व्यवहार में उनका बार-वार आवर्तन करना पड़ता है। जितना-जितना आवर्तन करते जायेंगे, उतना-उतना सापेक्ष से निरपेक्ष की तरफ हमारी वृत्ति बनने लगेगी। परमेश्वर के नामों के वार-बार उच्चारण करवाने का तात्पर्य यही है। इसलिये परमेश्वर के नाम के जप पर, नाम के पुनरावर्तन करने पर इतना जोर दिया जाता है। परमेश्वर के नाम के साथ जब सम्वन्ध होता है तो यह कभी नहीं सोचना चाहिये कि वह सम्वन्ध

फल को कैसे उत्पन्न करेगा, क्योंकि अंत:करण या मन जिन शब्दों से आप्लावित होगा या आभासित होगा, अथवा जिन शब्दों से उसे भरेगा वैसा ही हो जायेगा। अच्छे शब्दों से मन को भरोगे तो मन में अच्छे विचारों का प्रवाह आयेगा क्योंकि मन हमेशा शब्दों के सहारे ही तो सोचता है। सोचना भी एक तरह से अन्दर-अन्दर बोलना ही तो है। अच्छे शब्दों से अंत:करण भरा होगा तो स्वभाव से अच्छे विचारों की परम्परा चलेगी और बुरे शब्दों से अंत:करण भरा होगा तो अंत:करण में अंदर ही अंदर बुरे विचारों की परम्परा चलेगी। इसलिए परमेश्वर सम्बन्धी नामों के आवर्तन से धीरे-धीरे उन्हीं चीजों का चिंतन, उन्हीं चीजों का सोचना प्रारंभ हो जाता है। धीरे-धीरे उसका लक्ष्यार्थ पकड़ में आ जाता है। शब्द के साथ ही शब्द के अर्थ में डूबना चाहिये। बहुत बार हम परमेश्वर के नाम को डूबकर नहीं लेते। ऊपर-ऊपर से नाम लेते हैं, हृदय के अन्दर रस भरकर नहीं लेते। नाम का उच्चारण करते समय अपनी समग्र भावनाओं को उधर एकाग्र करना पड़ता है।

उपनिषदों में कथा आती है कि एक बार देवासुर संग्राम हुआ। देवताओं ने विचार किया कि हम असुरों को कैसे जीतें। जीतने के उपाय को सोचते हुए उन्होंने सोचा कि हम आँख के अन्दर जाकर बैठ जायें और वहाँ से हम अनुष्ठान करके ताकत को प्राप्त कर लें। यह सोचकर देवता लोग आँख में जाकर बैठ गये। असुर उनको चारों तरफ ढूंढ़ने लगे कि देवता कहाँ चले गये। ढूंढ़ते हुए उन्होंने पाया कि देवता आँख में बैठे हैं। उन्होंने सोचा कि आँख में बैठकर यदि इनका अनुष्ठान पूर्ण हो गया तो ये हमको नष्ट कर देंगे। इसलिये ये जिस स्थल पर बैठे हैं, उसी को अपवित्र कर दो क्योंकि जिस देश में बैठकर कोई अनुष्ठान करे, अगर वह देश अपवित्र है तो अपने आप ही वह अनुष्ठान गड़बड़ा जायेगा। उन्होंने आँख को अपनी तरफ बुलाकर आँख से कहा कि तू हम से

मिल जा। तुझे बहुत बढ़िया-बढ़िया चीजें देखने को मिलेंगी, जिसे आजकल घूस देना कहते हो वही असुरों ने किया। आँख हिल गई। आँख ने सोचा कि असुर कह रहे हैं कि बढ़िया-बढ़िया चीजें देखने को मिलेंगी तो इनके साथ भी मिल जाओ। इसलिए आँख आज भी बुरा भी देखती है और अच्छा भी देखती है क्योंकि असुरों ने उसे बींध रखा है। देवताओं ने सोचा कि यह तो गड़बड़ हो गया। वे वहाँ से चलकर कान में जा बैठे कि यहीं अपना अनुष्टान पूरा करें। अनुष्ठान कुछ आगे बढ़ा लेकिन असुर ढूंड़ते हुए वहाँ भी पहुँच गये। कान से कहा कि हमारे साथ मिल जाओ तो तुमको खूब बढ़िया-बढ़िया चीजें सुनने को देंगें। कान ने विचार किया कि देवता तो बैठे ही हैं, असुर भी बढ़िया चीजें सुनाने को कहते हैं तो इनके साथ भी मिल जाओ। इसलिये आज भी मनुष्य बढ़िया सुन्दर वेद मंत्र भी सुनता है, वेदों का घोष सुनता है, वैसे ही बाइस्कोप के गाने भी सुनता है। ठीक जैसे आँख सुन्दर वैकुण्ठनाथ के दर्शन भी करती है और बाइस्कोप के नट नटियों का दर्शन भी करती है। कान को भी असुरों ने बींध रखा है। कान में भी आसुरी प्रवृत्ति आ गई। देवताओं ने विचार किया कि यहाँ भी गड़बड़ा गये। वहाँ से चलकर नासिका में बैठे। असुरों ने उसे भी बींध दिया। इसलिये मनुष्य आज सुगंधि और दुर्गन्धि दोनों को सूँघता है। उसके बाद देवता जीभ में जाकर बैठ गये। जीभ को भी उसी प्रकार असुरों ने बींध दिया। इसलिये जीभ खाद्य (खाने लायक) चीजें भी खाती है जैसे बढ़िया सुन्दर दाल का सीरा, और न खाने लायक चीज प्याज भी खा लेती है, असुरों से विंधी जो है। इसी प्रकार त्वक् इन्द्रिय में जाकर देवताओं ने अनुष्ठान आरम्भ किया तो असुरों ने स्पर्श को भी बींध दिया। इसीलिये यह आज अच्छी चीजों का और बुरी चीजों का, निषिद्ध पदार्थों का भी स्पर्श करती है। अब देवताओं ने विचार किया कि यह तो हमारा सारा काम गड़बड़ा गया। अंत में ये लोग प्राण में जाकर बैठ गये। प्राण पर आरूढ़ हो गये। असुर

ढूंढ़ते ढूंढ़ते पहुँचे तो देखा कि ये तो प्राण पर बैठे हैं। प्राण को जाकर इन्होंने कहा कि हमारे साथ मिल जा। प्राण ने कहा— हटो, हम तुम्हारे साथ नहीं मिलते। उन्होंने कहा कि बड़ी-बड़ी पाँचों इन्द्रियाँ हमारे साथ मिल गई हैं, तू भी मिल जा। प्राण ने कह दिया कि नहीं मिलूँगा। जब ज्यादा जोर दिया तो श्रुति कहती है कि जैसे मिट्टी के ढले को किसी चट्टान पर मारो तो वह टुकड़े टुकड़े होकर बिखर जाता है, ऐसे ही असुरों की जितनी शक्ति थी, वह प्राणों से सम्बन्धित होकर नष्ट हो गई। प्राण चूँकि असुरों के साथ नहीं मिले, इसलिये असुर खतम हो गये।

उपनिषद् की यह कथा इस बात को प्रतिपादित कर रही है कि बाकी सारी इन्द्रियाँ देव और असुर दोनों तरफ मिलती हैं लेकिन प्राण असुरों के साथ न मिलने के कारण प्राण का स्पंद कभी बुरा कर्म नहीं करता। प्राण केवल तुम्हारे शरीर को जीवित रखता है और कुछ बुरा कर्म नहीं करता है। जितने दिन परमेश्वर ने दिये कि इतने दिन इस शरीर को जीवित रखना है, तो बस यही एक काम प्राण तब तक करता है। न उसके पहले निकलता है और न उसके बाद रुकता है। इसीलिये यदि मनुष्य की आँख खराब होती है तो डाक्टर दवाई दे देता है, कान नहीं सुनता है तो लोग एक यन्त्र लगा देते हैं जिससे सुनाई दे जाता है, या दवाई ले लेते हैं, जीभ में गड़बड़ हो, भोजन में स्वाद न आये तो उसके लिये भी डाक्टर दवाई दे देते हैं, बढ़िया सज्जी देते हैं उसे खाकर स्वाद आने लगता है। बाकी इन्द्रियों के लिये तो कुछ न कुछ किया जा सकता है लेकिन उन प्राणों के लिये भी क्या कोई औषधि है ? यदि कहीं प्राणों के लिये कोई औषधि निकल आये तो जितने लखपति करोड़पति हैं, वे सारे बीबी के गहने भी बेचकर अपने प्राण को बचा लेंगे। बाकी चीजों के लिये तो यह सब नहीं देंगे लेकिन तुम्हारे प्राण बचा देंगे, ऐसा

यदि कोई कह दे तो दे देंगे। कारण यह है कि प्राण अपना कार्य किये जा रहा है, जैसा शास्त्र का विधान है। उसको न कम कर सकते हो, न ज्यादा कर सकते हो। इसलिये इसमें किसी प्रकार का आसुरी स्पर्श नहीं है। परमेश्वर के नाम स्मरण में क्या करते हो? परमेश्वर के नाम का जब उच्चारण करते हो तो प्राणों के द्वारा ही तो कण्ठ ताल्वादि का प्रयोग करके करते हो। शब्दोच्चारण के लिये जो आठ स्थान हैं जहाँ से शब्द का उच्चारण होता है, कण्ठ, नासिका, तालु ओष्ठ, दाँत इत्यादि। विचार की दृष्टि से तो हृदय भी शब्दोच्चारण का एक स्थल है। जो भी हो, शब्दोच्चारण में करते क्या हो? प्राणों से कण्ठ ताल्वादि स्थानों को आघात मारते हो। इसलिये इसके उच्चारण में प्राण भी ज्यादा लगते हैं। प्राण अतिशुद्ध होने से प्राण क ऊपर बैठकर जो अनुष्ठान किया जाता है, वह सफल हो जाता है। भगवान भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद इसीलिये कहते हैं 'हिंसादि पुरुषांतर द्रव्यान्तर देश कालादि नियम निरपेक्षो जपयोगः' परमेश्वर के नाम स्मरण के अन्दर एक तो हिंसा इत्यादि कुछ नहीं है। वाकी कर्मों के अन्दर किसी दूसरे पुरुष की जरूरत हाती है, नाम स्मरण में किसी दूसरे पुरुष की जरूरत नहीं। दान करना होगा तो कोई दूसरा होगा तभी उसको दोगे। यज्ञ आदि कर्मों में भी दूसरे पदार्थों की सहायता चाहिये लेकिन इसमें किसी दूसरे पदार्थ को भी जरूरत नहीं पड़ती। मोटर में बैठकर जा रहे हो, प्राण आदि आघात से किये जाओ परमेश्वर के नाम का स्मरण। कोई द्रव्यांतर की जरूरत नहीं। किसो देश में वैठकर करो, इसकी भी कोई चिंता नहीं। स्मृतिकारों ने वताया 'न देश काल नियमा......शौचाशौचविनिर्णयः।' परमेश्वर के नाम को लेने के लिये न देश का नियम और न काल का नियम और न शौचाशौच का नियम है। सवेरे उठे हैं तो बिस्तर में भगवान का नाम लो, कोई रुकावट नहीं। घर में सूतक हो गया, परमेश्वर

का नाम कैसे लें, यह सब कुछ भी सोचने की जरूरत नहीं पड़ती। उसका कारण बताया कि 'पवित्रः चंद्रशेखरः' उसका नाम ही जब सब चीजों को पवित्र करने वाला है, अपवित्र को पवित्र करने वाला परमेश्वर का नाम है तो फिर अपवित्रता को वह दूर करेगा या अपवित्रता उसको अपवित्र करेगी? इसलिये कहा 'हिंसादि पुरुषांतर द्रव्यांतर' इत्यादि नियमों की कोई अपेक्षा नहीं। इसलिये 'आधिक्यं' मर्जी आये जितना करो। बाकी चीजों में तो रुकावट आ जाती है लेकिन इसमें कोई रुकावट नहीं आती। यह जो प्राण के द्वारा कण्ठ ताल्वादि आघात के ऊपर, प्राण पर आरूढ़ होकर परमेश्वर का स्मरण है, यह पहले तो केवल शब्दरूप रहता है, फिर जैसा बताया कि उस शब्द शक्ति से परमेश्वर में नहीं, वरन् उस शब्द की लक्षणा में जाना है। शब्द तो तुमको सापेक्ष सत्य का, सगुण तत्व का ज्ञान करायेगा, लेकिन उस शब्द के आधार से तुमको जाना पड़ेगा निरपेक्ष सत्य में। बहुत बार नाम लेते समय मनुष्य इस चीज को भूल जाता है। 'सत्यं ब्रह्म' में सत्य शब्द अर्थ तो देगा शक्यार्थ का, सापेक्ष या मियादी सत्य का लेकिन ले जायेगा निरपेक्ष सत्य में। इस सापेक्ष नाम पर से निरपेक्ष के तरीके में पहुँचने पर आगे विचार करेंगे।

२८-२-७५

परब्रह्म परमात्म तत्त्व की प्राप्ति अधिवचन के द्वारा, यह प्रथम साधन इस मंत्र में बता रहे हैं। 'अधिवक्ता अध्यवोचत्' परमात्मा का प्रतिपादन शब्द से होता है लेकिन शब्द के वाच्यार्थ से नहीं, लक्ष्यार्थ से, यह कल बताया। जितने शब्द सत्य, ज्ञान, शिव आदि हैं, वे लोक में प्रसिद्ध किसी चीज को सापेक्ष भाव से बताते हैं। उन्हीं को जब निरपेक्ष भाव से समझा जाता है तब परमात्मा का अवबोध कराते हैं: कोई भी शब्द तभी हमको अर्थ का ज्ञान करा सकता है जब पहले उसके अर्थ का हमको ज्ञान हो और चूंकि पर-

मेश्वर का ज्ञान पहले है नहीं, इसलिये किसी प्रसिद्ध अर्थ को लेकर के सापेक्ष और निरपेक्ष का भेद ही हमें परमात्मा की ओर ले जाता है। यह कल बताया था। परमेश्वर के नाम चिंतन को सभी दोषों से रहित बताया। भगवान ने भी गीता में जपयज्ञ को प्रधान बताया 'यज्ञानां जपयज्ञोस्मि'। जपयज्ञ की क्या विशेषता है ? इसमें हिंसा, द्रव्यान्तर, पुरुषान्तर, देश, काल, शौच, अशौच इत्यादि का विचार नहीं करना पड़ता है, यही इसकी श्रेष्ठता है। लेकिन जपयज्ञ का तात्पर्य है 'जपु अव्यक्तायां वाचि'। जप का मतलब आवर्तन है लेकिन आवर्तन का अर्थ हमेशा होता है अर्थावबोधपूर्वक विचार। जब तक उस शब्द के अर्थ को ठीक से न समझा जाये, तब तक वह शब्द हमारे मन में उस चीज़ को प्रवाहित नहीं कर सकता। परमेश्वर का नाम लेते समय समझना पड़ेगा कि हम उस नाम से किस चीज को समझ रहे हैं। जपयज्ञ में प्रायः भूल यही होती है। मनुष्य उसको पट्टलेख (टेपरिकार्डर) की तरह बार-बार पढ़ता है। उसमें अपने हृदय के भावों को उंडेल नहीं पाता। अर्थ का ही यदि ज्ञान नहीं होगा तो उसमें भाव उँडेलेगा कैसे ?

महात्माओं में एक कथा प्रसिद्ध है कि एक लड़की थी, छोटी बच्ची थी। उसके यहाँ महात्मा आया करते थे। उन्होंने उसको कहा कि तुम 'श्रीकृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव' का उच्चारण किया करो। बच्ची थी, इसलिये उसको इतना ही बताया। वह भी नियमपूर्वक इसका उच्चारण जप करती रही। धीरे-धीरे कुछ बड़ी हो गई, उसका विवाह हो गया। अब उसके सामने एक समस्या आ गई। मारवाड़ में अपने पति और ससुर का नाम नहीं लेते। वैसे यह नियम तो सामान्य रूप से स्मृतियों के द्वारा सबके लिये ही कहा गया 'आत्मनाम गुरोर्नाम कलत्रयोः' इतने लोगों के नाम लेने का निषेध किया। आत्मनाम अर्थात् अपना नाम लेना अहंकार को बढ़ाता है। कोई बात होती

है तो आदमी कहता है कि यदि मैंने तुम्हारा दीवाला न पिटवा दिया तो मेरा नाम केदार नहीं समझना। यह अहंकार को बताता है। इसलिए अपना नाम लेने का निषेध है। पूज्यजनों का, गुरु का नाम लेना अविनय को बताता है। अपने से बड़े का नाम उच्चारण करना मनुष्य के अविनय भाव को बताता है। कंजूस आदमी का नाम भी नहीं लेना चाहिये। सवेरे-सवेरे कंजूस आदमी का मुँह देख लो तो उस दिन भोजन भी नसीब नहीं होता है। शास्त्रों में कृपणता को महापाप माना है। कृपण माने क्या ? जो व्यक्ति अपने धन से दूसरे का उपकार नहीं करता, उसी को कृपण कहा जाता है। यह नहीं कि अपने घर में तुम एयरकंडिशनर, रेफ्रिजरेटर लगाओ, अपनी औरत को हीरों के हार पहनाओ तो समझो कि मैं कृपण नहीं हूँ। यह अकृपण का लक्षण नहीं है। ऋग्वेद कहता है 'नार्यमणं पुष्यति केवलाघो भवति केवलादि ।' जो अपने धन के किसी अंश से अपने से श्रेष्ठ पुरुष का अथवा अपने बराबर वालों का रक्षण नहीं करता, इन दो में जो अपने धन का उपयोग नहीं करता, वही कृपण कहा जाता है। कल्याण की कामना वाला ज्येष्ठापत्य अर्थात् बड़े लड़के के नाम को, पत्नी पति के नाम को, पति पत्नी के नाम को न ले। यह निषेध वाक्य हैं। इसलिये पहले बड़ा लड़का होता था तो भंवरा इत्यादि कोई एक नाम रखकर उसे पुकारते थे। ठीक यही कठिनाई उस लड़की की हुई जब उसका विवाह हो गया। और जगह इतने नियमों को नहीं भी मानते हैं और अब तो मारवाड़ी भी नहीं मानते। अब तो अपनी पत्नी का हाथ पकड़-कर कहते हैं कि यह मेरी वाइफ है, पत्नी भी नहीं कहते, सोचते हैं कि अंग्रेजी बोलने से बड़ा प्रभाव पड़ेगा। उस लड़की का विवाह हुआ तो उसके पति का नाम नारायण था और उसके ससुर का नाम वासुदेव था। उसे कठिनाई हुई क्योंकि 'श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ नारायण वासुदेव' में उसके पति और ससुर दोनों का नाम है। अब उस मंत्र का जप कैसे हो। बेचारी ने जप करना

छोड़ दिया क्योंकि पति और ससुर का नाम लेना तो ठीक नहीं। साल दो साल हुए तो उसके बच्चा हो गया और उसकी समस्या हल हो गई। उसने अपना जप फिर से शुरू किया लेकिन थोड़ा सा बदलकर 'श्री कृष्ण गोविन्द हरे मुरारे हे नाथ लल्लू के बाबू जी दादा जी'। बाबू जी नारायण और दादा जी वासुदेव हो गये। अब विचार करो। उसने यह नहीं सोचा कि नारायण किसका नाम है, वासुदेव किसका नाम है ? लल्लू के बाबू जी और दादा जी कौन हैं ? अर्थ को न समझने के कारण इस प्रकार की भ्रांति होती है। इसलिये यद्यपि जपयज्ञ की बड़ी विशेषता है लेकिन जपयज्ञ में नाम के अर्थ को हमेशा स्मरण रखना चाहिये किसका नाम लिया जा रहा है। केवल पट्टलेख (टेपरिकार्डर) की तरह विना समझे हुए, विना अर्थावबोध के नाम लेने से उसमें हृदय का भाव उलटता नहीं और जब तक हृदय का भाव नहीं उलटेगा तव तक पूरी तरह से उसमें मनुष्य लीन नहीं हो सकेगा। यदि उसको यह पता होता कि 'आपो नारायणः प्रोक्तो आपो वैनरक्षुनवः' नार" का मतलब है सारे मनुष्यों के कर्मों का फल। मनुष्य के कर्मों का जो फल है उसका जो अयन करता है अर्थात् किसको किस काल में किस कर्म का फल देना है, इसकी व्यवस्था जो करता है वह नारायण है। वासु जो वास करता है। प्राणिमात्र के हृदय में वसने वाला जो देव है, वह वासुदेव है। इसलिये नारायण और वासुदेव कर्मफलदाता परमेश्वर को एवं हृदय में रहने वाले अंतर्यामी परमात्मा को बताते हैं। इस बात का पता होता तो उसे यह भ्रम न होता। उसमें फिर हृदय के भाव पूरी तरह से उंडेले जा सकते थे। जीवन में जव भी किसी कर्मफल की प्राप्ति होती है तब तुरन्त अपना नारायण नाम मनुष्य को याद आ जायेगा क्योंकि कर्मफल देने वाला वह है।

नारायण नाम का जप करने वाला व्यक्ति कभी कर्मफल से नहीं घबरायेगा क्योंकि वह जानता है कि जब मैंने कर्म किया था तो अव परमेश्वर उसका ठीक फल दे रहा है। जिस प्रकार योग्य विद्यार्थी

अध्यापक के द्वारा जब परीक्षा के काल में उत्तीर्ण या अनुत्तीर्ण होता है प्रथम या द्वितीय या अंतिम श्रेणी में आता है तो प्रसन्न होता है क्योंकि वह जानता है कि अध्यापक मेरे से प्रेम करता है, यदि मुझे अनुत्तीर्ण भी किया है तो मेरा फायदा करने के लिए, किसी द्वेष से नहीं। एक वर्ष मैं और पढ़ूँगा तो मेरा विषय तैयार हो जायेगा। जैसे यदि कोई इंजीनियर आकर तुमको कह दे कि तुम्हारे मकान की यह दीवार कमजोर है, किसी भी समय गिर सकती है, इसलिये तुम इस दीवार को ठीक करवा लो। बुद्धिमान व्यक्ति प्रसन्न होता है कि इंजीनियर ने पहले ही बता दिया, आराम से काम हो जायेगा और मूर्ख व्यक्ति हल्ला मचाने लगता है कि अच्छी भली दीवार तो दिख रही है, इसमें हर्जा क्या है। ये इंजीनियर लोग तो हम लोगों के पैसे बरबाद करवाना चाहते हैं। नतीजा क्या होता है ? थोड़े दिनों में कोई कारण बनता है, जोर से पानी बरसता है, मकान की दीवार गिरती है, लोगों को चोट आती है, कभी कदाचित् कोई मर भी जाता है और खर्चा भी उसको वह का वह करना पड़ता है, और यदि किसी बड़े शहर में ऐसी घटना हो जाये तो वहाँ के अधिकारी तुम्हारे ऊपर मुकदमा भी चला सकते हैं। बुद्धिमान तो उस इंजीनियर से प्रसन्न होता है कि इन्होंने मुझे समय से चीज बता दी, हानि नहीं होने दी। जैसे मकान की दीवार की मजबूती मकान की मजबूती है, इसी प्रकार जब अध्यापक तुमसे कहता है कि तुम्हारी पढ़ाई इस विषय की कमजोर है। अगर तुम जबर्दस्ती अगली क्लास में पहुँचोगे तो यहाँ कमजोर दीवार पर जितनी पढ़ाई की इमारत बनाओगे सब कमजोर बनेगी। एक वर्ष डटकर फिर से पढ़कर अपनी कमी को दूर कर लोगे तो आगे का विषय समझ में आयेगा, तुम्हारा मकान पक्का बनेगा। लेकिन जो बुद्धिमान लड़का नहीं होता है, वह उल्टा समझता है कि मास्टर का क्या हो जाता अगर पास कर देते तो। इसलिये मास्टर साहब को धमका कर, घूस खिलाकर कुछ भी करके

अपने पास हो जाओ। जैसा हमारी दिल्ली में होता है, इंजीनियर कहता है कि यह मकान मजबूत नहीं है तो लोग किसी दूसरे इंजीनियर को पकड़कर उसे कुछ रुपया देकर लिखवा लेते हैं कि मकान मजबूत है और बाद में मकान गिर जाता है। इस प्रकार लोग अध्यापकों से करवा लेते हैं क्योंकि मन यह नहीं कह रहा है कि यह जो फल दे रहा है, ठीक ही दे रहा है, अपने लाभ के लिये है। हमारी दृष्टि बड़ी संकुचित है। हम अपने कल्याण को स्वयं नहीं समझ सकते, ठीक जिस प्रकार दीवार की कमजोरी को हम नहीं समझ सकते, जो उसका विशेषज्ञ स्थपति (इंजीनियर) है, वही समझ सकता है। उसी प्रकार यह विषय मुझे तैयार नहीं है, इस बात को मैं नहीं समझ सकता, उस विषय का विशेषज्ञ अध्यापक ही समझ सकता है। इसी प्रकार से हमारे लिए क्या फायदे की चीज़ है, क्या कल्याण की चीज़ है, यह हम नहीं समझ सकते, परमेश्वर ही समझ सकता है। जब हमको कई बार कष्ट होता है तो हम घबरा जाते हैं। हम समझते हैं कि यह दुःख हमारे ऊपर क्यों आया। लेकिन निश्चित समझो कि हरेक दुःख हमारे लिये कोई न कोई फायदा करने आया है, यदि हम उसका उपयोग कर लें। यदि दुःख का उपयोग नहीं करते हैं तब तो वह दुःख दुःख है। मान लो रसोइया चला गया, आदमी बड़ा दुःखी हो जाता है। विचार करो कि रसोइया चला गया तो कितना अच्छा हुआ। कुछ दिनों तक जो तुम रसोई बनाना भूल रहे थे, उसका पुनर्नवीकरण (Refresher Course) हो जायेगा। लोग तो, भूल न जायें, इसके लिये समय-समय पर जाकर पैसे देकर उसका पुनर्नवीकरण (Refresher Course) करते हैं ताकि पढ़ी हुई विद्या भूल न जायें। उस रसोइये ने जाकर तुम्हारा उपकार किया है, अपकार नहीं किया है, तुमको अभ्यास करने का मौका दे रहा है। लेकिन लगता है कि यह क्या हो गया। जब यह दृष्टि दृढ़ हो जाती है तब जब कभी किसी कर्म का फल आता है तो हम जानते हैं कि हमारी अपेक्षा

हमारे कल्याण को जानने वाला नारायण है। कर्मफल को देने वाला वह है। हमको अपने भले बुरे का पता नहीं, लेकिन उसको पता है। नारायण नाम का उच्चारण करने वाला इसीलिये कर्मफल भोग के समय कभी भी घबराता नहीं है क्योंकि जानता है कि इसके पीछे कोई न कोई कल्याण छिपा हुआ है। इसी प्रकार प्रत्येक नाम के पीछे रहस्य होता है। जब तक उस रहस्य को ठीक न समझ लिया जाये तब तक वह जप हृदय को नहीं उँडेल पाता, हृदय को पूरी तरह से उस शब्द में हम डुबो नहीं पाते। यहाँ जप यज्ञ में फायदा यह बताया कि उसमें हिंसा, द्रव्यान्तर, पुरुषान्तर की जरूरत नहीं, देश और काल की जरूरत नहीं है, शौच अशौच के विचार की जरूरत नहीं। ये सब तो उसके लाभ हैं लेकिन उसमें यह कठिनाई भी है कि उसके साथ हृदय जरूर होना चाहिये। बाह्य क्रिया तो बिना पूरी तरह से दिल लगाये भी कुछ फल उत्पन्न कर देगी। जैसे किसी का बिलकुल दिल नहीं हो, फिर भी नाक पकड़कर उसके मुँह में दवाई डाल दो और पिला दो तो दवाई अपना काम कुछ जरूर करेगी। 'कुछ' शब्द जानबूझकर कह रहे हैं क्योंकि पूरा फल नहीं दे सकती है। दवाई भी पूरा फल तभी देती है जब चिकित्सक और दवाई के ऊपर श्रद्धा हो। उस पर यदि श्रद्धा नहीं होती है तो दवाई भी पूरा काम नहीं करती है। लेकिन कुछ तो उस द्रव्य का असर है, वह कर ही देगा। परमेश्वर के नामस्मरण में कोई द्रव्यांतर तो है नहीं, इसीलिए यदि वहाँ पर श्रद्धा नहीं है, जिस नाम को ले रहे हो उसके अंदर अपने हृदय को एकतार नहीं कर सके हो तो फल उत्पन्न नहीं हो पायेगा। यही उसकी कठिनाई है।

लेकिन आज के युग में यदि विचार करके देखो तो बाह्य कर्म करना बड़ा कठिन हो गया है, सरल नहीं रह गया है। पहले तो कर्मों का ज्ञान नहीं, यह पहली कठिनाई है। फिर कर्म करने के लिए अपेक्षित जो अधिकार चाहिये, वह नहीं हैं। सोलह संस्कारों में घूम फिर कर केवल तीन संस्कार कुछ बचे हैं—उपनयन, विवाह और अंत्येष्टि

अर्थात् मरने के बाद जलाना है। 'उपनयन माने' जनेऊ। बहुत से लोग शायद उपनयन का मतलब भी नहीं समझते होंगे। गर्भाधान का नाम भी बहुत से नहीं जानते होंगे। पुंसवन और सीमंतोन्नयन औरतें जानती हैं कि सातवें महीने में कंघी कर दी तो हो गया। पुंसवन कहीं है भी तो औरतें कहीं कर लेती हैं। बाकी जितने संस्कार हैं, वे सब केवल लोकाचार से कुछ कर लिये जाते हैं। जातकर्म संस्कार तो होगा कहाँ से क्योंकि अस्पतालों में तो बच्चे होने हुए, वहाँ जातकर्म कौन करेगा। सभी संस्कारों की यही स्थिति है। तीन संस्कार जो बचे भी हैं, उनमें भी उपनयन ८० प्रतिशत लोगों के यहाँ अब केवल डोरा डालने का रूप रह गया है। उपनयन का मतलब होता था कि गुरु उसको अपने पास वेदादि अध्ययन कराने के लिए ले जाता था। वह सब तो नहीं रह गया है लेकिन डोरा डाल दिया जाता है। इतना ही इसका रूप रहा है। विवाह का हाल तो देख ही रहे हो क्या हो रहा है। शास्त्र कहता है कि वेदी जमीन पर बने। लेकिन कलकत्ते में कहो कि जमीन पर वेदी बने तो कैसे काम चल सकता है। सब कुछ एक ब्रह्मरूप ही हो रहा है। आगे वेदी किस परिमाण से बननी चाहिए तो हमको लोग बताते हैं कि वेदी का परिमाण कुछ नहीं है, मौका मिले तो थाली में भी वेदी का काम किया जा सकता है। परिमाण से वेदी बनाई जाये, इसका कोई हिसाब नहीं। और सुना तो यहाँ तक है कि विवाह काल में लड़का पैंट पहनकर भी बैठ जाता है। इसलिए विवाह संस्कार का क्या हाल है, समझ ही लो। अब रह गया अंत्येष्टि कर्म संस्कार। पहले अपने यहाँ अंत्येष्टि में सगोत्र और सपिण्ड ले जाते थे। अब सगोत्र की जगह मित्र शब्द हो गया है और वह मित्र चाहे जिस मज़हब का हो, उससे कोई मतलब नहीं। और सुना तो यहाँ तक है कि अंत्येष्टि कर्म होते काल में लोग कोकाकोला भी पीते हैं। बाकी संस्कारों का तो नाम ही नहीं है, लोगों को उनका पता ही नहीं है। इन तीन संस्कारों का नाम पता है लेकिन बस

नाम ही नाम है, आगे संस्कार का कोई विचार नहीं। इसीलिये कठिनाई होती है कि विना संस्कारों के कर्म का अधिकार नहीं। जैसे तुम्हारा दिमाग ठीक है, शरीर भी ठीक है उमर भी चालीस साल की है, किसी प्रकार का तुम्हारे ऊपर मुकदमा भी नहीं चला है। अनैतिकता का कोई भय भी तुमसे नहीं है, सरकार को कर भी दे रहे हो लेकिन जब अपना मत देने जाओ तो वहाँ एक सूची में नाम चढ़ा होता है, यदि उस सूची में तुम्हारा नाम चढ़ा हुआ नहीं है तो तुम वहाँ चाहे कितना ही कहते रहो कि मेरे को देखो चालीस साल का हूँ, दिमाग, शरीर आदि सब ठीक है, सब कुछ है, वह कहेगा कि मतदाता सूची में तुम्हारा नाम नहीं, हम कुछ नहीं कर सकते, पहले तुमने इस सूची को देखकर इसमें अपना नाम चढ़वाने का प्रयत्न क्यों नहीं किया। जैसे यहाँ जब तक उस सूची में नाम नहीं चढ़ता तब तक तुम्हें मतदान का अधिकार नहीं, होते हुए भी नहीं। उसी प्रकार से तुम भारतवर्ष में उत्पन्न हुए, उत्तम कुल में जन्म लिया, सब कर्मों का अधिकार तुमको प्राप्त होने पर भी यदि संस्कार शून्य हो तो कर्माधिकार की प्राप्ति नहीं है। तुम्हारे में सामर्थ्य है, लेकिन संस्कार-रहित हो जाने की वजह से वह अधिकार काम में नहीं लिया जा सकता। 'विहितमखिल कर्म शक्यते नैव कर्तुम्।' इसीलिये कोई कहता है कि जितने भी कर्म बताये गये हैं, वे भी करना सम्भव नहीं हो पा रहा है। यह तो अधिकारी के विशेषण से विचार किया। आगे दूसरा विचार आता है कि यदि कर्माधिकारी हो भी गया तो उचित प्रकार के द्रव्यों को इकट्ठा करना भी सरल काम नहीं है। उन द्रव्यों की प्राप्ति के लिए जो अर्थ या धन आता है, वह भी ठीक नहीं। अधिकतर धन में आजकल कहीं न कहीं चोरी छिपी रहती है, साक्षात् या परम्परा से जो उस कर्म को दूषित कर देता है। क्या कारण है कि इतने कर्म हम लोग करते हैं लेकिन जो फल उत्पन्न होना चाहिए, होता नहीं है। मृत्युंजय मंत्र के जप के प्रभाव से मार्कण्डेय महर्षि अमर हो गये।

लेकिन हम लोग दस लाख मृत्युंजय का जप कर लेते हैं, करवा लेते हैं, फल उत्पन्न नहीं होता है। कारण क्या है ? या अधिकारो की गड़बड़ी रहती है या द्रव्य दूषित होता है। दोष तो लोग शास्त्र को दे देते हैं या अनुष्ठान करने वाले ब्राह्मण के सिर दोष मढ़ देते हैं। लेकिन द्रव्य का क्या दोष है, पदार्थ किस पैसे से आया, इसका कोई विचार नहीं। महाभारत में लिखा है— 'सर्वेषामेव शौचानां अर्थशौचं परम् स्मृतं' सारी पवित्रताओं के अन्दर धन की पवित्रता कि धन की कमाई में तो मैंने कोई गलत काम नहीं किया, यह बड़ा प्रधान है। लेकिन आजकल धन की पवित्रता का विचार कितने लोग करते हैं। और जरा कड़वी बात बता दें, बुरा नहीं मानना। पहले के लोग धर्म के कार्य में सदर्थ का प्रयोग करते थे, लोग सोचते थे कि धर्म के काम में पाप का पैसा न लगे। आज ठीक इससे उल्टा मामला है। नम्बर दो का ब्लैक का पैसा ही धर्म के काम में लगाते हैं।

एक राजा था। वह प्रतिदिन दान करता था। उसका नियम था कि प्रातःकाल आठ बजे से ग्यारह बजे तक जो भी व्यक्ति उसके पास आयेगा, उसके कष्ट को सुनेगा और यथासम्भव धन आदि देकर उसके कष्ट को दूर करेगा। लोग बराबर जाया करते थे। उस राज्य में एक ब्राह्मण बड़े नियम से रहता था। बड़े नियम से रहने के कारण धन तो कम आना ही हुआ। उसको तो सन्तोष था क्योंकि वह तो जानता था कि धन मनुष्य को सुख नहीं दे सकता। पाश्चात्य देश चाहे वह रूस हो चाहे अमरीका, दोनों का एक ही सिद्धान्त है कि धन से सुख होता है। धन कैसे इकट्ठा करें, कौन इकट्ठा करे, इसके विषय में तो दोनों में मतभेद है लेकिन समग्र पाश्चात्यवादियों का सिद्धान्त यही है कि धन से सुख होता है। सनातन धर्म का सिद्धान्त ठीक इसके विपरीत है। हम लोग कहते हैं कि सुख मन की इच्छा की निवृत्ति से है, धन से नहीं। भगवान गीता में कहते हैं 'त्यागाच्छांतिरनंतरं'

त्याग से शान्ति होती है। किसी भी शास्त्र में धन से अथवा पदार्थों से शान्ति नहीं बताई। इसलिए पाश्चात्य देशों से अपने सनातन धर्म के सिद्धान्त का सर्वथा दिन और रात की तरह विरोध है। वह ब्राह्मण इस बात को जानता था। इसलिये वह तो कभी विक्षेप नहीं करता था। लेकिन उसकी घर वाली उसके पीछे पड़ी रहती थी। उसको अवबोध नहीं था। ब्राह्मण उसको समझाते भी रहे लेकिन समझाना बड़ा मुश्किल होता है। जहाँ समझने की इच्छा न हो, वहाँ बहस्पति भी नहीं समझा सकते। समझने की इच्छा हो तब तो समझाया जा सकता है। जिसमें जिज्ञासा है, उसको तो ज्ञान का उपदेश सफल होता है। इसीलिए भगवान वेदव्यास ने पहला सूत्र बनाया 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा'। 'अथातो ब्रह्म प्रवक्ष्यामः' अब हम ब्रह्म का उपदेश करेंगे, ऐसा नहीं कहा। ब्रह्म जिज्ञासा है तब तो आगे उपदेश देने से कोई फायदा है और जिसके हृदय में जिज्ञासा ही नहीं, जानने की इच्छा ही नहीं उस पर जबरदस्ती थोपना नहीं बनता। फिर भी वह बेचारा समझाता रहे क्योंकि घर वाली जो हुई। एक बार बहुत पीछे पड़ी कि तुम महा आलसी हो। चाहे प्रातः-काल चार बजे से उठकर कोई वेदपाठ कर ले लेकिन घर में शाम तक यदि बीस रुपये लेकर नहीं आया तो घर वाली के लिये वह आलसी और चाहे दिन भर पड़ा सोता रहे और शाम को किसी की जेब काट कर २५ रुपये ले आये तो काम करने वाला। उसने कहा तुमसे और कुछ नहीं हो सकता तो कम से कम राजा बाँटता है, वहाँ जाकर तो कुछ माँग लाओ। वहीं से कुछ मिल जायेगा। ब्राह्मण ने कहा—जाने दे, क्यों मुझे राजा के पास भेजती है। मैं राजा के यहाँ नहीं जाऊँगा। लेकिन रोज रोज पीछे पड़ी। अन्त में तंग होकर बेचारा चला गया और वहाँ जाकर लाइन में खड़ा हो गया। धक्का-मुक्की करके उसको आगे तो जाना नहीं था क्योंकि बुद्धिमान और संतोषी था। आज तो बस की लाइन में भी लोगों को सन्तोष नहीं रहता है, वहाँ भी एक दूसरे को धक्का देकर अन्दर घुसना चाहते हैं। यह सब असन्तोष का लक्षण है जिसे हम लोग स्वाभाविक मान

लेते हैं। यह असन्तोष और अधैर्य है। शास्त्र में इन सबको पाप माना है। धृति को धर्म गिना है। जब जब तुम धैर्य छोड़ते हो, घबराते हो, कैसे हो गया, क्यों हो गया, क्या हो गया ? उस समय सब धैर्य को छोड़ने के कारण पाप के भागी बनते हो, यह नहीं समझना कि इसमें क्या होता है ? यही तो धर्म है। जब वहाँ अधीरता होती है तो आगे भी अधीरता बढ़ती है। लोग कहते हैं कि कहीं किसी कार्यालय में जायें तो घूस देनी पड़ती है। कभी अपने हृदय को देखो कि घूस क्यों देते हो ? जब अधीर हो जाते हो कि मेरा काम पहले क्यों नहीं हो जाता अथवा मेरा काम जल्दी क्यों नहीं हो जाता। अब जब तुम अधैर्य के कारण दुष्कर्म करने में प्रवृत्ति करते तो हो धीरे-धीरे सामने वाला भी दुष्कर्मी बन जाता है। लेकिन वह ब्राह्मण धैर्य वाला था, जाकर लाइन में खड़ा रहा। बाकी सब धक्का-मुक्की करते हुए आगे बढ़े, वह अपनी जगह खड़ा हुआ था। ११ बजे का समय आ गया। राजा भी बुद्धिमान था, दूर से देख रहा था कि आया तो यह बहुत पहले था लेकिन धक्का-मुक्की नहीं कर रहा है। इसलिए है यह सन्तोषी ब्राह्मण। शास्त्र ने कहा है कि ब्राह्मण के लिए असन्तोषी बहुत बड़ा पाप है। यद्यपि समय ११ का हो गया था। राजा ने सबसे कहा कि ११ बज गये और धीरे से चोबदार को कहा कि उस ब्राह्मण को बुला ला। उसे बुलाया। राजा ने कहा—पण्डित जी, आप कैसे आये ? बोला—क्या बताऊँ, मेरी पत्नी मेरे बहुत पीछे पड़ी कि घर में खाने पीने का कष्ट रहता है। वैसे कोई ज्यादा कष्ट तो नहीं है। हर दूसरे दिन भात बन जाता है और हर सातवें दिन भात के साथ दाल भी बन जाती है, नमक भी हो जाता है, मसाले तो वैसे भी अच्छी चीज नहीं हैं। चल रहा है लेकिन क्या बताऊँ, उसके मन में सन्तोष ही नहीं है। इसलिये उसने मेरे को भेजा है। राजन् ! जो तुम दे सको सो दे दो लेकिन बस एक बात है कि खरी कमाई का पैसा देना, बाकी नहीं देना। जो तुमने ईमानदारी से कमाया हो, वह देना। राजा सोचने

लगा कि मैंने तो जन्म भर राज्य किया, मेरे पास ईमानदारी का क्या काम। राजा ने ब्राह्मण से कहा कि कल आना, आज तो कुछ नहीं होगा। ब्राह्मण चला गया, घर गया तो घर वाली ने पड़ौसो से उधार लेकर हलवा बना रखा था कि आज तो राजा के यहाँ गया है, खूब धन लेकर आयेगा। वह आया तो बड़े प्रेम से दरवाजे पर मिलने गई। पूछा कि राजा ने क्या दिया, कुछ हीरा, सोना इत्यादि। उसने कहा कि राजा ने कल बुलाया है। बस फिर क्या था, गरम होने लगी कि कैसी तकदीर का खोटा है, राजा के पास जाकर भी इसको कुछ नहीं मिला। मैं किसके पल्ले पड़ गई? अब हलवा तो बन ही गया था। दूसरे दिन वह फिर वहाँ गया। उधर रात्रि के ९ बजे तक सारा राजकाज करके राजा अपने कपड़ बदल-कर बाजार में निकला तो सब जगह दुकानें बन्द हो गई थीं। एक लोहार घन पीट रहा था। राजा वेश तो बदले हुए था ही और अकेला ही गया था। लोहार के पास जाकर कहा कि तुम घन पीट रहे हो तो मैं जरा घन पीट लूँ तो मेरे को कुछ कमाई हो जाये। लोहार थका हुआ था ही, राजा को घन पीटने में लगा दिया। लेकिन राजा के हाथ कितना घन पीटें। थोड़ी देर में हाथ में छाले पड़ गये, छाले फूट गये, सारा हाथ छिल गया। अब और नहीं हो पा रहा था, हाथ नहीं उठ सकता था। घण्टा दो घण्टा जितना काम किया, उसके बाद राजा ने हथौड़ा रख दिया और लोहार से कहा कि इसके जितने पैसे हों उतने दे दो। लोहार ने सोचा कि इसने दो घण्टे काम किया है और बड़ी मेहनत से अच्छी तरह से किया है। उसका एक दुअन्नी चाँदी की और दो पैसे दे दिये और कहा कि यह तेरा हिसाब है। राजा ले आया। दूसरे दिन जब ब्राह्मण पहुँचा तो उसने पहले ही उसको बुला लिया और वह दुअन्नी और दो पैसे उसे दे दिये। कहा—यह मेरा ईमानदारी और मेहनत का पैसा है। अपना हाथ भी दिखा दिया कि इतने छाले पड़ गये, इससे ज्यादा सहन नहीं हो रहा था। इसलिए इतना ही

कर सका हूँ । ब्राह्मण ने कहा—कोई बात नहीं राजन् ? सस्ती का जमाना था, उतना ही उसके लिए बहुत था । लेकर घर पहुँचा । रात भर घर वाली ने सोचा कि राजा ने यह सोचा होगा कि वहुत अच्छा पंडित है, कभी आया नहीं, तो कुछ ज्यादा देने की इच्छा से बुलाया होगा, नहीं तो राजा ऐसे किसी को ना करने वाला नहीं है । इसीलिये बेचारी खूब तैयार होकर बैठी थी कि आज तो छकड़ा भरकर आयेगा । जब ब्राह्मण घर पर पहुँचा तो उसने इधर-उधर देखा कि पीछे कोई गाड़ी आ रही होगी, लेकिन वहाँ कुछ नहीं था। पूछा—आज राजा ने क्या कहा ? उसने वह दुअन्नी और दो पैसे उसके हाथ में रख दिये कि यह दिया है । अब गुस्से के मारे उसके पारे का ठिकाना नहीं । उसने पैसे लिये और तीनों के तीनों सिक्के घर के पिछवाड़े तुलसी के गाछ में फेंक दिये और जाकर कम्बल ओढ़कर सो गई। न उसे रोटी बनानी और न कुछ करना । कहा—जो तू लाया है, उससे तो कल के उधार माँगकर बनाये हुए हलवे के पैसे भी वापस नहीं कर सकती । ब्राह्मण नहाया धोया । जब देखा कि यह कुछ नहीं बनाती तो खुद ही बनाकर नमक डालकर खा लिया । उससे भी कहा कि थोड़ा खा लो । उसने कहा—तू ही अपने पेट में डाल ले । वह प्रातः काल तुलसी के गाछों के पास से निकली तो उसे तीन लम्बे-लम्बे डण्डे दिखाई दिये, दो चाँदी के और एक सोने का डण्डा निकला हुआ था । जाकर देखा, तोड़कर निकाले । सोचा चलो इस ब्राह्मण से तो कुछ नहीं हुआ लेकिन भगवान ने तो दया की । घर जाकर जल्दी-जल्दी ब्राह्मण को उठाया और कहा कि इन्हें ले जाकर सुनार को दिखा और कुछ पैसे मिलें तो ले आ । सुनार ने परीक्षा करके देखा कि सोना चाँदी तो अच्छा है । उसने सौ रुपये उसे दे दिये । लेकर आया । अब क्या था, वह तो बड़ी खुश हो गई । दूसरे दिन फिर ऐसे ही डण्डे निकल आये । धीरे-धीरे रोज डण्डे निकलते रहे । अब उस ब्राह्मण ने अपना मकान भी बना लिया और सब तरह की सुख-सुविधाएँ हो गईं ।

किसी ने जाकर राजा से कहा कि यह कोई विद्या करता है जिससे तुम्हारे धन को खींच लेता है क्योंकि कामकाज यह कुछ करता नहीं और धन इसके पास बढ़ता जा रहा है। राजा ने उसे बुलाकर पूछा। उसने कहा—राजन्! और कुछ नहीं, तेरो ईमानदारी की कमाई के दो पैसे और एक दुअन्नी के फलस्वरूप ही दो चांदी के और एक सोने का डण्डा रोज निकल आता है। ईमानदारी का धन निरन्तर बढ़ता रहता है। उसकी बरकत कभी कम नहीं होती और जो असत् कमाई का धन होता है, जिस अर्थ में पवित्रता नहीं है, वह कभी भी शुद्ध भाव से नहीं बढ़ता। उससे कभी सुख नहीं होता, हमेशा वह कमी ही बढ़ाता रहता है। जैसे गर्मी के दिनों में जितना बरफ का पानी पियोगे, उतना गला सूखेगा। पीते समय लगता है कि गला ठण्डा हो रहा है लेकिन थोड़ी देर में प्यास और भड़केगी। उसी प्रकार जो असत् धन होता है, वह प्राप्त होते समय में तो कुछ सुख देता सा लगता है लेकिन उससे कामनायें और भड़कती हैं और दुःख और ज्यादा होता है। जो सदर्थ है, ठीक प्रकार का शौच वाला अर्थ है वह निरन्तर बढ़ता रहता है और सुख देता रहता है। जब असत् अर्थ लौकिक व्यवहार को भी सुखी नहीं करता तो उसको पाकर यदि तुम चाहो कि परमात्म मार्ग में आगे बढ़ सकें तो नहीं बढ़ सकते। जो लौकिक सुख नहीं दे सकता, वह पारलौकिक सुख कहाँ से देगा। इसलिये कहा 'विहितमखिलं कर्म शक्यते नैक कर्तुम्' यह करना बड़ा कठिन होता जा रहा है। परमेश्वर के जपयज्ञ के अन्दर चूँकि द्रव्यांतर की आवश्यकता नहीं, इसलिये ऐसे द्रव्य के बिना भी मनुष्य कुछ कर सकता है। यही यहाँ कहने का तात्पर्य है कि परमेश्वर के नाम का जो आधार है जिसे यहाँ 'अध्यवोचदधिवक्ता' से कहा। इस नाम के आधार में यही विशेषता है कि इसमें द्रव्यांतर, पुरुषांतर, देश, काल इत्यादि किसी की अपेक्षा नहीं। अब इस नाम का प्रयोग कैसे किया जाये, यह आगे बतायेंगे।

१-३-७५

परब्रह्म परमात्मा के अधिवचन का स्वरूप बताते हुए प्रतिपादित किया कि किस प्रकार से परमेश्वर का ज्ञान प्रत्यक्ष और अनुमान के आधार से नहीं। अतीन्द्रिय तत्व होने के कारण प्रत्यक्ष और अनुमान से अधि अर्थात् उत्कृष्ट ही उसके बारे में समझना पड़ता है। यह परमात्मा का अधिवचन, इस प्रकार से जब तक परमेश्वर के नाम के अर्थ को न समझा जाये तब तक अधिवचन न रहकर केवल वचन ही रह जाता है जब उसके तात्पर्यार्थ लक्ष्यार्थ को समझते हैं तभी वह परमेश्वर के स्मरण के प्रवाह को निरन्तर चलाता है। बिना शब्द के अर्थज्ञान किये हुए वह शब्द केवल वाच्यार्थ को, सापेक्ष को बताता है। जब उस शब्द को ठीक प्रकार से समझा जाता है तब वह लक्ष्यार्थ का प्रतिपादक होता है। जैसे शब्द के विषय में वैसे ही परमेश्वर के रूप और पूजन के विषय में। इसीलिये यहाँ दूसरा शब्द 'दैव्योभिषक्' कहा है। जैसा पहले भी बताया था कि चिकित्सा करने वाले को भिषक् कहते हैं जिसे आजकल डाक्टर कहते हो। दवाई को इसीलिये भैषज्य कहते हैं। रोग को निवृत्त करना, रोग को हटाना चिकित्सक का काम है। परमेश्वर को यहाँ पर दैव्योभिषक् कहा है। बाकी जितने भी भिषक् अर्थात् बाकी जितने भी इलाज करने वाले हैं, वे इहलौकिक रोगों की दवाई दे सकते हैं। लेकिन जो आधारभूत परब्रह्म परमात्मदेव को न जानने की अविद्या है, उस रोग को दूर नहीं कर सकते। इसीलिये यहाँ परमेश्वर को दैव्योभिषक् कहा। औषधि स्वयं भी जहर रूप ही होती है। लोक में दवाई लो तो उस पर लिखा होता है 'विष' (Poison)। शंका होती है कि हम तो गये थे रोग ठीक करने को और इन्होंने ऊपर से हमको विष दे दिया तो यह लाभ कैसे करेगा। रोग विष है इसलिये उसको दूर करने के लिए उसके ही विरोधी विष की आवश्यकता होती है। यदि बिना रोग के वह औषधि लोगे तो स्वयं रोग को उत्पन्न कर देगी। औषधि से युक्त

होकर वह रोग दूर हो जायेगा। दवाई पर विष लिखने का तात्पर्य है कि बिना रोग के उसको लोगे तो विष का काम करेगी। वह स्वयं एक विष है। इसी प्रकार अविद्या रूपी विष को दूर करने के लिए विद्या की आवश्यकता पड़ती है। 'दैव्योभिषक्' हमारे अन्दर आसुरी भाव पहले से बैठे हुए हैं, इसलिए उन आसुरी भावों को निवृत्त करने के लिए दैव्य भावों को अपने अन्दर लाना जरूरी है। दैव्यभाव जब तक नहीं आयेंगे तब तक आसुरी भाव दूर नहीं होंगे। जैसे हमारे सोचने के तरीके में शब्दों का प्रवाह है वैसे ही हमको इन्द्रियों के द्वारा क्रिया करने की भी आदत है। इस क्रियारूपी विष को दूर करने के लिये ही परमेश्वर के पूजन का विधान किया गया है। पूजन एक क्रिया है। परमेश्वर के पूजन का विधान क्रिया गया। इसमें हमारी क्रिया शक्ति शुद्ध हो जायेगी। नाम से जैसे हमारे सभी संस्कार शुद्ध होते हैं, वैसे ही पूजन से हमारी क्रियाओं में शुद्धि आती है। पर जैसे नाम यदि हम बिना समझे हुए केवल पट्टलेख की तरह लेते रहते हैं तो वह अपने फल को उत्पन्न नहीं करता है। उसी प्रकार से परमेश्वर के पूजन के कर्म को भी समझना जरूरी है। कहा तो गया है 'शिवपूजात्मकं कर्म कर्मनिर्मूलनक्षमं' परमेश्वर की पूजा भी एक कर्म है। शिवरात्रि को आप सभी शिवपूजन करेंगे। है तो वह भी कर्म ही लेकिन वह कर्म ऐसा है जो बाकी के कर्मों को जड़ से उखाड़ देता है। उन कर्मों की औषधि है लेकिन कब ? जब उस पूजा के रहस्य को समझा जाये तब। इसीलिए शास्त्रकार कहते हैं 'तत्त्वतो यः शिवं वेद स वेद शिवपूजनं'।

परमेश्वर के वास्तविक स्वरूप को जब मनुष्य समझता है तभी पूजन का पूरा लाभ उठा सकता है, क्योंकि जैसे नाम परमेश्वर को साक्षात् न बताकर लक्षणा से बताता है, वैसे ही पूजन की जो क्रिया है वह भी साक्षात् परमेश्वर को विषय न करके लक्षणा से विषय करती है। सामने तो विग्रह या मूर्ति रखी हुई है लेकिन वह मूर्ति ऐसी है जिसके द्वारा हमको परमेश्वर को समझना है। जैसे मोटी दृष्टि से समझो। प्रतीक जो भी होता है, वह किसको

बताने वाला होता है ? कोई भी मूर्ति होती है तो किसको बताने वाली होती है ? अगर यह पता न हो कि यह किसका बता रही है तो वह मूर्ति उसकी याद नहीं दिलायेगी। इसलिये यह जानना जरूरी है कि मूर्ति किस चीज को बता रही है ? यही पर एक जगह गांधीजी की मूर्ति लगी हुई है जिसमें वह दण्डी यात्रा पर निकले हुए हैं। आप सब लोगों ने देखा होगी, हम उधर से आते हैं हमने भी देखी। अब विचार करो कि जिसे पता ही नहीं होगा कि उन्होंने यह यात्रा किस लिये की तो उसकी प्रतीकात्मता नहीं रहेगी। उल्टा लगेगा कि यह आदमी कपड़े पहनना नहीं जानता था, घुटने तक की धोती पहने हुए है, कम से कम कपड़ा तो ठीक से पहनता। और भी इसी प्रकार ऊपर भी कोई ढंग के वस्त्र नहीं। यह किसका चित्र यहाँ बनाकर रख दिया। यदि उसे इस प्रतीकात्मता का पता है कि यह निर्णय किया गया था कि भारत में मनुष्य को सामान्य रूप से कितना वस्त्र पहनने को मिलता है, उससे ज्यादा वस्त्र मैं नहीं पहनूंगा, इस निश्चय का फल वह आधा कपड़ा है तो वह प्रतीकात्मता को समझेगा। तब तो वह कपड़ा तुमको कुछ शिक्षा दे सकेगा, नहीं तो कुछ नहीं।

इसी प्रकार से पूजा एक कर्म है जिसमें प्रतीकात्मता समझनी चाहिये। पूजा कोई भी प्रारम्भ करो तो सबसे पहले संकल्प किया जाता है। किसी भी पूजा में संकल्प करते हो 'संकल्पः शिवपूजायाः सर्वसंकल्प दुःखहृत्' शिव माने कल्याण। आनन्दस्वरूप शिव के पूजन के संकल्प का मतलब है कि जितने भी संकल्प दुःखों को उत्पन्न करते हैं, उन सारे संकल्पों को हटा देना। न मैं किसी के दुःख का कारण बनूंगा और न मैं किसी से दुःखी होऊँगा। यह है शिव पूजा के संकल्प का तात्पर्य। गीता में भगवान् ने भी कहा 'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।' 'यस्मात् लोकः न उद्विजते' जिससे किसी दूसरे व्यक्ति को उद्वेग या दुःख न हो और 'लोकात् यः न उद्विजते' दूसरे लोगों से वह दुःखी नहीं होता। परमेश्वर की पूजा के संकल्प का वास्तविक तात्पर्य यह

है कि न मैं किसी दुःख या उद्वेग का कारण बनूंगा और न मुझे कोई दुःखी या उद्विग्न कर सकेगा। ऐसा संकल्प मैं उत्पन्न नहीं होने दूंगा। मैं दूसरे के दुःख का कारण नहीं बनूंगा क्योंकि मुझे पता है कि प्राणिमात्र के हृदय में वह शिव बैठा हुआ है। जब वह प्राणिमात्र के हृदय में बैठा हुआ है तो यदि मैं किसी को दुःखी करता हूँ तो किसको दुःखी करता हूँ? परमेश्वर को ही दुःखी करता हूँ। जैसे परमेश्वर सबके हृदय मे बैठा हुआ है, वैसे ही वह मेरे हृदय में भी है। इसलिये जब किसी दूसरे के व्यवहार से अथवा किसी बाह्य कारण से मैं अपने को दुःखी करता हूँ, तब भी किसको दुःखी करता हूँ? उस शिव को ही दुःखी करता हूँ। कहोगे कि फिर कोई दुःख दे तो क्या करना? यह शंका होती है। पहली बात यह समझ लो कि दुःख अपने को तब तक नहीं हो सकता जब तक हम उसको दुःख स्वीकार न करें। दुःख को स्वीकारना पड़ता है, नहीं तो दुःख नहीं आता। प्रत्येक परिस्थिति के अन्दर शरीर, मन, बुद्धि इत्यादि को दुःख होगा। दुःख तो उनको होना है, उस दुःख को यदि हम अपने ऊपर आरोपित कर लेंगे, अपने ऊपर चढ़ा लेंगे तब हम दुःखी होंगे और यदि उस दुःख को हम अपने ऊपर नहीं चढ़ायेंगे तो दुःख हमारा कुछ नहीं बिगाड़ सकेगा। परमेश्वर के पूजन करने वाले को सर्वत्र शिव दृष्टि हो जाने से कोई चीज दुःखी नहीं कर सकती।

अर्बुदाचल क्षेत्र में एक स्थान है 'आहुआ'। वहाँ एक भक्त हुआ है जिसका नाम आहुका था, जाति का वह भील था। पहले उसको कोई पूजा आदि करनी नहीं आती थी। एक बार एक राजा वहाँ पर शिकार करने के लिये गया। पहले जब राजा लोग शिकार करने जाते थे तो वहाँ के वन्य (जगल के रहने वाले) लोगों को एकत्रित कर लेते थे और वे उन्हें खबर भी दे देते थे कि शिकार कहाँ मिलेगा और राजा की मदद भी करते थे। उस समय में आहुका वहाँ जवान भील था तो उसने राजा की वहाँ पर सब तरह से मदद की। जवान था इसलिए अच्छी तरह से सब

काम भी करता था। राजा वहाँ दस-पन्द्रह दिन रहकर जब शिकार करके वहाँ से जाने लगा तो उसने आहुका से पूछा कि तेरे को कुछ चाहिये तो माँग ले। उसने कहा—माँगूं और आपने नहीं दिया तो ? राजा ने कहा—तू माँग, मैं दे दूंगा। राजा वहाँ जंगल में एक पटकुटी (तम्बू या टैण्ट) में रहता था। पटकुटी में जहाँ कपड़े के जोड़ होते हैं, वह आहुक वहाँ से रोज झाँक कर देखा करता था कि राजा के पास नीलमणि का एक शिवलिंग था और वह रोज सबेरे उठकर उसका पूजन नियम से करता था। उसने रोज नियम से सबेरे शाम राजा को पूजा करते देखा तो उसके मन में आया कि अरे, मेरे पास भी ऐसा होता तो मैं भी पूजन करता। यह है पूर्व जन्म के संस्कारों का फल। भगवान् भी गीता में कहते हैं 'ह्रियते ह्यवशोपि सः' अच्छे संस्कार पड़े होंगे तो थोड़ा सा मौका मिलते ही मनुष्य अच्छी चीजों की तरफ दौड़ेगा। बुरे संस्कार पड़े होंगे तो मनुष्य थोड़ा मौका मिलते ही बुरे संस्कारों की तरफ अवश हुआ हुआ दौड़ेगा। भील ने राजा की सब चीजों को देखा लेकिन उसे शिवलिंग की जरूरत थी। इसलिये उसने राजा से कहा कि आप रोज प्रातःकाल उठकर जिसकी पूजा करते हैं, वह मुझे दे दो। राजा ने कहा—इसको लेकर क्या करेगा और कुछ सोना, चाँदी इत्यादि माँग ले तू इसका क्या करेगा। कहने लगा—मैंने पहले ही कहा था कि आप ना कर देंगे। मुझे तो वही लेने की इच्छा है। राजा ने विचार किया कि यह इसी चीज को चाहता है लेकिन यह विधि विधान से पूजा तो कर नहीं सकेगा इसलिये अपना नीलम वाला शिवलिंग तो उसे नहीं दिया, उसके बदले दूसरा एक नीले रंग का शिवलिंग उसके पास था, वह उसे दे दिया। भील कहने लगा कि मुझे इसकी पूजा की विधि भी बता दो। राजा ने उसे संक्षिप्त विधि बताते हुए यह भी कह दिया कि इसके ऊपर रोज चिताभस्म चढ़ा दिया करना। उसने कहा—ठीक है। राजा तो उसे वैसे ही बताकर चला गया। क्योंकि राजा ने विचार किया कि जो अन्य पूजा की भस्म होती है उसके अंदर तो बिल्वपत्र को घी से भर कर

मंत्रोच्चारणपूर्वक आहुति देनी पड़ती है और फिर उच्चारण करना पड़ता है। यहाँ कोई ब्राह्मण तो है नहीं, वह भस्म इसे कौन तैयार करके देगा। चिता भस्म शुद्ध है, यह उसका प्रयोग कर लेगा। राजा तो उसे सामान्य रूप से बताकर चला गया लेकिन उसके मन में तो पूर्ण प्रेम था। उसने रोज विधिवत् वैसा ही पूजन करना प्रारंभ कर दिया जैसा राजा ने बताया था। नियम से करने लगा। पूजन करते करते बारह वर्ष व्यतीत हो गये। बारह वर्ष एक युग होता है, एक युग बीत गया। भगवान् शंकर ने विचार किया कि देखना चाहिये कि यह केवल पूजन ही करता है या कुछ इस विषय को समझता भी है। वैसे तो परमेश्वर सर्वज्ञ हैं और भक्त के हृदय की तो जानते ही हैं परन्तु फिर भी अनुग्रह (कृपा) करने के पहले योग्यता के परीक्षण के द्वारा दो चीजों की प्रतिष्ठा करते हैं। पहली तो यह कि यदि बिना परीक्षा किये अनुग्रह कर दें तो सबके मन में संदेह हो जायेगा कि अनुग्रह प्राप्त करने के लिये किसी तैयारी की जरूरत नहीं है। इसलिये मनुष्य परमेश्वर की कृपा को प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त नहीं करेगा। जब देखता है कि परमेश्वर कृपा करने के पहले कुछ परीक्षा लेते हैं तो हृदय में यह ज्ञान और निश्चय हो जाता है कि यदि मैं योग्यता प्राप्त नहीं करूँगा तो उसकी कृपा नहीं हो सकेगी। सर्वज्ञ परमेश्वर तो जानता है कि हमारी योग्यता क्या है लेकिन दूसरे साधक उसको ठीक तरह से समझ सकें, योग्यता को अपने अंदर लाने का प्रयत्न करें, इस निमित्त से ही वह परीक्षा लेते हैं। दूसरा एक और कारण है कि जीव के अन्दर भी यह संदेह बना रहता है कि मैं परमेश्वर के कितना नजदीक पहुँचा हूँ। परीक्षा के द्वारा उसको स्वयं अपने ऊपर आत्मविश्वास आ जाता है। साधक को भी पता लग जाता है। जब जब परीक्षा का काल आता है और वह गलती करता है तब अपने को पता लग जाता है कि अभी मेरे में कमजोरी है। परीक्षा के द्वारा एक तो कृपा की योग्यता का पता लगता है दूसरे मेरे ऊपर अब तक कृपा क्यों नहीं, इससे अपनी अयोग्यता का पता

भी लग जाता है। भगवान् शंकर ने विचार किया कि इसकी परीक्षा करनी चाहिये। चातुर्मास्य के दिन थे। परीक्षा करने के लिये भगवान १५ दिन तक निरंतर वृष्टि करते रहे। बादल साफ हुए ही नहीं, पानी बरसता ही रहा। उसके पास जितनी चिता-भस्म थी, वह समाप्त हो गई। इतनी बरसात में वह न जंगल में दूर जा सका और न इतनी बरसात में कोई चिता नजदीक जली हो। थोड़ा बहुत प्रयत्न भी किया, लेकिन उस वर्षा में चिता ही न जली। अंतिम दिन जब पूजन करने बैठा तो बाकी चीजें तो चढ़ा दीं। जब भस्म चढ़ाने का समय आया तो देखा कि उसके पास थोड़ी भी भस्म नहीं बची हुई थी। वैसा का वैसा स्तब्ध बैठा रह गया। उसकी पत्नी का नाम आहुकि था। उसने उससे पूछा कि आप एक दम सुस्त से कैसे बैठ गये हैं। कहने लगा—अब इस शरीर को रखने का कोई फायदा नहीं है। मैंने राजा से जबर्दस्ती यह परमेश्वर की मूर्ति ली लेकिन यह लेकर के जो नियम पालन करना था, वह आज मेरे से नहीं हो रहा है तो इस शरीर को रखने से कोई लाभ नहीं। अब मैं यही सोच रहा हूँ कि इस शरीर को छोड़ दूं। पत्नी ने पूछा कि किस चीज की कमी है। उसने पात्र दिखा दिया कि चिताभस्म समाप्त हो गई है। पत्नी भी पति के साथ ही रोज पूजन में सहयोग करती थी। उसने कहा—इसमें इतनी चिंता की क्या बात है। मैं अभी चिताभस्म का इंतजाम कर देती हूँ। भील ने कहा—तू कहाँ से चिताभस्म ले आयेगी। उसने कहा—अपनी झोंपड़ी सूखी हुई है; मैं उसमें बैठकर उसको आग लगा देती हूँ, जलने पर चिताभस्म तैयार हो जायेगी। आपके चले जाने से तो काम बनेगा नहीं, भगवान तो फिर बिना पूजा के रह जायेंगे। इसलिये मैं इसमें बैठकर आपके लिये चिताभस्म का इंतजाम कर देती हूँ। आहुक कहने लगा—अरे, तू इतना बड़ा साहस कर रही है। उसने कहा—इसमें साहस की कोई बात नहीं है। परमेश्वर के पूजन का स्वरूप ही यह है। इसलिये आज मैं अपने उस शरीर से परमेश्वर का पूजन करूँगो जो शरीर वैसे भी किसी काम का नहीं है। 'धूपोऽगरुर्वपुरिदं हृदयं प्रदीपः'।

यह शरीर क्या है ? शरीर एक धूपवत्ती ही है। हृदय के अन्दर उस परमेश्वर की ज्योति जल रही है तो यह हृदय एक दिया ही तो है। परमेश्वर को धूप की जगह शरीर और दीप की जगह हृदय चढ़ाऊँगी। पंचप्राण परमेश्वर की आहुति हैं, प्राण रूपी हवि को अर्पण करूँगी। और 'करणानितवाक्षताश्च' ये जो मेरी इन्द्रियाँ हैं, ये अक्षत की जगह पर चढ़ाऊँगी। जैसे अक्षत पूरा होता है, उसी प्रकार ये इन्द्रियाँ पूरी हैं। 'पूजाफलं व्रजतु साम्प्रतमेष जीवः' इस प्रकार यह जीव पूरा का पूरा परमेश्वर को चढ़कर अपनी पूर्णता को प्राप्त कर लेगा। उसकी इस निष्ठा को देखकर आहुक बड़ा प्रसन्न हो गया। समझ गया कि इसने पूजा के स्वरूप को ठीक समझा है। उसने कहा—यदि तुम्हारी ऐसी निष्ठा है तो फिर ऐसा ही कर ले। वह झोंपड़ी के अन्दर जाकर बैठी और आग लगा दी। चिताभस्म निकालकर आहुक ने पूजा समाप्त की। बाकी जो चीजें चढ़ाने की थीं, वे चढ़ाईं। जब सब कुछ चढ़ा दिया तो नैवेद्य का समय आया। रोज की आदत के अनुसार उसने पत्नी को आवाज लगाई—अरे, नैवेद्य ले आ, तैयार हो गया होगा। आवाज देते ही देखा कि अत्यन्त दिव्य श्रृंगार किये हुये वह सोने की थाली में भोग लेकर आ गई है। उसको आश्चर्य हुआ, कहा—यह क्या, तू तो चली गई थी। उसने कहा—मुझे कुछ पता नहीं। मैंने आग लगाई तब तक का तो मुझे पता है लेकिन उसके बाद मैं बेहोश हो गई। उसके बाद मुझे यही याद है कि आपने आवाज दी। सुनने के साथ मैं उठी और देखा कि वहीं यह सोने का थाल नैवेद्य से भरा हुआ तैयार था। मैं उठाकर ले आई जैसे ही वह भोग लगाने लगा वहाँ उसी शिवलिंग में से साक्षात् भगवान शंकर प्रकट हो गये और कहा कि मैंने तुम दोनों की निष्ठा की परीक्षा की। उनको अपने दिव्य धाम को ले गये। परमेश्वर के पूजन के इस स्वरूप को समझना है कि क्या चढ़ाना है ? जीव को पूजा का फल लेना है तो अपने सभी कर्मों को परमेश्वर के अर्पण करना है।

यह केवल आहुक भील की ही कथा नहीं समझना। विचार करके देखो तो प्रत्येक जीव ही भील है। संसार रूपी घोर जंगल में रहने वाला यह जीव रूपी भील विषयों की मृगया करता है। विषयों को ढूँढ़ता ही रहता है। कभी रूप का शिकार, कभी रस का तो कभी गंध का शिकार, इन्हीं चीजों की मृगया करता हुआ संसार रूपी जंगल में रहता है। जैसे वहाँ किसी काल में राजा आया था वैसे ही इसको कभी किसी ब्रह्मनिष्ठ का संग मिल जाता है। ब्रह्मनिष्ठ का संग मिलने पर यह उसके जीवन की पटकुटी में झाँकता है, क्योंकि ब्रह्मनिष्ठ यद्यपि अपनी निष्ठा को छिपाकर रखता है लेकिन फिर भी उसके व्यवहारों में से वह निष्ठा कुछ छलक जाती है। संसार के प्रति उसकी हमेशा एक स्मिति की भावना रहती है। हम लोग संसार के पदार्थों को इतना सत्य मानते हैं कि उसके प्रति हमारे हृदय में स्मितता (Sense of Humour) नहीं आती। जिसके जीवन में यह स्मितता नहीं होती, वह आनंदित नहीं हो पाता। एक बार यहाँ एक अँग्रेज आया था। उसने यह कहा था कि क्या हिन्दू कभी हृदय से हँसता है? और उसका यह कहना ठीक था। वह कहता है कि मैं उस हँसी को नहीं कहता जो एक बनावटी ठहाका मारकर की जाती है बल्कि जीवन के प्रति जो यह भावना है कि चलो यह तो सब एक खेल है, वह भावना नहीं होती। विदेशों के अन्दर लोग न जाने कितना खेल जीतते और हारते हैं। और हमारे यहाँ जीतने वाल खुशी से रुक नहीं पाता, और हारने वाला कोई न कोई दंगा फसाद किये बिना नहीं रहता, चाहे फुटबाल, हाकी और टेनिस हो और चाहे चुनाव हो। चुनाव में हारा हुआ व्यक्ति उसमें स्मित भावना नहीं रखता कि यह तो एक खेल है। वह सब तरफ से सोचेगा मानों कोई बड़ा भारी नुकसान हो गया हो। जीवन के प्रति जो स्मितता जीवन को आनंदित करती हैं, वह भावना नहीं है। जीवन के प्रति जो यह स्मित भावना है, यह ब्रह्मनिष्ठ में हमेशा रहती है। विदेशों के अन्दर वह स्मित भावना कुछ चीजों के बारे

में है, सब चीजों के बारे में नहीं। लेकिन ब्रह्मनिष्ठ के हृदय में यह भावना सब पदार्थों के बारे में रहती है। अपने शरीर, मन इन्द्रियों से व्यवहारों को भी वह एक हँमी मजाक से ज्यादा कुछ नहीं समझता। जिन चीजों से दूसरे शोकमग्न हो जाते हैं दूसरे जिन चीजों से यह समझते हैं कि यह इसके किये बिना हो ही नहीं सकता, वह उसके लिए हँसी होती है। यही पटकुटी में से उसका पूजन देखना है। विचार करो कि जब सारा जगत् उस नटराज का ही नृत्य है तो उसमें सुख ही तो मिलेगा। जैसे जब तुम किसी अच्छे नाटक को देखने जाते हो तो वह नाटक चाहे दु:खांत (Tragedy) हो, चाहे सुखांत (Comedy) क्या उसके अन्दर वस्तुत: सिवाय सुख के तुमको और कुछ मिलता है। दु:खांत नाटक भी तो देखने के बाद तुमको मजा ही देता है। महाभारत को पढ़कर सुख होता है और है वह दु:खांत और दु:खप्रद। युधिष्ठिर यावत् जीवन धर्म का पालन करने में लगे रहे, राज्य तब मिला जब सब कुछ चला गया। दुर्योधन कहता है कि सधवाओं के मुख को देखकर राज्य मैंने किया, विधवाओं का मुख देखकर धर्मराज ! तुम राज्य करना। भण्डार भरे हुए कोठारों का राज्य मैंने किया और खाली कोठारों का राज्य, धर्मराज ! तुम करना। इससे ज्यादा दु:खांतता और क्या होगी ? लेकिन इस दु:खान्तता के अन्दर भी कोई ऐसी चीज है जिसके द्वारा प्रभावित होकर वह हमको सुख देती है। रामायण पढ़ो तो वह भी तो एक दु:खांत नाटक है। सीता को वनवास दिया और अंततोगत्वा लक्ष्मण को भी मृत्यु दण्ड मिलने से नहीं बचाया। जिस समय काल आकर बातचीत करने लगा और कहा कि अन्दर आने वाला मृत्यु पाये तो लक्ष्मण को वहाँ जाना पड़ा, और इस प्रकार मरना पड़ा। भगवान् के रहते हुए लक्ष्मण और सीता का यह हाल हुआ, इससे ज्यादा और दु:खांतता क्या होगी। इसके द्वारा परब्रह्म परमात्मा हमको यह उपदेश दे रहे हैं कि भाई, इस संसार समुद्र के अन्दर यदि मैं स्वयं अवतार लेकर आता हूँ तो भी दु:खांतता है, इसलिये तुम

यह कभी नहीं सोच लेना कि इस संसार में कभी सुखान्तता होनी है। जब परब्रह्म परमात्मा भी आकर यहाँ दुःखांत नाटक करते हैं तो हमारा तुम्हारा यह आग्रह कि यह नाटक हम सुखांत करें, व्यर्थ है या नहीं। भगवान् कृष्ण को अपने हाथ से सारे यादव कुल का संहार करना पड़ता है और अंत में अकेले जाकर लेटते हैं; यही भागवत का अंत है। इस दुःखांतता को जो समझ लेता है, उसके लिये तो यह सृष्टि एक नाटक है, एक स्मित भाव है। इसलिये उसे कोई चीज उद्वेलित नहीं करती, कोई चीज उसमें दुःख या उद्वेग पैदा नहीं कर सकती। जो ऐसा नहीं कर पाता है वह इसके आनंद स्वरूप को नहीं समझता है। इसलिये वह दुःखी होता है। पटकुटी के द्वारा बताया कि जो उसके अंदर का पूजन का स्वरूप था, उसको जीव को कुछ भनक पड़ती है। उसकी किसी सेवा से प्रसन्न होकर जब वह कहता है कि तुम्हें क्या चाहिये? तब पूर्व जन्म के अच्छे संस्कार होने पर ही वह कहता है कि जिस निष्ठा को लेकर आप इस अमर भाव को प्राप्त हुए हैं, आप वह निष्ठा ही मुझे दीजिये। कोई धन माँगता है, कोई पुत्र माँगता है, कोई मुकदमे में जीत माँगता है, लेकिन जिसके शुद्ध संस्कार होंगे, वह कहेगा कि यह निष्ठा दीजिये, असली चीज तो यह है। वह सोचता है कि इसे निष्ठा देने के पहले, इसे पूर्ण निष्ठा की प्राप्ति कराने के पहले इसे उसके जैसा एक विग्रह दे दें। यही पूजन को परमात्मा का स्वरूप, प्रतीक, उसको दे देना है और उसको गुह्य रहस्य बता दिया कि चिता का भस्म चढ़ाना।

वास्तविक चिता क्या है? अपने शरीर, इन्द्रिय आदियों को परमेश्वर के कार्य में सर्वथा लगा देना ही तो इनको जलाना है। इसी को तो भगवान भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर तप कहते हैं। 'स्ववर्णाश्रमधर्मेण तपसाहरितोषणात्' अपने धर्म का पालन करने में जो ग़र्मी अपने को जलाती है, वह तपस्या है। हम लोग सोचते हैं कि खाली हरिद्वार में जाकर वैशाख स्नान कर लेंगे, माघ में जाकर प्रयाग स्नान कर लेंगे, निदाघ पर गर्मी के मौसम

में चारों तरफ अग्नि जलाकर पंचाग्नि तप लेंगे, निर्जला एकादशी के दिन जल नहीं पी लेंगे, इत्यादि कष्टों से परमेश्वर प्रसन्न हो जायेंगे। ये वास्तविक कष्ट नहीं हैं। वास्तविक कष्ट है जब हम धर्म का पालन करते हैं। सत्य बोलने से नुक्सान होता है, यह तपस्या है। उस नुक्सान के कष्ट को यदि तुम सह सको तो तप हो गया। दूसरे को क्षमा करने से वह कई बार दोबारा आक्रमण करता है, उस कष्ट को सहना तप है। इन्द्रियों का निग्रह करने में कष्ट होता है, उस कष्ट को सहना तपस्या है। नहीं तो लोग कहते हैं—महाराज! अगर असली इन्कमटैक्स का रिटर्न भर दें तो सरकार सब ले जाती है। प्रश्न है कि सब ले जाती है तो यहाँ तो चिताभस्म चढ़ाना है। सब ले जाती है, तुम्हारा शरीर तो नहीं ले जायेगी। कहाँ तक ले जायेगी? जितना तुमने कमाया है या बचाया है, उतने तक ले जायेगी, उसके आगे तो नहीं ले जायेगी। यहाँ तो चिताभस्म चढ़ाना है। यह एक दृष्टि है कि उसने चिताभस्म चढ़ाने को कहा। उसके रहस्य को ठीक प्रकार से समझने में उसे बारह साल लगे। हमारी पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, मन और बुद्धि, इन बारह चीजों में से एक एक इन्द्रिय को वश में करते हुए, 'सत्येन लभ्य तपसा ह्येष आत्मा सम्यग्ज्ञानेन ब्रह्मचर्यण नित्यं' सत्य इत्यादि धर्मों का पूर्ण रूप से पालन करते हुए, इसमें भी वाणी का एक सत्य, आँख का एक सत्य, इस प्रकार जब बारह वर्ष तक धीरे-धीरे इन बारह के अन्दर ये चीजें पूर्ण रूप से भर जाती हैं, तब हम अपने आपको चिताभस्म बनाने में तैयार कर पाते हैं। इस चिताभस्म को जब चढ़ा देते हैं तो काम बन जाता है। रुद्राध्याय के पूरे पाठ में आप लोगों ने सुना ही होगा, उसमें आता है 'लोमभ्य. स्वाहा लोमभ्य: स्वाहा त्वचेस्वाहा त्वचेस्वाहा लोहिताय स्वाहा लोहिताय स्वाहा मेदोभ्य: स्वाहा मेदोभ्य: स्वाहा।' इत्यादि से एक एक इन्द्रिय का नाम लेकर वहाँ कहेंगे कि यह भी परमेश्वर के अर्पण, यह भी परमेश्वर के अर्पण है। इसी प्रकार यहाँ सब कुछ परमेश्वर के अर्पण करना

रूपी जो चिताभस्म है, जब इसे चढ़ाते हैं तब 'सर्वसंकल्प दुःखहृत्' हम किसी से उद्विग्न नहीं होंगे, कोई हमसे उद्विग्न नहीं होगा। यही संकल्परूपी दु खों के नाश का कारण बनता है। जब हम परमेश्वर की पूजा रूपी कर्म को उसके स्वरूप को समझकर करते हैं तब संकल्प दुःख से छूटकर निष्ठा बनती है। नहीं तो जब तक उसके स्वरूप को नहीं समझते तब तक नीमतल्ले से लाकर भस्म चढ़ाते रहो लेकिन अपने शरीर के घुटने में जरा सा दर्द हो जाये तो भगवान् को क्या फरक पड़ता है यदि पैर लम्बे करके पूजा कर लें तो। फरक पड़ता है। किस भस्म को लेकर पूजा करनी है ? इस पूजा के रहस्य को समझना है। पूजा और उसके रहस्य को आगे बतायेंगे।

२-३-७५

उस परब्रह्म परमात्मा को यहाँ पर पहले अधिवक्ता कहा, फिर दैव्यः भिषक् अर्थात् दिव्य औषधि देने वाला बताया। वही हमारे संसार बंधन को समाप्त करता है। अविद्या को समाप्त करता है। यह जो यातुधान्य अर्थात् संसार का इंद्रजाल हमको प्रतीत हो रहा है उसको हमसे 'परासुव' अर्थात् हमसे दूर हटाता है। वह परमात्मा दैव्य भिषक् है, इसके ऊपर कुछ विचार प्रारंभ किया था। कल बताया था कि किस प्रकार विष से ही विष दूर होता है। विष वस्तुतः दो प्रकार का है। विष का अर्थ होता है जो हमारी हानि करे। वही विष ठीक प्रकार से सेवन किये जाने पर लाभ करता है और बिना जाने उसका सेवन करने पर हानिकारक होता है। एक ही विष दो प्रकार के फलों को उत्पन्न करता है। कैसे उत्पन्न करता है ? यह बताते हैं। हम मार्ग में जा रहे हैं, सायंकाल का समय है। हमने दूर कोई चीज चमकती हुई देखी। उसकी चमक को देखकर के हमने समझा कि यह मणि या रत्न या कोई हीरा है। यह समझ करके हम अपने रास्ते को छोड़कर

उसको लेने के लिये गये। जब वहाँ पहुँचे तो पता लगा कि वह हीरा नहीं, एक कीड़ा है जो चमक रहा है। चमकने वाले कीड़े होते हैं। दूर से देखने से पता लगा कि वह हीरा है, पास जाकर देखने से पता लगा कि वह कीड़ा है। वह परिश्रम व्यर्थ गया। हमको कीड़े की रोशनी में हीरे का भ्रम हो गया और वह परिश्रम व्यर्थ गया। यदि हमने वह परिश्रम किया, और हम उसके पास पहुँचे। हमने उसको हीरा समझा था, वह हीरा तो नहीं पुखराज निकला। पुखराज भी एक कीमती पदार्थ है। इसलिये हमारा वहाँ जाने का परिश्रम व्यर्थ नहीं हुआ। अब विचार करना। पहले भी भ्रम ही था, कीट को हीरा समझना भ्रम है और व्यर्थ भ्रम है। कीड़े को लेकर कोई लाभ नहीं। दूसरी तरफ हमने जिसे हीरा समझा था, वह पुखराज निकला। पुखराज भी कीमती पदार्थ है, इसलिये था तो वह भी भ्रम। पुखराज को हीरा समझना भी भ्रम है। परन्तु उस भ्रम से जो फल निकला, वह लाभकारी हुआ। दोनों भ्रम हैं लेकिन एक भ्रम सफल और दूसरा भ्रम निष्फल है। अथवा कोई आदमी बीमार है, चिकित्सकों ने कह दिया है कि अब इसके ठीक होने की कोई सम्भावना या आशा नहीं है। इसलिये यह निश्चय हुआ कि इसको गंगा जल दे दिया जाये और इसके बचने का कोई साधन नहीं है। एक शीशी में तुम जल लाये, वह जल तुम्हारे कुएँ या नल से भरा हुआ था। तुमने गंगाजल समझकर उसको दे दिया। उससे उसका कुछ कल्याण नहीं हुआ। नल के जल को तुमने गंगा जल समझा। लेकिन मान लो वह गोदावरी का जल है और तुमने उसे गंगा जल समझकर दिया। गोदावरी का जल भी मनुष्य का शुद्ध करने वाला है। सप्त नदियों का अन्यतम जल है। उस पानी से उसका कल्याण हुआ। अंतिम समय में उस जल का पान करने से उसकी सद्गति हुई। पहले नल के पानी को गंगा जल समझना भी भ्रम है, गोदावरी के पानी को गंगा जल समझना भी भ्रम है। लेकिन गोदावरी का जल पीना सफल है और नल का जल पीना निष्फल है। भ्रम दोनों एक तरह के हैं।

जैसे यहाँ पर भ्रम दोनों एक प्रकार के, फिर भी एक भ्रम तुम्हारा कल्याण करने में समर्थ है, दूसरा भ्रम तुम्हारा कल्याण करने में समर्थ नहीं है। हैं दोनों ही भ्रम। इसी तरह से तुम्हारे मन में संसार के नामरूप और संसार के कर्म भरे हुए हैं। रात दिन तुम्हारे मन में सांसारिक नामों का प्रवाह चलता है। सांसारिक शब्द निरंतर मन में आते रहते हैं और सांसारिक रूपों का प्रवाह निरंतर चलता रहता है। ये सांसारिक नामरूप भी किसमें हुए ? परमात्मा में ही कल्पित हैं है तो वहाँ पर एक अखण्ड सच्चिदानंद परमात्मा लेकिन भ्रम से वहां पर ये सारे संसार के नामरूप दीख रहे हैं क्योंकि वेद स्पष्ट कहता है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म', पुरुष ए वेदं ब्रह्म' जो कुछ भी इदं रूप से प्रतीयमान है, जो कुछ भी नामरूप ग्रहण किया जाता है, वह सारे का सारा ब्रह्म रूप ही है। इसलिये हैं तो ये नाम रूप भी ब्रह्म में ही कल्पित, जहाँ हमको ये नामरूप दीख रहे हैं, वहाँ पर सिवाय ब्रह्म के कुछ नहीं है। इसी प्रकार शास्त्रों के अन्दर परमेश्वर के अनेक नाम और रूप बताये गये। वे नामरूप या पारमेश्वरी लीलायें भी उस अखण्ड सच्चिदानंद परब्रह्म में कल्पित ही हैं। जहाँ हमको शास्त्र तत्तत् पारमेश्वरी लीलाओं का और पारमेश्वरी नामों का विचार करने को कहता है, ये नामरूप भी कल्पित हैं। वे नामरूप भी सत्य नहीं हैं। यद्यपि सांसारिक नाम रूप और शास्त्रीय नामरूप दोनों एक अखण्ड परमात्मा में कल्पित हैं क्योंकि शास्त्र स्वयं कहता है 'उपासकानां कार्यार्थम् ब्रह्मणोरूपकल्पना' उपासना की क्रिया सिद्ध हो सके, इसलिये श्रुति में ब्रह्म के रूप की कल्पना की गई क्योंकि विना किसी नामरूप के आधार के यह मन जमता नहीं। जैसे कभी दो कुश्ती लड़ने वालों को देखा हो तो जब वे कुश्ती लड़ते हैं तो दोनों के दोनों अपने शरीर में खूब तेल मालिश करके शरीर पर तेल लगाकर आते हैं। वह इसलिये कि दूसरा जब उसको दाँव लगाकर पटकने के लिये हाथ या पैर उठाये तो फिसल जाये, इसीलिये खूब तेल लगाते हैं। कुश्ती लड़ते समय वे दोनों बीच-बीच में अखाड़े की

मिट्टी को हाथ से लेकर अपने हाथ में रगड़ते हैं जिससे उस मिट्टी के द्वारा चिकनाई मिट कर फिसलना न हो सके। उनका उद्देश्य मिट्टी लगाना नहीं है बलिक मिट्टी के द्वारा पकड़ को मजबूत करना है। ठीक इसी प्रकार मानो मन और ब्रह्म की आपस में कुश्ती है। मन कहता है कि मैं नामरूप ऐसा पकड़कर रखूंगा कि जो अनामी और अरूप ब्रह्म है वह किसी तरह से मेरे को पकड़ न सके। यह मन चाहता है। उधर ब्रह्म तो चिकने से चिकना है। 'असंगोह्ययं पुरुषः' मन ब्रह्म को पकड़ने जाये तो ब्रह्म पकड़ में नहीं आता क्योंकि वह मन से परे है। मन का अविषय है। इसलिये मन ब्रह्म को पकड़ने जाता है तो ब्रह्म फिसल जाता है, पकड़ में नहीं आता। और ब्रह्म मन को पकड़ना चाहे तो मन इतना नाम रूप के स्नेह से चिकना हुआ हुआ है कि उस पर ब्रह्म की पकड़ असम्भव है, और जब तक मन और ब्रह्म का सम्बन्ध न हो जाये तब तक जीव का कल्याण नहीं है। ब्रह्म जीव का कल्याण नहीं करता, मन भी जीव का कल्याण नहीं करता। मन के अन्दर ब्रह्म का प्रवेश जीव का कल्याण करता है। शास्त्रीय भाषा में इसी को कहते हैं कि मन की जो ब्रह्माकार वृत्ति है, वही अज्ञान को नष्ट करती है। न केवल ब्रह्म अज्ञान का नाशक है, न केवल वृत्ति अज्ञान का नाशक है, वरन् मन और ब्रह्म का आपस का सम्बन्ध ही इसका नाशक है। जैसे आतशी शीशा (Convex Lense) या सूर्यकांतमणि को सूर्य के सामने रख दो तो वह कपड़े इत्यादि को जला देती है। कई लोगों के चश्मे में भी ऐसा शीशा लगा हुआ देखा होगा। अब विचार करना कि कपड़े को जलाने वाली चीज क्या है। यह नहीं कह सकते कि कपड़े को जलाने वाली चीज आतशी शीशा है क्योंकि यदि ऐसा हो तो कमरे के अन्दर हम आतशी शीशे से कोशिश करें, क्या कपड़ा जलेगा। इसलिये आतशी शीशा कपड़े को नहीं जलाता। कहो कि फिर सूर्य जलाता है। तो बिना आतशी शीशे के जब हम लोग घूमते फिरते हैं तो हमारे कपड़ों में आग लग जाया करे। इसलिये न आतशी शीशा कपड़े को जलाता है, न सूर्य कपड़े को जलाता है,

फिर क्या जलाता है ? सूर्यकांत मणि में प्रविष्ट सूर्य। 'सूर्यकांतमुपारूढं न्यायं सर्वत्र योजयेत्' सूर्यकांतमणि में सूर्य ही कपड़े को जला सकता है, न केवल सूर्य और न केवल आतशी शीशा। इसी प्रकार से मन भी अज्ञान को नष्ट नहीं करता, हमेशा से है। ब्रह्म भी अज्ञान को नष्ट नहीं करता. हमेशा से है। लेकिन यदि ब्रह्म मन के ऊपर चढ़ गया तो अज्ञान को नष्ट कर देगा। मन में प्रविष्ट हुआ हुआ ब्रह्म ही अज्ञान को नष्ट करता है। अब करना तो दोनों का सम्बन्ध है, लेकिन सम्बन्ध हो कैसे ? दोनों पहलवान चिकने जो हैं। मन रूपी पहलवान नामरूप के स्नेह से चिकना है, स्नेह चिकने (स्निग्ध) को ही कहते हैं। नामरूप के स्नेह को लगाकर मन चिकना बना हुआ है और असंगता उसका स्वरूप होने से ब्रह्म भी चिकना बना हुआ है। इनका सम्बन्ध कैसे किया जाये ? श्रुति ने कहा कि मन के नामरूप के स्नेह का ही उपयोग करना पड़ेगा। यद्यपि नामरूप से मन स्नेह करता है, लेकिन ऐसे नामरूपों से मन का स्नेह कराया जाये जिन नामरूपों के द्वारा ब्रह्म का प्रवेश उसमें सम्भव हो। यही करना है। ठीक जैसे मछली निरन्तर जल में ही रहती है और मुँह फाड़ करके रहती है। देखा होगा कि जब गंगा जी में तैरकर मछली जाती है तो मुँह फाड़कर जाती है। यदि मुँह फाड़ने पर पानी उसके पेट में चला जाया करे तो वह मछली तुरन्त पेट फटने से मर जाये।

एक महात्मा ने अपने शिष्य से यह कहा कि तू समुद्र के किनारे जा। तेरे को मछली तत्त्वज्ञान का उपदेश कर देगी। वह समुद्र के किनारे पहुँच गया। विचार ही कर रहा था कि समुद्र के इतने बड़े किनारे में कहाँ उसे वह मछली मिलेगी, तब तक एक मछली आकर उसे मानवीय वाणी में कहती है कि क्या सोच रहे हो ? उसको बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने सोचा कि यह मछली जरूर तत्त्वज्ञान को जानती होगी। उससे कहा कि हमारे गुरूजी ने कहा है कि समुद्र के किनारे मछली तुमको तत्त्वज्ञान का उपदेश देगी, इस आशय से आया हूँ। सम्भवतः तुमको पता होगा कि कौनसी

वह मछली है और कहाँ रहती है। वह मछली कहती है कि ज्ञान का उपदेश तो तेरे को मैं ही दे दूँगी लेकिन मेरे को बड़े जोर की प्यास लगी हुई है, थोड़ा पानी पीने को मिल जाये तो फिर मैं तेरे को तत्त्वज्ञान का उपदेश दूँ। अभी मेरा हलक सूख रहा है। उसने कहा– तू क्या मेरे को तत्त्वज्ञान का उपदेश देगी। समुद्र में तू मौजूद है, तेरे दायें, वायें सब तरफ जल ही जल है और तू कहती है कि जल पिला दे। वह कहती है कि मैं मुँह फाड़ कर कर तो खड़ी हूँ लेकिन पानी हलक से नीचे नहीं उतर रहा है, क्या करूँ। उसने कहा—भली मानुष, तू इतने साल की मछली है और ऐसी बात करती है। नियम मछली का यह है कि जब मछली उल्टी होती है तब उसके हलक में पानी जाता है। जब तक मछली सीधी रहेगी, तब तक उसके कण्ठ का दरवाजा वन्द रहता है। जब मछली उलटती है तब वह दरवाजा नीचे को गिर जाता है और जल अन्दर प्रविष्ट होता है। इसीलिये देखोगे कि जहाँ तालाब इत्यादि में निर्मल जल होता है और उसमें मछलियाँ कल्लोल कर रही होती हैं तो करते-करते बीच में उलट जाती हैं, वे जल पीने के लिये ही उलटती हैं। उस मछली ने तुरन्त अपने आपको उलटा किया और चल दी। शिष्य ने कहा—भली मानुष, अपनी बात तो तूने मेरे से पूछ ली और मेरी समस्या का हल नहीं बताया। मछली ने कहा कि मैंने तुझे तत्त्वज्ञान का उपदेश दे दिया, तुम्हारी समस्या का हल तो कर दिया। शिष्य बोला—तत्त्वज्ञान का उपदेश कहाँ दिया। मछली ने कहा—देख मेरे ऊपर नीचे, दायें, बायें सब तरफ जल ही जल है लेकिन वह जल मेरे को लाभ तभी पहुँचायेगा जब मैं उलटूँगी। उसी प्रकार तुम्हारे दायें वायें, ऊपर नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म है 'ब्रह्मैव पुरस्तात् ब्रह्म पश्चात् ब्रह्म दक्षिणतश्चोत्तरेण' श्रुति कहती है—आगे, पीछे, दाँये, बाँये, ऊपर, नीचे सर्वत्र ब्रह्म ही तो है। उसके सिवाय और है क्या। सर्वत्र ब्रह्म विद्यमान है लेकिन हमारे मन में प्रविष्ट नहीं हो रहा है तो हमको उलटना पड़ेगा। उलटना माने सांसारिक नामरूपों की जगह पारमेश्वरीय नामरूपों को

भरना पड़ेगा। शास्त्र के अन्दर जो नामरूप बताये हैं, उनको भरने से हम उलट जाते हैं। संसार के पदार्थों के प्रति हमारी आसक्ति हट जाती है और परमात्मा का हमारे अन्दर प्रवेश हो जाता है। जैसे वह पहलवान बार बार अपने हाथों में मिट्टी लगाता है, फिर पकड़ता है और फिसल जाता है तो दुबारा मिट्टी लगाता है। हाथ पर चिकनाई थोड़ी थोड़ी कम होती जाती है। अंततोगत्वा एक स्थिति ऐसी आती है जब चिकनाई कम होकर हाथ में मिट्टी का कड़ापन ठीक हो पकड़ आ जाती है। पकड़ हुई और दाँव मारा। इसी प्रकार जब बार बार परमेश्वर के नामरूपों को अपने मन के साथ सम्बन्धित करते हो तो सांसारिक नामरूपों की आसक्ति कुछ कम होती है। एक बार में तो वह आसक्ति जायेगी नहीं। फिर तुमने पारमेश्वरीय नामरूपों को लिया, मिट्टी लगाई, फिर कुछ पकड़ने के लिये गये लेकिन वह तो असंग है। इस प्रकार बार बार प्रयत्न करने पर परमात्मा के नामरूपों की पकड़ पक्की होती जाती है और तब वह असंग पुरुष व्यक्त हो जाता है, पकड़ में आ जाता है। यद्यपि ये नामरूप भी हैं ब्रह्म रूप ही। 'ब्रह्मणो रूप कल्पना' लेकिन इनके द्वारा वह परब्रह्म परमात्मा पकड़ में आता है। इसलिये यह भ्रम अपने फल को उत्पन्न करने में समर्थ भ्रम है। यही इसकी विशेषता है।

इसी चीज को पकड़ने के बारे में बता रहे थे कि यह समझना आवश्यक होता है कि जिस नामरूप को हम पकड़ रहे हैं, उसकी पकड़ का तरीका या दाँव क्या है ? बता रहे थे कि शिवरात्रि प्रधान पकड़ है इसलिये शिवपूजन के साधन से समझा रहे थे। मनुष्य जब भगवान् शंकर का पूजन करने बैठता है तो शास्त्र कहता है 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' अर्थात् जिस देवता का पूजन करो, उसी देवता का स्वरूप धारण करो। जब तक अपने में देवत्व की भावना नहीं होगी, तब तक देव का पूजन नहीं होगा। इसीलिये पूजन के पहले आप लोगों से न्यास करवाते हैं। अंगुष्ठ में नारायण बैठें, तर्जनी में वासुदेव बैठें, मध्यमा में कृष्ण बैठें, आदि सारी उंगलियों का न्यास

इसी दृष्टि से कराते हैं। अथवा जिस देवता का पूजन कर रहे हो, अपने उन उन अंगों के अन्दर उसी देवता की शक्तियों का आधान किया जाता है अर्थात् पूजा काल से लेकर पूजा की समाप्ति के काल तक के लिये अब मैं मनुष्य नहीं रहा। अब मैं देवरूप हूँ। इसीलिये न्यास करवाया जाता है और यही न्यास का उद्देश्य है। न्यास और संन्यास शब्द एक ही हैं। एक में 'सम्' उपसर्ग लगा हुआ है। 'सम्' का मतलब है पूरी तरह से। केवल पूजाकाल के लिये यदि अपने अन्दर देवदृष्टि करके पूजा करते हो 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' तब तो वह न्यास हो गया। पूजा के बाद फिर मैं मनुष्य का मनुष्य हूँ। अमुक का पुत्र, अमुक का पोता, अमुक दुकान का मालिक, अमुक मकान का मालिक हूँ। यह न्यास हुआ। एक बार परमेश्वर को अपने हृदय में बैठा लिया और फिर आगे कभी मैं ये सारी चीजें अपने मन में लाऊँगा ही नहीं, अर्थात् ऐसा छोड़ दिया कि फिर कभी भी अपने को मनुष्य दृष्टि से देखूंगा ही नहीं, इसी का नाम संन्यास हो गया। हर हालत में पूजाकाल में अपनी मानवीय भावनाओं का त्याग किये बिना तो पूजन हो ही नहीं सकता। 'देवो भूत्वा देवं यजेत्' जब भगवान् शंकर का पूजन करना प्रारंभ करते हो तो सबसे पहले विभूति (भस्म) धारण करते हो, त्रिपुण्ड लगाते हो। किस चीज का त्रिपुण्ड लगाते हो? शास्त्र कहता है 'तिस्रो रेखा विभूतेस्तु श्रद्धाभक्तिविरक्तय:' विभूति की तीन रेखायें हैं—श्रद्धा, भक्ति और विरक्ति अर्थात् वैराग्य। इन तीन रेखाओं को जब हम अपने ऊपर धारण करते हैं, चाहे यावत् जीवन के लिये, चाहे कम से कम पूजा काल के लिये करें, तब पूजन प्रारंभ होता है। पहली रेखा श्रद्धा बताई। श्रद्धा का मतलब है गुरु और शास्त्र के वाक्यों में संदेह का न उठना। 'गुरुवेदांतवाक्येष्वत्यन्तविश्वास:' ऐसा वेदांतकारों ने बताया है। जैसे छोटे बालक को अपनी माता में श्रद्धा होती है। माँ कहती है कि यह तेरा भाई है, यह तेरा ताऊ, यह चाचा, यह तेरी चाची है। बस मामला खतम हो गया, फिर आगे वह प्रश्न नहीं

करता। जब बड़ा हो जाता है, फिर यदि माँ कह भी दे कि यह तेरी मौसी है तो वह कहता है कि मेरी मौसी कैसे ? तेरी तो दो ही बहनें थीं। तब वह कहती है कि अरे चचेरी है। वह कहता है—तब यह कहो कि उसको भी मौसी कहा जाता है। लेकिन बच्चा जब छोटा होता है तब ऐसा वादविवाद नहीं करता है। जब तक श्रद्धा नहीं होती है, तब तक पूजन के अन्दर, और ध्यान आदि सभी पूजन हैं, इनके अन्दर मनुष्य की वृत्ति कभी भी एकाग्र नहीं होती। क्योंकि हमेशा संदेह का अंकुर आता रहेगा कि यह पत्थर, इसकी पूजा से भगवान् कैसे खुश होते होंगे। वहीं से संदेह शुरू होगा। क्या जरूरी है कि इसी मंत्र का उच्चारण करें। हिन्दी या फारसी में बोलेंगे तो भगवान् नहीं समझेगा, भगवान् को क्या फरक पड़ता है हमने दूध चढ़ाया तो, जल चढ़ाया तो आदि आदि। हर चीज में संदेह होता रहेगा। और इन सब संदेहों का निराकरण करते रहोगे या पूजा करोगे। इसीलिये सबसे पहली चीज है कि जितने भी हमारे शास्त्रीय कर्म और उपासनायें हैं, उनमें श्रद्धा की आवश्यकता है। श्रद्धा के बिना फल नहीं होता है। आजकल एक कामचलाऊ श्रद्धा का वाद चला है। वह वस्तुतः अश्रद्धा है। कामचलाऊ श्रद्धा का रूप है 'नर्मदेश्वर पर अभिषेक करने से क्या पता पुण्य होता है या नहीं होता है, लेकिन एक लोटा जल चढ़ाने में नुक्सान ही क्या है, यह श्रद्धा नहीं है इस तरह करोगे तो सिवाय समय के नुक्सान के फल कुछ नहीं होगा, क्योंकि शास्त्रकारों ने यह नियम किया है कि जो कुछ श्रद्धा से रहित होकर के किया जाता है, वह सब निष्फल जाता है। बाकी चीजों की कमी तो किसी तरह से पूरी की जा सकती है, सामग्री इत्यादि की न्यूनता को भी किसी तरह पूरा कर सकते हैं, लेकिन जहाँ श्रद्धा ही नहीं है वहाँ पर तो फलोत्पत्ति सम्भव ही नहीं है, क्योंकि श्रद्धा के द्वारा ही चित्त एकाग्र हो सकता है अन्यथा नहीं। जो सबसे पहली विभूति है वह श्रद्धा है. इसकी प्राप्ति आवश्यक है। कैवल्योपनिषद में भी जहाँ प्रश्न उठाया है कि परमात्म तत्त्व की प्राप्ति किस प्रकार से

होती है ? वहाँ कहा है 'श्रद्धा भक्ति ध्यानयोगादवेहि' । वहाँ भी श्रद्धा को सबसे पहले रखा है। भगवान् ने भी गीता के अन्दर 'श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः' इस पुरुष को श्रद्धामय बताया है। आज कुतर्क का जीवन है। इसलिये कुतर्क को हमने एक बौद्धिक औजार मान रखा है, यही कारण है। हमारे पुराने पूर्वज कुतर्क नहीं करते थे। हमारे पिता दादा के अन्दर देखने में आता था कि प्रार्थना करते करते फल होता था, गंगा का दर्शन करते करते फल होता था। अनेक लोग बार बार अपना अनुभव बताते हैं कि उनको देव आदि के दर्शन हुए। और आज हम लोग पूजा ज्यादा करते हैं। पहले की अपेक्षा हम लोगों को चीजों का ज्ञान भी है लेकिन यह सब होने पर भी हरेक आदमी का हृदय कहता है कि देवदर्शन तो दूर की बात है, मन में शांति भी नहीं है। कारण क्या है ? कार्य करते हैं लेकिन उसमें श्रद्धा नहीं होने से वह कार्य हृदयहीन होता है, फल को उत्पन्न नहीं करता। स्थिति यहाँ तक गंभीर है कि अलवर के एक अच्छे पण्डित हैं, विद्वान् हैं। दिल्ली में बराबर हमारे पास आया करते हैं। एक बार वह कई दिनों तक नहीं आये। जब कई दिन के बाद आये तो हमने कहा कि आप बड़े कमजोर लग रहे हैं, क्या बात है ? कहने लगे— क्या बतायें, कुछ रोग हो गया है। डाक्टरों से बहुत इलाज कराया, सब कुछ किया लेकिन कोई फायदा नहीं हुआ। हमने पूछा— कितने दिन हो गये ? कहने लगे—चार महीने हो गये। हमने स्वाभाविक रूप से कहा—पण्डित जी ! आप अनुष्ठान वगैरह तो कर रहे होंगे। मृत्युंजय का कितना आवर्तन किया। सवालाख करना चाहिये। कहने लगे—स्वामी जी ! आप भी क्या बात करते हैं। मृत्युंजय के अनुष्ठान से क्या होना है। हमारे हृदय को बड़ी चोट लगी। हमने कहा—आप दुनियाभर के लोगों का मृत्युंजय का अनुष्ठान करते हैं और अपने लिये कहते हैं क्या बात करते हैं। क्या उसका फल नहीं होता है ? 'नहीं, थोड़ा होता तो है।' लेकिन वह होता तो है। अर्थात् जो इन कार्यों को इस अनुष्ठान

को करने वाले हैं उनके हृदय में भी श्रद्धा की कमी है। फिर उनके द्वारा किया हुआ जप कैसे अपने फल को उत्पन्न करेगा। यह जो कई बार मनुष्य के हृदय में प्रश्न उठता है कि क्या कारण है कि फल उत्पन्न नहीं हो रहा है ? इसका कारण ही यह है कि हृदय के अन्दर जब तक श्रद्धा पूरी तरह से नहीं बैठ जाती है तब तक कर्म और उपासना अपने फल को उत्पन्न नहीं कर सकते शास्त्रीय कर्म और शास्त्रीय उपासना के अन्दर सबसे पहले श्रद्धा को धारण करने को कहा।

दूसरी चीज भक्ति अर्थात् प्रम। भक्ति का लक्षण शाण्डिल्य महर्षि ने किया है 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' ईश्वर में जो परम अनुरक्ति अर्थात् पूर्ण प्रेम है, उसी का नाम भक्ति है। पूर्ण प्रेम का मतलब क्या है ? जैसे पत्नी का पूर्ण प्रेम पति के साथ है। क्या इसका मतलब है कि पति की माँ अर्थात् सास की वह सेवा नहीं करती, क्या इसका मतलब है कि पति के पिता अर्थात् ससुर को भोजन बनाकर नहीं देती। क्या इसका अर्थ है कि पति की बहन अर्थात् ननद के साथ सद्व्यवहार नहीं करती। सास, ससुर, ननद, देवर सबके साथ व्यवहार अच्छे से अच्छा करती है लेकिन क्यों ? ये सब पति के सम्बन्धी हैं, इसलिये। कल यदि पति का और उसके भाई का किसी कारण से मतभेद होकर दोनों में मुकदमेवाजी चलने लगे तो क्या वह देवर का पक्ष करेगी। पति का ही पक्ष करेगी। कोई कहे—अरे, कल तक तो तू उसे दोनों समय गरम-गरम फुलके बनाकर खिलाती थी, वड़ा प्रेम करती थी, वह सव कहाँ चला गया। वह कहेगी—वह सब इनके पीछे था, नहीं तो वह मेरा क्या लगता है। यह है परानुरक्ति अथवा पर प्रेम। इसी प्रकार से परमात्मा से प्रेम करने वाला व्यक्ति वाकी सब लोगों से रूखा व्यवहार करेगा, ऐसा नहीं है। वह सवसे व्यवहार अच्छे से अच्छा करेगा। अन्य देवताओं से भी व्यवहार अच्छा करेगा, मानवों से भी अच्छा व्यवहार करेगा, पशुओं से भी करेगा। लेकिन इसलिये कि वे सब परमात्मा के हैं, अपने सम्बन्ध

को लेकर के नहीं। देवपूजन करता है क्योंकि वे परमात्मा के ही अंग प्रत्यंग हैं। करता सब है। यह परानुरक्ति है। आजकल प्रेम का एक विचित्र रूप हो गया है जिसे परमेश्वर के प्रेम में भी लोग लगा देते हैं। थोड़ी सी कड़वी बात है, बुरा नहीं मानना। आजकल पत्नी प्रेम का लक्षण यह लेती है कि सास, ससुर, देवर, जेठ, ननद सबसे अलग करके अपने पति को दूसरी तरफ ले जाये। कहती है— ये सब तो हमारे प्रेम में विघ्न हैं। इसलिये किसी न किसी प्रकार पति से प्रेम सिद्ध करती है कि मेरा तो तेरे से प्रेम है। ये सब हमारे दुश्मन हैं। इन सबको छोड़ो। हम और तुम दोनों बस अकेले ही रहें। यह प्रेम नहीं है। इसका नाम वासना या आसक्ति है। इसी चीज को, प्रेम के इसी लक्षण को, आजकल बहुत से लोग परमेश्वर के अन्दर भी करते हैं। यदि मैं परमेश्वर से प्रेम करता हूँ तो घर में बुड्ढे पिता बैठे हों तो मेरे को क्या चिंता। 'मेरे तो गिरधर गोपाल' तुम सबसे कोई मतलब नहीं। जितनी जिम्मेवारियाँ हैं, उन सबको इस परम प्रेम के नाम से लोग छोड़ते हैं। अच्छी अच्छी बातें कहेंगे, रागानुगा भक्ति का उदय हो गया, अब वैधी भक्ति का क्या करना है। इसलिये उन्हें न अधिदैव जगत् और न अधिभूत जगत् परमेश्वर का लगता है, बस घूम फिरकर भक्ति या परप्रेम के नाम से अपने शरीर का पोषण रूप सब किया जाता है। यह परम प्रेम नहीं है, यह तो अपनी जिम्मेवारियों से बचने का एक तरीका है। श्रद्धा और भक्ति इन दो विभूतियों को धारण करने में ही हम लोग विरक्तिरूपी तीसरी चीज को समझ पाते हैं।

विरक्ति का मतलब ही है कि परमेश्वर में विशेष रक्ति ही संसार से विपरीतेन रक्ति करा देती है। 'परमात्मनि यो रक्तो विरक्तोऽपरमात्मनि' परमात्मा में जो पूर्ण तरह से रक्ति है, और जो परमात्मसम्बन्धी नहीं है उससे वैराग्य है। लेकिन शुष्क वैराग्य नहीं। इसीलिये यहाँ पहले श्रद्धा, भक्ति और तब विरक्ति बताई। परमेश्वर के प्रेम

से शून्य होकर जो विरक्ति है, वह विरक्ति नुकसान करती है, फायदा नहीं करती है। इसलिये पहले भक्ति को रखा है। जितने शास्त्र-विरुद्ध कर्म हैं वे सब परमेश्वर से असम्बद्ध कर्म हैं। इसलिये उनके प्रति वैराग्य है। उल्टा नहीं कि भगवान् की पूजा में ही वैराग्य कर लें। बहुत से लोग ऐसा उल्टा काम कर लेते हैं। इसी प्रकार जो नाम और रूप परमेश्वर सम्बन्धी नहीं हैं उनके प्रति वैराग्य है। गीता में जहाँ साधनों को गिनाया है, वहाँ भगवान् कहते हैं कि उसको जनसंसद् अच्छा नहीं लगता। लोगों की भीड़ अच्छी नहीं लगती। उसका भाष्य करते हुए भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं 'जनानां प्राकृतानाम्' जो संसारी व्यक्ति हैं उनका साथ उसे अच्छा नहीं लगता क्योंकि जो दूसरे परमार्थ प्रेम के साधक हैं उनके साथ रहने से तो अपनी साधना और पुष्ट होगी। इसीलिये वे तो अच्छे लगते ही हैं। इसी प्रकार यहाँ पर विरक्ति का मतलब पर-मात्म सम्बन्ध से अतिरिक्त पदार्थों में वैराग्य है, परमात्म सम्बन्धी पदार्थों के ऊपर ही वैराग्य नहीं ले लेना। तभी इस पूजन के अधिकार की प्राप्ति होती है। इसीलिये अपने सब अंगों पर, कर्मेन्द्रियों के प्रतीक रूप में हाथ में और ज्ञानेन्द्रियों के प्रतीक रूप से ललाट पर भी भस्म लगाते हैं और हृदय मन बुद्धि का स्थान है इसलिये वहाँ भी लगाते हैं। यह जो सभी भिन्न-भिन्न अंगों में भस्म धारण करना है यह इसका प्रतीक है कि ज्ञानेन्द्रियाँ कर्मेन्द्रियाँ और अंतःकरण तो सबमें है और चूँकि इन सबमें श्रद्धा भक्ति की साधना करनी है, इसलिये जब भस्म धारण किया जाये तो इस प्रकार समझकर किया जाये। जैसा बता रहे थे कि किस प्रकार से मन के अन्दर जब तक इस चीज के द्वारा ब्रह्म पकड़ में नहीं आयेगा, ब्रह्माकार वृत्ति नहीं बनेगा, तब तक जीव का कल्याण नहीं होगा। नहीं तो केवल रटते रहोगे कि चारों तरफ ब्रह्म है लेकिन मछली की तरह कभी भी पेट में जाकर वह जल शांति पैदा नहीं करेगा।

३-२-७५

उस परब्रह्म परमात्म तत्त्व की प्राप्ति अधिवदन करके परमात्मा में अपने नामों का प्रतिपादन करें, तब सम्भव है। और वही फिर 'प्रथम: दैव्य: भिषक्' दिव्य भेषज्य अर्थात् नामरूपों के माध्यम से परब्रह्म परमात्म तत्त्व की प्राप्ति करे, तब सम्भव है। यह बता रहे थे। परमेश्वर के नाम को जैसे समझना जरूरी, वैसे ही उस परमेश्वर के विग्रह और पूजन का तात्पर्य समझना जरूरी है। इसमें प्रथम अंग बता रहे थे कि श्रद्धा, भक्ति और वैराग्य रूपी त्रिपुण्ड्र धारण करके पूजन का अधिकारी बनता है। पूजन का अधिकारी बनने के लिए स्नान भी आवश्यक है। जल से स्नान तो हम लोग हमेशा ही करते हैं लेकिन जल स्नान का इतना माहात्म्य इसको लेकर है कि उस जल में क्या दृष्टि करनी चाहिये? शास्त्र में बताया 'पशुत्ववासना त्याज्या' अपने अन्दर जो पशुभाव की वासनायें हैं, उनको छोड़ना चाहिये। स्नान का उद्देश्य मल की निवृत्ति है। वास्तविक मल क्या है? अपने अन्दर जो माया का बंधन है, यही वास्तविक मल है। जिसे हम सामान्य रूप से शरीर का मल समझते हैं वह तो शरीर का सहज और स्वाभाविक धर्म है। कितना भी शरीर को रगड़-रगड़ करके साफ करने का प्रयत्न कर लो लेकिन इसके मल की निवृत्ति कभी होती नहीं। स्वाभाविक होने के कारण, सहज होने के कारण थोड़ी देर में फिर यह मलभाव को प्राप्त कर लेता है। इसलिए यह वास्तविक मल निवृत्ति नहीं। वास्तविक मल निवृत्ति होती है 'पशुत्व वासना त्याज्या' अपने अन्दर जो पशुभाव की वासना बैठी हुई है, यह सच्चा मल है। इसको जब छोड़ा जाये तभी मल निवृत्त होता है। वह मलनिवृत्ति किससे होगी? 'ज्ञानगंगाम्बुवारिभि:' ज्ञान रूपी गंगा के जल के द्वारा ही यह पशुत्व वासना निवृत्त होगी। जब तक उसके द्वारा यह पशुत्व वासना नहीं छूटेगी, पशुधर्म से छुट्टी नहीं होगी तब तक हम उस पशुपति की पूजा के योग्य बनेंगे कैसे। कल बताया था कि बिना श्रद्धा भक्ति विरक्ति रूपी भस्म धारण किये हुये शिव-

पूजन सम्भव नहीं। 'देवोभूत्वा देवं यजेन्' वैसे ही जब तक अपने में से यह पशुत्व वासना नहीं जाये, तब तक उस पशुपति का पूजन कैसे करें? इस ज्ञान की प्राप्ति कैसे हो?

इसका उपाय शास्त्रों ने बताया 'संगत्यागुरुराप्येत गुरोर्मंत्रादि पूजनं। पूजनात् जायते भक्तिः भक्त्या ज्ञानं प्रजायते।' एक बार सभी देवताओं ने जाकर भगवान् ब्रह्मा से प्रार्थना की कि आप हमको ऐसा कोई उपाय बतायें जिससे हम लोगों की सांसारिक दुःख की तात्कालिक और आत्यंतिक दोनों निवृत्तियाँ हो जायें। संसार से दुःख दो प्रकार से हटता है— तात्कालिक दुःखनिवृत्ति और आत्यन्तिक दुःखनिवृत्ति। तात्कालिक दुःखनिवृत्ति है कि जितनी देर तो वह पदार्थ रहे, तब तक दुःख नहीं और बाद में पुनः दुःख हो जाये। जैसे प्यास लगी, पानी पिया। जब तक पेट में अथवा रक्त में उस पानी का संचार है तब तक प्यास के दुःख की निवृत्ति, और जब पेट से अथवा रक्त से वह अंश चला गया तो फिर वह दुःख वैसा का वैसा। यह तात्कालिक दुःख निवृत्ति है। इसी प्रकार भूख लगी, भोजन किया। जब तक पेट में भोजन अथवा रक्त में उसका तत्त्व रहा तब तक भूख की निवृत्ति और जैसे ही वह हटा, वैसे ही फिर भूख लग गई। गर्मी में इसीलिए जल्दी-जल्दी प्यास लगती है क्योंकि पसीने के द्वारा शरीर का जलांश बाहर निकल जाता है। सर्दी में इसीलिए प्यास कम लगती है यह तात्कालिक दुःखनिवृत्ति हुई कि जिस काल में सेवन किया जाये उस काल में दुःख हट जाये और पुनः दुःख आ जाये। आत्यंतिक दुःख निवृत्ति अर्थात् वह दुःख ऐसा हट जाये कि फिर कभी आवे ही नहीं। फिर कभी उसकी प्राप्ति न हो। तात्कालिक दुःखनिवृत्ति के अनेक उपाय हैं। रोग के लिए औषधि, गर्मी के लिये पंखा, खस की टट्टी इत्यादि अथवा आजकल के जमाने में वातानुकूल इत्यादि। सर्दी के लिये कपड़े, रजाई, कम्बल अथवा तापक (हीटर) इत्यादि। ये सब तात्कालिक दुःखनिवृत्ति के उपाय हैं। इनसे आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति नहीं। एकमात्र परमात्मज्ञान ही ऐसा है जो आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति

करता है। परमात्मज्ञान होने के बाद कभी किसी काल में किसी भी प्रकार के दुःख की प्राप्ति सम्भव ही नहीं। न उसको शारीरिक दुःख से दुःख होता है, न मानसिक दुःख से दुःख और न बौद्धिक दुःख से दुःख होता है। यह आत्यंतिक दुःखनिवृत्ति बिना ज्ञान के सम्भव नहीं देवताओं ने ब्रह्माजी से जाकर प्रश्न किया कि हमारी तात्कालिक और आत्यंतिक दुःखों की निवृत्ति कैसे हो? कहोगे कि केवल आत्यंतिक दुःख निवृत्ति के लिये ही कह देते। लोक में ऐसा देखा जाता है कि आयुर्वेद की जो दवाई है, वह रोग को जड़ से तो निकालती है लेकिन समय लम्बा लेती है। तुरंत फायदा नहीं करती। मान लो मोतीझरा (टाइफाइड या मियादी बुखार) हो गया। डाक्टर ने क्लोरोमाइसिटिन दे दी, बुखार झट उतर गया। यहाँ तात्कालिक दुःखनिवृत्ति हो गई। बाद में तुमने यदि ख्याल नहीं रखा तो वह बुखार पुनः (Relapse) आ जायेगा, यह ठीक नहीं है लेकिन तत्काल दुःख तो हट गया। कमजोर व्यक्ति को कहें कि क्लोरोमाइसिटिन मत दो, उसे २१ दिन का मियादी बुखार पूरी तरह से भुगत लेने दो, तो २१ दिन के बाद पुनः उसके शरीर को स्वस्थ होने में एक महीना लग जायेगा। जो इतना सहन नहीं कर सकता है, वह कहता है कि आज तो बुखार उतरा। इसी प्रकार सिर दर्द है, ऐस्प्रो की गोली खा ली आज तो सिर दर्द ठीक हुआ। लेकिन जड़ से नहीं जायेगा, फिर आ जायेगा। इसी प्रकार मनुष्य जब त्रिविध दुःख में तप रहा है, उबल रहा है तब यदि उसको केवल कहा जाये कि आत्यंतिक दुःख निवृत्ति ज्ञान से धीरे धीरे होगी तो वह कहता है कि आज क दुःख की तो निवृत्ति किसी प्रकार से हो। यह कहने से कि आत्यंतिक दुःख निवृत्ति की ही इच्छा करो, हम ऐसे तात्कालिक दुःख से घबराने वाले व्यक्ति की सहायता नहीं कर पाते। शास्त्र ने इसीलिए तात्कालिक और आत्यंतिक दुःख दोनों की निवृत्ति के उपाय बताये।

ब्रह्माजी के पास देवताओं ने जाकर पूछा कि उभयविध दुःखों की निवृत्ति का क्या उपाय है? ब्रह्माजी ने कहा कि अपने

क्षीर सागर चलें और चलकर भगवान् विष्णु से पूछें। क्षीरसागर में पहुँचे। वहाँ जाकर भगवान् विष्णु की स्तुति करके देवताओं के प्रतिनिधि रूप में ब्रह्माजी ने यह प्रश्न किया कि दुःख की तात्कालिक और आत्यंतिक निवृत्ति का क्या उपाय है? भगवान् विष्णु ने कहा 'सेव्यः सेव्यः सदादेवः शंकरः सर्वदुःखहृत्' सेव्यः सेव्यः दो बार कहा। पहले सेव्य से कहा अंतर्भावनया सेव्यः और दूसरे सेव्य से कहा बहिःरूपेण सेव्यः। अन्तर्भाव से भी परमेश्वर की सेवा करें और बाहर भी सेवा करें। दोनों तरफ से सेवा करना आवश्यक है। यदि चाहते हो कि तात्कालिक और आत्यंतिक दोनों दुःखों की निवृत्ति हो तो आंतरिक भावना और बाह्य शरीर आदि दोनों से सेवा करनी पड़ेगी। 'शं' माने कल्याण और 'कर' माने करने वाला अर्थात् कल्याण करना जिसका स्वभाव होने से जिसका नाम ही शंकर है। चूँकि कल्याण करना उसका स्वरूप है इसलिये कहा कि वह सारे दुःखों को नष्ट करने वाला है। आगे भगवान् विष्णु ने कहा कि तारकासुर ने चूँकि भगवान् शंकर के पूजन को छोड़ा, इसलिए वह भी मारा गया। सर्व दुःखों की निवृत्ति का यह उपाय है। भगवान् विष्णु से ब्रह्माजी ने कहा कि बात तो आपने ठीक कही लेकिन यह प्राप्त कैसे हो? आभ्यंतर पूजन करने के लिये भगवान् शंकर का ज्ञान अपेक्षित है और बाह्य पूजन करने के लिये विधि अपेक्षित है। बाहर से पूजा करोगे तो विधि विधान का मनुष्य को पता होना चाहिये। अन्दर से पूजा करने के लिये विधि विधान की आवश्यकता तो नहीं लेकिन ज्ञान चाहिये। तब भगवान विष्णु ने कहा 'संगत्यागुरुराप्येत गुरोर्मंत्रादि पूजनं। पूजनात् जायते भक्तिः भक्त्या ज्ञानं प्रजायते।' जब मनुष्य महापुरुषों का संग करता है तब उसे गुरू की प्राप्ति होती है। बिना महापुरुषों का संग किये हुए गुरू की प्राप्ति नहीं होती। गुरू का मतलब केवल कानों में कुछ छर्वण (श्रवण) या कुछ शब्द समूह डालने वाला नहीं। गुरू का मतलब होता है हाथ पकड़कर रास्ते से चलाने वाला। शनैः शनैः रास्ते के ऊपर चलते हुए मनुष्य आगे बढ़ता है। आजकल यह जो

एक प्रथा या विचार चला है कि हमने कान में कुछ सुन लिया और हो गया काम। यह तो प्रारंभ है। जैसे एक आदमी रेल का टिकट लेकर के यह समझे कि इस टिकट के प्राप्त होने मात्र से मैं अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच गया क्योंकि टिकट मिल गया, उस पर लिखा हुआ है 'हावड़ा से दिल्ली'। लेकिन टिकट मिलने से पहुँच थोड़े ही गये। टिकट लेने के बाद खूब अच्छी तरह से कसकर धोती बाँधकर, कमीज़ आदि भी अच्छी तरह से कसे हुए पहनकर हावड़ा स्टेशन के भीड़भड़क्के में घुसकर प्लेटफार्म पर पहुँचने की पूरी ताकत होनी चाहिये। फिर जब डिब्बे तक पहुँचो तो उस डिब्बे में घुसने के लिये अपने हाथ पैरों में बल होना चाहिये, नहीं तो अन्दर की भीड़ धक्का मारकर बाहर कर देगी। डिब्बे के अन्दर पहुँचने के बाद युक्ति होनी चाहिये, किसी से भाई साहब, किसी से माई जी कहकर बैठने की थोड़ी सी जगह बनाओ। जब बैठने को जगह मिले तो हर बार जब रेल झटका खाये तो हाथ से रोकने की युक्ति होनी चाहिये। इतना सारा यदि तुम्हारे पास विधि का ज्ञान है तब तो चढ़ोगे, नहीं तो हावड़ा स्टेशन के बाहर ही टिकट लेकर खड़े रहोगे। पहुँच थोड़े ही जाओगे। ऐसा नहीं समझ लेना कि ऐसी भूल लोग नहीं करते। भारतवर्ष में २५ वर्ष से यह भूल हम कर रहे हैं। हमको स्वतंत्रता मिली। स्वतंत्रता मिलने का अर्थ होता है अपने को चाहे बनाओ, चाहे बिगाड़ो। यही स्वतंत्रता का मतलब है। जैसे तुमने लड़के को दुकान करा दी कि अब तुम स्वतंत्र हो, अपने पैरों पर खड़े हो! इसका मतलब यह थोड़े ही है कि लखपति हो गया। इसका मतलब है कि अब डट कर परिश्रम करो। चाहे हजार कमाओ, चाहे लाख कमाओ और चाहे आलसी बनकर दुकान का दिवाला पीटो। स्वतंत्र बनने का मतलब होता है कि मैंने दुकान करके तुमको दे दी, यह टिकट हुआ। इसका मतलब लखपति नहीं हो गये। हम लोगों को स्वतंत्रता का टिकट मिला तो हम लोग समझे कि हम लोग अपने उद्देश्य को पहुँच गये। बस टिकट लेकर बैठ गये। अगर इन २५ वर्षों के अन्दर हम लोगों ने डटकर परिश्रम

किया होता, जो हमको प्राप्त हुआ, उसको भोगों में न उड़ाकर पुनः व्यापार आदि में लगाया होता, अपनी नैतिकता, संस्कृति और धर्म का संवर्द्धन किया होता तो आज सारा विश्व कहता कि भारत वर्ष ने कितनी उन्नति की, हम भी इसके पैरों पर चलें, हम भी इस गुण को प्राप्त करें। हम लोगों ने समझा स्वतंत्रता मिल गई, इसलिए अब तो पड़े रहो और कुछ मत करो। नतीजा यह हुआ कि आज आर्थिक क्षेत्र में भी हमारी दृष्टि यह है कि हम कैसे अपने भोग बढ़ायें। सब तरफ यह दृष्टि हो गई है कि अब तो स्वतंत्रता मिल गई, डटकर भोग भोगो, अब कुछ करना नहीं है। मानो स्वतंत्रता कोई ऐसा गुरु-मंत्र है जिसके जपने से धन, धर्म, नीति सब ठीक हो जायेंगे। नतीजा यह कि जिस भारतवर्ष को स्वतंत्रता के पहले लोग बड़ी इज्जत की दृष्टि से देखते थे, यह प्राचीन संस्कृति का देश न जाने कौन-सी एक नई धारा बहा देगा, हम लोगों को शांति और सुख देगा, वही अब सोचते हैं कि अरे यह तो कुछ नहीं। यह गलती थी। बहुत से लोग गलती करते हैं। भाई से अलग होते हैं तो यही सोचकर कि व्यापार चल रहा है, अलग हो जायेंगे तो रुपया ही रुपया मिल जायेगा। वह रुपया तो व्यापार करने से मिलता है, कोई भाई से अलग हो जाने से थोड़े ही मिल जायेगा। इसी प्रकार से जब हमने गुरुमंत्र को सुना तो आगे साधना शुरू हुई। बहुत से लोग उसी को अंतिम सोपान मान लेते हैं कि बस हो गया काम। 'गुरोर्मंत्रादिपूजनं' गुरू से मंत्र, पूजन इत्यादि की विधि मिलती है। 'पूजनात् जायते भक्तिः' जितना जितना मनुष्य पूजन करता है, उतनी उतनी उसके हृदय में भक्ति अर्थात् प्रेम बढ़ता है। मनुष्य का मन कुछ ऐसा है कि जिस चीज में पूज्य दृष्टि रखेगा, जिसको समझेगा कि यह मेरे से श्रेष्ठ है उसके विषय में उसकी भक्ति बढ़ेगी। यह मानव की प्रकृति (स्वभाव) है। जहाँ पूज्य दृष्टि नहीं होगी, वहाँ भक्ति बढ़ेगी नहीं। यही कारण है कि हम लोग अपने प्राचीन मानदण्डों पर आज किसी प्रकार की भक्ति की दृष्टि नहीं कर पाते उनमें से पूज्य दृष्टि हट गई है। जब तक उनमें पूज्य दृष्टि नहीं होगी, तब तक

भक्ति की सम्भावना नहीं। 'भक्त्या ज्ञानं प्रजायते' भक्ति से ही आगे उस तत्त्व का यथार्थ ज्ञान सम्भव होता है। तब तक बाह्य जीवन को व्यतीत करना है। भगवान् विष्णु आगे कहते हैं 'यावद् गृहाश्रमे तिष्ठे तावदाकारपूजनं। शिवे च पूजिते देवाः पूजिताः सर्व एव हि।' जब तक गृहस्थाश्रम में रहे, तब तक बाह्य पूजन अवश्य करे। गृहस्थाश्रम में रहते हुए यदि वाह्य पूजन को छोड़ देगा तो उसका गृहस्थाश्रम सुखी नहीं होगा क्योंकि चाहे ज्ञान हो भी गया हो लेकिन घर में सभी को तो ज्ञान हुआ नहीं है। तुम्हारे न करने से दूसरे भी नहीं करेंगे और उनको तात्कालिक शांति हो नहीं मिलेगी। कभी फौज में जाओ तो देखोगे कि जो फौज का जनरल, लै० जनरल, चीफ आफ स्टाफ होते हैं, उनको कोई आवश्यकता नहीं है कि कवायद करें लेकिन जिस समय वे अपनी बटालियन में जाते हैं तो ठीक कवायद के ढंग से खड़े होकर के चलते हैं। यह कभी नहीं हो सकता कि कवायद के कपड़े वे न पहने हों अथवा तदनुकूल वे खड़े न हों, तदनुकूल वे सलामी (Salute) न करें। यह कभी नहीं होता क्योंकि यदि वे नहीं करेंगे तो दूसरे कैसे करेंगे। इसीलिये कहा 'यावद् गृहाश्रमे तिष्ठे तावदाकारपूजनं' जिस प्रकार मूल में जल देने से सारे ही वृक्ष को जल मिल जाता है, उसी प्रकार से परमेश्वर का पूजन करने से बाकी सब देवता तृप्त हो जाते हैं 'शिवे च पूजिते देवाः पूजिताः सर्व एव हि।' अब कहते हैं कि परमेश्वर के पूजन में किसका अधिकार है? 'सर्वकामफलावाप्त्यै सर्वभूतहिते रत' शिव का पूजन करो तो सारे हो प्राणियों के हित में हमेशा प्रेम रखो क्योंकि वह स्वयं भूतभावन कहे जाते हैं। जैसे वह सबके दुःख को हटाने में तत्पर रहते हैं उसी प्रकार सारे प्राणियों के कल्याण में, उनके दुःख को निवृत्त करने में जो तत्पर रहते हैं वही भगवान् शंकर के पूजन का अधिकार प्राप्त करते हैं। भगवान् विष्णु ने केवल कहा ही नहीं, सभी देवताओं को भिन्न-भिन्न प्रकार के शिवलिंग भी पूजन करने के लिये दिये। 'पद्मरागमणिमिन्द्रे' इन्द्र को पद्मरागमणि का लिंग दिया।

भगवान् विष्णु के पास इन्द्रनीलमणि का लिंग है, ब्रह्मा जी के पास स्वर्ण का लिंग है, लक्ष्मी जी के पास स्फटिक का शिवलिंग है। बाकी विप्रेन्द्रों, मुनि लोगों को पार्थिव शिवलिंग दिये और उनकी पत्नियों को भी उन्होंने मृत्तिका के अर्थात् पार्थिवेश्वर दिये। इस प्रकार सबको शिवलिंग देकर पूजनविधि का उपदेश दिया।

यहाँ तो बता रहे थे कि जब मनुष्य इस प्रकार सोपानक्रम से चलता है तब उसकी पशुता की वासना छूटती है। जब तक पशुवासना रूपी मल की निवृत्ति नहीं तब तक केवल बाह्य जल डालने से सच्चा स्नान नहीं हो जाता। प्राचीन काल में श्वेत नाम के एक मुनि हुए हैं जिनकी आयु समाप्तप्राय: हो गई थी 'श्वेतोनाम मुनि: श्रीमान् गतायु: शरणे गत:' श्वेत नाम के मुनि की आयु समाप्ति पर आने के कारण उन्होंने विचार किया कि अंतिम काल में भगवान् शंकर की शरण में रहकर भगवान् शंकर का पूजन करके शरीर समाप्त हो, उसके बाद जो हो सो हो। पहाड़ के अन्दर एक गह्वर (गुफा) थी, श्वेत मुनि उसमें भगवान् शंकर का पूजन करने के लिये गये। पूजन करते हुए उन्होंने स्नान आदि करा दिया, रुद्राध्याय से अभिषेक कर लिया। उसके बाद त्रयम्बक मंत्र का उच्चारण करते हुए वह भगवान् शंकर को चंदन लगा रहे थे। बस उसी समय उनकी आयु का अंतिम क्षण आ गया। वहाँ यमराज पहुँच गये। यम ने कहा श्वेत ! चल तेरा समय हो गया। श्वेत मुनि ने कहा--भाई, जरा ठहर जा, मुझे पूजन समाप्त कर लेने दे, इसके पहले पूजन के बीच में विघ्न मत डाल। लेकिन यमराज किसकी सुनता है। वह कहता है—अरे, क्या बोलता है। उसके भयंकर रूप को देखकर भी श्वेत मुनि उससे डरे नहीं। यम से कहा - देख, मैं साक्षात् महेश्वर का पूजन कर रहा हूँ, यह मेरी रक्षा करने को तत्पर हैं। तू बीच में विघ्न मत डाल। पूजन समाप्त कर लेने दे, फिर मैं तेरे साथ चला चलूँगा। निर्भयता ही तो भक्ति का फल है। तुम्हारे साथ चलने में मुझे कोई भय नहीं है। मृत्यु और जीवन तो भगवद्भक्त के लिये बालकों का खेल होता है। लेकिन अभी बीच में विघ्न मत

डाल, नहीं तो तेरा लाभ नहीं होगा। यमराज हँसकर कहता है 'मत्तो रक्षेत्स कः प्रभुः' मैं जब किसी का ग्रास करने आता हूँ तो कौन किसको बचा सकता है। चाहे ब्रह्मा, चाहे विष्णु, चाहे रुद्र और चाहे इंद्र हो, मैं जब पकड़ने आ जाता हूँ तो कोई रक्षा करने में समर्थ नहीं है, मैं काल हूँ। इसलिये अव तू चुपचाप मेरे साथ चला चल। श्वेत मुनि ने उसकी इस भयंकर बात को सुनकर रुद्र रुद्र रुद्रेति कहकर कहा—भगवन् ! देखो यह पूजन में विघ्न कर रहा है। जैसे बालक अपनी माँ को कहता है। वहाँ काल किसकी सुनता है। उसने तो अपना पाश निकाला और डाला उसके हृदय में और 'निश्चकर्ष बलात् यमः' बलपूर्वक यम ने अंगुष्ठमात्रपुरुष को खींच लिया। जब वह खींचने लगा तब भी वह रुका रहा और अपने आपको शिव के साथ स्पर्श करके कहता है—यम ! अभी भी तू सँभल जा। 'अतीव भव भक्तानां रक्षकस्स सदाशिवः गच्छ गच्छ यथागतं' तुमने जो कहा कि मेरे हाथ से कोई नहीं बचा सकता तो जो साधारण रूप से परमेश्वर का सहारा लेते हैं, उनके लिये तो यह बात ठीक है लेकिन जो भगवान् शंकर की अतिभक्ति करता है अर्थात् शंकर पर प्रेम करता है; ऐसे जो मेरे जैसे लोग हैं उनका विधि (ललाट पट में लिखी हुई बात) भी कुछ नहीं बिगाड़ सकती। इसलिये जैसे तू आया, वैस वापस चला जा। तव तक तो यम ने उनको खींच करके बाहर कर लिया'। बाहर करके बड़े जोर से यमराज उससे हँसकर कहता है—देख लिया 'क्व शर्वः तव भक्तिश्च क्व पूजा क्व च तत्फलं' उसके मन में अहं आया, कहा—तू शिवलिंग को पकड़े हुए था, फिर भी मैंने खींच लिया। कहाँ है तेरा शंकर, क्या हुआ तेरी भक्ति से, कहाँ चली गई तेरी पूजा, छूट गई पूजा, और इतनी पूजा करके तेरे को क्या फल हुआ, मेरे हाथ से बच सका ? रात दिन यही होता है। कोई साधक हो तो उसको यही कहते हैं कि कहाँ गया तुम्हारा भगवान्, क्या हुआ तुम्हारी भक्ति का फल, कोई भी ऐसा दुःख आ जाये लोग यही कहने लगते हैं। अन्त में गर्वोन्मत्त होकर यम कहता है 'निश्चेष्टो निर्दयो लिंगः' अरे तेरा

महादेव तो निश्चेष्ट है, जड़ है, पीड़ाहीन है, पत्थर का टुकड़ा है। इसे तूने पूज्य मान रखा है। बस जैसे ही उसका यह कहना था वैसे ही लिंग से भगवान् शंकर प्रकट हो गये और यम को एक लात मारी तो यम तो वहीं मर गया। इसीलिये भगवान् शंकर का नाम यमांतक है अर्थात् यम का भी वह अन्त करने वाले हैं और वह जो बाहर खींची हुई जीवकणिका थी, वह तुरंत पुनः उसके शरीर में प्रविष्ट हो गई। इतना करके भगवान् शंकर उसी लिंग में पुनः लीन हो गये। तब तक तो देवताओं में बड़े जोर का हाहाकार मच गया। सारे देवता लोग देखने के लिए आये कि यह क्या हुआ। मुनि लोग प्रसन्न हो गये कि यह यम सभी प्राणियों को दुःख देता है, सबसे ज्यादा दुःख देने वाला यही है। अच्छा हुआ यह चला गया। अब लोगों को कम से कम मृत्यु का दुःख नहीं होगा। लेकिन देवता लोग सोचने लगे कि यदि मृत्यु का दुःख नहीं होगा तो यह मनुष्य अत्यंत गर्विष्ठ हो जायेगा और देवताओं को जो यज्ञ को बलि देनी है, वह देना तुरत बन्द कर देगा। मृत्यु के भय से ही लोग कुछ थोड़ा बहुत ठीक कार्य करते हैं क्योंकि विचार आता है कि मृत्यु के बाद यहाँ के पदार्थ सचमुच काम में आने वाले नहीं हैं। मृत्यु नहीं रहेगी तो फिर क्या है, विचार ही नहीं आयेगा। मुनीश्वर प्रसन्न हो गये और देवता लोग दुःखी हो गये। देवता लोग आकर प्रार्थना करने लगे लेकिन भगवान शंकर तो पुनः लिंग में लीन हो गये थे। उन सबने श्वेत मुनि से कहा कि तुम ही किसी तरह से प्रार्थना करके भगवान् शंकर से कहो कि यह यमराज फिर जी जाये। मुनीश्वर लोग श्वेत से कहने लगे कि देवताओं की बात में नहीं आना, ये तो बिना मतलब सबको दुःख देते रहते हैं। जाने दो, मर गया तो टण्टा मिटा। फिर देवताओं ने श्वेत की बहुत प्रार्थना की कि अपराध का दण्ड इसको मिल गया। अब क्षमा करो। श्वेत ने देवताओं की बात मान ली। उसने भगवान् शंकर से प्रार्थना की, भगवान् फिर प्रकट होकर कहने लगे कि तेरे लिये ही मैंने इसे मारा था। अब यदि तू कहता है तो जिला देता हूँ। देवताओं से

कहा कि आगे से इसको यह समझा देना कि मेरे भक्तों को कभी इस प्रकार विघ्न डालकर मारा न करे। तव तो मैं इसे जिलाऊँगा, अन्यथा नहीं। मुनि लोगों से भी कहा कि देख लो, जो भक्ति करने वाले हैं, उनके ऊपर इसका जोर नहीं चलेगा। बाकी लोग यदि जीवित रहेंगे तो जितने दिन जीवित रहेंगे, उतना ज्यादा ही तो पाप करेंगे। पापी व्यक्तियों की आयु यदि लम्बी होगी तो उनका अपना नुकसान ही तो होना है। इसलिये मुनीश्वरों से कहा कि यदि आप लोगों का कल्याण चाहते हैं तो पापी की दीर्घायु उसी के लिए नुक्सान की चीज़ है और भक्तों को यह कभी पीड़ा नहीं देगा। मुनीश्वर लोग भी मान गये कि यह ठीक है क्योंकि वे तो सर्वभूत-हितरत होते हैं। मुनि और देवता दोनों का काम हो गया। यम-राज ने पुनः जीवित होकर कहा कि मेरे अन्दर यह अभिमान आ गया था कि मैं सर्वहर हूँ। 'मृत्युः सर्वहरः' लेकिन आपकी शक्ति से सर्वहर हूँ यह मैं भूल गया था। अब मेरे मन में कभी यह अभिमान न आये, आप मुझे यही वरदान दें। भगवान् शंकर ने कहा– ठीक है। अब विचार करो। चूँकि वह त्रयम्वकं मंत्र का जप कर रहा था और यम ने उसके प्राणों को खींचा, इसी से यमराज मारा गया और इसीलिये अपने यहाँ मृत्युंजय मंत्र में त्रयम्वकं जप का विधान है क्योंकि और कोई जप करो तो शायद यम को ख्याल न आये लेकिन यह तो बोलते ही उसको याद आ जाता है कि मैंने गलत काम किया था। यह सुनकर उसको याद आ जाने से भय के मारे फिर वह कुछ नहीं करता।

इस कथा के द्वारा पुराण में कुछ और भी संकेत किया है। श्वेत का मतलब है जिसने अपने कर्म शुभ कर लिये हैं। श्वेत का अर्थ सफेद भी होता है। अर्थात् कृष्ण कर्मों को जिसने छोड़ दिया है, दुष्कर्मों को जो नहीं करता है। मुनि है अर्थात् परमेश्वर के अन्दर अपना मन लगाने वाला है। गतायुः जिसने समझ लिया है कि यह आयु तो गत ही है और वह अपने हृदय रूपी गुहा के अन्दर प्रविष्ट होकर ध्यान करता है, पूजन

करता है। जिस समय परमेश्वर के पूजन में मग्न है, उस समय वास्तविक मृत्यु आती है। वास्तविक मृत्यु क्या है? 'प्रमादोवै मृत्युमहं ब्रवीमि' सनत्कुमारों ने धृतराष्ट्र को उपदेश करते हुए कहा है कि परमेश्वर के मार्ग में प्रमाद होने का नाम ही मृत्यु है। जब इस प्रकार से शुद्ध चरित्र वाला व्यक्ति अपने हृदयरूपी गुफा में बैठकर परमेश्वर के आन्तर पूजन में लगा हुआ होता है, उस काल में मृत्यु अर्थात् प्रमाद इसको खींचकर बाहर संसार की तरफ ले जाना चाहता है। यह कहता है—अरे, मैं प्रेम से बैठा हुआ हूँ, भक्ति कर रहा हूँ, इस समय विघ्न मत करो लेकिन यह तो जन्मजन्मांतर के संस्कार पड़े हुए हैं, खींचकर बाहर ले जाना चाहता है और उस समय मन में तरह तरह के भाव आते हैं। बाह्य जगत् का भाव ही यह है कि अरे! क्या पूजन कर रहे हो, अन्दर परमात्मा है तो किसने देखा है। आँख बंद करके तो अंधकार दीखता है। यह तो निश्चेष्ट है। परमेश्वर के पूजक विषय में संदेह ही यह आता है कि यह तो निश्चेष्ट है, कुछ नहीं करता बैठा हुआ है। कुछ लोग तो यहाँ तक कहते हैं कि समय बरबाद कर रहा है। इसकी जगह कुछ और अच्छा काम, संसारी काम, करता तो बहुत अच्छा था। ये सारी वृत्तियां ही प्रमाद हैं। जब वह यह कहता है कि 'निश्चेष्टः निर्दयो लिंग कथं पूज्यो महेश्वरः' अरे यह तो निश्चेष्ट अवस्था ध्यान की अवस्था है, इससे राष्ट्र का, मानवता का क्या उपकार होना है। ऐसी ऐसी बात मनुष्य करता है। जब इस प्रकार के प्रमाद की अवस्था आती है तब भगवान् शंकर प्रकट हो जाते हैं। अंदर आनंद का एक स्फुरण होता है। जब प्रमाद की तरफ हम ध्यान नहीं देते, प्रमाद को रोककर अंदर भगवान् शंकर को, परमेश्वर को पकड़े रहते हैं तब अन्दर से आनन्द का उद्वेग आता है। तब पता लगता है कि उस आनंद के सामने जगत् का कोई आनंद आनंद है ही नहीं। आखिर सारे प्राणी किसलिये कार्य कर रहे हैं। इसीलिये कर रहे हैं कि सुख मिले। तुम दूसरे का भी कल्याण करते हो तो यही इच्छा है कि उसको सुख मिले। अपने को सुख मिले

और दूसरे को सुख मिले। अब वह इस चीज को जान पाता है कि वास्तविक आनंद का स्फुरण तो अन्दर है, इसके बिना कहाँ आनंद है उस आनंद के स्फुरित हो जाने पर उसको फिर संसार के आनंद सूखे लगते हैं। तभी मनुष्य का त्याग जीवित त्याग बन जाता है। आजकल हम लोग बाहर से त्याग की बात करते हैं। कहते हैं कि अपना धन सबको बाँट दो लेकिन हमको खुद धन चाहिये, खुद भोग चाहिये तो हम दूसरे को दें कैसे। लेकिन जब ध्यान आदि के द्वारा अंदर का आनद खुल जाता है तो फिर संसार के पदाथ उसके लिये तो व्यर्थ हो गये, उसमें उसको कोई सत्य बुद्धि नहीं रह गई। तब वह वस्तुत दूसरों का कल्याण कर सकता है। दूसरों के तात्कालिक दुःख को निवृत्त कर सकता है। जैसे यदि हम खुद प्यासे हैं तो हम पानी का गिलास कितना भी दूसरे को देना चाहें, सोचेंगे कि आधा तो अपने गटक ही जायें क्योंकि प्यास खुद को लगी है। अपने को प्यास नहीं तो खुद ही सारा गिलास दूसरे को दे देंगे। अंदर का आनद प्रस्फुटित होने पर ही वह सर्वभूतहित-रतता मे स्वाभाविक रूप से प्रवृत्ति करता है।

४-३-८५

उस परब्रह्म परमात्मा को अधिवक्ता कहा अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान आदि प्रमाणों से परमेश्वर के नाम का पता न लगने पर भी वह अधिवदन करके उसका प्रतिपादन करते हैं। आगे बता रहे थे कि वही दैव्योभिषक् है, वही परब्रह्म परमात्मा स्वयं अपने रूपों की कल्पना करता है जिसके द्वारा उपासक अपने कार्य को सिद्ध कर सके। यह जो उसके नामरूप हैं वही माध्यम या दरवाजे हैं जिसके द्वारा उस नामरूप रहित का अपने अन्दर प्रवेश सम्भव है। मन के अन्दर परमेश्वर का प्रवेश कराने के लिए आवश्यक है कि प्रारम्भ में किसी नाम रूप का आधार लिया जाये। नामरूप का आधार लेने में रूप के स्वरूप को समझना जरूरी है,

यह बता रहे थे। उसमें विभूति और स्नान का तात्पर्य बताया। इसी प्रकार जब भगवान् शंकर का पूजन करते हैं तो रुद्राक्ष धारण करते हैं। रुद्राक्ष का क्या तात्पर्य है ? शास्त्रकारों ने कहा 'रुद्रावरण मुद्राश्चधार्या रुद्राक्षमालिका'। रुद्र का जो अक्ष हो, उसे रुद्राक्ष कहते हैं। अक्ष नाम इन्द्रियों का है। इसीलिये इन्द्रियों के द्वारा जिसका ज्ञान होता है, उसको प्रत्यक्ष कहते हैं। अक्ष के प्रति अर्थात् अक्ष के सामने जो हो, उसे प्रत्यक्ष कहते हैं। इसलिये 'अक्ष' शब्द का अर्थ इन्द्रिय है। रुद्राक्ष का मतलब हुआ कि जहाँ इन्द्रियों को परमेश्वर के विग्रह में लगा दिया गया। अपनी इन्द्रियों को परमेश्वर में लगा देना ही रुद्राक्ष का धारण करना है। प्राय: पंचमुखी रुद्राक्ष को धारण किया जाता है। वह भी इसी दृष्टि से कि रूप, रस, गंध, शब्द और स्पर्श इन पाँच का ज्ञान ही इन्द्रियों के द्वारा होता है। इसलिये ये पाँच ही मुख हुए। रुद्राक्ष धारण का तात्पर्य है इन इन्द्रियों को परमेश्वर में लगाना। इन्द्रियों को परमेश्वर में लगाने का मतलव भी क्या है ? इन्द्रियों के द्वारा हमको परमेश्वर की स्मृति बनी रहे। इन्द्रियों के द्वारा हम परमेश्वर को भूलते हैं। हमारे सामने जब रूप रस आदि विषय आ जाते हैं तब हम परमेश्वर को भूल जाते हैं। इसलिये परमेश्वर को भूलने में निमित्त जो इन्द्रियाँ हैं, परमेश्वर को भुला देने वाली जो इन्द्रियाँ हैं उन्हीं को परमेश्वर का स्मरण करने के काम में लगा देना है। जिसके द्वारा मनुष्य गिरता है, उसी के द्वारा उठता है। जैसे जमीन के ऊपर पैर फिसलकर के गिरता है, उसी जमीन का सहारा लेकर के फिर खड़ा होता है। इसी प्रकार जिन इन्द्रियों के द्वारा परमेश्वर की विस्मृति होती है, उन्हीं इन्द्रियों के द्वारा परमेश्वर के स्मरण का कार्य करना है। यह कैसे होगा ? जब कभी कोई भी रूप रस आदि सामने आये तो यह वृत्ति बने कि ये रूप रस आदि हमारे सामने परमेश्वर ही लाया है। सारे अनुभवों को कराने वाला, सारे पदार्थों का देने वाला एक परमात्मा ही तो है। कहीं वह साक्षात् देता है और कहीं वह परम्परा से देता है। जैसे दिन के समय में

जहाँ कहीं रोशनी है, वह रोशनी सूर्य की है। सीधे हो तो उसको धूप कहते हैं। धूप में खड़े होने से सूर्य की रोशनी साक्षात् आती है। दूसरी जगह खड़े होने पर धूप न होने के कारण सूर्य की रोशनी साक्षात् नहीं आती लेकिन दीवार इत्यादि से लौटकर आती है तो भी सूर्य की ही रोशनी है। बीच में और कोई रोशनी तो है नहीं। मनुष्य जब धूप में खड़ा होता है तब तो समझता है कि यह रोशनी सूर्य की है। परन्तु जब छाया में खड़ा हो जाता है तब इस बात को भूल जाता है और सोचता है कि यह रोशनी किसकी है? फिर उसको कोई याद दिलाये कि यहाँ कोई बत्ती थोड़े ही जल रही है, यह रोशनी भी परम्परा से प्रत्यावर्तित होकर के सूर्य की ही है तब झट समझ में बात आ जाती है। ठीक इसी प्रकार से परमेश्वर ही हमको सब पदार्थ देता है। कहीं साक्षात् देता है, कहीं परम्परा से किसी दूसरे के द्वारा देता है, लेकिन दूसरे के द्वारा भी देने वाला परमेश्वर ही तो है। जब जब रूप रस आदि पदार्थ सामने आयें तब तब उसको देने वाला परमात्मा है, इस वृत्ति को बनाने से जिन पदार्थों को देखकर के हम पहले परमात्मा को भूल जाते थे, वे ही पदार्थ हमको परमात्मा की याद दिलाने वाले हो जायेंगे। यह उस रुद्र के अक्ष को धारण करना हुआ।

जैसे रुद्राक्ष धारण करना हुआ वैसे ही जब भगवान् शंकर का पूजन करते हो तो उनका आवाहन करते हो या बुलाते हो कि इस विग्रह में, इस लिंग में अथवा इस मूर्ति में आप आकर बैठें। कई बार विचार होता है कि मूर्तियाँ तो अनेक हैं और सब जगह उनका आवाहन होता होगा। शिवरात्रि के दिन अनेक लिंगों में एक साथ ही उनका आवाहन होगा तो भगवान् कहाँ कहाँ जाकर बैठेंगे। किसी एक जगह बैठेंगे या सब जगह बैठेंगे अथवा क्या उनके टुकड़े हो जायेंगे कि थोड़े यहाँ और थोड़े वहाँ। शास्त्र कहता है कि आवाहन का तात्पर्य क्या है? 'सर्वगस्यापि देवस्य भक्तिरावाहनं तव' वस्तुतः तो वह देवता सर्वग है, सब जगह सब समय मौजूद है। फिर उसका आवाहन या बुलाना

क्या है ? इसे एक सूक्ष्म दृष्टान्त से समझायेंगे। किसी को तुम कहते हो कि हवाई जहाज से कहीं जाना है इसलिये पेटी एक ही ले जानी है क्योंकि वहाँ सामान तोलकर बैठने देते हैं। लेकिन पत्नी ने पहले ही उस पेटी के अन्दर २२ साड़ियाँ भर दी हैं। जाना तीन दिन के लिये किसी ब्याह में है और साड़ियाँ उसने २२ पहले भर दी हैं, उन साड़ियों के साथ जो और माल होता है, वह सारा भी समझ लेना। तुम दिन भर काम करके घर आये। तुमने भी अपनी तीन धोतियाँ और दो कुर्ते उसमें रखने की कोशिश की लेकिन वहाँ कहाँ जगह है ? कहाँ रखोगे ? तुम पत्नी से कहते हो कि थोड़ी जगह खाली कर दो तो मैं भी अपना सामान इसमें रख लूँ। तुम कह रहे हो कि थोड़ी सी जगह अर्थात थोड़ी सी खाली जगह अर्थात् आकाश या अवकाश (Space) मेरे लिये भी कर दो। अब जहाँ तुम कह रहे हो कि खाली जगह कर दो, क्या वहाँ पर इस समय खाली जगह अर्थात् आकाश नहीं है ? आकाश तो सर्वव्यापक है। क्या वहाँ खाली जगह को कहीं से पकड़कर लाकर रखना है ? क्या करना है ? उसमें जो सामान रखा है, उसमें से कुछ को हटा देना है। खाली जगह कोई नहीं करता है। भरी जगह को जिस चीज़ से भरा है, उसको जब हटाते हैं तो खाली जगह तो वहाँ पहले से अपने आप है। रखी हुई चीज़ों को हटाना है, खाली जगह को कहीं से पकड़कर नहीं लाना है। अपना सामान रखने के लिये जब तुम उन साड़ियों को हटाओगे तो वह जगह खाली अपने आप प्रकट हो गई। थी पहले ही लेकिन उन साड़ियों के कारण अप्रकट थी, अब साड़ियों को हटाने से प्रकट हो गई। जैसे सर्वव्यापक आकाश को लाना नहीं पड़ता है। सर्वव्यापक आकाश तो सब जगह है लेकिन जिस चीज से ढका हुआ है उसको हटाना पड़ता है। इसी प्रकार सर्वव्यापक परमेश्वर को कहीं से बुलाकर लाना नहीं पड़ता है। लेकिन अपने मन में जो अपरमेश्वर अर्थात् परमेश्वर से भिन्न अनात्म भावना है, उसको हटाना पड़ता है।

सामने रखा हुआ है लिंग अथवा मूर्ति इसलिये हमको वहाँ पर दीख रहा है पत्थर। जहाँ हमको पत्थर दीख रहा है वहाँ भी सत् रूप से परमात्मा मौजूद है लेकिन पत्थर की दृष्टि होने के कारण वह सत् रूप परमात्मा छिपा हुआ है। जैसे ही हमने उसमें से पत्थर की दृष्टि को हटाया तो वहाँ परमात्मा तो मौजूद है ही। जब कहते हो पत्थर है, है ब्रह्म का ही नाम है। संस्कृत में उसे सत् कहते हैं। 'अस्ति भाति प्रियं नाम रूपं चेत्यंशपंचकं। आद्यत्रयं ब्रह्मरूपं जगद्रूपं ततोद्वयं।' आचार्य विद्यारण्य स्वामी कहते हैं कि हर अनुभव में पाँच चीजें हैं। अस्ति माने है, जैसे पत्थर है। भाति अर्थात् पत्थर का ज्ञान होता है। पत्थर प्रिय है, बड़ा सुन्दर स्फटिक का पत्थर है, हीरे का पत्थर और ज्यादा प्रिय होता है। उस पत्थर का नाम बिल्लौर है और जो सामने उसकी सफेदी दीख रही है, वह रूप है। प्रत्येक चीज को जब देखते हैं तो पाँच चीजें वहाँ दीखती हैं—है, प्रतीति हो रही है, प्रिय है, उसका कोई नाम है और कोई रूप है। इन पाँच में से पहले के तीन उसकी ब्रह्मरूपता है। बिल्लौर का पत्थर और सफेद रंग का यह रूप, दोनों माया के हैं। हर अनुभव के पाँच हिस्से, उन पाँच में से तीन हिस्से ब्रह्म के रूप, दो हिस्से माया के। अब जब तुमने नाम और रूप, इन दो हिस्सों को हटा दिया तो वहाँ ब्रह्म रह गया। नाम उसका बिल्लौर का पत्थर, तुम कहते हो वह शिव है। अब पत्थर नाम नहीं रह गया। दीख रहा है हमको गोल पत्थर और हम वहाँ क्या देख रहे हैं? 'स्फटिक रजत-वर्णं शांभवं दिव्यलिंग' हम वहाँ पर स्फटिक के समान भगवान् शंकर के पाँच मुखों को देख रहे हैं। यह जो तुमने नाम रूप दीखने वाले हिस्से को हटा दिया तो वहाँ पर ब्रह्म रह गया। जैसे कपड़े हटाने से सर्वव्यापक खाली जगह (आकाश) खुद प्रकट हो जाता है, ऐसे ही दीखने वाले नामरूप को हटाने से ब्रह्म स्वयं प्रकट हो जाता है यही आवाहन है। 'सर्वगस्यापि देवस्य भक्तिरावाहनं तव' इसलिये चाहे हजारों, लाखों, करोड़ों जगह पर शंकर पूजन हो रहा हो, वहाँ उस सर्वव्यापक देव का ही एक साथ आवाहन करके पूजन हो रहा

है। ऐसा नहीं होता है कि हम जब पेटी की जगह खाली कर रहे हैं तो उस समय दूसरे किसी के घर में कोई अलमारी खाली न हो रही हो। एक साथ हजारों जगहें खाली हो रही हैं। कोई अलमारी से कागज निकालकर, कोई मकान से मेज निकालकर खाली जगह कर रहा हैं, यह सब एक साथ ही होता है। इसी प्रकार भगवान् शंकर चूंकि सर्वव्यापक हैं, एक साथ उनका आवाहन बन जाता है।

स्नानादि के बाद भगवान् शंकर का पूजन करते हुए उनके ऊपर चंदन लगाते हो। क्या चीज उन पर लेपते हो, क्या चीज उनके ऊपर लगाओगे। 'शिवो देव: शिवो जीव: शिवादन्यन्नविद्यते भावनास्य देवस्य चंदनस्य विलेपनं'। चंदन का लेप जो भगवान् शंकर पर करते हो वह तो स्वयं सुगन्धिरूप हैं। रोज कहते हो 'त्रयम्बकं यजामहे सुगन्धिं पुष्टिवर्द्धनं।' वह त्रयम्बक भगवान् शंकर स्वयं ही सुगन्धिरूप हैं। विचार करो कि जो स्वयं सुगन्धि-रूप हैं. उसके ऊपर तुम क्या चंदन का लेप करोगे। कोई कहे कि गुलाब के इत्र के ऊपर हम गुलाब का रस लगा रहे थे तो बेकार की बात है। कहते हैं यह चंदन का लेप है। चंदन में एक चंदन का मुट्ठा (लकड़ी) और एक उर्सिया (पत्थर लेते हो। चंदन के मुट्ठे को लेकर उर्सिये पर रगड़ते हो। उसका फल क्या होता है ? जो चंदन लकड़ी के रूप में था, वह चंदन लगाने वाले पदार्थ के रूप में बदल जाता है। जिस चंदन की सुगन्धि छिपी हुई थी, उस चंदन की सुगन्धि प्रकट हो जाती है या खुल जाती है। और क्या करते हो ? यह तो लोग किया ही करते होंगे। उसमें थोड़ी केसर भी डाली जाती है। केसर म ने भुट्टे के छिलके नहीं समझ लेना, काश्मीर में केसर होता है। वह भी चंदन के साथ डाला जाता है। वह चंदन की सुगन्धि में बैठ जाता है। चंदन की यह विशेषता है कि चंदन किसी भी सुगन्धि को अपने आप बिठा देता है। इसीलिये जितने भी इत्र फुलेल बनते हैं उसके अन्दर चंदन के तेल का आधार दिया जाता है। उसी में उसे बसाया जाता है। ठीक इसी प्रकार से यहाँ पर मुट्ठे की जगह पर प्रणव (ओंकार) 'प्रणवो धनु:', ओंकार रूपी

जो मुट्ठा है, वह ऊपर का मुट्ठा है। इसी को कहीं इसीलिये उत्तरारणि या ऊपर की अरणि कहते हैं। जहाँ अग्नि प्रकट की जाती है, वहाँ उसको अरणि कहते हैं। क्योंकि वहाँ भी ठीक इसी प्रकार अग्नि प्रकट करते हैं, यहाँ गंध प्रकट करते हैं। वहाँ भी अग्नि पहले ही लकड़ी में दबी हुई है। यहाँ भी सुगन्धि पहले ही चंदन में छिपी हुई है। अब उस ओंकार रूपी मुट्ठे को लेकर अपने जीवरूपी पत्थर पर रगड़ते हैं। चूंकि जीव का हृदय तो पत्थर की तरह ही है। जैसे पत्थर बिलकुल कठोर होता है, ऐसे ही हम लोगों का, जीवों का हृदय भी तो कठोर ही है। जब ओंकार अर्थात् परमेश्वर के नामरूपी चंदन के मुट्ठे को जीव रूपी उर्सिये या पत्थर पर घिसते हैं, तब अपने हृदय में विद्यमान जो परमेश्वर है, उसकी सुगन्धि प्रकट होती है। फिर जैसे उसमें केसर डालते हैं, वैसे ही यहाँ पर परमेश्वर के विषय में अपने हृदय के भाव रूपी केसर को उँडेलते हैं। भिन्न भिन्न भाव होते हैं। कोई परमेश्वर को अपना बेटा समझता है तो वात्सल्य भाव है। कोई परमेश्वर को 'अपना मालिक समझता है तो दास्य भाव है। कोई परमेश्वर को अपना मित्र समझता है, तो सख्य भाव है। कोई परमेश्वर को अपना सर्वस्व समझता है तो माधुर्य भाव है। इस भिन्न भिन्न किसी भी भाव को, जो केसर की पंखुड़ियाँ हैं, वह उसमें डालते हैं। यह परमेश्वर के अन्दर बैठ जाता है। ॐ को यही विशेषता है। इसीलिये हर मंत्र में ॐ देते है क्योंकि ॐ में कोई भी चीज बस जाती है। राम की भक्ति करने के लिये ॐ रामाय नमः, कृष्ण की भक्ति करने के लिये ॐ कृष्णाय नमः, शिव की भक्ति करने के लिये ॐ शिवाय नमः। ॐ का सम्बन्ध किसी से भी हो जाता है क्योंकि ॐ वह चंदन है जिसमें कोई भी भाव रिझ जाता है। 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय, ॐ नमो नारायणाय, ॐ दुर्गाय नमः' ॐ में सब बस जाता है। इसलिये उससे भिन्न और कुछ है ही नहीं। यही है 'एवं शिवं प्रवर्त्यम्' यह जो उसकी सर्वस्वरूपता की दृष्टि है कि सारे भाव उस परमात्मा के अन्दर ही निहित है। चाहे हम उसको राम रूप से, चाहे कृष्ण रूप से देखें, चाहे शंकर रूप से, चाहे दुर्गा रूप से और चाहे सूर्य रूप से

देखें, सारे के सारे परमेश्वर ही हैं। इन सारे रूपों का मानों परमेश्वर पर लेप कर दिया। यही उनको चंदन चढ़ाना है। इस प्रकार की दृष्टि को करना चंदन लगाना है। यदि यह चंदन नहीं लगाओगे तो मन में रहेगा कि ये सब अलग अलग देवता हैं, यह भावना बनी रहेगी। जैसे तुम चाहे बिल्लौर के पत्थर की, चाहे मिट्टी की और चाहे लकड़ी या हीरे की मूर्ति ले लो जब उसके ऊपर चंदन का लेप कर दिया तो अब मूर्ति के रूप को ढक दिया। अब वहाँ सब कुछ चंदन रूप ही दीखता है। इसी प्रकार से यहाँ पर जब सब रूपों में परमेश्वर दृष्टि कर ली तो चाहे राम का विग्रह हो, कृष्ण का विग्रह हो, दुर्गा का विग्रह हो, सब जगह तुम्हें परमेश्वर ही दीखेगा। इसी को चंदन लेप कहा है।

चंदन लगाने के बाद भगवान् के ऊपर अक्षत चढ़ाते हो। अक्षत का मतलब क्या है? जिसके अन्दर किसी प्रकार का क्षत न हो सके। इसीलिये अक्षत चढ़ाते समय चावल को बड़े ध्यान से देखना चाहिये। यह नहीं कि मुट्ठी भरकर जो चावल सामने आये, सो लेकर आ गये। खाने के लिये तो चावल बीन भी लेते हैं कि कहीं कोई कंकड़ दाँत में न लगे लेकिन भगवान् पर चढ़ाने के लिये वह चिंता भी नहीं करते। वहाँ तो थोड़ा सा पानी डाला और ऊपर से थोड़ा सा कुंकुम मसल दिया तो हो गया काम। यह कहना होता तो उसे अक्षत क्यों कहा जाता। चावल को ही अक्षत क्यों ग्रहण किया गया? यद्यपि यह ठीक है कि जहाँ राजोपचारों का वर्णन आया है, वहाँ उस मोती को भी अक्षत कहा गया है जो बिना बिंधा हुआ होता है। इसलिये राजा चंदन लगाने के बाद मोती लगाते हैं। बड़े बड़े मन्दिरों में, वृन्दावन इत्यादि में देखोगे कि वहाँ की पूजा में भी बिना बिंधा हुआ मोती होना चाहिये। उसे भी अक्षत कहते हैं। हर हालत में चाहे उस मोती को, चाहे इस चावल को ही अक्षत कहा गया है। गेहूँ को भी अक्षत कह सकते थे। लेकिन इसमें रहस्य है। चावल भूसी के अन्दर होता है। ऊपर से भूसी होती है और फिर उसमें से पूरा का पूरा चावल निकालना पड़ता

है। यदि निकालते समय असावधानी हो गई तो चावल टूट जायेगा और निकालने के लिये कूटना जरूर पड़ेगा। ठीक इसी प्रकार सीप के अन्दर मोती होता है और अगर असावधानी करोगे तो उस सीप को तोड़ते समय मोती को भी तोड़ दोगे। इसलिये जो चीज साव-धानीपूर्वक निकल जाये और फिर वह न टूटे, तब उसका नाम अक्षत है। यद्यपि ऐसी कुछ और चीजें भी हैं जैसे बादाम, नेवजा आदि। लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से कोई अच्छी चीज ही तो लगा सकते हो। सिर पर बादाम लगाने की जगह ही नहीं है। अच्छी चीजों में चावल या मोती हो सकता है। हर हालत में यहाँ देखना यह था कि जिस चीज को सावधानीपूर्वक निकाल सकें और बिना तोड़े हुए निकाल सकें। यह दृष्टांत है। ठीक इसी प्रकार अपने जो ये तीन शरीर हैं स्थूल, सूक्ष्म और कारण, इनके अन्दर वह परब्रह्म परमात्मदेव बैठा हुआ है। ये तीनों ऊपर की खोल हैं। इन खोलों के अन्दर परमेश्वर बैठा हुआ है। 'भजनादक्षतालोका ज्ञायन्ते शांकरैर्जनैः' अन्दर जो यह परब्रह्म परमात्मदेव बैठा हुआ है, यह वस्तुतः अक्षत है। इस शरीर में से बिना किसी प्रकार के विघ्न के विचारपूर्व जो इस देव को समझना है, इस शरीर में विद्यमान परमात्मदेव को समझना है, इस खोल में रखे हुए तत्त्व को समझना है, यही परमेश्वर पर अक्षत चढ़ाना है। इस खोल को समझना जरूरी होता है। इसके बिना काम नहीं होता है। जोर से तोड़ोगे तो गड़बड़ हो जायेगा अर्थात् सच्चिदानंदरूप जो परब्रह्म परमात्म तत्त्व है, उसकी प्राप्ति नहीं हो सकेगी। यही उसकी गड़बड़ी होना है। यह जो बुद्धिमत्तापूर्वक निकालना है, यही अक्षत है। यदि विचारपूर्वक निकालते हो तब तो निकलेगा, अन्यथा नहीं क्योंकि यह परमेश्वर अनेक रूप धारण करने वाला है।

महाभारत में आता है कि एक बार विवस्वत के पुत्र वैवस्वत मनु बड़ी तपस्या कर रहे थे। 'विवस्वतः सुतो राजन् तदा तु तपसि स्थितः' वैवस्वत परम ऋषि थे और अत्यंत प्रतापवान् थे। अतीन्द्रिय द्रष्टा को ऋषि कहते हैं। इन्द्रियों के द्वारा जो देखा जा सके, उसको

देखने वाला साधारण व्यक्ति और जो इन्द्रियों के द्वारा न देखा जा सके, उसको जो देख सके, उसको ऋषि कहते हैं। मनु ऐसे ही ऋषि थे। अपने पिता और दादा से भी वह सब प्रकार से श्रेष्ठ थे। तपस्या से ही श्रेष्ठता ऋषियों की होती है। 'ऊर्ध्वबाहुर्विशालायां' बद्री विशाल (आजकल बद्रीनाथ) में रहते हुए ऊर्ध्व भुजायें करके वह तपस्या करते थे। 'वर्षाणि अयुतं तदा' वह हजार वर्षों तक वहाँ तपस्या करते रहे। एक बार जब वह तपस्या कर रहे थे तो स्नान करके बाहर आये। अभी कपड़े निचोड़े नहीं थे। तब तक एक मछली आकर उनसे कहने लगी कि मुझे दूसरे मच्छों से बड़ा डर लगता है क्योंकि हम मछलियों में ऐसी परम्परा है कि बड़ी मछली छोटी को खाती है, उससे बड़ी उसको खाती है। यह मात्स्यन्याय है, मछली परम्परा है। मछलियों से अब यह बात कलकत्ते में रहते रहते हम लोगों ने भी सीख ली है। इसलिये बड़ा व्यापारी छोटे को और उससे बड़ा उसको खाने की सोचता है। बड़ा विद्वान् छोटे को दबाने की सोचता है। उससे बड़ा विद्वान् उसको नीचा दिखाने की सोचता है। चाहे विद्या में हो, चाहे धन में, नियम एक हो लगता है। बंगाल में मछलियाँ वैसे भी ज्यादा हैं, उनसे देख देखकर लोगों ने भी सीख लिया है। है यह मछलियों के सम्प्रदाय की परम्परा, मनुष्य के सम्प्रदाय की परम्परा यह नहीं है। वह मछली आकर कहती है कि मुझे दूसरे मच्छों से बड़ा भय लगता है, इसलिये आप हमारी मदद करो। 'कृते प्रतिकृतं तव।' यदि आप मेरी रक्षा करोगे तो मेरा भी यह नियम है कि जो मेरा उपकार करेगा, मैं भी समय आने पर उसका उपकार करूँगी। वैवस्वत मनु उसे उठाकर घर लाये और एक बड़े कंडाल (अलिजर) में रखा। आजकल उस शकल का पात्र कम होता है। छोटी सी मछली है, यहाँ सुरक्षित रहेगी, यह सोचकर उसे अलिजर में डाल दिया और बड़े प्रम से उसे रखा। कितने प्रेम से रखा? महाभारतकार कहते हैं 'पुत्रवत् सोररक्षहि'

जैसे कोई अपने पुत्र की रक्षा करता है, ऐसे ही उसको दाना इत्यादि डालना सब करते थे।

'अथकालेन महता वृद्धिं प्राप्तो यदा तदा' धीरे धीरे माल मलीदा खाकर वह मोटा हो गया। साल गुजर गये। मोटा होकर कहता है कि यहाँ अब मेरा गुजारा नहीं होता है, मुझे और किसी बड़ी जगह में डालो तो काम बने। वहाँ एक बड़ा तालाब था। आजकल के जमाने में तो बड़ी झील ही समझो क्योंकि वहाँ उसका वर्णन है 'द्वियोजनविस्तीर्णो' आठ मील चौड़ा और १६ मील लम्बा था। उसे तालाब तो कह नहीं सकते। उसे उस झील में रख दिया। वहाँ भी उसे खाने को मिलता रहा तो वह और पुष्ट हो गया। फिर वह कहता है कि यहाँ भी मैं फँसा-फँसा सा लग रहा हूँ। इसलिये मुझे और बड़ी जगह पर ले जाओ। उन्होंने उसे ले जाकर गंगा में छोड़ दिया। गंगा में पहुँचकर वह और फूलता गया, क्या ठिकाना। अब कहता है कि गंगा जी में भी मुझे इधर उधर आने जाने में बड़ी तकलीफ होती है। इसलिये अब मुझे समुद्र में छोड़ दो। अब मुझे डर नहीं लगता, मैं भयरहित हो गया हूँ। सबसे बड़ा मैं ही हो गया। वैवस्वत मनु ने जब उसे समुद्र में जाकर छोड़ा तो वह कहता है कि अब तक तुमने मेरा उपकार किया, अब मैं तुम्हारे से कहता हूँ कि क्या करना। 'सम्यक्प्लावनकालोयं लोकानां समुपस्थितः' इस समय संसार के अन्दर इतना ज्यादा मल भर गया है कि इस सारे संसार को साफ करने का समय आ गया है। इसलिये कुछ समय के अंदर ऊपर से वृष्टि और नीचे से समुद्र का बढ़ना प्रारंभ हो जायेगा। उस समय तुम एक नौका बनवाकर उसके अन्दर बड़े-बड़े रस्से लेकर उसमें बैठ जाना और उस नाव के अन्दर सप्तर्षियों को बिठा देना एवं जितने भी पेड़ पौधे जड़ चेतन पदार्थ हैं, सबके बीज भी रख देना। वहाँ पर मैं आऊँगा और तुम्हारी रक्षा करूँगा। मनु ने कहा—इतनी भयंकर बाढ़ में न जाने कितने मच्छ होंगे, मैं पहचानूँगा कैसे ? उसने कहा—मेरे एक शृंग (सींग) होगा, मैं वह धारण करके आऊँगा। वह किसी और

के नहीं होगा, इससे तुम पहचान लोगे। मेरे सींग से नाव को बांध लेना। इस प्रकार मैं तुम्हारी रक्षा करूंगा। मनु ने वैसा ही किया जैसा उसने कहा था। आकर सप्तर्षियों से कहा और जड़ चेतन जितने भी पदार्थ थे, प्रयत्न करके उन सबके बीज एकत्रित किये और बहुत बड़ी नाव बनाकर उसमें रख दिये। कुछ समय बाद भयंकर वृष्टि ऊपर से भी प्रारभ हुई और नीचे से भी जल का अभिवर्द्धन प्रारंभ हुआ। ठेठ बद्रिकाश्रम तक वह जल पहुँच गया। नाव में उन्होंने सब चीजें रख दीं और स्मरण कर ही रहे थे कि तब तक वह शृंग धारण किये हुए मच्छ वहाँ पहुँच गया। रस्सों से उसके शृंग में नाव को बाँध दिया गया। उस भयंकर बाढ़ में कभी इधर से झटका आये और कभी उधर से, लेकिन उस मच्छ ने उस नाव को बचाये रखा। 'सलिल संचये' इतनी भयंकर जलराशि के अन्दर भी बिना किसी तन्द्रा के अर्थात् बिना किसी आलस्य और प्रमाद के उनका रक्षण किया। बहुत से वर्ष बीत गये 'एवं बहूनि वर्षाणि ररक्ष' लम्बा समय बीत गया और फिर धीरे-धीरे बादल भी छट गये, समुद्र भी कुछ नीचा होने लगा अंततोगत्वा हिमालय के उच्च शृंग मान्धाता के पास, जिसे नौबंध नाम से कहा जाता है, जिसे गुरुई मांधाता भी कहते हैं (अब तो वह सब तिब्बत में चीन के हाथ में चला गया), सबसे पहले वह शृंग निकला। अब उस मत्स्य ने कहा कि तुम लोग अपनी सब चीजों को लेकर यहाँ उतरो और आगे सृष्टि को ठीक प्रकार से प्रारंभ करो। वे सबके सब सुरक्षित उतर गये और उन्होंने हाथ जोड़कर उस मत्स्य से कहा कि ऐसी भयंकर स्थिति से हमको बचाने वाले तुम कौन हो? तब बतलाया 'अहं प्रजापतिर्ब्रह्मा मत्परं नाधिगम्यते'। मैं कोई साधारण मत्स्य नहीं हूँ। मैं ही परब्रह्म परमात्मा हूँ। सकल लोकों का रक्षक हूँ। मेरे से आगे और कोई चीज है ही नहीं जिसे जाना जाये। यही भगवान का मत्स्यावतार है।

वैसे यह घटना बड़ी विचित्र घटना है क्योंकि केवल भारतवर्ष में ही नहीं, ईसाई, मूसाई धर्मों में और ग्रीस की संस्कृति

में भी इसका वर्णन मिलता है। वहाँ उस नाव को नोआ की (Arc of Noah) कहा जाता है और अभी कुछ वर्ष पूर्व उस नाव को कुछ लकड़ियों को देखा गया था। लोगों का कहना है कि यह उसी नौका का अंग है। उसे नोआजार्क कहते हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो एक समय आया था, जिसे हिमयुग (Glacier Age) कहते हैं, जब हिम के द्वारा सारी सृष्टि जल-मग्न हो गई थी। लेकिन हमारे शास्त्रों में तो साथ-साथ अधिदैव, अधिज्योतिष, अधिलोक, अधिभूत, अध्यात्म सभी अर्थ चलते हैं। ऋषियों की वाणी अर्थात् समाधि भाषा में सभी अर्थ साथ चलते हैं। इसके द्वारा न केवल ऐतिहासिक दृष्टि अर्थात् वैवस्वत मन्वन्तर को बताया है वरन् मनुष्य के जीवन के मन्वन्तर को भी बताया क्योंकि वहीं से वैवस्वत मनु का प्रारंभ है। 'मनुत इति मनुः' यह निरुक्त है। जो मनन करता है उसी को मनु कहा जाता है। इसीलिये मनन करने वाले प्राणी जो हम लोग हैं, वे भी मनुष्य कहे जाते हैं। मनु से सम्बन्धित हैं, इसलिये मनुष्य हैं। मनन करने के लिये जो मन है, वही तो मनु है। अभी वह मनु कैसा है? संसार के पदार्थों में लगा हुआ है। अभी मन्वन्तर नहीं हुआ है। अर्थात् उस मन का परिवर्तन नहीं हुआ है। यद्यपि वह मन शुभ कर्म करता है, तपस्या करता है लेकिन अभी उसके जीवन में परिवर्तन नहीं आया है, इसलिये मन्वन्तर नहीं आया है। लेकिन जब तपस्या करता है, शुभ कर्म करता है तो उस पर परमेश्वर की कृपा होती है। परमेश्वर स्वयं ही उसके सामने आकर के कहते हैं कि थोड़ा तू मुझे भी अपने अंदर रख ले। अभी तो परमेश्वर का पूजन भी एक कर्म ही है। शिवरात्रि को जो पूजन आप लोग करेंगे, वह कर्म रूप से ही करेंगे। हृदय में अभी भक्ति नहीं है। प्रारंभ में है तो वह कर्म रूप पूजन ही लेकिन उस कर्मरूप पूजन में थोड़ा सा ध्यान करेंगे। बीच में थोड़ा ध्यान मन में आयेगा ही। यही उस छोटी मछली का कहना है कि मुझे जरा एकांत में बिठाकर

रखना, मुझे बचाना, नहीं तो संसार के विषयों के जाल में संसार की अनेक वासनायें मुझे खा जायेंगी। थोड़ा ध्यान देकर देखना। है तो वह साक्षात् मत्स्यावतार लेकिन पहले तुम्हारे मन में जगह लेने के लिये कहते हैं कि मैं छोटा हूँ। परमात्मा का ध्यान तो तुमने अभी शुरू किया, इसलिये वह उमर में सबसे छोटे हुए और संसार के पुत्र, धन आदि तो अनादि काल से तुम्हारे मन में बैठे हुए बड़े बड़े मत्स्य हैं। इसलिये शुरू में कहा कि इनसे मेरी सुरक्षा करना। जहाँ परमेश्वर को तुमने अपने मन में थोड़ा भी बसाया तो वह फिर बढ़ता जायेगा। बढ़ते बढ़ते बड़ा हो जायेगा। जीवन के कार्यों में उसका विस्तार होने लगेगा। पहले पहल आदमी आस्तिक होता है तो वह इतना ही कहता है कि मन्दिर में झूठ नहीं बोलेंगे। कई बार लोग कहते भी हैं कि स्वामी जी ! ये लोग घण्टा भर सत्संग करते हैं या दो घण्टा मन्दिर में जाते हैं। फिर दिन भर चोरी, झूठ, सब कुछ करते हैं, इससे क्या फायदा होना है। कभी कभी साधक के मन में भी प्रश्न आ जाता है और दूसरे भी आक्षेप करते हैं। रहस्य यह है कि यदि घण्टा भर उस सत्संग काल में अथवा दो घण्टे के मन्दिर दर्शन काल में तुमने झूठ बोलना छोड़ना सीखा तो धीरे धीरे उससे आने वाले आनंद के कारण तुम्हारे दूसरे झूठ भी छूटने लगेंगे। एक बार परमेश्वर तुम्हारे हृदय में प्रविष्ट हो गया तो बढ़ता जायेगा। बढ़ते बढ़ते उसकी स्थिति यह होगी कि अंततोगत्वा जो तुम्हारी वासनाओं का प्रवाह है, उस निश्चय से हिलने लगेगा। तुमने निर्णय कर लिया कि मैं झूठ नहीं बोलूँगा। फिर प्रसंग आता है, लगता है कि अरे, इसमें तो दस लाख का घाटा हो जायेगा, क्या करूँ ! इस प्रकार का झंझावात आता है। वही सम्प्रक्षालन काल है। जब मनुष्य धार्मिक बनने का निर्णय कर लेता है तब बीच बीच में सम्प्रक्षालन काल आता है। उसमें मनुष्य हिल जाता है। लेकिन भगवान् मदद करते हैं। कहते हैं कि मेरा सहारा ले, बच जायेगा। जब उसका सहारा लेते हैं तो अद्भुत ढंग से रक्षण होता

है। परमेश्वर के साथ जिसने नाव बांध दी, उसका कभी भी नुकसान नहीं हो सकता है। जब उसका नुक्सान नहीं होता है तो स्थिति और दृढ़ हो जाती है। अंत में वह विचार करता है कि यह छोटा सा देवता जिसका मैंने ध्यान शुरू किया था, यह कौन है जिसके पास इतनी शक्ति है ? तब यह तत्त्व उसकी समझ में आता है। 'अहं प्रजापतिर्ब्रह्म।' तुमने ध्यान करने के लिये जो छोटी मूर्ति ली थी, वह वस्तुतः कोई सामान्य चीज नहीं, वह तो ध्यान के लिये छोटी बनी थी। वस्तुतः तो यह परब्रह्म परमात्म तत्त्व सारे जगत् का रक्षण और पालन करने वाला है। उससे परे अथवा उससे ऊपर और कुछ नहीं है, यह ज्ञान हो जाता है। जहाँ यह ज्ञान हुआ वहाँ मनुष्य निर्भय होकर धर्म मार्ग में प्रवृत्त हो जाता है। यहाँ बता रहे हैं कि बुद्धिमत्तापूर्वक हृदय में रहने वाले तत्त्व को, जैसे धान में से अक्षत निकाला जाता है और सीप में से मोती निकाली जाती है, उसी प्रकार इस उपाधि में से उसका निष्कर्षण करना है, उसे बाहर निकालना है। यही भगवान् शंकर पर अक्षत चढ़ाना है। जैसे धर्म का क्षत नहीं होता, धर्म कभी नुकसान नहीं करता, वैसा अक्षत परमेश्वर को चढ़ाना है। आगे पूजा का क्या स्वरूप है, इस पर फिर विचार करेंगे।

५–३–७५

परब्रह्म परमात्मा जिस प्रकार हमारे कल्याण के लिये, शब्द के द्वारा जिसका प्रतिपादन नहीं किया जा सकता, उस आत्म तत्त्व का प्रतिपादन अधिवदन के द्वारा करता है, उसी प्रकार जिसका रूप नहीं हो सकता, उसके रूप का भी प्रतिपादन करता है। उस रूप के स्वरूप को समझना आवश्यक है। जब तक उसके लक्ष्यार्थ को ठीक तरह से समझा नहीं जाता, तब तक वह पूजन अपने पूर्ण फल को उत्पन्न करने में समर्थ नहीं होता। इसलिए उस पूजन के तात्पर्य को बता रहे थे। किस प्रकार से भस्म, स्नान, रुद्राक्ष, चंदन इत्यादि

भिन्न भिन्न चीजें किसी न किसी तत्त्व के प्रतिपादन में गतार्थ हैं, यह बताया। परमेश्वर के पूजन के द्वारा ही समग्र अहि रूप संसार की निवृत्ति होगी। वैसे अहि सर्प को कहते हैं। यह जो अज्ञान है, यही एक बहुत बड़ा सर्प है। जैसे सर्प क्षण क्षण में तीव्र गति से सरकने वाला होने से उसको समझना, उसको पकड़ना कठिन है, ठीक उसी प्रकार से यह अज्ञान प्रतिक्षण सरकता रहता है। झट से अपने स्वरूप को बदल देता है। इसीलिये उसको समझना कठिन होता है। 'अ' माने नहीं है 'हि' अर्थात् हित जिसमें। 'अहि' शब्द का यह भी अर्थ है। अज्ञान कभी भी हित नहीं करता इसीलिये उसे अहि कहते हैं। जो सदा सर्वदा हमको अपने हितकारी रूप से नीचे की तरफ लाता है, वह अज्ञान है। इस संसार रूपी अहि अर्थात् संसार विष से भरे सर्प को पकड़ना कठिन है। लेकिन इससे बचना आवश्यक है। अतिशीघ्र अपना स्वरूप बदल देने के कारण इसको पकड़ नहीं सकते। जैसे ही यह हाथ में आयेगा, यह फिर अपना रूप बदल देगा। जैसे ही समझोगे कि अब इस अज्ञान का या माया का रूप समझ में आया, बस यह समझ में आया, ऐसा समझा तब तक खट हाथ से निकल जायेगा। इसीलिये इसके रूप को समझने का प्रयत्न व्यर्थ है। इससे बचने का प्रयत्न करना चाहिये, पकड़ने का प्रयास व्यर्थ सिद्ध होता हैं। 'अहींश्च सर्वान् जम्भयन्' यहाँ यह नहीं कहा कि इस सारे संसार के अज्ञानों को समाप्त करो, बल्कि यह कहा कि ये सारे के सारे जम्भित हो जाते हैं अर्थात् प्रतिबद्ध हो जाते हैं। जो इसका फल मनुष्य को बंधन में डालने का है, वह फल ये पैदा नहीं कर पाते। इनसे जो बंधन की प्राप्ति होती है, बस वह बन्द है। जैसे सर्प के अन्दर का विष निकाल दो तो फिर चाहे सर्प रहे या न रहे, कोई नुक्सान नहीं करता। विच्छू के डंक को काट दो, फिर वह बिच्छू रहे, न रहे, कोई नुक्सान नहीं कर सकता। इसी प्रकार अज्ञान सर्प की दंष्ट्रा को अथवा अज्ञान रूपी अहि के जहर वाले हिस्से को अलग करदो, फिर वह कभी दुःख नहीं दे सकता। 'शक्तिविशिष्ट शिव' इसीलिये कभी परिक्रमा का विषय नहीं। 'अहींश्च सर्वान् जम्भयन्'

वह अहि रूप है अर्थात् यह जो उसकी विशेषता है अज्ञानविशिष्ट चेतन, सोम, उमासहित शंकर, इसालिये इसकी परिक्रमा नहीं की जाती। बाकी सब देवताओं की परिक्रमा होती है लेकिन शिव की परिक्रमा नहीं। 'शिवस्यार्द्धप्रदक्षिणा' शिव की प्रदक्षिणा में केवल जलहरी तक जाकर फिर वापस लौटना पड़ता है। इसी तात्पर्य को बताते हुए कहा 'अपर्यन्तो महादेवस्तमादर्ध प्रदक्षिणं' शिव की अर्द्ध प्रदक्षिणा क्यों है? अपर्यन्तः महादेवः उस महादेव का कोई पर्यन्त नहीं है कि यहाँ तक वह है। प्रदक्षिणा का मतलब हुआ उसके चारों तरफ घूम आना। जो परिच्छिन्न होगा, सीमित होगा उसके ही चारों तरफ घूम सकते हो। लेकिन अपर्यन्त महादेव के चारों तरफ सैकड़ों कल्पों तक भी घूमते रहो तो भी महादेव की परिधि, सीमा या पर्यन्त कभी आता ही नहीं। यह जो उसकी अपर्यन्तता है, परिसीमा की रहितता है, इससे उसकी प्रदक्षिणा पूरी नहीं होती। चूँकि अज्ञान निवृत्ति का अधिकार प्राणिमात्र को है, इसीलिये शिव पूजा का अधिकार प्राणिमात्र को है। कई बार लोगों के मन में शंका होती है कि शिव का पूजन हम कर सकते हैं या नहीं? कुछ लोगों के मन में रहता है कि स्त्रियाँ शिव पूजन कर सकती हैं या नहीं? यहाँ 'अहींश्चसर्वान् जम्भयन्' के द्वारा स्पष्ट बता दिया कि जो अज्ञानसर्प से दंष्ट्रित हैं, जो जो अज्ञान निवृत्ति की अभिलाषा वाले हैं, अज्ञान की निवृत्ति चाहते हैं उन सबको शिवपूजन का अधिकार है। इस अज्ञान की उपाधि के कारण ही अपर्यन्त होने से उसकी अर्द्धप्रदक्षिणा है। जिसकी समाप्ति को कोई जान ही नहीं सकता, उसके अधिकार के विषय में विवेचन किया कैसे जाये। जहाँ तक मनुष्य की बुद्धि का विषय होगा, वहीं तक न अधिकार का विवेचन होगा। जहाँ बुद्धि की गति ही नहीं, वहाँ अधिकार का विवेचन किया कैसे जायेगा, क्योंकि अधिकार को रोकने का मतलब हुआ कि वहाँ तक शिव है, उससे आगे नहीं, तब अधिकारी का विचार आयेगा। जब उसकी पर्यन्तता है ही नहीं, इस ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब उसके अन्दर है और वह उससे भी परे है तो उस हालत में उसके स्पर्श का अधिकार

किसको है, किसको नहीं, इसका विचार नहीं किया जा सकता। परिच्छिन्न चीज में ही यह विचार सम्भव है, अपरिच्छिन्न चीज में नहीं। इसी प्रकार कई बार लोगों के मन में यह सन्देह भी हो जाता है कि भगवान् शंकर पर चढ़ा हुआ चरणामृत लें या नहीं। विचार करो कि गंगा जल क्या है? भगवान् शंकर के ऊपर चढ़ा हुआ जल ही तो उनकी जटा से गंगा जल बनकर वह रहा है। यदि गंगा जल पीने का अधिकार है तो शिव के ऊपर चढ़े हुए जल का अधिकार तो स्वतः है। वैसे यजुर्वेद में स्पष्ट कहा है 'रुद्रभुक्तं भुंजीयात् रुद्रपीतं पिबेत्' जो भगवान् रुद्र को, शंकर को चढ़ा हुआ है, उस नैवेद्य को खाये और उनको चढ़ा हुआ जो पीने का पदार्थ है उसको ग्रहण करे। यह श्रुति वाक्य भी स्पष्ट ही है। विवेक की दृष्टि से देखोगे तो कौनसी ऐसी चीज है जो उसके ऊपर नहीं चढ़ी हुई है। जिसे यहाँ कहा 'अपर्यन्तो महादेवः' उस महादेव का स्वरूप बताते हुए कहा है 'आकाश लिंगमित्याहुः पृथिवी तस्य पीठिका' आकाश ही भगवान् शंकर का लिंग है और पृथ्वी ही जलहरी है। यदि कहीं खुली जगह पर जाकर खड़े हो जाओ और देखो तो यह आकाश बिल्कुल लिंगाकार दीखेगा। अन्यत्र श्रुतियों में इसी को द्यावापृथ्वी, द्यावाभूमि कहा है। द्यु अर्थात् आकाश ही लिंग है। इस दृष्टि से जितने भी वादल वरसते हैं, वे सारे के सारे इस आकाशरूपी लिंग के ऊपर से चढ़कर आते हैं। यदि कोई कहे कि मैं गंगा जल भी नहीं पियूंगा क्योंकि शिव को स्पर्श करके आता है तो गंगा जल पीना भी छोड़ दो। फिर भी नहीं बच सकते क्योंकि आकाश से मेघों से जो भी वृष्टि होती है वह आकाशरूपी लिंग का ही स्पर्श करके नीचे आती है। चाहे कुएँ का, चाहे तालाव का और चाहे किसी नदी का पानी हो, आखिर वह आता तो बादलों से या वृष्टि से ही है। गंगा जल छोड़ने से भी काम नहीं चलेगा। यदि शिवनिर्माल्य रूपी जल का ग्रहण नहीं करोगे तो पानी पीना ही छोड़ देना पड़ेगा। 'पृथ्वी तस्य पीठिका' पृथिवी जलहरी है इसीलिये पृथ्वी पर उगने वाले जितने भी गेहूँ, चावल, आम, केला इत्यादि

पदार्थ हैं, वे सब भी जलहरी पर चढ़े हुए होने के कारण अग्राह्य हो जायेंगे। इसलिये मन में जो यह प्रश्न कई बार आता है, उसका समाधान यहां कर दिया कि वह अपर्यन्त शिव भगवान् महादेव कण कण और क्षण क्षण में विद्यमान है इसलिये उनकी कोई पर्यन्तता नहीं। उसका अधिकार विचार नहीं हो सकता और न उसका कौनसा अंग ग्रहण करें और कौनसा अंग ग्रहण न करें, इसका ही विचार हो सकता है। यहां जो शास्त्रकार शिव की अर्द्धप्रदक्षिणा कहते हैं वह यही बताने के लिये कि वह सदा ही बुद्धि या विचार आदि के विषय के बाहर ही रहेगा।

भगवान् शंकर के ऊपर बिल्वपत्र भी चढ़ाते हो। बिल्वपत्र में तीन पत्ते होते हैं 'द्रष्टा च दर्शनं दृश्यं इति पत्र त्रयान्वितं' जितने भी व्यवहार हैं उन सब में त्रिपुटी हैं। किसी चीज को देखते हो तो देखने वाला द्रष्टा, जिसको देखते हो वह दृश्य, और दोनों के मिलने का जो कार्य हुआ उसको दर्शन कहते हैं। यह एक त्रिपुटी है। द्रष्टा राम ने आम को देखा। दृष्टा राम, दृश्य आम और देखा यह दर्शन, ये तीन पत्ते हुए। यह प्रथम विल्वपत्र हो गया। इसी प्रकार सब त्रिपुटियों को समझ लेना। जैसे द्रष्टा दर्शन दृश्य, वैसे ही श्रोता, श्रवण, क्रिया रूप, जिस शब्द को सुना वह श्रव्य। सुनने वाला सुनने की क्रिया और जिसको सुनेगा। स्पृष्टा छूने वाला, स्पर्शन छूने की क्रिया और स्पृश्य जिसको छुएगा। घ्राता सूंघने वाला घ्राणन सूंघने की क्रिया और घ्रेय जिसको सूंघेगा; इसी प्रकार करने वाला कर्त्ता, करने की क्रिया और कर्म अर्थात् जिसको करेगा। चलने वाला गंता, चलने की क्रिया गमन और गंतव्य जहाँ चलकर के पहुँचेगा। पकडने वाला, पकड़ने की क्रिया और जिसको पकड़ेगा। इस प्रकार जितनी भी चीजों को तुम देखोगे, सबमें त्रिपुटी है, सबमें तीन हिस्से रहेंगे। इसीलिए जो बार-बार बिल्वपत्र समर्पण में तीन पत्ते वाला बिल्वपत्र चढ़ाने को कहा जाता है, वह इसी आशय को लेकर, और कई बिल्वपत्र इसलिये चढ़ाये जाते हैं कि त्रिपुटी के

अनेक भेद हैं। जैसे ये भेद वैसे ही अपने मन से देखते चले जाओ, सब जगह त्रिपुटी मिलेगी। इसीलिये भगवान् शंकर को बिल्वपत्र चढ़ाया जाता है। 'शिवे समर्प्या खण्डबिल्व' इन तीनों को अखण्ड होना चाहिये अर्थात् इन तीनों में ब्रह्म की दृष्टि करना, शिव रूप की दृष्टि करना, यही उस बिल्वपत्र को शिव को चढ़ाना है। शिव को अर्पण करना है। यदि भेद दृष्टि बनी रही तो फिर वह शिव को अर्पित नहीं हुआ। अर्पण करने का मतलब है कि अपने द्वारा उसमें जो भेद दृष्टि आई हुई है, उसको हटा देना है। आखिर अर्पण का क्या मतलब है? जब आहुति दिलवाते हैं तो उस चीज को खोलकर कहते हैं 'इन्द्राय स्वाहा इदं इंद्राय इदं न मम' उसका बार बार खोलकर अर्थ करते हैं कि यह इन्द्र को दे दिया, अब यह चीज इन्द्र के लिये ही है, मेरा अधिकार इस पर नहीं है। इसे बार-बार हर आहुति में बुलवाते हैं क्योंकि न बुलवाने का नतीजा बुरा होता है, जैसे बनारस के अन्दर संकटमोचन में हनुमान जी का मंदिर है। उसकी बड़ी मान्यता है। लोग लड्डू चढ़ाते हैं। यदि लड्डू चढ़ाने के बाद एक लड्डू रखकर पुजारी पूरा दोना दे देता है तो लोग खुश होते हैं कि यह पुजारी जी बहुत अच्छे हैं और यदि पुजारी जी ने एक लड्डू दे दिया और बाकी सारे रख लिये तो कोई नया आदमी होता है, तब तो केवल बुड़-बुड़ करके रह जाता है कि यह पुजारी लोभी है, गया बीता है, सब रख लिये और अगर कोई बनारसिया हुआ तो वह ज़ोर से आवाज देता है इधर दे, सारे रख लिये। बेचारा पुजारी भी जानता है कि यह बनारसिया है, इधर उधर का काम इसके साथ नहीं चलेगा इसलिये झट वापस कर देता है। क्योंकि यदि न दे तो शायद लट्ठमलट्ठा भी हो जाये। बनारस के लोग बड़े जबरे होते हैं। यहाँ तो यह बता रहे थे कि वहाँ जाकर चूंकि उनसे बुलवाते नहीं हैं कि 'इदं हनुमते इदं न मम' इसलिए अपने दिये हुए दोने में 'यह मेरा है' यह भाव बना रहता है। मेरा दिया हुआ प्रसाद इसने सारा रख कैसे लिया। यह विचार नहीं करता कि हनुमान जी को दे दिया तो हमारा कहाँ से आया।

वैदिक कर्मकाण्ड में यह भूल न हो, इसलिये बार बार बुलवाते हैं 'वरुणाय स्वाहा इदं वरुणाय न मम । इदं इन्द्राय स्वाहा इदं इन्द्राय इदं न मम ।' इसी प्रकार बिल्वपत्र के रूप में इस त्रिपुटी को जब हमने अर्पण किया तो उसका मतलब क्या ? ज्ञाता ज्ञान ज्ञेय, कर्त्ता कर्म क्रिया, द्रष्टा दर्शन दृश्य ये सारी त्रिपुटियाँ एकमात्र चिन्मात्र परमेश्वर की ही हैं ।'शिवधिष्ठानचिद्‌रूपे' उसके ऊपर से यह दृष्टि हटा लेना कि यह मेरी त्रिपुटी है, बस यही समर्पण करना है ।

उसके बाद भगवान् शंकर को नमस्कार करने का भी विधान है । नमस्कार का क्या तात्पर्य है ? 'प्रेमनिर्भरभावेन कुर्यादात्मनिवेदनं' अहंकार का अलग हो जाना ही नमस्कार है । 'मैं' यह जो अपना अहंकार हर चीज में रहता है, यह जब तक नहीं गलता है तब तक नमस्कार नहीं होता । यह किससे गलता है ? मनुष्य क्यों मैं को पकड़े हुए है ? क्योंकि सोचता है कि यदि मैं को मैंने नहीं पकड़ा तो मेरे को कौन बचायेगा । कहते भी लोग यही हैं 'महाराज ! यह तो सब ठीक है लेकिन मेरा और कौन है, मैं अपना व्यापार नहीं देखूंगा तो और कौन देखेगा । और है कौन । देखने वाला, सम्भालने वाला तो मैं ही हुआ मेरे सिवाय और कौन सम्भालने वाला है । वह चाहे दुकान का काम हो, घर का काम हो, ठाकुरवाड़ी का काम हो, कोई भी काम हो, सबको देखने वाला मैं हूँ । 'प्रेमनिर्भरभावेन' परमेश्वर के ऊपर जब हम निर्भर होते हैं तो वह भी तो देखने को बैठा हुआ है, उसके ऊपर किस दृष्टि से छोड़ना है ? आदमी कहीं होटल में ठहरा हुआ है । उसके जिस बैग में दस लाख के नोट, हीरों की पुड़िया, सोने के पासे रखे हुए हैं तो सोते समय उसको अपने तकिये के नीचे रखकर सोता है । नहाने भी जाता है तो स्नानागार में उसको साथ लेकर जाता है । ऐसा तो नहीं कि बाहर ही छोड़ दे । चाहे धर्मशाला ही हो, फिर होटल के कमरे का क्या ठिकाना । खूब सम्भाल कर रखता है । रेल में आता है तो सम्भाले रहता है, नज़र उसी पर लगी रहती है । जब घर आ जाता है तो अपनी पत्नी का देकर कहता है कि इसको तिजारी में रख देना ।

उसके बाद दो महीने भी हो जाते हैं तो कभी खोलकर भी नहीं देखता है कि इसने कुछ गड़बड़ तो नहीं किया। क्या कारण है ? प्रेम का ही भरोसा है कि मैंने इसके हाथ में दे दिया, अब यह सुरक्षित है, इसमें कोई चिंता की बात नहीं है। वाकी किसी मुनीम को भी देगा तो दो दिन बाद तिजोरी खोलकर नज़र जरूर मार लेगा कि माल अन्दर है या नहीं लेकिन पत्नी को देने के बाद कोई चिंता नहीं। क्योंकि 'प्रेमनिर्भरभावेन' प्रेम के कारण बिल्कुल निर्भय है कि सुरक्षित हैं। इसी प्रकार से जब परमेश्वर से प्रेम हो जाता है तो अपना मैं भी उसको देकर के निर्भय हो जाता है कि अपने आप वह सब चीज को सम्भालेगा। यह जो अहंकार का गल जाना है, यही वास्तविक नमस्कार है। मैंपने का गल जाना, रह न जाना, और जो कुछ है वह उसी को दे देना वास्तविक नमस्कार है। यहाँ तक स्थिति हो जाती है कि आदमी को पचास रुपये की भी जरूरत होती है तो पत्नी से कहता है कि मेरे को जरा पचास रुपये दे देना। वह कहती है कि आज सवेरे ही पचास रुपये ले गये थे, फिर पचास माँग रहे हो, यह क्या करने ले जाते हो। कहता है—क्या बताऊँ, मित्रों को बुला लिया था। वह कहती है—तीन ही तो थे, एक ने दस दस रुपये भी खाये हों तो तीस रुपये ही खर्च हुए होंगे। वह कहता है—क्या बताऊँ, उन लोगों ने घी महँगा खरीद लिया, अभी तो दे दो, अगली वार ध्यान रखूँगा। ऐसा तो नहीं कहते कि तू पूछने वाली कौन, मेरे ही तो दिये हुए हैं। रुपये उसी के दिए हुए और अब उसे भी जरूरत है तो कहता है कि दे दो। और पत्नी जरा जोरदार हो तो रोक भी देती है। कहती है—सब मित्रों में उड़ा दोगे, आगे लड़की की शादी आने वाली है, यह नहीं देखते। यह प्रेम निर्भर भाव से अहंकार का गल जाना है। जब परमेश्वर को हमने अपना मैं पना दे दिया तो अपना काम खतम हो गया। अब हमको कुछ भी आवश्यकता होगी तो हम परमेश्वर से माँग लेंगे। इसका मतलब यह नहीं कि वह हमेशा दे ही देंगे। अगर वह जरूरत समझेंगे तो देंगे और नहीं जरूरत समझेंगे तो ना भी कर देंगे। इसलिए कहा 'प्रेमनिर्भरभावेन'।

इसके वाद भगवान् शंकर से क्षमा प्रार्थना भी माँगी जाती है। क्षमा प्रार्थना का मतलब क्या है? हमने कोई गलती की, उसको आप क्षमा कर दें। सवसे पहली गलती है 'मानुष्यमपि सम्प्राप्तं पूजितो न महेश्वरः। अपराधो महान्जातो क्षम्यतां परमेश्वर' इस मनुष्य शरीर को प्राप्त करके भी महेश्वर का पूजन नहीं किया। परमेश्वर की पूजा और किसी योनि में नहीं होने से मनुष्य योनि में आकर भी यदि उसकी पूजा नहीं की तो सारा जीवन व्यर्थ चला गया। इसी बात की क्षमा प्रार्थना माँगी जाती है। वस्तुतः मनुष्य शरीर की प्राप्ति तो इसीलिए होती है कि यहाँ आकर मनुष्य परमेश्वर के पूजन में निर्भय होकर रहे, दिन रात उसी चीज में मग्न रहे। मनुष्य शरीर मिला तो इसलिए था लेकिन इसने अपने शरीर का उपयोग पशुओं से भी गया बीता कर दिया। यह समझता है कि मैं मेहनत नहीं करूँगा, दुकानदारी नहीं करूँगा, खेती नहीं करूँगा तो खाऊंगा पियूँगा क्या? कितनी दया का विषय है। संसार में चूहे कहीं दुकानदारी करते हैं, खेती जोतते हैं, फिर भी क्या भूखे मरते हैं? चिड़ियाँ कोई दुकान खोलकर बैठती हैं, कोई नौकरी करती हैं? इतना ही नहीं यदि चूहे और चिड़ियों को हम पिंजरे में बंद कर दें और नियम से खाने को दें, एक दिन यदि दरवाजा खुला रह जाये तो झट बाहर भाग जायेंगे। इसका मतलब है कि जो तुम खिलाते हो, उसमे उन्हें वाहर का जीवन, बाहर निकलना बढ़िया लगता है। लेकिन मनुष्य ऐसा पिंजड़ा बनाकर बैठ गया है कि इससे निकलता ही नहीं। इस दृष्टि से देखो तो चूहे और चिड़ियों से भी मनुष्य की स्थिति गई बीती है।

कालिका पुराण में एक कथा आती है कि पहले कामरूप देश में सब मुक्त हुआ करते थे। आजकल के असम, मेघालय, उत्तर बंगाल, दार्जिलिंग इन सबको पहले कामरूप देश कहते थे क्योंकि हिमगिरि के पर्वत का जो प्रांगण है वह कई मण्डलों का देश है। सबसे पहले काश्मीर मण्डल, उसके वाद जिसे आजकल शिमला इत्यादि नाम से कहते हैं इसका प्राचीन नाम कांगड़ा मण्डल, उसके

आगे चलने पर केदार खण्ड जिसे आजकल गढ़वाल कहते हैं। उसके आगे चलने पर कूर्माचल जिसे आजकल कुमायूँ कहते हैं और उसके आगे फिर काष्ठ मण्डल (आजकल काठमण्डू या नेपाल)। उसके आगे चलने पर कामरूपदेश है। ये जो सब नाम रखे गये हैं, इनका कुछ विशिष्ट कारण है जो शास्त्रों में बताया गया है। यह सारे का सारा कादिविद्या मण्डल है। 'कामरूपे महापीठे स्नात्वा पीत्वा विमुच्यते' इस कामरूप देश के अन्दर बहुत तीर्थ हैं। करीब करीब पांच सौ तीर्थों का वर्णन इस कामरूप मण्डल में आता है। किसी काल में यह देवताओं का बड़ा प्रसिद्ध देश था। यहाँ पर लोग जाते थे उत्तम कुण्डों में स्नान करते थे, वहाँ के जल आदि का पान करते थे। उसका नतीजा यह होता था कि कुछ लोग निर्वाण पद को प्राप्त कर लेते थे अर्थात् मुक्त हो जाते थे, कुछ शांभव लोक, ब्रह्मलोक को चले जाते थे अर्थात् सगुण ब्रह्म को प्राप्त हो जाते थे। सगुण ब्रह्मलोक में जाने पर वहाँ अपने इष्ट के समीप रहने का मौका मिलता है। जो जिसका इष्ट हो। अब यमराज के मन में यह खटकने लगा कि यहाँ जाकर सभी मुक्त हो जाते हैं, यह ठीक नहीं मेरा यहाँ अधिकार नहीं चलता है। जैसे लोक में होता है कि आदमी के पास चाहे जितना बड़ा राज्य हो लेकिन बगल का राज्य उसको खटकता रहता है कि यह भी मेरा हो जाये तो अच्छा है। जो दस लाख रुपये का व्यापार करने वाला हो, उसके पड़ोस में यदि कोई बेचारा पांच हजार का व्यापार करने वाला निकल आये तो वह सोचता है कि इसकी भी दुकान बंद हो जाये तो अच्छा है, वह भी उसे खटकता है। यह मनुष्य का स्वभाव है, चाहे वह राजा हो, चाहे व्यापारी हो। आधुनिक राजाओं को भी समझ लेना। चुनाव में अगर किसी आदमी की जमानत भी जब्त हो जाये तो भी जीता हुआ व्यक्ति सोचता है कि ये दस हजार वोट भी इसे क्यों मिल गए, ये भी मेरे को मिल जाते तो अच्छा था। यह नहीं सोचता कि उसको थोड़े और ज्यादा मिल जाते तो इसकी जमानत के रुपये बच जाते। हरेक के मन में यह होता है। यमराज ने सोचा कि बाकी सब जगह

तो अपना राज्य अक्षुण्ण है। लेकिन इस तीर्थ का सेवन करके लोग मुक्त हो जाते हैं, मेरा शासन नहीं चलता है। उसने भगवान् ब्रह्मा, विष्णु और शंकर सबसे जाकर कहा महाराज! आप लोगों ने जब मेरा अभिषेक किया था तो कहा था कि जितने प्राणी पैदा होते हैं, उन सब पर मेरा शासन चलेगा। उन्होंने कहा—हाँ! कहा तो था। यमराज ने कहा—लेकिन कामरूपदेश के लोग तो मुक्त हो जाते हैं, उन पर मेरा शासन नहीं चलता है। कई बार कहने पर भगवान् शंकर ने कहा—अच्छा यहाँ बहुत तीर्थ आदि हो गये हैं तो इनको जरा कम कर दें। उन्होंने उग्रतारा से कहा कि हे उग्रतारा! तू जाकर यहाँ के तीर्थों में कुछ गड़बड़ी कर दे और यहाँ रहने वाले पुण्यात्माओं को यहाँ से तितर बितर करके भगा दे तो फिर लोग यहाँ की परम्परा को भूल जायेंगे। उसके बाद यमराज का बढ़िया काम चलने लगेगा।

उग्रतारा को आज्ञा मिल गई। उसने अपना काम शुरू कर दिया और सबको वहाँ से हटाने लगी। उस काल में वहाँ महर्षि वसिष्ठ भी तपस्या कर रहे थे। सबको हटाते हुए उग्रतारा वसिष्ठ जी के पास भी पहुँच गई। वह बहुत से गणों को साथ लेकर वहाँ विप्लव करने लगी। एक बार झगड़ा शुरू हो जाये तो कोई पहचान थोड़े ही रहती है। पहले पहल जब आदमी झगड़ा शुरू करता है तो झगड़ा कराने वालों की बात पर कुछ ध्यान देते हैं। लेकिन एक बार झगड़ा शुरू हो जाये तो फिर किसी की पहचान नहीं रहती, फिर तो झगड़ा कराने वालों को भी धर दबाते हैं। इसी प्रकार सारे गण वहां भिड़ गये थे। वसिष्ठ महर्षि को भी वे लोग जब पकड़कर निकालने लगे तो उन्होंने कहा कि मैं तपस्वी और प्रतिष्ठित व्यक्ति हूँ। जरा तो ख्याल करो कि किसके ऊपर हाथ लगाते हो। लेकिन वे कोई सुनने वाले थे? बायें हाथ से ही उनको धक्का देकर निकालने लगे तो वसिष्ठ जी को भी क्रोध आ गया। यह परमेश्वर की ही लीला है क्योंकि उस कामरूप देश को उन्हें बदलना था।

क्रोध में आकर वसिष्ठ जी शाप देते हैं कि मुझ निर्भय मुनि को धक्का देने के लिये जो तुमने बायें हाथ का प्रयोग किया है इस कारण से अब आज से तेरा पूजन भी इस देश में वामाचारियों से ही होगा। तुम्हारी भी बायें हाथ की परम्परा चल जायेगी। इसी प्रकार तुम्हारे इन गणों ने म्लेच्छों की तरह मेरे साथ व्यवहार किया है, इसका नतीजा यह होगा कि तुम्हारे यहाँ रहने वाले जो लोग तुम्हारा पूजन भी करेंगे, उनके आचरण भी म्लेच्छों की तरह हो जायेंगे। जब वसिष्ठ जी का यह शाप लग गया तो फिर तो वहाँ के सारे तीर्थ वहाँ से लुप्त हो गये क्योंकि जहाँ म्लेच्छाचार होगा, वहाँ पर तो कोई तीर्थ रहेगा ही नहीं। सर्वज्ञ प्रजापति ब्रह्मा जी ने यह उपाय रचा। देखने को वसिष्ठ जी के क्रोध से यह सब हुआ लेकिन वस्तुतः भगवद् लीला ही है अब सारे के सारे तीर्थ वहाँ से लुप्त हो गये। इतना ही नहीं, बड़े जोर की बाढ़ आई, जिसके कारण सारे तीर्थक्षेत्र, कुण्ड इत्यादि भर गये और बचे बचाये कुछ धार्मिक व्यक्ति भी वहाँ से भाग कर चले गये। केवल एक लौहित्य कुण्ड जो सबसे ऊँचा था, वह बच गया। कामाक्षा यहाँ से पास ही है। 'लौहित्यमात्रं तच्छिष्ट' जो उस लौहित्य कुण्ड को जानते हैं, वे वहाँ जाकर उसका सेवन करके किसी प्रकार बच जाते हैं। बाकी सब मर्यादायें वहाँ उच्छिन्न हो गईं। यह कामरूप देश के बारे में पुराण की कथा है।

यह नहीं समझ लेना कि यह केवल किसी एक देश के लिये है। वस्तुतः यह जो मनुष्य शरीर है, यही कामरूप देश है। जैसे वह महापीठ था, वैसे ही यहाँ ८४ लाख योनियों के अन्दर भी यह मनुष्य शरीर कामरूप देश महापीठ ही है। इस मनुष्य शरीर में आकर धर्म चाहो तो धर्म प्राप्त कर लो, मोक्ष चाहो तो मोक्ष, धन चाहो तो धन प्राप्त कर लो। जो प्राप्त करना चाहो, इस मनुष्य शरीर में तुम्हारी समग्र कामनायें पूर्ण होती हैं। इसलिये यह कामरूप देश है। यह महापीठ है क्योंकि यहाँ साक्षात् परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। इसलिये इससे बड़ा और कोई

तीर्थ नहीं है। 'स्नात्वा' अर्थात् इसमें आकर अपने मल इत्यादि दोषों को शुभ कर्मों के द्वारा दूर किया जा सकता है। 'पीत्वा' का अर्थ करते हुए बताया है 'पशुपति रसं पीत्वा मुच्यते' उस परब्रह्म परमात्मा के रस का पान करके यदि मनुष्य के मन में सगुण ब्रह्म की वासना है तो वह इष्ट लोक को चला जाता है, और निर्गुण ब्रह्म की कामना है तो मुक्त हो जाता है। इस मनुष्य शरीर में आकर लोग इस प्रकार से पूर्व युगों के अन्दर मुक्त हो जाते थे। यद्यपि यह मनुष्य शरीर था तो कामरूप महापीठ, यहाँ आने वाले ऋषि महर्षि इस बात को जानते थे और जानने के कारण इस मनुष्य शरीर में आकर उस परम महेश्वर का पूजन करते थे, 'मानुष्यमपि सम्प्राप्तं पूजितो न महेश्वरः' वाली बात नहीं थी कि मनुष्य जीवन को प्राप्त करके भी महेश्वर का पूजन न करें, पूजा करते थे और इस मल-दोष को हटाकर परमेश्वर रसपान को करके मुक्त हो जाते थे, लेकिन यह बात यमराज को पसन्द नहीं आई। उसने विचार किया कि मनुष्य शरीर में आकर सारे के सारे मुक्त होते जायेंगे तो मेरा काम कैसे चलेगा। कामरूप देश के सारे तीर्थ इस मनुष्य शरीर में ही हैं लेकिन यमराज को यह बात पसन्द न होने के कारण उसने इन्हें लुप्त करने का प्रयत्न किया। वे तीर्थ इस समय भी इस मनुष्य शरीर में प्राप्त किये जा सकते हैं लेकिन यमराज ने इनको लुप्त करने का प्रयास किया हुआ है। यही यमराज की अर्थात् कलि की विशेषता है। कलि का मतलब केवल इस कलियुग से नहीं! ऋग्वेद में स्पष्ट बताया है 'शयानो कलिर्भवति' जो परमात्म तत्त्व की तरफ से सो जाता है, वह कलियुग में है! जो जगकर बैठ जाता है वह द्वापर में पहुँच गया, और जिसने यह संकल्प कर लिया कि मैं परमेश्वर की तरफ चलूंगा और ऐसा संकल्प करके खड़ा हो गया, वह त्रेता में है और जो परमेश्वर की तरफ चल पड़ा वह सतयुग में हैं। यह ऋग्वेद के अनुसार युगों का वर्णन है 'कलिः शयानो भवति'। यमराज अपने राज्य को अभिवृद्ध करने के लिये कोशिश करता है तो उग्रतारा उसकी सहायता

करती है। संसार समुद्र में प्रतिदिन के जीवन का जो व्यवहार है, यह धीरे धीरे उग्र होता जाता है। यही उग्रतारा है। गत पचास वर्षों में आप लोगों ने खुद देखा होगा कि पहले किसी के पास एक धोती दो गमछा होता था तो उसका काम चल जाता था। इसलिये मनुष्य को कुछ समय मिलता था अपने आपकी तरफ देखने का। धीरे धीरे दो धोती एक गमछे की जरूरत पड़ने लगी। और अब तीन धोती धोवी को जाती हैं, तीन घर में होनी चाहियें, दो धोती कहीं बाहर अंदर जाने के लिये हो। चार जोड़े हो तव काम चले। चार जोड़े इकट्ठे करने जाओगे तो आराम से बैठने का समय कब मिलेगा। पहले होता था कि दाल रोटी बना ली, उसमें घी डाल दिया तो हो गया बढ़िया भोजन। कभी फुलके के साथ चटनी बना ली तो काम चल गया। फिर हुआ कि कम से कम एक साग तो रोज होना ही चाहिये, साथ में दाल भी होनी ही चाहिये। फिर हुआ कि बड़ी और गट्टे का साग भी कोई साग है? अन्य जैसे जैसे ये इच्छायें बढ़ती चली जायेंगी तो शान्ति से बैठने का समय कहाँ मिलना है। यदि पचास वर्ष में इतना फरक आया है तो कल्पना की दृष्टि से देखो कि अति दूर काल के अन्दर आवश्यकतायें कितनी कम रही होंगी। इसलिये यह सम्भव था कि लोग निरंतर परमेश्वर का चिंतन करते थे। इस कामरूप महापीठ में आकर परमेश्वर के काम में लगते थे। अव उग्रतारा महादेवी उग्र होती जा रही हैं। जव प्रतिदिन हमारी इच्छायें, आवश्यकतायें बढ़ती जायेंगी तो कैसे हम यहाँ आकर महेश्वर का पूजन कर सकेंगे। यही है कि 'उग्रतारा महादेवी ने धीरे-धीरे ऋषियों को, मुनियों को दवा दिया। होते होते अंत में वसिष्ठ महर्षि को भी यहाँ से निकालना प्रारंभ किया। वसिष्ठ कहते हैं उसे जो सवसे वड़ा बुजुर्ग हो। मनुष्य शरीर में सबसे बड़ी वुद्धि ही है क्योंकि समष्टि बुद्धि ही महत् तत्त्व है। बुद्धि से नीचे मन और फिर इन्द्रियाँ। बुद्धि ही उमर में सवसे वड़ी है। इसलिये वुद्धि को भी हटाने का प्रयत्न करते हैं कि यह बुद्धि भी संसार के कामों में लग जाये। नतीजा हुआ कि इस शरीर रूपी कामरूप में

आज परमेश्वर का पूजन तो चला गया, उसकी जगह वामाचार चल पड़ा। वामाचार माने क्या ? वामा स्त्री को कहते हैं। जैसे स्त्री का मन संसार के पदार्थों में ज्यादा आकृष्ट होता है उसी प्रकार हम भी इस शरीर में आकर संसार के पदार्थों की तरफ आकृष्ट होने लग गये। स्त्री यही सोचती है कि गहने कितने आये। शादी ब्याह की बात हो तो उसका पहला प्रश्न ही यह होगा कि साड़ियाँ किस रंग की आईं, गहने क्या आये। आदमी पूछेंगे कि क्या भोजन करवाया ? स्त्री गहने कपड़ों के बारे में ही पूछेगी। शादी कर रहे हो या कोई गहने कपड़े का व्यापार कर रहे हो। लेकिन उसकी दृष्टि यही है। कहीं जायेगी, उससे पूछें कि भगवान् का दर्शन करने गयी थी ? कहेगी—हाँ गई थी। क्या दर्शन किया ? उस दिन तो बाँकेबिहारी में हरे रंग का शृंगार था, बड़ा सुन्दर था। भगवान् के मुकुट में बड़ी सुन्दर लड़ी पड़ी थी। भगवान् का चेहरा कैसा था ? वह तो ऐसे ही था। आपस में बातें करेंगी तो कहेंगी कि आज देवी जी का दर्शन करने जरूर जाना है क्योंकि आज मुकुट का दर्शन है। काशी में रंगभरी एकादशी को साल में तीन दिन सोने की अन्नपूर्णा की मूर्ति निकलती है। होली के पंद्रह दिन पहले से ही औरतें सब तैयारी कर रही होंगी क्योंकि स्वर्णमूर्ति का दर्शन है। सोने की अन्नपूर्णा का दर्शन, मुकुट का दर्शन, शृंगार का दर्शन, किस ढंग के कपड़े पहने हुए हैं, पीले अथवा वासंती, मन्दिर में जाकर भी उन्हें यही सब याद रहेगा। भगवान् के रूप रंग की कोई चिंता नहीं क्योंकि उस तरफ ध्यान ही नहीं। इसीलिये यहाँ पर बताया कि जैसे वामा अर्थात् स्त्री का स्वाभाविक आकर्षण पदार्थों की तरफ है, वैसे ही इस मनुष्य शरीर में आकर हम लोग भी इन पदार्थों की तरफ आकृष्ट हो गये, यही वामाचार हो गया और इसीलिये हम लोगों में म्लेच्छप्रियता हो गई। देर से उठना अच्छा लगता है, सर्दी के दिनों में स्नान न करना अच्छा लगता है। बाजार में खड़े खड़े खाना अच्छा लगता है और अब हमारी दिल्ली में तो यह हाल है कि भले आदमियों के घरों में भी खड़े

होकर खाते हैं, जिसका नाम उन्होंने बूफे रखा है। निमंत्रण देंगे और कहेंगे कि खड़े खड़े खाओ। यह सब म्लेच्छाचार है। यह म्लेच्छप्रियता हमारे शरीर में आ गई, इसलिये इसके अन्दर रहने वाले सारे चक्र, सारे तीर्थ लुप्त हुए हुए हैं। यही कामरूप देश का डूब जाना है। अब यदि विचारपूर्वक मनुष्य इसके अन्दर रहे तब तो उन कुण्डों का ज्ञान प्राप्त करके अपना कल्याण प्राप्त कर सकता है। 'मानुष्यमपि सम्प्राप्तं पूजितो न महेश्वरः। अपराधो महान्जातो क्षमस्व परमेश्वर' मनुष्य शरीर को प्राप्त करके भी पूजन क्यों छूटने लग गया, इसका कारण बता दिया। इस प्रकार के कारणों से इन्हीं की क्षमा माँगी जाती है। इस प्रकार भिन्न भिन्न चीजों से बताया 'तत्वतो यः शिवं वेद' तत्व रूप से जो पूजन के स्वरूप को समझता है, वह जब पूजा करता है तब तो उसमें पूरा आनंद आता है और यदि उस पूजन के तत्व को नहीं समझा तो केवल इतना ही समझता है कि मुट्ठा भरा और चावल फैंके। वह तो केवल बाह्याचारमात्र हो जाता है। जैसे यहाँ बताया, उसी को यहाँ श्रुति ने कहा 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' परमेश्वर के इस पूजन को इसीलिये बताया कि जैसे फौज में कवायद करवाते हैं उसी प्रकार से अन्दर से दुर्गुणों को निकालने के उद्देश्य से पूजा में इस भावना को भरवाते हैं। जब धीरे धीरे यह भावना दृढ़ हो जायेगी तो समग्र व्यवहारों में हमारे पूजन का प्रवाह चलता रहेगा। इसमें प्रतिबन्धक यातुधान्यों को कैसे दूर किया जाये, इस पर आगे विचार करेंगे।

६-३-७५

इसमें परब्रह्म परमात्मा की प्राप्ति के साधन रूप से अधिवक्ता अर्थात् नामरूप का प्रतिपादन किया और 'प्रथमो दैव्यो भिषक्' के द्वारा उस परमेश्वर के रूप और उस रूप, अर्थात् उपाधि के द्वारा परमेश्वर के पूजन का स्वरूप बताया। जैसे परमेश्वर के नाम में

नाम का वास्तविक अर्थ समझना जरूरी, वैसे ही परमेश्वर के पूजन में उस पूजन का तात्पर्य समझना भी जरूरी है। बिना तात्पर्य समझे हुए उस पूजन का पूर्ण लाभ नहीं हो पाता क्योंकि वेद ने यह नियम कर दिया है 'यदेव विद्यया करोति तदेव वीर्यवत्तरं भवति' सामवेद की कौथुमी शाखा में बताया कि जब किसी काम को उसके रहस्य को समझकर किया जाता है तभी अपने फल को पूरी तरह से उत्पन्न करता है। इसीलिये 'अहींश्च सर्वान् जम्भयन्'। कल बताया था कि अविद्या ही अहि है और अविद्या की निवृत्ति विद्या से होती है। इसलिये 'अहीश्च सर्वान् जम्भयन्' अर्थात् सारे ही अहि रूप अविद्याओं की निवृत्ति आवश्यक है। यद्यपि अविद्या स्वरूप से एक है लेकिन जिस जिसके साथ उसका सम्पर्क होता है, सम्पर्क भेद से अविद्या अनेक प्रकार की है। 'अहींश्च सर्वान् जम्भयन्' में इसलिये सर्व पद दिया। सारी ही अविद्यायें मनुष्य के बन्धन का ही कारण हैं। ज्ञान स्वयं में उपादेय है, ज्ञान स्वय एक फल है। ज्ञान से क्या फल होगा? यह प्रश्न ज्ञान के प्रति रुकावट डालता है। ज्ञान मनुष्य का सहज स्वभाव है। इसलिये चाहे बाह्य जगत् के विषय में ज्ञान हो, चाहे आभ्यंतर जगत् के विषय में, चाहे जीव के विषय में ज्ञान हो, चाहे ईश्वर के विषय में, चाहे व्यवहार के विषय में ज्ञान हो, चाहे परमार्थ के विषय में, ज्ञान स्वयं फलरूप है। ज्ञान स्वयं उपादेय है। ज्ञान के ऊपर कभी भी यह रुकावट नहीं की जा सकती कि ज्ञान इतना ही है, इसके आगे नहीं। हर क्षेत्र के अन्दर जितना जान लेते हो, उतना ही आगे और जानने की सम्भावना बनती है। ज्ञान एक ऐसी सीढ़ी है जिसका न नीचे कोई छोर है और न ऊपर कोई छोर है। अर्थात् किसी के विषय में यह नहीं कह सकते कि यह ज्ञानशून्य है। चाहे जितना कम ज्ञान उसमें हो लेकिन ज्ञान रहेगा प्राणिमात्र में। छोटी से छोटी चींटी को देखो तो उसको भी ज्ञान है कि यह चावल का दाना है इसको उठाकर ले जाना है, वहीं पड़े हुए कंकर को नहीं उठाती है। छोटे से छोटा प्राणी जिसको हम समझते हैं कि यह सर्वथा ज्ञानशून्य होगा, वह

भी ज्ञानशून्य नहीं है। हमारी अपेक्षा उसमें ज्ञान बहुत कम है, यह ठीक है लेकिन ज्ञानशून्य कोई प्राणी नहीं है। इसलिये कहा कि ज्ञान ऐसी सीढ़ी है जिसके नीचे का छोर नहीं है। यह नहीं कह सकते कि इस सीढ़ी से आगे नीचे और कोई नहीं है। इसी प्रकार से ज्ञान के ऊपर का छोर भी नहीं है। इस व्यक्ति ने जो ज्ञान प्राप्त कर लिया इसके आगे ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता, ऐसा ज्ञान का ऊपर का छोर भी नहीं है। ज्ञान की सीढ़ी पर नीचे के ज्ञान की अपेक्षा जैसे जैसे पैर बढ़ाते जाओगे वैसे वैसे और सीढ़ी दीखती जायेगी। जितना जितना जिस विषय का ज्ञान प्राप्त करोगे, उतना ही उसके आगे की सीढ़ी और दीखेगी। यही ज्ञान का वैशिष्ट्य है या विशेषता है। जब ज्ञान अनंत तो अज्ञान भी अनंत ही होने पड़ेंगे, क्योंकि हरेक ज्ञान हमारे किसी न किसी अज्ञान को ही तो हटायेगा। इसलिए 'सर्वान् अहींश्च जम्भयन्' सारे ही अहि अर्थात् सारी ही अविद्याओं का बाध करना आवश्यक है। सारे ही अज्ञानों को हटाना जरूरी है। प्रायः जब हम कर्मकाण्ड के अन्दर प्रवृत्ति करते हैं तो यह विचार की या ज्ञान की दृष्टि कम हो जाती है। यद्यपि कर्म किया तो था ज्ञान के लिये, लेकिन कर्म में एक ऐसा वेग होता है कि उत्पन्न हुआ ज्ञान के लिये पर बाद में चलकर के ज्ञान को ही बाँधने लगता है। ज्ञान पर ही रुकावट पैदा करने लग जाता है। जिस प्रकार से पानी के ऊपर जमने वाली काई पानी को ही ढाँक देती है। पैदा पानी से ही हुई और ढाँकती पानी को ही है। इसी प्रकार कर्म ज्ञान से पैदा होकर ज्ञान को ही ढाँकता है। अथवा जैसे हमारे सिर के बाल या गाल की दाढ़ी सिर और गाल से पैदा होकर के उस सिर और गाल को ही ढाँकती है। इसी प्रकार से ज्ञान से पैदा हुआ कर्म ज्ञान को ही ढाँकने लगता है। कारण इसका स्पष्ट है कि मनुष्य एक काल में ज्ञान और क्रिया दोनों को साथ-साथ नहीं कर सकता। जिस समय कुछ करता है, उस समय जान नहीं सकता और जिस समय जानता है, उस समय कर नहीं सकता क्योंकि परमेश्वर ने हम लोगों को कर्मेन्द्रियाँ तो अलग दीं

कर्म करने के लिये, और ज्ञानेन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्त करने के लिये अलग दीं, लेकिन दोनों की प्रवृत्ति कराने वाला मन एक ही दिया। अविचार से लगता है कि मनुष्य ज्ञानेन्द्रियों से ज्ञान और कर्मेन्द्रियों से कर्म इकट्ठा ही कर लिया करे, लेकिन उसका जो अंत:करण या मन है, वह कर्मेन्द्रियों को चलाने के लिये भी जरूरी और ज्ञानेन्द्रियों को चलाने के लिये भी जरूरी है, और मन एक होने के कारण ही एक साथ ज्ञान और कर्म सम्भव नहीं। जब मनुष्य कुछ काल तक एक कर्म करता है, करने के समय तो उसका ज्ञान रहता है, लेकिन धीरे-धीरे उसको करने की आदत पड़ जाती है, स्वभाव पड़ जाता है। फिर वह उस कर्म को करते हुए एक तरह से प्रमाद को प्राप्त कर जाता है। उस कर्म को कर लिया लेकिन उस कर्म को करते हुए पूरी जागृति उसकी चेतना में नहीं रहती। इसी को कहते हैं कि मनुष्य एक प्रकार का व्यवहार करते करते सैट (Set) हो जाता है, बदलना नहीं चाहता। एक मकान से दूसरे मकान में कमरा बदलो तो घर वाली हजार दोष निकालेगी, उसे पहले वाला मकान ही अच्छा लगता है, छोड़ना नहीं चाहती। उस नये मकान में दस साल रह जाओ और वही पुराने वाला कमरा पुन: लेने को कहो तो फिर कहेगी कि वह नहीं, यही अच्छा है। क्या कारण है? पहले उसको अच्छा और अब इसको अच्छा क्यों समझती है? क्योंकि दस साल रहते रहते मन के अन्दर वहाँ का एक स्वभाव पड़ गया है। उसमें उसको सरलता महसूस होती है। पुन: पहले वाले मकान में जाने पर फिर कुछ दिन तक सारे अभ्यास बदलने पड़ेंगे। मनुष्य के अन्दर एक स्थिति बन जाने पर परिवर्तन के प्रति इसीलिये अप्रवृत्ति होती है, और यहीं से कर्मकाण्ड का प्रादुर्भाव है। कर्म की रफ्तार बढ़ गई, अभ्यास हो गया, इसलिये कर्मकाल में ज्ञानशक्ति कार्य नहीं करती। हर बार जब परिवर्तन करोगे तो फिर सोचना पड़ेगा। मन कर्म में लगा हुआ है और बीच में उसे ज्ञान की तरफ जाना पड़ा, यही मन नहीं चाहता, यहीं से प्रमाद का प्रारंभ है। 'सर्वान् अहींश्च जम्भयन्' के द्वारा यहाँ

रुद्राध्याय यही कहता है कि इसीलिये कर्मकाल के अन्दर ज्ञान को प्रधान करना चाहिये। अन्यथा कर्मकाण्ड निर्जीव हो जाता है।

श्रीमद्भागवत में एक राजा की कथा बताई है जो कर्मकाण्ड में अत्यंत रत प्राचान बर्हि को सुनाई गई। प्राचीन बर्हि को नारद समझा रहे हैं। निरंतर कर्मकाण्ड में रत होने के कारण, देवर्षि नारद जब उनको ज्ञान की बात समझाते थे तो उन्हें वह बात बैठती नहीं थी। अंततोगत्वा नारद ने कहा कि मैं तुमको एक प्राचीन उपाख्यान बताता हूँ। प्राचीन काल में पुरंजन नाम का एक राजा बड़ा ही यशस्वी और उत्तम राजा था। उसका अविद्याक नाम का एक मंत्री था। न केवल वह उसका मंत्री था वरन् उसका घनिष्ट मित्र भी था। सब तरह से राजा के उपकार में लगा रहता था। लेकिन वह मंत्री अपने कार्यकलापों को गुप्त रखता था। वैसे नियम भी है कि मंत्री वही हो सकता हैं जो अपने क्रियाकलापों को और अपने मालिक के कार्यकलापों का गोपन कर सके, उनको गुप्त रख सके। शास्त्र ने यहाँ तक कहा है कि मंत्री जब बात करे तो चार कान से छठा कान नहीं होना चाहिये। 'षट्कर्णे-भिद्यते मंत्रः' आपस में जो मंत्रणा या विचारविमर्श किया जाता है उसमें राजा या मालिक के दो कान और जिस सखा या मंत्री से विचार-विमर्श करते हों उसके दो कान, यहाँ तक रहें तो ठीक, और यदि तीसरा व्यक्ति आ गया अर्थात् छः कान हो गये तो मंत्रणा गड़बड़ा जाती है। मारवाड़ी भाषा में कहते हैं कि बाका डाक अर्थात् मुँह से जो डाक चलती है वह सरकारी डाकखाने से पहले ही खबर पहुँचा देती है। अगर अपने को दिल्ली में कोई खबर पहुँचानी हो तो वह खबर किसी आदमी को दे दो और साथ ही कह दो कि अमुक आदमी से यह बात मत कहना। जैसे, मैं तुम्हें एक गुप्त बात बताता हूँ लेकिन केशवराम को पता न लगे। फिर तार देने की जरूरत नहीं है। वह खबर केशवराम को खट मिल जायेगी। मनुष्य के अन्दर यह स्वभाव है। इसलिये छः कानों से मंत्र खतम हो जाता है। अविद्याक नाम का उस राजा का मंत्री ऐसा ही था। एक बार

राजा अपने सखा मंत्री से कहने लगा कि मैं चाहता हूँ कि संसार में किसी अच्छी जगह जाकर भोगों को भोगूँ। उसके मित्र ने कहा— अरे जहाँ बैठा है, वहीं बैठा रह, कहाँ जाकर भोग भोगेगा, जाने दे। उसने सोचा कि मंत्री बात नहीं मानता तो मैं खुद ही अकेला जाकर उस स्थान का पता लगाऊँगा जहाँ जाकर भोगों को भोग सकूँ। ढूंढ़ते ढूंढ़ते हिमालय पर्वत के दक्षिण देश के अन्दर उसको एक बढ़िया सुन्दर नगरी देखने में आई जिसमें नवदरवाजे थे। प्राचीन शहर देखा होगा तो उसमें दरवाजे देखे होंगे। जैसे बीकानेर में नत्थूसर दरवाजा, जस्सूसर दरवाजा, या दिल्ली में अजमेरी दरवाजा, दिल्ली दरवाजा, काश्मीरी दरवाजा इत्यादि। प्राचीन शहर के चारों तरफ दरवाजे होते थे। उन दरवाजों के बन्द कर लेने पर अन्दर सुरक्षा हो जाती थी। राजा ने जो नगर देखा उसमें नवदरवाजे थे। उसमें बढ़िया सभास्थल बना हुआ, बढ़िया चत्वर (चाराहे) बने हुए जिनके बीच में बढ़िया सुन्दर झरने लगे हुए, बड़े-बड़े बगीचे बने हुए थे। किसी समय कलकत्ते को भी बगीचों की नगरी कहा जाता था। आजकल के रहने वालों को तो यह किसी और चीज की नगरी लगती होगी। पुराने लोगों को याद होगा कि यहाँ किसी समय बड़ा सुन्दर शहर था। अब तो थोड़ी सी जगह यहाँ मिलनी चाहिये और दस तल्ले का मकान तैयार। हरेक को यह लग रहा है कि कैसे ज्यादा से ज्यादा मकान बनायें। पुरंजन राजा ने वहाँ देखा कि उस नगरी के अन्दर बड़े बड़े बगीचे, मणियों के सुन्दर बने हुए मकान थे। राजा ने विचार किया कि यह अच्छी नगरी है, अपने यहीं चलकर रहें तो बड़ा अच्छा हो। राजा उस नगरी के अन्दर जाने लगा तो नगर के बाहर ही दरवाजे के पास दस नौकरों से युक्त एक युवती खेल रही थी। उस युवती का सभी सुन्दर था। 'सुवासां सुमुखीं सुकपोलां वराननां' उसके दाँत, मुख, कपोल इत्यादि सारे अंग बड़े सुन्दर थे। उसकी सुन्दरता बहुत अच्छी थी। राजा उसके पास चलकर गया और उससे पूछा कि तू कौन है ? तू बड़ी सुन्दरी है। उसने कहा कि यह तो मेरे को

भी पता नहीं कि मैं कौन हूँ। मैं कौन हूँ, किसकी लड़की हूँ, मेरा इस संसार से क्या सम्बन्ध है ? यह तो मेरे को भी नहीं पता। यह नहीं समझना कि केवल मुझे ही नहीं पता, मेरे साथ जितने नौकरचाकर हैं, उनमें से भी किसी को पता नहीं कि हम कौन हैं। हम लोग तो केवल इस शहर को जानते हैं और इतना जानते हैं कि हम आपस में मित्र हैं। एक दूसरे की सहायता करते हैं। लेकिन तू यहाँ आया है तो लगता है कि तू भोगों का शौकीन है, मौज शौक चाहता है। नहीं तो यहाँ क्यों आता। मैं भी भोग में ही प्रवृत्ति करने वाली हूँ, इसलिये अपने दोनों विवाह कर लें तो यहाँ पर आराम से रहेंगे। तू भी बड़ा सुन्दर है। तूने मेरी सुन्दरता की प्रशंसा की तो मुझे भी तू ऐसा सुन्दर लगा है। आधुनिक युग में तो होता ही है कि लड़का लड़की की तारीफ करे, लड़की लड़के की तारीफ करे, वह कहे तू सुन्दर, वह कहे तू सुन्दर तो ब्याह हो जाता है। आजकल आपस में पसन्द करके व्याह करते हैं। राजा ने उससे ब्याह कर लिया। विवाह करने के बाद राजा ने सायंकाल को संध्या करने की इच्छा की तो वह कहती है कि यह सब टण्टा काहे को करता है। यह संसार तो भोग भोगने की, आनंद करने की जगह है। यहाँ आकर यह सब ध्यान, पूजन भजन न कर, यह सब फालतू समय की बरबादी है, मत कर। 'धर्मोह्यत्रार्थकामो व्यवायो मोक्ष:' वह कहता है कि इस संसार में आकर धर्म तो यह है कि अर्थ और काम का भोग किया जाये, और प्रजाओं को उत्पन्न करना ही मोक्ष है, और यही उत्तम कार्य है। बाकी सब फालतू चीज हैं और इस आनंद के सामने सभी फीका हैं। यह जो प्रजाओं की उत्पत्ति का आनंद है, यह ही अमृत लोक है जिसमें शोक नहीं, जिसमें कोई दोष नहीं। बस केवल परब्रह्म परमात्मा की दृष्टि करने वाले बेचारों को इस आनंद का पता ही नहीं। वे तो शुद्ध अद्वैत ब्रह्म की दृष्टि करने वाले हैं, उनको इस संसार के आनंद का क्या पता। उसके सौन्दर्य के लोभ से पुरंजन ने भी विचार किया कि जाने दो,

बहुत साल हो गये संध्या करते करते, अब कहाँ तक करें। वे लोग उस नगर में रहने लगे। अब जो जो काम वह रानी उससे करावे, जो जो नाच नचावे वैसा ही नाच वह नाचे। पीना, खाना, रोना, गाना सब उसके साथ ही करे। चलना, दौड़ना, सोना, सुनना देखना, हर्ष विषाद सब उसके पीछे। जैसे जैसे वह नाच नचाये, जैसा जैसा कराये वैसा वैसा वह करता जाये। दोनों का कुटुम्ब खूब बढ़ गया। एक बार गन्धर्वराज ने विचार किया कि इस राज्य पर आक्रमण करके इसे अपने हाथ में कर लेना चाहिये क्योंकि यह बड़े भोगों का राज्य है। राजा भोगी है, उसको हरा लेंगे। ३६० गंधर्वों ने मिलकर उस पर चढ़ाई कर दी। राजा ने एक अहि (सर्प) को वहाँ पर छोड़ रखा था कि यह रक्षा करता रहेगा। यही श्रुति समझ लेना 'अहींश्च सर्वान् जम्भयन्'। लेकिन गन्धर्वों के आक्रमण के सामने वह सर्प कुछ नहीं कर सका। वहाँ भयंकर युद्ध छिड़ा। अंत में स्थिति यह हुई कि राजा वहाँ से भागा लेकिन भाग भी नहीं सका क्योंकि किले के बाहर यवन लोग खड़े थे, उन लोगों ने उसे पकड़ लिया। लड़की तो भाग गई। वह राजा रातदिन वहाँ अपनी पत्नी का ही चिंतन करे कि वह कैसी सुन्दर थी, कहाँ चली गई। उसका चिंतन करते करते अंत में शोक के मारे वह मर गया। मृत्युकाल में जैसा चिंतन मनुष्य करता रहता है, वासना के कारण वैसा ही उत्पन्न होता है। वह स्त्री का चिंतन करते करते मरा था, इसलिए स्त्री होकर ही उत्पन्न हुआ। विदर्भराज की लड़की के रूप में पैदा हुआ। वहाँ भी बड़ा सुन्दर होकर पैदा हुआ क्योंकि सुन्दरी स्त्री का चिंतन करता रहा था। अब उसको नहीं पता कि मैं कौन हूँ क्योंकि अगले जन्म में चला गया था। वह अपने को लड़की समझता है। पाण्ड्य नरेश के राजा मलयध्वज के साथ इसका विवाह हो गया। वैसे मलय पश्चिमी घाट की अंतिम पर्वतमाला को कहते हैं। वहाँ के लोगों को मलयाली कहते हैं जो मलय पर्वत के रहने वाले हैं। धीरे धीरे वृद्धावस्था आई। मलयध्वज राजा ने राज्य पुत्र को दे दिया और स्वयं वानप्रस्थ आश्रम लेकर तपस्या

करने चला गया। यही अपने प्राचीन भारत की परम्परा थी 'पुत्रस्यपुत्रमुखं दृष्ट्वा वनं ईयात्' बेटे के बेटे का मुँह देखकर फिर वानप्रस्थ आश्रम ले लेना चाहिये, यह शास्त्र की आज्ञा है। आज-कल के लोगों की तरह नहीं कि चार आदमी उठाकर ले जायेंगे तभी घर छोड़ेंगे उससे पहले नहीं छोड़ेंगे। शास्त्र ने नियम किया है 'कृष्ण केशा ऐनीनादधीत' जब तक बाल काले रहें तभी तक घर में रहे। लोग बाँच भी लेंगे और नहीं तो तुलसी रामायण में बाँच लेंगे कि एक सफेद बाल को देखते ही दशरथ सोचते हैं कि अब वानप्रस्थ ले लूँ। उसका पाठ करते हुए भी बालों को सफेद करते ही जा रहे हैं। पाण्ड्य नरेश मलयध्वज वन में चले गये और उनकी पत्नी भी साथ गई और उनकी सेवा करती रही। पति की सेवा करते करते उसके चित्त में कुछ शुद्धि आई। उधर तपस्या करते करते, विचार करते करते मलयध्वज की स्थिति आत्मस्वरूप हो गई। 'विजिताक्षः विमलो मनः' उसने समग्र इन्द्रियों को जीत लिया था और इसलिये उसका जो आशय अर्थात् अंतःकरण वह विमल हो गया था। विद्वान् होकर भक्ति पूर्वक इस प्रकार की तपस्या करते करते अंत में इस संसार को उसने सर्वथा स्वप्न की तरह पहचान लिया। अपने साक्षी-स्वरूप को प्राप्त हो गया। ऐसी स्थिति को जब वह प्राप्त हो गया, तब भी वह उसकी सेवा करती रही। शास्त्रकार कहते हैं कि इस प्रकार की आत्मनिष्ठा वाले की सेवा करने से अनेक जन्मों के पाप धुलने लगते हैं। अंत में जब मलयध्वज ने देखा कि अब अंतिम काल आ रहा है तो अन्तर्दृष्टि होकर परब्रह्म को उसने आत्मस्वरूप से ध्याया और परब्रह्म को अपनी आत्मा में अनुभव किया और फिर जीवन का काल समाप्त जानकर इस शरीर को छोड़ दिया। सर्वथा उपराम हो गया। विदर्भराज की लड़की नियमपूर्वक उठी, नहाई धोई, देखा कि आज ये चुपचाप बैठे हुए हैं, समय काफी हो गया है। एक दो बार कहा कि प्रात काल का समय हो गया है, संध्यावदन का समय है तो भी उसने कुछ जवाव नहीं दिया। फिर जैसा स्वाभाविक होता है, धीरे से जाकर पर छुआ।

अपने से बड़े का पैर छूते हैं। गरम ठण्डा भी देखना हो तो पैर छूकर ही देखते हैं। नहीं तो आज पिता भी हो तो पहले ही माथे पर हाथ रखते हैं जैसे आशीर्वाद दे रहे हों। जब उनके पैरों पर हाथ रखा तो शरीर ठण्डा पाया। अत्यंत दुःखी हो गई और विलाप करते हुए उसने चिता को तैयार किया कि इसको जलाकर इनके साथ मैं अपने शरीर को छोड़ दूँ। प्राचीन परम्परानुसार पति के मरने के पश्चात् अपने जीने की इच्छा को छोड़ दिया। वह निरन्तर पति का चिन्तन कर रही थी और वह पति आत्मज्ञानी थे। अकस्मात् वहाँ पर उसका पुराना मित्र अविद्याक नाम का मन्त्री आकर कहता है कि यह क्या कर रही हो? शरीर के पीछे शरीर को फूंक रही हो। जरा सोचो तो सही 'का त्वं कोयं' अरे, तू सचमुच कौन है, जरा विचार तो कर। किसका है, यह भी तो विचार कर और यह जो सोया पड़ा है, जिसका तू शोक कर रही है; यह कौन है? शरीर के पीछे शरीर जलाने से क्या होगा? जरा विचार कर कि तू कौन है और इन सबके साथ तुम्हारा क्या सम्बन्ध है? उसने देखा कि यह नया आदमी कहाँ से आ गया। वह कहता है कि क्या तू मुझे भूल गई? मेरे को नहीं पहचानती है। मैं तेरा मित्र हूँ। अतिदीर्घ काल हम लोगों ने साथ साथ व्यतीत किया है। उसने कहा--मुझे कुछ याद नहीं, तेरे को कभी देखा भी नहीं। रानी तो मैं बहुत साल रही लेकिन तेरे को नहीं जानती। अब वह याद दिलाता है कि हे सखा! मैं तेरा वास्तविक मित्र हूँ। मेरा नाम अविद्याक है। उसने कहा कि यदि तू ऐसा मित्र है तो अलग कैसे हो गया। कहता है इसलिये हो गये 'हित्वा मां अन्यतो यातः' मेरे को तूने छोड़ दिया क्योंकि 'भोगरतः पदमन्वित' तुम्हारी बुद्धि हो गई कि मैं भोगों में रति करूँ, भोगों को प्राप्त करूँ। इस भोग प्राप्ति के साथ मैं नहीं रह सकता था। इसलिये तू मेरे को छोड़कर भोगों में चला गया। अब वह उसका नाम याद दिलाता है। कहता है जरा विचार कर कि हम दोनों वस्तुतः कौन थे? 'हंसावहं तथा त्वं च' मानसरोवर में रहने वाले अपने दोनों हंस थे। तू भी

हंस और मैं भी हंस था। उस समय मानसरोवर के अन्दर हम दोनों मित्रभाव से रहते थे। हंस के अन्दर एक नियम होता है कि उसको कोई छू दे तो फिर वह अलग हो जाता है। चिड़िया को भी देखोगे कि छोटी चिड़िया को तुम छू लो तो उसकी माँ फिर उसका पालन नहीं करती। बहुत से लोग यह बात नहीं जानते, सोचते हैं कि छोटा सा बच्चा है इसे उठाकर रख दें, बचा रहेगा। लेकिन बेचारे को उसकी माँ ही छोड़ देगी। वह कहता है कि वहाँ पर तेरे को एक वामा अर्थात् सुन्दरी ने छू दिया। इसलिये तुम्हारा और मेरा वियोग हो गया। फिर भी मैंने तुम्हें नहीं छोड़ा। तुम उस स्त्री के स्पर्श के कारण अगले जन्म में पुरंजन नाम के राजा होकर पैदा हुए। तब भी मैं अविद्याक नाम का तुम्हारा मंत्री बना रहा क्योंकि तब तक तू 'विज्ञात-श्रुति-स्मृत्यर्थं' वेद, श्रुति, स्मृति की आज्ञा के अनुसार चल रहा था। तुम्हारा मन स्त्री में नहीं गया था। तू वेद की आज्ञा के अनुसार चलता था, इसलिए तब भी मैं तुम्हारे साथ तुम्हारा मन्त्री होकर रहा। लेकिन एक बार स्पर्श हो गया तो उसके संस्कार फिर आ गये। इसलिये तू फिर श्रुति स्मृति के मार्ग को छोड़कर और ज्यादा भोगों मे रत हो गया और तुम्हें एक ऐसी ही स्त्री भी मिल गई। उसका नतीजा यह हुआ कि अब तूने श्रुति स्मृति के मार्ग को भी छोड़ दिया। 'सत्संगादिकं परित्यत्त्वा'। उसका ही नतीजा यह हुआ कि आज तू इस प्रकार की मोह दुःख की अवस्था को प्राप्त कर पाया है। वहाँ से स्त्री का विचार करते करते ही तुम अन्त में मरे तो विदर्भदुहिता होकर यहां पैदा हुए। इस रूप को छोड़ वस्तुतः तुम अपने उस हंसरूप का विचार करो। यह जो विदर्भ कन्या तुम अपने को समझ रहे हो, इस शरीर के छूटने से यह भी तुम नहीं और जिसे तुम अपना पति समझ रहे हो, यह भी तुम्हारा कुछ नहीं लगता। विचार करके देखो न तो तू इस पाण्ड्य नरेश की पत्नी है और न तू उस स्त्री का पति है जिसने तुझे नवद्वार के नगर के अन्दर बन्द कर रखा था। यह तो सारा का सारा केवल माया का खेल है। ये मेरी पत्नी, ये मेरे

बच्चे, ये मेरा पति, यह मेरा पिता, यह मेरी माता इत्यादि सारे के सारे माया के द्वारा कल्पितमात्र हैं। 'माया ह्येष महाबाहो' विचार करके देख तो पता लगेगा कि इस सब माया के द्वारा तू कभी अपने को पुरुष, कभी स्त्री समझता है, कभी सती होने जाता है लेकिन वस्तुतः न तू पुरुष और न तू स्त्री है। अपने तो दोनों हंस हैं। हम दोनो की गति तो विलक्षण गति है। जैसे ही इस बात का उपदेश किया, वैसे ही उसको कुछ पूर्वस्मृति आने लगी क्योंकि संस्कार का उद्‌बोधन होने पर पूर्वस्मृति स्वाभाविक आ जाती है। जब पूर्वस्मृति सामने आने लगी और नज़र से नज़र मिलाकर अविद्याक नामक मन्त्री को देखा तो उसने हंसरूप धारण कर लिया और कहता है कि देख तू और मैं एक ही हैं। विचारदृष्टि से मेरे और तुम्हारे में कोई भेद नहीं है। हम दोनों में आपस में कुछ फरक नहीं है। फिर उसने बताया कि किस प्रकार हम और तुम दोनों एक ही हैं। जैसे दर्पण सामने रखने पर दो मुँह दिखाई देते हैं 'द्विधा-भूतं दृश्यते यथा' दर्पण के अन्दर जैसे दो व्यक्ति दिखाई देते हैं, दो प्रकार के हुए हुए वैसे ही हम दीखते दो हैं, लेकिन वस्तुतः 'तथैवान्तर मावयोः' लेकिन हम दोनों में कोई फरक नहीं है। इस प्रकार जब मानस हंस का उद्‌बोधन किया तो उसको पुरानी स्मृति आ गई और अपनी देह के अभिनिवेश को छोड़कर हंसरूप को जान लिया। देवर्षि नारद भी कहते हैं—अरे प्राचीन बर्हि! तुम्हारा स्वरूप तो वह था लेकिन तुमने जो कर्मकाण्ड के अन्दर अपने आपको फँसा लिया इसलिए जो वास्तविक स्वरूप है, उसकी तरफ से तुम्हारा ध्यान हट गया। अब तू अपने में आई सारी अविद्या को दूर कर।

यह कथा प्रत्येक जीव की ही कथा है क्योंकि यहाँ हंस नाम से कहा है, और वेद कहता है 'द्वासुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते' एक ही शरीर रूपी वृक्ष में जो मन का मानसरोवर है उस मन के मानस के अन्दर, मानसरोवर में जीव और ईश्वर दोनों रहते हैं। जीव भोगोन्मुखी हो जाता है। तब पुरंजन बन जाता

है। 'पुरं जनयति इति पुरंजनः' जो पुर को पैदा करे, उसी को पुरंजन कहते हैं। यह पहले अहंकारात्मिका वृत्ति बनाकर अपने भोगों के अनुकूल शरीरों का निर्माण करता है। यह देखता है कि नवद्वार वाला बड़ा सुन्दर शरीर भोग के लिए है। यह मनुष्य शरीर ही नवद्वार वाला है 'नवद्वारे पुरे देहीनैव कुर्वन्' इसलिए नवद्वार वाले पुर में आकर रहता है। यहाँ आकर अविद्या रूपी प्रमाता के साथ यह ऐसा फँस जाता है कि अविद्या से आकर पूछता है कि तू कौन है। वह कहती है—यह तो मैं भी नहीं जानती क्योंकि अविद्या तो अज्ञानस्वरूप है। उसे ज्ञान का क्या पता। जैसे कोई पूछे कि अंधकार का क्या रंग होता है तो उसे क्या बतायें। अंधकार माने सारे रंगों का अभाव। ऐसे ही अज्ञान अर्थात् सारे ज्ञानों का अभाव। उससे पूछा कि तुम कौन हो ? वह कहती है कि मेरे को भी पता नहीं। पुर के अन्दर रक्षा के लिए प्राण रूपी सर्प को रखा है। यह पंचविषयों का भोग करता है। इस प्रकार करते करते इसके ऊपर ३६० गंधर्वों की चढ़ाई होती है। वर्ष में ३६० दिन होते हैं। इस आक्रमण से जब यह समाप्त हो जाता है तब फिर अपनी वासनाओं के द्वारा शरीरांतरों में जाता रहता है और इसे कुछ नहीं पता कि जिसे इस जन्म में समझता है कि यह मेरा पुत्र है, अगले जन्म में उसी पर मुकदमेबाजी करता है। उसे नष्ट करने की सोचता है। अंत में जैसे उसे मलयध्वज की प्राप्ति हुई, इसे भी किसी ब्रह्मनिष्ठ की प्राप्ति होती है। उसकी सेवा करने से वह फिर इसको बताता है कि यह तुम्हारा स्वरूप नहीं। तू तो वस्तुतः अहं सः अर्थात् जो तू वह मैं हूँ, दोनों में कोई फरक नहीं है। जब इसे यह ज्ञान कराता है तब उसकी सारी अविद्या नष्ट होकर वह अपने स्वरूप को प्राप्त कर लेता है। यह श्रीमद्भागवत की कथा है। उसी को यहाँ श्रुति कह रही है 'अहींश्च सर्वान् जम्भयन्' अविद्याओं के पाश को निवृत्त करने के लिए बताती है कि अपने वास्तविक स्वरूप को समझो। इस शरीर इत्यादि उपाधि रूप दर्पण के अन्दर कल्पित स्वयं को बंधन में नहीं देखता है। यातुधान्य कौन-कौनसे हैं और उन्हें कैसे दूर किया जाये, इस पर आगे विचार करेंगे।

७-३-७५

परब्रह्म परमात्म तत्व की प्राप्ति के साधन रूप में अधिवचन के द्वारा नाम का साधन बताया। 'प्रथमो दैव्योभिषक्' के द्वारा रूप का साधन बताया। अधि पद के द्वारा दोनों ही जगह यह बताया कि पूजन को सर्वथा समझकर करना चाहिये, 'ज्ञात्वा कर्माणि कुर्वीत्' किसी भी चोज को समझकर के कर्म करना चाहिये। समझने से हो अविद्या की निवृत्ति होती है, यह भी बताया। आगे कहते हैं 'यातुधान्यः धराचोः परासुव' जो यातुधान्य हैं अर्थात् जो भिन्न भिन्न प्रकार की चीजें जादूगर जैसी आकर हमें पथभ्रष्ट करती हैं, उनके लिये कहते हैं 'यातुधान्यः परासुव' अर्थात् वे हमारे से वापस लौट जाये अर्थात् हमारे ऊपर आक्रमण न करें, यह परासुव का अर्थ है। वस्तुतः यद्यपि सब दोषों की जननी तो अविद्या है, सारे दोषों को प्रारंभ करने वाली अविद्या है लेकिन दोषों के जो रूप हमको कष्ट देते हैं वे साक्षात् अविद्या नहीं। जैसे गहरी नींद के काल में अविद्या तो है, अज्ञान है लेकिन गहरी नींद में दुःख का अनुभव नहीं है। कारण तो वही है, जाग्रत् स्वप्न काल में जब उसका कार्य सामने आता है तभी दुःख होता है। अथवा दूसरे दृष्टांत से समझो। मंदांधकार में तुमको रस्सी का अज्ञान हुआ, पूरी रोशनी न होने के कारण तुमको रस्सी नहीं दिखी, यह हुआ रस्सी का अज्ञान। यह रस्सी का अज्ञान दुःख नहीं देता है वरन् उसका कार्य 'रस्सी न दिखी' इसलिये तुमने वहाँ सर्प समझ लिया। रस्सी का अज्ञान यद्यपि उसके प्रति कारण है लेकिन साक्षात् दुःख भय तब शुरू हुआ जब उसके कार्य सर्प को तुमने देखा। जब सर्प को देखा तो स्वभावतः तुमको भय लगा। भय लगने से तुम भागे, भागने से देहली में ठोकर लगी, ठोकर लगने से मुँह के बल गिरे, गिरने से दाँत टूटे। यद्यपि यह सारी की सारी अनर्थपरम्परा का प्रारंभ तो रस्सी न देखने से ही है, परन्तु जब तक केवल रस्सी

नहीं दिखी थी तव तक किसी दुःख का अनुभव नहीं हुआ था। इसी प्रकार सर्व दुःख परम्पराओं के प्रति कारण तो अविद्या ही है। परब्रह्म परमात्म तत्त्व को न जानने से ही दुःखों की परम्परा प्रारंभ होती है, परन्तु साक्षात् दुःख की प्राप्ति का कारण केवल अविद्या नहीं वरन् उससे उत्पन्न होने वाला दोष है।

अविद्या से उत्पन्न होने वाली दोष परम्पराओं को ही अधर्म कहा जाता है। परमेश्वर को न जानने से मनुष्य जो करता है उसका नाम अधर्म है और परमेश्वर को जान लेने पर जो कार्य करता है वह धर्म है। परमेश्वर की उपेक्षा से ही अधर्म का प्रारंभ होता है। यद्यपि अविद्या सारे जगत् के दुःख के प्रति कारण है तथापि उसके द्वारा प्रयुक्त, उसके द्वारा होने वाला जो अधर्म है, वही दुःख के प्रति साक्षात् कारण पड़ता है। जव मनुष्य धर्म की उपेक्षा करता है तो वह उन साधनों को छोड़ देता है जिसके द्वारा वह इस दु.ख से बच सके। धर्म के परित्याग से ही मनुष्य की स्वतंत्रता नष्ट होती है। मनुष्य परमुखापेक्षी हो जाता है और अंततोगत्वा पतित हो जाता है। मनुष्य मनुष्य कहलाने लायक नहीं रह जाता। मूल कारण अविद्या होने पर भी धीरे धीरे एक एक कदम करके मनुष्य गिरता है। सबसे पहले मनुष्य में परतंत्रता आती है। सबसे पहले परतंत्रता मन की, इन्द्रियों की और शरीर की। धर्म के कारण हमारी शक्ति हमारे हाथ में रहती है। अधर्म करने पर वह शक्ति मन, इन्द्रियों और शरीर में चली जाती है। है वह हमारी ही शक्ति लेकिन धर्म करने पर उस शक्ति के अधिष्ठान हम रहते हैं, उस शक्ति का चालन हम करते हैं। अधर्म करने पर उस शक्ति का चालन इन्द्रियाँ, मन, शरीर इत्यादि करने लग जाते हैं। इसलिये सर्वप्रथम परतंत्रता आती है। जब परतन्त्रता आई और जितने जितने हम उसके अधीन होते चले गये, उतने उतने परमुखापेक्षी हो गये। इनके मुँह की तरफ देखते हैं। हमारे शरीर का क्या बनेगा, हमारी इन्द्रियों का क्या बनेगा, हमारे मन का क्या

बनेगा, यह सोचते हैं। हमारा क्या बनेगा, यह नहीं सोचते। डाक्टर ने तुमको नुस्खा लिखकर दे दिया कि मुर्गी की तखमी खाओगे तो मजबूत हो जाओगे। तुम्हारा पेट का रोग ठीक हो जायेगा। जो परमुखापेक्षी होता है वह शरीर की तरफ देखता है। क्या करूँ, शरीर को आवश्यकता हैं तो उसको दे ही दो। शरीर के मुँह को देख रहे हैं कि यह शरीर प्रसन्न हो जायेगा। शरीर का दुःख कैसे जायेगा, यह सोच रहे हो। यह नहीं सोचते कि आज यदि शरीर को मुर्गी की तखमी खिला देंगे तो आगे जब रौरव नरक में पड़ेंगे तो यह शरीर साथ देने वाला नहीं है। यहीं साथ छोड़ देने वाला है। समझाते हैं, बात समझ में भी आती है लेकिन घर-वाली खुद ही कहेगी, अरे, खा लो, इसमें क्या है, यह तो दवाई है क्योंकि घरवाली सोचती है कि मर कर नरक तो अकेला जायेगा और जिन्दा रहा तो कमाकर मेरे को देगा। इसलिये कहती है कि दवाई में कोई हर्जा नहीं। दूसरे सगे सम्बन्धी भी आकर समझायेंगे। कहीं कहीं अप्रकरण का श्लोक भी बोल देंगे क्योंकि जो चीज जिसके मतलब की होती है, उसको वह याद कर लेता है। श्लोक का उतना ही हिस्सा याद कर लेंगे 'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनं' यह शरीर ही धर्म का साधन है, इसे तो बचाना ही चाहिये। अब आगे यदि उनसे कोई मीमांसा का प्रश्न कर दे जो मीमांसाशास्त्र को जाने कि सन्निहित विशेषण ही विशेष्य को विषय करता है। जैसे काले आम को राम ने खाया। यहाँ पर काला रूपी जो विशेषण है, वह आम का विशेषण है या राम का विशेषण है? कोई कहे कि राम का विशेषण है क्योंकि राम का रंग काला है। सन्निहित अर्थात् बिल्कुल पास में पड़ा हुआ आम। इसलिये सन्निहित विशेष्य अर्थात् आम को यह विशेषण बतायेगा। दूर पड़े रहने वाले राम को नहीं। मतलब आम काला है, राम नहीं। पास वाला विशेषण ही प्रधान होता है। जहाँ पास वाले विशेषण का विशेष्य से सम्बन्ध न लगे वहाँ फिर दूर से भी अन्वय कर

लेना पड़ता है। जैसे कोई कह दे कि मुँह वाला आम राम ने खाया, इसमें मुंह राम का हो सकता है आम का मुँह नहीं हो सकता। इसी प्रकार यह वाक्य कह रहा है 'आद्यम्' और 'धर्म-साधनम्' के बीच मे 'खलु' दूसरा शब्द पड़ा हुआ है वह दूर है और शरीर के अत्यंत सन्निहित मे 'आद्यम्' पड़ा हुआ है। इसलिये इस वाक्य का वास्तविक अर्थ हुआ 'आद्यम् शरीरम् खलु धर्मसाधनं' अर्थात् ब्रह्मचर्याश्रम में ही धर्मसाधन कर लेना चाहिये। शरीर के आदि काल में ही धर्म साधन कर लेना चाहिये। बुढ़ापे के लिये छोड़ना नहीं चाहिये। लेकिन वह अर्थ तो इन्हें इष्ट नहीं। इतना मीमांसा का विचार कौन करेगा, और उन्होंने तो अपने मतलब से याद कर रखा है 'शरीरमाद्य खलु धर्मसाधनं'। अब विचार करो कि वे सारे के सारे क्या कर रहे हैं ? तुमको अधर्म के कार्य में प्रवृत्त कर रहे हैं और तुम परमुखापेक्षी हो, कहते हो—ये सब कह रहे हैं; मैं क्या करूं।

परमुखापेक्ष होने से मनुष्य गिरने लगता है। पतित होने लगता है क्योंकि स्वावलम्बन चला जाता है अर्थात् अपना भरोसा चला जाता है। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि धर्म की उपेक्षा नहीं करोगे तो पहली चीज तुम्हारे में स्वतन्त्रता आयेगी। तब हम शरीर मन, इन्द्रियो के सुख को नहीं देखेंगे, यह देखेंगे कि आत्मा का कल्याण किस चीज से होगा। आत्मा के कल्याण की तरफ हमारी दृष्टि प्रधान होगी, शरीरादि के कल्याण की तरफ नहीं। यह पहली चीज है। जैसे व्यष्टि जीवन में वैसे ही समष्टि जीवन में होता है। जब हम लोग अपने धर्म का परित्याग करते हैं तो परधर्मों का ग्रहण करते हैं। भारतीय संस्कृति की एक परम्परा है, एक स्वरूप है, एक फल है। उसकी जब उपेक्षा करेंगे तो परधर्मों को ग्रहण करेंगे। अमरीका के अन्दर क्या होता है, इंग्लैण्ड में क्या होता है, जर्मनी में क्या होता है, रूस में, चीन में और आस्ट्रेलिया में क्या होता है। उनके जैसे कार्य हम करें, यह परमुखापेक्षिता आ जायेगी। यही

परतंत्रता हैं। जबरदस्ती तुम्हारे को कोई बैठाकर के कोई काम करावे तो ही परतंत्रता हो, ऐसी बात नहीं है। तुम स्वयं भी परतंत्र बन सकते हो। जब तुम अपने को छोड़कर दूसरे को ही मानदण्ड बनाते हो। जैसे भारतवर्ष का समष्टि धर्म क्या ? हमारे यहाँ दो चीजों को आधारभूत माना है। महर्षि वाल्मीकि ने इसलिये सबसे पहले बताया 'तपः स्वाध्यायनिरतं तपस्वी वाग्विदां वरः' दो विशेषण तप और स्वाध्याय भारतीय संस्कृति का आधार हैं। तप का मतलब इच्छापूर्वक कष्ट सहना है। शारीरिक तप, इन्द्रियों का तप, मन का तप इन सब तपों मे विचार यह है कि इच्छापूर्वक कष्ट सहना है। हमारे पास कष्ट को दूर करने का साधन है परन्तु हम दूर नहीं करगे। उसके द्वारा किसी दूसरे के कष्ट को दूर करेंगे। हमारे घर में भोजन सामग्री रखी हुई है। मन भर चावल भी हैं, मन भर गेहूँ भी हैं, दस बास किलो दालें, मसाले, पाँच किलो घी भी है, घर में सब सामान भरा हुआ है लेकिन एकादशी के दिन हम भोजन नहीं करेंगे, ब्राह्मण को सीधा पेटिया उस अन्न का देंगे। यही तो तप हुआ। जितने व्रत हैं, उन सब व्रतों में यह नियम किया है कि उस दिन की जो चीज बचे, उतना ही दान करना चाहिये। यह इच्छापूर्वक कष्ट सहना है। तप हमारी भारतीय संस्कृति का आधार है। क्या आज वह तप की दृष्टि बनती है। मान लो किसी ने कह दिया कि इस समय कलकत्ते में पानी की कमी है, पानी कम खर्च करना। कोई कम खर्च करता है ? जबर्दस्ती वे लोग यदि पीछे से पानी दें ही तीन घण्टा, कि नल छः बजे आयेंगे और नौ बजे बन्द हो जायेंगे तो भले ही जहाँ नहीं मिले तो कष्ट सह लेगा, लेकिन कोशिश करेगा कि साढ़े पाँच बजे ही लँगोटा बाँधकर सबसे पहले नम्बर लगा ले और अपने तो दस बाल्टियों के कोठार को पहले ही भर कर रख ले और बड़े घमण्ड से कहेगा कि अपने तो सबेरे ही नम्बर लगाकर काम कर लेते हैं, अपने को तो कोई तकलीफ नहीं। दूसरे की दूसरे जानें। अथवा बिजली की कमी हैं तो कोई यह थोड़े

हो सोचता है कि इस समय इतनी गर्मी नहीं, थोड़ी ही गर्मी है, पंखा न चलायें। बिजली आई गर्मी लगी तो नहीं लगी तो पंखा तो पूरी स्पीड पर चलेगा। और हम तो ऐसे ऐसे महापुरुषों को, वीतरागियों को जानते हैं, उन्हें वीतरागी ही कहेंगे, जो पंखा चलाकर रजाई ओढ़ कर सोयेंगे। यह हमारी देखी हुई बात है। एक मिनट को नहीं सोचेंगे कि यह वही बिजली है जो दो दिन बाद सब लोगों को अंधकार में डालेगी। तब नहीं आयेगी तो चाहे अंधकार में बैठे हैं। हम लोगों की सारी चिंतन प्रणाली में तप था। स्वेच्छापूर्वक सामग्री रहते हुए हम उसके द्वारा दूसरे को फायदा पहुंचाते थे। अपने ऊपर फायदे का ध्यान नहीं रखेंगे। स्वयं कष्ट सहकर दूसरे को लाभ पहुँचायेंगे। यह तप है, यही भारतीय संस्कृति है। जब भारतीय संस्कृति नहीं हुई तो हम परतंत्र हो गये। भारतीय संस्कृति का दूसरा स्वरूप स्वाध्याय था। प्रत्येक चीज को भली प्रकार से अध्ययन करेंगे। 'सु' माने अच्छी प्रकार से, 'आ' माने खूब घुमाकर के हम उसका अयन करेंगे अर्थात् अधि पूर्वक इण् गतौ धातु से हम उसे अधिगत करेंगे। कोई चीज सामने आयेगी तो हम उसे भली प्रकार से चारों तरफ विचार कर अच्छाई बुराई की परीक्षा करके ही हम उस तरफ आगे बढ़ेंगे। यह स्वाध्याय है। इसलिए प्रत्येक चीज का विचार होता था, मंथन होता था कि कौनसी चीज उपादेय और कौनसी चीज हेय है। कौनसी चीज ठीक और कौनसी चीज गलत है। आज से दो सौ वर्ष पूर्व जोधपुर महाराजा के यहाँ पर शास्त्रार्थ हुआ था कि आलू खाना चाहिये या नहीं। एक साल जोधपुर गये हुए थे तो उस शास्त्रार्थ का लिखित वर्णन हमको किसी ने लाकर दिखाया। आप लोग जैसा जानते हो कि आलू चार सौ साल पहले अकबर के समय में आई हुई चीज है। दृष्टि यह थी कि हर चीज को विचार करके देखते थे, निर्णय करते थे। उनका निर्णय ठीक लगे, न लगे लेकिन वे निर्णय तो करते थे। आज वह स्वाध्याय की प्रणाली ही चली गई। इसलिये कोई किसी चीज का विचार करता

ही नहीं। बहुत बार लोग कहते हैं—महाराज ! विदेश में कोई अच्छी बात हो तो लेने में क्या हर्जा है ? हम उनसे कहते हैं कि हमारा तो सिद्धान्त ही है 'स्वदेश भुवनत्रयं' हम लोग तो केवल मनुष्य लोक नहीं, देव लोक और असुर लोक को भी अपना ही देश मानते हैं। इसलिये कोई विदेश है, ऐसा हमको कुछ नहीं लगता है। लेकिन किसी बात को लेने से पहले उसकी अच्छाई और बुराई की जाँच तो कर लें। अच्छाई हो तो जरूर ले लेंगे। अगर हमारे में भी कोई बुराई है तो हम उसे छोड़ने के लिए सदा तैयार हैं, लेकिन विचार करके। एक ही चीज के कई कारण हुआ करते हैं। प्रायः मनुष्य भूल यह करता है कि उन कारणों का विवेक नहीं करने से जो चीज जिसके कारण नहीं है, उसे उसका कारण मान लेता है। यह अविचार के कारण होता है। नहीं तो विचार करना चाहिये। जैसे विदेशी लोग डटकर परिश्रम करते हैं और विदेशी लोग शराब मांस का सेवन करते हैं। दोनों बातें उनमें हैं। उनकी उन्नति का कारण उनका परिश्रम है, उनका शराब मांस का सेवन नहीं। लेकिन हम अविचार से समझते हैं कि वे शराब मांस खाते हैं, इसलिये उन्नति करते हैं। परिश्रम वाली चीज को तो हमने छोड़ दिया। जो उनसे सीखने की चीज थी, वह तो छोड़ दी और जो उन्नति का कारण नहीं, उसे हमने कारण समझ लिया। यह भूल जीवन में प्रायः होती रहती है। यहाँ तक कि शास्त्रों से भी स्वेच्छापूर्वक चीज को ग्रहण करना चाहते हैं।

एक जगह पर एक पण्डित जी ने महाभारत की कथा लोगों को सुनाई। महाभारत लम्बा ग्रन्थ है। एक लाख श्लोकों का ग्रन्थ तीन साल में व्यास जी ने लिखा तो सुनने में तो और भी समय लगता है। पंडित जी ने बड़ा परिश्रम करके सारी महाभारत सुनाई क्योंकि महाभारत को हमारे यहाँ पंचम वेद तक कहा गया है। जैसे वेद, महर्षियों ने अपनी समाधि के अन्दर अनुभव करके प्रकट किया, वैसे ही भगवान्

वेदव्यास ने भी समाधि के अन्दर ही महाभारत को प्रकट किया। इसीलिए इसे पंचम वेद भी कह देते हैं। धर्म की बड़ी उत्तम मीमांसा इसमें हैं। लेकिन ऐसे सद्ग्रन्थ को भी कुछ लोगों ने बदनाम कर रखा हैं। कई लोग पूछते हैं—महाराज ! महाभारत घर में पढ़ने से कुछ खराबी तो नहीं होगी, इसमें कोई बुराई तो नहीं है। जो लोग सोचते हैं कि ठीक ठीक धर्म का ज्ञान लोगों को हो गया तो हो सकता है कि हमारी गलत मान्यतायें लोग न मानें। वे लोग सदग्रन्थों में भी कुछ दोष लगा देते हैं। नहीं तो भगवान् वेदव्यास की दिव्य वाणी से लिखा हुआ महाभारत जैसा ग्रन्थ पढ़ने से सिवाय इष्ट के अनिष्ट कभी हो ही नहीं सकता। तो पंडित जी ने कई साल तक महाभारत खूब सुनाई। अंततोगत्वा उन्होंने सोचा कि अब महाभारत खतम हो गई है, जरा लोगों से पूछें कि कौनसी बात महाभारत की किसको जँची। पहले सेठजी महाभारत के प्रधान श्रोता बैठे हुए थे जिन्होंने कथा करवाई थी। उन्होंने कहा— सेठ जी ! महाभारत तो समाप्त हुई, अब आप बताइये कि आपको इसमें कौनसी चीज सबसे प्रिय लगी। सेठजी ने कहा कि मेरे पिताजी काफी धन छोड़ गये थे, भाई अपना हिस्सा माँग रहा था तो मैं ऊहा-पोह में पड़ा हुआ था। कभी सोचता था दे दूं, कभी सोचता था न दूं। महाभारत सुनकर मेरा संदेह दूर हो गया है। दुर्योधन ने कहा था 'सूच्यग्रेण सुनीक्ष्णेन यावत् मेदिनीं' सुई की नोंक में जितना छेद होता है, उतनी जमीन भी मैं देने वाला नहीं हूँ। बिना युद्ध के नहीं दूंगा और अंततोगत्वा दुर्योधन ही फायदे में रहा। सारी जवानी उसने मौज शौक मारी और बुढ़ापे में मरा तो उमर हो ही गई थी। महाभारत के युद्ध के समय दुर्योधन ७५ वर्ष का हो गया था। बुढ़ापे में मरा तो कोई बात नहीं। और युधिष्ठिर सारी जवानी दुःख भोगता रहा। इसलिये मेरा संदेह दूर हो गया है। मैंने निश्चय कर लिया है कि भाई को एक छदाम नहीं दूंगा। जिसको जो चीज अपने मन की अच्छी लगेगा, वही तो वह लेगा। बेचारे पंडित जी

ने सोचा कहां फँस गये।

सोचा औरतें कुछ धार्मिक विचार की होती हैं। सेठानी से पूछा कि तुम इस महाभारत में क्या समझीं। वह कहने लगी कि पहले महाभारत नहीं सुनी, मुझे इसी का दु:ख है। मैं तो द्रौपदी के चरित्र से बड़ी प्रभावित हुई। द्रौपदी को वड़ा महत्त्व महाभारत में दिया है। महाभारतकार ने एक तरह से उसको शक्ति का रूप बताया है। द्रौपदी का बड़ा सुन्दर उज्ज्वल चरित्र है। पहले यह न सुनने के कारण मैं एक सेठ के साथ रही। अब चार और कर लेने हैं। पहले पता होता तो जल्दी ही मामला शुरू कर देती। अब तो सेठ जी बड़े ढोले पड़े कि यह क्या हुआ। सावित्री की कथा भी महाभारत में आती है, वह उसको नहीं जँची। उसको वही जँची। सेठ जी ने विचार किया कि क्या करें। सेठानी की तरफ उँगली करने लगे कि क्या उल्टा समझ रही है। पंडित जी ने कहा—चुप रहो सेठ जी। झगड़ा नहीं करो। सबको अपने अपने मन की कहने दो। सेठ जी के पुत्र से पूछा कि तू तो युवावस्था में है, तेरी बुद्धि प्रज्ञा ठीक है, ठीक बात समझा होगा। महाभारत सुनकर तू क्या समझा? वह वोला—पिताजी की उमर ४५ की हो गई है। कई वार सोचता हूँ कि तिजोरी की चावी रात में चोरी कर लूं, फिर सोचता था कि बुरा कर्म है, न करूँ। महाभारत सुनकर पता लगा कि कंस ने अपने पिता को जेल में डालकर वश में कर लिया था, ऐसे ही पिता जी को रात बेरात ठिकाने लगाना पड़ेगा, तभी काम चलेगा, नहीं तो नहीं चलने वाला है। तिजोरी की चाबी जनेऊ में बाँध कर रखते हैं। रात को भी तकिये के नीचे नहीं रखते। पंडित जी ने कहा कि इसने भी गड़वड़ वात की। अब उन्होंने लड़की की तरफ देखकर पूछा भली मानस, तुम क्या समझी? लड़की कहती है कि किसी पड़ोसी लड़के की तरफ मेरा रुजुआत बहुत दिनों से था लेकिन यह सोचकर कि जहाँ माता पिता हाथ पकड़ावें, उसी का हाथ पकड़ना चाहिये, अपने मन को मार लेती थी। अब जब महाभारत सुना तो पता लगा कि भगवान्

कृष्ण ने सुभद्रा को अर्जुन के साथ भगवा दिया था। अर्जुन सुभद्रा को लेकर भागा था। इसलिये अब मेरे को कोई चिंता नहीं है। भगवान् के चरित्र के सामने और कोई चीज नहीं है। अब मैंने अपने मन से यह सब वहम हटा दिया है और अब तो पूरी तैयारी कर ली है कि मुझे क्या करना है। पंडित जी ने अपना पोथी पत्रा बाँधा और चल दिये। सेठ जी ने कहा—क्या बात है, पंडित जी।, पंडित जी ने कहा—अब सुनाई सो सुनाई। आगे किसी को महाभारत मैं सुनाने वाला नहीं हूँ। हो गया, बहुत समझ लिया। मनुष्य का नियम है कि शास्त्र वाक्यों में से भी जो उसकी बुद्धि के अधीन वाली बात है, उसको ले लेता है क्योंकि विचार नहीं करता। विचार करता तो देखता कि महाभारत का तात्पर्य दुर्योधन और कंस के चरित्र-चित्रण में नहीं है। वह तात्पर्य ही नहीं है। लेकिन उसकी तरफ दृष्टि नहीं गई। द्रौपदी और सुभद्रा का चरित्र किन परिस्थितियों में एक विशेष नियम के अनुमार किया गया इस तरफ विचार ही नहीं किया क्योंकि धर्म कई तरह के हैं। एक सामान्य धर्म और एक विशेष धर्म होता है। एक आपद् धर्म होता है। सब जगह आपद् धर्म लगाओगे तो काम नहीं चलेगा। सब जगह विशेष धर्म लगाओगे तो भी काम नहीं चलेगा। द्रौपदी और सुभद्रा के विशेष कारण थे, इसकी तरफ उनमें से किसी ने अपनी दृष्टि नहीं लगाई।

इसी प्रकार जब हम विदेशों में होने वाली चीजों को देखते हैं तो बिना विचार के ग्रहण करते हैं। वहाँ से कौनसी चीज ग्रहण करने के योग्य हो सकती है कौनसी नहीं, यह तभी हो जब कार्यकारण भाव का विचार किया जाये। नहीं तो वह चीज ठीक नुक्सान करने वाली हो जाती है। अनेक चीजों में ऐसा देखते रहते हैं। गरम मुल्क क लायक जो कपड़े होते हैं उनको ठण्डे मुल्क में नहीं पहना जा सकता। लेकिन नकल करते समय जब हम परतंत्र और परमुखापेक्षी होते हैं तो वैसे ही कपड़े पहन लेंगे। हमारे देश के लायक है या नहीं, यह विचार नहीं करेंगे। इसी प्रकार

भोजन आदि सब चीजों को समझ लेना। इसीलिये तप और स्वाध्याय दो प्रधान रूप से शास्त्रकारों ने हमारे सामने रखे थे, जिससे हम परतंत्र न हों और परमुखापेक्षी न हों। जितना जितना तप करोगे उतना उतना शरीर आदि के अधीन नहीं होगे। जिसने आज सोमवार का व्रत कर लिया, कल एकादशी का व्रत किया, परसों प्रदोष का व्रत कर लिया, अगले दिन मास शिवरात्रि का व्रत कर लिया, वह व्यक्ति एकाध दिन भोजन न मिलने पर आतुर नहीं होगा। और जिसने ऐसा नहीं किया है, उसको यदि प्रातःकाल का भोजन (प्रातराश या ब्रेकफास्ट) नहीं मिला तो भी उसका दिमाग गड़बड़ा जायेगा। वह उतना ही सहन नहीं कर सकेगा। तप के द्वारा कष्ट सहने की जो आदत पड़ती है उससे एक तो दूसरों का कल्याण होता है और दूसरे स्वयं अपने शरीर इन्द्रिय आदि के ऊपर अधिकार आता है। स्वाध्याय के द्वारा हर चीज को समझने की सामर्थ्य आती है और जब समझने की सामर्थ्य आती है तो जीवनक्रम आनंदप्रोत हो जाता है। अभी जो हम कर्म करते हैं वह कोल्हू के बैल की तरह से करते हैं। कोल्हू के बैल की दोनों आँखे वन्द कर देते हैं। वह बेचारा गोल गोल चलता रहता है। काम वह बड़ा सुन्दर कर रहा है, तिलों में से तेल और खली को अलग कर रहा है लेकिन उसको यह पता नहीं कि क्या कर रहा है। इसलिये उसको वह करने में कोई रस नहीं आ रहा है। इसी प्रकार हम जीवन में कर्म करते तो हैं। सवेरे से शाम तक सब करते हैं लेकिन अपने कर्म के रहस्य को न जानने के कारण उनका जीवन नीरस हुआ हुआ है। उनको खुद लगता है कि क्या कर, फँस गये हैं, इसलिये कर रहे हैं। यह बोध नहीं कि कर्म को करते समय आनद का उल्लास हो कि देखा मैं कितने अच्छे ढंग से कर रहा हूं। स्वाध्याय के ऊपर इसलिये जोर दिया कि जिससे हम लोग कर्म को कोल्हू के बैल की तरह न करके समझ करके करें ता हमको उस कर्म में रस आये। कर्म के आगे के रस का हम देखते हैं। तुमने

दुकान के माल को बेचा। माल बेचने से जो दस हजार रुपये का फायदा हुआ वह तो तुमको सुख देता है लेकिन दुकान में बैठना, माल बेचना, ग्राहक के साथ गुफ्तगू करना, आदि तुमको आनंद नहीं देता।

भारतवर्ष में आज जो एक सबसे बड़ी समस्या है कि कोई काम नहीं करना चाहता, ईमानदारी की बात तो यही है, कोई बुरा नहीं मानना। मालिक कहता है कि मजदूर काम नहीं करना चाहते। हम कहते हैं ठीक हैं लेकिन आपकी श्रीमती जी सबेरे से शाम तक कितना काम करती हैं। तुमको मजदूर का काम न करना खल रहा है. ठीक है लेकिन कभी पत्नी की भी तुमने शिकायत की। क्या तुम्हारे मन में कभी आया ? इतना ही नहीं, क्या हृदय से तुम नहीं चाहते कि काम किये विना अगर फायदा हो जाता तो अच्छा था। कैसे ? जरा समझो। तुमने पाँच हजार रुपये की चीज ली, माल को दबाकर रख दिया और दो महीने बाद दस हजार में बेच दिया। तुमको यह प्रिय लगता है। आज पाँच हजार का लिया और पाँच हजार एक सौ में बेच दिया। कल फिर ऐसे किया। इस प्रकार चार महीने तक १२० बार तुमने लेन-देन (Transactions) किया अर्थात् १२० बार चीज को खरीदा बेचा और उसके द्वारा पाँच हजार कमाया, क्या यह अच्छा लगता है। छाती पर हाथ रखकर शान्ति से सोचना। मन में आता है कि पाँच हजार का लेकर रख दो और एक बार में ही पाँच हजार का फायदा हो जाये, फिर १२० बार ट्रांजेक्शन के झंझट में कौन पड़े, जब फायदा उतना ही होना है। इसलिये काम नौकर नहीं करना चाहते तो मालिक भी नहीं करना चाहते। हम लोगों की सबकी यह समस्या हो रही है कि हम लोग काम न करने को काम करने की अपेक्षा श्रेष्ठ समझते हैं। लड़के चाहते हैं कि उसको दस सवाल रटा दो और वही दस सवाल इम्तिहान में आ जायें और प्रथम श्रेणी आ जाये, यह अच्छा है। यह नहीं चाहते कि मैं

ग्रन्थ को अच्छी तरह से पढ़ूँ। काम करना नहीं चाहते। अब यदि स्वाध्याय करोगे तो पता लगेगा कि काम करने में स्वयं एक रस है। काम करके पैसा मिला, वह पैसा तो अलग चीज है. कार्य स्वयं रसरूप है। कमरे के अन्दर बढ़िया सुन्दर फूलदान सजाते हो, क्या उससे कोई रुपये मिलने हैं। उसको सजाने का एक सुख है। सजा सजाया बाजार से लाने का सुख नहीं है। अपने तृणभू (बगीचा या Lawn) में गुलाब पैदा करने का एक सुख है। हमारे आगम ग्रन्थों में तो लिखा है कि भगवान् की पूजा के लिये जो पुष्प लिया जाये, वह अपने बगीचे में खुद पैदा किया जाये। बाजार से खरीदकर लाने वाले के फूल को ठीक नहीं माना है क्योंकि उसमें कर्म करने का वह रस नहीं आता है। यहाँ तो बता रहे थे कि तप और स्वाध्याय अर्थात् कष्ट सहन करना और हर चीज़ को समझकर कर्म में रस लेना हमारी भारतीय संस्कृति का आधार था। इस आधार को लेकर चलेंगे तो ये जो विकार (यातुधान्य) हैं जिसको श्रुति यहाँ कह रही है 'यातुधान्यो घराचीः परासुव', वे सारे के सारे विकार दूर हो जायेंगे। जितने विकार अथवा अधर्म हैं, वे किस प्रकार के हैं, इस पर आगे विचार करेंगे।

८-३-७५

उस परब्रह्म परमात्म तत्व की प्राप्ति जिन नाम और रूपों के द्वारा एवं उन नाम रूप की यथार्थता के ज्ञान के द्वारा सम्भव है, उनका निरूपण करके उस अज्ञान से होने वाले जो यातुधान्य अर्थात् दोष हैं, उनकी निवृत्ति बता रहे थे। कल बताते हुए प्रारंभ किया कि तप और स्वाध्याय इन यातुधान्यों की निवृत्ति के साक्षात् उपाय हैं। जितना जितना तप और स्वाध्याय कम होता जाता है उतने ही ये यातुधान्य बढ़ते जाते हैं। जितना जितना जीवन में तप और स्वाध्याय बढ़ता जाता है, उतने उतने यातुधान्य कम होते चले जाते हैं। तप और स्वाध्याय को छोड़ने से तीन दोषों की प्राप्ति बताई —परतंत्रता, परमुखापेक्षिता और पतितता। तप और स्वाध्याय के द्वारा ठीक इससे विपरीत स्वतंत्रता, परोपकारता और दूसरों को

ऊपर ले जाने की सामर्थ्य आती है। जितना जितना तप और स्वाध्याय के प्रतिकूल आचरण करते हैं उतना ही उतना मानो परमेश्वर की आज्ञा का उल्लंघन होता है। परमात्मा ने हमको मानव शरीर तप और स्वाध्याय के लिये दिया, भोग के लिये नहीं। मनुष्य जीवन में आकर भी यदि हम भोग की दृष्टि रखते हैं तो फिर हम लोगों में और पशुओं में कोई भेद नहीं रह जाता। जैसे व्यवहार में आदमी अपने बड़े बेटे की सलाह हर चीज में पूछता है। अपने ही छोटे पुत्र या पुत्री के विवाह के विषय में बड़े बेटे से सलाह करता है। क्यों ? यह मानकर कि यह बिना किसी स्वार्थ के अपने छोटे भाई या बहन के लिये उत्तम से उत्तम कार्य करने की दृष्टि से सलाह देगा। इसलिये सलाह करता है। लेकिन यदि पिता को पता लग जाये कि यह स्वयं इतना भोगपरायण है कि यह सलाह ऐसी देगा कि किस प्रकार से इसको ज्यादा फायदा हो, तो फिर पिता उसकी सलाह नहीं लेगा। ठीक इसी प्रकार से मनुष्य को ही परमेश्वर ने यह अधिकार दिया कि वह इस सारी सृष्टि का राज्य करे। इतना बड़ा अधिकार दिया। इसकी बुद्धि को ऐसी शक्ति दी गई जिसके द्वारा यह जबर्दस्त हाथी को, शेर को अपने वश में कर सकता है। संसार में मनुष्य सबसे शक्तिशाली नहीं है लेकिन परमेश्वर ने इसको सारी सृष्टि का अधिपति बनाया है। सबका शासक और नियामक यही है। विचार करो कि परमेश्वर ने यह अधिकार हमको इसलिये तो नहीं दिया कि हम अपने भोग के लिये दूसरे के अधिकारों का हनन करें। दूसरे जितने भी प्राणी हैं, पशु पक्षी, कीट पतंग तक वे सारे के सारे हमारे ही छोटे भाई हैं। हमको बड़ा भाई समझ करके परमेश्वर ने इन सबके ऊपर अधिकार दिया। हमने इसका अर्थ यह कर लिया कि हम अधिक से अधिक इनके हिस्सों को लूटकर भोग करें। लूट के भोग करने की वृत्ति बड़ी भयंकर है। पहले पशुओं को लूटेंगे, फिर अपने ही मानव समाज के जो दूर देशस्थल के लोग हैं उनको लूटेंगे। फिर उसके बाद अपने ही साथ रहने वाले पास पड़ोसी जो कमजोर होंगे उनको लूटेंगे। एक बार भोगपरायण प्रवृत्ति प्रारंभ हो गई तो धीरे धीरे बढ़ती चली जायेगी।

आज यही परिस्थिति बन रही है। एक देश वाले दूसरे देश को लूटने में और लूटकर अपने भोग को बढ़ाने में बड़े प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार एक ही देश में जिसके पास बुद्धि, धन अथवा शारीरिक शक्ति अधिक होती है, वह अपने से कम बुद्धि, कम धन और कम शक्ति वाले को लूटकर भोगना चाहता है। गत तीस वर्षों में हमने एक बात देखी, आप सबने भी देखी होगी। घरमें हिस्सेदार होता था, हिसाब ठीक रखा जाता था और साझेदारी सौ सौ साल तक चलती थी। आज से ४० साल पहले की बात सोचो, अनेक साझेदारियाँ सौ-सौ साल से चल रही थीं। फिर धीरे-धीरे हिसाब गलत लिखना शुरू हुआ। सोचा हम पैसा बचा लेंगे। नतीजा उसका है, आज कोई साझेदारी नहीं चलती है। हर चौथे साल में एक दूसरे के ऊपर संदेह आने लगता है। तुमने समझा पैसा बचाया लेकिन बचाया क्या। अब वहीं नहीं रुक गये। क्योंकि जैसे ही तुमने सोचा कि हम एक प्रकार की चोरी करें, कर की चोरी हो जो भी हो, वैसे ही चोरी करने की आदत पड़ी तो अपने साझीदार से चोरी करना शुरू कर दिया, क्योंकि आदत पड़ गई है। इसलिए साझीदारी नहीं चलने लगी। तब भाई भाई साथ रहते थे। उसके आगे चोरी करने की आदत चली तो अपने भाई से भी अलग अपना काम कर लेते हैं। वहाँ भी चोरी प्रारंभ हो गई। नतीजा यह कि आज चार भाई साथ रहकर सौ साल तक व्यापार कर सकेंगे, यह तुम्हारे में से क्या किसी को जँचता है। पहले एक ब्राह्मण और एक बनिया आपस में साझीदारी करके सौ साल निभाते थे और अब दो भाई आपस में नहीं निभा पा रहे हैं। चोरी की आदत जो पड़ी हुई है। कई लोग कहते हैं कि महाराज ! खाता एक थोड़े ही होता है। एक खाता सरकार को दिखाने का, एक खाता साझीदार को दिखाने का, एक खाता भाई को दिखाने का और एक असली खाता जो चुपचाप अपने कमरे में बंद करके रखने का, इस प्रकार कई खाते होते हैं, क्या ठिकाना है उनका। एक बार आदत पड़ गई तो वह बढ़ती जायेगी और कोई

आश्चर्य नहीं कि आज से २०-२५ साल के बाद बाप और बेटे भी आपस में चोरी करने लगेंगे कि बेटा अपना अलग काम करके अलग पैसा रख ले और बाप सोचे कि यह पैसा अभी बेटे को न बतायें, क्या पता माँग ही ले। २५ साल बाद यह स्थिति भी आ सकती है, कोई आश्चर्य नहीं है क्योंकि एक बार जहाँ आदत पड़ गई, वहाँ चलती चली जायेगी। परमेश्वर ने हम लोगों को इस सृष्टि के ऊपर अधिकार इसलिये नहीं दिया था कि हम दूसरे के अधिकारों का हनन करें, वरन् इसलिये कि हमारे अन्दर ही तप और स्वाध्याय की सम्भावना होने से हम किसी दूसरे के अधिकार को नहीं छेड़ेंगे। परमेश्वर की इस आज्ञा के उल्लंघन रूपी दोष के कारण ही हमारे सारे आचरण धर्म के प्रतिकूल होते चले जाते हैं और जैसे/जैसे ये प्रतिकूल होते हैं, वैसे-वैसे यातुधान्य अर्थात् हमारे शत्रु बढ़ते जाते हैं।

शत्रु पहले बाहर नहीं, अपने ही अन्दर बढ़ते हैं। भगवान् ने गीता में शत्रु किसको बताया? 'जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदं।' समग्र गीता में भगवान् ने दुर्योधन को भी कहीं शत्रु नाम से नहीं कहा, भीष्म, द्रोण, कर्ण आदि की तो बात ही क्या। दुर्योधन के लिये भी भगवान् ने अपने श्रीमुख से शत्रु नहीं कहा। भगवान् ने कहा, 'हे अर्जुन! यह जो कामना रूपी शत्रु है, इसे नष्ट करो।' इसी को भगवान् ने दूसरी जगह पर कहा 'महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिहवैरिणं' वैरी और शत्रु का एक ही मतलब है। कहा कि यह कामना बहुत खाने वाली है। यही बड़े से बड़ा पाप कराने वाली है। यह कामना ही महाशन अर्थात् सबसे ज्यादा खाने वाली है। लोग समझते हैं कि भारतवर्ष में अन्न की कमी है। सम्भवतः बहुत से लोग कहेंगे कि बात तो सच्ची है। लेकिन हम ठीक कहते हैं कि यह बात बिलकुल झूठी है, अन्न की कमी नहीं है। हमने अन्न की कामना अपने दिल में इतनी भर ली है कि वह पूरी नहीं होती। पेट तो भर जाये, लेकिन इस कामना को कौन भरे। सबके घर में चूल्हे जलते हैं। कोई ऐसा घर तो नहीं

जहाँ चूल्हा न जलता हो और दालभात, रोटी साग खाते ही हैं। लेकिन हर चौथी दुकान पर कुछ न कुछ मिठाई, नमकीन बिक रहा है। न जाने कितने रैस्टोरेन्ट खुल गये, न जाने कितने खाने के नये-नये साधन खुल गये। इतने कहीं खाने के साधन पहले थे? क्या इनके कारण किसी के घर में दालभात बनना बन्द हो गया ? हम तो कई बार लोगों से कहते हैं कि यदि एक ही बात लोगों के हृदय में जम जाये कि बाजार में बिना जान पहचान के हाथ का नहीं खायेंगे तो देश की अन्न-व्यवस्था अपने आप ठीक हो जायेगी। अन्न की कमी नहीं है लेकिन घर में चूल्हा भी जलता है, दालभात भी बनता है और दिनभर न जाने कितनी दुकानों और रैस्टारेन्टों में चरना भी चलता रहता है। मैं कितना ज्यादा से ज्यादा खा जाऊँ, इतना हीं नहीं, उसको हजम करने के लिए कहाँ-कहाँ से गालियाँ लेकर खाऊँ। हम यहाँ आते हैं तो देखते हैं कि कालीचरण टैगोर रोड, कालाकार स्ट्रीट के अन्दर जगह-जगह हजम करने की गोलियों के विज्ञापन लगे हुए हैं। प्रश्न है कि गोलियाँ खाकर क्यों हजम करो। कामना महाशन है, खाने की कामना खतम नहीं हो रही है। भगवान् कहते हैं कि यह शत्रु है। जितना जितना हम ईश्वराज्ञा का पालन नहीं करते, उतना ही उतना काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि जितने शत्रु हैं, सब बढ़ते हैं। ये सारे शत्रु मिलकर क्या करते हैं। भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं। 'ज्ञानरत्नापहारिणः' ये सब हमारे अन्दर रहने वाले ज्ञानरत्न को चुराते रहते हैं। अन्दर जो आनन्द भरा हुआ है, उस अन्दर के आनन्द के साथ जब सम्बन्ध नहीं है तो कभी खाकर और कभी पहनकर सुख लो, कभो किसी को नीचा दिखाकर सुख लो। आज-कल विवाह हो रहे हैं तो तुमने अपने ब्याह में दो हजार रुपये की बिजली की सजावट की तो मैं साढ़े तीन हजार की करूँगा। तुमने वर को मोटर में ले जाने के लिये मोटर को पाँच सौ रुपये के फूलों से सजाया, मैं हजार रुपये के फूलों से सजाऊँगा। यह नहीं कि फूलों की खुशबू लेने के लिये सजाते हों। कोई सुगन्धि के लिये नहीं सजाते

क्योंकि हम देखते हैं कि गेंदे के फूल ही लगाते हैं। दूसरे को नीचा दिखाने के लिये सजाते हैं। मनुष्य इन चोजों से सुख क्यों लेता है? क्योंकि अपने अन्दर रहने वाले आत्मसुख से वंचित है 'ज्ञानरत्नापहारिणा:' इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'तस्माद् जागृहि जागृहि' अरे भले आदमी जग जा, जग जा। इन शत्रुओं के द्वारा अपने को लुटने मत दे, नहीं तो ये लूट लेंगे।

अब इस लूट को कैसे बचाया जाये। महाभारत में भगवान् वेदव्यास ने कई उपायों का प्रतिपादन किया। 'क्षमया क्रोधमुच्छिद्येत् कामं संकल्प वर्जनात्' प्रत्येक शत्रु को मारने के अलग अलग उपाय बताये। सबसे पहले उन्होंने लिया कि क्रोध कैसे उच्छिन्न किया जाये, क्रोध को कैसे हटाया जाये? भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि इसका साधन यह है कि शत्रु को जानो, शत्रु के रहने की जगह को जानो, शत्रु की सामर्थ्य को जानो, शत्रु को बल देने वाले समर्थकों को जानो, इन सब चीजों को जानोगे, तब शत्रु को मार सकोगे। हम लोग शत्रु को ऊपर ऊपर से हटाना चाहते हैं और यह रोग बड़ी जड़ों वाला गहरा रोग है। जब तक इसे भली प्रकार से समझ करके नहीं हटाओगे, जब तक यह नहीं हटेगा। पहला रोग क्रोध को लिया। क्रोध एक ऐसी चीज है जो जिसमें होता है, उसको भी नष्ट करता है और जिसके प्रति होता है उसको भी नष्ट करता है। क्रोध की यह विशेषता है। जैसे किसी को जोर से थप्पड़ मारा तो कितनी जोर से उसको थप्पड़ लगेगा? जितनी जोर से तुम्हारे हाथ को लगेगा। यह विज्ञानसिद्ध बात बता रहे हैं। क्रोध में प्रतिक्रिया बिलकुल बराबर होती है कम बेशी नहीं होती। फरक इतना ही होता है कि गाल कुछ कोमल होता है इसलिये वहाँ चोट ज्यादा महसूस होती हैं। हाथ जरा कड़ा होता है, इसलिये चोट कम महसूस होती है। लेकिन जितनी जोर से थप्पड़ उसको लगता है, उतनी ही जोर की चोट तुम्हारे हाथ को लगती है। थप्पड़ की यह विशेषता है। थप्पड़ हो, घूँसा हो बराबर का जोर चलता है। क्रोध जितना ज्यादा उसको

जलायेगा जिसको क्रोध आया है, उतना ही ज्यादा उसको जलायेगा जिसके प्रति आया। बराबरी की चोट है। चिकित्सकों ने तो क्रोध के काल में लोगों के पेट इत्यादि का अध्ययन किया है और पाया है कि क्रोध के काल में पेट में अम्लाधिक्य हो जाता है। वही आगे चलकर पेट में अनेक रोगों को उत्पन्न करता है। जगह जगह लोग कहते हैं कि हमको अम्लपित्तता है। कलकत्ते में यह शिकायत बहुत है। इसके और जो भी कारण हों, एक बहुत बड़ा कारण यह है कि आपस में एक दूसरे के प्रति प्रेम का अभाव होने से लोगों में एक दूसरे के प्रति नित्य क्रोध की भावना है। अन्दर ही अन्दर दबाकर रखते हैं। क्रोध दूसरे का नुक्सान जितना करता है, उतना ही अपना करता है, इस बात को यदि कोई समझ ले तो क्रोध का स्वरूप समझ में आ जाये। क्रोध लाभ किसी का नहीं करता। न करने वाले का और न जिस पर क्रोध करते हो, उसका। तुम यदि क्रोध करके किसी को दबा लेते हो तो सोचते हो कि मैंने कुछ सफलता प्राप्त कर ली। ऐसा लगता है। लेकिन थोड़े ही काल के बाद देखोगे कि वह व्यक्ति तुम्हारे ऊपर पुनः कोई न कोई मार अवश्य करेगा। उस समय तो तुमने दबा लिया लेकिन काल पा करके वह दबा हुआ जब तुम्हारे पर मार करेगा तब तुम सोचोगे कि आज मैं मारा गया जबकि आज नहीं मारे गये, वह तो जिस दिन तुमने क्रोध किया था, उसी दिन तुम मारे गये थे। तुमने जहर की गोली खा ली थी। असर उसका आज हुआ। क्रोध का स्वरूप है स्वपरविनाशी, अपने को नुक्सान पहुँचाना और जिस पर गुस्सा करो, उसको नुक्सान पहुँचाना। दोनों को नुक्सान पहुँचाना ही क्रोध का स्वरूप हुआ। क्रोध का फल क्या है? अपने जीवन में नित्य अशान्ति। क्रोधकाल में तो अशान्ति है ही, क्रोध करके यदि दूसरे ने तुमको दबा दिया तो भी अशान्ति है ही। लेकिन यदि क्रोध करके तुमने दूसरे को दबाया तो भी अशांति है क्योंकि जानते हो कि यह फिर मार करेगा। इसलिये क्रोध जब कर रहे हो, तब अशांति। यदि क्रोध में सफल होकर दूसरे को दबा दिया तब अशांति और

यदि क्रोध करके उसको नहीं दबा पाये तो अशांति, अर्थात् भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में एक काल भी ऐसा नहीं जब क्रोध लाभ पहुँचाये। न अपने को, न दूसरों को। यदि अपने को नुक्सान पहुँचाकर दूसरे को फायदा पहुँचाता तो भी ठीक था, वह भी नहीं।

क्रोध का बीज क्या है? दूसरे के ऊपर अपना शासन करने की इच्छा। तुम चाहते हो कि दूसरा व्यक्ति तुम्हारे मन के अनुरूप हो और जब जब वह तुम्हारे मन के अनुरूप नहीं होता है तब तब क्रोध आता है। यह क्रोध का कारण है। जितना जितना तुम दूसरे की इज्जत करना सीखते हो, दूसरे की स्वतंत्रता का आदर करना सीखते हो, दूसरे के ऊपर अपना नियन्त्रण नहीं करना चाहते, उतना ही उतना क्रोध घटता चला जाता है। दूसरे के ऊपर शासन की इच्छा ही क्रोध का बीज है। दूसरे के ऊपर शासन की इच्छा तब हटती है जब मनुष्य विचार करता है कि मैं नहीं चाहता कि मेरे ऊपर कोई शासन करे। छोटे से छोटा बच्चा गोद में खेल रहा होता है, वह भी नहीं चाहता कि मैं दूसरे के द्वारा शासित होऊँ। उसके मन में भी नहीं है! इसलिये वह अपना हाथ छाती से हटाये और तुम उसके हाथ को फिर छाती पर रखो तो देखोगे कि वह पहले से ज्यादा तेजी से अपना हाथ वहाँ ले जायेगा क्योंकि उसको यह पसन्द और प्रिय नहीं लग रहा है कि तुम उसके हाथ को न जाने दो। चार महीने के बच्चे में भी दूसरे के द्वारा शासित होने की इच्छा नहीं। दूसरी तरफ तुमने उसको नीचे लिटाया और उसकी इच्छा है कि तुम्हारी गोद में रहे तो चाहे बढ़िया से बढ़िया नरम बिछौना लगा दो, तकिया लगा दो, सब कुछ कर दो लेकिन नीचे लिटाते ही रोयेगा, कोई मतलब नहीं रोने का, कोई खटमल भी नहीं, कुछ नहीं, उठाकर गोद में रखो तो चुप। थोड़ी देर बाद फिर नीचे रखो, फिर रोना शुरू। उसके पास क्रोध का इतना ही औजार है। वह इतना नहीं चाहता कि तुम उसके हाथ को नीचे रख लो या नीचे लिटा दो। लेकिन

अगर तुम उसको गोद में लेकर खड़े नहीं होगे, उसके अनुसार नहीं चलोगे तो उसको क्रोध है। क्रोध का बीज है दूसरे के ऊपर शासन करने की इच्छा। इसकी निवृत्ति का उपाय है कि जैसे मैं नहीं चाहता कि मेरे ऊपर कोई शासन करे वैसे ही मैं भी दूसरे पर शासन करने की अपनी इच्छा को छोड़ दूंगा, यही उसकी दवाई है। क्रोध बढ़ता है इच्छाओं के बढ़ने पर। जितनी जितनी कामनायें मनुष्य में ज्यादा होंगी, उतना उतना क्रोध बढ़ेगा। भगवान् ने गीता में कहा 'कामात्क्रोधोभिजायते' कामना के द्वारा क्रोध उत्पन्न होता है। जितना जितना विषयों का चिंतन करोगे, विषयों के बारे में सोचोगे उतनी उतनी कामनायें उत्पन्न होंगी क्योंकि भगवान् ने कहा 'संगात्संजायते कामः' और जितनी जितनी कामनायें बढ़ेंगी उतना उतना कामना से क्रोध बढ़ता जायेगा, उत्पन्न होता जायेगा, यह नियम है। इसलिये इच्छा की निवृत्ति ही आवश्यक है। कहोगे कि इच्छा तो शुरू में निकलती नहीं, इसे कैसे किया जाये ? तब तक इच्छा नहीं निकलती जब तक उसका साधन है। इच्छा को परमेश्वर के प्रति लगा दो।

महर्षि उपमन्यु जिन्होंने भगवान् श्रीकृष्ण को भी पंचाक्षरी मंत्र का उपदेश दिया था, व्याघ्रपाद महर्षि के पुत्र थे। केदार के पास अभी भी उपमन्यु आश्रम बना हुआ है जहाँ से शोण नदी निकली है। आगे चलकर वही शोणभद्रा हो जाती है। केदारनाथ से करीब ४-५ मील ऊपर जाने से उपमन्यु का आश्रम आता है। व्याघ्रपाद ऋषि तपस्वी, निरंतर परमेश्वर के ध्यान में रहने वाले और केवल उंछवृत्ति से अपना निर्वाह करते थे। जब खेत के अन्दर अनाज को तैयार करने के लिये बैलों से चारों तरफ उसको कुटवाया जाता है और उसके बाद झाड़कर के अनाज को लेकर के किसान चला जाता है, अपने सारे अनाज को वह ले जाता है, तो कुछ दाने पड़े रह जाते हैं, स्वाभाविक है। सीमेण्ट का बोरा इधर से उधर डालो तो जो सीमेण्ट का गोदाम है, उसमें से दो-तीन बोरे सीमेण्ट ऐसे ही निकल आता है, बोरों को

इधर से उधर डालने में जो सीमेण्ट झरता है, उसी से निकल आते हैं। उस अनाज को ही चुनकर जो अपना निर्वाह करे, उसे उंछ-वृत्ति कहते हैं क्योंकि उस अनाज पर किसी मनुष्य की कोई इच्छा नहीं होती। हमारे यहाँ क्यों इस प्रकार की बातों का प्रतिपादन किया गया ? कई बार लोग कहते हैं कि इससे तो लोगों की वृत्ति खराब हो जाती है, वे समझते नहीं है। उंछवृत्ति से रहने वाला एक भी मनुष्य होगा तो वह हमारे हृदय में दो भावों को उत्पन्न करेगा, चाहे एक करोड़ में एक हो। एक, निर्भयता कि अगर उंछ-वृत्ति से भी गुजारा हो सकता है तो क्यों हम बेइमानी और शास्त्र के विरुद्ध कर्मों के द्वारा अपना पोषण करें, यह निर्भयता मन में आती है। आज इस प्रकार के आदर्श न रहने से ही हरेक की शंका है कि काम कैसे चलेगा। हम यह नहीं चाहते कि हम बेइमानी करें लेकिन महाराज ! चलेगा कैसे ? एक उंछवृत्ति वाला सामने बैठा हो तो चलेगा कैसे यह कहने की किसी की हिम्मत नहीं पड़ेगी। दूसरे, जो यह माना जाता है कि जितने पदार्थ हमारे पास ज्यादा होंगे, उतना सुख होगा, वह घमण्ड दूर हो जाता है क्योंकि देखने में आता है कि इसके पास कुछ नहीं और देखो कैसा प्रसन्न है। समाज में ऐसे आदर्शों की आवश्यकता रहती हैं। सब लोग ऐसा करेंगे, यह मत समझ लेना। सतयुग में भी नहीं करते हैं। कई बार प्रश्न होता है कि सब ऐसा करेंगे तो क्या होगा ? कोई नहीं करने वाला है लेकिन एक व्यक्ति भी रहेगा तो दूसरों में साहस बना रहेगा। उपमन्यु के पिता व्याघ्रपाद उंछवृत्ति से निर्वाह करते थे। एक बार उनका पुत्र उपमन्यु मामा के घर चला गया। मामा कुछ धनी था। ब्राह्मण का धन, दो चार गायें उनके पास थीं। यही ब्राह्मण का धन है। वहाँ मामा ने उसे दूध पिलाया। उसे बड़ा स्वादिष्ट लगा। दूध बड़ी अच्छी चीज है जैसे आजकल के लोगों को चाय और कोको अच्छा लगता है या नया एक चला है कोका कोला काला काला, वह अच्छा लगता है। सम्भवतः यह देखकर उन्हें भगवान् कृष्ण की याद आती होगी। उनको कृष्ण की याद आती

है कि नहीं, यह वही जानें। अपने को दूध को देखकर भगवान् शंकर याद आते हैं। उपमन्यु को दूध बड़ा अच्छा लगा। जब वापस घर आया तो माँ से कहा कि मैं दूध पीऊँगा। माँ ने कहा—जाने दो, दूध अच्छी चीज नहीं है। अच्छी चीज घर में हो तो भले अच्छी हो। लेकिन वह बच्चा था कहने लगा कि मुझे जरूर पीना है।

बार बार रोने लगा तो माँ ने विचार किया कि क्या करूँ? घर में उंछवृत्ति का गेहूँ आया हुआ था, उसका पीसा हुआ आटा था, उसे पानी में घोलकर दे दिया और कहा पी ले। उसने जो मुँह लगाकर पिया तो थू थू करके कहता है यह दूध नहीं है। माँ बेचारी ब्राह्मणी, ऋषि पत्नी झूठ बोलना थोड़े ही जानती थी, कहा—बात तो ठीक है। मैंने पानी में आटा मिला दिया था। अगर तुमको दूध चाहिये तो हम दरिद्र लोग दूध कहाँ से लायेंगे। जब तक शिव किसी पर प्रसन्न नहीं होते तब तक राज्य, स्वर्ग, मोक्ष और दूध से बने हुए पदार्थ खाने को नहीं मिलते। आजकल जगह जगह यही देखते हैं। दूध के बने हुए पदार्थ लोगों को प्रिय नहीं हैं। दूसरी दूसरी चीजें प्रिय लगती हैं। घी में लोगों को अब बदबू आती है। वेजीटेबल घी अच्छा लगता है। ये सब चीजें अच्छी नहीं होतीं। ये प्रिय पदार्थ उन्हें नहीं मिलते जिन पर शिव की कृपा नहीं होती। हे पुत्र! पूर्व जन्म में भगवान् शिव को उद्देश्य करके किसी दूसरे प्राणी को जिस चीज का दान किया होगा, अगले जन्म में वही चीज मिलेगी और यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। किसी के पास धन तो बहुत है लेकिन हजम कुछ नहीं होता। उसने परमेश्वर के निमित्त से धन का दान किया होगा, अन्न का दान नहीं किया होगा। परमेश्वर के उद्देश्य से जो पूर्व जन्म में दिया होगा, वही फिर इस जन्म में प्राप्त होगा। इसलिये यदि तुम्हें दूध की इच्छा है तो भगवान् शंकर का भजन कर, वही तुमको दे सकते हैं। बाकी तो अपने कहाँ से देंगे। माँ ने उपमन्यु को 'नमः शिवाय' मंत्र भी बता दिया। वह वहाँ से चला गया और हिमालय में तप करने लगा। 'हिमालये तपस्तेपे'

पार्थिव अर्थात् मिट्टी की मूर्ति बनाकर भगवान् शंकर का पूजन करते हुए ॐ नमः शिवाय का जप करते हुए तपस्या करने लगा। मुनिपिशाच जो शाप प्राप्त थे, उन्होंने कुछ विघ्न करने का प्रयत्न किया कि यह किसी तरह पूजन छोड़ दे लेकिन उसने सब विघ्न सह लिये लेकिन पूजन नहीं छोड़ा। वह केवल यही जानता था और कुछ नहीं जानता था। वे जब विघ्न करें तो वह आर्त्त भाव से ॐ नमः शिवाय ॐ नमः शिवाय करके क्रन्दन करे। तपस्या करते करते जब उसकी तपस्या तीव्र हो गई तो तपस्या की तेजी से देव लोक में भी ताप पहुँचने लगता है। भगवान् विष्णु ने जाकर भगवान् शंकर से कहा महाराज! 'क्षीरार्थम्' एक दूध के पीछे इसके तप से हम सब पर आपत्ति आ रही है। इसे दूध देकर निपटारा करो। झगड़ा तो दूध का ही है। भगवान् शंकर ने कहा—हाँ भई, दे दूँगा। उनके हृदय में यह था कि यह बच्चा है, समझता नहीं है लेकिन इस पर ऐसी कृपा की जाये, इसको ऐसा दूध दिया जाये कि फिर इसका कभी जन्म मरण का चक्र न रह जाये, नहीं तो दूध देने में क्या देरी लगती है। भगवान् शंकर ने विचार किया कि अब चलना चाहिये। इन्द्र का रूप लेकर उपमन्यु के पास आये। उसने बड़ा स्वागत किया कि हमारी कुटिया का बड़ा सौभाग्य है कि आप देवराज पधारे। इन्द्र रूपधारी शिव ने कहा—अरे, कुछ वर माँग ले। उपमन्यु ने कहा—'वरयामि शिवे भक्तिः' भगवान् शंकर पर मेरी भक्ति हो, बस यही वर दो। इन्द्र ने कहा कि यह क्या माँग रहा है। मैं सब देवताओं का राजा देवाधिपति हूँ। मेरी पूजा कर, मैं कह रहा हूँ कि वर माँग ले तो मेरे से जो माँगना हो सो माँग ले। शिव में भक्ति, यह तू क्या माँग रहा है। 'रुद्रः ते किं करिष्यति' अरे, भगवान् शंकर प्रसन्न भी हो गये तो वह तो निर्गुण हैं, तुमको क्या देंगे, उनसे तेरा क्या काम बनेगा। यह सुनकर उसने कहा—देवराज इन्द्र! लगता है तू कोई असुर है जो सर्वथा भगवान् शंकर के स्वरूप को नहीं समझता क्योंकि सारे शास्त्रों ने बताया 'नास्ति शंभोः परं

तत्वं' सारे कारणों का भी जो कारण परब्रह्म परमात्मा निर्गुण से अतिरिक्त और कुछ नहीं है। उससे परे और कोई तत्त्व नहीं हैं। तुमने जो उनकी निंदा की तो अब मैं अपनी दूध की इच्छा भी छोड़ देता हूँ क्योंकि शास्त्र ने आज्ञा की है 'श्रुत्वा निंदां त्यजेद्देहं शिवलोकं स गच्छति' शास्त्र कहता है कि परमेश्वर की निंदा को सुनकर मनुष्य अपने शरीर को छोड़ दे और निंदा करने वाले को समाप्त कर दे। इसलिये मैं तुम्हारे ऊपर भी शिवास्त्र छोड़ता हूँ और स्वयं भी आग में जल जाता हूँ क्योंकि परमेश्वर का निंदक और परमेश्वर की निंदा सुनने वाला दोनों ही जीवित रहें, यह शास्त्र को मंजूर नहीं। ऐसा कहते ही उसने शिवास्त्र का अनुसंधान किया। नन्दी ने झट से उस अस्त्र को बीच में पकड़ लिया और भगवान् शंकर ने अपना रूप प्रकट कर दिया। भगवान् शंकर ने उसे क्षीर सागर दे दिया और कहा कि तुम्हें पुत्रवत् मानता हूँ। इसलिये तुम्हारे ही पास आकर रहूँगा। उपमन्यु आश्रम के पास ही इसलिये भगवान् शंकर केदार में रहते हैं। केदार भी एक ज्योतिर्लिंग है।

विचार करो कि पुराण की यह कथा क्या बता रही है। इसका नाम ही उपमन्यु रखा है। मन्यु शब्द प्रथम मंत्र में बता आये हैं 'नमस्ते रुद्र मन्यवे' मन्यु क्रोध को कहता है। उपमन्यु अर्थात् क्रोध के समीप। उपमन्यु के हृदय में इच्छा कहाँ से आई? मामा के घर दूध पीकर। मामा का अर्थ भी पहले बता आये हैं। यह संसार माया का घर है, जीव की ननसाल है। काम, क्रोध, लोभ, मोह इत्यादि सब अविद्या के भाई हैं, इसके मामा हैं। क्रोध के समीप वाला उपमन्यु इस संसार में रसास्वाद कर लेता है और इसलिये यहां के रसों को चाहने लगता है। जब यहाँ के रसों को चाहने लगता है तो मिलना क्या है? जिसको यह सुख समझता है, तब उसको खाकर, पीकर देखता है तो फीका लगता है। शादी करने के पहले न जाने कितनी कल्पनायें मन में पति या पत्नी के विषय में होती हैं। जब शादी हो जाती है तो पता

लगता है कि यह कोई ऐसी जबरदस्त चीज नहीं, जैसा सोचते थे। फिर आशा लगाये रखते हैं कि पुत्र पैदा होने का सुख कैसा होता होगा। जब पुत्र पैदा हुआ तो लगता है कि आटे के पानी का स्वाद है, कोई रस नहीं आया। इसी प्रकार चलता रहता है। दूध समझकर गिलास उठाते हैं, मुख में डालते हैं, स्वादहीन समझकर दूसरा गिलास उठाते हैं, उसमें भी कोई स्वाद नहीं आता, इसी प्रकार सारा जीवन निकलता रहता है। अनन्त जीवन निकलते रहते हैं। किसी काल में माता की बात सुनता है कि दूध का स्वाद इस चीज में नहीं है। यह तो परमेश्वर के द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। जब तक उस निर्गुण परब्रह्म परमात्म तत्व का ज्ञान नहीं होगा, जब तक ज्ञानरत्न को चुराने वाले शत्रु को बचाकर हृदय के अन्दर रखोगे, तब तक आनन्द रूपी ब्रह्म का दर्शन नहीं होगा और तब तक काम नहीं बनेगा। जब'यह तपस्या में लग जाता है तो तपस्या में इन्द्र रूपी सगुण ब्रह्म, एक मूर्ति रूप परमेश्वर इसको कुछ लाभ देते हैं। उसमें कुछ आनन्द आता है, चाहे वह सविकल्प समाधि के अन्दर विष्णु आदि विग्रहों का आनन्द हो, अथवा निर्विकल्प समाधि के अन्दर आत्मा का आनन्द हो। इस आनन्द को लेकर बहुत से लोग अटक जाते हैं लेकिन सच्चा साधक वहाँ भी नहीं अटकता। 'ना स्वादयेद्वरसं तत्र निःसंगः' शास्त्र कहता है कि वहाँ के रसास्वाद में अटक मत जाना। जब वहाँ नहीं अटकता तब फिर परब्रह्म परमात्म तत्त्व प्रकट होता है। कब ? जब वह यहाँ तक निश्चय कर लेता है कि मैं अपनी देह के अध्यास को भी जला दूँगा अर्थात् देहाध्यास को जब छोड़ देता है तभी उस निर्गुण परब्रह्म परमात्म तत्त्व को प्राप्त होता है और आनन्द रूप दूध का समुद्र इसे मिल जाता है। जब तक इस प्रकार से मनुष्य नहीं चलता तब तक कल्याण का भागी नहीं बनता। यहाँ जो कह रहे हैं 'क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात्' इस प्रकार क्रोध के स्वरूप को समझकर कि क्रोध का कारण कामना है। कामना वस्तुतः हमको आनन्द की है, पदार्थों की नहीं। दूध तो आनन्द है पदार्थ नहीं। पदार्थ तो आटा घुला

हुआ है। पदार्थ असली चीज नहीं है। जब हम इस चीज की तरफ से दृष्टि हटाकर अपने अन्दर वाले आनन्द को पकड़ने लगते हैं तब उसका फल होता है कि किसी पर शासन करने की इच्छा नहीं रह जाती। तभी अन्दर रहने वाले आनन्द के कारण मनुष्य के क्रोध का बीज मिटता है। अन्य दोषों की निवृत्ति पर आगे विचार करेंगे।

९-३-७५

इसमें परमेश्वर के नाम और रूप के विचार के बाद जो यातुधान्य हैं, जो परमेश्वर के ज्ञान के मार्ग में सबसे बड़े प्रतिबंधक हैं, ज्ञानरत्न का अपहरण करने वाले हैं, उनकी निवृत्ति की प्रार्थना है 'यातुधान्यः परासुव' ये यातुधान्य हमसे दूर चले जायें। यातुधान्यों का विचार करते हुए महाभारत के आधार पर सबसे पहले क्रोध का विचार किया। अब क्रोध का जो बीज काम है, उस पर विचार करेंगे। कल बताया था 'क्षमया क्रोधमुच्छिन्द्यात् कामं संकल्पवर्जनात्' क्रोध का बीज काम है। विषय प्राप्ति की जो आकांक्षा है, यह विषय मुझे प्राप्त हो ऐसी जो एक आंतरिक इच्छा विशेष है, उसको काम कहते हैं। विपरीत रूप से जिस कामना के न मिटने पर हृदय में जलन होना रूपी क्रोध उत्पन्न होता है, वही यह कामना है। विषयप्राप्ति की आकांक्षा अर्थात् यह विषय प्राप्त होने पर मैं अपने को सुखी मानूँगा और न मिलने पर दुःखी मानूँगा, यह इसका स्वरूप है। विषयप्राप्ति सामान्यतः और विशेषरूप से दो प्रकार की होती है। एक तो सामान्य रूप से मुझे कुछ खाना है, यह सामान्य इच्छा है। इसको काम शब्द से नहीं कहा गया। लेकिन मुझे समोसा ही खाना है, यह काम है। इसीलिये इसके लक्षण में स्पष्ट कहा 'विशेषयप्राप्तेराकांक्षा कामः' किसी विशिष्ट विषय की प्राप्ति की जो कामना या आकांक्षा या अभिलाषा है, जिसके मिलने पर मैं अपने को सुखी मानूँगा, जिसके

न मिलने पर मैं अपने को दुःखी मानूंगा, यह जो विषय विशेष की आकांक्षा है उसको ही कामना शब्द से कहा गया। इस कामना की प्राप्ति दो प्रकार से सम्भव है। धर्म के द्वारा या किसी भी प्रकार से लौकिक कारणों को एकत्रित करके। वे कारण अधर्ममूलक हों, क्रूर हों अथवा अत्याचाररूप हों, किसी भी प्रकार से जो पदार्थ की प्राप्ति की अभिलाषा है। इस भेद से यह काम भी दो प्रकार का है। पहले अभिलाषाओं के दो प्रकार बताये—सामान्य अभिलाषा और विषय विशेष की अभिलाषा। विषय विशेष की अभिलाषा के फिर दो भेद बता रहे हैं। एक, उचित मार्ग से उसको प्राप्त करने की अभिलाषा और दूसरी, उचित अनुचित सब विचारों को छोड़कर मुझे प्राप्त करना ही है, यह अभिलाषा। इसमें जो अभिलाषा केवल उचित मार्ग से प्राप्त करने की है, वह मनुष्य को सामान्य रूप से जन्म मरण के चक्र में रखने पर भी निम्नयोनियों को नहीं ले जाती, नरक आदि की प्राप्ति नहीं कराती। भगवान् ने इसीलिये कहा 'धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोस्मि भरतर्षभ' ।।७-११।। प्राणियों में धर्म से अविरुद्ध जो काम है, वह मेरा स्वरूप समझो। उचित मार्ग से पदार्थ की प्राप्ति की कामना, कामना होने से, जन्म मरण के चक्र से तो नहीं छुड़ायेगी, उसमें तो बनाये रखेगी परन्तु उत्तम योनियों में ले जायेगी। देवता आदि योनियों की प्राप्ति करायेगी, नरक आदि की तरफ नहीं ले जायेगी। जो सामान्य अभिलाषा है, विषय विशेष की इच्छा नहीं है, वह प्रारब्ध भोग के लिये स्वाभाविक होने से मोक्ष की विरोधिनी भी नहीं बनेगी। खाना पीना, ओढ़ना, बिछाना जैसा प्रारब्ध का भोग होगा तदनुकूल मिल जायेगा। जो मिला है वही प्रारब्ध का भोग है, इस निश्चय वाले को वह कामना जन्म मरण के बंधन में नहीं रखती। तीन प्रकार हुए—सामान्य इच्छा जो मोक्ष की विरोधी भी नहीं है, धर्म से अविरुद्ध इच्छा जो मोक्ष की विरोधी तो है लेकिन स्वर्ग आदि की विरोधी नहीं और किसी भी प्रकार से पदार्थ प्राप्ति की तीव्र अभिलाषा जो मनुष्य को नरक आदि

योनियों की प्राप्ति कराती है। क्योंकि जैसे भगवान् ने धर्म अविरुद्ध काम को अपना स्वरूप बताया, वैसे ही भगवान ने आगे इस कामना को साक्षात् नरक का द्वार बताया 'त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मन:। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्' ॥१७-२१॥ साक्षात् नरक का द्वार कौनसी कामना है? जिसमें उचित अनुचित का कोई विचार नहीं। परमेश्वर की विभूतिरूप कामना कौनसी है? जो धर्म से अविरुद्ध है। और सामान्य अभिलाषा केवल प्रारब्धनिर्वाह मात्र के लिये हैं। उसको भी भगवान् ने बताया 'शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीर विमोक्षणात् कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः' ॥५-२३॥ शरीर के छूटने के पहले जो शरीर का निर्वाह करने वाले काम आदि वेग हैं उनको जो सहन कर जाता है, प्रारब्ध भोग मानकर के जो उनके प्रति अपने को चंचल नहीं बनाता। हाय यह दुःख कहां से आगया, हाय यह दुःख कब जायेगा अथवा मैं धन्य हो गया कि मुझे इस सुख की प्राप्ति हो गई, इस प्रकार चंचल नहीं होता। नियम है कि 'हृष्टो दृप्यति दृप्तः धर्ममतिक्रामति' जब हृदय में अत्यंत हर्ष होता है तो मनुष्यों में दर्प आता है कि मेरे जैसा कोई नहीं और जहाँ दर्प आया वहाँ मनुष्य तुरंत धर्म मार्ग को छोड़ देता है। इस प्रकार तीनों स्थलों पर भगवान् ने काम का प्रतिपादन तीनों प्रकार से किया।

उचित अनुचित किसी भी प्रकार से पदार्थ प्राप्ति की कामना मनुष्य को आजकल बहुत प्रवृत्त करती है। रास्ते में जा रहे हैं, बढ़िया आलू की टिकिया दीख गई, दहीबड़ा दीख गया तो यह भी नहीं देखता कि किस नाले के ऊपर छाबड़ा रखा हुआ है। वहीं नीचे नाली है और वहीं छावड़ा रखा हुआ है। और लोग खा रहे हैं। एक बार पहाड़ की यात्रा में जा रहे थे। एक स्थान पर जब पहुँचे तो लोग खट खट उतरे और वहाँ पर कुछ आलू वगैरा थे, वे सब लेकर खाने लगे। किसी ने हमसे कहा कि आप भी कुछ खा लो। हमने कहा—नहीं भई,

हमको नहीं खाना है। जब लोग बहुत पीछे पड़े तब हमने कहा कि क्या बतायें, वहुत कुछ आत्मचिंतन करने पर भी मैं अपने को कौआ नहीं मान पाया। कहने लगे—क्या मतलब ? हमने कहा—शास्त्रीय विचार सारा छोड़ो कि कौन है क्या है, किसका स्पर्श है, लेकिन यहाँ वस आने के साथ ही जो धूल उड़ी वह इस खुली दुकान के आलू और दही वड़ों में सव में जा कर पड़ी। अपने देखते देखते ही यह सव हुआ और आप सब लोग धूल पड़ी चीज को खाने पहुँच गये तो जैसे किसी कौए को कहीं कोई चीज खाने की दीखती है तो वह खट उस पर कूदता है, ऐसे ही आप लोग खटाखट लेकर खाने लगे। और यह धूल तो सामने ही दीख रही थी। अपनी गाड़ी दिन के दो बजे यहाँ आई है और सवेरे छ: बजे से लेकर अब तक न जाने कितनी वसें इस रास्ते से निकली होंगी, वह सारी धूल इसी पर जमी है। इसलिए मैं अपने को कौआ नहीं मान पाया जो इसे खा लूं, और कोई बात नहीं है। क्या कारण है, क्या चीज उन्हें यह खिलाती है ? वही विषय की तीव्र अभिलाषा जो उस समय में किसी अन्य विचार को करने ही नहीं देती। यही मनुष्य का विपरीत से विपरीत कार्यों में प्रवृत्त करा देती है। जितने अनिष्ट कार्य हैं, सब इससे होते हैं। आज के जीवन में तो बहुत से लोग मानते ही यह हैं कि सवेरे घण्टा भर हमने धर्म का काम कर लिया, परमेश्वर का पूजन, सत्संग कर लिया तो हो गया, फिर अव दिन भर भगवान् का ही काम करें क्या ? आखिर कलि-युग में कलि देवता की पूजा भी तो करनी चाहिये, दिन भर भगवान् का क्या पूजन करना है। इसीलिये सब तरह के अनुचित कार्यों का सहारा लेने में किसी को एक क्षण संकोच नहीं होता। इसको रोकेंगे किससे ? काम को निवृत्त करने वाले दो आचार सबसे बड़े हैं—संतोष और परमेश्वर के कर्मफलदातृत्व में विश्वास। पहली चीज संतोष है। तोष और संतोष दो शब्द हैं, दोनों में थोड़ा फरक है। तोष से मतलब होता है पदार्थ की प्राप्ति होने पर जो हृदय में एक सुख का अनुभव होता है। हमें रसगुल्ले की इच्छा है। रस-

गुल्ला हमको मिला, उसमें जो सुख होता है, उसको तोष कहते हैं। हमको जो चीज मिली, उसी में प्रसन्नता का बोध होने को संतोष कहते हैं। दोनों में फरक समझ लेना चाहिये। इच्छानुकूल चीज मिलने पर जो आनंद का भान होता है, वह तोष, और जो चीज मिल गई उसी में आनंद की दृष्टि करना, यह संतोष है। इसलिये उसको जो चीज प्राप्त होगी वह उसको सुख ही देगी। जिस प्रकार अगर हमें अपनी पत्नी से प्रेम है (यदि होगा तो समझोगे नहीं तो नहीं समझोगे) तो वह जो भोजन बनायेगी वह अच्छा लगेगा। उसने जो भोजन बनाया, उसमें ही हमको संतोष की बुद्धि होगी कि कितना अच्छा बना है। जिसमें तोष होगा, उसके मन के लायक भोजन जब पत्नी बनायेगी, तब उसे सुख होगा, नहीं तो नहीं। पदार्थानुकूल आनंदाकार वृत्ति संतोष है, और इच्छानुकूल आनंदाकार वृत्ति तोष है। संतोष और तोष का शास्त्रकारों ने लक्षण से भेद किया है। हम लोगों को जब पदार्थ की प्राप्ति होती है तब हमको तोष के कारण सुख होता है, उसमें संतोष नहीं है। भगवान् ने इसीलिये कहा है 'संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढ़ निश्चयः। संतोष कभी आता और कभी जाता नहीं है। एक बार संतोष आ गया तो मनुष्य के अन्दर वह निरंतर रहता है। इसके लिये अभ्यास करना पड़ता हैं। अभी हमारे मन में इच्छा उत्पन्न होती है और तदनुकूल हम उस पदार्थ की प्राप्ति के लिये कार्य करते हैं। यही बचपन से हम लोगों को सिखाया गया है। आधुनिक युग में पाश्चात्य संस्कृति के प्रभाव से तो इसको ठीक ही माना गया है। किसी में इच्छा नहीं होगी तो काम करेगा क्यों, इसलिये इच्छा को पैदा करो, इच्छा को बढ़ाओ। कई बार हम समाचारपत्रों में विज्ञापन देखते हैं, विचित्र विज्ञापन होता है। आप लोगों ने भी देखा होगा। लम्बा चौड़ा विज्ञापन होगा कि हार्लिक्स बड़ी फायदे की चीज है, बड़ी ताकत की चीज है, थके आदमी के काम की चीज है, बच्चों के लायक और बुड्ढों के लायक चीज है, दिमागी काम करने वालों के लायक चीज है। इस प्रकार

का बड़ा भारी विज्ञापन होता है। इसके बाद सबसे नीचे छोटी सी पंक्ति होगी जिसमें लिखा होगा कि वर्तमान में हार्लिक्स उपलब्ध नहीं है, इसलिये क्षमा करें। उनसे कहो—भले आदमी इतनी तारीफ करके हमारे हृदय में कशमकश पैदा कर रहे हो और ऊपर से अंगूठा दिखा रहे हो कि मिलनी नहीं है। वे कहते हैं कि इससे लोगों में इच्छा उत्पन्न हो जायेगी, बनी रहेगी तो माल बाजार में आते ही खट उठ जायेगा। इस बीच लोगों की तड़प से उन्हें कोई मतलब नहीं। तुम्हारे तड़पने से उनका काम तो बन गया।

इससे विपरीत भारतीय संस्कृति, आर्य संस्कृति का कहना है कि किसी भी काम में प्रवृत्ति कर्त्तव्य बोध से करनी चाहिये, फल-बोध से नहीं। कर्त्तव्य करने के बाद जो फल मिले उस फल में ही अपनी इच्छाकारा वृत्ति बनाकर संतोष का सुख लेना चाहिये। यह साधना है। सामान्य नियम हुआ जानाति इच्छति यतते किसी चीज को जानते हैं, उसकी इच्छा होती है फिर उसके लिये प्रयत्न करते हैं और पाते हैं। आर्य संस्कृति का कहना है, वैदिक ग्रन्थों का कहना है, कि ये कर्म तो पशु भी करते हैं। सामने दूध बिल्ली को दिखाई दिया जानाति, दूध को जान लिया कि यहाँ रखा है। इच्छति—उसमें इच्छा उत्पन्न हो गई कि यह दूध पीना है। अब यह नहीं देखना है कि यह दूध भगवान् के भोग के लिये गरम करके रखा है। जानाति इच्छति और तुरंत यतते मारा मुंह और जितना पी पाई पी लिया, बाद में डण्डा पड़ा तो म्याऊं म्याऊं करके भाग गई। जितना पीना था वह तो पी लिया। फिर दरवाजे पर जाकर जीभ को पलटेगी और धीरे से पीछे देखेगी कि और मौका है या नहीं। जानाति इच्छति यतते ये तीनों जैसे पशुओं में ऐसे मनुष्य में। भारतीय संस्कृति ने इसलिये कहा कि इससे विपरीत कर्म करो। जानाति पहले इस बात को जानो कि यह चीज करने योग्य है या अयोग्य, कर्त्तव्य और अकर्त्तव्य का विवेक करो। कर्त्तव्य को ही हमारे शास्त्रों में धर्म कहा है। मज़हब और धर्म में बहुत फरक है।

मजहब के लिये संस्कृत शब्द सम्प्रदाय है। धर्म कर्त्तव्य को कहते हैं। धर्म और अधर्म का विवेक करो, पहले यह ज्ञान प्राप्त करो कि क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य है। क्या मेरा धर्म है, क्या मेरे लिये अधर्म है। जब यह बात जान लो कि मेरा कर्त्तव्य क्या है, धर्म क्या है तब जानाति यतते जानकर कर्म करना शुरू कर दो। इच्छा मत करो। जब कर्म का फल मिलेगा तो जो फल मिला है उसी में अपनी इच्छाशक्ति का प्रयोग करो। इस आर्य संस्कृति का मोटा दृष्टांत हैं भारतीय संस्कृति की विवाह प्रथा और पाश्चात्य संस्कृति की विवाह प्रथा। भारतीय संस्कृति में तुम युवा हुए, तुम्हारा विवाह कर दिया गया। अब वह तुम्हारी स्वदारा या स्वपत्नी हो गई। विवाह का कर्म हो गया। अब जो तुमको मिल गया या मिल गई, वही तुम्हारा पति या तुम्हारी पत्नी हो गई। तुम्हारा कर्त्तव्य है कि उसी को अपना पति या पत्नी समझो। किसी अन्य स्त्री की तरफ या पुरुष की तरफ कामनाभरी दृष्टि भी मत ले जाओ। विवाहरूपी कर्म पहले और इच्छा बाद में, या प्रेम बाद में। स्वदारपरिसन्तुष्टिः यह हुई हमारी भारतीय संस्कृति। पाश्चात्य संस्कृति में युवा हुए ज्ञान हुआ कि विवाह क्या है। अब उसके बाद भिन्न भिन्न लड़के और लड़कियों की तरफ देखकर अपनी इच्छा को जाग्रत करो। नाम भी उन्होंने बड़ा बढ़िया रखा है 'अदालती कार्रवाई'। अंग्रेजी में उसे कहते हैं 'कोर्टशिप'। जंचाई करो कि कौनसा माल बढ़िया है। लड़की और लड़का दोनों जंचाई करते हैं। फिर जब तुमको इच्छा हो गई और इच्छानुकूल मिल गया तब उसे पति या पत्नी बनाओ। हमारा हुआ ज्ञान से धर्म और धर्म से सुख क्योंकि सबको सुख की इच्छा है। उनका हुआ ज्ञान से इच्छा और इच्छा से कर्म। उनके यहाँ पशु और मानव में भेद नहीं, हमारे यहाँ भेद है। एक बार किसी विदेशी ने पूछा कि जब आप अपनी पत्नी को जानते ही नहीं तो आप उससे प्रेम कैसे कर लेंगे। उनको बड़ा आश्चर्य होता है जो इस देश में नहीं आये हुए होते हैं। उनसे हमने कहा कि एक बात बताओ कि जब तुम्हारे

लड़का या लड़की होने वाला होता है तो उसका फोटो, हुलिया, बुद्धि इत्यादि तो तुम्हारे श्री गाड जी पहले भेज देते होंगे और फिर जब तुम पास करते होगे कि लड़के का यह माडल हमें पसंद है, वही मंगाते हो। पहले देखा नहीं और लड़का पैदा हो गया और तुम्हें पसन्द नहीं आया तो ? जवाब देने लगे कि आप कैसी बात करते हैं, वह तो अपना बेटा है न, इसलिये प्रिय होता है। तब हमने उनको जवाब दिया कि इसी प्रकार हमारे यहाँ अपना पति और अपनी पत्नी होती है, इसलिये प्रेम होता है। पुत्र और पुत्री में अपनापन ही तो प्रेम का कारण हुआ। जब माता अपनी, इसलिये प्यारी, पिता अपना इसलिये प्यारा, भाई अपना इसलिये प्यारा, फिर एक बेचारी पत्नी ही गई बीती है कि वह प्रिय नहीं होगी। प्रियता का कारण तो अपनापन है। कामना विजय करने का तरीका संतोष है। जो पदार्थ मुझे प्राप्त हुआ है, वही मेरे आनंद का कारण है। जैसे विवाह आदि में वैसे ही अपने यहाँ नियम है कि 'अन्नं न निंद्यात् तद्व्रतं' जो भी भोजन अपने सामने आये, उसकी कभी भी निंदा न करे, यह एक व्रत है। यह नहीं कि भोजन करने बैठे और उसकी निंदा करने लगे कि यह चीज खराब है, किसी काम की नहीं, यह साग क्या खाने लायक है, कैसी दाल बनाई है, चावल तक तो बीना नहीं है। भोजन के समय ऐसा कहना अन्न की निंदा है। जो भी अन्न सामने आया है उसको पूर्ण प्रेम के साथ खाना है क्योंकि जो आया है वह प्रारब्ध का भोग है, उसी में प्रिय दृष्टि करनी है। इसी प्रकार से सब चीजों में समझ लेना। जैसे-जैसे कर्म करने के बाद फल मिलने पर उस फल की इच्छा का अध्यास डालोगे, वैसे-वैसे संतोष होता जायेगा और जो किसी भी प्रकार से पदार्थ प्राप्त करने की लपट होती है, वह शांत हो जायेगी।

दूसरी चीज है परमेश्वर के फलदातृत्व में पूर्ण विश्वास। परमेश्वर के यहाँ कभी भी अंधेर नहीं, इस बात का जो दृढ़ विश्वास है, वह भी मनुष्य की कामना को निवृत्त कर देता है। अभी हमको यह लगता है कि यदि हमने यह चतुराई नहीं की, यह चालाकी या

अधर्म नहीं किया तो चीज ही हाथ से निकल जायेगी। क्यों मनुष्य तरह-तरह के हिसाब रखता है, तरह-तरह की चोरियाँ करता है। जिससे पूछो यही कहता है कि यदि ऐसा न करें तो कुछ न बचे। अर्थात् वह मानता है कि हमारे कर्म का फल देने में ईश्वर असमर्थ है, नहीं दे सकता। जब हमको यह दृढ़ विश्वास होगा कि ईश्वर में कर्मफलदातृत्व की सामर्थ्य होने के कारण हमारे पुण्य कर्म का उदय होने पर हमारे भोग को कोई रोक नहीं सकता और जब तक हमारा कर्म फल अच्छा नहीं है, तब तक हम कुछ भी कर लें हमको सुख मिल नहीं सकता, तब तक वह ऐसा नहीं करेगा। ईश्वर के कर्मफलदातृत्व में विश्वास होने के बाद मनुष्य की कामना निवृत्त होने लगती है क्योंकि वह जानता है कि परमेश्वर निरंतर हमारे कर्मफल को देने के लिये जग रहा है, निरंतर जागरूक है। हम सो जायें लेकिन वह सोने वाला नहीं है। परमेश्वर के कर्मफलदातृत्व का विश्वास धीरे-धीरे अनुभव से होता है। एक बार बिहार में सन् '३४ के आसपास बड़ा जबर्दस्त भूकम्प आया था। उस भूकम्प में बहुत से लोग मर गये, कई घायल हुए और करोड़ों रुपयों की सम्पत्ति नष्ट हुई। लोगों की मदद करने के लिये जगह-जगह से लोग गये। पटना के पास ही एक जगह थी जहाँ एक आदमी रेल के स्टेशन पर केवल यह कहते हुए इधर से उधर जा रहा था कि भगवान् के घर न्याय है, भगवान् के घर देर है लेकिन अंधेर नहीं। उसका कर्मफलदातापना सर्वथा सिद्ध है। ऐसे बक बक करते घूम रहा था। सहायता करने के लिये एक दल वहाँ गया हुआ था। कुछ लोग जब उससे बात करने लगे तो किसी कुली ने आकर कहा कि यह पागल हो गया है, इससे क्या बात करते हो। उन लोगों ने पूछा—क्या बात हुई ? कुली कहने लगे कि भूकम्प में इसके घर के सारे लोग मर गये, उसी दहशत में यह पागल हो गया है। वे लोग कह ही रहे थे कि वह हँसकर कहता है—पागल मैं नहीं पागल तो ये सारे हैं, मैं ठीक कह रहा हूँ। कैसा भी व्यक्ति हो, उससे सहृदयता से बात

करो तो उसके हृदय की बात समझ में आती है। यह जीवन में बहुत सीखने की चीज है ! हम लोगों का जीवन, विशेषकर बड़े शहरों में रहने वालों का जीवन भी शुष्क हो गया है, स्नेह से सर्वथा शून्य हो गया है। हिन्दूधर्मशास्त्रकारों ने लिखा कि गाँव में जब तक मुर्दा पड़ा हो, तब तक किसी के घर भोजन न बने। यह अपने हिन्दू धर्म शास्त्रकारों की व्यापक दृष्टि है। गांव में किसी के घर मुर्दा पड़ा है और हम भोजन आदि बनाकर खा रहे हैं, यह नहीं हो सकता। पहला कर्त्तव्य है कि उस मृत आदमी का किसी प्रकार अंत्येष्टि कर्म किया जाये। यह एक दृष्टि थी। हम लोग इसीलिये जब भगवान् से प्रार्थना भी करते थे तो उस प्रार्थना में हम कहते थे 'ग्रामे अस्मिन् अनातुरं' केवल हमारे घर वाले ही सुखी न रहें, हमारे इस गांव में भी कोई आदमी दु:खी न हो जाये। कोई आतुर न हो। कहाँ तो हमारी दृष्टि वहां तक जाती थी और अब कलकत्ते के रहने वाले हो ही, क्या बतायें। नीचे के चौक में अर्थी घुस रही है, ऊपर के चौक में मेंहदी मढ़ रही है। साथ ही साथ चलता है। गांव की बात जाने दो। अपने एक मकान के अन्दर भी हृदय में यह नहीं होता कि अरे, एक व्यक्ति दु:खी है, मैं क्या कर रहा हूँ, यह भावना ही नहीं उठती। यह है स्नेहशून्यता। अब उससे भी आगे परिस्थिति देखते हैं। एक आदमी गिर पड़ा, दस आदमी जा रहे हैं, यह भी नहीं देखते कि इसकी नाड़ी चल रही है या नहीं। हृदय निस्स्नेह होता जा रहा है। इसीलिये हम लोगों का आपसी जीवन शुष्क हो रहा है। मशीन को चलाने के लिये तेल देना पड़ता है। जितना तेल दोगे, उतना ही मशीन खड़क खड़क नहीं करेगी, आसानी से चलेगी और अधिक समय तक चलेगी। मानवों के समूह समाज को भी एक मशीन समझो। इसमें प्रेम का तेल एक दूसरे को देते रहोगे तब तो यह समाज व्यवस्था धीरे-धीरे चलेगी और बिना खड़खड़ाहट के चलेगी। अगर समाज की व्यवस्था के अन्दर प्रेम रूपी तेल नहीं दे पाओगे तो चारों तरफ खड़खड़ाहट होगी और

समाज अधिक समय तक चल नहीं सकेगा। सहृदयता बड़ी आवश्यक है।

पटना स्टेशन पर जो सहायक दल था, उसमें कुछ ऐसे सहृदय व्यक्ति थे। उन्होंने आगे बढ़कर उस व्यक्ति से पूछा कि क्या बात है। उसने कहा—बैठ जाओ, तब पूरी बात सुनाऊँ। मैं बीकानेर के अन्दर अमुक गांव का रहने वाला हूँ। जब मैं यहाँ आया था तो मेरे पास केवल एक लोटा और एक धोती जोड़ा था। मैंने यहाँ आकर परिश्रम किया। धीरे-धीरे भगवान् की हमारे ऊपर कृपा हुई। दुकान बैठाई। धीरे-धीरे व्यापार और अच्छा चला। अच्छी प्राप्ति हो गई। जब पास में धन आ गया तो एक बार मैं देश गया और वहाँ से विवाह करके पत्नी भी ले आया। पहले जमाने में लोग आठ दस साल की मुसाफिरी एक साथ ही किया करते थे। एक बार घर से निकले, आठ दस साल कमाया, फिर घर जाते थे। आज तो हफ्ते भर के लिये जाना हो तो सोचते हैं न जाने कितने साल की मुसाफिरी कर रहे हैं। सोचते हैं कि वहाँ भी साथ ही पत्नी को लेकर जायें। हफ्ते भर के लिये भी अकेले जाना नहीं चाहते। विवाह हुए चार पाँच साल व्यतीत हो गये लेकिन मेरे कोई संतान नहीं हुई। मैंने तो मान लिया कि चलो, प्रारब्ध में नहीं होगा। फिर भी कुछ वैद्यों की दवाइयाँ दीं। डाक्टरी का तब तक इतना प्रचार नहीं था, और भी दवाइयाँ दीं, फिर हुआ कि भगवान् की इच्छा नहीं है तो जाने दो। लेकिन पत्नी को संतोष नहीं होता था। वह बार बार कहे कि मुझे संतान की इच्छा है। कभी कोई झाड़फूंक करने वाला, कभी टोटका करने वाला, कभी कोई मुसलमान फूंक देने वाला, पानी देने वाला आये और कभी वह उनके पास जाती रहे। दस बीस खर्च भी करती रहे। मैं कहूँ भी कि जाने दे, जब भगवान् की इच्छा नहीं तो इस प्रकार क्यों इधर से उधर भटकती है। कभी धोखा खायेगी। लेकिन उसके मन में बात नहीं बैठी। मैं तो अपने काम में ही इतना लगा रहता था क्यों कि लोगों को बाहर माल देता था और तगादा लेने के लिये जाता था, मुझे ज्यादा

फुर्सत नहीं मिलती थी। बात हो तो कह देता था। वह भी कहती थी कि आपको तो कोई परवाह ही नहीं है। एक दिन मैं शाम के समय घर आया तो अन्दर से खटका बंद पाया। पहले प्राय: लोग दरवाजा बंद भी नहीं करते थे। स्वभाव से लोगों में धार्मिक प्रवृत्ति थी। अभी भी जहाँ पाश्चात्य दृष्टि की संस्कृति का प्रभाव कम पड़ता है वहाँ चोरी जल्दी नहीं होती है। केदारनाथ में चले जाओ, दरवाजा खुला रहे तो भी कोई कुछ नहीं उठायेगा। आबू में बहुत से मकानों में कांच के दरवाजे से ही मकान बन्द रहते हैं। कोई आदमी मकान में नहीं होता लेकिन कोई चीज नहीं उठती। वातावरण का प्रभाव है। यहाँ तक स्थिति है कि वहाँ तीन पुलिस वाले, एक थानेदार और दो उसके सिपाही, रहते हैं। थानेदार कभी-कभी कहता है—महाराज! यह कोई कस्बा है? यहाँ रहना बेकार है क्योंकि न कोई चोरी का केस, न कोई मारपीट का केस। हम तो दिन भर मक्खियाँ ही मारा करते हैं। एक सज्जन वहाँ डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट थे, रिटायर होने के बाद वहीं रह रहे हैं। वह कहते हैं कि ३३ साल से मैं यहां हूँ, खून का एक भी केस नहीं हुआ है। प्राचीन काल में धर्म की दृष्टि होने से लोगों की यह प्रवृत्ति ही नहीं होती थी। उसने कहा कि मैंने जब देखा कि दरवाजा बन्द है तो मेरा मन खटका कि क्या बात है। मैंने दरवाजा खटखटाया। पत्नी अन्दर से जोर से कहा—कौन है? कहा—मैं हूँ। उसने धीरे से दरवाजा खोला और फिर खट बन्द कर दिया। मैंने कहा—बात क्या है, क्या हो गया। कहा—अन्दर चलो। मैं चौक में पहुँचा तो देखा कि खून ही खून बह रहा था। मैं स्तब्ध रह गया। मैंने कहा—अरे यह क्या है? कहने लगी—यहाँ कोई साधु आया था। उसने कहा यदि तू किसी आठ साल से कम उमर के बच्चे के खून से स्नान कर ले तो संतति हो जायेगी। कई दिन से कोशिश कर रही थी। आज एक लड़का किसी काम से आया था और दिन का समय था, यहाँ कोई था नहीं तो मैंने तो उसके

खून से अपना स्नान कर लिया। अब इसे रास्ते लगाना तुम्हारा काम है। इसीलिये दरवाजा बन्द करके बैठो थी। वह कहता है कि आधे घण्टे तक तो मै ऐसा का ऐसा स्तब्ध रह गया कि मैं क्या करूँ। एक इच्छा हो कि इस पिशाचिनी को जेल दिलवाकर फाँसी दिलवा दूं। लेकिन इतने साल के साथ के कारण कुछ अन्दर मोह भी था। इसलिये मन में यही दृढ़ निश्चय हुआ कि जिसको मरना था, वह तो मर ही गया, अब एक और हत्या अपने हाथ क्यों लगाऊँ। किसी तरह रात में उसे बांधबूंध कर ले गया और नदी में डाल दिया। घर साफ किया। तब से घर से मेरे मन में बड़ी वितृष्णा हो गई। लेकिन भगवान की भी बड़ी विचित्र लीला है। उस घटना के ठीक दस महीने में मेरा प्रथम पुत्र उत्पन्न हुआ। मेरे मन में बड़ा विचार हुआ कि यह क्या है। पत्नी और प्रसन्न हुई, कहा देख लिया, मैंने तुम से कहा था ना, तुम कहते थे कि किसी से कुछ नहीं होता। अब यह तो प्रत्यक्ष है। मैं भी चुप रह गया कि क्या कहूँ। होते होते चार बच्चे और हो गये। बेटे बड़े हुए। व्यापार भी अच्छा चलता रहा। बात भी आई गई हो गई। बच्चे भी कुछ काम करने लगे। एक का ब्याह भी हो गया। कभी कभी मैं जब शांति से बैठता था तो मन में सोचता था कि सम्भवत: ये शास्त्र वगैरा गप्पें ही हैं। इतने बड़े पाप से मेरा तो कुछ नहीं बिगड़ा और सब तरफ से धन भी आया, सब कुछ आया ही आया। परलोक में पता नहीं नरक है भी या नहीं, इहलोक में तो सिद्ध नहीं हो रहा है। पहले जो कुछ थोड़ी बहुत मेरी पूजा पाठ में प्रवृत्ति थी, वह भी कम हो गई। हृदय में अश्रद्धा हो गयी। इतने पर भी जो बचपन के संस्कार थे, उनके कारण बच्चों का ब्याह करके भी, बच्चों को देखकर भी हृदय में प्रसन्नता नहीं होती थी क्योंकि मन ही मन लगता था कि है यह सब दुष्कर्म का ही फल। मेरे मन में तो वितृष्णा ही रहती थी। जिस समय यहाँ भूकम्प आया, मैं किसी दूसरे कस्बे में बाहर तगादा लेने गया हुआ था। मेरे पीछे ही इस भूकम्प में मेरा घर, दुकान, पत्नी, बच्चे, बड़े बेटे की पत्नी

और उसका लड़का मेरा पोता सारे के सारे एक साथ ही ऐसे दब गये कि उनकी हड्डियाँ भी मैं नहीं निकाल सका। तब मेरे मन में आया कि परमात्मा कर्मफल देने वाला अवश्य है। डोरी कभी लम्बी दे देता है जिससे मनुष्य को भ्रम हो जाता है कि अधर्म से जीत हुई है। वस्तुतः अधर्म जीतता नहीं, यह मैंने प्रत्यक्ष देख लिया। जो कुछ बचपन से कमाया था सब चला गया। उस जवानी में दो धोती और एक लोटा लेकर आया था और अब इस बुढ़ापे में एक धोती रह गई है और एक लोटा भो नहीं रह गया। जो कोई कुछ दे देता है वह खा लेता हूँ। अब कुछ प्रवृत्ति करने की नहीं रह गई है। यही कहता हूँ कि भगवान् के घर में देर हो सकती है, अँधेर नहीं। मेरे हृदय में जो कर्मफलदातृत्व के विषय में संदेह आ गया था, वह अब हट गया है। विचार करो कि परमेश्वर के कर्मफलदातृत्व का जब विश्वास हो जाता है तब फिर मनुष्य की कामना हट जाती है। परमेश्वर कर्म का फल अवश्य देगा, जब तक यह दृढ़ भावना नहीं होगी तभी तक मनुष्य की अनुचित कार्यों में प्रवृत्ति होती है, उसके बाद नहीं। यह बताया कि कामना तीन प्रकार की है। सामान्य कामना जो प्रारब्ध भोग के अनुसार मिलती है, निवृत्त नहीं होती। विशेष कामना धर्म के अनुकूल प्राप्त करने की इच्छा है। तीसरी कामना जिसमें उचित अनुचित का विचार छोड़ दिया जाता है। अन्तिम नरक को ले जाती है, दूसरी स्वर्ग आदि को ले जाती है और प्रथम मोक्ष को ले जाती है। इनकी निवृत्ति का प्रकार एक तो संतोष अर्थात् पदार्थ प्राप्ति होने पर उसकी अभिलाषा करने का प्रयत्न करना, पहले नहीं, और दूसरा परमेश्वर के कर्मफलदातृत्व में पूर्ण विश्वास। जब यह करता है तब उसका काम बन जाता है। यह जो यहाँ कहा 'काम संकल्प वर्जनात' संकल्प निवृत्ति के ये दो उपाय हैं। इसी से कामना का जय होता है। अन्य यातुधान्यों पर आगे विचार करेंगे।

१०-३-७५

परब्रह्म परमात्मा के नाम और रूप का प्रतिपादन करने के वाद अब जो यातुधान्य हैं, जो इस ज्ञान को उत्पन्न करने में रुकावटें पैदा करते हैं और उत्पन्न ज्ञान को फल पर्यन्त ले जाने में भी प्रति-बंधक बनते हैं, उनका विचार कर रहे थे। उनमें भी क्रोध का विचार किया। कुछ काम का विचार किया। काम के अनेक भेद बताये। अव एक प्रश्न मन में झट उठता है कि यदि ये यातुधान्य केवल हमको विघ्न करने के लिए ही हैं तो ये पैदा क्यों हुए? परमेश्वर ने इनको पैदा किया ही क्यों? क्योंकि परमेश्वर की अभिलाषा यह कभी नहीं हो सकती कि जीव दुःख पाये। यदि इनके कारण जीव को निरंतर दुःखानुभूति हो रही है तो ये पैदा ही क्यों हुए? यह प्रश्न हृदय में उठना स्वाभाविक है। विचार दृष्टि से देखो तो जो चीज दुरुपयुक्त होती है वह दोषावह होती है और वही वस्तु सदुपयुक्त होकर लाभ पहुँचाती है। कोई भी चीज स्वरूप से खराब नहीं होती। सृष्टि में जो कुछ भी है, वह किसी न किसी के लिए किसी न किसी परिस्थिति में अवश्य लाभ पहुँचाने वाली ही है। लेकिन उस परिस्थिति को छोड़कर, उस व्यक्ति को छोड़कर अन्यत्र यदि उसका उपयोग होता है तो वही दुरुपयुक्त होकर के दुःख का कारण बनती है। जैसे अग्नि है। अग्नि को जलाकर यदि उस पर भोजन बनाते हो तो बड़ी सावधानी से बनाना पड़ता है। यदि असाव-धानी रखोगे तो कभी अंगुली जलाओगे, कभी कपड़ा जलाओगे और भगवान न करे यदि कहीं नाइलोन पहने हुए होगे तो सारे शरीर को ही जला दोगे। नाइलोन में आग लगे तो सारे शरीर से चिपक जाती है। इसलिये अग्नि इत्यादि के पास जाना हो तो इससे बहुत बचना आवश्यक है। अग्नि से तुम भोजन पकाते हो अथवा सर्दी के मौसम में तापते हो अथवा होम करते हो। होम करोगे, यज्ञ करोगे, उसमें भी अग्नि की आवश्यकता है। भगवान् का पूजन करोगे, उसमें दीपक और आरती के रूप में अग्नि की ही आवश्यकता है।

तो यदि अग्नि का प्रयोग इन कार्यों के लिए करोगे तो सदुपयोग है। इससे विपरीत किसी का घर जलाने के लिये उसी अग्नि का दुरुपयोग है। किसी का घर भी तो तुम अग्नि से ही जलाओगे। वह उसका दुरुपयोग हो गया। अग्नि स्वरूप से न अच्छी है, न बुरी। उपयोग के अनुसार ही उसको अच्छा कह सकते हो, उसी को बुरा कह सकते हो। इसी प्रकार सब चीजें हैं। सदुपयोग से वह अच्छी हो जाती हैं, दुरुपयोग से बुरी हो जाती है। वस्त्र के दो उद्देश्य हैं—अंग गोपन और शीतोष्ण की निवृत्ति। कपड़े के दो सदुपयोग, शरीर के अंगों को छिपाकर रखते हैं और सर्दी या गर्मी से बचाते हैं। ये दो तो वस्त्र के सदुपयोग हुए। वस्त्र का दुरुपयोग इस प्रकार के वस्त्र पहने जायें जो शरीर को न छिपाकर उसको और ज्यादा प्रकट कर दें। आजकल के बच्चों को देखते होगे कि जिन अंगों को छिपाना चाहिये, वे अंग और ज्यादा उन वस्त्रों से तनकर प्रकट हो जाते हैं। यह वस्त्र का दुरुपयोग है। सर्दी के मौसम में दिल्ली के अन्दर भयंकर सर्दी पड़ती है। लोग ठिठुर रहे होते हैं। तब भी ऐसे वस्त्र पहनेंगे जो बिलकुल ठण्डक पैदा करें। हमने एक दो से पूछा कि ऐसे कपड़े तुम लोग पहनते हो, ठण्ड नहीं लगती। कहा—बड़ी ठण्ड लगती है। फिर क्यों पहनते हो? बोले—आजकल फैशन इसी का है। इसी प्रकार गर्मी को बचाने वाले जो वस्त्र हैं, उनका उपयोग न करके गर्मी में भी ऐसे वस्त्र पहनेंगे कि अंदर का पसीना अंदर ही बना रहे, वह सूखे नहीं। शरीर को सुख न पहुँचाये और न शरीर को स्वास्थ्य ही दे। यह वस्त्र का दुरुपयोग हो गया। जितनी भी चीजें हैं उनका सदुपयोग और दुरुपयोग हमेशा समझना चाहिये। काम, क्रोध आदि दोष भी ठीक प्रकार से उनका उपयोग करने पर, सदुपयोग करने पर हमारे लिए लाभप्रद हो जाते हैं। फिर वे दुःख देने वाले नहीं होते। परमेश्वर की तरफ यदि हमने अपनी कामना को केन्द्रित कर दिया तो ईशावास्य उपनिषद् के भाष्य में भगवान् भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर ने लिखा कि 'आत्मकामस्त्वाप्तकामः' जिसको आत्म-

कामना अर्थात् परमेश्वर की कामना हो गई वह आप्तकाम होता है अर्थात् उसकी बाकी सब कामनायें पूर्ण हो गई। परमेश्वर की कामना की तो यह काम का सदुपयोग हो गया। परमेश्वर से अतिरिक्त पदार्थों की कामना की तो यही उस कामना का दुरुपयोग हो गया। परमेश्वर की प्राप्ति भी तो परमेश्वर की कामना से ही होगी। जिसको परमेश्वर की कामना ही नहीं होगी वह क्यों परमेश्वर के लिए प्रयत्न करेगा और जब प्रयत्न ही नहीं करेगा तो प्राप्ति की सम्भावना ही नहीं है।

क्या तात्पर्य हुआ ? ये जितने यातुधान्य हैं, इनको यहाँ यह नहीं कहा कि ये यातुधान्य नष्ट हो जायें। वेद शब्दोंका चयन, शब्दों को ऐसा चुनकर रखता है कि जल्दबाजी से जो अर्थ करता है, उसके हाथ कुछ नहीं पड़ता। क्योंकि वेद कोई इतिहास पुराण तो है नहीं जो झटपट बांचने की चीज हो। इतिहास पुराणों की रचना उन लोगों के लिए की गई जो समझने में असमर्थ हैं। भगवान् वेदव्यास स्वयं कहते हैं 'स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा' स्त्री शूद्र और द्विजबन्धु अर्थात् ऐसे ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य जिन्होंने स्वयं तो वेद का अध्ययन किया नहीं परन्तु उनके रिश्तेदारों में दूसरों ने कर रखा है। द्विज का मतलब है वेदज्ञान से युक्त। यज्ञोपवीत संस्कार के समय ही मनुष्य के अंदर द्विजत्व आता है, तब दूसरा जन्म होता है। एक माता-पिता के गर्भ से जन्म और दूसरा गुरू एवं श्रुति के गर्भ से जन्म। तभी द्विज होगा। अब जिसने स्वयं वेदाध्ययन नहीं किया, उसको शास्त्रों में द्विजबन्धु कहते हैं जो स्वयं तो द्विज नहीं है लेकिन उनके रिश्तेदारों में द्विज लोग हैं। स्त्री, शूद्र और द्विजबंधु ये तीनों श्रुति को ठीक प्रकार से नहीं समझ सकते। इसलिये उनको भी धर्म के सामान्य नियम बतानें के लियें इतिहास और पुराणों की रचना की गई। इतिहास पुराणों को पढ़कर उसके अनुकूल आचरण करने पर उनमें वेद पढ़ने की योग्यता आयेगी और तब वेद के द्वारा परमात्मस्वरूप को जानकर कैवल्यपद को प्राप्त करेगा। जैसे तुम्हारे यहाँ एक तो महाविद्यालय (कॉलेज)

होता है और एक जिन्होंने बचपन में नहीं पढ़ा, उनके लिए प्रौढ़ विद्यालय के पाठ्यक्रम भी चलते हैं। जो तो बचपन से पढ़कर आये हैं, वे तो विश्वविद्यालय में जाकर पढ़ते हैं क्योंकि उन्होंने वह तैयारी कर ली और जिन्होंने वह तैयारी नहीं की उनको भी कुछ थोड़ा बहुत पढ़ना आ जाये इसके लिए प्रौढ़ विद्यालय लगते हैं। ठीक इसी प्रकार जिन लोगों ने वेद का अध्ययन नहीं किया अथवा वेद को समझने में समर्थ नहीं हैं, उन्हीं लोगों के लिए इतिहास पुराण आदि की रचना हुई कि इनको समझकर फिर आगे योग्यता प्राप्त करके वेदाध्ययन करेंगे। यह उसका तात्पर्य है। वेद के शब्दों का चयन ऐसा है इसमें अर्थ भी गम्भीर हैं और शब्द भी गम्भीर हैं। यहाँ पर अतिधन्यवेद ने सीधा नहीं कहा कि यातुधान्यों को नष्ट कर दें बल्कि कहा 'परासुव' अर्थात् उनका मुँह फेर दो। जैसे आया हुआ आदमी वापस लौटता है तो उसका मुँह दूसरी तरफ मुड़ जाता है, इसी प्रकार श्रुति कह रही है 'यातुधान्य: परासुव' इसका मुँह मोड़ दो अर्थात् अब तक ये यातुधान्य काम, क्रोध आदि संसार को विषय कर रहे थे, अब उनका मुख मोड़कर वे परमेश्वर को विषय करने लग जायें। जब परमात्मा को विषय करेंगे तो फिर ये शत्रु नहीं रह जायेंगे, उल्टे मित्र हो जायेंगे। जो विवेकी पुरुष होता है, समझदार आदमी होता है, वह शत्रु को भी मित्र बना लेता है। यह विवेकी की पहचान है। बड़ी से बड़ी शत्रुता जो उससे करेगा, उसको भी वह अपनी तरफ कर लेगा, यह विवेक है। अविवेकी पुरुष मित्र को भी शत्रु बना लेगा। जो उसके साथ मित्रता करेगा, वह भी कुछ काल के बाद उसका शत्रु बन जायेगा, विरोधी बन जायेगा। यह विवेकी और अविवेकी का फरक है। शत्रु जब बनता है तो प्रतिकूल चलकर दुःख देता हैं। यह शत्रु का स्वभाव है। हम जैसा चाहते हैं, उससे विपरीत चलेगा और वही हमारे लिये दुःख का कारण बनेगा। मित्र इससे विपरीत हमारे मन के अनुकूल चलकर हमको सुख देगा। विवेकी पुरुष प्रतिकल चलने वाले को अपने अनुकूल बना लेता है, यही विवेकी

पुरुष का काम है। और अविवेकी पुरुष अपने अनुकूल चलने वाले को भी छेड़छाड़ करके अपने प्रतिकूल बना देता है।

महाभारत में द्रुपद और द्रोण का दृष्टांत जानते ही हो। द्रौपदी के पिता द्रुपद, और द्रोण दोनों एक ही गुरू के पास पढ़ते थे। इसलिये आपस में सतीर्थ्य गुरुभाई थे। द्रोण ब्राह्मण थे, द्रुपद राजा का लड़का था। अध्ययन काल में दोनों साथ रहकर प्रेम से पढ़ते थे। द्रोण बुद्धि में तेज थे इसलिये जिस पाठ को द्रुपद याद नहीं कर पाता था बाद में अपने पास बिठाकर उस पाठ को उसे समझाते थे। विद्या का यह नियम है कि गुरु से सुनने के बाद फिर अपने सहपाठियों, सतीर्थ्य और गुरुभाई के साथ बैठकर उस पाठ का विचार करना चाहिये। तब वह विद्या पकती है। ऐसा नहीं कि पाठ या कथा खतम होने के बाद ही विचार चलने लगा कि तुम्हारी देवरानी कैसी, तुम्हारी जेठानी कैसी? कथा से उठकर बाहर जाते ही जाते यह विचार चलने लगा, ऐसा नहीं। उसकी जगह जो सुना है, उसका आपस में विचार करना चाहिये कि यह बात कही गई, इसका क्या तात्पर्य है। इससे बात दृढ़ होती है। द्रोण इसी प्रकार द्रुपद को समझाते थे। द्रुपद कहा करता था—भैया द्रोण! तुम मेरे साथ रहकर मेरे ही राज्य में चलकर रहो। क्योंकि उनका आपस में प्रेम हो गया था। द्रोण ने कहा—भाई! राजा के साथ रहना ठीक नहीं क्योंकि दो अग्नियाँ आपस में मिलकर आग बढ़ाती हैं। ब्राह्मण अग्निमुख है। ब्राह्मण का हृदय तो अमृत की तरह ठंडा होता है लेकिन उसकी जबान आग उगलती है। क्षत्रिय की दण्ड देने की आदत स्वाभाविक है क्योंकि उसकी कर्मेन्द्रिय हाथ उठने में देरी नहीं करता। क्षत्रिय को गुस्सा आया और उसने हाथ उठाया। ब्राह्मण हाथ नहीं उठायेगा। उसकी तो जबान चलेगी। इसलिये तू भी आग और मैं भी आग, दोनों साथ रहेंगे तो यह ठीक नहीं होगा, दूर रहना ही अच्छा है। द्रुपद आगे चलकर राजगद्दी पर बैठ गया। एक बार अश्वत्थामा के लिये किसी चीज की आवश्यकता होने पर द्रोण ने विचार किया कि चलो द्रुपद से जाकर माँग लायें। द्रुपद के

यहाँ जाकर खबर भेजी कि तुम्हारा गुरुभाई द्रोण तुमसे मिलने आया है। अब तो द्रुपद राजा बन गया था। द्वारपाल ने जाकर कहा कि तुम्हारा मित्र, तुम्हारा गुरुभाई आया है तो यह द्रुपद को प्रिय नहीं लगा। कहने लगा कि यह ब्राह्मण और मेरे को अपना मित्र बताता है। बड़े बड़े ब्राह्मण मेरे सामने आकर दान लेते हैं, मुझे सूर्यचन्द्र का वंशज कहकर प्रसन्न करने का प्रयत्न करते हैं और यह देखो आकर के कहता है कि मैं द्रुपद का मित्र हूँ। उसने द्वारपाल से कहा जाकर कह दो कि भिक्षुक और राजा की क्या मित्रता। तुम तो भीख माँगने आये हुए हो। भूल गया कि जब उसके पास विद्या नहीं थी तो उसकी विद्या को द्रोण ने ही दृढ़ कराया था। लेकिन मनुष्य का कुछ ऐसा स्वभाव है कि चीज के प्रति उसको जैसा बोध होता है, वैसा ज्ञान के प्रति नहीं होता। अगर किसी कपड़े के दुकानदार को जाकर कोई कहे, यार! तुम्हारे पास तो इतने कपड़े के थान पड़े हैं, मैं दो थान ले जा रहा हूँ। वह कहेगा—भैया ऐसे देता रहूँगा तो मेरे व्यापार का क्या हाल होगा। तेरे को कुछ सस्ता दे दूँगा। लेकिन ऐसे दो थान के थान कैसे ले जाने दूँ। परन्तु यदि कोई अपना वकील मित्र हो और उसके पास जाकर के आदमी कहता है कि अरे, यह मुकदमा फँसा हुआ है, मुझे एक दो बातें (Clues) बता दो और अगर बताने के बाद वह कह दे कि पाँच सौ रुपये फीस के दे जाना तो कहेगा कि कैसा दोस्त है, एक बात बताने के इतने पैसे। लेकिन विचार नहीं करता कि जैसे तुम्हारे पास कपड़े के थान, वैसे उसके पास विचार। मनुष्य का स्वभाव कुछ ऐसा पड़ा हुआ है कि वहाँ झट मन करता है कि अरे, दो बातें ही तो बताई हैं, और किया क्या है, लेकिन थान उसे स्थूल लगता है। इसी प्रकार द्रोण ने अध्ययन काल में द्रुपद को कितनी बातें बताई थीं, उस समय द्रुपद से उसने कुछ लिया थोड़े ही था। उस समय द्रुपद भी तो भिक्षुक ही बना था, ज्ञान का भिखारी ही तो था। लेकिन आज जब द्रोण कुछ लेने आया तो उसने सोचा कि

यह तो पदार्थ लेने आया है, इसलिये यह भिक्षुक है। जब द्वारपाल ने आकर यह बात कही तो द्रोण तो ब्राह्मण था ही, उसने कहा— फिर रहने दो, यदि वह मेरा मित्र नहीं तो मुझे भी कुछ लेना नहीं। भिखारी बनकर मैं भी नहीं आया हूँ। द्रोण की प्रतिज्ञा थी 'अग्रतश्चतुरो वेदा पृष्ठ तस्सशरन्धनुः' मेरे आगे चारों वेद प्रतिभात होते हैं क्योंकि वेदों का उन्होंने पूर्ण अध्ययन किया था और साथ में शस्त्रविद्या को भी पूरा पढ़ा था। अब तक इस प्रकार की कोई छेड़खानी न होने के कारण द्रोणाचार्य एकांत में रहकर वेदविचार में लगे हुए थे। यही उनका प्रधान कार्य था। अब उन्होंने विचार किया कि इसको क्षत्रियत्व का अभिमान है तो वह भी मेरे पास है।

अपने एकान्तवास को छोड़कर भीष्मपितामह के पास पहुँचे। भीष्मपितामह उनके बारे में अच्छी तरह से जानते थे क्योंकि भीष्मपितामह भी एक तरह से द्रोण के गुरुभाई थे। द्रोणाचार्य ने शस्त्रविद्या परशुराम से सीखी थी और भीष्म ने भी शस्त्रविद्या परशुराम से ही सीखी थी, यद्यपि साथ साथ तो नहीं क्योंकि उमर का काफी फरक था, भीष्म अधिक वृद्ध थे, परन्तु सीखी उन्हीं से थी। लेकिन वह भीष्म के पास भी सीधे नहीं पहुँचे कि मैं आया हूँ। कहते हैं कि दूध का जला छाछ को भी फूंक फूंक कर पीता है। पहले एक क्षत्रिय से अपमानित हो चुके थे, इसलिये सीधे भीष्म के पास नहीं पहुँचे। कुछ बच्चे वहाँ खेल रहे थे, उनमें गुरुकुल के भी बच्चे थे। बच्चों की गेंद कुएँ में गिर पड़ी थी। द्रोण ने एक बाण पर दूसरे बाण को मारते मारते बाणों की ही रस्सी बनाकर गेंद को बाहर खींच लिया। निशाना इतना ठीक कि प्रत्येक बाण की पीठ में जाकर ही दूसरा बाण लगे, इतनी जोर से भी न लगे कि पहले वाले को तोड़ दे और इतना हल्का भी नहीं लगना चाहिये कि उससे अटके नहीं। इतनी जोर से लगे कि वहीं बिन्दु पर जाकर अटक जाना चाहिये और ऐसा भी नहीं कि ऊपर खींचो तो निकल ही आये और गेंद ही नीचे रह जाये। यह कोई मामूली अभ्यास नहीं, बड़ा अभ्यास है और इसमें चित्त की बड़ी ही एकाग्रता चाहिये। बच्चों

ने जाकर यह बात घर में सुनाई तो भीष्म ने भी सुनी। भीष्म-पितामह ने विचार किया कि हो न हो यह द्रोण ही हो सकता है, दूसरा कोई नहीं हो सकता। तुरन्त अपना आदमी भेजा। जाकर द्रोणाचार्य को बुलाकर लाये। आते ही भीष्म ने उन्हें पहचाना और बड़े आदर से रखा। कहा—इन बच्चों को आप शिक्षा दो। द्रोणाचार्य ने शिक्षा दी। अंत में जब समय आया और यह हुआ कि गुरुदक्षिणा में हम क्या दें? तब द्रोण ने कहा कि द्रुपद को पकड़कर यहाँ ले आओ। अर्जुन इत्यादि गये और द्रुपद को हराकर बाँधकर पकड़ लाये। जब लाकर द्रोण के सामने डाला तब द्रोण ने कहा—अरे द्रुपद! अब बता कौन भिक्षुक और कौन नहीं? यदि अब तुम्हें प्राण की भिक्षा नहीं माँगनी है तब तो तेरे को मरवाता हूँ। प्राण की भिक्षा माँगनी हो तो माँग ले, मैं तो ब्राह्मण हूँ, दे दूँगा। तुम्हारी तरह राजा नहीं जो नटूँ। द्रुपद बड़ा लज्जित हुआ, द्रोण के चरणों पर गिर गया कि मेरी बड़ी भूल हुई। विचार करो द्रोण और द्रुपद इतने मित्र थे परन्तु अविवेकी पुरुष द्रुपद मित्र को भी शत्रु बना लेता है और विवेकी पुरुष द्रोण शत्रु को भी मित्र बना लेता है। बस यही फरक है। यह केवल द्रुपद और द्रोण की ही कथा नहीं समझ लेना।

इसके द्वारा महाभारतकार कुछ सूक्ष्म बात भी बताते हैं। द्रुत है पद जिसका उसको द्रुपद कहते हैं अर्थात् जल्दी चलने वाले को द्रुपद कहा जाता है। वेदों में द्रुपद शब्द का प्रयोग आता है तो वहाँ भी उसका अर्थ यही है कि जो अत्यधिक जल्दी चलने वाला है, उसे द्रुपद कहते हैं। अविवेकी पुरुष हरेक काम जल्दीबाजी में करता है। वह किसी चीज को सोचेगा नहीं और खट से कर लेगा, करने के बाद सोचेगा अरे, न किया होता तो अच्छा था। यही द्रुपद का लक्षण है। द्रोण विवेकी हैं। द्रोण किसको कहते हैं? तुम्हारे तृणभू या लान में जो घास लगती है, उसी को द्रोण या भाषा में दूब कहते हैं। द्रोण इतनी सूक्ष्म चीज होती है कि कोई हवा आये, कुछ आये झट नम जाती है। विवेकी पुरुष

नमना जानता है। अविवेकी की पहचान है जल्दी काम करने में प्रवृत्त होना, विवेकी की पहचान है हर चीज में नमना। दूसरे ने ज्ञान की कोई बात कही तो झट नमकर ग्रहण कर लेगा। दूसरे ने कोई व्यवहार किया तो झट नमकर उसे ग्रहण करेगा। उसके हृदय में कृतज्ञता का भाव आता है कि इसने मेरे लिये कुछ किया। सावरकर एक बार जेल में थे। उनके कुछ और सहयोगी भी उनके साथ जेल में थे। वहाँ जो जेलर इत्यादि थे, वे उन लोगों से कुछ अच्छा व्यवहार करते थे, मीठा बोलते थे तो कुछ लोगों ने सावरकर से कहा कि ये जेलर इत्यादि तो ऊपर से ही मीठा बोलते हैं, हृदय से नहीं बोलते, यह खाली दिखावटी है, अन्दर हमारे प्रति इनका प्रेम नहीं है। सावरकर ने उनसे कहा कि इतने के लिये भी हमें इनकी कृतज्ञता माननी चाहिये क्योंकि कहीं यह नियम लिखा हुआ नहीं है कि पुलिस अधिकारी जेलर इत्यादि हमारे साथ मीठा ही बोलें। अगर इनके हृदय में कड़वाहट है भी और हमसे मीठा बोलते हैं तो इनकी इतनी तो कृतज्ञता मानो कि बोलते तो मीठा हैं, नहीं तो ये लकड़मार बोलते तो तुम क्या कर लेते? यह विवेकी की दृष्टि और विवेक की पहचान है। अविवेकी की दृष्टि है कि अरे, ऊपर ऊपर से बोलते हैं! यह कृतज्ञता का भाव जेल में तो क्या घरों में भी नहीं रह गया है। हो सकता है भाई की आदत कुछ कड़वी है। कड़वी आदत होने के कारण वह कभी कड़वी बात बोल देता है लेकिन नुक्सान नहीं पहुँचता, यह उसमें अच्छाई है। कई लोग हमसे कहते हैं—महाराज! वैसे तो कोई बात नहीं, भाई वैसे तो दिल का अच्छा है लेकिन बस कई बार ऐसी बात कह देता है, इसलिये अब इसके साथ रहना निभेगा नहीं। अगर वहाँ कृतज्ञता की दृष्टि होती तो सोचता कि चलो कोई बात नहीं, कड़वी बात ही तो बोलता है, नुक्सान तो नहीं पहुँचाता। तब तो इसके लिये उसके मन में कृतज्ञता का भाव आता। औरतें भी कहती हैं—महाराज! ऊपर से तो मेरी जेठानी बड़ा मीठा बोलती है लेकिन अन्दर ही अन्दर हमको मार करती है! वहाँ भी जिसको कृतज्ञता की दृष्टि

होगी, उसकी दृष्टि बनेगी कि अरे, ऊपर से तो अच्छा या मीठा बोलती है, वह भी नहीं बोलती तो तुम क्या कर लेतीं, तुम्हारा दुःख कम थोड़े ही हो जाता। विवेकी नमना जानता है। विवेकी के हृदय में, कोई कुछ थोड़ा भी अच्छा करे तो कृतज्ञता का भाव आता है, उसको कृतज्ञ दृष्टि से देखता है। अविवेकी के लिए जितना भी किया जाये, उसके हृदय में वही याद रहता है कि इसने यह और क्यों नहीं किया।

यह विवेकी और अविवेकी का फरक है। चूंकि विवेकी पुरुष दूसरे के किये हुए उपकार को कृतज्ञता मानकर नमता है, झुकता है, स्वीकार करता है, इसलिये कुछ काल के बाद जिसके अन्दर का भाव शत्रुता का भी हो, वह भी निकल जाता है। यह संसार के अन्दर एक विचित्र नियम है। एक जना उबासी लेने लगे तो खटाखट दूसरे को उबासी आने लगती है। इसी प्रकार यदि एक आदमी सद्व्यवहार करने लगता है तो उसके साथ वालों में भी सद्व्यवहार चल पड़ता है, वे भी सद्व्यवहार करने लग जाते हैं। कोई दुर्व्यवहार करने लगता है तो साथ वालों में भी दुर्व्यवहार चल पड़ता है, यह स्वाभाविक है। इसलिये जब तुम दूसरे की कृतज्ञता को देखोगे तो नतीजा यह होगा कि वह तब तक तुम्हारा शत्रु भी था तो अब मित्र बनता चला जायेगा। इसके ठीक विपरीत अविवेकी पुरुष बार बार उसको याद रखेगा जो उसने नहीं किया, और जो किया सो तो ठीक ही है, उसमें क्या है? जैसे घर में औरत ने दाल बनाई, भात बनाया फुल्का और आलू का साग बनाया। दाल भी अच्छी बनी, साग और फुल्का भी अच्छा बना। भात कुछ ज्यादा देर चढ़ा रह गया सो गल गया। अविवेकी पुरुष भोजन पर बैठेगा और एक मिनट के बाद कहेगा अरे, आज भात गला दिया है, कहाँ ध्यान था तेरा। फुल्का अच्छा बना, यह उसे ख्याल नहीं है, साग दाल अच्छे बनें यह उसे ख्याल नहीं, बस जो अच्छा नहीं बना, उसी को पकड़ता है। यह अविवेकी पुरुष का आचरण है। विवेकी पुरुष का लक्षण

है कि भात गला है, फुलका भी कच्चा है और दाल तो ऐसी कि पानी अलग और दाने अलग लेकिन साग वढ़िया भूँजकर घी में वना दिया है। वह जब खाने बैठता है तो उसके मुँह से निकलता है कि आज तुम्हारा साग वहुत अच्छा वना, मसाले वड़े वढ़िया डाले हैं। यह विवेकी अविवेकी का फरक है। विवेकी देखता है कि मेरे को कितना मिला ? अविवेकी देखता है कि मुझे क्या नहीं मिला ? द्रोण और द्रुपद दोनों वस्तुतः विवेक और अविवेक को वताने वाले हैं। दोनों हैं सतीर्थ्य ही। ऐसे ही विवेकी और अविवेकी दोनों हैं तो सतीर्थ्य ही। एक ही परमात्मा की संतति हम सव हैं। लेकिन अविवेकी को जव पद प्राप्त होता है तो वह भूल जाता है। विवेकी से जो कृतज्ञता प्राप्त हुई उसको वह अविवेकी भूल गया। नतीजा उसका कि द्रोण जैसे मित्र को भी अपना शत्रु वनाया। अन्त में उसी द्रोण के पास उसको बँधकर आना पड़ा और एक अभिषिक्त राजा के लिये इससे ज्यादा और क्या अपमानजनक हो सकता है कि किसी से प्राण भिक्षा माँगे। द्रोणाचार्य से यह कहना पड़ा। द्रोणाचार्य ने न केवल उसे जीवन दान दिया, वरन् उसे राज्य भी वापस कर दिया। मैं वाह्मण हूँ, मुझे राज्य से क्या मतलब। यह तो केवल तुमने कह दिया था 'भिक्षुक' यह मेरे जी को साल गया, इसलिये यह सव हुआ। उसका राज्य भी वापस कर दिया। उसका नतीजा हुआ कि द्रोण के पट्ट शिष्य अर्जुन को उसी द्रुपद की पुत्री द्रौपदी प्राप्त हुई। अविवेक के कारण द्रुपद का यह हाल हुआ और विवेक के कारण द्रोण अन्त में कहाँ पहुँचे। महाभारत युद्ध के अन्दर प्रधान सेनाध्यक्ष वने। उस काल का जो सवसे बड़ा पद, महाभारत युद्ध में उस पद पर द्रोण अभिषिक्त हुए। अविवेकी मित्र वनाने में तो जल्दी करता है, मित्र वनाना तो जानता है लेकिन मित्रता का व्यवहार करना नहीं जानता। आजकल के वच्चों में यही देखते हैं। हर १५ वें दिन एक नया भायला या नई भायली हो जाती है और पन्द्रह दिन तक जव साथ रहता है, तव तो माँ को कहेगा अरे, पकोड़े बनाकर खिला, मेरा भायला

आया है। बढ़िया दूध की खीर निकालकर ला। फिर पन्द्रह दिन बाद जब माँ पूछती है कि वह कुछ दिन से नहीं आया। कहता है—काहे का अच्छा था, वह तो महान गंदा आदमी है। बात करने लायक नहीं हं। जीवन के अंत तक पहुँच जाते हैं लेकिन उनकी एक मित्रता टिकती नहीं। अविवेकी पुरुष मित्र जल्दी बनायेगा क्योंकि द्रुपद है, झट काम करेगा। लेकिन मित्रता का व्यवहार करना नहीं जानता। इसलिये उसकी मित्रता कभी स्थिर नहीं रहती। उल्टा उन मित्रों को वह किसी न किसी प्रकार से अपना शत्रु ही बना डालता है। जब यह कहता है कि वह किसी काम का नहीं तो उसका दोस्त भी तो अपनी माँ को यही कह रहा होगा। और एक बार मित्र बनकर जो शत्रु बनता है, वह कट्टर शत्रु बनता है। जिसके साथ तुम्हारा कोई व्यवहार नहीं, उपेक्षा है, वह तुम्हारा मित्र नहीं और शत्रु भी नहीं। वह तुम्हें नुक्सान नहीं पहुँचायेगा। नुक्सान तो वह पहुँचायेगा जिसे तुमने एक बार मित्र बना लिया और फिर शत्रु बनाया।

ठीक इसी प्रकार जो विवेकी पुरुष होता है, वह काम, क्रोध इत्यादि को अपना मित्र बना लेता है और जो विवेकी नहीं होता है, उसने व्यवहार की गड़बड़ी से इन काम, क्रोध आदि को अपना शत्रु बना लिया है। तुम समझते हो कि काम तुम्हारा मित्र है। कोई भी व्यक्ति काम को अपना शत्रु थोड़े ही समझता है। हमारे मन में कोई इच्छा पैदा हुई तो हमें यह थोड़े ही लगता है कि शत्रु आ गया। उलटा वह इच्छा तो हमें मित्र लगती है तभी तो उसको पूरा करने के लिये दौड़ते हैं। कामना को हमने मित्रवत् लिया लेकिन व्यवहार की गड़बड़ी होने से उस काम को हमने शत्रु बना रखा है। काम को बिषयों की तरफ ले जाना, यही तो उसके व्यवहार को बिगाड़ना है। कारण क्या है? 'न जातु कामकामानां उपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एव विवर्द्धते' कामनाको यदि तुम चाहोगे कि उसे विषयों की आहुति दें तो वह कामना तो और ज्यादा जलेगी। जैसे कहीं आग जल रही

हो और उसमें तुम घी डालकर सोचो कि यह शांत हो जाये तो वह आग तुम्हारी दुश्मन हो जायेगी। शांत करने के लिये तो उसमें पानी डालना पड़ेगा। इसी प्रकार कामना विषय की है और तुमने उसे विषय ही दे दिया तो वह तो और भड़केगी। तुम्हारी शत्रु हो जायेगी और यदि तुमने उसकी जगह परमात्म कामना की आहुति दे दी तो शांत हो जायेगी क्योंकि कामना जिन विषयों को चाह रही है, उन विषयों से उलटा परमात्मा है। विषय अनात्मा है और परमात्मा आत्मा है। अनात्मा का उल्टा आत्मा हुआ। जैसे किसी का मुँह जल रहा हो मिर्ची के साग को खाकर जैसा कि मारवाड़ में मिर्च का साग बनता है, शिमला मिर्च नहीं समझना, वह तो ठण्डी होती है, असली मिर्च और ऊपर से और मिर्च पड़ती है, ऐसे साग को खाकर मुँह जल रहा हो और उसे तुम मुँह ठण्डा करने के लिये मिर्च का अचार दो तो मुँह ठण्डा थोड़े ही होगा। उसे तो बढ़िया सुन्दर रबड़ी या घेवर दोगे तो ठण्डा पड़ेगा। उसी प्रकार कामना अनात्म पदार्थों की है, इसलिये उसे अनात्म पदार्थों से हटाकर जब तुम आत्मपदार्थ की कामना दोगे तब वह तुम्हारी मित्र हो जायेगी। अतः यहाँ कहा 'यातुधान्यः परासुव' इनका मुख पलटना है, अनात्मा से इनको आत्मा की तरफ ले जाना है। अन्य कौनसे यातुधान्य हैं जिनको मोड़ना है, इस पर आगे विचार करेंगे।

११–३–७५

परमेश्वर के नाम और रूप का वर्णन करने के वाद यातुधान्यों की निवृत्ति के लिये प्रार्थना बता रहे थे। उसमें भी किस प्रकार से जो वृत्तियाँ कुमार्ग की तरफ ले जाती हैं, उन्हीं को सन्मार्ग में लगाया जाये, इस पर विचार करते हुए देखा कि परमेश्वराभिमुखी-भूत कर देने से ही वे वृत्तियाँ हमारी शत्रु न रहकर के मित्र बन जाती हैं। यही परमेश्वर की शंकररूपता है। शं माने कल्याण,

अमंगल को न करके जो मंगल को करे, उसी को शंकर कहते हैं। 'शं कल्याणं मंगलं'। हमारी वृत्तियां, हमारे दोष, हमारी इन्द्रियाँ, हमारा अंत:करण सबको वह अमंगल से हटाकर के उनकी अमांगलिक, अशिव प्रवृत्तियों को नष्ट करके शिव प्रवृत्तियों को, मंगल प्रवृत्तियों को आधान करते हैं, इसीलिये वह शं अर्थात् मंगल और कर: माने करने वाले हैं। न केवल वह मंगलरूप हैं वरन् मंगल करने वाले भी हैं। इसीलिये भगवान् शंकर की जो आराधना है, वह समग्र अमंगलों को नष्ट करके जीवन को मंगल रूप बनाने के लिये है। अमंगलों के नष्ट होने की परिसमाप्ति लोक में तब देखी जाती है जब मनुष्य गहरी नींद में सो जाता है। बड़े से बड़ा कष्ट मनुष्य के जीवन में हो, रोग हो, शोक हो, भय हो, बड़े से बड़ा अमंगल हो, लेकिन जिस समय में गहरी नींद में सो जाता है उस समय उसके सारे अमंगल नष्ट हो जाते हैं। अत्यन्त कष्ट में मनुष्य कहता ही यह है कि यदि किसी तरह से थोड़ी देर नींद आ जाये तो जी हलका हो जाये। भगवान् शंकर को इसीलिये शिव नाम से कहा गया। शीञ् शयने धातु से निष्पन्न होने वाला शिव शब्द उनकी मंगलरूपता को बताता है। जिस प्रकार मनुष्य जब सो जाता है तो उसके समग्र दु:ख निवृत्त हो जाते हैं, वैसे ही शिव सर्वदु:खनिवृत्ति रूप है। भगवान् शंकर की पूजा विशेष करके इसीलिये रात्रि में होती है और आज तो महाशिवरात्रि है ही। वैसे तो प्रत्येक कृष्ण पक्ष की चतुर्दशी ही शिवरात्रि होती है। कृष्ण अर्थात् अमावस वदी को प्रत्येक चतुदर्शी ही शिवरात्रि होती है। परन्तु उन सबकी अपेक्षा इसका फल अत्यधिक होने से इसको महाशिवरात्रि कहते हैं। भगवान् शंकर के जो सोमवार, प्रदोष इत्यादि व्रत हैं उनमें भी रात्रिपूजन का ही महत्त्व है। उसका कारण ही यह है कि रा शब्द का अर्थ संस्कृत में सुख होता है। इसलिये जो सुख वाला साधन हो, उसे रात्र या रात्रि कहते हैं। जो सुख देने वाली चीज है उसी को रात्रि कहा जाता है। 'शिवस्य प्रिया रात्रि यस्मिन्' शिव की जो प्रिय रात्रि, वह हुई शिवरात्रि।

रात्रि आनंद देने वाली, शिव भी सारे दुःखों को निवृत्त करके सारे अमंगलों को हटाकर के मंगल करने वाले हैं, इसलिये शिव को रात्रि अर्थात् सुख का काल प्रिय हो, यह स्वाभाविक है। शिव-रात्रि का जो विधान किया गया है, वह इस मंगल पद की प्राप्ति के लिये ही किया गया है।

स्कंदपुराण में तो शिवरात्रि को सबसे बड़ा व्रत बताया है 'परात्परंतरं नास्ति शिवरात्रि परात्परं' पर से पर अर्थात् श्रेष्ठ से श्रेष्ठ शिवरात्रि का व्रत है, इससे श्रेष्ठ और कोई व्रत नहीं है। जो इसके अन्दर भक्तिपूर्वक ईश्वर भगवान् शंकर की पूजा नहीं करते हैं, वे प्राणी हजारों वर्षों तक फिर चौरासी के चक्कर में घूमते रहते हैं। जिस प्रकार से प्रत्येक बड़ा आदमी जो भी धनी होता है तो वह कोई एक ऐसा उपाय रखता है कि इस उपाय से कोई हमारे पास आयेगा तो उसकी मदद करूँगा। कोई कहता है कि पाँच सौ आदमियों को रोज भोजन कराऊँगा। अपनी सामर्थ्य के अनुसार कोई कहता है कि कोई भी गरीब व्यक्ति आयेगा तो उसको विवाह के निमित्त से पाँच सौ रुपये दे दूंगा। कोई कहता है कि कोई भी बीमार आयेगा तो उसको पचास रुपये तक की औषधि दूँगा। किसी न किसी प्रकार से जो भी सामर्थ्य वाला व्यक्ति होता है, वह सामर्थ्यहीन व्यक्ति के लिये कोई न कोई ऐसा मार्ग और उपाय रखता है कि इसके द्वारा जो सामर्थ्यहीन होगा, उसको मैं लाभ पहुँचाऊँगा। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा देखता है कि सामान्य जीव न ब्रह्मविचार में समर्थ है और न धर्म के सभी नियमों को पालन करने में ही समर्थ है। प्रतिपद अर्थात् हर पैर चलता है तो कुछ न कुछ भूल ही करता है। भूल करना उसके लिये सहज है और ठीक रहना उसके लिये दुष्कर है। प्रयत्न करने पर भी कर नहीं पाता। इस प्रकार के सामर्थ्यहीन व्यक्तियों के लिये परमेश्वर कुछ देश और काल ऐसे निर्णीत कर देता है कि उन देश कालों का अवलम्बन करके, सहारा लेकर सर्वथा सहायहीन व्यक्ति भी

परमेश्वर की तरफ जाने में समर्थ हो सके। ऐसे देशकालों में शिवरात्रि का विशेष महत्त्व है। यदि इसका अवलम्बन नहीं करते हैं तो फिर चौरासी के चक्कर में पड़ता है, इसमें कोई संशय नहीं है। ऐसा नहीं समझ लेना कि इसको करने का अधिकार केवल शिवभक्तों को ही हो। भक्ति तो कारण है लेकिन भगवान् शंकर यह नहीं देखते कि यह किस इष्ट को मानने वाला है। इसीलिये पद्मपुराण में बताया है 'सौरो वा वैष्णवोवान्यद् देवतान्तरपूजकं' चाहे वह भगवान् सूर्य का उपासक हो, चाहे भगवान् विष्णु का उपासक हो, चाहे किसी भी अन्य देवता का पूजन करने वाला हो, शिवरात्रि में सबका अधिकार है और सबको एक जैसा ही फल मिलता है। इसके सहारे को लेकर के प्रत्येक व्यक्ति, किसी भी देवता का पूजक हो, अथवा किसी भी देवता का पूजक न हो तब भी इसमें अधिकारी है। वैपरीत्येन बताया है कि यदि इस व्रत को नहीं करते हैं तो बाकी किये हुए जो पूजन आदि हैं वे इसके सफल नहीं होते 'न पूजाफलमवाप्नोति शिवरात्रिवहिर्मुखः' किसी भी देवता का पूजन करने वाला हो या किसी भी देवता का पूजन न करने वाला हो, शिवरात्रि को पूजन करने से फल प्राप्त कर लेता है। यदि शिवरात्रि को नहीं करता है तो और भी किया हुआ जो उसका पूजन है, वह बेकार हो जाता है, व्यर्थ हो जाता है। इसलिये इस शिवरात्रि का वड़ा महत्त्व शास्त्रों में बताया है। भगवान् शंकर चूंकि व्यक्त और अव्यक्त उभयरूप हैं। व्यक्त रूप यह सारा जगत्, पंचमहाभूत, सूर्य, चन्द्र और आत्मा। ये सारे के सारे उन्हीं के रूप हैं। 'त्वमर्कस्त्वंसोमस्त्वमसिपवनस्त्वंहुतवहस्त्वमापस्त्वं व्योम त्वमुधरणिरात्मात्वमिति च।' आचार्य पुष्पदंत कहते हैं कि आप ही सूर्य और चन्द्रमा हैं, आप ही पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश और आप ही आत्मा हैं। यह भगवान् शंकर की अष्ट मूर्त्ति उनका व्यक्त रूप है जिसका अनुभव होता है और उनका जो निर्गुण परब्रह्म परमात्म रूप है, वह उनका अव्यक्त रूप है, अव्यक्त मूर्त्ति है। इसीलिए भगवान् शंकर का पूजन व्यक्त और अव्यक्त का जो मध्य

है, उससे किया जाता है। शिवलिंग को न तो व्यक्त मूर्त्ति कह सकते हैं क्योंकि उसमें कोई मुँह बना हुआ नहीं, कोई रूप भी बना हुआ नहीं, हाथ, पैर आदि कोई भी अंग बना हुआ नहीं है। इसलिये उसे व्यक्त अर्थात् प्रकट नहीं कह सकते। जैसे कारीगर को तुम कोई पत्थर दे दो, उसमें से वह कारीगर विष्णु का रूप बना ले, ब्रह्मा का रूप बना ले, देवी का रूप बना ले, सूर्य का रूप बना ले, राम और कृष्ण का रूप बना ले, राधा का और काली का रूप बना लेवे अर्थात् उस पत्थर में से जो रूप चाहे, वह बना लेवे परन्तु एक बार उस पत्थर को काटकर तुमने चतुर्भुजी रूप बना लिया, विष्णु भगवान् का रूप बना लिया तो अब उसे चतुर्मुखी ब्रह्मा का रूप नहीं दिया जा सकता। इसलिये जब मूर्त्ति बन गई तो वह व्यक्त हो गई, प्रकट हो गई। शिवलिंग में चूँकि अभी तक कुछ नहीं बनाया गया है, इसलिये उसे व्यक्त मूर्त्ति नहीं कह सकते। प्रत्येक व्यक्ति उसमें अपने इष्ट की मूर्त्ति को मन से गढ़कर देख सकता है। जो विष्णु का ध्यान करने वाला है, वह उसी लिंग में विष्णु का दर्शन कर ले क्योंकि उसमें कुछ बना हुआ तो है नहीं। राम का भक्त है तो राम की मूर्त्ति को, कृष्ण का भक्त है तो कृष्ण की मूर्त्ति को अपने मन में गढ़ ले, कोई रुकावट नहीं है क्योंकि वहाँ व्यक्त कुछ नहीं है। सर्वथा अव्यक्त भी नहीं है, सामने कुछ आलम्बन है भी। सर्वथा आलम्बन रहित मनुष्य को ध्यान करना पड़े तो बड़ा कठिन पड़ता है। इसकी विशेषता ही यह है कि यह व्यक्त और अव्यक्त के मध्य में है। यह जो उसका व्यक्त अव्यक्त रूप है इसमें यदि व्यक्त दृष्टि करके उपासना की जाये, चाहे वह व्यक्त मूर्त्ति पंचमुखी हो, चतुर्मुखी हो, सप्ताश्वरथारुढ हो, किसी भी व्यक्त मूर्ति को यदि मन में मानकर वहाँ पूजन करोगे तो उसका फल अपने इष्ट के लोक की प्राप्ति होगी। यह व्यक्त मूर्त्ति करके पूजन करने का फल है और उसी के अन्दर सामने वाले लिंग में या मूर्त्ति में यदि तुमने अव्यक्त का चिंतन किया अथवा उसमें अव्यक्त की दृष्टि कर ली तो निर्वाण, कैवल्य या मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी। इसीलिये कहा 'शिवं तु

पूजयित्वा यो जागर्ति चतुर्दशीं व्यक्ताव्यक्तमवाप्नोति' भगवान् शंकर का पूजन करते हुए जो यह चतुर्दशी जागरण में व्यतीत करता है लेकिन शिव का पूजन करते हुये ही व्यतीत करे, नहीं तो आजकल लोग जागरण करने के लिये रात भर का सिनेमा देखने भी पहुँच जाते हैं कि अपने तो रातभर जगना है। वह यहाँ नहीं कहा है। भगवान् शंकर का पूजन करते हुए जो रात भर बिताता है, पूजन करते हुए जगता है, अन्य कुछ करते हुए नहीं, वह फिर माता के स्तन को आकर कभी पीता नहीं अर्थात् उसका जन्म कभी होता नहीं। शिवरात्रि का यह माहात्म्य शास्त्रकारों ने पुराणों में बताया।

इसे महाशिवरात्रि क्यों कहते हैं ? भगवान् शंकर को चतुर्दशी क्यों प्रिय है ? रात्रि तो आनंद देने वाली है, यह बता दिया। अमावास्या का अर्थ होता है जिस दिन सूर्य और चन्द्र सर्वथा एक साथ हो जायें। अमा का मतलब होता है साथ-साथ, वस् का अर्थ होता है रहना। इसलिये अमावास्या वह हुई जिसमें सूर्य और चन्द्र एक ही नक्षत्र में एक साथ रहते हैं। सूर्य और चन्द्र के इकट्ठे रहने के कारण उसका नाम अमावास्या (अमावस) पड़ा। सूर्य को शास्त्रकारों ने आत्मा बताया है। 'सूर्य आत्मा जगतः तस्थुषश्च'। चन्द्रमा को शास्त्रकारों ने मन बताया है 'चन्द्रमा मनसो जातः' चन्द्रमा परमेश्वर का मन रूप है। इसलिये आत्मा और मन जब सर्वथा एक हो जायें, तब अमावास्या है। जब आत्मा और मन सर्वथा एक हो जायेंगे उस समय में जगत् प्रतीति नहीं रहेगी। वह तो हुआ अंतिम प्राप्तव्य। अमावस के ठीक पूर्व की जो स्थिति है वह कृष्णपक्ष की चतुर्दशी है अर्थात् अभी परमात्मा से सर्वथा एक तो नहीं हुए लेकिन चन्द्रमा सूर्य की राशि में जाने के लिए तैयार है। सूर्य के घर जाकर बैठने के लिए तैयार है। अमावस के प्रवेश होते ही तो चन्द्रमा सूर्य के घर पहुँच गया। लेकिन ठीक उसकी तरफ मुख करके पहुँचने को तैयार, एक पैर उठा हुआ, यह चतुर्दशी की स्थिति है। इसी प्रकार साधक का मन बाकी सब तरफ से हटकर परमेश्वर के साथ

एक हो जाने को, परमेश्वर के घर बैठ जाने को, उनकी गोद में चढ़ जाने को तैयार है। साधक के मन की यह स्थिति चतुर्दशी की स्थिति है। इसीलिए भगवान् शंकर को कृष्णा चतुर्दशी प्रिय हो गई है। अब फाल्गुन की चतुर्दशी को ही महाशिवरात्रि क्यों कहा। विचार करके देखो तो १४ की संख्या भी किसी विशिष्ट स्थिति को बताती है। मनुष्य के सभी कर्मों का कारण पंच कर्मेन्द्रिय, पंच ज्ञानेन्द्रिय और चार अंतःकरण (मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार) हैं। ये चौदह के चौदह जब परमेश्वर के पास जाने को तैयार हो गये तो यह चतुर्दशी हुई। इसीलिए ये चौदह ही तो जीव का सब कुछ है, इसके सिवाय इसके पास है क्या। लेकिन इनके परमेश्वर के पास जाने के तरीके दो हैं। एक जाता है लेकिन कुछ पीछे की तरफ खिचता है। और दूसरा जिसने पीछे को सर्वथा व्यर्थ समझ लिया कि यह सर्वथा वेकार है। वह फिर पीछे की तरफ नहीं देखता। मान लो किसी शहर में रह रहे हो और वहाँ बम पड़ने लग गये तो जिसका तो वहाँ मकान है, वह भी भागता है लेकिन वह भागते हुए बार बार सोचता है 'हाय मकान का क्या होगा'। आप लोगों में से वहुतों को सन् १९४३ याद होगा जब यहाँ जापान के वम पड़ रहे थे। जिनके मकान थे, उनकी छाती घुड़क घुड़क होती थी, यद्यपि जा रहे थे। और जिसका भाड़े का मकान था और सारा सामान भी एक पेटी में ही था, गहने भी उसी पेटी. में बंद थे? भागते हुए उसके मन में पीछे घुड़क घुड़क नहीं होती थी और कुछ छोड़कर नहीं जाते थे। इसी प्रकार जो संसार को व्यर्थ समझ लेता है, उसका खिचाव फिर पीछे की तरफ नहीं होता। संस्कृत में व्यर्थ को फल्गु कहते हैं। फल्गु का मतलब बेकार होता है अर्थात् जिसका कोई प्रयोजन न हो। जिसने संसार को फल्गु समझ लिया, वह फाल्गुन मास में पहुँच गया अर्थात् जिसने संसार को सर्वथा फल्गु समझ लिया, वह तो जब अपनी चतुर्दश इन्द्रियों को लेकर परमेश्वर में जाता है तो विदेह कैवल्य को प्राप्त कर लेता है क्योंकि उसको तो पीछे कोई खिचाव है नहीं।

जिसने अभी संसार को सर्वथा व्यर्थ नहीं समझा है, वह भी परमेश्वर की तरफ जाता तो है लेकिन कुछ न कुछ पीछे का खिचाव बना रहता है। इस खिचाव के कारण उसका वापस संसार की तरफ चलना हो जाता है। इसीलिये बाकी सबको शिवरात्रि कहा गया और फाल्गुन की शिवरात्रि को महाशिवरात्रि कहा गया।

फाल्गुन मास में पहुँचने के पहले माघ मास में पहुचना पड़ता है। हम लोगों के जितने महीने हैं, वे अँग्रेजों की तरह जनवरी, फरवरी जैसे बेकार के महीने नहीं हैं। इन सबमें कुछ रहस्य छिपा हुआ है। अघ माने पाप, और मा अघ अर्थात् जिसने पापों को छोड़ दिया, वह माघ मास में है। जिसने पाप कर्मों का त्याग कर दिया वही संसार को फल्गु समझ सकेगा। पाप कौन छोड़ सकेगा? उसके पहले पौष मास आयेगा। जिसने अपने ज्ञान का पोषण किया है, ज्ञान को पुष्ट किया है, वही पाप को छोड़ सकेगा। जिसने शास्त्र आदि के द्वारा अपने ज्ञान का पोषण नहीं किया, वह व्यक्ति कभी भी पाप को छोड़ने में समर्थ नहीं होगा। लेकिन किस ज्ञान का पोषण करना है? यह बी० एस-सी० (आनर्स) या डी० लिट् के ज्ञान के पोषण से नहीं होना है। इसलिये पौष से पहले मार्गशीर्ष आयेगा। मार्ग माने रास्ता और रास्ते का जो सिर हो, उसे मार्गशीर्ष कहते हैं। उपनिषदों को इसीलिये वेद का शिरो भाग कहते हैं जैसे अथर्व शिरोपनिषद्। मार्ग का जो शीर्ष वेदांत है, उनसे जो अपने विचार पुष्ट करेगा, वही पौष मार्ग में पहुँचकर माघ में जाकर संसार को फल्गु समझ सकेगा। लेकिन इस मार्ग में किसकी रुचि होगी अथवा आत्ममार्ग में किसी की रुचि होगी? जिसने पहले संसार के रूप पर विचार करके देख लिया है कि संसार के पदार्थ कल तक नहीं रहते। अ+श्व (आने वाले कल को श्व कहते हैं) कल तक कोई पदार्थ नहीं रहता, ऐसा जिसने विचार कर लिया और इस विचार के द्वारा जिसने संसार के अन्दर होने वाली जो अपनी आसक्ति है, उसका कर्त्तन कर दिया अर्थात् काट दिया। आश्विन में विचार कर कार्त्तिक में कृंतन करने वाला ही वेद के

शीर्ष भाग में रुचि लेकर आगे चलेगा, अन्यथा नहीं। हम लोग सब जीते हुए हरेक को मरते देखते हैं, हर चीज को नष्ट होते देखते हैं। लेकिन यह हमारे मन में नहीं आता कि हम भी मरेंगे। युधिष्ठिर की समस्या ही यह थी 'अहन्यहनि भूतानि गच्छन्तीह यमालये शेषास्स्थिरत्त्वमिच्छंति किमाश्चर्यमतः परं'। प्रतिदिन लोग यम के घर जाते हैं, मरते हैं लेकिन बाकी सब सोचते हैं कि हमारा नम्बर नहीं आने वाला है। ऐसा क्यों होता है? क्यों नहीं आश्विन मास की प्राप्ति होती है? जब तक हमारा आचरण कल्याणकारी नहीं होगा, तब तक यह विचार ही पैदा नहीं होगा। इसलिये पहले भाद्रपद में पहुँचना है। पद अर्थात् चलना और भद्र माने अच्छा। जो भद्र मनुष्यों के जैसा आचरण करेगा, उसी के मन में विवेक जाग्रत होगा, नहीं तो होने वाला ही नहीं है। अगला प्रश्न हो सकता है कि फिर सब लोग इस प्रकार का भद्र आचरण क्यों नहीं करते? क्योंकि श्रावण मास में नहीं जाते। सत्संग श्रवण करने को ही नहीं मिलता। श्रवण का मतलब सुनना होता है। इसलिये जो सत्संग का श्रवण ही नहीं करेंगे तो कहाँ से भद्र आचरण करेंगे। अभद्र आचरण ही करेंगे। बाप को तुकारा देंगे। माँ कोई बात कहे तो बच्चा कहता है 'हुं'। 'गुरु हुंकृत्य तुकृत्य रौखेनरके पचेत्' बड़ों को हुं तुं करने वाला आगे और क्या शुभ आचरण करने वाला हो सकता है। बड़े से बात करनी है। मान लो तुम्हारी समझ में भी आ रहा है कि यह ठीक नहीं कह रहे हैं लेकिन तुम्हारी भी तो भूल हो सकती है। तुम्हारे मुँह से यह क्यों नहीं निकलता 'चाचाजी! मेरी समझ में यह बात नहीं आई। एक बार फिर समझा दो।' यह क्यों निकलता है कि आप नहीं समझते। जिसने सत्संग नहीं किया होगा, वह कहाँ से भद्र आचरण करेगा। इसलिये बिना श्रावण के भाद्रपद माह में नहीं पहुँच सकते। हमारे यहाँ जितने कर्म हैं, सब साधनक्रम बताने वाली चीजें हैं। ऐसा नहीं समझ लेना कि ऐसे ही नाम रख लिये हैं, जैसे मर्जी वैसे। संसार को जो फल्गु समझ लेता है, उसी के लिये फाल्गुन

मास में महाशिवरात्रि की प्राप्ति होती है। वैसे भी फाल्गुन मास वर्ष का अंतिम मास है। इसके पहले ही या इसके अन्दर ही पतझड़ इत्यादि शुरू होकर वृक्षों के नये पत्ते आने प्रारंभ हो जाते हैं। देखते ही होंगे कि कहीं पत्ते झड़ रहे हैं, कहीं नये पत्ते निकल रहे हैं। यह नववर्ष का आरंभ है, गये वर्ष की समाप्ति है। इसकी प्रियता को देखकर भगवान् शंकर यह कहते हैं कि जीवन में एक नवीन अध्याय का मोड़ दो।

महाशिवरात्रि में प्रवेश करके पुरानी किताब को बंद करो, पुराने जीवन के अध्याय को बन्द करो। उसको खोल खोलकर वाँचने में कोई फायदा नहीं। हम लोग प्रायः इसीलिये नहीं सुधर पाते कि पहली बिगड़ी हुई चीजों को बार-बार देखते रहते हैं और साथियों को भी हम उनकी पुरानी बुराइयों को बार बार दिखाते रहते हैं। जैसे वृक्ष के पत्ते झड़ जाते हैं। फिर पुराने पत्तों को लेकर नये पत्तों को पैदा थोड़े ही किया जाता है कि अब क्या तू हरे पत्ते दिखा रहा है, पहले तो सूखे पत्ते तेरे अन्दर थे, मैं जानता हूँ तेरे को। नये वर्ष के पत्तों को देखकर हर्ष होता है। पुराने झड़ गये। इसी प्रकार हमने चाहे अपने जीवन में बड़ी से बड़ी गलतियाँ कीं, अथवा हमारे साथियों ने बड़ी से बड़ी गलतियाँ कीं, यदि उनके जीवन में अब हमको नये पत्ते नज़र आते हैं तो हम क्यों पुराने सड़े पत्तों को याद करें और याद दिलायें। वे तो खतम हो गये। यही बात भगवान् ने गीता में कही 'अपि-चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्य-वसितो हि सः ।। ६-३० ।।' चाहे जितना दुराचारी रहा हो, जहाँ उसने निश्चय किया कि अब नहीं करना है तो वह पुरानी किताब बन्द करो। भगवान् शंकर की शरण में महाशिवरात्रि को जब कोई जाता है तो वह पुराने बही खाते नहीं देखते कि पहले कैसा पापी था, क्या गलतियाँ कीं। वह सब कुछ नहीं देखते। वह तो कहते हैं कि तुम्हारा नया खाता चालू हो गया। इसीलिये फाल्गुन मास को उन्होंने अंत में रखा। शिवरात्रि को व्रत रखा जाता है।

व्रत का मतलब नियम होता है। इसके दो ही प्रधान नियम हैं। पहला तो उपवास। यथासम्भव कुछ न लें अथवा जैसी सामर्थ्य हो तदनुकूल फल लें, फलाहार ले लेवें अथवा कोई एक ही चीज खाकर रह जायें या एक ही समय खाकर रह जायें। अपनी-अपनी सामर्थ्य के अनुसार ले सकते हैं। वस्तुत: उपवास का मतलब क्या है ? उप का मतलब समीप होता है। जैसे राष्ट्रपति के बिल्कुल पास जो हो वह उपराष्ट्रपति, प्रधानमंत्री के बिल्कुल पास हो तो उप-प्रधानमंत्री। उप माने समीप और वास माने बसना या डेरा डालना। मारवाड़ में उसे बासा कहते हैं। उपवास का मतलब हुआ समीप रहना। 'उपसमीपे यो वास: जीवात्मपरमात्मन: उपवासस्स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम्' जीव का परमात्मा के पास बस जाना ही असली उपवास है। खाली शरीर को सुखाना उपवास नहीं। फिर क्यों कहते हैं कि नहीं खाओ। इसके दो कारण हैं। एक व्यावहारिक कारण है कि जब आदमी भोजन करता है तो भोजन का एक लम्बा चौड़ा प्रपंच है। उस सारे प्रपंच को अगर दिन भर करते रहोगे तो परमेश्वर के पास कब बैठोगे। वह एक पूरा प्रपंच है। और जिस दिन घर में भोजन नहीं बनता, समझ लो वह सारा प्रपंच खतम है। दूसरा एक और कारण है कि भोजन खाने वाले को भी भोजन खाने के बाद खुमारी आती है इसलिये वह भी परमेश्वर का चिंतन नहीं कर सकता। बढ़िया दाल का सीरा डट कर खाओ और फिर चाहो कि माला फेरें तो माला फेरोगे या बिस्तरा नज़र आयेगा। बनाने का झंझट और खाने के बाद परमेश्वर चिंतन की सम्भावना नहीं। वस्तुत: शास्त्रों में जहाँ कहीं अनशन कहा है, उसका मतलब है सब इन्द्रियों के द्वारा विषयों का ग्रहण न करना। जब बाह्य विषयों को छोड़ोगे तभी न बैठकर परमात्मा का चिंतन करोगे। वस्तुतः उपवास का मतलब है परमात्मा के पास बैठना और उसमें लाभकारी होने से कहा गया कि भोजन और बाह्य व्यवहारों के टण्टे को छोड़ो। यह समझना बहुत जरूरी है क्योंकि यदि न खाने से तुम्हारा

शरीर और ज्यादा कमजोर हो, माथा दुखे और तुम परमेश्वर का चिंतन न कर सको तो ज्यादा अच्छा है कि तुम खाकर परमात्मा का चिंतन करो। हल्का भोजन करो। उद्देश्य को छोड़कर कोई भी काम फायदेमंद नहीं रहता। यह प्रत्येक व्यक्ति को अपने शरीर के अनुसार देखना पड़ता है। उद्देश्य है 'उपसमीपे यो वास: जीवात्म परमात्मन:' कुछ लोग उपवास में, शिवरात्रि के उपवास में तो शायद ऐसा नहीं करते होंगे लेकिन करवाचौथ इत्यादि उपवास में खायेंगे नहीं, माथा दूखेगा तो बाँधकर बैठे रहेंगे और दुनिया भर का प्रपंच करेंगे। यहाँ का तो पता नहीं लेकिन दिल्ली में औरतें बैठकर उस दिन ताश खेलती हैं। उससे अच्छा तो खा लो क्योंकि उद्देश्य परमेश्वर का चिंतन है। इसलिये शास्त्र ने कहा, व्रत कोई शरीर का सुखाने की दवाई नहीं है, डार्यटिंग का साधन नहीं हे। यह तो उस मूल उद्देश्य के लिये सहयोगी है। अन्यत्र बताया है 'उपवासस्तुवासो गुणै सह' अर्थात् पापों से हटकर गुणों के साथ रहना। एक में पाप को छोड़कर सद्गुणों के साथ रहना, दूसरे में किसी भी संसार की कामना को छोड़कर परमात्मा के साथ रहना। एक तो शिवरात्रि का उपवास प्रधान अंग है, दूसरा जागरण है।

रात्रि में जगना चाहिये। भगवान् ने इसीलिये गीता में स्पष्ट कहा है 'या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी' जो संयमी पुरुष होता है, वह, संसार जिसको रात्रि समझता है, उसमें जगता है। हम लोगों को लगता है कि संसार के व्यवहार में पदार्थ नहीं रह जायेंगे तो कुछ नहीं रह जायेंगे। इसी प्रकार से रात्रि है सुखदायिनी लेकिन उस सुखदायिनी अवस्था के अन्दर हम जाग्रत नहीं रह पाते। यह जरा कठिन विषय है फिर भी थोड़ा संकेत कर देंगे। हम लोगों को सुषुप्ति के अन्दर सारे सुखों की प्राप्ति होती है, इसलिये उठकर कहते हैं कि बहुत सुख से सोये। लेकिन सुषुप्ति काल में उस आनंद का पता नहीं लगता है। उस समय नहीं पता लगता कि कितना बड़ा सुख है अर्थात् जिस समय सुख है उस समय तुम जग नहीं पाते, उसको समझ नहीं पाते। इसीलिये महर्षि

वशिष्ठ कहते हैं 'यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो जागद्धर्मविवर्जितः' जो सुषुप्ति अवस्था के अन्दर जगा रह सके, वही निर्विकल्प समाधि में है। निर्विकल्प समाधि में बस यही होता है। अवस्था सुषुप्ति की लेकिन सुषुप्ति अवस्था में ज्ञान नहीं रहता। सुषुप्ति की तो आनंद की अवस्था हो लेकिन संसार का कतई भान नहीं, अज्ञान की अवस्था न हो। उस अवस्था को हम देख रहे हों, भोग रहे हों। इस सुषुप्ति में जगना ही वस्तुतः रात्रि का जागरण है। यही निर्विकल्प समाधि है। इसीलिये महाशिवरात्रि का इतना फल है। ईशान संहिता में बताया है 'शिवरात्रिव्रतंनाम सर्वपापप्रणाशनं शिवरात्रि का व्रत सारे पापों को नष्ट करता है और आचाण्डाल मनुष्यादि को इसके करने का अधिकार है। चाण्डाल पर्यन्त सब मनुष्यों को है। शिवरात्रि की कथा में यही बताया गया है कि व्याध को भी इसका फल मिला है। यह भोग और मोक्ष दोनों को देने वाला है। इसलिये इसके अनुष्ठान से ही मनुष्य को शान्ति मिलती है। आज हम लोग इस दृष्टि को नहीं अपना पा रहे हैं, इसीलिये देश में, राष्ट्र में, समाज में और घर में सब जगह अशांति है। जहाँ जाओ, वहाँ अशांति ही अशांति मिलती है। घर में तो अशांति, दस आदमियों के समाज में भी अशांति, इसका कारण यही है कि लोग शिवरात्रि का अनुष्ठान नहीं करते। इस प्रकार शिवरात्रि के तात्पर्य को समझकर जब मनुष्य शिवरात्रि का व्रत करता है तब इस फल को प्राप्त करता है। 'अध्यवोचदधिवक्ता प्रथमो दैव्यो भिषक्' में कहा था कि जो कार्य किया जाये, उसे पूरी तरह से समझकर किया जाये। इसलिये शिवरात्रि के पूजन का तात्पर्य बता दिया।

१२-३-७५

षष्ठ मंत्र की व्याख्या

असौ यस्ताम्रो अरुण उत बभ्रुः सुमङ्गलः।
ये चैनं रुद्रा अभितो दिक्षुः श्रिताः सहस्रशोवैषां हेड ईमहे ॥६॥

पांचवें मंत्र में उस परमात्मा की प्राप्ति के लिये नाम और रूप के साधनों का उस परमेश्वर में अधिवदन के द्वारा स्वरूप प्रतिपादन किया क्योंकि विना नामरूप के सहारे को पकड़े हुए मन, चिकना होने के कारण, उस आत्मतत्व को नहीं पकड़ सकता। इसलिये जैसे कुश्ती लड़ने वाला हाथ में मिट्टी लगाता है तेलयुक्त पहलवान को पकड़ने के लिये, उसी प्रकार यहां पर भी परमेश्वर के नामरूप का सहारा लिया जाता है, मन के अन्दर परमेश्वर की पकड़ को ठीक प्रकार से करने के लिये। अब परमेश्वर के नामरूपों के सहारे से अहि रूप अज्ञान और यातुधान्य अर्थात् काम, क्रोध आदि विकार दूर किये जाते हैं, उनके जहर को नष्ट किया जाता है। यह पांचवें मंत्र में बताया। अब, परमेश्वर के वे रूप अनेक प्रकार के हैं। उन रूपों के विषय में विस्तृत विचार छठे मंत्र में प्रारंभ करते हैं। 'असौ' का मतलब होता है यह जो चारों तरफ दीख रहा है अर्थात् जो सामने ही प्रतीत हो, जिसमें कल्पना करने की जरूरत नहीं पड़ती। वेदों की यह एक विशेषता है कि जब कभी परमात्म तत्व के ऊपर, आत्मतत्व के ऊपर, धर्म तत्व के ऊपर अथवा किसी भी तत्व पर विचार करने में प्रवृत्त होता है, तो जो हमेशा सिद्ध है, जो सब प्राणियों के अपने अनुभव में आता है, उसके आधार को लेकर करता है। फिर जिस नई बात का अनुभव कराना है, उस तरफ ले जाता है। नतीजा यह होता है कि साधक को आगे

बढ़ने में कुछ विशेष कठिनाई का अनुभव नहीं होता। ज्ञात से अज्ञात की ओर ले जाना, यह वेद की विशेषता है। अन्य शास्त्रों में प्रायः पहले ही अज्ञात विषय को सामने रख देते हैं, जो चीज मनुष्य के अनुभव की नहीं, उसको ही पहले सामने रख देते हैं। नतीजा यह होता है कि साधक घबरा जाता है और उसको जल्दी श्रद्धा नहीं होती। मनुष्य के अन्दर बुद्धि अंतिम तत्व है इसीलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं 'बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः' बुद्धि किसी चीज को आग्रह से पकड़ के नहीं बैठती। कई बार लोग कहते हैं कि ऐसा जमाना बदल रहा है कि लोगों के बच्चों के विचार उनसे विरुद्ध बन रहे हैं। अविचारशील लोग उसे जमाने की हवा का नाम लेकर छोड़ देते हैं। आगे कोई पूछता नहीं कि हवा में कौनसी चीज बदली है। ओषजन (आक्सीजन) बदल गया या नत्रजन (नाइट्रोजन) बदल गया, क्या चीज बदल गई और वही हवा तुम भी तो अपनी श्वास से ले रहे हो। ऐसा तो नहीं कि तुमने कोई आक्सीजन टेंकर लगा दिया हो जो अलग से कुछ हवा ले रहे हो। जमाने की हवा का क्या मतलब। यह तो एक बोलने की बात है वस्तुतः 'बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः' बुद्धि का धर्म है कि जिसको सत्य समझेगी उसको पकड़ेगी और जिस चीज को वह असत्य समझेगी उसको वह आग्रह करके अधिक समय तक पकड़कर नहीं रख सकती क्योंकि बुद्धि का धर्म अनाग्रह है। जमाने की हवा और कुछ नहीं है। जिन चीजों को हम गलत समझते हैं, उन चीजों के लिये पुत्र बुद्धि के आधार पर प्रमाण प्रस्तुत करता है। अब हम तो नया अध्ययन करते नहीं। इसलिये जब हम अपने बच्चे को अपनी बात नहीं समझा पाते तो बजाय यह समझने के कि बुद्धि का धर्म अनाग्रह होने के कारण गलती उसकी नहीं है, हमको समझना पड़ेगा कि किस हेतु से, किस निमित्त से, किस अनुभव के आधार पर बच्चा किसी चीज को गलत समझता है। यदि हम उसकी बुद्धि में यह बात बिठा सकें कि उसके गलत समझने का कारण यह है, तो वह उसे छोड़ देगा क्योंकि बुद्धि का धर्म अनाग्रह है; हम, या

उससे रूठकर मुँह मोड़ लेते हैं, कि जो तेरी मर्जी सो कर, या एक डण्डा जो जानते हैं, वह उठा लेते हैं, कि जब तक मैं घर में हूँ, तब तक तो ऐसा ही होगा। मेरे मरने के बाद मर्जी आवे सो करना। ये दोनों कोई युक्ति नहीं है, यह तो एक प्रकार का क्रोध है। इससे किसी की समझ में बात नहीं आया करती। बुद्धि का धर्म तो अनाग्रह है। आज जब हम कहते हैं कि जमाने की हवा बदल गई तो उसका एकमात्र कारण यह हो सकता है कि ऐसी नई बातें और नई युक्तियाँ हमारे बच्चों के सामने आई हैं जिनका जवाब हमारे पास नहीं है। कहोगे कि जवाब क्यों नहीं है? सच्ची बात बता देते हैं। हम भी उन्हीं चीजों को मानते हैं जिनको हमारे बच्चे मानते हैं। बच्चे ईमानदार हैं, इसलिये मुँह से कह देते हैं और हमारे में पाखण्ड ज्यादा है, इसलिये हम छिपा जाते हैं।

एक दृष्टांत देते हैं। हम सब लोग कहते हैं कि शास्त्र कहता है कि सत्य में बड़ा बल है। 'सत्यमेव जयते नानृतम्' इस बात को हमारे राष्ट्र ने भी अपना नारा मान लिया है। हम सब भी कहते हैं कि साँच को आँच नहीं। लेकिन मानते क्या हैं? बिना झूठ के काम नहीं चलता। यह वेद में कही हुई बातें तो बोलने के लिये हैं, करने के लिये नहीं। साँच को सिवाय आँच के और कुछ नहीं आता, यह हमारे अन्दर का निश्चय है। यदि वेद सत्य है तो सत्यमेवजयते सत्य है। बुद्धि कहती है कि यह बात सत्य नहीं है। यदि यह सत्य नहीं तो वेद सत्य नहीं। हम पाखण्ड करके सत्यमेव जयते और अपने आपको वेद का मानने वाला भी कह सकते हैं और अन्दर से वेद फालतू है, यह भी मान सकते हैं। बच्चा यह नहीं मानता। वह कहता है कि जब रात दिन कह रहे हो कि वेद झूठा है, सत्य से हार होती है तो फिर वेद की बातों को क्यों मानना, फालतू की चीज है। लोग कहते हैं नहीं नहीं, ऐसा न बोला कर। 'अरे, वेद झूठा है यह माना करते हैं और वेद सच्चा है, यह बोला करते हैं।' इस पाखण्ड को बच्चा स्वीकार नहीं करता और कुछ बात नहीं है। 'बुद्धेर्धर्मोनाग्रहः' बुद्धि कहती है कि

यदि वेद गलत बात कहता है तो वेद गलत है। अब परिस्थिति क्या है ? शंका होती है कि फिर सच्ची बात क्या है ? आगे स्वयं वेद स्पष्ट करता है, हम लोग तो पूरा मंत्र नहीं देखते 'सत्यमेव जयते नानृतं सत्येनपंथा वितता देवयाना' सत्य जीतता है अर्थात् सत्य के द्वारा देवयान का मार्ग विस्तृत होता है। सत्य यहाँ मुकदमा जीतने की बात नहीं बता रहा है वरन् 'सत्येन पंथा वितता देवयान'। देवयान माने क्या ? यान मार्ग या रास्ते को कहते हैं यदि दैवी सम्पत्ति प्राप्त करना चाहते हो, यदि देवता बनना चाहते हो तो बिना सत्य के सहारे के नहीं बन सकते। दैवी सम्पत्ति विस्तार से भगवान् ने गीता में बताई ही है। देव शांत होते हैं और असुर अशांत होते हैं। यदि शांति चाहते हो तो सत्य का सहारा लेना पड़ेगा। अब यह अर्थ सुस्पष्ट है। अगर हम बच्चे को कहें कि यदि शांति और सुख व्यक्तिगत जीवन में, सामाजिक जीवन में; राष्ट्रीय जीवन में अपनाना चाहते हो तो सत्य का सहारा लो। अशांति और दुःख को पकड़ना चाहते हो, सांसारिक पदार्थों को लेना चाहते हो तो असत्य का मार्ग अपनाओ। दोनों का भेद हो गया। जैसे रसगुल्ला बड़ी बढ़िया मीठी चीज है। लेकिन जो मधुमेह का रोगी हो, चीनी की बीमारी का शिकार हो, उसके लिये वह रसगुल्ला जहर है, यह भी निश्चित है। यदि हम उसको यह कहते हैं कि तुम चीनी की बीमारी से छूटना चाहते हो तो रसगुल्ला मत खाओ और यदि चीनी की बीमारी में रचपच के मरना चाहते हो तो खाओ। दोनों रास्ते खुले हैं। इसी प्रकार यदि तुम अशांति और दुःख में फँसना चाहते हो तो सत्य को छोड़ो। शांति और सुख को प्राप्त करना चाहते हो तो सत्य को पकड़ो। 'सत्येन पंथा वितता देवयान'। हो सकता है कि तुमको धन और पद कम मिले, प्रतिष्ठा कम मिले इत्यादि ये सब चीजें कम मिल सकती हैं लेकिन शांति और सुख पूर्ण मिलेगा, यदि तुमने सत्य को पकड़ा। प्रतिदिन व्यवहार में देखते हैं कि किसी ने पूछा कहाँ जा रही हो ? जाना तुमको सिनेमा है। तुमने सोचा कि इससे यह कहेंगे तो यह सास को झट

खबर कर देगी इसलिये इससे छिपाना भी है। उसको कह दिया कि भौजाई की ननद से मिलने जाना है। उसको तो यह कह दिया लेकिन अब जब आगे चलोगी तो पाँच सात मिनट बाद हर चौराहे पर मुड़कर देखोगी कि पीछे कहीं वही औरत तो इसी रास्ते से नहीं आ रही है। सिनेमा में टिकट लेने पहुँचोगी तो भी चारों तरफ देखोगी कि कोई देख तो नहीं रहा है। सिनेमा के बाहर निकलोगी तो देखोगी कि कोई देख तो नहीं रहा है। इतनी अशांति झूठ बोलने से उसी समय होगी। उसके बाद भी पाँच चार दिन मन खुड़क-खुड़क करता रहेगा और इस बीच वह कहीं सास से मिलने आ गई तो कोई न कोई बहाना बनाकर भौंरे की तरह वहीं चारों तरफ घूमती रहोगी ताकि कोई बात उस दिन की यदि उठी तो झट अपने को पता लग जाये, इसे अकेली न छोड़ूं, न जाने बता ही दे। और यदि तुम जा ही रहे हो, किसी से मिलने के लिये तो मन में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। सत्य से सुख और शांति, असत्य से दुःख और अशांति प्रत्यक्ष सिद्ध है। अगर हम बच्चों को 'सत्यमेव जयते' से अगली पंक्ति स्पष्ट रूप से बता सकें 'सत्येन पंथा वितता देव याना' तो बच्चों के मन में यह भावना नहीं आयेगी कि वैदिक धर्म ठीक नहीं है। हम उनको समझा नहीं पाते और उसका दोष दे देते हैं कि जमाने की हवा ऐसी है और कुछ नहीं है। जैसे सत्य का विषय, वैसे ही सब चीजों का विषय है। शास्त्र सच्चे हैं, ऐसा हम लोगों का आज भी उद्घोष है लेकिन उनको समझने के लिये जो प्रयत्न करना अपेक्षित है, वह हम लोग नहीं कर पाते।

बात यह है कि शास्त्र एक ऐसी चीज है जिसको प्रत्येक पीढ़ी को अपने जीवन के अन्दर लाकर पुनरुज्जीवित करना पड़ता है। हमारे यहाँ जो कहा गया है कि वेद श्रुति है अर्थात् गुरु के मुख से निकलकर के सीधे शिष्य के हृदय में जाती है तो इसका क्या तात्पर्य है? ऐसा कुछ नहीं है कि हम लोगों को लिखना नहीं आता। बहुत से लोग ऐसा कह देते हैं कि पहले लोगों को लिखना नहीं आता था इसलिये इसे श्रुति कह दिया होगा क्योंकि पहले रट कर ही याद

करते थे। ऐसी कोई बात नहीं है। लिखना हम लोग जानते थे लेकिन हम लोगों के कहने का तात्पर्य यह था कि गुरु ने अपनी पीढ़ी में जो अनुभव किया, उसको बदली हुई परिस्थितियों में जब तक शिष्य के अनुभव में नहीं उतार देगा तब तक वह वेद श्रुति नहीं, वे जड़ शब्द हैं। प्रत्येक पीढ़ी जब उस अनुभव को दोहराती है, अपने जीवन में उस अनुभव को देखती है तब वह शास्त्र या श्रुति होती है और वह मार्गदर्शन कर सकती है। यदि ऐसा नहीं होता है, यदि हम अपनी पीढ़ी में शास्त्र के वचनों को अपने जीवन के द्वारा उद्भासित नहीं कर सकते तो वे मंत्र व्यर्थ हो जाते हैं। वे मंत्र श्रुति नहीं रह जाते क्योंकि वे हृदय में जो नहीं उतरे हैं। यही परिस्थिति हमारे ज्ञान को दृढ़ नहीं होने देती। जीवन के अनुभव में नहीं उतरती। अनुभव में क्यों नहीं उतरती? उसके लिए जितनी साधना अपेक्षित है, वह बिना किये ही हम अपने आपको पूर्ण मान लेते हैं। पहले एक आदमी वेद आदि सच्छास्त्रों को लेता था तो कई दशाब्दियाँ लग जाती थीं उसको समझने में, उसी में वह ३०-४० साल बिता देता था। तरह-तरह से, तरह-तरह की दृष्टि से, सुनाते थे, वह अध्ययन करता था। आज हम उसके लिए तैयार नहीं हैं क्योंकि आज तो हम सबके अन्दर जल्दबाजी है, जैसे बच्चा परीक्षा में प्रश्नोत्तरी याद करके प्रथम श्रेणी में पास होना चाहता है। पिछले दस बारह वर्ष के प्रश्नों का उत्तर तैयार कर लिया और हो गये बी०एस-सी० आनर्स, लेकिन विषय क्या खाक समझ में आया। अब यही स्थिति धर्म के विषय में है। कोई पुराण के दो चार श्लोक कहीं के बाँच दिये, कहीं से दो चार मंत्र बाँच दिये और कहीं से वेदान्त के दो चार प्रश्नों के उत्तर याद कर लिये कहीं थोड़े से रामायण के दोहे याद कर लिये तो सोचते हैं कि धर्म का ज्ञान हो गया। किसी भी विषय के अन्दर हमने २०-२५ साल के जीवन की साधना को तो लगाया नहीं। पहले मनुष्य इतनी साधना करने के बाद भी सोचता था कि अभी मैंने कुछ जाना ही नहीं। कोई बात होती थी तो आदमी कहता था

कि क्या वतायें हमने, अपना जितना समय देना चाहिये था, उतना दिया नहीं, यह मानता था। और आज सामने वाला कहे कि तुम्हारी वात समझ में नहीं आई तो वह कहता है कि नहीं आई तो तुम्हारी गलती, हम क्या करें। हम तो अपनी बात समझा चुके। यह दृष्टि का भेद है।

एक पंडित राजा के पास गया और जाकर कहा कि आप मेरे से श्रीमद्भागवत सुन लो। राजा ने कहा—पहले आप ही अच्छी तरह से विचार कर लो, अच्छी तरह समझ लो फिर उसके बाद मैं भी आपसे भागवत सुन लूंगा। पण्डित जी ने विचार किया कि राजा ने कहा है तो ठीक है। जाकर और दो तीन टीकाओं को उन्होंने वांच लिया। अच्छी तरह से तैयार की क्योंकि राजा को सुनानी थी। साल भर बाद आकर कहने लगे—राजन् ! मैंने बहुत बढ़िया तैयार की है, आप सुन लो। राजा ने कहा- थोड़ा और विचार करो और अच्छी तैयार कर लो। अव तक पंडित जी टीकायें तो बांच चुके थे इसलिये भागवत के तात्पर्य को समझने की कोशिश करने लगे। पहले तो यह था कि दूसरे को अर्थ कैसे समझाया जाये और अब जब उसका विचार करने लगे तो उनके मन में परीक्षित और शुकदेव आ गये और उस प्रकरण को देखकर परीक्षित के हृदय में वैराग्य का उदय हुआ। परीक्षित का अनुभव वाक्य भी वैराग्यपूर्ण ही है। जब शुकदेव परीक्षित को भागवत सुनाकर पूछते हैं कि तुमने क्या समझा ? तव परीक्षित जवाब देता है कि मैं शुद्ध चिन्मात्र हूँ, परब्रह्म परमात्म रूप हूँ, यह बात मेरे को स्पष्ट हो गई है। अब जब लेलायमान लपकता हुआ तक्षक मेरे को काटने आयेगा तो मेरे को उसमें कोई दु:ख का अनुभव होने वाला नहीं है। यह शरीर मेरे को वैसा ही लगता है जैसे साँप को अपनी केंचुली। यह परीक्षित ने अपना अनुभव श्रीमद्भागवत में कहा है। यह अनुभव कहने पर भागवतकार ने एक विचित्र स्थिति पैदा कर दी। परीक्षित के यह कहने के साथ ही शुकदेव वहाँ से तुरन्त उठकर चल दिये। जब तक्षक ने परीक्षित को काटा है, तब शुकदेव वहाँ नहीं थे। उठ कर चले तो न

परीक्षित कहता है कि महाराज ! अब तो आज सातवाँ दिन है, थोड़ी देर में तक्षक काटने आ ही रहा है, आप बैठे रहें, आपके रहते शरीर छोड़ूंगा। ऐसा कुछ नहीं कहा क्योंकि जानते हैं कि जो तत्व शुकदेव में है, जो ब्रह्मा विष्णु में है, वही तत्व मेरे हृदय में है। फिर किसको कहें कि तुम बैठो। न शुकदेव हो यह कहते हैं कि चलो सात दिन तो हो ही गये, अब अन्तिम समय भी बैठ जाता हूँ। जब पता लग गया कि निश्चय हो गया तो अव क्या जरूरत है। सात दिन तक बैठकर उपदेश करने वाले और पाँच दस घण्टे बैठ जाते तो कोई फरक नहीं पड़ना था। लेकिन यह स्थिति दिखाने के लिए कि ज्ञान होने के बाद शिष्य निर्भय और निरपेक्ष हो जाता है, शुकदेव तुरन्त वहाँ से उठकर चल दिये, ये सारी बातें जब उस पण्डित ने समझीं और विचारीं तो उसके हृदय में आया कि इस स्थिति का अनुभव करना चाहिए। 'बुद्धेर्धर्मोऽनाग्रहः' जहाँ बुद्धि में बात उतरती है, वहाँ मनुष्य झट उधर चल देता है। वह पण्डित जी अब एकान्त में गंगा किनारे जाकर बैठ गये और परमात्म भजन में लग गये। इधर दो तीन साल हो गये, राजा ने विचार किया कि पण्डित जी नहीं आये, क्या बात है ? पता लगवाया तो पता लगा कि वह तो अब वैराग्यवान् होकर एकांत में रहते हैं। कई बार वह तुम्हारे पास गया, तुमने भागवत सुना नहीं इसलिये वह दुःखी होकर जंगल में चले गये। लोगों की तो यही समझ में आया कि बेचारे को राजा ने कुछ दिया नहीं तो चले गये। लेकिन राजा विचारशील था, वह समझ गया। इसीलिये राजा ने कहा था कि अभी और विचार करो। अब राजा स्वयं चलकर वहाँ पहुँचा। पण्डित ने बड़े प्रेम से राजा को बिठाया। राजा ने कहा कि आप सुनाने नहीं आये, इधर आ गये। पण्डित ने कहा— राजन् ! तुमने मेरे लिये वही काम किया जो गुरु करता है। तुम्हारे ही कारण मैंने भागवत को विचारा तो मेरे हृदय में वैराग्य उदय होकर मेरे हृदय में परमेश्वर आ गये। अब तुम्हारे को क्या सुनाऊँ ? अब जब तक भागवत का साक्षात्कार न हो, तब तक मैं

किसी को सुनाने का अधिकारी अपने को नहीं मानता। बिना अनुभव के कोई चीज किसी को बताऊँगा तो वह शास्त्र नहीं हो पाती है। क्या कारण है कि वेद आदि सच्छास्त्र आज हमारे जीवन के अन्दर नहीं उतर पा रहे हैं? लोग कहते हैं कि जमाने की हवा वदल गई है और कुछ कारण नहीं है। सीधी सी बात है कि हम लोगों ने अपने जीवन में, उन वेद आदि सच्छास्त्रों को हृदय में नहीं उतारा इसलिये हम बच्चों को वह ज्ञान, आस्था और निष्ठा दे नहीं पाये। यदि हम चाहते हैं कि ये पुनः पुनरुज्जीवित हों, पुनः जाग्रत हों तो पहले वेद में कही बातों को अपने हृदय में उतारना पड़ेगा। आज के जीवन के अनुकूल उसको जब तक हम अनुभव में नहीं लायेंगे तब तक काम नहीं चलेगा। अनुभव के बिना कही हुई वात में जोर नहीं आता। उसमें बल नहीं होता। अनुभव-युक्त वाक्य में यह वल होता है। उसमें एक सामर्थ्य होती है। यहाँ वेद की सामर्थ्य को प्राप्त करने के लिये अनेक प्रकार की उपासनाओं का संकेत करते हैं।

सबसे पहले कहते हैं 'असौ' अर्थात् जो अनुभव में आता है। यह जो ब्रह्माण्ड हमारे अनुभव में आ रहा है, यह सारा कैसा है? 'असौ सुमंगलः' यह संसार केवल मंगल रूप ही नहीं, श्रेष्ठ मंगल (सुमंगल) रूप है। कोई कहता है कि संसार बुरी चीज है, कोई कहता है कि संसार से बचकर भाग निकलना चाहिए, कोई कहता है संसार जैसी तो कोई गिराने वाली चीज नहीं और वेद कहता है कि यह संसार (असौ) जो तुमको दीख रहा है, यह तो अत्यन्त मंगलकारी है, कल्याणकारी है। और कौन कहेगा कि यह संसार जो तुम्हारे अनुभव में आ रहा है, यह मंगलकारी है। अन्यत्र सामवेद की कौथुमी शाखा कहती है कि यह संसार क्या है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि 'इदं बुद्धिकालेपि सर्वं ब्रह्म एव' जिस समय यह संसार अनुभव रूप में प्रतीत होता है उस काल में भी ब्रह्म ही है। आगे होगा, ऐसा नहीं है। जो ब्रह्म पवित्रों को पवित्र करने वाला,

मंगलों को मंगल देने वाला 'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलं' है, वह ब्रह्म ही इस जगत् रूप में जब विद्यमान है तो इसकी सुमंगलता में सन्देह की जगह कहाँ है ? फिर इससे यह अंगल क्यों लगता है ? ज्योतिष शास्त्र में एक मंगल ग्रह होता है। कई बार लोगों ने इसका नाम सुना होगा क्योंकि बदनामी जितनी जल्दी होती है, सुनामी नहीं होती। कोई आदमी २५ साल से किसी पद पर हो, मुनीम हो चाहे मन्त्री हो, चाहे कोई पद हो। २५ साल में उसने एक पैसे की चोरी नहीं की। उसके बारे में कभी कोई बात सुनी ही नहीं। उसके बाद एक बार सच्ची या झूठी बात आई कि उसने चोरी की तो सब उस चोरी की बात तो करते हैं लेकिन उसने जो २५ साल की नौकरी में चोरी नहीं की, उसकी बात कोई नहीं करता। जो कुछ उसने २५ साल में किया, उसको कोई याद नहीं रखता और आज उसने एक चोरी की तो इस बात को सभी याद रखते हैं। इसी प्रकार से मंगल ग्रह है तो मंगलकारी लेकिन कभी कदाचित् किसी कारण से यदि अमांगलिक प्रतीत होता है तो झट लोग याद रखते हैं कि मेरा लड़का मंगल या मेरी लड़की मंगली है। यह झट याद कर लेते हैं। वस्तुतः उसका नाम मंगल ग्रह क्यों है ? नाम बुरा नहीं है। कोई व्यक्ति अपने पद पर सर्वोत्कृष्ट भाव को तभी प्राप्त करेगा जब उसका मंगल अच्छा होगा। बड़ा सेनापति, सेनाध्यक्ष जिस किसी चीज के अन्दर जहाँ अपना हुक्म मनवाने वाला व्यक्ति होगा तो उसका मंगल तेज होगा। अब ब्याह शादी में मंगल क्यों खराब हो जाता है ? इसीलिए कि जिसका मंगल बहुत अच्छा होगा वह जब सब पर रुबाब करेगा, सबको अपने अधीन करेगा, अपने अनुशासन में लायेगा तो अपने पति या पत्नी को भी उसी प्रकार से अनुशासन में लायेगा या लायेगी। पति यदि बहुत अनुशासन में लायेगा तो माना जायेगा कि यह पत्नी के लिये भयंकर और यदि पत्नी मंगली हुई तो वह पति पर अनुशासन लायेगी तो कौटुम्बिक सुख में विघ्न हो जायेगा। जब मानसिक अनुशासन करेगा, हो सकता है

शरीर भी गिरे, इसलिये शरीर की दृष्टि से भी दूसरा कमजोर पड़ जाता है। इतना ही नहीं उसमें शक्ति का वाहुल्य होने के कारण वह अपने दूसरे साथी की शीघ्र मृत्यु का कारण हो जाये। ये सारे के सारे अन्य कार्यों में तो गुण हैं, कहीं सेनाध्यक्ष बना, कहीं व्यापार में वहुत बड़ा व्यक्ति बना। तुम्हारा जो सामना करने वाला हो, वह बुद्धि से भी तुमसे कमजोर और धन से भी कमजोर और ज्यादा मुकावला करेगा तो तुम्हारी शक्ति के सामने नष्ट भी हो जाये। इसी मंगल के कारण तुम सफल व्यापारी, सफल प्रशासक, सफल साधक सब जगह सफल लेकिन कौटुम्बिक सुख के लिये यह अच्छी चीज नहीं भी है। लेकिन सब ने मिलकर यह मान रखा है कि यह बुरी ही चीज है, खरावी ही करता है। मंगल खराव नहीं, उसके दुरुपयोग से ऐसा मान लेते हैं। जब उसका प्रयोग अपने आपसी पति पत्नी, या पुत्र पिता के व्यवहारों में होता है तो उस काल में उसे बुरा कह दिया जाता है।

इसी प्रकार यह जगत अमांगलिक नहीं है। यह तो ब्रह्मरूप है 'पवित्राणां पवित्रं यो मंगलानां च मंगलं' अथवा जैसा यहां कहा 'असौ सुमंगलः' यह वेद कहता है लेकिन यदि इस संसार का भोग इत्यादि के अन्दर हम दुरुपयोग करते हैं तव यह अमांगलिक हो जाता है। श्रुति कहती है कि इसकी अमागलिकता को याद न करके याद तो यह रखो कि 'असौ सुमंगलः'। सदुपयोग के द्वारा जव इसे देखते हैं तो यह मंगल रूप ही मंगल रूप दिखता है। थोड़ा सा विचार करो कि परमेश्वर ने कैसा सुन्दर जगत् वनाया है। एक दाना वोते हो और हजार दाने निकलते हैं। है तुम्हारी कोई फैक्ट्री कि एक दाना डालो और उसमें थोड़ी सी मिट्टा खाद और पानी डाल दिया और वह भी नहीं डालते हैं और ऐसे भगवान् भरोसे छोड़ दें तो भी पांच सौ दाने तो पैदा हो ही जाते हैं। इसे ब्राह्मण की खेती कहते हैं क्योंकि खेती करने में डटकर लगकर काम करना पड़ता है और ब्राह्मण से यह सब नहीं होता है। इसलिये ब्राह्मण की खेतो तो यह है कि दाना फैंक दो, उग गया तो उग

गया, नहीं तो गाय तो चर ही जायेगी। ब्राह्मण की खेती में अपने खाने लायक तो निकल ही आता है और उसमें यदि खाद इत्यादि अच्छी तरह दे दो तो फिर क्या कहना। इतनी सुन्दर परमेश्वर की सृष्टि है। एक तरफ तो पानी वाटर वर्क्स से तुम्हारे घर में पहुंचाने के लिये आठ इंच का या छः इंच का पाइप डालकर और तुम्हारे घर में आधे इंच का पाइप देते होंगे और उसमें भी मीटर लगा लगाकर तुमसे सैकड़ों रुपये वसूल कर लेते हैं और कलकत्ता जैसे शहर में तो हर महीने लाखों रुपये हो जाते होंगे। अब विचार करो कि परमेश्वर ने गंगा, यमुना, नर्मदा, कावेरी और खाली भारत में ही नहीं, कहीं नील, सीन, अमेजन, मिसिसिपी इत्यादि सारे संसार में बड़े-बड़े पाइप डाल दिये। कहीं आधे मील का पाट है तो कहीं पचास गज का पाट, उसे छोटी नदी मानते हैं। यहाँ यदि आठ फीट का डाल दिया तो सोचते हैं कि बहुत बड़ा डाल दिया और उसने हिमालय से लेकर समुद्र पर्यन्त जगह-जगह पानी का प्रवाह जिसमें एक धेले का खर्च नहीं और न यह कि बिजली फेल हो गई तो गंगोत्री से तीन दिन से पानी नहीं आ रहा है, अब क्या करें। वायु की सृष्टि देखो कैसी सुन्दर, देखने लगो तो उसकी कारीगरी कमाल की है। हम लोग जो अपने श्वास से गंदी वायु छोड़ते हैं, उसे पेड़ के पत्ते अपनी साँस में ले जाते हैं और ये पत्ते उस वायु को लेकर के उनके लिये जो गंदी वायु है उसको छोड़ते हैं जो हमारे काम की है। इसीलिये पेड़ के पत्तों को संसार का फेफड़ा कहा जाता है। जैसे फेफड़ा (लंग्स) तुम्हारे खून को शुद्ध करता है, वैसे ही ये पत्ते संसार के खून अर्थात् वायु को शुद्ध करते हैं। शास्त्रों ने इसलिये नियम बनाये थे कि बड़े-बड़े पत्तों वाले पेड़ जैसे वट, पीपल आदि को न काटा जाये। कारण यह था कि इसके द्वारा वायु शुद्ध होकर लोगों का कल्याण होता है। वैसे भी ये यज्ञीय वृक्ष हैं। वट आदि का प्रयोग यज्ञ में होता ही है। परमेश्वर की सृष्टि देखो, एक के लिये जो व्यर्थ की चीज, वही दूसरे के लिये काम की हो गई। इस प्रकार से जल, अन्न, वायु आदि जो मनुष्य के लिये अत्यंत

आवश्यक पदार्थ हैं उनकी सृष्टि परमेश्वर ने कर दी। इससे बढ़िया और सृष्टि की तुम कल्पना भी कर सकते हो, सोच सकते हो ? इसे तो हमने अमांगलिक बना दिया है। अपने काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इत्यादि दोषों के कारण हमने इतनी सुन्दर सृष्टि को अमांगलिक बना रखा है। परमेश्वर की सृष्टि तो सुमंगली है। उसमें कहीं कोई खराबी नहीं लेकिन हमने जो उसमें अपने काम, क्रोध आदि विकार लगा रखे हैं, इसलिये वह बुरी हो गई है। यहाँ श्रुति ने कह दिया कि यह सृष्टि कैसी है ? 'असौ सुमंगलः' अब इसकी सुमंगलता को भिन्न-भिन्न प्रकार से पहचानना है। उनके अलग-अलग नाम लिये 'यः ताम्रः अरुणः उतबभ्रुः' जो ताम्र के वर्ण का, अरुण के वर्ण का और बभ्रु वर्ण का है। प्रातःकाल प्रभात फूटने पर सूर्योदय से ठीक पहले जो सूर्य का वर्ण है उसे अरुण (प्रिस्टन रंग) वर्ण कहते हैं और बभ्रु भूरा रंग जिसमें कई रंग मिले हुए हों। इस प्रकार भिन्न-भिन्न वर्णों वाला सारा जगत् सुमंगल स्वरूप है। ये अरुण, ताम्र इत्यादि क्या हैं ? इसे आगे उपासना की दृष्टि से विस्तार से बतायेंगे।

'येचैनं रुद्रा अभितोदिक्षु श्रिताः' एनं अर्थात् यह जो सुमंगल संसार है, परमात्मा का यह जो अत्यंत मांगलिक संसार है इसे परमेश्वर ने रुद्र रूप से चारों तरफ से घेर रखा है। घेरना दो कारणों से होता है। अपनी जमीन को आदमी इसलिये घेरता है कि दूसरे उस जमीन को दबा न लें। गाँव के अंदर कहीं भी जमीन खरीदते हो तो सबसे पहले और कुछ नहीं तो काँटे के झाड़ से ही घेरा लगा देते हो। काँटे भी सीधे वाले नहीं, बबूल के काँटों का ही घेरा डालते हैं। कलकत्ते वालों ने शायद नहीं देखा होगा, कभी देश जाओ तो पता लगेगा। अथवा और कुछ नहीं तो नागफणि के पेड़ लगा देते हैं। अथवा ईंट की दीवार बना ली। कुछ भी कर ले, आदमी अपने पदार्थ की रक्षा करने के लिये घेरा लगाता है। दूसरे, जब किसी दूसरे की सम्पत्ति को लेना हो तब भी घेरता है। इसीलिये जब किसी किले पर चढ़ाई करते हैं तो उसे चारों तरफ से घेरते

हैं। पहले जमाने में छोटे-छोटे राज्य होते थे, इसलिये किले को ही घेरते थे। आजकल राज्य बड़े होते हैं तो राज्य की सीमा पर जो दूसरे राज्य के लोग होते हैं, उनको पहले अपने चेले वना लेते हैं। जो पड़ोसी राज्य हैं उनको अपना मित्र बना लेते हैं और फिर उस पर अपना दबाव डालते हैं। है वह भी घेरना ही। इसलिये घेरना दो प्रकार से होता है। अपनी रक्षा के लिये भी घेरा जाता है, और दूसरे को दवाने के लिये भी घेरा जाता है। यहाँ रुद्र ने भी इस संसार को दोनों दृष्टियों से घेर रखा है। जो इसके अन्दर रहकर परमेश्वर के नियमों के अनुसार चलते हैं, उनकी रक्षा हो, वे ऊपर कहे हुए काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य आदि यातुधान्नों के द्वारा आक्रांत न हों, उनके आक्रमण से वच जायें, इसलिये भी इस सुमंगल संसार को चारों तरफ से सुरक्षा के लिये रुद्र के [illegible]रा घेर दिया गया है। साथ ही जो यहाँ पर परमेश्वर के नियमों [illegible] विरुद्ध चलने वाले हैं उनके ऊपर अनुशासन हो सके, उनको नियंत्रण में रखा जा सके, उनको वश में किया जा सके अथवा उनके ऊपर दण्ड हो सके, इसलिये भी यह घेरा डाला हुआ है। दोनों दृष्टियों से यह घेरा है। भक्तों के रक्षण के लिये भी और अभक्तों को दण्ड देने के लिये भी यही घेरा है। इसीलिये रुद्र शब्द का प्रयोग किया। 'रुत् दुःख द्रावयति इति रुद्रः' दुःख को नष्ट करना, अर्थात् भक्तों के दुःख को नष्ट कर्त्ता, और जो दूसरों को रुलाता है उनको रुद्र कहते हैं। अतः पापियों को रुलाने वाला होने से भी वह रुद्र है। वह रुद्र सर्वतः चारों तरफ की दिशाओं को अन्दर बाहिर से घेर कर बैठा हुआ है। इस सुमंगल संसार को घेरे बैठा हुआ है ताकि हम सब दुःख को प्राप्त न हों। 'एषां हेड ईमहे' हेड अर्थात् दी, एक प्रकार का क्रोध समझ लो। हिन्दी में भी कहते हैं कि इसने हमारी हेठी कर दी, अर्थात हमारा अपमान कर दिया। हेड का अपभ्रंश ही हेठी आदि शब्द हैं। इसके द्वारा हम परमेश्वर से प्रार्थना करते हैं कि जो हमारी हेठी करें अर्थात् हमारे ऊपर क्रोध करें या हमको दुःख दें, वे हमसे दूर हो

जायें। इस मंत्र में परमेश्वर के अनेक रूपों का वर्णन किया है। परमेश्वर ने चारों तरफ से इसे घेर कर जो इसे सुरक्षित किया है, उस सुरक्षा के पात्र हम बनें, उनके द्वारा हम दण्ड के पात्र न बनें। इसी का इस मंत्र के द्वारा आगे विस्तार से विचार करेंगे।

१३-३-७५

परब्रह्म परमात्मा किस प्रकार से प्राणियों पर कल्याण करने के लिये ताम्र, अरुण, वभ्रु इत्यादि अनेक मगलों को धारण करता है। वही इस सारे जगत् को घेर कर रहता है, जिससे यहाँ रहने वालों की रक्षा भी हो, और जो उद्दण्ड हैं उनको अनुशासित भी किया जा सके। जो साधक के जीवन में विघ्न करने वाले हैं, उनको वह परमेश्वर दूर करें अर्थात् वे हमारी साधना के विघ्न न हों, व हम साधना के मार्ग में आगे वढ़ सकें। परमेश्वर इस प्रकार अनेक रूपों से हमारे सामने प्रकट होता है, यह यहाँ पहले बताया। 'असौ' शब्द से कहा कि यह प्रतीयमान सारा ब्रह्माण्ड भी वस्तुत: उसी का रूप है। यह जगत् भी एक मांगलिक जगह है, यदि हम यहाँ परमेश्वर प्राप्ति में लग जायें। जगत् को देखकर के हो पहले जीव के अन्दर परमेश्वर प्राप्ति की भावना का उदय होता है। जिसने कभो जगत् का अनुभव नहीं किया हो, वह जगत् के कारण के विचार में प्रवृत्त ही नहीं होगा। जगत् के अन्दर सब चीजों को नष्ट होते देखते हैं तभी मन में प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसी चोज़ है जो कभी नष्ट न हो। अगर जगत् के पदार्थ नष्ट होने वाले न होते तो जीव के हृदय में परमेश्वर को जानने की इच्छा भी पैदा न हाती। उसी प्रकार यदि जगत् के अन्दर दु:खों का अनुभव न होना तो इन सव दु खों से अतीत कोई एक परमात्म तत्त्व है, उसको समझने के लिये प्रयत्न ही नहीं किया जाता। संसार की विनाशिता और दु:खरूपता को देखकर साधारण आदमी को लगता हैं मानो

परमात्मा ने हमारे लिये कोई कठिनाई की चीज बनाई है अथवा हमको बंधन में डालने के लिये यह संसार बनाया है। लेकिन विचार करने पर लगता है कि इसके द्वारा ही परमात्मा ने हमको अपनी तरफ खींचने का विधान किया है। संसार की क्षणभंगुरता हमें प्रतीत न होती तो संसार क्षणभंगुर है, विनाशी है, यह प्रश्न कौन करता ? वह स्वयं संसार के पदार्थों के साथ नष्ट होने वाला नहीं है। जब हम देखते हैं कि हम स्थिर हैं और दूसरी चीजें नष्ट हो रही हैं तब उनके नाश को जानकर प्रश्न उठा पाते हैं। हम बने हुए हैं और वे पैदा होते और नष्ट होते हैं। हमारी अविनाशिता ही जगत् के अन्दर विनाशिता के ज्ञान को पैदा करती है। जैसे हम देखते हैं कि मच्छर पैदा हुआ और मच्छर मर गया। यह हम देखते हैं, लेकिन मच्छर तो हमको पैदा होते और मरते नहीं देख सकता, क्योंकि तीन दिन में उसको खतम हो जाना है और तब तक हमारा कुछ बिगड़ना नहीं है। इसी प्रकार से यदि जगत् के पदार्थ चिरस्थाई होते तो हमको उनकी विनाशिता का कभी पता नहीं चलता। संसार के पदार्थों की विनाशिता का पता इसीलिये लगता है कि हम उनकी अपेक्षा अविनाशी हैं। ठीक इसी प्रकार से संसार दुःखरूप है, इसका पता हमको कैसे लगता है ? हम स्वयं सुखरूप हैं, इसलिये। विचार करो कोई आदमी सामने बैठा हुआ है और उसके चेहरे पर उदासी है, दुःख है, आँखों से आँसू बह रहे हैं, उसे पीड़ा है। तब तुम पूछते हो कि क्या बात है, तुमको क्या दुःख आ गया ? यह प्रश्न क्यों होता है ? क्योंकि दुःख तुम्हारा स्वभाव नहीं है, और दुःख तुम्हारे में दीख रहा है तो कहीं से आया है, तभी यह प्रश्न करते हो। किसी के घर में रोज तीन आदमी देखते हो और अकस्मात् एक दिन उसी घर में आठ आदमी दिखाई पड़ते हैं तो पूछते हो कि कौन मेहमान आ गया ? अगर तीन के तीन ही देखो तो थोड़े ही यह पूछोगे कि कौन मेहमान आ गया। इसी प्रकार से उस व्यक्ति के चेहरे पर उदासी या क्लेश या आँखों में आँसू देखकर पूछते हैं कि क्या दुःख आ गया, अर्थात् तुम स्वयं दुःखरूप नहीं हो।

किसी कारग से दुःखी हो। उसका जवाब भी मनुष्य देता है कि क्या बतायें, मेरी कोयले की खान का राष्ट्रीयकरण हो गया, पता ही नहीं लगा। सवेरे अखबार बांचा तो पता लगा। अपने दुःख का कारण भी बताता है। यह नहीं कहता कि दुःख करना तो मेरा स्वभाव ही है, मैं रोता ही रहता हूँ। अगर किसी आदमी को रोज खुश बैठे हुए देखो और उसको प्रश्न करो—अरे, बड़े आराम से राजी-खुशी बैठे हुए हो, क्या बात है, आज रो क्यों नहीं रहे हो ? तो वह कहेगा कि मेरा राजीखुशी बैठना भी तुमको सहन नहीं होता। यह नहीं कहेगा कि मेरी राजीखुशी का कारण अमुक है। क्योंकि वह तो स्वभाव है। जैसे कोई आदमी यह नहीं पूछता कि यह पानी ठण्डा कैसे ? यह जरूर पूछता है कि यह पानी गरम कैसे ? क्योंकि पानी का स्वभाव ठण्डा है। चूल्हे पर रखकर किसी कारण से गरम हुआ है और वह कारण दूर हो जाये तो थोड़ी देर के बाद फिर ठण्डे का ठण्डा रह जाता है। इसी प्रकार मनुष्य के ऊपर किसी कारण से दुःख आता है। कुछ समय के बाद वह दुःख फिर निकलकर मनुष्य वैसा का वैसा राजीखुशी हो जाता है। पुत्र मर जाये, पति मर जाये, गहना लुट जाये, नौकरी छूट जाये इत्यादि कई तरह के कष्ट हैं। ऐसे असह्य कष्ट में पड़ने के बाद भी यदि उस व्यक्ति को तीन साल के बाद मिलो तो फिर राजीखुशी बैठा हुआ, देखते हैं कि दाल रोटी खा रहा है। मिलो तो वह रोते हुए थोड़े ही मिलता है क्योंकि किसी कारण से दुख आया, दुःख उसका स्वभाव नहीं होने से थोड़ी देर बाद वह फिर निकल गया। जैसे पहले था, वैसे ही पुनः हो गया। जीव का स्वभाव विनाशी नहीं और जीव का स्वभाव दुःख नहीं। बाकी जितने पदार्थ हैं वे सारे विनाशी भी हैं और वे पदार्थ स्वयं अपने में दुःखरूप भी हैं। इसीलिए उनके दुःख का हमको पता लगता रहता है। उनसे हमें दुःख की प्राप्ति होती रहती है। उनकी दुःखरूपता और विनाशिता को देखकर हृदय में प्रश्न उठता है कि क्या कोई अविनाशी और सर्वतो सुखरूप

पदार्थ है ? मैं अविनाशी तो हूँ लेकिन सापेक्ष अविनाशी हूं। ऐसा अविनाशी नहीं हूँ कि सृष्टि के आदि से लेकर आज तक बना रहा होऊँ। मैं सुखरूप तो हूं लेकिन बड़े से बड़ा दुःख पड़ने पर भी मेरा सुख ढँक न जाये, ऐसा सुखरूप नहीं। दुःख का झंझावात आने पर, दुःख का तूफान आने पर थोड़ी देर के लिये मैं दुःखी हो जाता हूँ। इसलिये प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा है कि बड़े से बड़ा दुःख का पहाड़ टूटने पर भी वह उसको उद्वेलित न कर सके ? क्या कोई ऐसा अविनाशी तत्त्व भी है जो सृष्टि के प्रारंभ से लेकर सृष्टि के अन्त तक एक जैसा ही बना रहे। क्या देखकर के इसकी जिज्ञासा उत्पन्न हुई ? जगत् को देखकर के ही यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है।

अब अगर इस जिज्ञासा को लेकर चलो तो परमात्मा का ध्यान अवश्यंभावी है। भगवान् वादरायण ने ब्रह्मसूत्रों में इसीलिये ब्रह्म का लक्षण ही किया 'जन्माद्यस्य यतः' जिससे यह सृष्टि उत्पन्न होती है, स्थित रहती है और लीन होती है, वही ब्रह्म है। उपनिषदों ने भी यही लक्षण किया 'आनन्दं ब्रह्मेति व्यजानत्' आनंद ही ब्रह्म का रूप है। इस जिज्ञासा की तरफ चला तो उसका काम बन गया। इसीलिये यह जगत् मंगल रूप है। असंगल रूप कब हो जाता है ? जब यह जिज्ञासा उत्पन्न नहीं होती। विनाशी संसार को देखकर के भी इसको जबर्दस्ती विनाश से रोकने का प्रयत्न करता है। जैसे जब कोई बुद्धिमान आदमी देखता है कि इस मकान की दीवाल को बने सौ साल हो गये, इस समय इसमें चार जगह तेड़ आ रही है, ईटें छिटक रही हैं, तो वह आदमी उस दीवार को गिराकर नई दीवाल खड़ी कर लेता है। एक बार पच्चीस हजार रुपये लग जाते हैं और मकान पक्का हो जाता है। यह बुद्धिमान का काम है। जो व्यक्ति बुद्धिमान नहीं होता है वह कहता है कि जहाँ से ईंट खिसकी वहाँ पर एक नई ईंट घुसा दो। जहाँ तेड़ आई तो इसमें सीमेंट भर दो। यहाँ दीवाल झुक रही है तो लोहे का आर०सी०सी० लगा दो। करते कराते उसमें पचास हजार रुपये लगा देता है और एक दिन सारे का सारा मकान

धड़ाम होके उसके नीचे दो आदमी भी कुचल जाते हैं। उसके लिये मुकदमा चलता है जिसमें दस दस हजार रुपये और देने पड़ते हैं। एक बार २५ हजार रुपये न लगाने के कारण यह हुआ। ठीक इसी प्रकार से जगत् को विनाशी समझकर बुद्धिमान् अविनाशी को ढूंढ़ने का प्रयत्न करता है। जो बुद्धिमान् नहीं होता, वह यहीं की चीजों को किसी तरह से मैं विनष्ट होने से रोक सकूँ, अविनाशी बना सकूँ इसके लिये तरह तरह के साधन अपनाता है। लेकिन ये पदार्थ विनाशी स्वभाव के हैं, बच नहीं सकते। नतीजा, सारा जीवन प्रयत्न करते रहते हैं लेकिन 'एक साँधे और तेरह टूटे' वाली बात हो जाती है। कपड़ा जब पुराना हो गया तो उसको बचाने के लिये जब एक जगह से सिया तो सीने में इधर उधर के तानों पर जोर पड़ा। इस तरह तीन तरफ जब जोर पड़ा तब तुमने धोती के एक छेद को सिया। लेकिन तीन तरफ पड़े हुए जोर से तीन छेद हो जाते हैं। फिर उसको सीते हो तो तीनों जगह जोर पड़ने से नौ जगह तार पड़ेगा। जितने जोड़ लगाते हो, उतने पैसे भी उस कपड़े से वसूल नहीं हो पाते हैं। ठीक इसी प्रकार इस जीवन को किसी तरह स विनाशीपने से रोकने में सारा जीवन बिता देते हैं। यह तो विनष्ट होता ही रहता है और अन्त में खुद अपने जाने का समय भी आ जाता है। इसलिये एक साधे तेरह टूटे वाली बात हो जाती है। जैसे पदार्थों की विनाशिता वैसे ही दूसरे जीवों के साथ अपने सम्बन्धों की विनाशिता। जीव निरन्तर चाहता है कि किसी ऐसे व्यक्ति से प्रेम कर सकूँ जो स्थिर रहे। लेकिन अनुभव करता है कि जिस जिस से प्रम करता है, वह वह धोखा देता है। जैसे पदार्थों का स्वभाव विनाशो वैसे ही दूसरे व्यक्तियों का स्वभाव भी तो विनाशी है। बचपन में आदमी अपने दोस्तों से प्यार करता है। सोचता है बस इन दोस्तों के सामने दुनिया कुछ नहीं। उसको लगता है कि माँ तो रातदिन बकती रहती है और बाप का तो काम ही थप्पड़ मारना है। अगर हैं कोई तो ये हमारे भायले हैं। इनके जैसा कोई नहीं, यह सोचता है। फिर धीरे धीरे किसी भायले का कहीं काम

लग गया, किसी का व्याह हो गया। अब सोचता है कि यह तो सब मामला गया, किसी को मेरे लिये फुर्सत नहीं। अन्त में बेचारा खुद भी व्याह कर लेता है, सोचता है कि इससे अच्छी निभेगी। जब व्याह कर लेता है तो थोड़े दिनों में पता लगता है कि इसकी भी अपनी बहुत समस्यायें हैं। और जहाँ एकाध बच्चा हुआ वहाँ उसको तो बच्चे से ही फुर्सत नहीं मिलती। उसके बाद यदि तुम कहो कि मेरे भाई ने मुझे यह कहा तो वह बजाय हमदर्दी दिखाने के और दंडा मारेगी कि इसीलिये मैं कहती हूँ कि अलग हो जाओ। कोई दुःख की बात आदमी कहता है, वह सोचता है कि प्रेम करके थोड़ी सांत्वना देगी कि चलो कह दिया कोई बात नहीं भाई है, उनका स्वभाव है। ऐसा कहती तो मन को संतोष हो जाता लेकिन यह तो झट कैंची उठा लेती है। अब सोचता है कि भाई के बारे में इसे कुछ न कहूँ। कभी कहता है क्या बताऊँ आजकल दुकान में मुनीम जी बड़ा तंग कर रहे हैं। झट कहती है कि मेरा भाई बी० कॉम० हो गया है, उसे बिठा दो। वह सोचता है कि साले को दुकान पर बिठा दूँगा तो पता नहीं क्या होगा। लेकिन पत्नी की आसक्ति तो उधर है, इसलिये वह सोचती हैं कि किसी तरह भाई का काम बने। बच्चा हो गया तो कहती है कि मुझे बात सुनने की फुर्सत नहीं है, दिन भर इसके काम में लगी रहती हूँ, रात में बच्चे के कारण नींद नहीं आती तो तुम्हारी बात कहाँ से सुनूँ। फिर बच्चे पर आशा लगाता है कि यह बड़ा होगा तो मेरी बात सुनेगा। यह विचार नहीं करता कि जिस माँ से पैदा हुआ उसको फुर्सत नहीं क्योंकि छोटे भाई बहन और पैदा हो गये। जिन भायलों से प्रेम किया था, उनको फुर्सत नहीं। उनका अपना काम हो गया, व्याह हो गया। जिस पत्नी को लाया, उसको फुर्सत नहीं तो फिर लड़का कहाँ से बात करेगा। इसी आशा में जीवन के पंद्रह बीस साल और बिता देता है और अंत में देखता है कि लड़के को भी फुर्सत नहीं। वह सोचता रहता है कि इनसे सुख प्राप्त होगा लेकिन सुख की प्राप्ति हो नहीं

सकती क्योंकि वे सम्बन्धी स्वयं विनाशी हैं। विनाशी कभी अविनाशी को तृप्त नहीं कर सकता, दुःख कभी सुखरूपता को तृप्त नहीं कर सकता। यह तृप्ति परमेश्वर से होगी। बुद्धिमान व्यक्ति तो संसार के स्वरूप को देखकर समझ लेता है कि भगवान् ने गीता में ठीक कहा 'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मां।' भगवान् ने कहा—अरे अर्जुन! चारों तरफ दृष्टि डालकर अच्छी तरह से देख ले कि यह संसार कैसा है? जहाँ जहाँ जिस जिस चीज का अनुभव करेगा, जिस किसी मनुष्य का अनुभव करेगा, वे सारे अनित्य और असुख (सुखरहित) निकलेंगे। इस अनित्य असुखता की हेतुता से क्या करना है? भगवान् कहते हैं कि मेरा भजन कर, तू अपनी चित्तवृत्ति को मेरी तरफ कर, क्योंकि मैं अविनाशी हूँ और मैं सुख रूप भी हूँ। लेकिन जो अविवेकी होते हैं, अविचारशील और निर्बुद्धि व्यक्ति होते हैं वे 'मां भजस्व' वाली बात को नहीं समझ पाते। इसी अनित्य और असुख को किसी प्रकार नित्य और सुख बना सकें, इस असम्भव काम में लगे रहते हैं और जीवन हाथ से खो देते हैं।

यहाँ जो वेद कह रहा है कि 'असौयस्ताम्रो अरुण उतबभ्रुः सुमगलः' इसकी सुमांगलिकता यह है कि इस जगत् को देखकर हम अविनाशी और आनंदरूप ब्रह्म की तरफ जा सकें। जब हम परमेश्वर की तरफ जाने लगते हैं तो जीवन में एक दम अंधकार का काल आता है। कारण क्या है? परमेश्वर हमारे सामने तो है नहीं। यहाँ तक कि है भी या नहीं, इस विषय में भी मन काँपता है। अगर एकांत में बैठकर मन से सीधे-सीधे पूछ लो, दण्डे की तरह प्रश्न रखो कि अरे मन! भगवान् है, क्या जँचता है तेरे को? तो मन कहेगा कि क्या पता? हम प्रायः मन के सामने इतनी ईमानदारी से प्रश्न नहीं रखते और चूँकि ईमानदारी से प्रश्न नहीं रखते इसलिए मन उसका जवाब भी ईमानदारी से नहीं देता। हम मन को खोलकर युक्तियों में फँसाना चाहते हैं। मन भी हमारी युक्तियों में हाँ में हाँ कर देता है। इसका कारण यह है कि मन जानता है कि मैं इसको तो अपने रास्ते चलाता रहूँगा। सीधे अगर इससे कहूँगा कि मैं तुम्हारी बात नहीं

मानता हूँ तो यह मेरे को दस युक्तियाँ सुनायेगा, इसके साथ कौन माथा फोड़ी करे। इसलिये वह कहता है कि मानता हूँ कि भगवान् है, मैं आस्तिक हूँ, चलो अब अपने रास्ते लगो, अपने काम लगो। इसी को कहते हैं कि जीवन के अन्दर जब व्यक्ति परमेश्वर की तरफ बढ़ता है तो यह अंधकार का युग आता है। परमात्मा का अनुभव किया नहीं, परमेश्वर है, यह भी दृढ़ निश्चय नहीं हो पाता। साथ में साधक है, इसलिए व्यग्रता भी है। यदि परमेश्वर है तो मुझे पाना है, यह भी उसके अन्दर व्यग्रता रहती है क्योंकि संसार के अन्दर विनाशिता और दुःखरूपता तो देख चुका है। इसलिये परमेश्वर के लिये व्यग्रता भी है। परमेश्वर को पकड़ भी नहीं पा रहा है। यह जो एक अंधकार का काल उसके जीवन में आता है, उसमें परमेश्वर स्वयं अपनी कृपा करके अपनी माधुरी, माधुर्य स्वभाव के द्वारा किसी न किसी प्रकार से उसके हृदय में वह अपने आपको प्रकट कर देता है। शर्त यही है कि व्यग्रता होनी चाहिये। चाहे तुमने परमेश्वर को देखा नहीं लेकिन परमेश्वर को देखने की हृदय में एक उत्कण्ठा होनी चाहिये। यदि ऐसी उत्कण्ठा है तो वह अपनी मधुरता के द्वारा तुम्हारे हृदय को एक बार तो भर ही देगा। भिन्न भिन्न साधकों के जीवन में यह अंधकार का काल हमेशा परमेश्वर की किसी न किसी प्रकार से माधुर्य भाव की झलक प्राप्त करने में समाप्त होता है। किसी के लिए बुद्धि के आकार की वृत्ति के रूप में, प्रतिभा के रूप में, प्रज्ञा के रूप में, अथवा क़िसी इष्ट दर्शन के रूप में, किसी नवीन ज्ञान के रूप में अथवा किसी महापुरुष के रूप में इत्यादि भिन्न-भिन्न रूपों में परमात्मा प्रकट होता है लेकिन हर हालत में कुछ ऐसा हो जाता है जो उसको दृढ़ निश्चय करा देता है कि परमेश्वर है, माधुर्य रूप है और उसको पाने के लिये उसके अन्दर तृष्णा उत्पन्न हो जाती है। प्यास उत्पन्न हो जाती है। अब परमेश्वर से अलग रहने में उसको तड़प होती है। उसके द्वारा आनंद तो आया लेकिन वह आनंद झलक मात्र गया। झलक का मतलब मिनट दो मिनट, लेकिन स्थिरता नहीं। आनंद के रस का अनुभव

तो हो गया लेकिन स्थिरता नहीं आई, यहीं से साधनाकी वास्तविकता प्रारम्भ होती है । जिसने अपने जीवन में परमेश्वर के इस सगुण रूप का दर्शन नहीं किया, हृदय में उसका अनुभव नहीं किया, उसके जीवन में तड़प ही पैदा नहीं होती, फिर वह क्या दूसरी साधना कर सकता है । इसीलिये परमेश्वर केवल बुद्धि का विलास नहीं है । यह कोई सिद्धान्त या थ्योरी नहीं है कि किताबें बाँचकर, किन्हीं बातों के ऊपर मन से विचार करके उसकी प्राप्ति हो जाये । ऐसा नहीं है । विचार करके देखो कि आजकल एक रसोई बनाने की किताब (कुक बुक) छपती है । कई मासिक पत्र-पत्रिकाओं के या दैनिक पत्रिकाओं के अन्दर भी लोग छापते हैं कि ऐसे ऐसे अमुक चीज बनाओ । उसको बाँच कर बनाने की तीव्र इच्छा पैदा नहीं होती है, तो बुद्धिमान लोग तो उसको एक फोटो भी साथ में छाप देते हैं, बढ़िया सुन्दर रंग वगैरह उस पर लगा देते हैं ताकि उसको देखकर लोगों की बनाने की रुचि पैदा हो जाये । जिस दिन कुछ काम नहीं करना है उस दिन भले ही यही करके देख लो लेकिन कोई तीव्र इच्छा पैदा नहीं होती । कभी किसी के घर जाओ और उसने बढ़िया सुन्दर मटर के दही बड़े बना दिये, दाल के दही बड़े तो रोज खाते ही हैं, मटर के दही बड़े खाकर स्वाद लगते हो पूछते हैं कि कैसे बनाये । स्वाद लग गया, अब पूछकर याद रखते हैं, या लिख लेते हैं । घर आकर बनाते हैं । कुक बुक भी देखते हैं तो उसमें भी बनाने की प्रक्रिया निकल आती है । पहली बार उतने ठीक नहीं बनते दूसरी तीसरी बार बनाते हैं । अंत में उससे वह बढ़िया दहीवड़ा बन जाता है और खुश हो जाता है लेकिन इन सब प्रयत्नों का बीज क्या है ? जब तुमने एक बार कभी किसी के घर बैठकर खाये, स्वाद मिला लेकिन स्थिरता नहीं है क्यों कि तुम जब चाहो तब बना कर नहीं खा सकते । दूसरे के घर जाकर थोड़े ही बैठ जाओगे कि आज तुम्हारे घर आया हूँ, फिर से मटर के दही बड़े बनाकर खिलाओ । इसलिये जब तक उसके स्वाद की स्थिरता अर्थात् बनाना न आ

जाये तव तक तड़प रहती है कि ऐसे ही मैं कैसे बना लूँ। प्रारंभ हुआ रसास्वाद से अर्थात् जब तुमने उसको चखा, तब। किताब घर में रखी हुई है लेकिन प्रवृत्ति नहीं करा रही है। इसी प्रकार से जब तक परमेश्वर की झलक का अनुभव नहीं हो जाता, जब तक उसके आनंद को हम जरा अनुभव नहीं कर लेते तब तक चाहे जितने शास्त्र और पुस्तकें पढ़ लो, वो तड़प पैदा नहीं करते। प्रायः करके साधकों के जीवन में इसीलिये तड़प नहीं आती कि परमेश्वर के लिये उनके अन्दर उत्कण्ठा ही नहीं। वह तो जैसे यह जानना चाहता है कि न्यायकारिता होने से ठीक ठीक फल मिल जाता है, वैसे ही यह जानना चाहता है कि यह जगत कैसे उत्पन्न हुआ, जीवन से कोई मतलब नहीं, उसके साक्षात्कार की प्रवृत्ति नहीं। जब झलक मिल जाती है तो यह प्रवृत्ति झट हो जाती है। क्य। कारण है कि सगुण भक्ति के अन्दर मनुष्य को जितनी जल्दी प्रवृत्ति होती है उतनी निर्गुण की तरफ नहीं ? उसका कारण यह है कि परमेश्वर की पहली झलक तो सगुण ही मिलेगी। निर्गुण को तो देखने का हमारा अभ्यास ही नहीं है तो कहाँ से झलक मिलेगी और वह झलक चूंकि सगुण होती है, इसीलिये उसी पर मन रम जाता है, मन जम जाता है। निर्गुण की बात करने वाले व्यक्ति अधिकतर वे होते हैं जिन्होंने यह झलक देखी नहीं। इसलिये उनके हृदय में तड़प तो है नहीं। वे तो वैसे ही विचार करते हैं जैसे वकील किसी के मुकदमे का विचार करता है कि इसमें यह बात अच्छी और यह बुरी है, यह व्यवस्था अच्छी है, इत्यादि। उनके हृदय के अन्दर कोई उत्कण्ठा नहीं है। यही फरक रहता है निर्गुण और सगुण उपासक में।

देवर्षि नारद के जीवन में ऐसी ही घटना आती है। नारद बचपन से परमेश्वर की तरफ प्रवृत्त हुए लेकिन उनकी माता उनके पास थी और वह माता की सेवा में लगे रहे, इसलिये बचपन में उनको पूरी तरह से परमेश्वर में लगने का मौका नहीं मिला।

बाद में उनकी माता का शरीर शांत हो गया, प्रतिबंधक दूर हो गया। अब वह परमेश्वर की तरफ उत्कण्ठा से लगे। परमेश्वर ने एक बार उनके हृदय में उस उत्कण्ठा को देखकर तड़प पैदा करने के लिये अपनी झलक प्रकट कर दी। 'ध्यायतश्चरणाम्भोजं भावनिर्भर चेतसः' नारद जी स्वयं अपना अनुभव कहते हैं कि उत्कण्ठा के द्वारा मेरी आँखें आँसुओं से भरी हुई थीं। जिस समय उनको वह झलक मिली, उस समय क्या स्थिति थी? इसे नारद जी स्वयं कहते हैं। अपना पुत्र पाँच साल के लिये विदेश गया हुआ हो, उसको मिलने के लिये जिस समय हवाई अड्डे पर पहुँच गये। हवाई जहाज की सीढ़ी से उतरते हुए उसको देख लिया है। उस समय आँखों में धुँधलापन आता है या नहीं? यही भावनिर्भर चित्त की स्थिति है। नारद जी कहते हैं कि उस समय मेरा चित्त भाव से बिल्कुल भरा हुआ था। 'भावनिर्भरचेतसः' अर्थात् उस चित्त में परमेश्वर के प्रति भाव से अतिरिक्त और कुछ भी जाने की जगह नहीं थी। कई बार लोगों की शिकायत होती है महाराज! भगवान् का भजन करते हैं तो इधर-उधर की बातें याद आती हैं। उसका कारण यह है कि मन बहुत बड़ा है। एक कोने में तुमने भगवान् को रख दिया, बाकी सारा खाली पड़ा है। उस खाली जगह में कोई न कोई चीज चली जायेगी। लेकिन यदि पूरी तरह से भर दिया तो फिर उसके अन्दर और कोई चीज आये, यह सम्भव ही नहीं रह जाती हैं। इसलिये कहा 'भावनिर्भरचेतसः ध्यायतश्चरणाम्भोजं' परमेश्वर के चरण कमलों में मेरा ध्यान अर्थात् बुद्धि लगी। इस प्रकार से धीरे से मेरे हृदय में श्री हरि भगवान् प्रकट हो गये। शनैः के द्वारा बता रहे हैं कि भगवान् का यह प्रादुर्भाव कोई बड़े भारी बाह्य कारण के साथ नहीं हुआ करता, वरन् पता ही नहीं लगता है कि भगवान् का अनुभव होने वाला है। यद्यपि कहीं कहीं लोग कहते हैं कि पहले ऐसा देखो तो समझो कि भगवान् आने वाले हैं। लेकिन भगवान् का आना ऐसा होता है कि वह सारा दिन दर्शन होने के बाद याद आता है कि हाँ ऐसा तो हुआ

था। तुलसीदास के जीवन में भी दो बार भगवान् सामने से निकले। वह दूसरा काम कर रहे थे। भगवान् ने पूछा—रास्ता किधर है ? बोले—उधर है। भगवान् सामने से निकल गये। फिर भगवान् सामने आते हैं और कहते हैं—चंदन दो। कहते हैं—वह पड़ा है, लगा लो। उनको फुर्सत कहाँ है। भगवान् जब प्रकट होते हैं तो इतने धीरे से प्रकट होते हैं कि पता ही नहीं लगता। पता तब लगता है जब प्रकट होकर चले जाते हैं क्योंकि वह जो थोड़ी देर का आनंद है, वह इतना ज्यादा है कि तब मनुष्य सोचता है कि ऐसा तो पहले कभी हुआ ही नहीं था। इसलिये नारद जी कहते हैं कि भगवान् धीरे से हमारे हृदय में प्रकट हो गये। आनंद के समुद्र में जैसे किसी ने गोता लगवा दिया। हे मुनि ! उस समय न मुझे अपना और न किसी दूसरे जगत् का अनुभव था। जब बुद्धि आनंदाकार होती है तो सारा होश गायब हो जाता है। न यह पता रहता है कि मैं कहाँ हूँ और न यह पता रहता है कि जगत् कहां है। बस जहाँ इस आनंद की डुबकी में डूबे तो वह मूर्त्ति तो गायब। कहते हैं कि अब मैं बहुत रोया, बहुत अनुनय विनय की कि भगवान् एक बार तो दीख जायें। लेकिन अब काहे के लिये दीखें। अब तो हो गया काम। आग लगाने का काम होता है, फिर आग जलती तो अपने आप रहती है उसको जलाना थोड़े ही पड़ता है। विचार करो कि भगवान् ने ११ वर्ष की उमर में वृन्दावन छोड़ा और उसके बाद ११४ साल तक जीवित रहे क्योंकि १२५ वर्ष में उन्होंने वैकुण्ठ गमन किया है। ११४ साल में न कभी वृन्दावन गये और न कभी उन्हें मिलने के लिये बुलाया क्योंकि वह काम तो हो गया, फिर दावाग्नि तो अपने आप जलती रहेगी। भगवान् पतंजलि कहते हैं 'दृढभूमिः' एक बार उसका स्वाद आ गया फिर तो दीर्घ काल पर्यन्त निरंतर उसके अन्दर लगा रहेगा, तब उसकी दृढ़ भूमिका प्राप्त होगी। बहुत से लोग इसीलिये कह देते हैं कि यह भगवान् बहुत निष्ठुर हैं लेकिन यह उसकी निष्ठुरता नहीं है यह उसकी कृपा है। इसी कृपा के द्वारा वह जीव

को अपने रूप का बना सकते हैं। नहीं तो जीव दुनिया भर की चीजों के लिये तो तड़पता है और उसको निष्ठुरता नहीं मानता। दरिद्र आदमी सोचता है कि मुझे धन कब मिले, धन कब मिले लेकिन कोई यह नहीं कहता कि धन इतना निष्ठुर हैं, इसे क्यों नहीं मिल जाता। किसी के पुत्र नहीं होता है वह उस पुत्र के लिये (जो पैदा नहीं हुआ है) तड़पता है। तब कोई नहीं कहता कि पुत्र कितना निष्ठुर है, इसके पेट में पैदा क्यों नहीं हो जाता। जिसके लिये तुम तड़प रहे हो उसको निष्ठुर तो नहीं कहते। उल्टा यही कहते हो कि उसके लिये प्रयत्न करो, पुत्रकामेष्टि यज्ञ करो, अश्वमेध यज्ञ करो, हरिवंश का श्रंवण करो। अथवा आधुनिक लोग होगे तो कहेंगे कि किसी डाक्टर या सर्जन को दिखाओ, विलायत के डॉक्टर के पास जाओ। कुछ उपाय करने को कहते हैं। यह हमारा कितना बड़ा सौभाग्य हैं कि इन सब चीजों की अपेक्षा हम परमेश्वर के लिये तड़पने लग गये। यह तो उसकी कृपा हुई। लोग कहते हैं कि परमेश्वर कितना निष्ठुर है। यह नहीं कहते कि ठीक से साधना करो, परमात्मा की प्राप्ति हो जायेगी। शुरू में प्रेम है शिशु प्रेम, इसलिये जब तक उसको धीरे-धीरे प्रौढ़ नहीं किया जाये तब तक वह पूर्णता को प्राप्त नहीं होता। भगवान् की यह निष्ठुरता किसलिये है ? वह जो प्रेम का बीज हमारे में पड़ा है, उस प्रेम के बीज को पुष्ट करने के लिये यह निष्ठुरता है ताकि धीरे धीरे यह बीज मजबूत हो जाये। जितनी यह तड़पन बढ़ती है, उतनी ही तुम्हारे अन्दर साधना पकती है, प्रेम पुष्ट होता चला जाता है। सांसारिक प्रेम का तरीका है कि चीज सामने आई तो प्रेम, और चीज नज़रों से दूर हुई तो प्रेम खतम। संसार का यही रूप है। इसीलिये बेचारे दुकान वाले एक ट्रैवलिंग सेल्समैन (गश्ती विक्रेता) रखते हैं। वह बार बार जाकर लोगों को याद दिलाता रहता है कि यह अमृतांजन कितना बढ़िया है। किसी से कहो कि इसे बार-बार क्यों भेजते हो तो वह कहता है कि नहीं भेजूँगा तो थोड़े दिनों में बिक्स चल जायेगी और मेरी दुकान बंद हो जायेगी। अभी थोड़े

दिन पहले कहीं थे तो सिर दर्द हुआ। हमने किसी से कहा कि एस्पिरिन की गोली ले आओ। वह सर्वत्र घूम आया लेकिन उसे गोली कहीं नहीं मिली। हमने कहा कि मामूली सी दवाई नहीं मिली, यह कैसे ? कहा—दुकानदार कहते हैं कि आजकल के जमाने में एस्पिरिन कौन खाता है ? अब तो नावल्जिन और न जाने क्या क्या जिन चली हैं, वह लेते हैं। अंत में अस्पताल में भेजा, वहाँ तो डाक्टर लोग होते हैं, वहाँ से मिल गई। उन्होंने बताया कि अब एस्पिरिन केवल अस्पतालों में ही सप्लाई की जाती है और यहीं के लिये बनती है क्योंकि बाजार वाले कहते हैं कि यह तो पुरानी हो गई, इसका क्या होगा। इसकी जगह और नई-नई दवाइयाँ निकल आई हैं। संसार में छोटी सी चीज में ऐसा होता है। इस प्रकार कोई चीज सामने आई तो उसकी तरफ दृष्टि, सामने नहीं आई तो दृष्टि खतम। परमेश्वर के विषय में ठीक इससे विपरीत होता है। एक बार परमेश्वर जब झलक दिखाकर चला जाता है तब तड़प बढ़ती जाती है। फिर उसको भूल नहीं सकते। यह जो कृष्णपदार-बिन्दों की अविस्मृति है, भगवान् को न भूलने वाली जो स्थिति है वह जितने तुम्हारे अभद्र और जितने तुम्हारे पाप और दुर्विचार हैं, उन सबको नष्ट करती जाती है। धीरे-धीरे तुम्हारी अभद्रतायें नष्ट होती हैं। अंत में जब तुम्हारी अधीरता पूरी हो जाती है तब उस परमेश्वर का दर्शन स्थिर रूप से तुम्हारे सामने प्रकट हो जाता है। यही बात यहाँ श्रुति कह रही है 'उतबभ्रुः सुमंगलः' परमेश्वर इस प्रकार से तुम्हारी उत्कण्ठा को देखकर अपने सगुण रूप की झलक, चाहे प्रातिभ रूप में, चाहे महापुरुष रूप में, चाहे प्रज्ञा रूप में अथवा चाहे और किसी रूप में प्रकट हो जाती है। उस प्राकट्य के कारण तुम्हारी तड़पन उसके लिये बढ़ती जाती है और अंत में उस तड़प के कारण तुम उसको भूलते नहीं। न भूलने के कारण ही तुम्हारे जितने अभद्र और पाप हैं, वे सारे नष्ट हो जाते हैं और अंत में स्थिर रूप से उसका अनुभव तुमको होने लगता है। आगे इस सुमंगलता रूप की प्राप्ति के विषय में और ज्यादा विचार करेंगे।

४-३-७५

उस परब्रह्म परमात्म देव के अनेक रूपों का वर्णन कर रहे हैं। ताम्र, अरुण, बभ्रु से उपलक्षित परमेश्वर के अनंत रूपों का प्रतिपादन है। ये सभी मंगल स्वरूप हैं। परमेश्वर के अनेक रूपों को लेकर के संसार में दो प्रकार की विचारधारायें चलती हैं और दोनों का संघर्ष भी चलता है। एक तरफ एकदेववाद और दूसरी तरफ वहुदेववाद है। एकदेववाद कहता है कि परमेश्वर का एक ही रूप है, किसी एक देव विग्रह में ही परमेश्वर प्रकट होता है। यह एकदेववाद है। बाकी जितने भी देव हैं वे सारे वस्तुतः देव नहीं हैं। यह जरा विचार की बात है। वह देव कौनसा ? इसके बारे में अनादि काल से आज तक मतभेद चलता रहता है। प्रत्येक व्यक्ति अपने उपास्य को तो परमात्मदेव समझता है और उससे भिन्न को वह परमात्म देव नहीं समझता। भारतेतर देशों के अन्दर एक देव-वाद यहूदियों में भी चलता है, ईसाइयों और मुसलमानों में भी चलता है। अल्लाह, गाड या यहोवा इत्यादि कोई एक रूप जो उनका माना हुआ है, बस उस रूप को ही वह परमात्मदेव का रूप मानते हैं। उससे भिन्न जितने भी रूप हैं, वे सब गलत हैं, ऐसी उनकी मान्यता है। इसीलिये वे दूसरों के मन्दिरों को तोड़ना अपना धर्म समझते हैं। यह नहीं समझना चाहिये कि वह कोई गलती करते हैं। इसलिये कहा कि जरा विचार की बात है ध्यान से समझना। यदि उनका सिद्धान्त ठीक है तो वह कोई गलती नहीं करते हैं। जैसे हम किसी बच्चे को गलती करने पर उसको गलती करने से रोकते हैं वैसे ही वे कहते हैं कि एक देव को छोड़कर तुम गलत रास्ते जा रहे हो, इसलिये तुमको गलतो से रोकना उनका फर्ज है। यदि उनका सिद्धान्त ठीक है तो उनका कार्य भी ठीक है। भारतवर्ष में महात्मा गांधी के समय से कुछ वैश्य प्रवृत्ति हुई। बनिये की प्रवृत्ति होती है किसी चीज को साफ न करके गोलमटोल करके रखना ताकि कोईभी ग्राहक हाथ से निकले नहीं। यह व्यापार के लिये वहुत अच्छो

चीज है। लेकिन जब बुद्धि से किसी तत्त्व का निर्णय करना पड़ता है, तब यह प्रवृत्ति गलत हो जाती है, क्योंकि बुद्धि से जब तत्त्व का निर्णय करना है, तब यदि बात को गोलमटोल रखोगे तो तत्त्व का निश्चय कैसे होगा। इस गोलमटोल की प्रक्रिया में गांधी जी ने यह कहा कि मुसलमानों का सिद्धान्त तो ठीक है लेकिन मन्दिर तोड़ना गलत है। और तब कई लोगों ने हाँ में हाँ मिला दी कि ठीक है। यदि उनका सिद्धान्त ठीक है तो मन्दिर तोड़ना भी ठीक है। जैसे गलती करने वाले को रोका जाता है क्योंकि वह गलती कर रहा है, वैसे ही यदि एकदेववाद सत्य है तो फिर उस एक देव को छोड़कर दूसरे को जो भी मानता है, वह गलती करता है, इसलिये उसको गलती से बचाना चाहिये। इसीलिये वे लोग दूसरों को अपने धर्म में मिलाने का प्रयत्न करते हैं। ईसाई हमको क्यों ईसाई बनाते हैं? ऐसा तो कुछ नहीं है कि हम लोग ईसाई बनकर उन्हें रुपया देते हों। उल्टा वे हमको रुपया देकर, शिक्षा देकर, औषधि इत्यादि देकर अपना धन खर्च करके परिश्रम करके ईसाई बनाते हैं, हमसे कुछ लेते नहीं हैं। हम ईसाई बनकर उनको कुछ देते नहीं हैं। फिर वे क्यों हमें ईसाई बनाते हैं? वे समझते हैं कि हम गलत रास्ते पर हैं, इसलिये ठीक रास्ते पर हमको लाना चाहिये। उस ठीक रास्ते पर लाने के लिये ईसाई लोगों ने गुडजिह्विका न्याय को अपनाया। जैसे छोटा बच्चा दवाई नहीं खाना चाहता तो उसको कहते हैं कि ले बेटा, तेरे को चाकलेट खिलायेंगे, तू दवाई खा ले। वह कोई बच्चे को धोखा देने के लिये नहीं है, उसके रोग को ठीक करने के लिये है। ऐसी माता के प्रति कोई यह थोड़े ही कहता है कि यह धोखाधड़ी कर रही है। ऐसी कोई बात नहीं है। इसी प्रकार ईसाई गुडजिह्विका न्याय से कहते हैं कि बेटा, सच्चे रास्ते पर आ जाओ, पैसे ले लो, दवाई, शिक्षा, कपड़े, कुछ ले लो लेकिन ठीक रास्ते पर आ जाओ, गलत रास्ते मत जाओ। मुसलमानों ने दण्डन्याय को अपनाया। जैसे बच्चा कोई गलती करता है तो कई माता पिता दण्डा दिखा-

कर कहते हैं कि खबरदार यह काम किया तो। इसी प्रकार मुसलमान कहते हैं कि तुम हमारी बात नहीं मानोगे तो हम तुम्हें मारेंगे, पीटेंगे। लेकिन यदि उनका सिद्धान्त एकदेववाद का ठीक है तो उनका यह काम करना गलत नहीं माना जा सकता। यह जो हम लोग बीच वाली बात मानने लग गये कि नहीं, धर्म तो वह ठीक है, परन्तु काम उनका गलत है। यह बात ठीक नहीं है। यह उस वैश्य का बात को गोलमटोल करना था कि कुछ उनकी भी रख लो, कुछ अपनी भी रख लो। भारतवर्ष में भी कुछ लोग एकदेववादी हैं। जैसे अनेक वैष्णवाचार्य यह मानते हैं कि विष्णु से अतिरिक्त कोई परमात्मदेव का रूप हो ही नहीं सकता। इसलिये उन सम्प्रदायों में शिव, दुर्गा इत्यादि के विषय में, वह परब्रह्म परमात्म तत्त्व हैं, यह मान्यता नहीं है। एक तरफ तो यह एकदेववाद का सिद्धान्त है, दूसरी तरफ हमारे पुराणों में भी, ग्रीक माइथोलोजी, ईजिप्शियन माइथोलोजी और ईसाई धर्म के आने के पूर्व योरोप के रोमन धर्म में, सभी में भी बहुदेववाद स्वीकारा गया कि अलग अलग देव हैं जिनका अलग अलग रूप है, अलग अलग काम हैं। उनको समय बेसमय आपस में भिड़ाया जा सकता है क्योंकि कुछ कुछ बेवकूफ भी हैं। सर्वत्र जहाँ बहुदेववाद होता है, वहाँ प्रत्येक जीव की स्वतन्त्र सत्ता होती है। सब अलग अलग हैं। आपस में लड़ते भिड़ते भी हैं और बुद्धिमान आदमी अपना काम बनाने के लिए उनको भिड़ा भी देता है। यह नाराज हुआ तो उसको मना लिया, वह नाराज हुआ तो इसको मना लिया। बहुदेववाद में सारे देवताओं का कोई एक अखण्ड अधिपति नहीं हो सकता। सबके काम बँटे हुए हैं। प्रायः करके सामान्य मनुष्य को बहुदेववाद ही जँचता है क्योंकि जैसे संसार में वह देखता है कि लोगों के मतभेद हैं, वैसे ही मतभेद वह देवताओं में भी देखना चाहता है। ये दो वाद आपस में झगड़ते रहते हैं।

वेदों की एक विलक्षण दृष्टि है जो संसार में सिवाय सनातन धर्म के और कहीं मिलती नहीं। यह वैदिक धर्म की एक विलक्षण पैनी

दृष्टि है। सनातन धर्म साक्षात् परमेश्वर द्वारा प्रसूत है, यह मानने के कई कारणों में यह, अन्यत्र अनुपलब्ध दृष्टि भी है। हमारे यहाँ एकदेववाद के साथ बहुदेवतावाद है। कुछ लोग एक देव को ही मानते हैं कि परमात्मा का एक ही रूप हो सकता है। कुछ लोग बहुदेवतावाद को मानते हैं कि अनेक देवता अलग अलग स्वतन्त्र सत्ता रखने वाले हैं। वेद कहता है कि देव एक है और देवता अनेक हैं। यह एक विलक्षण दृष्टि है। देव एक है अर्थात् परब्रह्म परमात्मदेव वस्तुतः सारे ब्रह्माण्ड में, सारे प्राणियों में और सारे पदार्थों में अखण्ड रूप से विद्यमान है। 'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा' एक ही देव सारे प्राणियों के हृदय में छिपा हुआ है। वह सर्वव्यापक अर्थात् सारे पदार्थों में व्याप्त, और सब प्राणियों का अन्दर से नियमन करने वाला अन्तरात्मा शासक है। यह तो हो गया एक देव, इसका कोई रूप नहीं, इसका कोई आकार नहीं और इसका कोई स्थान नहीं। यह सारे देश काल, सारे पदार्थों में हमेशा एक जैसा रहता है, सबका नियंत्रण करने वाला है। चूँकि सबका नियंत्रण करने वाला है, इसलिए सबके अन्दर रहकर शासन करने वाला यही है। जिसके अन्दर रहकर के जब शासन करता दीखता है, उस समय वही उसका देवता रूप हो गया। वह परमात्मा जैसे चींटी का शासन करता है अन्तर्यामी रूप से, वैसे ही अन्तर्यामी रूप से हमारे अन्दर भी शासन करता है। भगवान् सायणाचार्य ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ में लिखते हैं 'सर्वैः परमेश्वर एक एव हूयते'। कहते हैं कि इन्द्र, वरुण, यम आदि अनेक नाम वेदों में देखकर भ्रम में नहीं पड़ जाना कि ये सब अलग हैं। इन सबसे एक परमेश्वर को ही बुलाया जाता है। केवल नामभेद है। जिस समय, जिस देह में जिस काम को करते दीखता है, उस समय उस देह में उसी कार्य का कर्त्ता उसे कह दिया जाता है क्योंकि स्वरूप से वह अनामी और अरूपी है। ये जो अनेक नाम और रूप हैं ये सब देवता हैं।

भगवान् सायणाचार्य दृष्टांत देते हैं 'नरराष्ट्रमिव'। जैसे भारतीय

कौन है ? अगर यह प्रश्न पूछा जाये तो तुममें से कौन भारतीय ? ५६ करोड़ भारत के निवासियों में प्रत्येक भारतीय है। ऐसा नहीं कि ५६ करोड़ मिलें तब भारतीय बनें। हरेक अपने में पूर्ण भारतीय है लेकिन यह नहीं कह सकते कि अमुक ही भारतीय है, बाकी सब नहीं। जैसे ५६ करोड़ मनुष्यों में एक ही भारतीयता रहती है। 'ता' शब्द को ध्यान में रखना। भारतीयता अलग अलग तो नहीं रहती। किसी भी एक को देखो तो पूरे भारतीयों को देख रहे हो। ऐसा नहीं कि ५६ करोड़ को देखो, तब कहो कि भारतीयों को देखा। 'नरराष्ट्र-मिव' आचार्य सायण कहते हैं कि जैसे राष्ट्र प्रत्येक व्यक्ति में रहते हुए भी सारे व्यक्तियों में रहता है। जैसे वहाँ भारतीय में भारतीयता, वैसे यहाँ एक देव सबके अन्दर देवता रूप से रह रहा है। इन्द्र, वरुण, यम इत्यादि जितने भी नाम और रूपों की तुम कल्पना करते चले जाओ, जहाँ जो कुछ भी अनुभव में आ रहा है, उसके अन्दर रहने वाला देव एक ही है। दूसरे दृष्टांत से समझो। तुम अपने सारे शरीर में एक ही हो। ऐसा तो नहीं कि आँख में कोई दूसरा, नाक और कान में कोई दूसरा, पैर में कोई दूसरा, हाथ में कोई दूसरा और पेट में कोई दूसरा हो। शरीर के कण कण और अंग प्रत्यंग में तुम हो एक। ऐसा होने पर भी आँख को लेकर तुम्हें देखने वाला कहा जाता है। किसी कारण से यदि तुम्हारी आँख फूट जाये तो तुम देखने वाले तो नहीं रहे। लेकिन क्या तुमको इसके कारण लगता है कि मेरा कोई हिस्सा निकल गया। तुम तो वैसे के वैसे हो, आँख नहीं है, इसलिये देख नहीं पा रहे हो। ऐसा तो नहीं कि तुम्हारा कोई टुकड़ा टूटकर निकला हो। आँख रूपी उपाधि को लेकर के तुमको द्रष्टा कहेंगे, कान रूपी उपाधि को लेकर तुम्हें श्रोता कहेंगे, जीभ रूपी उपाधि को लेकर तुमको वक्ता कहेंगे। लेकिन इन भिन्न भिन्न नामों के पड़ने के कारण क्या तुम कई हो जाओगे ? फिर भी जब हम तुमको कुछ दिखाना चाहेंगे तो आँख वाली बात ही कहेंगे कि आँख खोलकर देखना, देखने के समय यही कहेंगे। ऐसा तो नहीं कहेंगे कि हाथ वाले जरा आँख से

देख। आँख से देखने की बात है तब यही कहा जायेगा कि आँख वाले देख। कहीं लम्बी चढ़ाई पर चढ़ना होगा तो यह थोड़े ही कहेंगे कि वक्ता जरा चढ़कर देख। कहें कि पैर ठहर गये क्या, चढ़ता क्यों नहीं ? जिस समय जिस उपाधि से काम लेना है, उस समय उसी उपाधि का नाम भी लेंगे। उसी का रूप सामने होगा। अगर कोई आदमी लँगड़ा रहा होगा तो पैरों की तरफ नजर जायेगी। लेकिन फिर भी हम जानते हैं कि पैर के नख से लेकर चोटी तक तुम एक हो, अलग अलग नाम रूपों के लेते हुए भी। इसी प्रकार वेद कहता है 'नरराष्ट्रमिव'। अथवा मनुष्य की समझ लो।

जितने देवता हैं, उन सबके अन्दर एक ही देव विद्यमान है उन उन उपाधियों से काम करता हुआ। जिस समय जिस उपाधि से काम करता है उस समय उसका वही नाम रूप स्मरण किया जाता है। जिस समय संतान उत्पन्न करने का प्रसंग आता है उस समय प्रजापति का अथवा ब्रह्मा का स्मरण किया जाता है क्योंकि सृष्टि करने वाले वह हैं। ब्रह्मा रूपी देवता की उपाधि से चूँकि वह सृष्टि करता है, इसलिये पुत्रोत्पत्ति के प्रसंग में ब्रह्मा का स्मरण किया जाता है, रुद्र का नहीं। वह उपाधि प्रधान हो गई। जिस समय रक्षण का कार्य करना होता है उस समय विष्णुरूप उपाधि के द्वारा उसी का स्मरण किया जाता है क्योंकि उस समय कुछ पैदा तो करना नहीं है। है वह एक ही, अलग अलग नहीं है। जो ब्रह्मा में रहकर सृष्टि करता है वही विष्णु में रहकर सृष्टि पालता है। परन्तु जिस काल में जो काम करना है उस काल में उसी का व्यवहार किया जाता है। 'शिवोब्रह्मादि देहेषु सर्वज्ञ इव भासते। देवतिर्यङ् मनुष्येषु किंचिन्ज्ञस्तारतम्यतः' वही परब्रह्म परमात्मतत्त्व ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र आदि रूपों में सर्वज्ञ की तरह प्रतीत होता है। लेकिन केवल उन शरीरों में ही नहीं, तुम्हारे शरीरों में भी वही बैठा हुआ है। वही परब्रह्म परमात्मदेव मनुष्यों में अल्पज्ञ हुआ प्रतीत होता है। वही परब्रह्म परमात्म तत्त्व पशुपक्षियों के अन्दर और ज्यादा अल्पज्ञ हुआ प्रतीत होता है, लेकिन उन सबका अन्दर बैठकर शासन करने वाला वह

एक ही देव है। यह वैदिक दृष्टि है।

एक बार राजा जनक ने इसी तत्त्व का निर्णय करने के लिये बड़ी भारी सभा बुलाई। भारतवर्ष के जितने ब्रह्मवेत्ता लोग थे, उन सबको निमंत्रित किया। सब आये। उन्होंने दस हजार गायें, प्रत्येक गाय के सींग में सोना मढ़ा हुआ, गलों के अन्दर मोहरों की माला और पैरों के खुरों के अन्दर चाँदी मढ़ी हुई, रख दीं और कहा कि आप लोगों में जो परमात्मा के विषय में पूरी तरह से तत्त्व का प्रतिपादन कर सकता हो, वह इन गायों का अधिकारी हैं, ले जाये। तभी तत्त्व निर्णय होता है। किसी भी सत्य का निर्णय तब तक नहीं होता जब तक कोई एक व्यक्ति सत्य निर्णय में आग्रह वाला न हो। आज का युग सत्य निर्णय का युग नहीं हैं। कोई भी मनुष्य सच्ची बात नहीं सुनना चाहता है, न कहना चाहता है, न निर्णय करना चाहता है। बस एक तरह की घपलेबाजी करके चलाते रहो जब तक गाड़ी धके, तब तक धकाओ। राजा जनक तत्त्व का निर्णय चाहते थे। उन्होंने दस हजार गायों को सामने रखकर कहा कि जो इस चीज के अन्दर सबसे ज्यादा जानने वाला हो, वह इन्हें ले जाये। वहाँ सभी बड़े बड़े ब्रह्मनिष्ठ ब्रह्मतत्त्ववेत्ता बैठे हुए थे। वे सब एक दूसरे की तरफ देखने लगे। थोड़ी देर तक तो महर्षि याज्ञवल्क्य चुपचाप रहे, फिर उन्होंने अपने एक शिष्य से कहा—अरे सामश्रवा ! गायों को अपने आश्रम में ले चल। यद्यपि याज्ञवल्क्य स्वयं यजुर्वेद के प्रवर्त्तक हैं। शुक्ल यजुर्वेद उन्हीं का सृष्ट है परन्तु सामश्रवा के सम्बोधन से उन्होंनें यह बताया कि मैं चारों वेदों को पूरी तरह से जानता हूँ क्योंकि शिष्य को सामश्रवा कहा अर्थात् जिसने मेरे से सामवेद को पढ़ा है। लेकिन यह बात किसको बर्दाश्त हो सकती थी। सारे के सारे खड़े हुए, बोले—तू ही सबसे बड़ा ब्रह्मवेत्ता है, तू ही सब जानता है? याज्ञवल्क्य महर्षि हाथ जोड़कर सबको कहते हैं नमो वयम्ब्रह्मिष्ठाय, कुर्मः, गोकामा एव वयम् भाई, ब्रह्मवेत्ताओं को तो हम नमस्कार करते हैं। आप सबको नमस्कार है। आश्रम में गायों की जरूरत थी, इसलिये खोलकर

ले जाते हैं। यह सच्चे ज्ञानी के अन्दर का विनय भाव है। सामश्रवा कहकर यह भी प्रकट कर दिया कि लड़ने में समर्थ हूं और साथ में यह भी नहीं कहा कि मैं ब्रह्मवेत्ता हूँ। गौओं की जरूरत है, वह ले जा रहा हूँ। इसके बाद वहाँ पर बड़ा भारी शास्त्रार्थ हुआ। सब लोग प्रश्न पूछते चले गये। सबको उन्होंने जवाब दिये। वहाँ प्रश्नों का महर्षि याज्ञवल्क्य ने जबाव दिया। अंत में वचक्नु की पुत्री गार्गी वाचक्नवी ने, जो उस काल की जन्म से ही ब्रह्मनिष्ठ थी, सबसे कहा कि मैं इनसे दो प्रश्न पूछती हूँ। अगर यह इनका जवाब दे दें तो आप सब लोग चुप हो जाना। उसने महर्षि याज्ञवल्क्य से कहा कि मैं ऐसे पैने बाण मारूँगी कि तू नहीं सह सकेगा। याज्ञवल्क्य कहते हैं—अरे काहे के लिए बक बक करती है, मार न। बोलने से क्या होता है। गार्गी ने दो प्रश्न पूछे। ठीक जबाव दे दिया। अब उसने सब लोगों से कहा कि इनके जैसा ब्रह्मनिष्ठ कोई नहीं, इसलिए तुम लोग इन्हें नमस्कार करके चुप हो जाओ। लेकिन जनक के पुरोहित शाकल्य से यह सहन नहीं हुआ। उसने कहा—गार्गी! क्या तुम्हारे कहने से मैं चुप हो जाऊँगा। शाकल्य ने फिर वहाँ देवतामीमांसा प्रारम्भ की। पूछा—'कति देवाः याज्ञवल्क्य'। यह जो यहाँ का प्रसंग है, यह एकदेववाद और बहुदेववाद पर निर्णायक प्रसंग है। हे याज्ञवल्क्य! देव कितने हैं? उन्होंने कहा-'त्रयश्चत्रीचशतात्रयश्चत्रीचसहस्रेति' क्या प्रश्न पूछा कि कितने देव हैं? कोई गिनती कर सकता है। चलो फिर भी तू पूछता है तो ३३३३३ देवता हैं। सहस्र अनंतवाचक संख्या है। तात्पर्य यह कि देवता अनंत हैं। संसार का हर प्राणी एक देवता है। इनकी गिनती कौन बतायेगा। सहस्र का मतलब यहाँ गिनतीवाचक नहीं, अनंत है। तीन क्यों कहा, यह आगे स्पष्ट होगा। शाकल्य भी था तो समझदार, तात्पर्य समझ गया, कहा—ठीक कहा। याज्ञवल्क्य! फिर भी बता तो सही कि कितने देव हैं। फिर याज्ञवल्क्य ने कहा—सुन ले, ३३ देवता हैं। कहा—बात तो तुमने ठीक कही लेकिन ठीक ठीक बता कि उन ३३ में भी 'कत्येव देवाः' कितने देव हैं? कहा—

छः हैं। फिर पूछा—छः तो हैं लेकिन हैं कितने ? कहा—तीन हैं। फिर कहा—सच्ची बात बता कितने हैं। याज्ञवल्क्य कहते हैं—'द्वाविति' दो हैं। शाकल्य कहता है—बोल तो तू ठीक रहा है लेकिन क्या दो हैं ? कहा—नहीं, डेढ़ हैं। उसने कहा—डेढ़ पक्के हैं ? कहते हैं—नहीं, एक है। अब शाकल्य ने कहा कि फिर ३३३३३ कैसे कहा ? कहते हैं—महिमान एवैषां' यह उसी की महिमा है। उस एक ने ही अपनी महिमा से अपने को इतने रूपों का बना लिया है। यह प्रकरण तो यजुर्वेद में आया है। ठीक ऐसा ही प्रकरण सप्तशती (मार्कण्डेय पुराण) में आता है। शुंभ कहता है—अरे ! तू क्या घमण्ड करती है 'अन्यासां बलमाश्रित्य युद्ध्यसे यातिमानिनी' तूने तमाम दुनिया भर की फौज इकट्ठी कर रखी है। दूसरी फौज का सहारा लेकर युद्ध कर रही है और बड़ा घमण्ड करती है कि मेरे जैसा लड़ने वाला कोई नहीं है। देवी जवाब देती हैं 'एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा' अरे शुंभ ! तू समझता नहीं है, मैं अकेली ही हूँ। इस जगत् में मेरे सिवाय और दूसरा है कहाँ। फिर भी तू कहता है कि ये दूसरे हैं तो देख, तेरे देखते ही देखते मैं इन सबको अपने में लीन कर लेती हूँ। यह कहने के साथ ही देवी ने उन सबको अपने में लीन कर लिया कि ये तो मेरी विभूतियाँ हैं। जैसे एक मैं ही हाथ से पकड़ने का काम और पैरों से चलने का काम कर लेता हूँ, आँखों से देखने का काम कर लेता हूँ लेकिन करने वाला तो मैं एक ही हूँ। ये तो सब मेरी महिमा है। मेरा ऐश्वर्य है। इसी श्रुति के आधार पर ही यह पुराण का प्रसंग है। वही बात महर्षि याज्ञवल्क्य कह रहे हैं 'महिमान एव एषां एते त्रयस्त्रिंशत्' सब एक की ही महिमा है।

शाकल्य ने कहा—यह आपने ठीक कहा लेकिन अब जरा उसका नाम तो बता। क्योंकि उसे तो प्रश्न ही प्रश्न पूछना था। तब उन्होंने नाम बताये—'द्वादश' आदित्य, ११ रुद्र, आठ वसु, इन्द्र और प्रजापति, ये ३३ देवता हैं। 'अग्निश्च ········एते वसवः'। इन्हें वसु क्यों कहते हैं ? स्वयं याज्ञवल्क्य कहते हैं 'एतेषु इदं सर्व पृथिवी च वायुश्चान्तरिक्षं चादित्यश्च द्यौश्च चन्द्रमाश्च नक्षत्राणि चैते वसवः'

इन आठ में ही सारा संसार बसता है, वस् माने बसना। इसलिये इन्हें वसु कहते हैं। ये अष्ट वसु हैं—पंचमहाभूत, सूर्य, चन्द्र और प्रधान। सूर्य और चन्द्र काल को बताने वाले हो गये। इनके अन्दर ही सब कुछ बसता है। जो कुछ भी संसार है, वह सब इसी में बसता है। इसीलिए ये वसु कहे जाते हैं। उसने कहा – यह भी ठीक। वसु के अन्दर सारा दृश्य जगत् आ गया, पंचमहाभूतों से सृष्ट सारा जगत् और सूर्य चन्द्र अर्थात् काल में भी पदार्थ वसते हैं और पंचमहाभूतों में पदार्थ बसते हैं। इन सबके अन्दर वसने वाला होने से ही वे सारे के सारे वसु कहे गये। इन सबका मूल कारण प्रधान है जिसको अविद्या कह लो। प्रधान (अविद्या) है तब पंचमहाभूत और सूर्य व चन्द्र हैं। इसीलिए वह प्रधान हो गया। इन आठ के रूप से संसार वस रहा है। शाकल्य ने कहा—यह ठीक है। अब एकादश रुद्र कौन से हैं? 'दशेमे पुरुषे प्राणा आत्मैष दश:' दस इन्द्रियाँ और ग्यारहवाँ जानने वाला, ये एकादश रुद्र हैं। यहाँ पर जानने वाले से शुद्ध चेतन साक्षी रूप नहीं ले लेना। जानने वाला जीव लेना। इन्हें रुद्र क्यों कहते हैं? 'तद्यद्रोदयन्ति तस्माद्रुद्रा' स्वयं याज्ञवल्क्य निर्वचन करते हैं कि जब ये ज्ञानेन्द्रियाँ, कर्मेन्द्रियाँ और अंत:करण शरीर से निकलते हैं तो यह भी और इसके आसपास बैठने वाले भी रोते हैं। इनका जाना ही मरना है। मरने वाले तो रोते हैं और उनके पास बैठने वाले भी रोते हैं। यही एकादश रुद्र हैं। इसी बात को रामायण के अन्दर भी समझाया गया। रावण ने दस मुखों का तो हवन किया, ग्यारहवें का हवन नहीं किया अर्थात् तपस्या के काल में अपनी ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ तो उसने वश में कर लीं, वे तो भगवान् की तरफ लगीं, इसलिए उनका हवन कर दिया, लेकिन जो उसका अपना मन था, उसका उसने हवन नहीं किया। मन परमात्मा में नहीं लगा। मन उसका भोगों में लगा रहा। इसीलिये यह मारा गया। यह जो रामायण के अन्दर बताया गया कि रावण ने दस मुखों का हवन किया, इसका तात्पर्य यही है कि उसने दस इन्द्रियों को तो वश में किया लेकिन मन को वश में नहीं किया। प्राय: तपस्या में लोग यही भूल करते हैं। वाह्य इन्द्रियों को तो

वश में कर लेते हैं लेकिन मन को वश में नहीं करते। फिर शाकल्य ने पूछा—द्वादश आदित्य कौन से हैं ? याज्ञवल्क्य ने कहा—'द्वादश वैमासाः संवत्सरस्य एत आदित्याः' बारह मास बारह आदित्य हैं 'क्योंकि एतेहीदं सर्वं आददानायन्ति' संवत्सर ही सबको लेकर चलता है इसलिये इन्हें आदित्य कहते हैं। पूछा—इन्द्र कौन है ? गरजने वाला ही इन्द्र है। गरजने वाला नाद है जिसका मूल रूप ओंकार और वहीं से फिर सारे शब्द चलते हैं। ध्वनि का जो बीज नाद है, वह इन्द्र है। प्रजापति कौन है ? इन सबको ठीक प्रकार से चलाने वाला तत्त्व ही प्रजापति है 'यज्ञः प्रजापतिः' यज्ञ ही प्रजापति है। इस प्रकार द्वादश आदित्य, समग्र संसार को चलाने वाला नाद और प्रजापति अर्थात् मूल बिन्दु जिससे सारे रूप निकलते हैं, वही नियामक तत्त्व है। ये ३३ देवता ही इन सारे रूपों को धारण करते हैं। दृश्य जगत्, द्रष्टा जगत् और दर्शन जगत् सारा इनके अंतःपाती आ गया। लेकिन शाकल्य को अभी कहाँ संतोष होना था। कहा—यह तो ठीक बताया, लेकिन यह बताओ कि इनमें से छः कौन से हैं क्योंकि ३३ के बाद छः कहा था। ये छः ही प्रधान हैं—पंचमहाभूत और एक जानने वाला जीव क्योंकि कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियाँ सब बनते तो महाभूतों से ही हैं। इसलिये छः में ही उनका संग्रह कर लिया। इन्हीं छः के आधार पर अपने सनातन धर्म में पंचदेवोपासना प्रचलित हुई। पंच महाभूतों को बताने वाले पाँच देव और पूजन करने वाला स्वयं यजमान छठा। कोई भी पूजा करते हैं तो पंचदेवोपासना होती है वह पंचमहाभूतों की उपासना है। पृथ्वी तत्त्व के अधिष्ठाता गणपति, जल तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान् विष्णु, अग्नि तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान् सूर्य, वायु तत्त्व की अधिष्ठात्री देवी और आकाश तत्त्व के अधिष्ठाता भगवान् शंकर और छठा यजमान खुद। इसलिये कोई भी पूजा होती है तो यजमान की पूजा भी साथ ही होती है। प्रत्येक पूजा आरम्भ करोगे तो पहले देव वंदनम्, फिर आत्म वंदनम्। न्यास भी बाह्य और अन्तर। सर्वत्र इन छः की पूजा साथ चलती है।

पंच देवोपासना का आधार यही है। फिर शाकल्य ने पूछा था कि छः पक्के हैं तो कहा था तीन हैं। शाकल्य ने पूछा—तीन कौन से हैं? बताया कि 'भूः भुवः स्वः' के अंतःपाती ये सारे छः के छः आ गये। सत्, चित् और आनंद इन तीन में ही वे आ गये। भू सत्तायां सत् को बताता है। भवति इति भुवः चेतन तत्त्व को बताता है। स्वः शब्द सुख या आनंद को बताता है। सच्चिदानंद के अन्दर छहों आ गये। सारे अनुभव अंत में सच्चिदानंद रूप हो जाते हैं। कहा—यह भी ठीक कहा लेकिन 'कतमौ द्वौ देवाविति' तीन में दो किसको कहा? याज्ञवल्क्य कहते हैं 'अन्नं चैव प्राणश्च' इन तीन का भी विचार करके देखो तो ये अन्न और प्राण के ही अंतःपाती आ गये। अन्न माने जिसका भोग किया और प्राण अर्थात् जो भोग करने वाला है। इसलिये अन्न और प्राण बस दो ही हैं। अन्नस्वरूप को ही भगवान् विष्णु माना जाता है और प्राण स्वरूप को ही भगवान् शंकर माना जाता है। इसीलिये विष्णु शंकर के अन्दर बाकी सब देवताओं का संग्रह हो जाता है क्योंकि सूर्य नारायण स्वरूप हैं। नारायण स्वरूप होने से सूर्य भगवान् विष्णु के साथ हो गये। देवी भगवान् शंकर का हो स्वरूप हैं, उनकी अर्द्धांगिनी हैं और गणेश उनके पुत्र हैं ही। भीतर आत्मदेव जो जीव है, उसका यजमान नारायण हैं। 'आपो नारा इति प्रोक्ताः' समग्र जीवों के यजमान अधिष्ठाता देवता भगवान् नारायण या विष्णु हो गये। इस प्रकार छः के तीन, तीन के दो अर्थात् भगवान् विष्णु और शंकर में सबका संग्रह हो जाता है। सूर्य, विष्णु और आत्मा एक हो जाते हैं तथा शिव देवी और गणपति ये एक हो जाते हैं। इसीलिये 'अग्नीषोममयं जगत्' जगह जगह इसी दृष्टि से कहा गया है। इसीलिये हमारे यहाँ शास्त्रों में अन्न को बड़ा प्रधान स्थान दिया गया है 'अन्नं ब्रह्मेति व्यजानत्'। प्राणों को भी इसीलिये प्रधानता दी जाती है। शाकल्य ने कहा कि यह भी ठीक है लेकिन डेढ़ वाला हिसाब क्या है। महर्षि याज्ञ-वल्क्य ने कहा—'योयं पवत इति' जो यह वायु बह रहा है, यही

डेढ़ है क्योंकि यह वायु जब बाहर है तब तो जड़ है, यद्यपि है तो बहुत बड़ा और व्यापक लेकिन जड़ है। जब यह किसी प्राणी के अन्दर जाता है तो उसको चेतन कर देता है। अन्दर गया हुआ बड़ी ताकत वाला लेकिन परिमाण में छोटा। बाहर वाला परिमाण में बहुत बड़ा। इसलिए एक और आधा डेढ़ हो गया। इसी को पुराणों में हरिहर रूप में दिखाया गया है जिसमें आधा विष्णु का रूप और आधा शंकर का रूप होता है, वही हरिहर मूर्ति है।

शाकल्य कहता है कि डेढ़ भी समझ में आ गया। लेकिन वह एक कौन है। अब महर्षि याज्ञवल्क्य ने कहा कि वही ब्रह्म है। वही परब्रह्म परमात्मतत्त्व व्यापक है जो इन सब रूपों में बढ़ता हुआ, इन सब रूपों को धारण करता जाता है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर इसी प्रकरण के भाष्य में लिखते हैं 'देवस्य एकस्य नामरूपकर्मगुणशक्तिभेदोऽधिकार भेदात्' वह एक ही परब्रह्म परमात्म देव है जो नामों के, रूपों के, कर्म और गुणों के भेद से तथा शक्ति के भेद से अनेक प्रकार का दीख रहा है। यहाँ जो श्रुति कह रही है 'असौ यस्ताम्रो अरुण उतबभ्रुः सुमंगलः' इसमें श्रुति यही बात बताना चाहती है कि वह एक देव ही अरुण, ताम्र और बभ्रु रूपों से प्रतीत होता हुआ भी वस्तुतः एक अखण्ड ही है। भिन्न नामों और रूपों के कारण भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। जो बहु देव हैं उनमें वस्तुतः एक देव ही अपनी शक्तियों के द्वारा अनंत नाम, रूप, गुण शक्तियों वाला प्रतीत हो रहा है। जहाँ कहीं भी ब्रह्माण्ड में कोई भी शक्ति काम करती है, उसमें वह एक देव ही विद्यमान है। गीता में अर्जुन ने भगवान् से पूछा कि मैं आपको कहाँ कहाँ खोजूँ तो भगवान् ने कहा 'नान्तोस्ति' अर्थात् इसका कोई अंत नहीं आना है। इसलिए कोई यह कहे कि परमेश्वर का यही रूप है या परमेश्वर ऐसा ही है तो समझ लो कि वह भूल कर रहा है। हम जितना भी परमेश्वर के विषय में जानेंगे, उससे आगे वह अनंत गुणा वैसा का वैसा बना रहेगा। परमेश्वर ऐसा ही है, यह परमेश्वर भी नहीं कह सकता क्योंकि वह अनंत है। यदि वह भी अपने को

सीमित करना चाहे तो नहीं कर सकता। हम कई बार लोगों से कहते हैं कि परमेश्वर सर्वशक्तिमान् नहीं है। लोग कहते हैं— महाराज ! यह कैसी बात ? हम कहते हैं कि एक काम ऐसा है जो परमेश्वर नहीं कर सकता है और हम कर सकते हैं। हम आत्मघात कर सकते हैं, परमेश्वर नहीं कर सकता अर्थात् अपने आपको मारना हम करते हैं, परमेश्वर नहीं कर सकता। उसने हालाहल भी पीकर देख लिया, नहीं मरा। परमेश्वर सर्वज्ञ है, सर्वशक्तिमान् है, कोई कहे कि परमेश्वर भी अपना अंत तो जानता होगा। उसका अंत है ही नहीं तो अपना अंत कहाँ से जानेगा। सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् का मतलब ऊटपटांग नहीं लगा लेना चाहिये कि वह अनंत पदार्थों को जानता है, वरन् अनंतशक्तिमान् है, यह उसका मतलब है। यही बात भगवान् ने कही 'नान्तोस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परंतप' मैं भी नहीं जानता, वह अनंतता है। यही यहां ताम्र, अरुण और बभ्रु से बताया कि वह अनंत है। उस अनंत की उपासना अपने यहाँ किस प्रकार की जाती है, इसके रूप आगे बतायेंगे।

१५-३-७५

उस परमेश्वर का इस सृष्टि में किस प्रकार प्राकट्य होता है व उसके अनेक विग्रहों के रूपों का, विचार कर रहे थे। ताम्र, अरुण और बभ्रु तीन नाम यहाँ लिये। ये तीनों ही रूप सुमंगल रूप हैं। इन तीन रूपों का यहाँ वर्णन किया। कल बताया था कि किस प्रकार से सनातन धर्म में ही एक देववाद और बहुदेवतावाद साथ साथ है। अब वह एकदेव कितने प्रकार का है इसको यहाँ श्रुति कहती है 'असौ' यह एक वचन है। इसलिये जो यह एक ही परब्रह्म परमात्म देव है, वही ताम्र है, अरुण है और बभ्रु है। असौ का एकवचन यह बताता है कि ये भिन्न भिन्न रूपों में प्रतीत होने वाला कोई अन्य नहीं, एक ही है। परमेश्वर के यहाँ तीन रूप बताये। सभी जगह शास्त्रों में परमेश्वर के तीन रूपों का

प्रतिपादन है। पहला परमेश्वर का रूप निर्गुण निराकार है। यह परमेश्वर का शुद्ध ब्रह्मरूप है और सारे जगत् का एकमात्र अधिष्ठान है। 'अधिष्ठानत्वमात्रेण कारणं ब्रह्मगीयते' वस्तुतः वह कार्यकारण भाव से निर्मुक्त है। अधिष्ठान है इसलिये औपचारिक दृष्टि से उसे कारण कहते हैं। निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा को यदि सच्चा कारण मान लेंगे तो यह भी एक गुण होगा क्योंकि कारण रूपी धर्म वाला हो जायेगा। कारणत्वविशिष्ट हो जायेगा, फिर शुद्ध नहीं रह पायेगा। इसलिये यह शुद्ध चेतन यदि कारण भी कहा जाता है तो केवल अधिष्ठान होने के कारण कहा जाता है। वास्तविक कारणता भीं इसमें नहीं है।

माण्डूक्य उपनिषद् में इसीलिये सृष्टि करने वाले रूप को 'एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोन्तर्यामी' बताकर फिर इस चरम तत्त्व का निरूपण करने के लिये 'अव्यपदेश्यं एकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते' कहा इसको किसी प्रकट मुख से नहीं कहा जा सकता। उस निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा का वास्तविक वर्णन करना असम्भव है। इस शुद्ध रूप का केवल अपनी आत्मा के अन्दर ही प्रत्यय अर्थात् ज्ञान किया जा सकता है। अपनी आत्मा में ही इसका ध्यान कर सकते हो। अपनी आत्मा में ही इसकी प्राप्ति हो सकती है। सारे जगत् का अधिष्ठान होने पर भो एकात्मप्रत्ययसार अर्थात् केवल अपनी आत्मा में ही इसका साक्षात्कार सम्भव है। जैसे सूर्य संसार में सब पदार्थों पर रोशनी डालता है लेकिन केवल अपनी आँख पर पड़ी रोशनी से ही उसका साक्षात्कार सम्भव है। सूर्य की रोशनी खम्भे पर पड़ रही है लेकिन क्या इससे हमको सूर्य दीख रहा है? सूर्य तो तभी दीखेगा जब सूर्य की रोशनी सीधे तुम्हारी आँख में पड़े। हम लोग जानते हैं कि यहाँ प्रत्येक खम्भे को, प्रत्येक व्यक्ति को, प्रत्येक रास्ते को सूर्य हो प्रकाशित कर रहा है। यह समझते हैं लेकिन यदि सूर्य का साक्षात्कार करना है, प्रत्यक्ष करना है, तो आँख के ऊपर सूर्य की रोशनी डलवानी पड़ेगी। वह भी किसी दूसरे की आँख में सूर्य की रोशनी डलवाने से तुमको

ज्ञान नहीं हो सकता, अपनी ही आँख को सूर्य के सामने करना पड़ेगा। सूर्य की किरणों का अपनी आँखों से सम्बन्ध करना पड़ेगा। इसी प्रकार से यद्यपि सारे जगत् के कण कण का अधिष्ठान वह निर्गुण परब्रह्म परमात्मा है, यह बात शास्त्रों से भी जानी जाती है, युक्ति से भी जानी जाती है, लेकिन जब तक उसको अपनी आत्मा में नहीं देखोगे तब तक उसका साक्षात्कार नहीं होगा। निर्गुण निराकार परब्रह्म परमात्मा को माण्डूक्योपनिषद् इसीलिये एकात्मप्रत्ययसार बताती है कि एकमात्र आत्मा में ही उसका ज्ञान हो सकता है। जब उसका ज्ञान होगा तो बाकी ज्ञान कहाँ जायेंगे ? वे भी तो बचे रहेंगे। कहा ऐसा नहीं 'प्रपंचोपशमं' सारे ही प्रपंच उपशांत हो जाते हैं। जिस प्रकार से लौकिक समाज में ब्रह्मभोज होने वाला है। ब्राह्मण लोग एक एक करके आकर पंक्ति में बैठ रहे हैं, एक दूसरे से गप्पें मार रहे हैं। कोई पूछ रहा है कि आज सबेरे कहाँ गये थे, दूसरा कह रहा है अरे, आज तो अपने को एक शतचण्डी करने जाना था, क्या तुम्हें निमंत्रण नहीं मिला। वह कहता है— आजकल वह मेरी बात थोड़े ही पूछता है। चारों तरफ खूब ज़ोर का हल्ला मच रहा है। यह हुई पहली अवस्था। फिर थोड़ी देर में लड्डू आ गये परोसने के लिये क्योंकि ब्राह्मणों के भोजन में पहले मिठाई परोसी जाती है। दूसरे लोग जब पेट भर जाये तब अंत में मिठाई लेकर आते हैं। जैसे ही पत्तल में पूरी लड्डू पड़ने लगे वैसे ही वे सारी बातें खतम हो गईं और शुरू हो गया 'नाभ्यासीदंतरिक्षं' अब केवल एक स्वर की आवाज आ रही है। अब लड्डू पूरी साग परोसे गये, पाठ भी खतम हो गया और नमः पार्वतीपते हर हर महादेव होने के साथ ही सब आवाज बन्द। दनादन लड्डू अन्दर जा रहे हैं। पूर्ण शांति है। पाँच चार मिनट के बाद थोड़ी सी मन्दी मन्दी आवाज आती है पूरी साग पूरी साग। फिर जब थोड़ा सा पेट शांत हो गया, बीस पच्चीस लड्डू पेट में पहुँच गये तो जरा जान में जान आई। अब श्लोक बोलने शुरू हुए और सुन्दर से सुन्दर भगवान् के ध्यान के, उपदेश के श्लोक होने लगे। कोई

नीतिशतक का तो कोई वैराग्यशतक का श्लोक बोल रहा है। ठीक इसी प्रकार से जब पहले पहल साधना में जीव बैठता है तो शोरगुल ही शोरगुल है। बेचारे कबीरदास जुलाहे थे, कहते हैं 'बैठे थे हरि भजन को ओटन लगे कपास' मनीराम माला फेरने तो बैठा लेकिन सोचने लगा कि अबकी बार रूई खराब आ गई, उस रूई की धुनाई ठीक नहीं हुई, उसी का ओटना चलता रहा। ऐसा करूँ तो रूई ठीक होगी या ऐसा करूँ तो यह स्थिति है जब दिमाग में सारी संसारी वासनाओं का ढोल बज रहा है। बीच में ख्याल आता है और मनुष्य फिर जप करना शुरू करता है। पाँच सात बार फिर ॐ नमो भगवते वासुदेवाय का जप चला। फिर याद आता है कि अरे वह पापड़ धूप में देना हम भूल गये थे, खराब हो जायेंगे और फिर शुरू करते हैं ॐ नमो भगवते वासुदेवाय का जप। यह प्रथम अवस्था है। अब जब सामने परमेश्वर के रूप का थोड़ा सा स्वरूप आने लगता है, सच्चिदानंद परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप को मन जरा समझने लगता है कि क्या है, कैसा है तो जैसे वहाँ नाभ्यासीदंतरिक्षं का पाठ शुरू हुआ, वैसे ही यहाँ अब केवल उस परमेश्वर के नाम का निरंतर एक क्रम से जप शुरू हो गया। यह मध्य अवस्था है। जप होते होते जब अंतःकरण शांत हो जाता है तब उसमें कोई ध्वनि नहीं उठती, मंत्र भी नहीं उठता। यह प्रपंचोपशम शांत अवस्था है, प्रपंच उपशांत हो जाते हैं। जैसे लड्डू का स्वाद लेते समय मनुष्य को न किसी से बात करने की फुर्सत है, न श्लोक बोलने की, वैसे ही परमेश्वराकार वृत्ति जब ध्यान की गंभीरता में बनती है तो न बाह्य कोई शब्द और न मन्त्र ही ध्यान में आता है। उस समय तो केवल उस रस का आस्वादन होता है। इसी अवस्था को यहाँ एकात्मप्रत्ययसार प्रपंचोपशम शांत अवस्था कहा है, जब प्रपंच नहीं रह जाता।

शांत होकर एकमात्र अद्वितीय शिव ही शिव रह जाता है। यह उसका निर्गुण निराकार रूप है। लेकिन इसका स्वाद लेने के लिये मनुष्य को विचारपूर्वक प्रवृत्ति करनी पड़ती है। परमेश्वर के रूप

को ठीक ठीक समझना पड़ता है नहीं तो आँख बन्द करके निर्गुण निराकार को सोचते हैं तो अंधकार दीखता है। आँख खोलकर देखते हैं तो पदार्थ दीखते हैं। बहुत से लोग बड़ी जल्दी चाहते हैं कि निर्गुण निराकार का ही ध्यान कर लें। लेकिन क्या होता है ? थोड़े दिनों में जब नहीं बन पड़ता है तो छोड़ देते हैं। इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा 'अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते'। यह जो निर्गुण निराकार रूप है, वह उसकी पकड़ में नहीं आता जिसने शरीर से अतिरिक्त अपने आपका कुछ विचार किया ही नहीं। उसके बिना इस निर्गुण निराकार अव्यक्त तत्त्व को पकड़ना नहीं बनता। परमेश्वर का दूसरा रूप मायाविशिष्ट रूप है। यह सगुण निराकार रूप है। मायाविशिष्ट होने से सगुण तो है लेकिन निराकार है। उसका कोई आकार नहीं है। यह सर्वज्ञ है। 'एष सर्वेश्वर एषोन्तर्यामी' अथर्ववेद की श्रुति कह रही है कि यह सर्वज्ञ, सर्वेश्वर है, व्यापक है, अन्तरात्मा है, सब प्राणियों के हृदय में बैठकर उनकी डोरी खींचने वाला शासक है। यही सृष्टि का कर्त्ता, पालक और संहार करने वाला है। पहले की अपेक्षा इस सगुण निराकार का ध्यान मनुष्य अधिक सरलता से कर सकता है। यह उसका दूसरा रूप है। जितने भी कल्याणगुण हैं, वे सब उसमें हैं। 'सकलकल्याणगुणसम्पन्नः' जितने भी कल्याण अर्थात् सद्गुणों की कल्पना कर सकते हो वे सब उसमें विद्यमान हैं। जिस व्यक्ति के हृदय में जिस कल्याण गुण को अपने अन्दर लाने की कामना हो, वह उसी गुण को प्रधान रखकर उसकी उपासना करे। वही गुण उसमें आते चले जायेंगे। इसीलिये उसको सकल कल्याण गुण सम्पन्न कहा। उसमें किसी प्रकार के बुरे गुण को कल्पित नहीं करना है। कहीं कहीं जहाँ सगुण परमेश्वर को निर्गुण कहा जाता है। वहाँ तात्पर्य है, जिसके सकल दुर्गुण निवृत्त हो गये हैं। कल्याण गुण तो उसमें सारे हैं, लेकिन दुर्गुण उसमें कोई नहीं है। यह ध्यान करते समय परमेश्वर के अन्दर जिन जिन गुणों की कल्पना करते चले जाओ उन सबकी सत्ता वहाँ

है। यह परमेश्वर का सगुण निराकार रूप है, लेकिन इसका ध्यान करने के लिये भी बुद्धि शुद्ध चाहिये। पहले के लिये जैसे परमेश्वर के स्वरूप को समझना जरूरी, इसके लिये बुद्धि का शुद्ध होना जरूरी है। इसीलिये भगवान् ने गीता में कहा कि क्या कारण है कि अधिकतर लोग मेरा भजन नहीं करते यद्यपि मैं सब फलों को दे सकता हूँ। सकल कल्याणगुणसम्पन्न होने से जो भी मेरा भजन करेगा, उसको उस गुण की प्राप्ति हो जायेगी। फिर भी लोग मेरा भजन क्यों नहीं करते ? क्षुद्र फलों की तरफ हृदय का आकर्षण होने से माया के द्वारा जिनकी आँखें आवृत्त रहती हैं, वे उनको नहीं देखते। 'सुहृदं सर्वभूतानां' भगवान् कहते हैं कि मैं सारे प्राणियों का सुहृद् हूँ और 'सर्वलोकमहेश्वरं' सारे प्राणियों का अंतिम, सारे अनुभवों को देने में अंतिम समर्थ महेश्वर मैं हूँ, इतना सब होते हुए भी मूढ लोग मेरी अवज्ञा ही करते हैं क्योंकि माया के द्वारा अर्थात् क्षुद्र पदार्थों के आकर्षण के द्वारा वे लोग मेरी तरफ दृष्टि नहीं कर पाते। तीसरा रूप भगवान् का वह हैं जिसमें वह न केवल सगुण निराकार हैं वरन् सगुण साकार हैं। श्रीमद्भागवत के प्रारंभ में भगवान् शुकदेव ने पहले सगुण निराकार रूप का ही वर्णन किया। परीक्षित को ध्यान करने के लिये पहले सगुण निराकार रूप ही बताया। भागवत के मंगल श्लोक में भी इसीलिये सगुण निराकार को ही कहा है। 'सत्यं परं धीमहि'.......
यहाँ परमेश्वर के किसी भी साकार रूप का नाम लेकर नहीं कहा। 'सत्यं परम् धीमहि', उस परम सत्य का 'सत्यस्य सत्यं' परब्रह्म परमात्म रूप का जिसे सत्य नाम से श्रुति कहती है, 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' उस सत्य का ही हम ध्यान करते हैं। वह सत्य निर्गुण निराकार भी हो सकता है। कहते हैं कि वह तो सबके लिये सुलभ नहीं है। वह तो सारे उपदेशों के अन्त में आने वाला है। इसलिए कहा कि वह सत्य परब्रह्म परमात्मा जन्म, स्थिति और भंग इस सृष्टि का करने वाला है। सब पदार्थों में भी बैठा हुआ है। यदि केवल कह देते कि जगत् को उत्पन्न करने वाला है, तो जैसे कुम्हार

घट उत्पन्न करके चला जाता है, वैसे ही भगवान् भी चले गये होंगे, आराम से सो रहे होंगे क्योंकि काम खतम हो गया, छुट्टी हुई, यह शंका हो जाती। ऐसा नहीं समझना। सब चीजों में वह विद्यमान है, अन्वित है। स्वराट् रूप, स्वयं अपना मालिक है। वह परब्रह्म परमात्मा ही इस जगत् रूप में कैसे प्रतीत होता है ? 'तेजोवारि भृतां सतां विनिमयः' जैसे सूर्य का तेज ही मृगमरीचिका रूप में दीखता है। यहाँ सृष्टि, स्थिति और लय तीनों मिथ्या हुए हुए ही प्रतीत हो रहे हैं। अपने स्वरूप से, उसके अन्दर कुहक अर्थात् माया का स्पर्श भी नहीं है। ऐसा जो वह सत्य तत्त्व है उसको 'सत्यं परम् धीमहि' कहा। उसी सत्य तत्त्व का फिर आगे भागवत में विस्तार किया गया है। मंगलाचरण श्लोक ही बता देता है कि किस तत्त्व को बताना है।

अब, चूँकि यह सगुण निराकार भी लोगों की पकड़ में जल्दी नहीं आता इसलिये साधारण से साधारण मनुष्य की समझ में आ जाये, इसलिये परमेश्वर स्वयं ही अनेक रूपों को धारण कर लेते हैं। ये सारे के सारे रूप वस्तुतः उसके अंग हैं। जैसे हाथ, पैर, आँख, कान इत्यादि तुम्हारे अंग हैं वैसे ही ये सारे के सारे परमात्मा के अंग हैं। एक जगह भगवान् कहते हैं कि ये सारे स्वरूप मेरे अंग कैसे हैं ? 'बुद्धिर्गणेशो मम चक्षुरर्कः शिवो ममात्मा ममशक्तिराद्या' भगवान् विष्णु नारद के प्रति कहते हैं कि मेरी जो बुद्धि है, वह गणेश है। इसीलिये बुद्धि के लिये लोग गणेश की ही पूजा करते हैं। इतना सुन्दर हमारे यहाँ तत्त्व बताया गया जो लोग प्रायः भूल जाते हैं। दीवाली के दिन किसकी पूजा करवाते हैं ? 'ऋद्धिसिद्धिसहिताय विनायकाय महालक्ष्म्यै नमः' लक्ष्मी से तो धन आता है, उनकी पूजा करना तो ठीक है। लेकिन लक्ष्मी जैसी सुन्दरी के साथ नारायण को बिठाना चाहिये था लेकिन वहाँ मोटे पेट और सूँड वाले को बिठा दिया। उसके द्वारा कहते हैं कि धन को बुद्धि के साथ रखना। जो धन बुद्धि के साथ होता है वह सफल होता है और जो धन बुद्धि से रहित कर्त्तव्याकर्त्तव्य से रहित है वह विनाश का कारण होता है। बुद्धि के साथ ही ऋद्धि सिद्धि है।

लक्ष्मी के साथ ऋद्धि सिद्धि नहीं हैं। ऋद्धि का मतलब, साधारण भाषा में बरकत हैं। किसी के हाथ में ऐसा योग होता है, (यह लौकिक कहावत है) कि उसके हाथ में पाँच रुपये भी हों तो बहुत लगते हैं। वह खर्च भी करता है। उसका काम बढ़ता रहता है। और किसी के हाथ में पचास रुपये भी हों तो नहीं से ही लगते हैं। कई बार अनुभव करके देखा होगा। पंजाबी भाषा में एक शब्द ही है बरकत। यह ऋद्धि है। जहाँ बुद्धि होगी, वहीं ऋद्धि रहेगी। नहीं तो पैसा होने पर भी बहुतायत न होगी। और आजकल यह प्रत्यक्ष देखने में आता है। पहले जिस आदमी को पाँच रुपये महीना मिलता था, आज उसको सौ रुपया महीना मिलता है। लेकिन पहले पाँच रुपये पाकर मूछों पर ताव देकर कहता था मजा आ गया, मौज करता हूँ। अब सौ रुपया लेकर सिर झुकाकर कहता ह स्वामी जी ! रोटी मिलनी ही मुश्किल है। पैसा कम नहीं हैं। पैसा लोगों के पास बहुत है, कल्पनातीत पैसा है। इतने पैसे की पहले कल्पना नहीं कर सकते थे। फिर क्या कारण है कमी का ? क्योंकि ऋद्धि नहीं है, धन के साथ विवेक नहीं है, कर्त्तव्याकर्त्तव्य का ज्ञान नहीं है कि क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये ? गणेश भगवान् की बुद्धि है। भगवान् कहते हैं कि सूर्य मेरी आँख है। इस आँख के द्वारा ही मैं सारे जगत् को देखता हूँ। आँख से यहाँ सब इन्द्रियों को ले लेना। मेरा जो शरीर है यह शिव है। मेरी जितनी प्राण शक्ति क्रियाशक्ति है, वह आद्या शक्ति भगवती दुर्गा हैं। इस प्रकार ये सब मेरे अंग हैं। जो समझता है कि ये सब अलग अलग हैं, जो इनमें भेद दृष्टि करता है, वह मानो एक एक अंग को काटकर मेरी पूजा करता है। अंग काटना कोई पूजा हुआ करती है ? लेकिन मूढ़ लोग ऐसा कर लेते हैं। लोक में देखा जाता है कि एक ही व्यक्ति कई भेदों वाला हो जाता है। जैसा हमने परमेश्वर को निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार कहा। लोक में इंदिरा गांधी एक औरत है। औरत होने के नाते वह कुछ नहीं। पति मर गया, यह भी अपने यहाँ दुर्भाग्य माना जाता है।

बड़े लड़के ने भी कुजात में शादी कर लो, इटली से किसी औरत को पकड़ लाया। यह भी दुर्भाग्य ही माना जाता है। दूसरे लड़के ने भी सिक्खन से शादी कर ली, वह भी जात में शादी नहीं। अपनी शादी भी जात में नहीं। बचपन में माँ मर गई, बाप जेल में रहा। विचार करके देखो, इसलिये बेचारी कुछ पढ़ लिख भी नहीं पाई। तो यदि उसको एक स्त्री की दृष्टि से देखें तो मानना पड़ेगा कि वह कुछ नहीं, अभागिन है। यह हुआ उसका स्वरूप। अब उसका पद लो। प्रधानमन्त्री पद पर है। पद की दृष्टि से देखो तो इस देश को बना सकती है, बिगाड़ सकती है। ५६ करोड़ मनुष्यों का जीवन और भारत का भविष्य उसके उँगली पर है। पद की दृष्टि से देखो तो उसकी सामर्थ्य की प्रशंसा ही प्रशंसा करनी पड़ेगी। व्यक्ति की दृष्टि से देखो तो उसके दुर्भाग्य की परम्परा एक के बाद एक। पद की दृष्टि से प्रभुत्व है जैसा प्रभुत्व न इसके बाप जवाहरलाल के पास था, न लालबहादुर शास्त्री के पास, पूरी मिल्कियत उसकी है। इसलिये पद की दृष्टि में उसमें बड़ी शक्ति है। यह उसका दूसरा रूप है। व्यक्ति एक ही है। तीसरा रूप है जब अपने पोते को गोद में लेकर खिलाती है तो हो सकता है कि उसे खिलाते खिलाते वह उसको कभी कभी लात भी मारता होगा, और जरूर मारता होगा, इसमें क्या संदेह है, उसकी लात खाकर भी हँसती होगी। बाहर कोई उसे गाली भी निकाल दे तो उसे झट मीसा में पकड़कर बंद करवा देगी, और पोता मुँह में लात मारता है तो उल्टा हँसती है, उसे जेल में बंद नहीं करवा सकती। उल्टा खुश होती है कि मेरे पौत्र ने मेरे को लात मारकर कितना सुन्दर काम किया। यह उसका तीसरा रूप है। यदि कोई प्रश्न करे कि यह कैसे प्रधानमन्त्री हो सकती है, इतने छोटे से लड़के से मार खाती है, काहे की प्रधानमंत्री है। ठीक इसी प्रकार से परब्रह्म परमात्मा एक साथ ही निर्गुण निराकार भी है। यह नहीं कि लात खाते समय वह प्रधानमन्त्री नहीं है या विधवा नहीं है। उस समय उसका विधवा रूपी दुर्भाग्य भी है, प्रधानमंत्री का प्रभुत्व भी है और बच्चे के स्नेह के कारण

क्रीड़ा भी है। तीनों एक साथ हैं। इसी प्रकार से परब्रह्म परमात्मा निर्गुण निराकार रूप में भी है, सगुण साकार रूप में सारे संसार का एकमात्र अधिपति भी है, और फिर भक्त के लिये जब वह देह धारण करता है तो बड़े छोटे-छोटे से काम करता देखा जाता है जिसे देखकर मनुष्य भगवान् की अवज्ञा करता है। भगवान् स्वयं कहते हैं 'अवजानन्ति माँ मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्। परं भाव-मजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।' वह जव मेरे को मानवीय रूप में देखता है, छोटी छोटी चोजों को देखता है तो मेरे परम भाव को तो देखता नहीं, इसलिये मेरी अवज्ञा करता है कि इसको लोग भगवान् कहते हैं, यह भगवान् हो सकता है ? तीनों एक साथ हैं। परमेश्वर के सगुण साकार रूप को लेकर ही लोगों को भेद बुद्धि हो जाती है।

महाराष्ट्र देश में नामदेव नाम के बड़े भक्त हुए हैं। वह भगवान् विष्णु के परम भक्त थे। लेकिन कभी भी भगवद् स्वरूप पर विचार न करने के हेतु से परमेश्वर के अभेद रूप को नहीं समझ पाये। भगवान् विष्णु ने विचार किया कि इसकी भक्ति बड़ी श्रेष्ठ है इस-लिए इसको तत्त्व समझाना चाहिये। भगवान् के साथ उनका वार्ता-लाप होता था। भगवान् ने कहा—देख नामदेव ! यह जो तू भेद करता है, यह ठीक नहीं। सारे संसार में मैं व्यापक हूँ। गणेश सूर्य, देवी, शिव ये सव मेरा स्वरूप है और तू इनकी अवज्ञा करता है, यह ठीक नहीं। तुम्हें सब में अभेद दृष्टि करनी चाहिये। नामदेव कहने लगे कि यह सव ज्ञान मेरे को नहीं आता, मुझे तो आप ही अच्छे लगते हैं। भगवान् ने उसे कई तरह से समझाया। जब किसी तरह से नहीं माने तो भगवान् ने सोचा कि इसे प्रत्यक्ष दृष्टांत से समझायें। एक वार भगवान् हरिहर रूप लेकर आये। यह भगवान् का ऐसा विग्रह है जिसमें दाहिने भाग में भगवान् शंकर और वायें भाग में भगवान् विष्णु, दाईं तरफ जटा तो वाईं तरफ मुकुट है। दाईं तरफ विच्छुओं के कुण्डल तो वाईं तरफ सोने के कुण्डल। दाहिनी तरफ त्रिशूल है तो वाईं तरफ चक्र है। दाईं तरफ भस्म

लगा हुआ है तो वाईं तरफ चन्दन लगा हुआ है। दाहिनी तरफ हाथी का चमड़ा लिपटा हुआ है तो वाईं तरफ पीताम्वर पहने हैं। दाहिनी तरफ कर्पूर की तरह श्वेत शरीर है तो वाईं तरफ भरे हुए बादल की तरह श्यामवर्ण का शरीर है। उसी मूर्ति में भगवान प्रकट हुए, नामदेव को यह वताने के लिये कि हम लोगों में भेद दृष्टि न कर। हम दो नहीं हैं। नामदेव ने कहा कि वहुत मुश्किल हुई। पूजा न करूँ तो भी ठीक नहीं और पूजा करूँ तो साथ में इसको भी यहाँ ले आये हैं, यह गड़बड़ काम किया। उन्होंने जव चरण धुलाए तो वाईं तरफ के धुलायें, दाहिनी तरफ देखा ही नहीं। भगवान् ने दाहिना हाथ आगे किया कि अर्घ्य तो दाहिने हाथ पर दे तो भी वाईं ओर ही दिया। स्नान भी कराना हुआ तो वाईं तरफ ही करा दिया। अव यह सब करते हुए जव धूप चढ़ाने की वारी आई तो कहा कि यह तो वड़ी मुश्किल हो गई। अंत में सोचकर धूप जलाया तो अंगूठे से नासिका का दाहिना नथुना बंद कर दिया। भगवान् ने कहा कि यह जवरा भक्त है। इस रूप को देखकर भी इसकी वृत्ति अभेद की नहीं बनी। अब भगवान् ने उसको एक दृष्टांत दिया कि देख तू मेरी एक नाक बंद कर रहा है और इसी नाक से इस समय मेरी साँस चल रही है। साँस दो घण्टा एक नाक से और दो घण्टा दूसरे नाक से चलती है, बीच में थोड़े समय के लिए दोनों से चलती है। भगवान् ने कहा तेरा काम कैसा है, वताता हूँ। जैसे तू मेरा भक्त है, तेरे जैसा ही गुरू का एक चेला था। एक गुरू के दो चेले थे। वे दोनों आपस में रोज लड़ा करते थे। गुरूजी एक चेले से कहें,—अरे, पानी ले आ तो दूसरा चेला गिलास को दवा ले कि इसको मिले ही नहीं। रोज उनमें झगड़ा हो। दुःखी होकर गुरूजी ने दोनों का काम वाँट दिया कि तू यह काम किया कर और तू यह काम किया कर जिसमें व्यवस्था ठीक चले। शाम को वे लोग गुरूजी के पैर दवाते थे। वे भी वाँट दिये कि एक दायाँ पैर दवा दिया करे और दूसरा वायाँ पैर दवा दिया करे। अब जरा व्यवस्था ठीक चलने लगी। एक दिन गुरू जी ने वहुत काम किया था तो थक गये थे। जाकर लेटे तो

झट नींद आ गई। चेले आयें उसके पहले ही उन्हें नींद आ गई और नींद में उन्होंने करवट ले ली तो एक पैर पर दूसरा पैर चढ़ गया। थोड़ी देर में नीचे के पैर वाला चेला पैर दबाने के लिये आया। उसने देखा कि मेरे पैर पर इसका पैर चढ़ गया तो वह एक लट्ठ उठा लाया और ऊपर वाले पैर पर खूब जोर से एक लट्ठ दे मारा कि मेरे वाले पैर पर चढ़ता है। तब तक दूसरा आया, उसनें कहा – अच्छा, इसने मेरे पैर पर लट्ठ मारा, मैं भी इसको नहीं छोड़ूँगा, उसने दूसरे पर एक लट्ठ दे मारा। गुरूजी कहने लगे—अरे, सुनो तो सही, यह क्या करते हो? कहा – गुरूजी आप बीच में मत बोलो, आपने हिस्सा बाँट दिया, इसलिये हम लोगों को अपने आप निपटनें दो। गुरू जी एक तो शरीर दो हैं या एक? एक ही शरीर के अन्दर वे दो गुरूओं की कल्पना करके पीट रहे हैं। इसी प्रकार भगवान् नें कहा—अरे नाम देव! मैं यह शरीर लेकर आया कि कम से कम इससे तेरे को ज्ञान हो जाये तो तू मेरी सांस ही रोक रहा है, नाक ही बंद कर दी। यह सुनकर नामदेव के हृदय में कुछ थोड़ी सी शांति आई। सोचने लगा कि शायद गलती कर रहा होऊँगा। फिर नामदेव को भगवान् ने और भी अच्छी तरह से समझाया तब उसके मन से भेदभाव निकला। और भी कई तरह से भगवान ने उसे समझाया जो लम्बी बात है। लेकिन अतिदीर्घ काल के बाद नामदेव के मन से यह भाव निकला। इसीलिये भगवान् कहते हैं—अरे नारद! मूढ़ लोग ही इस प्रकार से मेरे सगुण साकार रूप को परिच्छन्न समझ लेते हैं। मैं तो प्रेम के कारण भिन्न-भिन्न रूप धारण करता हूँ कि किसी न किसी रूप में प्रत्येक प्राणी को मुझ से प्रेम हो जाये। बिना प्रेम के काम होता नहीं और प्रेम हर व्यक्ति को अलग अलग रूप से होता है। एक ही रूप सबको प्रिय नहीं लग सकता। लोक में भी देखते होगे कि ब्याह करने जाये तो एक लड़की को देखकर लड़का कहता है कि मेरे को ब्याह करना ही नहीं. मेरे को यह बिलकुल पसन्द नहीं है। अगर इससे मेरा ब्याह करोगे तो मैं घर से भाग जाऊँगा।

एक गुप्त बात तुम्हें बता दें लेकिन बच्चों को बताने की नहीं है। जब लड़का ऐसा कहे तो उसका ब्याह कर दिया करो, बिलकुल नहीं भागेगा। ब्याह कर दोगे तो खूँटे के साथ बँध गया, इसलिये नहीं भागेगा। लेकिन आजकल के माता पिता डर जाते हैं। यहाँ तो बता रहे हैं कि दूसरे लड़के को वह लड़की पूरी तरह से पसन्द आ जाती है। यही बात लड़की के लिये भी समझो। आजकल के लड़के लम्बे लम्बे बाल और होठों तक कीं दाढ़ी रखते हैं तो हमें कुरूप लगते हैं कि इन्होंने क्या सूरत बना रखी है और वे बेचारे पच्चीस पचास रुपये की चीजें ला लाकर वैसा रूप धारण करते हैं क्योंकि साधारणतः वैसे बाल नहीं बन जाते, उसके लिये कुछ विशेष पदार्थ आते हैं जो लगाने पड़ते हैं। अब विचार करो अपने को तो वह रूप खराब लगता है। इसलिये एक ही रूप सबको पसन्द आयेगा, यह नहीं हुआ करता। इसी प्रकार परमेश्वर अनेक रूप धारण करता है कि किसी न किसी रूप में जीव का मेरे से प्रेम हो जाये लेकिन उन रूपों की अनेकता को देखकर लोग समझ लेते हैं कि ये अलग अलग परमेश्वर हैं और इस प्रकार से परमेश्वर के स्वरूप का अपमान कर लेते है। मेरा इष्ट मेरे लिये सब कुछ है, यह भाव तो ठीक लेकिन अन्य रूपों में भी मेरा ही इष्ट खेलता है, यह भाव होना चाहिये। जैसे लोक में होता हैं। माँ को अपने बच्चे का कौनसा फोटो पसंद आता है ? जिसमें छोटा सा बच्चा किलकारी मारकर हाथ पैर मार रहा है, उस फोटो को माँ मढ़ा-कर रखती है क्योंकि उसे वही अच्छा लगता हैं। लेकिन पत्नी को वह फोटो थोड़े ही अच्छा लगता है। उसको तो बढ़िया सुन्दर कोट पैण्ट के साथ टाई लगी हो, वह रूप अच्छा लगता हैं। पिता को वह रूप अच्छा लगता है जिसमें बेटा डिग्री लेकर आ रहा हैं, सिर में टोप पहने हुए है जो बढ़िया सफलता का रूप है कि इसको गोल्ड मैडल मिला था। पुत्र अपने पिता की प्रौढ़ अवस्था का फोटो अच्छा मानता है। जो रूप माँ को अच्छा लगता है, वह उसे अच्छा नहीं लगता क्योंकि उसे लगता है कि पिता मेरी तरह दीखते हैं।

पुत्र की तरह ही पिता हुआ करता है। जैसे एक ही व्यक्ति के भिन्न भिन्न फोटो हरेक को अलग अलग अच्छे लगते हैं। परन्तु वे सव जानते हैं कि व्यक्ति एक ही है। यह नहीं भूलना चाहिये। उसी प्रकार परमेश्वर के अनेक रूप हम लोगों को भिन्न भिन्न पसन्द आयें लेकिन यह हमेशा याद रखना चाहिये कि मुझे अपने इष्ट का यह रूप पसन्द है, अपने कमरे में मैं यही फोटो लगाऊँगा, क्योंकि मुझे यही पसन्द है, लेकिन यदि किसी दूसरे कमरे में किसी ने शक्ति का, किसी ने गणेश का रूप लगा रखा है तो उसके साथ भी कोई झगड़ा नहीं क्योंकि वह जानता है कि मेरे ही इष्ट का तो यह भी फोटो है। जब यह अभेद दृष्टि होती है तव इस सगुण साकार की उपासना सफल होती है, अन्यथा नहीं। यहाँ ताम्र के द्वारा निर्गुण निराकार, अरुण के द्वारा सगुण निराकार रूप वताया। बभ्रु के द्वारा, अनेक तरह का या चितकबरा होने के कारण, सगुण साकार की अनेकता को बता दिया। परमेश्वर के अनेक रूपों पर फिर विचार करेंगे।

१६-३-७५

उस परब्रह्म परमात्मा के रूपों का वर्णन यहाँ किया। ताम्र, अरुण और बभ्रु इन तीनों रूपों का स्वरूप वताते हुए कल वताया था कि निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार परमेश्वर के ये तीन रूप हैं। निर्गुण निराकार रूप अद्वितीय है अर्थात् निर्गुण निराकार रूप में कोई भेद नहीं। जीव, जगत्, ईश्वर वहाँ तीन नहीं एक अखण्ड ही है। उस एक अखण्ड, अद्वितीय, प्रपंचोपशम शांत तत्त्व के अन्दर जीव जगत् और ईश्वर तीनों भाव कल्पित हैं। यह प्रथम रूप उसका अद्वितीय है। उसका दूसरा रूप सगुण निराकार अद्वितीय तो नहीं लेकिन एक है। सगुण निराकार परब्रह्म परमात्मा एक है। उसमें सद्वितीयता इसलिए है कि वह जीव का शासन करने वाला है इसलिये जीव भी है, जगत् का शासन करने

वाला है, इसलिये जगत् भी है। जीव और जगत् के होते हुए भी उन सबको चलाने वाला वह अकेला ही है। पहला रूप अद्वितीय और दूसरा रूप अद्वितीय तो नहीं परन्तु एक है। अन्तर्यामी रूप से सब प्राणियों और सब पदार्थों में रहने वाला होने से उसके अन्दर अनेक कारण हैं। इन दोनों रूपों की कठिनता भी कल बताई तीसरा रूप परब्रह्म परमात्मा का सगुण साकार रूप है। यह रूप भक्तों की स्थिति के अनुसार भक्त की कामना के अनुसार अनेक रूप वाला है। इसीलिए इसको बभ्रु अर्थात् अनेक वर्ण वाला कह दिया। अब प्रश्न होता है कि इन तीनों का हम एक साथ चिंतन करें अथवा कोई क्रम है कि पहले एक करें, फिर दूसरा और फिर तीसरा करें। यदि क्रम है तो किस क्रम से करें, यह शंका होती है। विचार करने पर लगता है कि न केवल परमेश्वर के तीन रूप हैं वरन् जीव के भी तीन रूप हैं, आत्मा के भी तीन रूप हैं। एक तो इसका शुद्ध रूप है जो चिन्मात्र अर्थात् चेतन ही चेतन है। जो केवल ज्ञानशक्ति रूप है वह चेतन रूप है, अद्वितीय है क्योंकि उस ज्ञानरूपता में कोई भेद नहीं। अभेद स्वरूप होने से ही वह अद्वितीय है। शास्त्रों में इसी रूप को दृशि स्वरूप कहा। 'दृशिस्वरूपं गगनोपमं परम्' यह शास्त्र वचन कहता है कि वह आत्म तत्त्व दृशिस्वरूप अर्थात् केवल साक्षीमात्र है। इसीलिये उसकी कोई परिच्छिन्नता नहीं, वह सर्व-व्यापक है। दृशिस्वरूप होने के कारण ही उसमें कोई घेरा या परिच्छिन्नता नहीं। वह आकाश की तरह सर्वव्यापक है। यह आत्मा का वास्तविक रूप है। शुद्ध रूप है, चिन्मात्र रूप है। इसके साथ साथ जीव अंत:करण के साथ भी रहता है। अहंकार से लेकर शरीर पर्यन्त जिस जिस चीज के साथ इस चेतन का सम्बन्ध होता जाता है, उस उसके साथ एकाकार होकर के ही इस जीवात्मा का अनुभव है। इसी को पारिभाषिक भाषा में मिथ्या आत्मा कहते हैं। मिथ्या का मतलब झूठ नहीं समझ लेना। बिना ब्रह्मज्ञान के जो नहीं हट सकता, उसको मिथ्या कहते हैं। मिथ्या एक पारिभाषिक

शब्द है। पारिभाषिक शब्द माने क्या ? प्रत्येक व्यवहार में किसी शब्द का कोई वशेष अर्थ रूढ़ हो जाता है और उस शब्द से वही अर्थ समझना पड़ता है। उसको पारिभाषिक शब्द कहते हैं। जैसे नोट शब्द है। अँग्रेजी भाषा में नोट का मतलव होता है लिख देना। कोई भी चीज लिख दी जाये तो कहा जाता है कि नोट कर लिया (Noted down)। जव मनुष्य पुर्जी या हुण्डी लिखता है तो वह लिखना महत्त्व का होता है, इसलिये जैसे हिंदी में पुर्जी या हुण्डी कहते हैं, उसी प्रकार से हुण्डी को भी अंग्रेजी में नोट कहने लगे। अव जव सरकार ने रिजर्व बैंक की हुण्डी निकाली तो उसको करैंसी नोट कह दिया गया। करैंसी का मतलव चालू होता है। चलने वाली चीज को करंसी कहते हैं। चालू हुण्डी अर्थात् जो हुण्डी सव जगह सकार ली जाये, उसे करैंसी नोट कहेंगे। नोट का मतलव यद्यपि लिखना होता है लेकिन हिन्दी में उसका पारिभाषिक अर्थ रिज़र्व वैंक की हुण्डी है अर्थात वह कागज जिस पर दस या पाँच रुपये लिखे हुए हैं। इसको पारिभाषिक शब्द कहते हैं। प्रत्येक भाषा में, प्रत्येक शास्त्र में कुछ शब्द पारिभाषिक हो जाते हैं। ऐसे अनेक शब्द हैं। उर्दू भाषा में चश्म का अर्थ आँख होता है। इसलिये आँख से देखी हुई वात को चश्मदीद कहते हैं। लेकिन हिन्दी में चश्मे का मतलव उपनेत्र (काँच का चश्मा) है। यदि उस पारिभाषिक अर्थ को विना जाने तुम उस वात को समझने का प्रयत्न करोगे तो गड़वड़ हो जायेगा। इसी प्रकार वेदांत ग्रन्थों में मिथ्या का अर्थ हुआ करता है जो ब्रह्मज्ञान के विना न हटे। आत्मज्ञान से अतिरिक्त ज्ञान से अनिवर्त्यता मिथ्यात्व का लक्षण वताया गया है। इसलिये मिथ्या का अर्थ झूठ नहीं समझ लेना। एक शुद्ध आत्मा जो चिन्मात्र है और दूसरा मिथ्या आत्मा जो अहंकार (अंतःकरण) रूप है। यह चाहे महाप्रलय तक वना रहे लेकिन यह कभी खतम नहीं होगा। एक शरीर से दूसरे शरीर में, दूसरे से तीसरे शरीर में जाता रहेगा। इसी को लेकर कहा जाता है कि आत्मा चला गया, मिथ्या आत्मा चला गया। जव कोई मरता है

तो कहते हैं कि आत्मा चला गया, शुद्ध आत्मा नहीं चला गया, मिथ्या आत्मा चला गया अथवा अंतःकरण (मन) के साथ रहने वाला आत्मा चला गया। तीसरा है गौण आत्मा अर्थात् जिसको अपना आत्मा समझते हो, लेकिन बिना आत्मज्ञान के भी, यह मेरा आत्मा नहीं, यह समझाया जा सकता है, उसको गौण आत्मा कहते हैं। जैसे किसी बच्चे को तेज कड़वी बात बोलते देखकर लोग कहते हैं कि यह कोई लड़का है, इसकी जबान तो तलवार की धार है। लेकिन ऐसा कहते हुए भी किसी के मन में यह भ्रम नहीं होता कि यदि ज़बान तलवार की धार है और आज घर में चक्कू नहीं तो इसी से साग छील लें क्योंकि मनुष्य को पता है कि जैसे तलवार काटती है, वैसे ही इसका बोल हमारे मन को काटता है, बस इतनी ही उस जबान में तेजी है। काटने रूपी गुण को लेकर यह प्रयोग किया है। इसलिये इसको गौण आत्मा कहते हैं। जैसे अपने पुत्र के लिये मनुष्य समझता है कि यह मेरा आत्मा है। उसके मर जाने पर इसीलिये कहता है हाय ! मैं मर गया, पत्नी के मर जाने पर भी कहता है हाय ! मैं मर गया, मेरा घर डूब गया या मेरा घर खतम हो गया। ऐसा कहने पर भी वह सचमुच थोड़े ही समझता है कि मैं मर गया। क्योंकि पुत्र के मरने पर जब वह कहता है हाय! मैं मर गया तब कोई उससे कहे कि फिर तुम्हें भी सीढ़ी में बाँध दें और उठा ले जायें नीमतल्ले (श्मशान), तो क्या वह तैयार हो जायेगा ? उल्टा कहेगा कि जले पर नमक छिड़कते हो। बिना ब्रह्म-ज्ञान के भी वह जानता है कि यह सचमुच मेरा आत्मा नहीं। इस प्रकार तीन तरह के आत्माओं का हम लोगों को अनुभव होता है, शुद्ध आत्मा, मिथ्या आत्मा और गौण आत्मा। शुद्ध आत्मा अद्वितीय चिन्मात्र है, मिथ्या आत्मा जब तक ब्रह्मज्ञान नहीं होता तब तक बना रहता है अर्थात् मन रूप है, और गौण आत्मा जो हमारे देखते हुए भी नष्ट हो जाता है लेकिन हम उसको समझते हैं कि यह हमारा सच्चा आत्मा नहीं है। अब विचार करो कि उधर बताया कि परमेश्वर के भी तीन रूप और इधर जीव को भी जब

ढूंढ़ते हैं तो इसमें भी तीन रूप निकलते हैं। इसलिये शास्त्रकार कहते हैं कि इन तीन आत्माओं से ईश्वर के तीनों रूपों की एकता सम्भव है। यह क्रम नहीं कि पहले सगुण साकार करें, तव सगुण निराकार करें और वाद में निर्गुण निराकार करें। ऐसा क्रम जरूरी नहीं है। एक समाप्त होगा तव दूसरा शुरू होगा, ऐसा भी नहीं। नहीं तो आदमी कहता है कि जी अभी तो हमको यह हुआ ही नहीं, इसके आगे कैसे चलें। ऐसा नहीं हैं। हमारे पास भी तीन आत्मायें, उधर ब्रह्म के भी तीन रूप, इसलिये तीनों की एकता वन जाती है।

मुख्य आत्मा अर्थात् चिन्मात्र के द्वारा उस परब्रह्म परमात्मा की पूजा करने का मतलब क्या है? परम शिव से सर्वथा अभिन्न यह चिद्रूप है ऐसा निश्चय करना। मेरे अन्दर जो चिदात्मा शुद्ध है, वह सर्वथा परम शिव के साथ एक रूप है, दोनों की अद्वितीयता है, उनमें कोई भेद नहीं, यह निश्चय करना उस निर्गुण निराकार का पूजन है। इसी को सोहं भाव की पूजा कहते हैं, अर्थात् मेरा शुद्ध आत्मा अद्वितीय परब्रह्म परमात्म तत्त्व से अलग नहीं। यह निर्गुण निराकार की पूजा हो गई। कहोगे कि अभिन्न चिंतन का नाम पूजा कैसे?-विचार करो, किसी भी पूजा की अंतिम परिणति क्या है? पूजा का मतलव श्रेष्ठ है। जिसको श्रेष्ठ समझते हो उसकी पूजा करते हो। परमेश्वर को श्रेष्ठ समझते हो, तभी न उसकी पूजा करते हो। घर में कोई आता है, उसको श्रेष्ठ समझते हो, तभी उसकी पूजा करते हो, उसकी आरती उतारी जाती है। श्रेष्ठता की सीमा क्या है? वह इतना श्रेष्ठ है कि उसके सामने हम कुछ हैं ही नहीं। इसलिये यह जो अभेद अनुसंधान है कि निर्गुण निराकार तत्त्व से भिन्न मेरा शुद्ध आत्मा है ही नहीं, यह जो अभेद चिंतन है, यही निर्गुण निराकार का पूजन हो गया। यह जो अंतर्यामी रूप है, उस अंतर्यामी रूप के अन्दर अपने मैं रूप अर्थात् मन रूप अथवा मिथ्या आत्मा का समर्पण कर देना है। अहंकार से लेकर देह पर्यन्त जो कुछ भी है, वह सारे का सारा अंतर्यामी के द्वारा ही

चलाया जाता है। इसलिये अहंता और ममता का सब चीजों में त्याग कर देना सगुण साकार परमेश्वर का पूजन हो गया। हे अंतर्यामी ! तुम्हीं मेरे मन में प्रवृत्त होकर के सब खेल खेल रहे हो। आप ही मेरे अन्तःकरण में बैठे हो, जिन चीजों को मैं अपना समझता हूँ, वे मेरी नहीं हैं। यहाँ तक कि हृदय में होने वाले अच्छे और बुरे विकार भी, हे अन्तर्यामी ! तू जैसे उठाता है, वैसे उठते हैं, मैं क्या कर सकता हूँ। यह जो अहंता और ममता का त्याग है, यह सगुण निराकार अंतर्यामी परब्रह्म परमात्मा की पूजा है। जैसे ढोलक को ढोलक वाला पीटता है, दूसरे लोग समझते हैं कि बोल ढोलक के निकल रहे हैं। ढोलक क्या बोलेगी, वह तो जड़ है, ढोलक से तो वही बोल निकलते हैं जो ढोलकी निकाल रहा है। लोग कहते हैं कि ढोलक अच्छी बजी, ढोलक क्या अच्छी बजी, ढोलक वाले ने अच्छी बजाई। इसी प्रकार मेरे अंतःकरण में तुम जैसे भावों को पैदा करते हो, वैसे ही भाव के बोल यह बोलता है। तुम अच्छा बजाते हो तो अच्छा बजता है, तुम खराब बजाते हो तो खराब बजता है इसमें मैं क्या करूँ। इस प्रकार जो दृढ़ अनुभव है, वही वस्तुतः अंतर्यामी का पूजन है। दृढ़ अनुभव इसलिये कहा कि प्रायः मनुष्य मुँह से तो इस बात को कह देता है लेकिन हृदय के अन्दर से अनुभव नहीं करता। एक ब्राह्मण को बगीचा लगाने का बड़ा शौक था। अपना अपना शौक होता है। वह बढ़िया से बढ़िया बगीचा तैयार करता था, उसमें सुन्दर फूल, सुन्दर फल और सुन्दर तृणभू लगाता और स्वयं परिश्रम करके उस बगीचे को ठीक रखता था। किसी भी चीज को जब तक करने वाला प्रेम से न करे तब तक वह चीज ठीक नहीं होती। साधारण से साधारण चीज भोजन बनाना भी तब तक ठीक नहीं हो सकता जब तक बनाने वाले के हृदय में भोजन बनाने का प्रेम न हो। जब तक मन यह कहता है कि कब यह भोजन का काम खतम हो और मैं आराम करूँ। कब काम निपटे, ऐसी वृत्ति से जो भोजन बनाया जायेगा उसमें वह रस नहीं आ सकता। आलू का साग अगर अच्छा बनाना है तो एक तपेली

के अन्दर ज्यादा से ज्यादा पाँच-छः आलू और उसके नीचे हल्की से हल्की आँच हो, तव धीरे-धीरे उसको सिझाया जाये तब उस आलू का स्वाद खिलेगा। यह कौन कर सकेगा ? जिसे भोजन बनाने में रस है। यदि तुमने किसी तपेली या देगची के अन्दर पचास आलू भर दिये और नीचे आग लगा दी तो नीचे के आलू की गर्मी और ऊपर के आलू की गर्मी में फरक होने के कारण दोनों के स्वाद में फरक रहेगा और जितनी बार उनको ऊपर नीचे हिलाओगे, उतना ही उन आलुओं के अन्दर रस नहीं सीझेगा। जिसको जल्दी होगी, वह तुरन्त वड़ी तपेली में सारे आलू डाल देगा और नीचे लक्कड़ को तेज कर देगा। आजकल तो लक्कड़ को भी तेज नहीं करना पड़ता, गैस आता है। उसका स्विच घुमाते ही वह तेज हो जाती है। अब आलू नीचे से थोड़े से जल गये तो कोई हर्जा नहीं, इतना तो जलना ही चाहिए। झट बनाकर छोंककर कर रखे और छुट्टी हुई। यदि पूरी निकालनी है तो दो दो पूरी करके निकालो। लोग पचास पूरियाँ इकट्ठी ही निकालते हैं जैसे हलवाई निकालता है। छोटी कढ़ाई में एक एक पूरी का घी डालकर दो तीन पूरी निकालो, फिर और घी डालो और पूरियाँ निकालो। वह पूरी खाओ तव उसके स्वाद का पता लगे। लेकिन यह वही कर सकेगा जिसे भोजन वनाने में रस है। जो भोजन वनाने को निपटाना चाहता है, उससे नहीं होगा। यही सव चीजों में समझना। अच्छा मुनीम हिसाब लिखता है तो एक एक अक्षर मोती के दाने की तरह चमकता है। उसके हाथ का लिखा खाता उठाकर देखते ही तबियत खुश हो जाती है कि क्या सुन्दर लिखा है। और जिसको निपटाना होता है उसको दो साल वाद पूछो मुनीमजी ! क्या लिखा है तो वह भी सिर खुजलाता रहता है कि क्या लिखा ? अपना लिखा स्वयं ही नहीं बाँच सकता, यह तो केवल काम निपटाना हुआ। झाड़ू लगाने में जिसे रस होगा उसका झाड लगाना और होगा, और जिसे अपना फर्ज़ पूरा करना है, वह दो हाथ इधर और दो हाथ उधर मारेगा, कुछ कूड़ा कोने में, कुछ दरी के नीचे और कुछ

गलीचे के अन्दर और झाड़ू लगाने का काम खतम, छुट्टी हुई। क्योंकि आगे चलना है। किसी भी कार्य को करने में जब रस आता है तब मनुष्य ठीक करता है। उस ब्राह्मण को बगीचा लगाने में रस था, स्वयं सारा काम करता था। उसकी फल फुलवारी बड़ी बढिया होती थी। लेकिन पड़ोसी की एक गाय उसके बगीचे में कभी-कभी घुस आये। वह भगाये, लेकिन फिर घुस आये। आदमी किसी काम को प्रेम से करे तो उसकी बरबादी उससे सहन नहीं होती। एक दिन अकस्मात् आया तो देखता हैं कि गाय सारे फल फूलों को चरे जा रही है। उसे गुस्सा आ गया। ब्राह्मण का तो क्रोध जानते ही हो, अकस्मात् भड़कता है। गुस्से के अन्दर उसने एक दण्डा फेंक कर गाय को मारा जो उसके मर्मस्थल में जाकर लगा तो गाय दो चार चक्कर काटकर वहीं गिर पड़ी। पास जाकर देखा, गाय ने आँखें मरोड़ दी थीं। गाय तो वहीं खतम हो गई। अब इसका माथा ठनका कि मैं ब्राह्मण, यह मेरे हाथ से क्या हो गया। हो तो गया विचारे से क्या करे। अपनी जान तो उसने गाय को जला भी दिया, सब कुछ किया लेकिन गाँव में प्रसिद्धि हो गई कि यह ब्राह्मण गोहत्यारा है, इसके हाथ का पानी भी नहीं पीना चाहिये। ब्राह्मण ने सोचा कि यह तो अनर्थ हो गया, अब कोई युक्ति निकालनी चाहिए। बुद्धिमान था। उसने लोगों को कहा कि मैंने गाय को नहीं मारा। मेरे हाथ ने मारा है। लोगों ने कहा कि हाथ भी तो तुम्हीं ने चलाया। उसने कहा—नहीं जी, वह तो अंतर्यामी रूप से हाथ का अभिमानी इन्द्र देवता जैसा करवाता है, वैसे ही तो हाथ करता है। जब तक अंतर्यामी परमात्मा इन्द्र रूप की उपाधि से हाथ को नहीं चलायेगा तब तक हाथ नहीं चल सकता। जैसे आँख का अभिमानी सूर्य है, जब तक सूर्य देवता आँख में अधिष्ठित नहीं होगा तब तक आँख नहीं देख सकती। जब तक कानों में दिक् देवता नहीं आयेंगे तब तक कान सुन नहीं सकते। इसी प्रकार बिना इन्द्र के प्रवृत्ति कराये हाथ कुछ नहीं कर सकता। इसलिये यह तो इन्द्र ने मेरे हाथ से गाय को

मारा है, मैं तो गोहत्यारा नहीं। इन्द्र का कसूर है। गाँव वाले भोले भाले थे, उसके जितना पढ़ा लिखा तो वहाँ कोई नही था। उन्होंने सोचा कि पंडित जी ठीक ही कहते होंगे। इन्द्र ने ही मार दिया होगा। गाँव में कुछ लोग भूतावेश में विश्वास भी करते हैं। कभी कभी आदमियों में भूत का आवेश हो जाता है तो कई ऐसे काम कर जाता है कि बाद में उससे पूछो तो वह कहता है कि मेरे को तो कुछ पता ही नहीं। कुछ पूछो तो टाल देता है। उसके हाथ में अंगारा पकड़ा दो तो उसका हाथ नहीं जलता है। अब वह शक्ति उस आदमी की तो है नहीं, अन्दर बैठे हुए भूत की है। जैसे भूतावेश में आदमी कर जाता है तो लोग उसको दोष नहीं देते। किसी आदमी को यदि अकस्मात् क्रोध आकर वह कोई बुरा काम कर जाये और प्रायः वह आदमी वैसा काम न करता हो तो लोक में भी कह दिया जाता है कि अरे, उसके सिर पर तो भूत चढ़ गया था। इसी प्रकार भोले भाले गाँव के लोगों ने समझा कि इन्द्र का भूत इस पर चढ़ गया होगा क्योंकि वे लोग पढ़े-लिखे तो थे नहीं, इसलिये समझे कि इसे भी भूतावेश हो गया होगा। गाँव वालों ने कहा—ठीक है, तुम्हारा कसूर नहीं है। धीरे धीरे यह खबर इधर फैल गई कि अमुक गाँव में इन्द्र ने एक गाय को मार दिया। गाँव से खबर शहर में और शहर से राजधानी में पहुँची। उधर से एक बार देवर्षि नारद निकल रहे थे तो उन्होंने भी सुना। नारद जी ने विचार किया कि मैं बड़ी खबर रखता हूँ। मेरे को पता ही नहीं और इन्द्र ने गोहत्या कर दी। पता लगाने लगे कि किस गाँव में ऐसा हुआ। उस गाँव में भी पहुँच गये क्योंकि नारद जी पक्की खबर लेकर आगे काम करते हैं। आजकल के खबरनवीसों की तरह नहीं कि आज लिख दिया तो बाद में कहते हैं कि गलती से लिख दिया था। गाँव में जाकर पता लगाया तो वहाँ असली बात का पता लगा कि इस प्रकार से ब्राह्मण के हाथ गाय मर गई और इसने अपना यह बचाव निकाल लिया। ऐसा बचाव हम लोग हमेशा निकालते रहते हैं।

किसी से कहें सत्संग में क्यों नहीं आते तो कहते हैं महाराज ! आप डोर खींचो तब आयें। उनका कसूर नहीं हमार कसूर है, हमने डोर नहीं खींची। कई बार हम भी हँसी करते हैं—महाराज! अब चलें। हम कहते हैं—डोर पकड़े बैठे हैं, यहीं बैठो। जब तक नहीं छोड़ेंगे तब तक नहीं जाओगे। फिर थोड़ी देर बाद कहते हैं चलें महाराज ! दुकान खोलनी है, चाबियाँ मेरे पास हैं। हम कहते हैं रहने दो दुकान बन्द, हमने डोरी यही बना रखी है। अंततोगत्वा कहते हैं कि आप हँसी करते हैं। हमने कहा कि हँसी तो तुमने की पहले। डोर खींचें न खींचें, हृदय का अनुभव क्या है ? नारद जी ने देखा कि यहाँ तो ब्राह्मण ने अपने बचाव के लिये युक्तिवाद निकाला है। नारद जी इन्द्र के पास पहुँच गये। इन्द्र ने बड़े प्रेम से बिठाया, पूछा—क्या हाल है ? नारद ने कहा—अरे इन्द्र आजकल मृत्यु लोक में अफवाह फैली हुई है कि तुमने गौहत्या की है। इन्द्र घबराये। मेरे सिर पर इतना बड़ा पाप किसने चढ़ाया नारद जी ? नारद जी ने हँसकर सारी बात बता दी और कहा कि तू अपना कलंक धो डाल, नहीं तो कलंक ऐसा चिपक जायेगा कि दो चार पीढ़ी के बाद तो किसी को यह याद भी नहीं रहेगा कि इसके पीछे किस्सा क्या था। लोगों को इतना ही याद रहेगा कि इन्द्र ने एक बार गाय को मारा था। इन्द्र एक ब्राह्मण का रूप धारण करके उस गाँव में आये और उस बगीची में पहुँचे जहाँ वह ब्राह्मण पौधों में पानी दे रहा था। ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र कहता है—वाह ! कितना सुन्दर बगीचा है। मैंने भी बड़े-बड़े बगीचे देखे लेकिन इतना सुन्दर बगीचा जल्दी देखने में नहीं आता। बड़ा सुन्दर है, क्या तुम्हारा है ? वह ब्राह्मण कहता है—हाँ जी, मेरा ही है। पूछा—कितने माली रख छोड़े हैं। कहने लगा—मैं तो ब्राह्मण हूँ, माली रखने का पैसा कहाँ से लाऊँगा, खुद ही सब करता हूँ। कहा—खुद ही इतना बढ़िया करते हो ? कहा—हाँ जी, खुद ही इतनी मेहनत करता हूँ। कहने लगे—यहाँ इतने पौधे लगाने के गड्ढे खुदे हैं, ये तो मजदूरों से खुदवाते होगे। कहने लगा—नहीं,

वह भी खुद ही खोदता हूँ। कहा—इनमें खाद भी अच्छी दी हुई है, किसी खाद वालों को बुलाते होंगे। कहता है—नहीं जी, खाद भी मैं खुद ही तैयार करके डालता हूँ। ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र कहने लगे—यहाँ इतने बढ़िया बढ़िया पौधे लगे हुए हैं, किसी में हिरन, किसी में मोर, किसी में हंस बना हुआ है, इनकी छँटाई के लिये तो किसी माली को बुलाते होगे। कहा—नहीं जी, इनकी छंटाई तो अपने हाथों से खुद ही करता हूँ और देख ही रहे हो पानी भी मैं खुद ही दे रहा हूँ। सब काम मेरा निज का ही किया हुआ है। ब्राह्मणरूपधारी इन्द्र कहता है—वाह! कितना बढ़िया काम है। सारा काम खुद करते हो, खाली गाय को मारने के लिये ही इन्द्र आया था। पानी इन्द्र नहीं देता है, छँटाई भी इन्द्र नहीं करता है, खाद इन्द्र नहीं देता है, गड्ढे इन्द्र नहीं खोदता है, खाली गाय को मारने के लिये इन्द्र आया था। ब्राह्मण समझ गया और उनके पैरों में गिर पड़ा। कहने लगा—क्या बताऊँ, इस प्रकार से मेरे ऊपर दोष आ रहा था। मेरा मतलब तो नहीं था, अपने बचाव के लिये मैंने यह उपाय निकाला। इन्द्र ने कहा—लेकिन तुमने यह विचार नहीं किया कि गोहत्या से बड़ी हत्या है परमात्मा के ऊपर दोष लगाना। एक गाय को मारने की अपेक्षा सबके हृदय में बैठे हुए अंतर्यामी पर तुमने जो दोषारोपण करके उनकी हत्या की, इस पर विचार नहीं किया कि किसी महापुरुष के ऊपर कोई कलंक का टीका लगायें तो वह उसको मार डालने से भी ज्यादा दोष है। आजकल के लोग इस चीज को नहीं समझते। ऐसी ऐसी मासिक पत्र पत्रिकायें निकलती हैं जिनके अन्दर राम, और कृष्ण पर दुनियाभर के झूठे दोष मढ़े जाते हैं और लोग उन पत्रिकाओं को पैसा देकर खरीद कर बाँचते हैं, घर में लाते हैं। ऐसी चीजों को बाँचना पाप, घर में लाना अति पाप और इस प्रकार की पत्रिकाओं को चलाने के लिये अपना पैसा देना महा पाप। विचार करो कि तुमने तो उसके सौदे को खरीद कर उसे बढ़ोतरी दी। अविचारशील लोग यह सोचते नहीं, कहते हैं

क्या हो गया जी, अपने अपने विचार प्रकट करने का अधिकार तो सबको ही है। एक विलक्षण बात देखने में आती है। जीवित व्यक्ति के ऊपर कोई दोषारोपण करो तो उसके लिए तो मुकदमा भी चला सकते हो कि इसने मेरी मानहानि की। लेकिन हिन्दू धर्म के राम और कृष्ण की मानहानि को कोई सरकार मानने को तैयार नहीं। कहते हैं—यह तो अपनी अपनी स्वतंत्र विचारधारा है। इसलिये इन्द्र उसको कहने लगा कि जरा विचार कर कि तेरे इस कृत्य का असर क्या होगा। यदि तेरे ऊपर गोहत्या का दोष लगा था तो तेरे को कष्ट होता, लेकिन अब तो लोगों के मन में आयेगा कि परमात्मा भी जब इन्द्र रूप से गोहत्या करता है तो हम लोग क्यों न करें। अब सोच कि तूने अच्छा काम किया या बुरा काम किया? एक गो हत्या के दोष से बचने के लिये तूने कितनी नास्तिकता का प्रचार किया। ब्राह्मण समझ गया, बड़ा शर्मिन्दा हुआ, कहने लगा—मुझसे बड़ी गलती हुई। इन्द्र ने कहा कि अब इसका यही प्रायश्चित्त है कि सब लोगों से तू स्पष्ट कह कि गोहत्या मैंने अपनी इच्छा से की थी। जानबूझ कर ही मैंने गौ को दण्डा मारा है, चाहे उसकी हत्या करने के लिए नहीं मारा था। ब्राह्मण ने इसी प्रकार सब लोगों के सामने धीरे धीरे अपनी यह गलती महसूस की और मंजूर की। लोगों ने भी देखा कि लम्बा समय हो गया है, इसलिये इसके हृदय में सच्ची प्रायश्चित्त की अग्नि है, तभी इतने दिन बाद अपनी गलती महसूस कर रहा है और मंजूर कर रहा है। प्रायश्चित्त की अग्नि से यह मंजूर कर रहा है तो हम भी इसके अपराध को क्षमा कर दें। यहाँ तो यह बता रहे थे कि हमें अपने अहंकार से लेकर देहपर्यन्त मिथ्या आत्मा को एक अंतर्यामी ही प्रवृत्त कर रहा है। हम ऐसा अनुभव करें, नहीं तो इस ब्राह्मण की तरह जब जब बुरा काम करते हैं तब तब हम कहते हैं कि परमेश्वर ने करवाया और जब जब अच्छा काम करते हैं तो वह तो हम करने वाले हैं ही। जैसे मारवाड़ी भाषा में कहते हैं थारी चीज सो म्हारी चीज, म्हारी सो तो है ही है। इसी प्रकार से

जो पाप कर्म मैंने किया वह सब तो परमेश्वर तुम्हारा और जो पुण्य मैंने किया, वह तो मेरा है ही। यह दृष्टिकोण यदि होता है तो धोखे का दृष्टिकोण है। लेकिन यदि किसी को वास्तविक यह अनुभव होता है कि जैसे यह अंतर्यामी प्रवृत्ति या प्रेरणा करता है वैसा ही सब कुछ मैं कर रहा हूँ, मेरी अपनी कोई इच्छा नहीं, कोई कामना नहीं, तो यह उस अंतर्यामी की पूजा है। शुद्ध आत्मा जो चिन्मात्र है, उसको तो एक करना है परम शिव के साथ जो अद्वितीय तत्त्व है। मिथ्या आत्मा को एक करना है अंतर्यामी के साथ। यही उसकी पूजा है। गौण आत्मा जो अपने पुत्र, स्त्री, धन इत्यादि हैं, वे सारे के सारे इस विराट् रूप परमेश्वर की सेवा में अर्पण करना उसका सगुण साकार रूप से पूजन है। सगुण साकार रूप हमारा हो गया शरीर, पुत्र, धन इत्यादि क्योंकि ये सब सगुण भी हैं और साकार भी हैं। अहंकार, और मन तो दीखता नहीं, इसलिए साकार नहीं। जो हमारा सगुण साकार रूप आत्मा है इसे सगुण साकार रूप परमात्मा की सेवा में लगाना है। मन्दिर के दर्शन, प्रदक्षिणा, तप इत्यादि करना, धन इत्यादि के द्वारा दीन पुरुषों की सहायता करना, परमेश्वर के निमित्त से लोगों को सब तरह से सहायता पहुँचाना है। सगुण साकार रूप को सगुण साकार रूप में लगाना है। इस प्रकार ऐसा नहीं कि इन तीनों रूपों को एक के बाद ही एक करना हो, या इनमें कोई क्रम हो, ऐसा भी नहीं। तीनों आत्माओं को एक साथ ही अपनी सामर्थ्य के अनुसार तीनों परमात्मा के रूपों में लगाना है। नहीं तो कई बार आदमी कह देता है कि मैं तो उस अंतर्यामी को समझ गया, अब बाहिर मन्दिरों में पूजा करने से क्या होगा। बाहर दान इत्यादि करने से क्या होगा। जब तक शरीर है तब तक शास्त्रकार कहते हैं कि शरीर के जो कर्म हैं वे सब तुमको वैसे ही करने होंगे। यह नहीं कि तुम निर्गुण निराकार में पहुँच गये इसलिये सगुण निराकार की जरूरत नहीं या सगुणनिराकार में पहुँच गये तो सगुण साकार के पूजन

की जरूरत नहीं। ऐसा नहीं वरन् तीनों को एकसाथ करना है। एक सज्जन उपदेश देते हुए लोगों को कहने लगे कि गंगा यमुना तो अपने शरीर के अंदर हैं 'गंगा प्रोक्ता इडा नाडी पिंगला यमुना तथा सरस्वती सुषुम्णा च' इड़ा नाड़ी ही वस्तुतः गंगा, पिंगला नाड़ी ही वस्तुतः यमुना और सुषुम्ना नाड़ी ही सरस्वती है, इन तीनों को जानना ही प्रयागराज है। यह जो तुम सवेरे उठकर गंगा स्नान करने जाते हो, यह गंगा थोड़े ही है। यह तो मूर्खों की गंगा है। इस प्रकार हरेक चीज को उन्होंने अंतर्यामी की दृष्टि से प्रतिपादित किया। एकाध नें उनसे प्रश्न भी किया कि जी, इनको भी तो गंगा यमुना मानते हैं। कहा—यह सब कुछ नहीं, जो कुछ है सो घट में है। शरीर रूपी घट के बाहर तो कुछ नहीं है। वहां एक सधा हुआ समझदार सत्संगी था। उसने उनको अगले दिन अपने यहाँ भोजन करने का निमंत्रण दिया। वह अगले दिन भोजन करने पहुँच गये। वहाँ एक दम ऊपर के तल्ले पर टीन का रसोईघर था और ऊपर से जेठ की धूप तपतपा रही थी। कलकत्ते की धूप नहीं समझ लेना, जयपुर की धूप समझना, खूब चिलचिलाती धूप पड़ रही थी। वहाँ उनको भोजन करने के लिये बिठाया। जब वह भोजन करने बैठे तो उसने कहा—अरे, मैं पानी का घड़ा लाना तो भूल गया, जरा ले आऊँ। बाहर आकर उसने खट से उस टीन की कोठरी में ताला लगा दिया। उन्होंने सोचा भूलकर लग गया होगा। आधा घण्टा इसी भरोसे रहे कि अभी आ जायेगा। फिर अन्दर से धम धम किया लेकिन वहाँ कौन सुने, कोई होतो सुने। दोपहरी का समय, ऊपर से धूप, चारों तरफ से टीन तप रहा, सारे शरीर में पसीने की धार, पीने को पानी का नाम नहीं। शाम तक इसी तरह कोठरी में तपते रहे। जब शाम हुई तो थोड़ी ठण्डक होने लगी तब उसने आकर ताला खोल दिया। बड़े बिगड़कर उन्होंने कि तू कैसा सत्यानाशी है, अत्याचारी है। वह हाथ जोड़कर कहता है—क्यों पंडित जी, मेरे से कोई भूल हो गई क्या? मैं नीचे पानी लेने गया तो वापस आना भूल ही गया। कोई बात नहीं, भोजन

तैयार है, अभी आ रहा है। उन्होंने कहा—अरे भले आदमी, इस गर्मी में विना पानी के मैं झुलस गया और तू भूल गया। वह कहने लगा—आप क्यों झुलसे, आपके अन्दर ही तो इड़ा नाड़ी में गंगा बह रही थी, उसी में गोता लगा लेते। पिंगला में यमुना वह रही थी, उसमें स्नान कर लेते, आपको गर्मी कैसे सता गई। आपके अन्दर इड़ा पिंगला नहीं है क्या। कहते हैं—कैसी फालतू की बात करता है। उसने कहा—आपने ही सिखाया था। इसके द्वारा बताया कि जब तक शरीर है तब तक जैसे वाहर के पानी की जरूरत, वैसे ही जब तक सगुण साकार रूप है तब तक बाहर के गंगा यमुना के स्नान की भी जरूरत है। ऐसा उलटा नहीं समझ लेना कि अव हम तो अंतर्यामी को समझते हैं, इसलिये हो गयी पूरा मन्दिरों का काम अव देवताओं की क्या जरूरत। इसीलिये शास्त्रकार बार बार इस बात को कहते हैं कि जैसे तुम्हारी तीन आत्मायें, वैसे ही परमेश्वर के तीन रूप हैं। इन तीनों रूपों से तीनों रूपों की पूजा अर्चना साथ साथ करनी पड़ती है। यहाँ पर भी इसीलिये 'असौयस्ताम्रो अरुणः उतबभ्रुः सुमंगलः' में तीनों को साथ साथ कहा है। विकल्प वाला शब्द यहाँ नहीं रखा कि या ताम्र, या अरुण या वभ्रु ऐसा नहीं कहा। इसी प्रकार या निर्गुण निराकार की, या सगुण निराकार की या सगुण साकार की पूजा करो, ऐसा नहीं कहा। वरन् निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार तीनों की अपनी क्षमता अथवा योग्यता के अनुसार साथ साथ पूजा करो। जिस एक चीज को नहीं करोगे, वही तुम्हारी अपूर्णता रह जायेगी। जैसे कुछ लोग निर्गुण निराकार को पकड़ कर सगुण साकार को छोड़ते हैं, वैसे ही कई सगुण साकार को पकड़कर सगुण निराकार को छोड़ते हैं। फिर अविद्या का नाश होकर मोक्ष भी नहीं हो सकता। तीनों को एक साथ ही करना है।

१७-३-७५

परमेश्वर के ताम्र, अरुण और बभ्रु अर्थात् निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार तीनों रूपों की सेवा करने के लिये शुद्ध आत्मा, मिथ्या आत्मा और गौण आत्मा की आवश्यकता बताई। इन तीनों आत्माओं से परमेश्वर की सेवा का तात्पर्य यह हुआ कि जो कुछ भी है, वह सब परमेश्वर को निवेदित करने के योग्य ही है। कोई भी पदार्थ ऐसा नहीं जो परमेश्वर के अर्पण करने के योग्य नहीं और जब हम उस पदार्थ को परमेश्वर के अर्पण करते हैं तब वह स्वयं ही पालक बन जाता है। जीव के अन्दर जो अपने हृदय में कर्तृत्व बोध है, जीव के अन्दर जो यह भाव है कि मैं अपना रक्षण पालन कर सकता हूँ, यही बंधन का कारण बन जाता है। वस्तुतः परमेश्वर ही जीव का पालक है। जीव स्वयं अपना पालन करने में समर्थ नहीं। यह जीव का भ्रान्तिबोध ही है कि मैं स्वयं अपना पालन करने में समर्थ हूँ। अपने में पालन करने की सामर्थ्य की भावना ही मनुष्य को परमेश्वर को निवेदित नहीं करने देती। वस्तुतः जीव अपना भला बुरा भी समझने में समर्थ नहीं है। जो अपना भला बुरा भी नहीं समझ सकता, वह अपना पालन क्या करेगा। वस्तुतः जीव अपना पालन करने में समर्थ नहीं और अपने आपका पालन करने में अपने को समर्थ समझता है, इसीलिये जो पालन करने वाला है, उससे अपना पालन करवा नहीं पाता है। भगवान् स्पष्ट कहते हैं 'पिताहमस्य जगतो, माता धाता पितामहः' अहं अस्य जगतः पिता, मैं इस जगत् का पिता अर्थात् पालन करने वाला हूँ। यह सारा जगत् वस्तुतः बालक है। बृहदारण्यक उपनिषद् में इसीलिए कहा, 'पाण्डित्यं निर्विद्य अथ बाल्येन तिष्ठासेत्', पहले पंडित भाव को प्राप्त करे अर्थात् पंडित बने। पंडित माने क्या ? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर गीता भाष्य में लिखते हैं 'पण्डा आत्मविषया बुद्धिः येषां, ते हि पण्डिताः' पण्डा का मतलब होता है

आत्मज्ञान। जिनके अन्दर यह आत्मबुद्धि, आत्मज्ञान होता है, वे ही पंडित कहे जाते हैं। यह नहीं कि केवल कुछ शास्त्र पढ़ लिये तो पंडित हो गये। उसका नाम पंडित नहीं है। आत्मा के स्वरूप को जानना पंडित का स्वरूप है। जब आत्मज्ञान होगा तब क्या होगा? 'पांडित्यं निर्विद्य' आत्मज्ञान होने पर निर्वेद हो जायेगा अर्थात् जगत् के पदार्थों से वैराग्य हो जायेगा। आत्मज्ञान हो और वैराग्य न हो, यह वैसा ही है कि सूर्य तो चमक रहा है लेकिन अंधेरा वैसा का वैसा बना हुआ है। आत्मज्ञान के साथ वैराग्य वैसे ही है जैसे सूर्य के साथ प्रकाश। सूर्य उदय होकर चमक रहा है तो अंधेरा वहाँ रहे, यह सम्भव नहीं। इसी प्रकार आत्मा का ज्ञान होने के बाद संसार के पदार्थों में राग रह जाये, यह सम्भव नहीं। वैराग्य कह रहे हैं, यह नहीं कि आत्मज्ञान होने पर घर की चीज उठाकर वाहर फेंकने लग जाओ। आत्मज्ञान का मतलब कोई पागल हो जाना नहीं है। वैराग्य का मतलब है कि प्रारब्ध से जो पदार्थ प्राप्त हुआ, उसके अंदर पूर्ण संतोष। जिस काल में परमेश्वर की इच्छा से जो भोग उपलब्ध हुआ उससे अधिक की तृष्णा नहीं। वह भोग हमेशा मेरे पास बना रहे, ऐसा आग्रह नहीं। यह वैराग्य का रूप है। आचार्य अनुभूतिस्वरूप प्रकटार्थ विवरण में बताते हैं कि 'वैराग्यं न तु रागाभावमात्रं किन्तु भाववृत्तिविशेषं परशुवत्'। वैराग्य का मतलब राग का न होना नहीं है; प्रायः लोग वैराग्य को एक अभाव प्रत्यय (वृत्ति) मानते हैं। एक नकारात्मक चीज समझते हैं। राग का न होना वैराग्य है, ऐसा समझते हैं। राग का न होना वैराग्य नहीं है। इसलिये कहा 'वैराग्यं न तु रागा-भावमात्रं' किन्तु भाववृत्ति विशेषम्। क्योंकि यदि कहते हो कि वैराग्य का अर्थ है, राग का न होना तो संदेह होता है कि क्या सब पदार्थों में राग का न होना अथवा किसी-किसी पदार्थ में राग का न होना। यदि कहो कि किसी किसी चीज में राग का न होना, तो यह तो सभी प्राणियों में है। कौए की वीट के प्रति किसमें राग है, अथवा सूअर की लेंड़ी के प्रति किसको राग

है ? यदि वैराग्य का मतलब लो किसी किसी में राग का न होना तो यह तो प्राणिमात्र में है। यदि कहोगे सब चीजों में राग का न होना तो फिर परमेश्वर के भजन ध्यान में भी राग नहीं होगा और महा आलसी होकर पड़े रहोगे। श्रवण, मनन, निदिध्यासन में भी राग नहीं होगा। परमेश्वर में भी राग नहीं होगा तो उल्टा नुकसान होगा, कोई लाभ होने वाला नहीं है। इसलिये वैराग्य का मतलब राग का न होना नहीं ले सकते क्योंकि किसी किसी चीज में राग न होना, यह अर्थ भी ठीक नहीं और सब चीजों में राग का न होना यह अर्थ भी सम्भव नहीं है। फिर वैराग्य का क्या तात्पर्य है ? 'भाववृत्ति विशेषं' वैराग्य स्वरूप से एक भाववृत्ति है। स्वरूप से भाववृत्ति किस तरह ? परशुवत् जैसे फरसा होता है, उससे तुम किसी भी वृक्ष को काट सकते हो। यदि तुम्हारे पास फरसा है तो तुम किसी भी वृक्ष को काट सकते हो। न तो इसका मतलब यह है कि तुम रातदिन जो वृक्ष सामने आयेगा, उसको काटोगे। फरसा है इतने मात्र से क्या हरेक पेड़ को काटते रहोगे ? फिर फरसा होने का मतलब क्या ? जब जिस पेड़ को चाहोगे तुरंत काट सकोगे। पास में फरसा नहीं है तो इच्छा होने पर भी पेड़ नहीं काट सकते। फरसा है तो जब इच्छा होगी तब तुम जिस पेड़ को चाहोगे, काट लोगे। इसी प्रकार यदि तुम्हारे पास वैराग्य है तो जब जिस राग को काटना चाहोगे उस राग को उसी समय काट सकोगे। यह नहीं कि हरेक राग के पीछे पड़े रहो। श्रवण मनन निदिध्यासन, तत्व-चिंतन, सत्संग इत्यादि के साथ तुमको कोई झगड़ा नहीं, इसलिये उनके रागों को नहीं काटोगे। जिस पदार्थ का राग तुमको दुःख देने वाला होगा उसको काट दोगे। इसलिये बृहदारण्यक उपनिषद् बताती है कि जब मनुष्य आत्मज्ञान को प्राप्त कर लेता है तब उसके पास वैराग्य का फरसा आ जाता है। जब यह फरसा आ गया तो क्या करे ? 'अथबाल्येन तिष्ठासेत्' उसके बाद बालक बन कर रहे। जैसे बालक सहज भाव से रहता है, वैसे ही रहे। बालक को पता है कि परमेश्वर मेरी रक्षा करने के लिये जग रहा है। जैसे

लौकिक बालक को पता है कि मेरी माता मेरी रक्षा करेगी, इस-लिए सहज स्वभाव से सो जाता है। रेल में जा रहे हो, भय है कि कहीं कोई चोरी न हो जाये। लेकिन बच्चे को है उस बात की कोई चिंता? जब उसको नींद आई तो झट खुर्राटे भरने लग गया क्योंकि वह जानता है कि माँ उसकी रक्षा करने के लिए मौजूद है। जैसे बालक निर्भर होकर रहता है, वैसे ही आत्मज्ञान और वैराग्य के बल से मनुष्य परमेश्वर पर सर्वथा निर्भर होकर रहता है क्योंकि उन्होंने कह रखा है कि 'पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः' मैं पिता भी हूँ और माता भी हूँ। इतना ही नहीं, मैं ही धाता और मैं ही पितामह अर्थात् दादा भी हूँ। परमेश्वर अकेला ही सब प्रकार से हमारा रक्षण करता है। अर्जुन को भी यही अनुभव हुआ तब अर्जुन ने भी जवाब दिया 'पितासि लोकस्य चराचरस्य' चर अचर सारे जगत का तू ही एकमात्र पिता अर्थात् पालक है।

हम क्यों परमेश्वर को निवेदित नहीं कर सकते? इसीलिये कि हमारे अन्दर बालक की भावना नहीं आ पाती। बालक की भावना आई, यह कैसे पता लगे? कहने को रोज़ प्रार्थना में कह देते हो 'त्वमेव माता च पिता त्वमेव' लेकिन पता कैसे लगे कि मेरे अन्दर यह भाव आया या नहीं? बालक अपने पिता की आज्ञा आँख मूँदकर मानता है। बालक का पालक पिता तभी तक है जब तक बालक आँख मूँदकर पिता की आज्ञा मानता है। जैसे ही बालक बड़ा हो जाता है, पिता की आज्ञा अपनी बुद्धि पर तोलकर देखने लगता है कि पिता ने यह बात कही, यह ठीक है या गलत है। इतनी बुद्धि जब आ जाती है तो फिर पिता उसका पालक नहीं रह जाता। फिर तो पिता कहता है कि अब तुम अपना भला बुरा सोचने में समर्थ हो इसलिये अच्छी तरह सोच लो कि यह काम ठीक है या गलत है। सरकार ने एक कानून भी बना रखा है कि जब तक बच्चा अपना भला बुरा नहीं सोच सकता, वे लोग १६ साल की उमर इसके लिये मानते हैं जो भी हो,

तब तक यदि वह कोई भी काम करता है तो उसके साथ उसके पिता का या दूसरा जो कोई उसका पालन करने वाला हो, उसके दस्तखत भी रहने पड़ते हैं। उसका नाम ही पालक (गार्जियन) है। स्कूल में खाली अपने दस्तखत से लड़का भर्ती नहीं हो सकता। साथ में उसके पालक (गार्जियन) के दस्तखत भी चाहिए। बैंक में भी दस साल का लड़का रुपया रख सकता है लेकिन रुपया निकालना हो तो उसको पालक के दस्तखत भी चाहिये। ऐसा क्यों? क्योंकि वह अपना भला बुरा सोचने में समर्थ नहीं है। जब वह बड़ा हो गया तब मान लिया गया कि अपना भला बुरा सोचने में समर्थ है तो फिर वह स्वयं उन सब कार्यों को कर सकता है। कोई रुकावट उसके लिये नहीं। हम क्यों बालक नहीं बन पाते? क्योंकि हम परमेश्वर की आज्ञा का पालन आँख मूँदकर नहीं कर पाते। परमेश्वर की हर आज्ञा को हम अपनी बुद्धि की कसौटी पर कसना चाहते हैं। हमारी बुद्धि की कसौटी पर यदि वेद की आज्ञा खरी है तब तो ठीक और नहीं तो जी इस वेद ने गड़बड़ किया है। चूंकि हम परमेश्वर की आज्ञा का पालन नहीं कर पाते, इसीलिये बालक नहीं बन पाते। इसीलिये परमेश्वर हमारा पालन नहीं कर पाता। बालक का पालन करना पिता का धर्म है लेकिन जो जवान हो गया उसका पालन करना पिता का फ़र्ज नहीं रह जाता। अब कहोगे कि क्या पता परमेश्वर पालन करता ही है, या नहीं ही करता, पता कैसे लगे? परमेश्वर ऐसा पालक है कि यदि भूल से भी हम परमेश्वर की तरफ चलते हैं तो भी वह हमारी रक्षा करता ही है। आजकल के लोग हम परमेश्वर के भक्तों के प्रति यह कहते हैं कि तुम तो शास्त्र के गुलाम बन गये, अपनी बुद्धि को ताक पर रख दिया। यदि उनसे कहें कि वेद में ऐसा लिखा है, इसलिये कहते हैं तो कहते हैं कि अपनी बुद्धि भी तो काम में लो। बुद्धि को ताक पर ही रख दोगे क्या? फिर वे किसकी बात मानने को कहते हैं? कहते हैं कि परमेश्वर की तो गुलामी छोड़ो लेकिन उसकी जगह उन्होंने अपने अनेक वाद बना रखे हैं। कोई कहता है समाज की दासता करो

इसलिये वह समाजवादी। कोई कहता है जनता की दासता करो, वह हुआ प्रजातंत्रवादी। बाकी सब चीजों का दास तो हमको बनाना चाहते हैं लेकिन परमेश्वर की दासता से छुड़ाकर के। यदि आगे उससे पूछो कि तुम्हारे देश और तुम्हारे समाज की सेवा क्यों करें ? कहता है यह तो कर्त्तव्य है। यह कहाँ से पता लगा ? वे जिस समाज और देश की सेवा करवाना चाहते हैं वह समाज और देश हमारा कोई उपकार करने में समर्थ नहीं देश तो जड़ चीज है, क्या उपकार करेगी। समाज तो हम ही लोगों का मिला हुआ रूप है, वह हमको क्या फायदा पहुँचायेगा। हम तो एक दूसरे को फायदा पहुँचा सकते हैं लेकिन हम लोगों को छोड़कर और क्या है जो हमको फायदा पहुँचायेगा। दूसरी तरफ परमेश्वर हमारा पालन करने में समर्थ है। भगवान् प्रतिज्ञा करके कहते हैं 'योगक्षेमं वहाम्यहं'। जो सतत निरंतर प्रेम भाव से मेरा भजन करते हैं 'तेषां सतत-युक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्' उनको मैं शुद्ध बुद्धि देता हूं। मेरी बुद्धि के सहारे वे जीवन के सारे कार्य सफलतापूर्वक करते हैं। ऐसा कोई देश और समाज नहीं कह सकता। इतना ही नहीं, परमेश्वर में और समाज व देश में बहुत बड़ा फरक यह है कि तुम जीवन के पच्चीस साल तक देश के नियम मानते रहो और एक बार भूल से कोई नियम तोड़ दो तो देश तुमको जेल में बंद कर देगा। कहो भी कि मैंने २५ साल तक तुम्हारी बात मानी, एक दिन भूल हो गई, वह कहता है कि हम तो भूल ही याद रखते हैं, अच्छा किया हुआ थोड़े ही याद रखते हैं। पच्चीस साल तक तो तुम बिल्कुल ईमानदारी से आयकर देते रहो, तुम्हारी कोई गड़बड़ी नहीं पाई गई और एक साल अगर गलत भर दो तो तुमको पकड़ लेंगे। कहो कि पच्चीस साल तो ठीक ही दिया एक ही साल नहीं दिया, जाने दो तो भी नहीं छोड़ेंगे। यह देश की स्थिति है और यही समाज की स्थिति है। समाज के सब नियमों को तुम पच्चीस साल तक मानो। ब्राह्मण सिगरेट बीड़ी नहीं पीता, वैश्य शराब नहीं पीता और पच्चीस साल तक नहीं पिये और एक दिन भी पिये

तो जात बाहर कर दिया जाता है। समाज से कहो कि एक ही वार तो पिया है, जाने दो। लेकिन कोई नहीं छोड़ेगा। यह देश और समाज का ढंग है। परमेश्वर का ढंग ठीक इससे विपरीत है। तुम हजार साल तक परमेश्वर की आज्ञा न मानो और एक वार उसकी आज्ञा मान लो तो वह तुम्हारा कल्याण कर देता है। यहाँ तक कि विना जाने हुए भी अगर तुम उसकी आज्ञा मान लो तो भी वह कल्याण कर देता है।

प्राचीन काल में कांपिल्य नगर के अन्दर सोमयज्ञ करने वाला यज्ञदत्त नाम का एक ब्राह्मण था, वेदवेत्ता था, दीक्षित था। वड़ा ही सुन्दर और कर्मनिष्ठ था और इसीलिये राज्य में भी उसका वड़ा सम्मान था। इस प्रकार का वह प्रसिद्ध ब्राह्मण होने पर भी उसके एक पुत्र उत्पन्न हुआ जो पहले तो ठीक था लेकिन कुसंग में पड़कर विगड़ गया। यज्ञदत्त ने उसका यज्ञोपवीत भी आठ वर्ष की उमर में कर दिया। 'अष्टवर्षं ब्राह्मणं उपनयीत्' यह वेद-वाणी है कि आठ वर्ष की उमर में ब्राह्मण का उपनयन कर देना चाहिए। ऐसा नहीं जैसा लोग आजकल करते हैं। सच्ची बात कह देते हैं। पूरा सांड वनाकर नाथना चाहते हैं लेकिन वह कहाँ से नाथा जाये। वचपन में उसे बैल वना लो तो वना लो, वाद में पकड़ने जाओ तो कभी सींग मारेगा, कभी लात मारेगा। ऐसे ही आठ वर्ष में उपनयन नहीं करते हो तो वाद में वह कहता है कि मैं वाल नहीं कटवाऊँगा। जनेऊ करना हो करो नहीं तो मत करो, मैं भीख नहीं मागूंगा, लँगोटी नहीं पहनूंगा। माँ वाप कहते हैं अच्छा बेटा। गलती वच्चे की थोड़े ही है। आठ वर्ष की उमर में कर देते तो वह ऐसा थोड़े ही करता। उन्होंने तो उसका आठ वर्ष की उमर में उपनयन भी कर दिया और उसे अष्ट विद्याओं को भी पढ़ा दिया। लेकिन दुर्भाग्य से उसे जुआरियों का संग मिल गया और उस संग से वह जुआ खेलने लगा। जो जुए में फंस जाता है वह वार-वार दुःख उठाता है लेकिन जुए को छोड़ नहीं सकता। 'अक्षैर्मा दीव्येत्' ऋग्वेद इसीलिए कहता है। जव वह जुआ खेलने लगा तो पैसा

लगाये, हारे और फिर घर से चीजें उठाकर ले जाये। पिता बेचारे सोमयाजी थे, इसलिये निरन्तर कार्य में व्यस्त रहें। कभी-कभी अपनी पत्नी से पूछें कि वह कहाँ गया तो वह कह दे कि अभी-अभी संध्या करके, भगवान् का पूजन करके पाठ विचारने के लिये अपने दोस्तों के साथ गया है। माँ की आदत होती है। बच्चे की गलती को छिपा देती है, प्रकट नहीं करती। पिता को कभी कदाचित् वहम भी हो लेकिन उन्हें फुर्सत नहीं। कभी कोई राजा और कभी सेठ साहूकार अनुष्ठान के लिए बुला ले और कभी अपना ही अनुष्ठान करने में लगे रहें। उन्हें यह सब देखने का समय ही नहीं मिलता था। इस बीच में उसका विवाह भी हो गया। माँ उसको समझाये बेटा अब तू सुधर जा, मैं बड़ी मुश्किल से तुम्हारे बाप से छिपाती हूँ। लेकिन तेरा बाप महा क्रोधी है, अगर उसे पता लग गया तो न तेरी खैर और न मेरी ही खैर रहेगी। लेकिन वह किसी की सुने ही नहीं। वह तो और माँ से झगड़ा करके जोर जबर्दस्ती से कभी अंगूठी, कभी कंदोरा इत्यादि ले जाये। यहाँ तक स्थिति हो गई कि एक बढ़िया सुन्दर नागदंती की खटिया थी, वह भी ले गया, बढ़िया शाल भी ले गया। जुए का तो कोई अंत नहीं। माँ उसको कहे भी कि मैंने ऋतुकाल में किस चाण्डाल का मुँह देख लिया कि तू मेरी कोख में पैदा हुआ। लेकिन उसे कोई असर नहीं। जितने दुष्कर्म हो सकते हैं, उन्हीं को करने में लगा रहे। अब एक दिन दीक्षित सोमयाजी यज्ञदत्त कहीं जा रहा था तो उसे एक राजा से मिली हुई अँगूठी, जिसमें बढ़िया नक्काशी की हुई थी, एक जवान लड़के के हाथ में दीखी। उसे बुलाया और पूछा दिखा यह तेरे हाथ में क्या है। वह घबराया और हाथ में पहनी अंगूठी दिखा दी। यज्ञदत्त को गुस्सा आया कहा—चोर कहीं के, मेरी अंगूठी कहाँ से लाया। वह लड़का कहता है—मुँह सम्भालकर कह, चोर किसको कहता है। तेरे घर की तो हर चीज उठ उठकर बाजार में आई हुई है। अपने लड़के को नहीं सम्भालता है जिसने जुए और शराब के चक्कर में तेरे सारे घर की चीजें बाहर निकाल दीं और तेरे

को पता नहीं। दक्षिण में तूने बड़ा भारी यज्ञ किया था और उसमें आचार्य बनकर सोने का पूर्ण पात्र लेकर आया था, उसको कभी सम्भालता भी है, वह मेरे दोस्त के घर पड़ा है। जब तू काश्मीर गया था तो वहाँ के राजा से पश्मीना पाया था, पता है वह कहाँ है? वह एक वेश्या के घर में है। अब बेचारे यज्ञदत्त ने मारे शरम के सिर पर कपड़ा डाल लिया, सिर ढककर वापिस घर आया। अपनी पत्नी से पूछा कि तुमने मेरे से मुंदरी ली थी, वह कहाँ है। वह घबरा गई, कहने लगी आपके नहाने के लिए अभी गरम पानी कर रही थी, जल्दी से किसी आटे दाल के डिब्बे में डाल दी। ढूंढ़ कर निकाल दूंगी। आप स्नान कर लो। उसने कहा, खाली अंगूठी ही नहीं, दक्षिण विजय से मैं जो सोने का पूर्णपात्र लाया था, वह कहाँ है? अंगूठी तो चलो किसी आटे दाल के डिब्बे में डाल दी लेकिन वह इतना बड़ा बर्तन कहाँ डाल दिया। अब वह बेचारी चुप हो गई, समझ गई कि इन्हें पता लग गया है। वह कहने लगे—तूने मेरी बिल्कुल बरबादी कर दी। तू अपने माँ बाप के घर की परम्परा की न रही। तुम्हारा बाप बड़ा यज्ञ करने वाला कुल शील वाला था, इसलिये मैंने तुम्हारा भरोसा किया और तूने लड़के का पक्ष लेकर उसे बिगाड़ दिया, और जब जब मैंने उसके बारे में तेरे से पूछा तूने उसकी रक्षा की। जा आज से न मेरा तेरे साथ सम्बन्ध और न वह मेरा लड़का।

उस ब्राह्मण ने तो उसी दिन एक दूसरी औरत से व्याह कर लिया और उन दोनों से कहा कि जाओ यहाँ से, दोनों से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं, तुम दोनों नालायक हो। उसी दिन वह दूसरी पत्नी ले आया। वह लड़का वहाँ से चला तो उसको भीख माँगनी भी नहीं आये। भीख माँगना भी एक कला है, जो सबको नहीं आती। जिसको नहीं आती, वह माँगे तो उसको कोई धेला छदाम न दे। भीख भी बेचारे को नहीं मिली, पास में पैसा नहीं। भूख के मारे वहाँ से चलते चलते एक जगह उसको भोजन की सुगंधि आई। उसका मन करने लगा कि यहाँ कहीं आस पास खाने का

कोई ढंग बन जाये तो फिर कुछ काम बने। देखा वहाँ एक शिव मंदिर था जहाँ कुछ लोग कई प्रकार के पकवान बनाकर लाये हैं और भगवान् शंकर का पूजन कर रहे हैं। यह बैठा बैठा देखता रहा कि यह पूजन इत्यादि हो जायेगा तो शायद ये लोग हमको भी कुछ दे देंगे क्योंकि मन्दिर में पूजन के बाद थोड़ा बहुत प्रसाद सबको बाँटा जाता है। वह वहीं बैठ गया और ध्यान से पूजा देखता रहा। उसकी भावना पूजा की तरफ नहीं थी। नैवेद्य की तरफ भाव था कि कब पूजा खतम हो और अपने को कुछ खाने को मिले। लेकिन एक नियम होता है कि जब किसी चीज को स्वार्थ की दृष्टि से देखो तो तुम्हारा मन उसमें पूरी तरह से एकाग्र हो जाता है। किसी दूसरे के लिये या परमार्थ के लिये कोई काम करो तो मन इतना एकाग्र नहीं होता। वह एकाग्र मन से पूजन देखता रहा। उन लोगों ने पूजन करके भगवान् का भोग लगाया। और आदमी तो सारे के सारे नहाने धोने चले गये, यह विचार कर कि अपने नहा धोकर आयें तब प्रसाद लें। उनके साथ कुछ नौकर और औरतें भी आई हुई थीं, उन्होंने सोचा कि जब तक वे आते हैं तब तक अपने सो जायें। वे सब वहीं मन्दिर में सो गये, कोई बाहर बरांडे में सो गया। लेकिन इसको चैन कहाँ, सोचा गजब हो गया। वे लोग कब नहा धोकर आयेंगे और जब आयेंगे तो उन्हें भूख लगी होगी, सारा खा जायेंगे, अपने को क्या मिलेगा। भिक्षा माँगनी उसको आती नहीं थी लेकिन जुआरी शराबी होने के कारण चोरी करना तो जानता था। नैवेद्य लेने के लिए मन्दिर के अन्दर गया। जो बत्ती वे लोग जला गये थे, वह थोड़ी सी ही बाकी रह गई थी। बुझ रही थी, वहाँ उसको कुछ दीख नहीं रहा था कि बादाम की चक्की और दिलखुशाल कहाँ रखा हुआ है। उसने सोचा कि कहीं जरूर यह सामान रखा हुआ है क्योंकि सुगन्धि आ रही है। ऐसे उठाया तो कहीं पूरी ही हाथ में न आ जायें उससे क्या फायदा। उसने झट अपने पल्ले को फ़ाड़ा और बटकर बत्ती बनाकर जला दिया तो चारों तरफ प्रकाश फैल गया। उसने उस प्रकाश के

अन्दर देखा कि कहाँ कहाँ क्या क्या माल रखा है। जो जो माल उसको लेना था, वह सब उसने लिया और लेकर वहीं खाने लगा भूखा तो था ही। 'बुभुक्षितः किन्न करोति पापम्'। वह नैवेद्य झट अपने पेट के अन्दर डालकर वहाँ से भागा कि कहीं वे लोक आकर धर पकड़ेंगे और पीटेंगे। भागने की जल्दी में उसका पैर किसी औरत से लग गया। वह और जोर से चिल्लाई, नौकर जग गये। वे सब उसके पीछे दौड़े और वह आगे दौड़ा। आगे घोर अंधेरा था। उस अंधेरे के अन्दर एक पत्थर की चट्टान से उसको टक्कर लगी और वह वहीं मर गया। यमराज के पास पहुँचा। यमराज ने पूछा कि इसके क्या पुण्य पाप हैं। चित्रगुप्त ने सारा हिसाब बता दिया कि पिता की आज्ञा इसने नहीं मानी, चोरी इसने की, जुआ इसने खेला, शराब इसने पी, वेश्यावृत्ति इसने की, सारे दुष्कर्म किये। यमराज ने पूछा—कुछ अच्छा कर्म भी किया। उसने कहा—और तो कुछ नहीं किया, बस इतना है कि मरने वाले दिन 'पतन्ती लिंगशिरसि दीपच्छाया निवारिता' दिये की जो छाया लिंग पर पड़ रही थी, उसको इसने अपना कपड़ा जलाकर और तेज किया, अपने कपड़े से इसने एक तो यह पुण्य का काम किया और दूसरा इसने पूजा का पूरा दर्शन किया। यमराज ने कहा कि यह पुण्य तो इसने बहुत किया, इसलिये यह कलिंग देश का राजा बनेगा। भगवान ने एक नियम बना रखा है सूचीकटाह न्याय का। इस नियम के अनुसार जिस मनुष्य के पाप ज्यादा होते हैं और पुण्य थोड़ा होता है उसको पुण्य भोग का मौका पहले मिल जाता है। वह अरिन्दम राजा के घर दम नाम का पुत्र होकर उत्पन्न हुआ, कलिंगराज बना। परमेश्वर की कृपा से उसको पूर्व स्मृति भी बनी रही। उसको याद रहा कि मैं ऐसा दुष्कर्मी था। इसलिये उस जन्म में उसने एक बहुत बड़ा शिवमन्दिर बनाया, उस शिव मन्दिर के निर्माण के पुण्य से अगले जन्म में वह अलकापति अर्थात् इंद्र बना 'एवं फलति कालेन शिवेऽल्पमपियत्कृतं'।

इस प्रकार से यदि धीरे धीरे भगवान् के लिये कुछ भी किया जाता है तो बड़े-बड़े फल को पैदा करता जाता है। थोड़ा भी किया है तो बहुत बड़ा फल देगा। उससे और अच्छा करेगा, आगे उससे और अच्छा फल मिलेगा। इस प्रकार जीव आगे बढ़ता जाता है। यही परमेश्वर की कृपा है। परमेश्वर को अगर निवेदन करते हैं तो परमेश्वर इस प्रकार से हमारा पालन करते हैं। बाकी चीजें हमारा पालन करने में समर्थ नहीं है।

यह कथा केवल एक यज्ञदत्त के पुत्र की नहीं समझ लेना क्योंकि पुराणकार इसके आगे ही इसका तात्पर्य बताते हैं। 'पुरापुरारेस्सम्प्राप्य काशिकां चित्प्रकाशिकां' वस्तुतः दीपक क्या है? किस दीपक की ज्योति से भगवान् के ऊपर आया हुआ अंधकार दूर होता है। अंधकार से चीज ढक जाती है, यही अंधकार का फल है। इसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्म तत्त्व स्वयं प्रकाश है किन्तु अज्ञान के द्वारा ढक गया है। अज्ञान की छाया से ढक जाने के कारण सब लोग कहते हैं कि परमात्मा का दर्शन नहीं हो रहा है। कण-कण और क्षण-क्षण में जो परमात्मा प्रकाशित हो रहा है, उसका दर्शन क्यों नहीं हो रहा है? अज्ञान के कारण ही नहीं हो रहा है और कोई कारण नहीं है। यही शिव लिंग के ऊपर, परब्रह्म परमात्मा के ऊपर छाया है। अब वह क्या करता है? 'शिवैकादशमुद्बोध्य चित्तरत्नप्रदीपकैः' चित्त रूपी रत्न का बना हुआ प्रदीप है। अपना मन ही वह प्रदीप (दीवला या दिवोटिया) है। जैसे रत्न थोड़े से प्रकाश में चमकता है, ऐसे ही यह मन भी उस परमात्मा की एक किरण को प्राप्त करके ज्ञानरूप होकर के चम चम करता है। साधारण आदमी तो इसीलिये मन को ही चेतन समझ लेते हैं। 'अनन्यभक्तिस्नेहाढ्यः तन्मयो ध्याननिश्चलः' इस चित्त दीप के अन्दर अनन्य भक्तिरूपी तेल भरना पड़ता है। प्रदीप में जैसे तेल चाहिए ऐसे ही जब तक इस मन में अनन्य भक्ति का तेल नहीं भरा जायेगा तब तक यह दिवोटिया पास होने पर भी काम नहीं देगा, प्रकाश नहीं

करेगा। है सबके पास लेकिन काम नहीं दे रहा है। अपनी ग्यारह इन्द्रियों को परमेश्वर की तरफ करना है। पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ और मन इन ११ को परमेश्वर की तरफ करना है। तब 'शिवैक्यसुमहापात्रं तपोग्निपरिबृंहितं' तन्मय होकर जो चिंतन और ध्यान होगा, उसके अन्दर तपरूपी अग्नि से उस दिये को जलाना पड़ेगा। 'प्राणसंरोध निर्वातं' फिर प्राण रूपी वायु का निरोध करना होगा। सब लोग सत्संगी हो, भगवान् के लिये धूप दीप जलाते होगे। कुसंगी भी जलाना जानता है, वह बीड़ी जलाता है। दिया जलाते समय माचिस को जलाते हो तो चारों तरफ से हवा को रोकते हो। जिसको माचिस जलाना नहीं आता, वह माचिस जलाकर हाथ सीधा करता है और चार दियासलाइयां जलाने के बाद दिया जलता है। इसलिये हाथ से निर्वात करना पड़ता है। इसी प्रकार यहाँ प्राणायाम का अभ्यास करना पड़ता है। फिर उस दीपक के ऊपर काम क्रोध रूपी पतंगे आकर न पड़ें 'कामक्रोधमहाविघ्नपतंगाघातवर्जितं' क्योंकि दिया जलाने पर बहुत से पतंगे आकर उस दिये पर गिरेंगे तो वह दिया नहीं जलेगा, कई वार उनकी मार से बुझ भी जायेगा। इसीलिये काम क्रोध रूपी पतंगे उस पर न गिरें, उनसे बचाकर रखें। तब 'संस्थाप्य शांभव लिंगं सद्भावकुसुमार्चितम्' शांभव लिंग के ऊपर का अज्ञान दूर हो जायेगा। जब चित्तरूप रत्न दीपक में अनन्य भक्ति का तेल भरकर अच्छी प्रकार उसे जलाओगे, काम क्रोधादि पतंगों से बचाओगे, हवा से उसका रक्षण करोगे और उसके प्रकाश को निर्मल रखोगे, यह नहीं कि उस प्रकाश के ऊपर कोई नीली आदि चीज ढक दो। तब उससे निर्मल ज्ञान प्राप्त होगा, तब जीव का कल्याण होगा। जैसे उसने शराब, जुआ इत्यादि सारे दुष्कर्म किये थे, वैसे ही अनादि काल से आज तक कौन से पाप हम लोगों ने नहीं कर लिये, लेकिन जब भगवान् के ऊपर से अज्ञानरूपी दीप छाया हटा देंगे तो हटाने के साथ ही हमारे सारे पाप दूर होकर हमारी सद्गति हो जायेगी। अंत में वह

जैसे इंद्र बन गया था, वैसे ही हमको परमात्मभाव की प्राप्ति हो जायेगी क्योंकि इन्द्र भगवान् शंकर का ही रूप है। महादेव गायत्री में कहा है 'तत्पुरुषस्य सहस्राक्षस्य महादेव धीमहि·····' उसकी हजार आँखें हैं। जैसे वहाँ उसे अलकापति पद की प्राप्ति हुई थी, वैसे ही यहाँ वास्तविक अलकापति शिव भाव है, जीव को उसकी प्राप्ति होकर सारे बंधन हट जायेंगे। जब हम इन तीनों रूपों को परमेश्वर के अर्पण करते हैं, निवेदित करते हैं तब इन फलों की प्राप्ति होती है और यदि उनको निवेदित न करके अन्य समाज, देश इत्यादि को अपने जीवन का उद्देश्य बनाते हैं तो वे रक्षा करने में समर्थ नहीं होते हैं। यहाँ श्रुति इसीलिये कहती है कि 'येचैनं रुद्रा अभितोदिक्षुश्रिताः सहस्रशोवैषां हेड ईमहे।' जो इसको बचाने वाले चारों तरफ के रुद्र हैं, वे सब इसका रक्षण ही करें, इसको नुक्सान न पहुँचायें। यह कब होगा ? जब बाह्य भाव का त्याग करके शिव को पालक स्वीकार करोगे। तब तो इस ब्रह्माण्ड के अन्दर अभितः अर्थात् चारों दिशाओं में रुद्र शक्तियाँ, पारमेश्वरी शक्तियाँ तुम्हारा पालन करेंगी। जब तक हम अपना पालक अपने आपको बनाकर रखेंगे, परमेश्वर की आज्ञा का पालन नहीं करेंगे तब तक वह शक्ति हमारा नियंत्रण करेगी और हम इस संसार चक्र से नहीं निकल पायेंगे। यह इस मंत्र में बताया।

१८-३-७५

सप्तम मन्त्र की व्याख्या

पूर्व मंत्र में परब्रह्म परमात्मा के तीन रूपों का वर्णन किया। निर्गुण निराकार, सगुण निराकार और सगुण साकार। यह भी बताया कि सारा जगत् मंगल रूप है। इसके चारों तरफ रहने वाली पारमेश्वरी शक्तियां एक ही परब्रह्मपरमात्मदेव की हैं, जो देवता रूप से विद्यमान हैं। जो उसकी तरफ जाता है, उसकी रक्षा करती हैं अन्यथा नियमों के द्वारा उसको बंधन में रखती हैं, यह बताया। अव कहते हैं कि वह परमात्मा मिलने में अत्यन्त सुलभ है। उसके निर्गुण निराकार होने पर भी वह सगुण साकार किस तरह से वन जाता है, इसे भी इस मंत्र से वताते हैं

असौयोवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः।
उतैनं गोपा अदृश्श्रन्नदृश्श्रन्नुदहार्यः स दृष्टो मृडयातिनः॥

"असौ यः अवसर्पति" ऋषि कहते हैं कि यह अवसर्पण करने वाला है। सर्पण का मतलव होता है सरकना, इसलिये सरकने वाले प्राणी को भी सर्प कहा जाता है। वह सरकता है, चलता नहीं है। अवसर्पण का तात्पर्य हुआ जो इस सारे सरकने को अपने वश में रखकर सरकता हुआ लगता है, जो इस सारे संसार को वश में रखते हुए प्रतीत होता है, वह नीलग्रीव और विलोहित है। उसकी ग्रीवा अर्थात् कण्ठ नीला है। क्यों नीला कैसा नीला ? यह आगे बतायेंगे। उसका स्वरूप अत्यंत रक्त वर्ण (लाल रंग) का वताया। वह कितना सुलभ है ? "उत एनं गोपा अदृशन्" उसे तो ग्वाले भी देख लेते हैं। फिर वह जंगल में होता होगा जहाँ ग्वाले गाय चराने जाते

हैं, तव दीखता है। "उदहार्यः अदृशत" पनिहारिनें भी उसे देखती हैं। इतना सरल उससे मिलना है कि ग्वाले और पनिहारिनें भी उसे देखती हैं। सव उसको देखते हैं तो फिर नई वात क्या है? उसको पहचानते नहीं। रोज मिलने पर भी पहचान नहीं। "स दृष्टः" जव हम उसे पहचान लेते हैं कि यही वह है जो अनेक रूपों को धारण करने वाला है, जव उसका अनुभव पहचान करके हो जाता है तव "नः मृडयाति" वह हमको नित्य निरंतर सुख देने लग जाता है।

इस मंत्र में दो बातें वताई। वह हमारे सामने चारों तरफ अवसर्पण कर रहा है। उसको गोप और पनिहारिनें भी देखती हैं लेकिन समझती नहीं। यदि समझ लिया जाता है तो वह संसार के सारे दुःखों को नष्ट कर देता है, परम आनन्द की प्राप्ति करा देता है। यह मंत्र का अक्षरार्थ हुआ। इससे पूर्व मंत्र में भी उसे ताम्र, अरुण और बभ्रु तीन वर्णों से कहा था। यहाँ पर विलोहित एक तरह से ताम्र और अरुण दोनों वर्णों को वताने वाला है। वहाँ उसको तीन से कहा था, यहाँ उसे दो से कह दिया क्योंकि ताँबे का रंग भी एक तरह से लाल होता है, अरुण का रंग भी एक प्रकार से लाल ही होता है। दोनों को मिलाकर यहाँ विलोहित रंग कह दिया। परमात्मा नीलग्रीव है। सारा शरीर तो उसका लोहित है और वह भी विलोहित कहा। अत्यंत गोरे रंग का आदमी यदि खूब खाया पिया हुआ हो, तो लाल दीखेगा। मारवाड़ का घी खाया हो, वम्वई का हिन्दुस्तान लीवर का डालडा घी नहीं, असली तो वह भी है, लेकिन हमारा मतलव गाय के घी से है। हरिद्वार में एक दुकान पर पट्ट लगा हुआ था, 'यहाँ असली घी की चीज मिलती है' वहाँ चीज बड़ी सस्ती मिलती थी। हमने उससे पूछा कि असली घी की चीज इतनी सस्ती कैसे देता है। कहता है मैंने यह थोड़े ही लिखा है कि असली गाय का घी है, मैं तो शुद्ध डालडा घी इस्तेमाल करता हूँ। ऐसे असली घी से काम नहीं चलेगा। पूर्ण गौरवर्ण का व्यक्ति यदि अच्छी तरह से असली घी का माल खाया पिया हुआ हो तो उसके गाल लाल दीखेंगे।

इसी प्रकार भगवान् शंकर कर्पूर गौर होने पर भी दूर से देखे जाने पर विलोहित अर्थात् रक्त वर्ण के दीखते हैं। वस्तुतः कर्पूर गौर हैं, 'स्फटिकरजतवर्णम्' जैसे स्फटिक का वर्ण पारदर्शी होता है। परन्तु दूर से देखने पर जो धमनियों की ललाई है, उसके कारण यहां उन्हें विलोहित कहते हैं। सारा शरीर विलोहित है लेकिन ग्रीवा नीलवर्ण की है। ठीक इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा कैसा है? ज्ञानस्वरूप होने के कारण सर्वथा पारदर्शी है। जैसे प्रकाश (जड़ रोशनी) जिस किसी पदार्थ के ऊपर पड़ता है, उस पदार्थ के रंग वाला हुआ ही प्रतीत होता है। सूर्य का प्रकाश तो एक जैसा है लेकिन हरे रंग के कपड़े के ऊपर वह प्रकाश हरे रंग का, लाल रंग के कपड़े के ऊपर वही प्रकाश लाल रंग का और काले रंग के कपड़े के ऊपर वही प्रकाश काले रंग का प्रतीत होता है। जिस रंग के कपड़े पर प्रकाश पड़ेगा, उसी रंग का हुआ वह प्रकाश लगेगा। प्रकाश एक ही है। जैसे यह जड़ प्रकाश पारदर्शी है, जिस कपड़े पर पड़ता है, वैसा प्रतीत होता है; उसी प्रकार यह चैतन्य प्रकाश भी स्फटिक की तरह पारदर्शी है। जिस किसी पदार्थ पर ज्ञानरूपी रोशनी पड़ती है उसी पदार्थ के आकार की होकर के प्रतीत होती है। ज्ञान की रोशनी यदि घड़े पर पड़ी तो घड़े रूप से ज्ञान की प्रतीति होती है, तब कहते हो घट ज्ञान हो गया। ज्ञान की रोशनी यदि रसगुल्ले पर पड़ी तो रसगुल्ले के आकार की हो गई, रसगुल्ले का ज्ञान हो गया। ज्ञानरूपी रोशनी भी पारदर्शी है। इसीलिये ब्रह्मरूप भगवान् शंकर को स्फटिक रजतवर्ण का कहा। पारदर्शी या कर्पूर गौर एक ही बात है। ऐसे भगवान् शंकर नीलग्रीव हैं, ऐसे शुद्ध ज्ञान रूप के ऊपर अज्ञान की छाया लगी हुई है। अज्ञान का थोड़ा सा टीका लगा हुआ है। अत्यन्त गोरे रंग के बच्चों पर माता यह समझ कर कि कहीं नज़र न लग जाये सिर के एक कोने में अथवा हथेली में या पैरों के तले में काला दाग लगा देती है कि नज़र न लगे। इसी प्रकार उस शुद्ध चिन्मात्र परब्रह्म परमात्मा के ऊपर कहीं साधारण लोगों

की नज़र न लग जाये, इसीलिये थोड़े से अज्ञान की बिन्दी गले पर लगा दी है। इस अज्ञान की विन्दी का निरंतर अनुभव होता है। निरंतर अपने को लगता है कि यह चीज मैं नहीं जानता। न वेद्मि यह अनुभव है। अव विचार करो कि नहीं जानता ज्ञान हैं या अज्ञान है। नहीं जानना भी तो एक जानना ही है। नहीं जानता इस वात को जान रहा हूँ या नहीं ? जानते हुए कह रहे हो नहीं जानता, यही न जानना रूपी अज्ञान के कलंक का टीका है। यही नीलग्रीव है। लेकिन यह विन्दी इतनी जवर लगी है कि वार वार समझाने पर भी मनुष्य समझ नहीं पाता। शिव के कण्ठ पर काला टीका लगा हुआ है, इस वात को समझने पर भी कि यह टीका लगा हुआ हैं, समझ में नहीं आता कि यह टीका उसी पर है। इसीलिये वार वार दृष्टि वहीं जाती है। यह मनुष्य का स्वभाव है।

सुन्दर चीज में थोड़ी सी भी असुन्दरता होती है तो वह मनुष्य की नज़र को वार वार खींचती है। नज़र न लगने के पीछे भी सिद्धान्त यही है कि वह नज़र न लगाने के लिये जो टीका लगा दिया उसकी तरफ नज़र जायेगी तो सुन्दरता पर नज़र नहीं लगेगी। आजकल जहाँ विजली लगाते हैं, वहाँ पहले दो तार लगाते थे, अव तीन तार लगाते हैं। पुराने जमाने में जो प्लग आता था उसमें दो ही तार लगाये जा सकते थे। वह भगवान् विष्णु की तरह और अव भगवान् शंकर की तरह त्रिनेत्र होते हैं। वह तीसरा नेत्र किसलिये ? विजली तव भी वैसी ही आती थी, एक तार से आती थी, दूसरे तार से जाती थी। आज भी विजली एक तार से आकर दूसरे तार से जाती है, फिर तीसरा तार किसलिये है ? यदि कभी विजली में कोई खरावी आ जाये, क्षरण हो जाये, तो वह जो तीसरा तार है वह धरती में घुसा हुआ है ताकि विजली की तेजी उस तार के द्वारा जमीन में चली जाये, हमको झटका न लगे। बस यही उस तीसरे तार का प्रयोजन है। उसमें कोई विजली

ज्यादा आती जाती हो, ऐसी वात नहीं है। विजली तो वैसी की वैसी है लेकिन यदि किसी समय कोई तार खुला हो जाये तो वह झटका अपने ऊपर न आकर धरती में चला जाये। वह तार उसे धरती में ले जाता है। बहुत वार तो धरती में न ले जाकर पानी के पाइप में भी वांध देते हैं क्योंकि पानी का पाइप तो आगे धरती में गया हुआ ही है। जो भी हो, तीसरा तार जिस प्रकार से विजली को झटका देने से रोकने के लिये है उसी प्रकार यहाँ पर भी जव हम किसी के टीका लगाते हैं तो तात्पर्य यह है कि जो दृष्टि का दोप सुन्दरता पर जाता वह सुन्दरता पर न जाकर, काली विन्दी पर जायेगा, व जो कुछ दोष होगा, वह उस विन्दी में चला जायेगा, व्यक्ति को वचा लेगा। सिद्धान्त उसके पीछे यही है। नियम यह हुआ कि अति सुन्दर चीज में कहीं थोड़ी सी भी असुन्दर चीज आयेगी तो वह मनुष्य को वार वार खींचेगी कि इतने सुन्दर में यह असुन्दर कैसे। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्म तत्त्व के ऊपर जो छोटा सा अज्ञान का टीका लगा तो जीव वार वार उस अज्ञान के टीके को देखता है और वाकी सारे स्वरूप से उसका चित्त हट जाता है। यही कारण है कि हमको वह अज्ञान तो वहुत वड़ा लगता है और ज्ञान रातदिन हमारे साथ रहने पर भी लगता है मानो है ही नहीं। रातदिन ज्ञान का ही अनुभव है। जब यह अनुभव होता है कि मैं अज्ञानी हूँ तो यह भी एक ज्ञान ही है। रात दिन अज्ञान का अनुभव होने पर भी अज्ञानी हूँ के अनुभव में अज्ञान का टीका इतना प्रवल हो गया है कि आदमी इसी को दोहराता रहता है। रात दिन होने वाले उस निर्मल ज्ञान को भूल जाता है। केवल भूल ही नहीं जाता। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर लिखते हैं 'प्रज्ञावानपि पण्डितोपि कहते हैं केवल यह नहीं कि अज्ञान को देखते हुए वह ज्ञान को ढक गया वरन् वहुत प्रकार से घुमा फिराकर समझाकर सम्वोधित करते हैं, ज्ञान करवाते हैं, फिर भी कहता है कि साफ नहीं दीख रहा है। यह विचित्र अनुभव है। रात दिन वह चीज दीख रही है, रातदिन

कह रहा है कि मैं वड़े को जानता हूँ, मैं कपड़े को जानता हूँ, मैं रसगुल्ले को जानता हूँ। रात दिन कह रहा है मैं जानता हूँ, जव हम उससे कहते हैं कि भई तुम्हारा स्वरूप जानना है तः कहता है वस यही नहीं जानता हूँ, यही वात समझ में नहीं आती है। जव कह रहा है नहीं समझ में आ रहा है तव भी जव उससे कहते हैं कि नहीं समझ में आ रहा है, यह तो समझ में आ गया। इसीलिये समझना तुम्हारा स्वभाव हुआ या नहीं। इतनी सरल वात होने पर भी 'संवोधितं हि स्फुटं न भवति' कहता है इसमें कहीं कोई भेद छिपाकर रखा है जवकि भेद है कुछ नहीं, सीधी सी वात है। लेकिन मनुष्य इसको वड़ा भारी भेद समझता है और भेदवादी मनुष्य उसे कह भी देते हैं कि इसमें कोई गुत्थी है जो छिपाकर रखी है। नियम यह है कि यदि किसी चीज का तुम्हें ध्यान दिलाया जाये और तुम्हारे मन में उस चीज के प्रति वहुत वड़ा कोई संस्कार पड़ा हुआ हो, तो तुमको आग्रह होता है कि यह चीज ऐसी नहीं है। उस आग्रह के कारण ही उसको समझने पर भी न समझने का मन में आग्रह वना रहता है। कोई आदमी पेट की वीमारी कई साल से भुगत रहा हो, कलकत्ते के वड़े से वड़े डाक्टर को दिखा दिया, सात सौ रुपये फीस वाले वम्वई के डाक्टर को दिखा दिया, एक वार लंदन चक्कर लगाकर भी आ गया लेकिन पेट का रोग ठीक नहीं होता। उसकी सारी वात सुनकर उससे कहते हैं कि अव ऐसा कर कि हरड़ को लेकर घिसकर काँसे की कटोरी में शहद की बूद डालकर गरम करके दिन में दो वार ले लिया कर तो वह हँसता है। कहता है हरड़ से क्या होना है, शहद से क्या होना है ? मैं तो विलायत के डाक्टर को दिखा चुका हूँ, फिर इस दवाई से कभी फायदा हो सकता है, यह उसे नहीं जंचता अतः वह नहीं लेता। अव हरड़ को घिसकर शहद मिलाकर काँसे में गरम करके उसे किसी हरे पीले या नीले रंग के कैप्सूल में भर दिया (लेकिन यह दवाई अपने पैक कहाँ करने जायें, उसके लिये तो मशीनें होती हैं!) अव उसे देकर

कहा कि यह दवाई किसी मंत्री के लिये खासकर रूस से आई है, उसमें से चोरी करके तुम्हारे को दे रहा हूँ लेकर देखो शायद फायदा हो जाये। तीन दिन बाद कहता है कि बहुत फायदा है, दवाई का नाम बताओ मेरे भी कुछ परिचित लोग रूस में हैं, मैं मँगा लूंगा चाहे हजार रुपया लगे। उसे दवाई का क्या नाम बताया जाये। यदि उसे बता देंगे तो कहेगा कि आप तो हमें बहका रहे हैं। यह दवाई कोई फायदा करेगी, जरूर कोई बड़ी दवाई होगी।

ठीक इसी प्रकार जब किसी को कहते हैं कि जो तुम्हारा चेतन स्वरूप है 'जानना' बस यही है और कुछ नहीं है। उसको जँचता नहीं है। कहता है इसके अन्दर जरूर कोई भेद रखा है। यह कैसे हो सकता है क्योंकि यह तो हम सब जानते हैं। जैसे वहाँ दवा का लम्बा किस्सा बनाया गया, वैसे ही यहाँ पर वेदांत में भी कहते हैं 'अध्यारोपापवादाभ्यां निष्प्रपंचं प्रपंच्यते'। है वह निष्प्रपंच, कुछ नहीं, सीधी सी चीज है। लेकिन सीधी कहने से किसी को जंचती नहीं इसलिये अध्यारोप करते हैं कि अभी पहले तपस्या कर, यज्ञ कर, दान कर, सद् असद् का विवेक कर, धीरे-धीरे पदार्थों के प्रति राग को हटा, मन का नियंत्रण कर, कुण्डलिनी योग से समाधि का अभ्यास कर अर्थात् बहुत लम्बा चौड़ा मामला कर। पंचकोश, पंचतत्त्व का विवेक कर, तीन अवस्थाओं का विचार कर। तप यज्ञ करके उसमें शरीर भी लगा दिया, परिश्रम कर लिया, दान आदि के द्वारा धन से उसका मोह कम हो गया, शम दम आदि के द्वारा अंतःकरण शांत हो गया, उपासना के द्वारा चित्त की एकाग्रता हो गई। यह सब करने के बाद अब वह समझता है कि हाँ अब हमने खूब काम कर लिया। उसको कहते हैं अब तेरे को बताते हैं 'तत्त्वमसि' अर्थात् यह सब करने वाला जो है, उसको शक्ति देने वाला तू ही ब्रह्म है। अब उसको दृढ़ विश्वास होता है कि इतना प्रयत्न करने के बाद सुनाया है तो असली माल है। पहले भी जब कहते हैं तो बात वही है लेकिन उसे जंचती नहीं कि इतनी सरल

कैसे हो सकती है। इसलिये भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि उसको प्रज्ञा भी है, पंडित अर्थात् शास्त्र भी पढ़ा हुआ है जब उसको बताते हैं तू चिन्मात्र स्वरूप है, ऐसा शास्त्र में कहा है तो कहता है कि इसमें कहीं कोई गुरुग्रन्थि वेद ने जरूर लगाई होगी, जरूर इसमें कोई रहस्य होगा। और रहस्य कुछ भी नहीं है, सीधी सादी बात है। सीधी सादी बात ही रहस्य हो जाती है। चतुर भी है बुद्धिमान और अत्यंत सूक्ष्म विषय को समझने वाला भी है, लेकिन यह एक ऐसी महद् अद्भुत चीज है कि बार बार समझाने पर भी 'नवेद्मि' यह इस अज्ञान की महिमा है। यद्यपि यह परब्रह्म परमात्म तत्त्व के किंचित् एक देश में है, लेकिन फिर भी वही आकर्षण का विषय बन रहा है। हम जो जानते हैं उससे न जानने की तरफ ही मन बार बार जाता है। जो जानते हैं उसकी तरफ मन नहीं जाता जा रहा है। जैसा बताया कि न जानना भी जानना है, लेकिन यहाँ तो जान रहा हूँ, उसकी तरफ़ भी मन नहीं जा रहा। जो नहीं जान रहा है उसी को रटते रहते हैं। जैसे व्यापारी होता है, जो धन उसने कमा लिया, उसको वह याद नहीं रखता। पूछें तुमने जब व्यापार शुरू किया तो तुम्हारे पास कितने रुपये थे ? कहता है– पचास हजार। अब कितने हैं ? पचास लाख। व्यापार कैसा है आजकल बड़ा ढीला चल रहा है। अरे तो पचास लाख तो कमा लिये न। लेकिन वह उसको नहीं देखेगा। वह देखेगा कि मेरे साथ दूसरे ने काम करना शुरू किया था तो उसके पास एक करोड़ हो गये। जो पचास लाख कम कमाये हैं, वह देखता रहता है। जो पचास लाख कमा लिये, उसको याद नहीं रखता। ठीक इसी प्रकार से जो पंडित होता है उसने कौन-कौन सी विद्यायें पढ़ लीं, वह उसका याद नहीं रखता है। जो जो नहीं पढ़ पाया है उसी को याद रखता है। एक बार एक बहुत बड़े विद्वान महात्मा थे। हमने अपने एक ब्रह्मचारी को उनके पास एक किताब को पढ़ने के लिये भेजा था। वह कहने लगा कि जैसे ही मैं किताब लेकर वहाँ पहुँचा, ॐ नमो नारायणाय किया नहीं किया, झट कहते हैं कि बगल

में क्या किताब है ? मैं कहूँ कि मुझे आपके पास भेजा है, उससे पहले ही मेरी बगल से वह किताब उन्होंने छीन ली। आगे कुछ पूछा ही नहीं कि क्यों आये हो, क्या हो क्या नहीं हो। किताब खोलकर बाँचने लग गये। हमने कोई नई पुस्तक नहीं भेजी थी, फिर भी हर पुस्तक में कुछ न कुछ नया विचार तो होता ही है। लेकिन जो विद्वान होता है, उसकी दृष्टि खट इस तरफ जाती है कि यह नई किताब तो मैंने अभी देखी नहीं, जरा देख लूँ कि इसमें नई बात क्या है। जैसे विद्वान हमेशा याद रखता है कि मैंने क्या नहीं पढ़ा, धनवान् हमेशा याद रखता है कि मैंने क्या नहीं कमाया। इसी प्रकार प्रत्येक प्राणी नहीं जानता हूँ को याद रखता है, जानता हूँ को भूल जाता है, उसी अज्ञान की तरफ बार बार उसकी दृष्टि जाती है।

एक बार एक आदमी ने लक्ष्मी प्राप्ति के लिये बड़ी तपस्या की। लम्बे समय तक तपस्या करने से भगवती लक्ष्मी प्रसन्न हो गईं और उसके सामने पूरे वैभव और सौन्दर्य के साथ प्रकट हो गईं। लक्ष्मी का सौन्दर्य अनुपम सौन्दर्य है। इसीलिये कई जगह तो कथा ही यह आती है कि भगवती पार्वती बराबर शंकर जी को यह कह कर छेड़ा करती हैं कि बड़े बनते हो कि तुमने लोक कल्याण के लिये जहर पी लिया। किसी दूसरे को बुद्धू बनाना। लक्ष्मी ने तुमको वरण नहीं किया, इसी दुःख में आकर जहर पी लिया। तुम तो यह चाहते थे कि लक्ष्मी मेरा वरण कर ले। लक्ष्मी का अनुपम सौन्दर्य जब उस आदमी के सामने प्रकट हुआ तो उसने जो पैर से देखना शुरू किया तो सर्वथा कलंक रहित सौन्दर्य था, देखता ही रह गया। आँखें फटी की फटी रह गईं। सारे अंगों को जब ध्यान से देखा तो केवल यह पाया कि उनके पैर के अँगूठे के पास थोड़ा सा कुछ गट्टा सा पड़ा हुआ है। फिर दो तीन बार ऊपर से नीचे देखा। भगवती ने कहा -- निरन्तर क्या देख रहा है, वर माँग ले जो तेरे को माँगना हो। कहने लगा — आपके अनुपम सौन्दर्यमय तनु के अन्दर पैर के पीछे गट्टा कैसे पड़ गया, यह बताओ। भगवती ने कहा—इससे तेरे को क्या मतलब

तेरे को जो चाहिये सो माँग ले। कहता है कि अब तो यही बताओ कि यह कैसे पड़ गया। लक्ष्मी जी ने कहा फिर और वरदान नहीं मिलेगा यही मिलेगा। बोला—अच्छा यही दे दो। उन्होंने कहा—तेरे जैसे दरिद्री लोग बार बार मेरे पैर पर सिर घिसते रहते हैं, उनके घिसने से यह गट्टा पड़ गया है। यह कहने के साथ ही भगवती तो वहाँ से चली गईं। अब उसको होश आया कि अरे, इतनी तपस्या करके अपना कुछ काम तो बना ही नहीं। बेचारा फिर तपस्या में लगा और दीर्घ काल बाद तपस्या सफल हुई। फिर भगवती ने आकर कहा—वर माँग ले। भगवती का तो खेल है। अब वह फिर उस सौन्दर्य को जो देखने लगा तो देखता है कि बाकी तो सब पूर्ण सुन्दरता है लेकिन सिर के ऊपर एक जगह एक छोटा सा गट्टा पड़ा हुआ है। फिर ध्यान से देखा। कहने लगा—माता! यह आपके सिर पर गट्टा कैसे पड़ा हुआ है? कहा—जाने दे। लेकिन उसने कहा—नहीं, यही बताओ। भगवती ने कहा कि जो वीतरागी महापुरुष होते हैं उनके पैरों पर सिर रखकर मैं कहती हूँ कि कुछ ले लो और वे कहते हैं आवश्यकता नहीं है। उनकी खुशामद करते करते कि मैं उनके काम आऊँ तो धन्य हो जाऊँ, उनके पैर पर सिर घिसते घिसते, मेरे सिर में यह गट्टा पड़ गया है क्योंकि जो धन वीतराग पुरुषों के द्वारा सदुपयोग में नहीं आया तो वह लक्ष्मी भी अधन्य रह जाती है, धन्य नहीं होती। उस बेचारे का काम तो हो गया। उसके मन में भी वैराग्य जग गया, ब्राह्मण था ही। कुछ कामना उत्पन्न हो गई थी, इसीलिये सब किया। जब भगवती से यह बात सुनी तो उसके हृदय में आया कि मैं किसलिये उत्पन्न हुआ और किस रास्ते में चला गया। 'ब्राह्मणस्य तु देहोयंछुद्रकामाय: नेष्यते'। ब्राह्मण का देह मनुष्य को इसलिये नहीं मिलता कि धन, भोग इत्यादि प्राप्त करे। वह तो केवल परमात्म प्राप्ति के लिये ही मिलता है। उत्पन्न होने वाले और नष्ट होने वाले पदार्थों को प्राप्त करने के लिये और बहुत सी योनियाँ हैं। 'क्षुद्र कामाय नेष्यते'

भगवान मनु का वचन है । उसके मन में वैराग्य का उदय हुआ, परमात्मा के भजन में लग गया और उसने मुक्ति प्राप्त कर ली जो वास्तविक कर्त्तव्य है । भगवती ने उसको इस रास्ते लगाने के लिये ही यह किया । क्योंकि नियम यह है कि धन आदि की प्राप्ति तो जैसा-जैसा मनुष्य का प्रारब्ध कर्म होता है तदनुकूल हुआ करती है। लेकिन परमेश्वर की उपासना चाहे धन की दृष्टि से भी करें लेकिन परमात्मा किसी न किसी तरह से तुमको कल्याण में ही लगायेगा यह निश्चित है । भगवती ने इन दो चीजों के द्वारा दोनों बार प्रकट होकर उसमें वैराग्य की याद दिलाई और आत्मज्ञान को प्राप्ति करवा दी । 'काम्येपि शुद्धिरस्त्येव' भगवान् सुरेश्वराचार्य कहते हैं काम्य कर्मों से भी अंतःकरण में शुद्धि आ जाती है क्योंकि भगवान् कुछ न कुछ ऐसा बानक बना देते हैं कि मनुष्य में वैराग्य का उदय होकर वह भगवान् की तरफ लग जाये, यही उनका प्रधान उद्देश्य है । यहाँ तो यह बता रहे थे कि जिस प्रकार भगवती के परम अनुपम लावण्यमय विग्रह के अन्दर उसने उस लावण्यता में अपना ध्यान या सिर के गट्टे पर या पैर के गट्टे पर लगाया । अति सौन्दर्य वाली चीज के अन्दर जो असुन्दरता होती है, वह आकृष्ट कर लेती है और उस आकर्षण के द्वारा जो लाभ उठाना चाहिए, वह नहीं उठा पाता है ।

इसीलिये यहाँ पर श्रुति कहती है 'असौ यो वसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः' भगवान की ग्रीवा के ऊपर नीला दाग है। भगवान भाष्यकार कहते हैं 'व्याली ढस्तमसा न वेत्ति बहुधा सवेदितोपि स्फुटम्' उसने मानो उनका पूरा ही शरीर चाट लिया है । यद्यपि वह है तो छोटा सा लेकिन उसने मानो सारे अंगों को चाट लिया है। इसलिये अज्ञान की तरफ ही दृष्टि एकाग्र हो जाती है । इसीलिये बार बार बहुत प्रकार से समझाने पर भी वह उसको स्पष्ट नहीं होता है । इतना ही नहीं, अपने भ्रम से वह बार बार आरोपित कर रहा है अथवा उस भ्रान्ति के द्वारा जो आरोपण किया गया है, उसी को ठीक मानता है । जैसे अभी बताया कि उस निष्प्रपंच ब्रह्म

को बताने के लिये प्रपंच आरोपित किया गया, यह समझाने के लिये सब किया गया। वही दवाई वाला दृष्टांत याद रखना। भ्रांति से आरोपित हुआ कि यह दवाई मंत्री के लिये रूस से आई है। उस बात को तो वह ठीक मानता है और जब उसको कहते हैं कि यह कुछ नहीं, हमने ही हरड़ और शहद कांसे की कटोरी में गरम करके इस कैप्सूल में भर दिया है, तब वह कहता है इसका नाम बताओ, मैं रूस से मँगाऊँगा। इसी प्रकार समझाने के लिये, जगत् की अवस्था को समझाने के लिये, जो चीज बता देते हैं, भ्रांति से आरोपित करते हैं, वह बस उसी को सच्चा मानता है और उसके ही गुणों का सहारा पकड़ता हैं। समझाने के लिये जो प्रपंच रचा गया, उसको तो सच्चा मानता है और जो हम कहते हैं कि यह सच्ची बात है, उसको कहता है कि हमको बरगलाने के लिये ऐसा कह रहे हैं। बार बार उन गुणों को सोचता है। जितना भी इसको यज्ञ दान आदि का फल बताते हैं उन सारी चीजों को तो वह सच्ची मानता है और तू इन सबसे रहित नित्य मुक्त स्वभाव है, सच्ची बात यंह है तो कहता है कि यह फालतू की बात है। यह मनुष्य का कुछ स्वभाव होता है। उसी शास्त्र में लिखा हुआ है कि गंगा स्नान करने से सात जन्म के पाप नष्ट होते हैं और उसी ग्रंथ में यह भी लिखा हुआ है कि ब्रह्म हत्या महा पाप है। दोनों बातें एक ही ग्रन्थ में लिखी हुई हैं। लेकिन ब्रह्महत्या महा पाप है यह बात तो उसे जँच जाती है कि अपने से बहुत बड़ा पाप हो गया। उससे कहें कि गंगा में गोता लगा ले तो कहता है कि गंगा में गोता लगाने से इतना बड़ा पाप थोड़े ही धुल जायेगा। उससे कहते हैं कि उसी शास्त्र में यह भी तो कहा है कि गंगा में स्नान करने से सात जन्म के पाप नष्ट हो जायेंगे तो कहता है कि यह थोड़े ही होता होगा, ऐसे थोड़े ही पाप धुलते होंगे यह उसे नहीं जँचता। यदि शास्त्र का वह वचन प्रमाण है तो उसी शास्त्र में यह भी तो लिखा हुआ है। इसी प्रकार सब चीजों में समझ लेना। भ्रांति से समझाने के लिये आरोपित किये हुए तप, यज्ञ, दान इत्यादि पर तो उसका विश्वास बैठता है

और जब उससे कहते हैं कि वस्तुतः तू तो चिन्मात्र अधिष्ठान तत्त्व है, यह नहीं बैठता। आरोपित के गुणों को पकड़े रहता है, उसको नहीं छोड़ना चाहता, उन्हीं को सच्चा समझता है। अंत में भगवान् भाष्यकार अत्यंत दुःख प्रकट करते हैं 'हंतासौ प्रबला' अर्थात् अत्यत घोर दुःख का विषय है, इस प्रकार प्राणियों को व्यर्थ में कष्ट पाते देखकर मन में बड़ी करुणा का उद्वेग होता है, कि ये इतनी सरल सी चीज नहीं पकड़ पा रहे हैं। उस दुःख के कारण कहते हैं 'असौ प्रबला शक्तिः' बस यही कहना पड़ता है कि अज्ञान की जो अपनी तरफ आकर्षण करने की शक्ति है, काली बिन्दी जो नज़र को खींचने की शक्ति रखती है, वह बड़ी प्रबल शक्ति है कि सारे शरीर की सुन्दरता को न देखकर उस काली बिन्दी पर ही नज़र जाती है, गड्ढे पर ही नज़र जाती है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्म तत्त्व कण कण और क्षण में ज्ञान रूप से प्रकाशित हो रहा है, उसको देखते हुए भी उसकी तरफ ध्यान नहीं देना चाहते और जो छोटे से अज्ञान का कार्य है, उसी का विचार करते रहते हैं। कहते हैं 'दुरंततमसः' उस तमोगुण का माया का जोरदार व्यवहार है, आवरण करने की यह शक्ति बड़ी प्रबल है। यहाँ परमेश्वर को नीलग्रीव यह बताने के लिये कहा कि यद्यपि वह ज्ञानमय, व्यापक शुद्ध चिन्मात्र है, उसके एक अत्यंत छोटे देश में कण्ठ देश में जो थोड़े से नीलवर्ण अज्ञान का स्पर्श है वह हमारे आकर्षण का विषय हो जाता है और इसीलिये हम उसके विलोहित रूप का दर्शन नहीं कर पाते क्योंकि नीलकण्ठ हैं। वह नील रूप सगुण साकार रूप जगत् रूप से दीख रहा है, उस जगत् रूप को देखते हुए जो उसका सगुण निराकार और निर्गुण निराकार रूप देखना चाहिये, उसकी तरफ ध्यान ही नहीं जाता है। अब यह ध्यान उस तरफ कैसे ले जाया जाय, इस पर आगे विचार करेंगे।

१९-३-७५

परब्रह्म परमात्मा की नीलग्रीवता और विलोहितता को वताते हुए यह मंत्र उनको सर्वप्राणी सुलभ बता रहा है। इसको ग्वाले और पनिहारिनें भी जान सकती हैं। 'उतैनं गोपा अदृशन् उदहार्यः अदृशन् सामान्य ग्वाले और सामान्य पनिहारिनें उस परमात्मा को सरलता से जान लेती हैं। यदि उसके स्वरूप को समझ लो तो 'स दृष्टः मृडयाति नः' तुम्हारे समग्र दुःखों की निवृत्ति होकर परम आनंद की प्राप्ति हो जाती है। अव उसकी प्राप्ति न होने में ही नीलकण्ठता का यहाँ प्रतिपादन है, यह हेतुगर्भता है। कल वताया था कि किस प्रकार से अज्ञान का दाग कण्ठ के ऊपर लगा हुआ हमारे सारे आकर्षण को खींच लेता है। इसीलिये जो पूरा दिव्य विग्रह स्फटिक की तरह प्रकाशमय है, उसको हम पकड़ नहीं पाते और छोटे से अज्ञान को पकड़े रहते हैं। अव विचार करना कि वह जो छोंटा सा काला दाग भगवान् शंकर के कण्ठ पर है क्या वह दाग उनके गौर वर्ण के ऊपर नहीं है? अर्थात् वह काला दाग भी उनके गोरे रंग पर ही आश्रित है, उसी के सहारे है। इतना ही नहीं वह काला दाग दीख भी इसलिये रहा है कि वहाँ गौर वर्ण है। दक्षिण में रामेश्वर में रहने वाले, कढ़ाई के पिछले भाग जैसे, किसी दाक्षिणात्य पुरुष को यदि काजल की टीकी लगा दो तो दिखाई नहीं देगी, रंग में रंग मिल जायेगा उसी प्रकार से यह अज्ञान यदि अज्ञान के ऊपर होता तो कभी इसका ज्ञान ही न होता। अज्ञान का ज्ञान हो रहा है, इसीलिये तो वह अज्ञान है। क्या कोई ईंट पत्थर भी जानता है कि मैं अज्ञानरूप हूँ? ईंट पत्थर क्या अपने को अज्ञान का आश्रय समझता है। यद्यपि वह अज्ञान रूप है लेकिन अज्ञानी नहीं है। वहाँ ज्ञान नहीं है इसीलिये ईंट पत्थर की समस्या भी अज्ञान विषयक नहीं है। हम ज्ञान रूप हैं और इस बात को जानते हैं कि हमारे ऊपर अज्ञान का तिलक है। अर्थात् मैं अज्ञानी हूँ, इस बात को हम जानते हैं। इसीलिये तो अज्ञान को दूर करने का

प्रयत्न करते हैं। ईंट पत्थर इत्यादि जड़ पदार्थ अज्ञानरूप हैं और अज्ञानमय हैं, इसलिये वहाँ पर अज्ञानरूपता का भान भी नहीं। हमारे ऊपर अज्ञान का दाग अवश्य है लेकिन हम अज्ञानमय नहीं हैं। हम इस अज्ञान रूप का ज्ञान रखते हैं अर्थात् ज्ञान के ऊपर ही यह अज्ञान का टीका है।

अब प्रश्न होता है कि यह अज्ञान आया कहाँ से? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर बड़ा सुन्दर दृष्टांत देते हैं। कहते हैं 'भानुप्रभासंजनिताभ्रपंक्तिर्भानुं तिरोधाय विजृम्भते यथा।' यहाँ 'भ' का जो साहित्यिक प्रयोग है, वह बड़ा सुन्दर है। एक ही पंक्ति में कई भाव पड़े हैं। भानु सूर्य को कहते हैं, सूर्य की प्रभा अर्थात् गर्मी से अभ्रपंक्ति उत्पन्न हुई। बादलों की कतार सूर्य की गर्मी से ही बनती है। सूर्य की गर्मी जब समुद्र के वक्षस्थल पर पड़ती है तो समुद्र के वक्षस्थल को उद्वेलित करके भाप बनकर ऊपर उठती है, वही बादल है। इसीलिये बादल को बनाने वाली चीज सूर्य की प्रभा है, सूर्य ही समझो। सूर्य की ही रोशनी से सूर्य ही बादल को बनाने वाला है। लोक में भी इसीलिये कहते हैं कि इस साल गर्मी खूब पड़ रही है तो पानी भी खूब बरसेगा। यदि जेठ तपता नहीं है और जेठ के बीच में बरसात आ जाये, ओले पड़ जायें तो पता लग जाता है कि अब की श्रावण सूखा जायेगा। जितनी गर्मी तेज होगी, उतनी ही आगे बरसात भी आयेगी। महानगरी कलकत्ते में तो दो घण्टा चार घण्टा में ही पता लग जाता है क्योंकि समुद्र पास है। अब सूर्य से ही बना हुआ बादल सूर्य को ही ढाँक देता है तिरोहित कर देता है। सूर्य को ढककर बड़े आनन्द से घूमता रहता है। इसी प्रकार से 'आत्मोदिताहंकृतिरात्मतत्वं तथा तिरोधाय विजृम्भते स्वयम्।' उस परमात्मा से ही उत्पन्न हुआ यह अहंकार है। जैसे सूर्य से उत्पन्न हुआ बादल वैसे ही आत्मा अर्थात् चैतन्य से ही तो अहंकार उत्पन्न हुआ। माया रूपी समुद्र पर जब तक आत्म-चैतन्य का प्रकाश नहीं पड़ता तब तक अहं पैदा नहीं होता। बाकी सब काम तो केवल माया से चल जाता है। पंचमहाभूत

माया बना लेगी। पंचमहाभूतों के सत्त्वांश से अंतःकरण, मन, बुद्धि, भी बना लेगी। लेकिन ये सारे के सारें तब तक जड़े पड़े रहेंगे जब तक चेतन इनके अन्दर अहंकार रूप से प्रविष्ट न हो जाये। ऐतरेयोपनिषद् में स्पष्ट बताया कि परमेश्वर ने जब सृष्टि करना प्रारंभ किया तो अनेक प्रकार के शरीरों का निर्माण किया। 'तेभ्यो गामानयत् अश्वमानयत्' गौ लेकर आये, घोड़ा लेकर आये। अनेक प्रकार के प्राणियों का निर्माण करके देवताओं से कहा कि इनमें बैठ जाओ। लेकिन हर वार देवता कहने लगे 'नायमस्माक मलं' पसन्द नहीं आया। आज का प्राणिविकासवाद का वैज्ञानिक सिद्धांत भी यही कहता है कि धीरे-धीरे प्राणियों का विकास हुआ। अंत में जब मनुष्य शरीर का निर्माण हुआ, तब देवताओं ने कहा 'अलमिति' यह बड़ा सुन्दर है। इसमें हम बंठ जायेंगे। देवता लोग बैठ गये, लेकिन सब देवताओं के बैठने पर भी यह मुर्दे की तरह पड़ा ही रहा। परमेश्वर ने विचार किया गजव हो गया, इनको पसंद भी आ गया, ये इसमें बैठ भी गये लेकिन यह तो फिर ईंट पत्थर की तरह ही पड़ा हुआ है। तब सोचा 'कथन्नुमहते स्यात्' अरे मैं अभी इसमें नहीं घुसा। बाकी सब देवता बैठ जायें लेकिन यह आत्मदेव यदि मैं रूप से इसमें नहीं आया तो फिर यह जड़ का जड़ रह जाता है। अब परमेश्वर ने इसमें मैं रूप से प्रवेश किया। 'अनेन जीवेनात्मना प्रविश्य' जीवात्मा अर्थात् मैं रूप धारण करके इसमें परमेश्वर आया। माया रूपी समुद्र का ही यह सारा संसार विकास है। इस माया के ही अत्यंत सूक्ष्म सत्त्वांश को लेकर चेतन के प्रकाश से प्रकाशित कर दिया। गरम कर दिया, वह बादल बन गया, उसी का नाम अहं है। आत्मा की गर्मी अर्थात् आत्मा के प्रकाश से उत्पन्न हुआ यह अहंकार क्या करता है? परमात्म तत्त्व को ही ढांक देता है। जैसे बादल सूर्य से पैदा होकर सूर्य को ढाँकता है, उसी प्रकार से यह अहंकार परमात्मा से उत्पन्न होकर उस परमात्मा को ही ढाँकता है। रातदिन हमको लगता है कि मैं चलता हूँ, मैं खाता हूँ, मैं बैठता हूँ मैं सुनता हूँ,

मैं पढ़ता हूँ, मैं सूंघता हूँ लेकिन ये सब करने वाला वस्तुतः कौन है ? वस्तुतः तो आत्म तत्त्व है लेकिन इस मैंने उस आत्म तत्त्व को ऐसा ढांक रखा है कि मनुष्य मैं को तो जानता है लेकिन इस मैं के कारण ही उस परमात्मा को नहीं जानता। यह जो अहं है, यही उस परमात्मा को ढाँके हुए है। इस प्रकार इस आत्म तत्त्व को ढाँक करके मैं चारों तरफ फैला हुआ है। नरसी मेहता इसीलिये कहते हैं 'हुं करूँ हुं करूँ एज अज्ञान छे' यह मैं मैं ही तो अज्ञान है। और अज्ञान क्या चीज है। इस मैं के कारण शिव ढका हुआ है।

जहाँ मैं पैदा हुआ वहाँ फिर मैं मेरे को पैदा करता है। मेरे भाव का नाम ही विक्षेप शक्ति है। 'अभावना वा विपरीतभावना संभावना विप्रत्तिपत्तिरस्याः। 'संसर्गयुक्तं नावेमुञ्चति ध्रुवं विक्षेपशक्तिः क्षपयत्यजस्रम्।' भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर कहते हैं कि जव मेरे की भावना आई तो असंभावना उपस्थिति हो गई। असंभावना है कि मेरे रहते हुए परमेश्वर क्या करता है, असम्भव है, कुछ नहीं कर सकता। यह मैंपना केवल तथाकथित अज्ञानी में नहीं, जो मैं को भक्त, कर्मी उपासक समझता है, उसमें भी परमेश्वर क्या कर सकता है, असंभव है, मेरे बिना वह क्या करेगा, यह असम्भावना की भावना रहती है। भगवान् भी गीता में कहते हैं 'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत। तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतं ॥ १८-६२ ॥' 'तं परमात्मानं एव शरणं गच्छ' उस परमात्मा की ही शरण में जा। उसकी कृपा से परम शांति को प्राप्त कर लेगा, अमर हो जायेगा। यह साक्षात् श्रीकृष्ण कह रहे हैं और सव इसको दोहराते हैं 'हे भगवन्, तुम्हारी शरण ही मेरा सहारा है' लेकिन दोहराने पर भी आदमी अगला प्रश्न पूछता है कि क्या सचमुच परमात्मा की कृपा से हों जायेगा। या हमको भी कुछ करना पड़ेगा। कहने को कह देगा लेकिन दिल कहता है कि जब तक मैं कुछ नहीं करूँगा तब तक वह कृपा नहीं करेगा। यही 'हुं करूँ हुं करूँ एज अज्ञान छे' है। मैं से यह कर्तृत्व भावना हटती नहीं, घूम फिरकर फिर आ जाती है। कई बार विपरीत भावना भी हो जाती है

कि परमेश्वर तो सबके प्रति एक जैसा ही होगा, इसलिये मैं करूँगा तभी ज्ञान उत्पन्न होगा, तभी भक्ति होगी, मेरे किये बिना कुछ नहीं होगा। असम्भावना का मतलब है कि यह सम्भव नहीं कि भगवान् ही सब कुछ कर ले। विपरीत भावना का मतलब है कि भगवान् नहीं ही कर सकते, कैसे कर सकते हैं। इतना ही नहीं, अभावना भी आ जाती है कि अपने अपने कर्म का फल मिलता है। परमेश्वर की प्रार्थना व्यर्थ है, बेकार है। ध्यान भजन से क्या होना है, कर्म करो और फल पाओ। इस प्रकार से तमाम उल्टे ज्ञानों को पैदा कर देता है। चाहे जितना समझाओ यह जो अपनी अहंता है, इसे छोड़ता ही नहीं। जितना कहो कि ढीला छोड़ो, नहीं छोड़ता है। जैसे जब डाक्टर सूचीवेद्य (injection) करता है तो इसका नियम है कि तुम अपने हाथ को बिल्कुल शिथिल कर दो, तुम्हारी मांसपेशियाँ शिथिल होंगी तो सूचीवेद्य में दर्द नहीं होगा, आसानी से लग जायेगा। चिकित्सक कितना ही कहे कि ढीला छोड़ो लेकिन आदमी हमेशा अपनी नसों को और कड़ा कर देता है और जितना कड़ा करेगा, उतना दर्द ज्यादा होगा। जीवन में अनेक कार्य ऐसे हैं जिन्हें यदि ढीला छोड़ दो तो आसानी से काम हो जाता है। लेकिन मनुष्य कर नहीं पाता। इसी प्रकार अहं को ढीला छोड़ दो झट से परमात्मा का प्रवेश होकर आत्मज्ञान में स्थित होकर जीव का तुरंत कल्याण हो जाता है। लेकिन जितना उसे कहते हैं कि ढीला छोड़ो, उतना पूछता है महाराज ! कैसे ढीला छोड़ें ? उपाय पूछता है। उपाय से तो वह और तनेगा, ढीला थोड़े ही होगा। किसी उपाय से ढीलापन नहीं आता। मनुष्य चूँकि उपाय पर जोर देता है, इसीलिये यह अहं जाता नहीं क्योंकि हर उपाय में अहं तो और दृढ़ होगा, और प्रबल पड़ेगा। इसीलिये कहा कि इस प्रकार के अजस्र अर्थात निरंतर छूटने के प्रयत्न में ही यह बँधता जाता है। जैसे कीचड़ में कोई फँस जाये तो जितना कीचड़ से निकलने की चेष्टा करता है उतना ही उसमें धंसता है। यह कीचड़ का नियम है। अथवा कोई गाँठ उलझ जाये

तो उसके सिरों को जितना कसकर खोलने को सोचोगे, उतनी ही वह ज्यादा उलझ जायेगी। इसी प्रकार इस अहं को निकालने का जितना ज्यादा प्रयत्न करते हो, उतना ही वह ज्यादा उलझता जाता है। यही उसका अजस्र क्षपण है। यह जो उसके ऊपर मैं रूपी आवरण है, यही थोड़ी देर के वाद मम (मेरा) रूप विक्षेप हो जाता है। मेरे करने से ही होगा। अनादि काल से यह सृष्टि चल रही है। पचास वर्ष पहले इस संसार में हमारा पदार्पण हुआ और पचास वर्ष वाद इस संसार में हमारा नाम निशान नहीं रह जाना है, यह निश्चय है। हम यदि कश्यप गोत्र के हैं तो कश्यप ऋषि से लेकर आज पर्यन्त करोड़ों पीढ़ियाँ बीत गईं उनमें हम तो नहीं थे और अभी तो ब्रह्मा जी का ५१वाँ साल चल रहा है, संकल्प में बोलते ही हो 'द्वितीये परार्द्धे'। ४९ साल से ऊपर अभी वाकी हैं, आधे से थोड़ा ही कम बचा है, वह कश्यप गोत्र आगे भी और करोड़ों पीढ़ियों तक चलता ही जायेगा, वन्द नहीं होना है। लेकिन हम सोचते हैं कि हम नहीं होंगे तो यह गोत्र या वंश ही खतम हो जायेगा। जहाँ मैंपना आया, वहाँ पर तुरंत मेरापना आ जाता है और विक्षेप प्रारंभ हो जाता है। मेरापना विना आये हुए कभी विक्षेप नहीं हो सकता। मैंपना आना आवरण और मेरापना आना विक्षेप हुआ।

पुराणों के अन्दर बताया है कि भगवान् शंकर ने जो विष ग्रहण किया, उनके नील कण्ठ (नीलग्रीवा) के अन्दर जो नील है, यह कहाँ से आया और कैसे आया? इसका स्वरूप कथानक के द्वारा पुराणों में बताया है। प्राचीनकाल में दारुक नाम का एक असुर हुआ है। 'दारुकासुरसंभूततपसालब्धविक्रमः' दारुक नाम के असुर ने तपस्या के द्वारा बड़ी भारी ताकत को प्राप्त किया। 'तपो हि दुर्धर्षं वदन्ति' कोई शक्ति ऐसी नहीं जो तप से प्राप्त न की जा सके। लेकिन तपस्वी का मतलव हमेशा परमात्मा की तरफ जाने वाला नहीं होता है। तपस्या तो एक शक्ति है, चाहे परमेश्वर की तरफ लगाओ, चाहे संसार की तरफ लगाओ। असुर लोग तप को प्राप्त

करके संसार की तरफ जाते हैं, देव उसको करके परमेश्वर की तरफ जाते हैं। यही देव और असुरों में फरक है। दारुक तो असुर था। इसलिये जब उसने तप से शक्ति प्राप्त की तो इसको तो समग्र देवताओं और ऋषियों को अपने वश में करके दुःख देना हुआ। उन्हें दुःख देने लग गया। इसने ब्रह्माजी से यह वरदान ले लिया था कि मैं किसी स्त्री से ही मारा जाऊँ, कोई पुरुष मुझे न मार सके। ब्रह्मा, विष्णु इत्यादि तो पुरुष हैं। वे इनसे युद्ध करके पार नहीं पा सके। जब पार नहीं पा सके तो यह भगवान् शंकर के पास गया और उनसे कहा कि आप ही इसका कुछ उपाय करो। यह तो हम लोगों को बड़ा दुःख देता है। भगवान् शंकर ने कहा कि समय देखकर इसका काम करेंगे क्योंकि अभी इसका पाप पूरा पका नहीं है। फोड़ा बिना पके हुए फूटता नहीं। आदमी बड़ी जल्दी अधीर हो जाता है। बीस पच्चीस पचास को देखकर ही तत्त्व निर्णय में लग जाता है। लोग कहते हैं—महाराज! कलियुग में तो पाप ही फलता है। हम उनसे कहते हैं कि पाँच चार सौ साल का इतिहास तो पलटकर देखो। आज जो पाप करते हुए दीख रहा है और दीख रहा है कि फल रहा है, वह कितनी पीढ़ी से फल रहा है और कितनी पीढ़ी तक फलता देखा जा रहा है। लेकिन लोग पन्द्रह बीस साल में ही सब निर्णय कर लेना चाहते हैं। पाप को पकना पड़ता है जैसे फोड़े को फूटने के पहले पकना पड़ता है। उसके पहले उसको छेड़ने से कोई फायदा नहीं। हम लोग चाहते हैं कि हम अपने अहंकार के द्वारा ही सब काम कर लेंगे लेकिन वह होता नहीं है। इसीलिये भगवान् शंकर ने कहा कि अभी काल नहीं आया। काल आने पर यह काम हो जायेगा। भगवान् शंकर ने विचार किया कि इसको मरना तो स्त्री के हाथों से है, मेरे से तो यह मरेगा नहीं। पार्वती ही इसको मार सकती हैं। वह यह भी नहीं चाहते थे कि पार्वती मेरे शरीर से अलग हो कर मेरे पास से दूर जाये। इसलिये उन्होंने एक लीला की। एक दिन ऐसे ही बैठे बैठे पार्वती जी से हँसी करने लगे। पार्वती जी का

रंग काला था। हँसकर कहा कि तुम्हारा रंग तो बड़ा ही फब रहा है, बड़ा सुन्दर रंग है, क्या कहना। अभी अंधेरा हो तो मतीरा ही खा लें। ऐसा सुन्दर रंग तुम्हारा है। पार्वती के हृदय में दुःख हो गया कि इन्होंने आज मेरे को ऐसी बात कही, इसका मतलब है कि मेरा रंग इन्हें पसन्द नहीं है। कहने लगी- आप पहले ही कह देते। बोले—मैं तो ऐसे ही हँसी कर रहा हूँ बुरा नहीं मानो। भगवती कहने लगी कि बिना अंदर के मन के हँसी ऐसे मुँह से नहीं निकल सकती। अब तो मैं जब अपने काले रंग को छोड़ दूँगी, तभी आपके पास आऊँगी। पत्नी का धर्म है पति को सब भाव से प्रसन्न करे। भगवान् शंकर कहने लगे - जाने दे, आ जा, मैंने तो ऐसे ही कह दिया है। लेकिन पार्वती वहाँ से चल दीं। विचार करने लगीं कि मैंने कह तो दिया लेकिन गोरी बनने का उपाय क्या है ? अगर शंकर जी से प्रार्थना करूँ तो अनुचित है क्योंकि उन्हीं ने तो कहा और उन्हीं के सिर डालूँ कि आप मुझे गोरा बना दो, यह तो ठीक नहीं। मैं अपनी इच्छा से भी कर सकती हूँ, लेकिन जब विवाह कर लिया तो अब मेरी इच्छा और उनकी इच्छा में कोई फरक नहीं रहा। यदि मैं अपनी इच्छा का प्रयोग करूँ तो यह भी एक तरह से उनकी ही इच्छा का प्रयोग करना हुआ, यह भी उचित नहीं। यह जरा सूक्ष्म विषय है, नहीं तो मनुष्य उल्टा सोचता है कि ब्याह हो गया तो पति के धन को जबर्दस्ती भी दबाने का अधिकार है और यहाँ पार्वती कह रही हैं कि मेरी अपनी इच्छा भी जब मैंने उनको दे दी तो अब मैं अपनी इच्छा और अपनी ताकत से अपने को गोरा नहीं बनाऊँगी। तपस्या करूंगी। तपस्या के दीर्घकाल तक करने को फलने पर ब्रह्माजी वहाँ आ गये और कहा—माता ! क्या बात है, कैसे याद किया ? पार्वती जी ने कहा—तेरे पिता भगवान् शंकर हैं, क्योंकि वेद कहता है 'यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं' यह यजुर्वेद की श्रुति कहती है कि वह शिव ही पहले ब्रह्मा को बनाते हैं, फिर उन्हें वेद का उपदेश देते हैं। तेरे पिता ने कहा है कि मेरा रंग बड़ा सुन्दर है। अब आगे की तू सोच ले, क्या करना है। ब्रह्मा जी ने कहा- आप यहाँ

जंगल में तपस्या करने क्यों आई, वहीं मुझे आज्ञा दे देतीं। कहती हैं आज्ञा तो मैं यहाँ भी नहीं दे रही हूँ। पिता के पूछे विना बेटे को आज्ञा देना उचित नहीं। मैंने तो केवल इतना कहा है कि तुम्हारे पिता जी ऐसा ऐसा कह रहे थे। अब तू समझदार है, समझ ले। ब्रह्मा जी ने उनके ऊपर की काली खोल को उतार दिया। इस प्रकार भगवती काली भगवती गौरी हो गईं। 'उमा हैमवती' सामवेद में लिखा है। उनका काला हिस्सा ब्रह्मा जी ने समुद्र में फेंक दिया और वह समुद्र में पड़ा हुआ था। इस बात को भगवान् शंकर जानते थे। पार्वती वहाँ से वापस भगवान् शंकर के पास आ गईं और कहने लगीं- भगवन्, अब तो मैं पसंद हूँ न। कहने लगे पसन्द तो तब भी थी, तू तो ऐसे ही बात बात में बुरा मान जाती है। इस सारी लीला का उद्देश्य यह था कि दारुक का वध स्त्री के हाथों से होना है। भगवती का वह काला रंग ऐसे उतरा जैसे साँप की केंचुली उतरती है। वह स्त्रीरूपिणी काली भी हो गई और भगवान् को अपनी शक्ति को दूर भी नहीं करना पड़ा। दोनों काम सिद्ध हो गये। भगवान् ने जब इतना कर लिया तो वह काली तैयार हो गई। इसका संकेत सप्तशती में भी है। द्वितीय चरित्र के प्रारंभ में उसे कौशिकी नाम से कहा है। शरीर रूपी कोश से निस्सृत होने के कारण उसे कौशिकी कहा है। दुर्गासप्तशती में जिस समय भगवती जाती हैं, देवता स्तुति कर रहे होते हैं, वह कोशों से निस्सृत होती हैं 'शरीरकोशाद्यत्तस्याः पार्वत्या निःसृताम्बिका। कौशिकीति समस्तेषु ततो लोकेषु गीयते' वही कौशिकी काली है।

जब यह तैयार हो गई तब भगवान् शंकर ने ब्रह्मा जी से कहा कि दारुक को मारने वाली पैदा हो गई है। 'सपर्यगा कामारि कालकण्ठी कपर्दिनी' इस प्रकार कामारि भगवान् शंकर ने काली को उत्पन्न किया और ब्रह्मा जी से कहा कि उसे जाकर वापस ले आओ। भगवती का वह रूप ही तुम्हारे काम का है। तुम्हारे लिये ही यह सब मैंने किया है। वही दारुक

को मारेगी। ब्रह्मा जी उसको ले आय। भगवान् शंकर ने उसके अन्दर अपने तृतीय नेत्र की अग्नि का प्रवेश करा दिया। कालाग्नि का प्रवेश उस महाकाली के अन्दर करा दिया तो वह भयंकर तेजसम्पन्न हो गई और जाकर उसने दारुक को युद्ध के लिये ललकारा। दारुक के साथ उसका भयंकर युद्ध हुआ। उस भयंकर युद्ध के अन्दर दारुक मारा गया। दारुक तो मारा गया लेकिन वह तो प्रलय अग्नि प्रारंभ हो गई थी। इसलिये दारुक को मारने के बाद दूसरे असुरों को भी मारने लग गई और देवताओं के पीछे भी चलने लगी। इस प्रकार संहार करते हुए उसके शरीर से जो पसीने की बूंद गिरीं, तो वह तो कालाग्नि रुद्र का रूप हो गई। वे बूंदें पिशाच बन गये और वे सारे के सारे देवताओं के पीछे भी पड़ गये। देवताओं ने देखा कि यह भयंकर परिस्थिति हो गई। दारुक से भी भयंकर काम हो गया। उन्होंने भगवान् शंकर से कहा तो भगवान् ने कहा—घबराओ नहीं, इसका भी उपाय करता हूँ। इसकी इस कालाग्नि शक्ति रूप को वापस खींचना पड़ेगा। 'भवोपि बालरूपेण रुरोद स्वीयमायया। स्वांके च भवमारुह्य' भगवान् शंकर ने बालक का रूप लिया। जहाँ यह भयंकर ताण्डव हो रहा था, देवता आदि सबको वह क्षय करने में प्रवृत्त थी, जहाँ श्मशान हो गया था, सब मरने लगे थे और चारों तरफ लाशें पड़ीं हुई थीं; भगवान् शंकर छोटे से बालक का रूप लेकर महाकाली की क्रोधाग्नि को पीने की दृष्टि से माया करके वहाँ बैठकर रोने लग गये। चाहे जैसी स्त्री हो, छोटे बच्चे को देखकर उसका हृदय खट पसीज जाता है और यहाँ तो स्वभाव से पुत्र के प्रति माता का प्रेम होना हुआ। पुत्र के प्रति इतना प्रेम माता को क्यों होता है? 'आत्मा वै पुत्र नामास' श्रुति कहती है कि पिता स्वयं ही अपनी पत्नी के द्वारा पुत्र रूप से उत्पन्न होता है। विचार की दृष्टि से देखो तो पिता के शरीर का ही एक अंग, उसकी ही एक बूंद से पैदा हुआ पिता का ही तो शरीर है। वही तो पुत्र बनकर उत्पन्न हुआ है। पुत्र के प्रति माता का प्रेम वस्तुतः पति के प्रति प्रेम है। यहाँ

तो पति ही साक्षात् रूप लेकर आये हुए थे, इसीलिये प्रेम होना स्वाभाविक था। उस महारुद्र काली ने उसको उठाकर झट से अपने स्तन पीने के लिये दे दिये। बस स्तनपान के द्वारा ही उन्होंने जो सारी क्रोधाग्नि उसमें प्रविष्ट कराई थी, वह वापस खींच ली। अब जब वह पीली तो 'पीत्वा सर्वं च क्रोधाग्निः कण्ठमापूर्य शंकरः' सारे कण्ठ पर्यन्त पी गये, उससे पेट भर गया। अब स्वभावतः क्रोध नष्ट हो गया। उधर भगवान् शंकर भी नृत्य करने लगे और भगवती भी नृत्य करने लगीं 'ननर्तौ तौ शक्तिशिवौ' नृत्य करके भगवती पुनः समुद्र में ही चली गई। यह जो कालाग्नि रुद्र से संयुक्त भगवती का स्वरूप था, यही समुद्र मंथन के समय हालाहल रूप लेकर बाहर निकला। इसीलिये यह सारे संसार को जलाने में समर्थ हो रहा था, क्योंकि यह वही महाकाली थी। भगवान् का रूप होने से उसको सिवाय भगवान् शंकर के और कौन धारण कर सकता था। भगवान् शंकर ने हालाहल का पान किया। अमृतमंथन की कथा सब जानते ही हैं। हालाहल का पान करके उन्होंने अपना कण्ठ काला किया, नीलग्रीव हुए और तब पार्वती से उन्होंने कहा—देख, तू सोच रही थी कि तेरा काला रंग मुझे सचमुच पसन्द नहीं है तो मैंने उस काले रंग को अपने श्वेत रंग में ही धारण कर लिया है। अब तो तुझे विश्वास है कि तू मुझे काली भी प्रिय थी। भगवती निरुत्तर हो गई, कहने लगीं आपका कोई जवाब नहीं है। मैं समझ गई कि देव लीला के लिये आपने यह हँसी की थी और कोई बात नहीं थी।

इस कथा के द्वारा पुराणकार इस नीलग्रीव विलोहितः में नीलग्रीवता का प्रतिपादन कर रहे हैं। यह जो अज्ञान है, इसकी दो वृत्तियाँ हैं। एक संसार को विषय करने वाली और एक परमात्मा को विषय करने वाली। 'विद्याविद्ये प्रभोः शक्ती: भानोश्छाया-प्रभोपमे'। भगवान सुरेश्वराचार्य कहते हैं कि सूर्य की शक्ति ही बादल रूप से अपने को ढक भी लेती है और प्रकाश रूप से प्रकाशित भी कर देती है। इस समय जो अँधेरा सा यहाँ हो

रहा है, वह सूर्य ही तो कर रहा है क्योंकि सूर्य ही बादल बनकर आया है। इस अंधेरे को करने वाला भी सूर्य और थोड़ी देर पहले चिलचिलाता धूप से गर्मी करने वाला भी सूर्य ही था। अब इस शक्ति को अलग-अलग करते हैं। विद्या और अविद्या दोनों को अलग करते हैं, यही एक तरह से हँसी उड़ाना है। जब पहले पहले सत्संग सुनने जाते हो तो क्या चीज रगड़ी जाती है? इस संसार की हँसी उड़ाई जाती है कि यह संसार कितना दु:खरूप है, इस संसार में फँसना, इस संसार का विचार करना, इस संसार के पीछे पड़ना सब बेकार है। यह संसार की हँसी उड़ाना ही तो है। वस्तुत: तो संसार परमात्मरूप ही है। बताना तो यह है 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' लेकिन यह बताने के पहले वैराग्य के द्वारा इस संसार की हँसी उड़ाते हैं। कोई कहे कि अंत में तो आप यही कहोगे कि सब ब्रह्म रूप है तो पहले ही कह दो। यह नहीं हो सकता। जैसे वहाँ भगवान् ने हँसी उड़ाई तो काला रूप अलग होकर गोरा रूप रह गया। वैसे ही यहाँ पर जब वैराग्य के द्वारा संसार की हँसी उड़ाते हैं तब तुम्हारा बंधन करने वाला रूप दूर होकर आनंद देने वाला ब्रह्मज्ञान, ब्रह्माकार वृत्ति, गोरी रह जायेगी। काली वृत्ति का उद्देश्य क्या है? दारुकासुर को मारना है। दारु लकड़ी को कहते हैं। उर्दू वाला दारू नहीं समझ लेना, उसका मतलब शराब होता है। यह संस्कृत का दारु है। दारुकासुर क्या है? जैसे लकड़ी जड़ होती है, ऐसे ही हमारा हृदय परमात्म प्रेम से शून्य हुआ लक्कड़ की तरह बना हुआ है। चाहे जितना परमात्मा का नाम इसमें सींचो, परमात्मा के सुन्दर रूप दिखाओ, परमात्मा के विषय में सुनाओ लेकिन इसमें एक अंगुल भी कहीं प्रवेश का मौका नहीं मिलता। प्रवेश कब होता है? सच्ची बात बता दें? जब कोई तुम्हारे घर की बात बताये, जो तुम्हारे संसार सम्बन्ध की बात है, वह बताये। जैसे नीलग्रीव कहने से हृदय में प्रवेश नहीं होता लेकिन उसे घर की तरह बतायें कि जैसे तुम्हारी हँसी तुम्हारे पति उड़ाते हैं, ऐसे शंकर जी ने पार्वती की हँसी उड़ाई, तब बात बैठती है। तब

उसे प्रवेश करने की थोड़ी सी जगह मिलती है। यह हृदय प्रेम से शून्य होकर विलकुल लक्कड़ की तरह हुआ है। इस दारुकासुर का नाश करना है। यह नष्ट होगा तो स्त्री से ही होगा। स्त्री माने क्या ? परमेश्वर के प्रति भक्ति ही स्त्री है। जब तक परमेश्वर के प्रति भक्ति उदय नहीं होती तब तक इसका उसमें प्रवेश नहीं, दारुकासुर नष्ट नहीं होगा। ब्रह्मज्ञान रूपी गौरी और परमात्मा से द्वैत भाव को रखने वाली भक्ति दोनों को पहले अलग अलग करके देखते हो तो दारुकासुर नष्ट होता है। दारुकासुर नष्ट हो गया अर्थात् हृदय में परमात्मा के लिये प्रेम उत्पन्न हो गया तो अब उसका प्रयोजन नहीं रहा। इसलिये उसे समुद्र में डाल दिया था। श्रुतियों में समुद्र अर्थात् जलराशि का अर्थ कर्म हुआ करता है। 'अप इति कर्म नाम' भगवान् यास्क ने निरुक्त में लिखा है। अब वह भक्ति कर्मयुक्त हो जाती है। परमेश्वर के प्रेम से युक्त होकर अब कर्म होता है। उस कर्म और भक्ति का जो संयोग है, वह मथित हुई भक्ति भगवान शंकर अर्थात् शुद्ध चैतन्य पर अवस्थित हो जाती है। है वह अज्ञान रूप लेकिन अज्ञानरूप होने पर भी उस चिद रूप परब्रह्म परमात्मा की शोभा बढ़ाने वाली हो जाती है। इसी को यहाँ 'नीलग्रीवः' से बताया। भगवान् शंकर के ऊपर जो यह नीला दाग है, यह वस्तुतः पार्वती ही है, उसी का रूप है। वस्तुतः यह उनकी शोभा बढ़ाने वाली है। लगता है अलग हैं, सचमुच अलग नहीं है। यह उन्हीं पर आश्रित है क्योंकि भक्ति परमेश्वर को ही तो आश्रित करके रहती है। अंततोगत्वा जब पता लग जाता है कि इसका क्या स्वरूप है ? फिर इस सारे संसार में मनुष्य ज्ञान के बाद कैसे रहता है ? तब प्रतिक्षण उसे यह सारा संसार ब्रह्मरूप दीखता है। जिस चीज को देखता है, उसको ब्रह्मरूप देखकर उसके साथ उसका अतिशय प्रेम अर्थात् भक्ति ही बनी रहती है, जगत के कण-कण और क्षण-क्षण के अन्दर जो भक्ति का, प्रेम रस का अनुभव है, यही अज्ञान का स्वरूप है, इसी को नीलग्रीव से यहाँ कहा। आगे भी परमात्मा के इन्हीं नीलग्रीव और विलोहित रूपों पर विचार करेंगे।

२०-३-७५

उस परब्रह्म परमात्म तत्व को अत्यंत स्पष्ट रूप से और प्राणियों को प्रकाश रूप से समझने के लिये उसे विलोहित कहा। जिसे पहले नीलकण्ठ कहा, अब उसी को विलोहित कह रहे हैं। 'असौ योवसर्पति नीलग्रीवो विलोहितः'। विलोहित का अक्षरार्थ बताते हुए कहा था कि किस प्रकार से भगवान शंकर स्वरूप से स्फटिक वर्ण वाले होने पर भी अंदर के लोहित, अर्थात् रक्त या खून वाले अंश से अत्यधिक लाल रंग के प्रतीत होते हैं। अत्यंत गोरे होने पर रक्त की धमनिकाओं के कारण उन्हें विलोहित कहा जाता है। क्यों उनको अत्यंत शुभ्र वर्ण का कहते हैं? क्योंकि वह पारदर्शी प्रकाशस्वरूप हैं। पारदर्शी का मतलब होता है जिससे आर पार जो चीज स्पष्ट दीख जाये, यह पता न लगे कि बीच में कुछ है। बढ़िया पारदर्शी कांच यदि कहीं दरवाजे के रूप में लगा दिया जाता है तो बहुत बार जल्दी से उसके पास पहुँचने पर ही लगता है कि यह दरवाजा है, नहीं तो यहां से वहां तक एक ही लगता है। पारदर्शी अर्थात् इस पार से उस पार तक सर्वथा स्पष्ट रूप से, सर्वथा साफ रूप से, जिस कांच में दीख जाये। वह पारदर्शी होते हुए भी प्रकाशरूप भी है। कांच पारदर्शी तो होता है परन्तु स्वयंप्रकाश रूप नहीं है। भगवान शंकर न केवल पारदर्शी हैं, वरन् साथ ही साथ स्वप्रकाश रूप हैं। इसीलिये अपने हृदय के अन्दर रहने वाला वह परमात्म तत्व न केवल बाहर के सारे पदार्थों को, प्रकाशित कर देता है वरन् अपने अन्दर के सारे पदार्थों को भी साथ ही साथ प्रकाशित कर देता है। जैसे उस शरीर के चमड़े से अन्दर के खून की धाराओं की प्रतीति लाल रंग के रूप में हो जाती है अर्थात् वह जो शरीर का त्वक् है वह इतना पारदर्शी है कि अंदर से लोहित रंग को दिखा देता है; उसी प्रकार से परब्रह्म परमात्म तत्व हमारे अंदर के हृदय के सब भावों को और साथ ही बाहर के सब जगत को एक साथ प्रकाशित कर देता

है। इसीलिये शास्त्रकार कहते है 'अंतःशरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतयः क्षीणदोषाः' । अथर्ववेद की मुण्डकोपनिषद् का यह मंत्र बताता है कि अपने शरीर के अन्दर अत्यंत तेजस्वी शुभ्र ज्योतिस्वरूप परमात्म तत्व किन के द्वारा देखा जाता हैं ? 'क्षीणदोषाः यतयः यं पश्यन्ति' जिनके दोष क्षीण अर्थात् नष्ट हो गये हैं ऐसे यतयः अर्थात् साधक उसको स्पष्ट देखते हैं। अपने ही हृदय में रखा हुआ वह ज्योतिर्मय तत्व सारे संसार को प्रकाशित करता है लेकिन उधर ध्यान न देने से हमको लगता है कि उसका प्रकाश है ही नहीं। जब हम संसार की किसी चीज को जानते हैं, जैसे कपड़े को, रसगुल्ले को जानते हैं तो केवल यह नहीं कह सकते कि सूर्य की रोशनी से जानते हैं। सूर्य की रोशनी से जानते होते तो अंधे को भी कपड़ा और रसगुल्ला दीख जाता। इसलिये केवल सूर्य के प्रकाश से हमको संसार की चीज नहीं दीखती। कहोगे कि आंख के प्रकाश से देखा जाता है तो आंख मुर्दे की भी होती है, फिर मुर्दा क्यों नहीं देख लेता। मुर्दे की बात सबको अच्छी नहीं लगती, क्योंकि सबको डर लगता है। जाने दो, दूसरे दृष्टांत से समझो। कभी छोटे बच्चे को देखा होगा, या अधिक बड़ी उमर वाले को देखा होगा कि आंख खोलकर भी सोता है। इसको मृगी निद्रा कहते हैं। कई बच्चों की आदत होती है कि आंख खुली हुई है और सोते हैं। ऐसी अवस्था में वह जीवित है, आंख भी खुली हुई है लेकिन क्या उसको रूप दीख रहा है ? दीख रहा हो तो नींद कहां से आयेगी। यदि आंख को भूल भी जाओ तो कान तो बिल्कुल खुले हुए हैं, नींद आने पर कान खुले होने पर भी कोई तुम्हारे पास बैठकर मीठी से मीठी बात कह दे तो क्या सुनाई देता है ? सबसे मीठी बात किसी की निंदा होती है। मनुष्य को जितना रस और आनंद किसी की निंदा सुनने में आता है उतना और किसी चीज में नहीं आता। ऐसे मधुर निंदा के वचन भी नींद में पड़ा आदमी कान खुले होने पर भी नहीं सुनता। सूर्य की रोशनी से दीखता तो अंधा भी देख लेता। आंख की रोशनी

से दीखता तो सोया व्यक्ति या मुर्दा भी देख लेता। मानना पड़ेगा कि अन्दर कोई एक आत्मज्योति है। यदि वह है तब तो आंख भी देखेगी और कान भी सुनेगा, और वह यदि सो रहा है तो आत्मज्योति के सोने पर न आंख देखेगी, न कान सुनेगा। इस शरीर से जब आत्मज्योति चली जायेगी तब आंख, कान इत्यादि कोई भी काम करने वाले नहीं। संसार की जितनी चीजें दीख रही हैं, वे सब आत्मज्योति से ही दीख रही हैं। विचार से पता लगता है कि संसार के जितने पदार्थ अनुभव में आ रहे हैं, वे सब आत्मज्योति से ही अनुभव में आ रहे हैं। जिस आत्मज्योति से संसार को सब चीजें देखी जा रही हैं, उस आत्मज्योति के विषय में मनुष्य कहता है कि वह नहीं दीख रही है। इतना ही नहीं, विचार करके देखो तो पता लगेगा कि यह आत्मज्योति आँख के रहते भी देखती है और आंख के विना भी देखती है। जब स्वप्न देखते हो तो देखने के लिये आंख की जरूरत नहीं पड़ती। जब स्वप्न देखते हो और वहां किसी से बातचीत करते हो तो क्या कान की जरूरत पड़ती है? इतना ही नहीं इसी समय जगते हुए बैठे हो, यहां बैठे-बैठे हो आंख बन्द कर लो तो क्या दीखता है? यह नहीं कह देना कि कुछ नहीं दीखता। आंख बंद करने के बाद अंधेरा दीखता है। अब बताओ कि वह अंधेरा क्या आंख से दीख रहा है? आंख तो बन्द है। इसलिये वह आत्मज्योति आंख के द्वारा भी देखती है, आंख के बिना भी देखती है। ऐसे ही कानों से सुनते हैं और दोनों कानों में उंगली डालकर कानों को बंद कर देने पर भी अन्दर की आवाज सुनते हैं तो किस कान से सुनते हो, कान तो बंद कर लिये हैं। इसी प्रकार जितनी भी हमारी इन्द्रियां हैं उन इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मज्योति देखती है, सुनती है और सूंघती है तथा स्वप्न काल में उन इन्द्रियों के न रहने पर भी यह आत्मज्योति देखती, सुनती और सूंघती है। अब एक कदम आगे चलो। जिन चीजों को कोई इन्द्रिय देख सुन नहीं सकती, उसको भी यह आत्मज्योति देखती सुनती है। बढ़िया सुन्दर

कलकत्ते में रहने वालों को गठिया हो जाता है। सीढ़ी पर चढ़ते समय ऐसा स्पष्ट दर्द होता है कि एक-एक सीढ़ी में लगता है कि गिरिनार की चढ़ाई चढ़ रहे हैं। कुछ लोगों ने खुद ही अनुभव किया होगा और कुछ ने देखा होगा। विचार करो कि घुटने में गठिये के दर्द का अनुभव क्या किसी आंख, कान या जीभ से है ? किस इन्द्रिय से उस दर्द को देखते हो ? उस दर्द को कोई इन्द्रिय नहीं देखती, केवल आत्मज्योति ही देखती है। इसी तरह से आधासोसी का दर्द हो जाता है। वहु को आधासीसी का दर्द इसलिये होता है कि ननद आई है उसके लिये सामान बनाकर भेजना है, अथवा सचमुच दर्द होता है, इसका पता किसी सास और भाभी को होने वाला नहीं। देरानी जेठानी किसी को पता नहीं लग सकता। अब विचार करो कि यदि उस आधासीसी के दर्द को आंख, कान, नाक आदि कोई इन्द्रिय अनुभव कर सकते तो पता लग जाता कि इसे दर्द है या नहीं, लेकिन पता नहीं लगता है। केवल उसकी आत्मा ही इस बात की साक्षी है कि दर्द हो रहा है या नहों। जहां बाहर के पदार्थ देख रहे हो, वे भी बिना आत्मज्योति के नहीं दीख सकते। सूर्य व आंख दानों हों लेकिन आत्मज्योति न हो तो कुछ भी दोखेगा नहीं। इसलिये इन्द्रियों के द्वारा भी आत्मज्योति देखती है, इन्द्रियों के बिना भी, स्वप्न में या आंख बंद कर लेने पर भी आत्मज्योति देखती है, और ऐसी चोजों को भी देखती है जिसको और कोई इन्द्रिय नहीं देख सकती। आश्चर्य है कि इस आत्मज्योति से इन सबको देखते हुए भी लं ा कहते हैं 'महाराज ! हमको आत्मज्ञान है ही नहीं। ऐसी प्रतीति क्यों होती है ? 'अंत:शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो यं पश्यन्ति यतय: क्षीणदोषा:' जब तक दोष क्षीण नहीं हो जाते तव तक वह दीखने पर भी नहीं दीख रहा है, ऐसी प्रतीति होती है। 'राहुग्रस्तदिवाकरेन्दुसदशो मायासमाच्छादनात्' भगवान भाष्यकार सर्वज्ञ शंकर कहते हैं कि जैसे सूर्य के ऊपर जव राहु आ जाता है, जब राहु के द्वारा सूर्य और चन्द्रमा ग्रस्त होते हैं, उस समय मनुष्य कहता है कि सूर्य

नहीं दीख रहा है। कैसे कहता है ? जो छाया वहां दीख रही है उसको देखकर कहता है। अभी थोड़े दिन पहले सूर्यग्रहण हुआ था, तुम लोगों ने देखा होगा। सूर्य को देख रहा है और कह रहा है कि अभी सूर्य नहीं दीख रहा, राहु के द्वारा ग्रस्त है। प्रश्न यह है कि जो छाया वहाँ दीख रही है, वह छाया किसकी रोशनी से दीख रही है ? तुमको जो वहां अंधेरा दीख रहा है, काला बिम्ब दीख रहा है, काले रंग का एक चक्र दीख रहा है, वह काले रंग का चक्र किसकी रोशनी से दीख रहा है। यहाँ से अलाती (torch) फेंक कर देख रहे हो, क्या कि राहु की रोशनी है या नहीं ? जहाँ तुमको काला वृत्त दीख रहा है वहाँ भी सूर्य की रोशनी ही तो दीख रही है। दीखते हुए भी लगता है कि नहीं दीख रही है क्योंकि राहु रूपी दोष उसके ऊपर है। ठीक इसी प्रकार से माया समाच्छादनात् यह सारा जगत नामरूप दीख रहा है आत्मा के प्रकाश से, और उसके प्रकाश से इसे देखते हुए कह रहे हो कि हमको आत्मा का प्रकाश नहीं दीख रहा है। यह नहीं दीख रहा है, क्योंकि दोष क्षीण नहीं हुए। दोष क्या हैं ? नामरूप के अन्दर जो सत्यता का भान है, वही दोष है और कुछ नहीं।

दोष दूर होने पर पता लगता है 'दिव्योह्यमूर्तः पुरुषः सबाह्याभ्यंतरो ह्यजः'। अथर्ववेद बताता है कि उसका दिव्य प्रकाश है अर्थात् हमेशा इसका प्रकाश बना रहता है। यह किसी एक मूर्ति वाला नहीं है। जहाँ जहाँ तुमको जो मूर्तियाँ दीखती हैं, उस मूर्ति के अन्दर तुमको शिव ही दीख रहा है। बाहर और अन्दर सर्वत्र व्यापक हुआ एक रस है। वह कभी भी उत्पन्न होता नहीं, क्योंकि बाहर और अन्दर को एक जैसा प्रकाशित करने वाला है। लोगों को बड़ा आश्चर्य होता है कि हवाई जहाज में बैठकर लोग चन्द्रलोक कैसे पहुँच गये। कभी विचार करके देखो कि बिना ही हवाई जहाज के तुम अपनी आँख रूपी इन्द्रिय पर बैठकर रोज चन्द्रमा पर पहुँच जाते हो। अमावस को छोड़कर रोज ही तुम्हें चन्द्रमा दीखता है, चन्द्रमा पर तुम्हारी आँख की वृत्ति पहुँचती है। तभी तो देखते हो। तुम्हारी

आंख की वृत्ति पहुंच गई, उन्होंने पैर की वृत्ति भी पहुंचा दी। फरक कुछ नहीं पड़ा। आत्मा चन्द्रलोक से भी आगे जितने बड़े से बड़े लोक हैं, या हो सकते हैं, उन सबको यहाँ बैठा हुआ प्रकाशित कर रहा है, देख रहा है, इसलिए वह सर्व व्यापक है। सब में ओतप्रोत है। जितने नाम रूप दीख रहे हैं उन सबमें ओतप्रोत है। बरफ की पुतली होती है। पहाड़ में जब सर्दियों में बरफ पड़ रही होती है तो बच्चे खेलने के लिए उस बरफ को इकट्ठा करके शिवलिंग बना लेते हैं, कोई बबुए की मूर्ति, इत्यादि बड़ी-बड़ी मूर्तियां बना लेते हैं और वह घुलती नहीं क्योंकि ठण्ड पड़ रही होती है। उस बरफ की पुतली में ऊपर से नीचे तक सिवाय पानी के कुछ भी नहीं है। अथवा दीवाली के दिनों में तुम चीनी का मकान बाजार से खरीद लेते हो। उस मकान में खम्भे, बैठने के कूर्च, सीढी, कमरे की खिड़कियाँ, बरामदा, छत और पानी बहने के लिये परनाले भी हैं। ये सब वहाँ दीख रहे हैं लेकिन उन सबमें ओतप्रोत चीनी ही चीनी है, चीनी के सिवाय और उसके अन्दर कुछ नहीं है। जैसे बरफ की पुतली के अन्दर पानी ही ओतप्रोत है, जैसे चीनी के मकान के अन्दर मिठास ही ओतप्रोत है; उसी प्रकार से इन अनंत नामरूपों के अन्दर एकमात्र आत्मा ही आत्मा ओतप्रोत है। सबाह्याभ्यंतर; अपने अन्दर और बाहर जिधर देखो, सिवाय उस आत्म तत्व के और कुछ नहीं है। यह नित्य है, किसी एक काल में जन्म लेने वाला नहीं है। नित्य ही यह ओतप्रोत रहता है। जैसे बरफ को तोड़कर दूसरी मूर्ति बना लो, चीनी को गलाकर फिर मकान की जगह दमकल या ट्रक बना लो, जो मर्जी सो उस चीनी को गलाकर बना लो। जो बनेगा वह दूसरे को दीखेगा कि कुछ और बना है। विवेकी को दीखेगा कि चीनी की चीनी है, मिठास ही है और कुछ नहीं है। इसी प्रकार अनंतकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न होते हैं, लीन होते हैं, लेकिन जिधर देखो, उधर सिवाय आत्मा के और कुछ है ही नहीं।

अब प्रश्न होता है कि वह परमात्मा जब इस प्रकार सर्व व्यापक है तो हमको दोष क्षीण करके देखने की जरूरत क्यों है ? स्वतः सब जगह दीख जाना चाहिए। यह जरा विचार की बात है ध्यान से समझना। जैसे उस मकान में केवल मिठास ही मिठास है, इसका पता जीभ से लगेगा। है वहाँ केवल चीनी ही चीनी, यह बात तो सच्ची है, लेकिन इसका पता आँख,, कान, नाक या छूने से थोड़े ही लगेगा ? केवल जीभ से ही पता लगेगा। और कोई उपाय नहीं जिससे पता लगे कि इसमें मिठास ही मिठास है। इसी प्रकार से इन अनंत कोटि ब्रह्माण्डों में केवल परमात्मा ही परमात्मा है लेकिन इसका पता कैसे लगेगा ? अपने हृदय और अंतःकरण में घुसने पर ही लगेगा। सारे जगत् की ब्रह्मरूपता का ज्ञान बाहर जगत् में होने वाला नहीं, क्योंकि जैसे मिठास आँख, कान का विषय नहीं, वैसे ही वेद कहता है 'अशब्दमस्पर्शमरूपमव्ययं तथा रसन्नित्यमगन्धवच्च'। रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श से रहित होने के कारण इन्द्रिय के द्वारा, जो बाहर देखने का तरीका है, उसका ग्रहण कभी होने वाला नहीं। वह वहाँ है लेकिन होने पर भी उसका ग्रहण इन्द्रियों से नहीं हो सकता। उसका ग्रहण तभी होगा जब अपने अन्दर जाकर उसको देखोगे। इन्द्रियों से नामरूप का ही ग्रहण होगा, ब्रह्म का ग्रहण नहीं होगा। पता तो लग जाता है लेकिन ज्ञान नहीं होता। पता लगने में और ज्ञान में फरक है। काँच की खिड़की बन्द करके बैठे हुए हैं। बाहर दीखता है कि आम के पत्ते या नीम की डालियां झूम रही हैं। इनके झूमने से पता चल जाता है कि बाहर हवा चल रही है। यदि हवा न चलती तो ये कैसे झूमते। यह पता तो चल रहा है, लेकिन हवा की ठंडक का ज्ञान नहीं हो रहा है। कुछ पता चल रहा है कि यह लू की हवा है या समुद्र की तरफ से ठण्डी हवा आ रही है ? हवा चल रही है, यह पता होने पर भी हवा का ज्ञान तब होगा जब खिड़कियाँ खोल दोगे, अथवा बाहर चले जाओगे और उस हवा का स्पर्श त्वक् इन्द्रिय को होगा। वायु का ग्रहण त्वक् इन्द्रिय से होगा। जब तक त्वक् इन्द्रिय के साथ

वायु का सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक जानने पर भी कि हवा चल रही है, उस हवा का ज्ञान नहीं होगा। इसी प्रकार जगत् के सब पदार्थों का ज्ञान आत्मज्योति से हो रहा है। अभी जैसा विचार का तरीका बताया, उस तरीके से समझ तो रहे हो कि आंख और सूर्य के प्रकाश से नहीं, वरन् आत्मा के प्रकाश से ही सब जाना जा रहा है, इसलिये आत्मप्रकाश है। यह समझ तो रहे हो लेकिन इसका ज्ञान तब होगा जब उसको अपने अन्दर हार्दाकाश में बैठकर अनुभव करोगे। अनुभव करने के बाद जब तुमने उस चीनी के मकान को नीचे ऊपर से जीभ के द्वारा चाट कर देख लिया, पता लग गया कि चीनी है तो अब रात-दिन चाटते रहो, यह जरूरी नहीं। जब जीभ से पता लग गया कि यह चीनी है तब आँख से देखकर भी कहोगे कि चीनी वाला मकान है। क्या आँख से चीनी को देख रहे हो ? नहीं चीनी को देखा तो जीभ से था, लेकिन चूंकि अब जान लिया इसलिये अब आँख से देखकर भी पता है। अथवा तुम कमरे से बाहर गये। जैसे ही दरवाजा खोलकर बगीची में गये कि धमधमाती हुई लू लपट कर तुम्हारे शरीर को जला देती है। मारवाड़ में लू चलती है। बालू उड़ती है तो ऐसा लगता है कि यह बालू नहीं, चिन्गारियाँ हैं। शरीर को ऐसा छूती है जैसे चिन्गारी छूती है। और अच्छी गर्मी हो तो आटे का रोट बनाकर बालू के नीचे दबादो तो दो चार घण्टे के बाद बिना कण्डे के ही बढ़िया रोट तैयार हो जाता है। अब तक तुम बंद खिड़की से देख रहे थे, तुम्हारे साथी कोई बंगाली बाबू झट बाहर पहुँच गये। उसे क्या पता कि मारवाड़ की लू क्या होती है। उसने आम के पत्तों को झूमते देखा तो कहा कि अन्दर क्यों बैठे हो, बाहर चलो। दरवाजा खोलकर बाहर पहुँचा और जहां चिन्गारियाँ लगीं, खट दरवाजा बन्द करके अन्दर आ जाता है। विचार करना दरवाजा बन्द, खिड़कियाँ बन्द, काँच से पेड़ों की डालियों का झूलना देख रहा है, लेकिन अब उसको ज्ञान हो गया है कि बाहर की हवा

समुद्र से आने वाली ठण्डी हवा नहीं है वरन् लू है। अब उसको बाहर जाकर फिर देखने की जरूरत थोड़े ही पड़ती है। इसी प्रकार से जब एक बार नाम रूप को हटाकर अपने अंतःस्थल में बैठकर उस दिव्य पुरुष का साक्षात्कार कर लेता है, फिर तो जगत् के सब पदार्थों में विद्यमान आत्म प्रकाश को इन्द्रियों से भी ग्रहण कर लेता है, लेकिन उसका वास्तविक ग्रहण हृदय में होता है। अब तो केवल पूर्व के अनुभव से तुम्हें पता है कि यह ऐसा है। शास्त्र बार-बार कहता है कि उसको अंदर जाकर के देखो 'अंतः शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो' उसे अंतःशरीर में जानना इसीलिये जरूरी है। अन्यथा कई बार मनुष्य के हृदय में यही प्रश्न उठता है कि यदि वह सर्वत्र है तो फिर उसको केवल अन्दर जाकर और दोषों को क्षीण करके ही क्यों देखना पड़ता है। सीधे ही देख लें। लेकिन सीधे ग्रहण नहीं होगा।

पुराणों में एक कथा आती है। हरिवर्ष नामके महावर्ष की, सारा बंग देश, कामरूपदेश, औण्ड्रज देश (उड़ीसा), कलिंग देश, बंगलादेश, यह सारा क्षेत्र हरिवर्ष कहा जाता है, क्योंकि समग्र भारतवर्ष को हम लोगों ने तीन भागों में बांटा है। 'अश्वक्रान्ते रथक्रान्ते विष्णुक्रान्ते वसुन्धरे' मिट्टी लेते समय मंत्र बोलकर कहते हैं 'मृत्तिके हर मे पापं' प्रार्थना करते है कि मेरे पापों का हरण करो। पृथ्वी को अश्वक्रान्ता, रथक्रान्ता और विष्णुक्रान्ता इन तीन भागों में बांटा। पूर्व देश सारा का सारा विष्णुक्रांता है, इसीलिये इसे हरिवंश कहते हैं। इस हरिवंश के अंदर शांतनु मुनि रहा करते थे। यह शांतनु मुनि हैं, क्योंकि भीष्मपितामह के पिता का नाम भी शांतनु था। वह राजा थे। शांतनु मुनि ब्राह्मण थे। बड़े ज्ञानवान् ऋषि थे, तप में हमेशा निरत रहते थे। हिरण्यगर्भ मुनि की अमोघा नाम की कन्या उनकी पत्नी थी। कैलाश पर्वत के पास ही उनका निवास स्थान था जिसे मरुताचल कहते हैं। दोनों बड़े आनंद से रहते थे। एक दिन शांतनु मुनि भगवान का पूजन करने के लिये फल, फूल, पत्तें इत्यादि लाने

को जंगल में गये हुए थे। इस बीच में ब्रह्मा जी उनके आश्रम में आये और आकर उनकी पत्नी से कहा कि मैं तुमसे पुत्र उत्पन्न करना चाहता हूं। अमोघा ने कहा कि यह बात तो आप अच्छी नहीं कह रहे हैं, मेरे पति बाहर गये हुए हैं, ऐसी बात कहना ठीक नहीं। ब्रह्मा जी ज्यादा जोर से कहने लगे तो भय के मारे वह अपनी कुटिया में चली गई और अन्दर से बंद कर लिया। ब्रह्मा जी उसे बहुत कुछ कहते रहे लेकिन उसने कहा कि आप जोर जबरदस्ती करोगे तो मैं भी शाप दूंगी। इस बीच में ब्रह्मा जी का तेज क्षय होने से वह वहां से चले गये। थोड़ी देर में शांतनु वापिस आये। उन्होंने देखा कि जगह जगह हंस के पंजे लगे हुए हैं और वहाँपर तेज भी विद्यमान है। रोज किवाड़ भी खुला रहता था, आज किवाड़ बंद हैं, उन्होंने अमोघा को आवाज देकर पूछा कि क्या बात है। अपने पति की आवाज सुनकर अमोघा ने दरवाजा खोला, और बाहर आकर सारी बात बताई कि यहां एक चार मुख वाला कोई व्यक्ति हंस पर बैठ-कर आया था और उसने इस प्रकार से कहा। सारी बात सुनकर शांतनु महर्षि विचार करने लगे कि लगता है पितामह ब्रह्मा ही आये थे। ध्यान से देखा तो उन्हें पता लगा कि 'देवकार्यमु-पस्थितं', देवता लोग किसी विशिष्ट तीर्थ की रचना करना चाहते हैं, और उसमें वह पत्नी को ही निमित्त बना रहे हैं। इसीलिये ब्रह्मा आये थे लेकिन वह कार्य मेरे यहां अनुपस्थित रहने के कारण नहीं हुआ, इसलिये पत्नी द्वारा तेज का ग्रहण उचित है। अमोघा ने कहा—यह तो मैं नहीं करूँगी। उन्होंने बहुत कहा लेकिन अमोघा ने यह बात नहीं मानी। जब शांतनु मुनि ने बहुत कहा तो अन्त में उसने कहा—यदि आप इसे अवश्य कर्त्तव्य मानते हो तो आप स्वयं ग्रहण करके फिर मुझे दे दो तो ठीक है। मैं स्वतः इसको ग्रहण नहीं करूँगी। शांतनु मुनि ने वैसा किया और उसके गर्भ धारण हो गया। समय आने पर उसकी नासिका से जल का बहुत बड़ा प्रवाह निकला। उसी के मध्य में 'नीलवासा किरीटधृक्' उस जल में से ब्रह्मा के जैसा ही

एक बालक निकला । शांतनु महर्षि ने लाकर उसे उस स्थान में रखा जहां उत्तर में कैलाश, दक्षिण में गंधमादन, पश्चिम में जारुधि और पूर्व में संवर्तक पर्वत था। इन चार पर्वतों के मध्य में उसे रखा। वह जल और भी बढ़ता गया और वह पुत्र रूप भी बढ़ता गया। अंततोगत्वा शांतनु मुनि ने शास्त्रोक्त सारे संस्कार उसके किये। धीरे-धीरे वह जल संचय विस्तृत हो गया। उसमें देवता लोग स्नान करने लगे। उसी में से लोगों के उपकार के लिये लौहित्य गंगा निकली जिसे ब्रह्मनद और आजकल ब्रह्मपुत्रा भी कहते हैं। वही आगे चलकर जनता के कल्याण के लिए पूर्व देश के अन्दर प्रवाहित की गई। विशेषता यह थी कि पूर्वांचल के सभी लोगों को ब्रह्मपुत्रा के द्वारा वही सारे लाभ प्राप्त हो जायें जो गंगा यमुना के द्वारा पश्चिम प्रांत में रहने वाले लोगों को होते हैं। यह सरोवर पांच योजन वाला बताया है। उसी का नाम लौहित्य सरोवर रखा गया। एक बार परशुराम ने अपनी मातृ-हत्या के दोष की निवृत्ति के लिये भी इसी लौहित्य में जाकर अपने फरसे को धोया और स्नान किया था। यह लौहित्यनद, ब्रह्मनद या ब्रह्मपुत्रा की उत्पत्ति बताई गई है। यह केवल किसी सामान्य लौहित्य की उत्पत्ति नहीं है। जिसको यहां 'नीलग्रीवः विलोहितः' कहा जा रहा है, उसी को पुराणों में लौहित्य सरोवर के रूप में बताया है। शांतनु महर्षि की अमोघा पत्नी के द्वारा ब्रह्मा के तेज से इस लौहित्य की उत्पत्ति हुई। शांत हो गया है तनु जिसका उसे शांतनु कहते हैं अर्थात् जिसने अपने स्थूल और सूक्ष्म दोनों शरीरों को सर्वथा शांत कर लिया है और उसमें किसी प्रकार की अशांति नहीं रह गई है। दम के द्वारा इन्द्रियों को और शम के द्वारा मन को अधीन कर लिया है, तितिक्षा के द्वारा स्थूल शरीर को अपने वश में कर लिया है, ऐसा जो शांतनु है, उसकी पत्नी अमोघा है अर्थात् बुद्धि रूपी वृत्ति है। मोघ का मतलब व्यर्थ होता है। अमोघ जो कभी व्यर्थ न जाये। जहां तुमने बुद्धि की वृत्ति परमात्मा की तरफ की तो फिर वह कभी व्यर्थ नहीं जाती। इसीलिये भगवान ने

बार-बार कहा 'बुद्धियोगाद्धनंजय' 'बुद्धियोगं ते' 'बुद्धौ शरण-मन्विच्छ' । यही अमोघा है । जिसने अपने शरीर को शांत तनु कर लिया, जिसकी बुद्धि अमोघा हो गई अर्थात् व्यर्थ के कार्यों में जिसकी बुद्धि नहीं लगती । हमारी बुद्धि को हम मोघा कर देते हैं, व्यर्थ की चीजों के बारे में बुद्धि से विचार करते रहते हैं । बुद्धि से सोचते रहते हैं कि पाट का भाव ऊपर जायेगा या नीचे जायेगा । अथवा सोने का भाव ऊपर जायेगा या नीचे, इसमें बुद्धि लगाते हैं । इस लड़की का व्याह किस मिति को होगा, छः महीने में जोग आ रहा है या नहीं । विचार नहीं करते कि ये सब तो प्रारब्ध से अपने आप होने हैं । फिर इन व्यर्थ चिंतनों से क्या लाभ ? बुद्धि को उस तत्व को समझने के लिये लगाना है जहां जाकर सब बंधन निवृत्त होकर उस परमात्मा की प्राप्ति होगी । जिसने अपनी बुद्धि को अमोघा कर लिया, अपने तीनों शरीरों को जिसने शांत कर लिया, ऐसे व्यक्ति की जो अमोघा अर्थात् व्यर्थ चिंतनों से रहित बुद्धि है, उसके अन्दर परब्रह्म परमात्मा के तेज का आरोहण कराना पड़ता है । ब्रह्म अपनी कृपा से ही बुद्धि में आता है । कोई यह विचार करे कि हम परमेश्वर को जबर्दस्ती अपनी बुद्धि में ले आयेंगे तो यह नहीं होने वाला है । जैसे ब्रह्मा जी स्वयं आये लेकिन शांतनु वहां नहीं थे । अर्थात् ब्रह्म का प्रवेश बुद्धि में तभी होता है जब मनुष्य अपने शरीरों को भूल जाता है । ध्यान की गम्भीरता में अपने शरीर, इन्द्रियों का भान भी नहीं रहता । यही वहां शांतनु का न होना है । जब तक शरीर आदि का भान है, तब तक अमोघा बुद्धि भी उस तेज को ग्रहण नहीं करेगी । शांतनु बाहर गये हुए थे अर्थात् शरीरों को भूली हुए बुद्धि थी । ऐसे काल में ब्रह्मतेज का धारण का काल होने पर भी कई बार मनुष्य उस ब्रह्मतेज को ग्रहण करने से घबरा जाता है । बुद्धि उसको पकड़ नहीं पाती । अंधेरा सा दीखने लगता है । ऐसा लगता है मानो सब कुछ चला जायेगा । सिर फूटने लगता है । ऐसा तीव्र अनुभव बिजली की चमक जैसा होता है कि ऐसी स्थिति में मनुष्य झट आंख खोलकर देखता है ।

उस तेज की धारणा नहीं कर पाता है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में कहा है कि पहले हल्का प्रकाश होता है, फिर 'दिविसूर्य सहस्रांशोः' हजारों सूर्य के जैसा तेज होता है। साधारण आदमियों की तो बात क्या अर्जुन जैसा महारथी भी जब उस दिव्य तेज को देखता है तो कहता है 'न लभे च शर्म' सहन नहीं हो रहा है, ऐसा तेज हो गया है कि सम्भाल नहीं पा रहा हूं। इसीलिये अमोघा उसे सहन नहीं कर पाती, अंत में शांतनु आकर कहते हैं कि घबरा नहीं। फिर भी वह कहती है कि शरीर के द्वारा आयेगा तभी ग्रहण करूँगी अर्थात् उस दिव्य तेज को पहले शरीर के अन्दर क्रिया के द्वारा लाना पड़ता है। जब शरीर के अन्दर उस तेज का आधान हो जाता है, तभी अंत.शरीरे ज्योतिर्मयो हि शुभ्रो' शरीर उसे धारण कर लेता है, तब उस शरीर के अन्दर अमोघा बुद्धि धृत होता है, पकड़ में आता है। जिसने पहले उस तेजस्वा, बुद्धि को अपने शरीर में धारण नहीं किया, उसके हृदय में धारण नहीं होता, क्योंकि आजकल लोग कह देते हैं कि मन चंगा तो कठौती में गंगा। लेकिन मन चंगा होगा ही नहीं जब तक पहले शरोर चंगा नहों होगा। शरीर चंगा होगा तभी मन चंगा होगा, इसलिये वह केवल कहने की बात है। विचार करो कि तुम कहों से गंगोत्री से गंगा जल लाओगे, तो क्या लाकर उसे जूते में भरकर रखोगे। जूते में रखा हुआ है तो निश्चित जानो कि वह गगा जल नहीं है। गंगा जल लाओगे तो बड़े प्रयत्न से, नया तांबे या पीतल का लोटा खरीदकर उसमें भरोगे, और हाथ धोकर उसे लोगे। कमरे में इतना ऊँचा रखोगे कि किसी बच्चे का हाथ न लग जाये। जूते में नहीं डालोगे, इसी प्रकार कठौती में गंगा कभी नहीं रखी जाती। शुद्ध जगह में ही रखी जाती है, शुद्ध जगह में ही रखी जायेगी। जब शांतनु उसे धारण कर लेते हैं, शरीर में जब क्रिया के द्वारा धृत होता है तभी बुद्धि उसे धारण करती है। और तब उसके द्वारा रक्तगौर विलोहित परब्रह्म परमात्म तत्व का ज्ञान हो जाता है। जैसा ब्रह्म है, वैसा ही ज्ञान हो जाता है। तब उसे कैलाश अर्थात् सहस्रार में रखा जाता है।

कैलाश सफेद है ऐसे ही उसमें सफेदी है। आप लोगों में से बहुतों ने किसी की कपाल क्रिया देखी होगी। देखा होगा कि अंदर से सफेद-सफेद माल निकलता है वही कैलाश अर्थात् सहस्रार का माल है, ठीक उसी रंग का है। गंधमादन अपनी नासिका का अग्रभाग भ्रूमध्य है, यही गंध को ग्रहण करता है। यही गंधमादन पर्वत है। पश्चिम में जारुधि और पूर्व में संवर्तक पर्वत हैं। कण्ठ और नासिका में सारीवायु को खींचने वाला वायु का केन्द्र है। लम्बिका योग में जहाँ जीभ को कपाल कुहर में घुसाओ तो वहीं चारुधि और संवर्तक हैं जो स्तन की तरह लम्बा-लम्बा लटकता है। इसी के मध्य में ज्ञानदीप का प्रकाश स्पष्ट होकर बढ़ता है। जब बढ़कर स्थिर हो जाता है तब फिर वह ब्रह्मज्ञान बहकर हृदय में आता है। जब हृदय में वह ज्ञान बहकर आ गया तो अब सारा व्यवहार उसका आत्मज्ञान की दृष्टि से होता है। अब वह ब्रह्मनद (ब्रह्मपुत्रा) का सारा का सारा प्रवाह चारों तरफ बहकर सबका कल्याण करने लगता है। उसको लौहित्यनद या लौहित्य सरोवर इसीलिए कहते हैं कि यदि कभी उस कण्ठ, तालु और ऊपर के स्थान को देखो तो वह बिल्कुल लाल रंग का दीखता है। वह जो लाल रंग है, उसी को यहाँ पर नीलग्रीव विलोहित: कहा है। वही विलोहित रंग है। इस विलोहित रंग की प्राप्ति पर विस्तृत विवेचन आगे करेंगे।

२१-३ ७५

उस परब्रह्म परमात्म तत्त्व को नीलग्रीव और विलोहित बताने के बाद श्रुति कहती है 'एनं गोपा अदृशन् उदहार्य: अदृशन्'। यह परमात्म तत्व इतना सुलभ है कि ग्वाले और पनिहारिनें भी उसका अनुभव करती हैं। अनुभव करने पर भी उसको समझती नहीं। यदि समझ लेते हैं तो 'स दृष्ट: न: मृडयाति' फिर सुख की प्राप्ति हो जाती है। उसका अनुभव करते हैं फिर भी समझते नहीं, इसका मतलब क्या है ? इस पर आज विचार करेंगे। बहुत बार चीज का

अनुभव तो हो जाता है परन्तु फिर भी वह समझ में नहीं आ पाती। उसके स्वरूप को मनुष्य समझ नहीं पाता। परमात्म तत्त्व का ज्ञान किसी न किसी उपाधि के सहित होकर अथवा उपाधि युक्त होकर तो सबको हो रहा है, ग्वाले और पनिहारिनें भी उनका अनुभव किसी न किसी उपाधि से युक्त होकर ही करते हैं। किस रूप में नहीं करते ? उपाधि रूप से रहित उसके शुद्ध भाव का अनुभव नहीं करते। अब जरा विचार करना। मान लो हम दूध पी रहे हैं लेकिन कौन सा दूध ? कलकत्ते के खटाल का दूध पी रहे हैं, मारवाड़ में घर में बँधी गाय का दूध नहीं। खटाल के दूध को पीते समय जीभ के ऊपर एक साथ दो चीजें आती हैं, एक गाय के स्तनों से निकला हुआ दूध और दूसरा गंगा जल के नल से निकला हुआ दूध। खटाल के दूध में शुद्ध गंगा जल भी डाल देते हैं जिससे आप लोगों को पुष्टि के साथ पवित्रता की भी प्राप्ति हो जाये। अब उस जीभ के ऊपर एक साथ दो अनुभव हैं। एक दूध के परमाणुओं का अनुभव और दूसरा जल के परमाणुओं का अनुभव। इन दोनों को क्या अलग-अलग स्वाद के द्वारा जान पाते हो ? यह निश्चित है कि उस स्वाद के अन्दर दूध का स्वाद भी है, लेकिन दूध और जल के स्वाद को अलग-अलग करके अनुभव नहीं कर सकते, समझ नहीं सकते। यदि दूध का असली स्वाद जानना है तो मारवाड़ में जाकर गाय खरीद कर फिर उसका दूध चखकर देखना पड़ेगा। अथवा घी फुल्के पर चुपड़कर खा रहे हो लेकिन कौन सा घी ? वीकानेर का घी नहीं। कलकत्ते के बाजार का खरीदा हुआ घी। उस घी को जब फुल्के पर चुपड़कर खाते हो तो दो तत्त्वों का स्वाद आता है ! एक भैंस के घी का और दूसरा हिन्दुस्तान लीवर के वने हुए डालडा के घी का। दोनों उसमें मिले हुए हैं। क्या जीभ के ऊपर रखे हुये उन दोनों परमाणुओं को अलग अलग जान सकते हो। यह तो अनुभव करते हो कि वहीं पर घी भी है और वेजीटेवल भी है लेकिन अलग-अलग ग्रहण नहीं कर सकते। ज्ञान है लेकिन ज्ञान होने पर भी उसके शुद्ध रूप को नहीं जान पा रहे हैं। यदि शुद्ध रूप को जानना

है तो घर में भैंस के दूध को जमाकर, मथकर, मक्खन निकालकर, गरम करके तब खाना पड़ेगा। अथवा किसी ने कहा कि यहां पर प्रधानमन्त्री पंडित जवाहरलाल नेहरू प्रवचन करने वाले हैं। तुम वहाँ पर नेहरू जी का दर्शन करने के लिए पहुँच गये। किसी से पूछते हो क्या अभी नेहरू जी नहीं आये? वह कहता है आ तो गये हैं, सामने ही तो बैठे हैं। लेकिन तुम पहली बार गये हो और नेहरू जी अकेले नहीं बैठते। दो तीन जने उनके दाहिने और दो तीन बाँये बैठे हुये हैं। तुम उससे पूछते हो कि आ गये हैं तो इनमें कौन से नम्बर पर नेहरू जी हैं। वह कहता है कि बाँये से चौथे नम्बर पर हैं। फिर पूछते हो, मेरे से बाँये या उनके बाँयें से। इसमें भी गड़बड़ हो जाती है। अब उसने कहा जहाँ अपने खड़े हैं, अपने बायें से देखो। अपने बायें से चौथे को देखते ही नेहरू जी का ज्ञान हो गया। अब विचार करना कि जब तुम वहाँ पहुँच गये तो पहुँचने के क्षण से ही ज्ञान तो नेहरू जी का हो रहा है, उन्हें बैठे हुये तो देख रहे थे, लेकिन समझ में नहीं आ रहा था कि वह कौनसे हैं। अब बाकी तीन बायें वाले और पाँच दाहिने वालों को बाद देकर पता लग गया कि यह नेहरू जी हैं। पहले सबका इकट्ठा ज्ञान हो रहा था, अलग अलग नहीं हो रहा था। नेहरूजी पहचान में नहीं आ रहे थे। जैसे जीभ पर दूध या घी का स्वाद होने पर भी जब तक शुद्ध घी या दूध का ज्ञान नहीं होता तब तक उसके शुद्ध स्वाद का पता नहीं चलता। नेहरू जी दीखने पर भी जब तक दूसरों से अलग करके उनको न देख लो, तब तक उनका ज्ञान नहीं, उसका लाभ नहीं। ठीक इसी प्रकार से प्रतिदिन प्रति क्षण कण-कण में उस परमात्म तत्त्व का दर्शन होने पर भी किसी न किसी उपाधि से युक्त होकर के, उपाधि के साथ उसका दर्शन हो रहा है। इसलिए लाभ नहीं हो रहा है। यद्यपि उसका ज्ञान सबको है, लेकिन 'स दृष्टः मृडयाति नः' जब उसको शुद्ध रूप से जान लेंगे तभी काम बनेगा, नहीं तो काम बनने वाला नहीं

है। अब वह क्या चीज है जो इसके साथ अनुभव हो रही हैं ? वह सारे का सारा माया के द्वारा बनाया हुआ नामरूप है। माया में सारा का सारा यह नामरूप बनाकर खड़ा कर दिया, लेकिन माया जड़ रूप है, वह सारे प्रपंच को बनाकर खड़ा कर सकती है, लेकिन जब तक परमात्मा के साथ एक होकर प्रतीत न हो तब तक उसकी प्रतीति कभी नहीं होगी। प्रतीति के लिए हमेशा आवश्यक होता है कि ब्रह्म के साथ ही हो। स्वरूप से असत् जड दुःखरूप होने के कारण बिना परमात्म सम्बन्ध के उसकी प्रतीति नहीं। दूसरी तरफ माया की प्रतीति काल में भी ब्रह्म की प्रतीति है। परन्तु माया से अलग होकर नहीं है। जिस समय साफ काँच में मुँह देखते हो, उस समय उसमें मुंह ही दीखता है, और काँच नहीं दीखता। कभी काँच खूब बढ़िया साफ हो, उसमें कहीं भी दाग न हो, उसमे जब मुंह देखते हो तो यह काँच है, ऐसा ज्ञान नहीं होता। लेकिन मुंह देखते काल में भी काँच का ज्ञान तो है ही। ऐसा नहीं है कि क़ाँच न दीखकर के काँच में पड़ा हुआ प्रतिबिम्ब दीख जाये। प्रतिबिम्ब काँच से युक्त दीखता है लेकिन काँच की सफ़ाई के कारण प्रतिबिम्ब तुम्हारे मन को इतना मोह लेता है कि जिसके कारण वह प्रतिबिम्ब दीख रहा है; वह काँच अपनी समझ में ही आता नहीं। होता क्या है ? प्रतिबिम्ब में मोहकता ज्यादा होती है। नकली माल असली से ज्यादा अच्छी पैकिंग में बिकता है। जिस माल की पैकिंग जितनी बढ़िया हो, उतना ही उसके अन्दर का माल कमजोर होता है। जालंधर में अपने एक भक्त हैं। लोगों को माल उधार दे देते हैं। हमने उनसे कहा कि तुम्हें कभी घाटा नहीं होता जो इतना माल उधार दे देते हो। कहने लगे एक बार ही हुआ, फिर नहीं हुआ। हमने पूछा—क्यों ? कहने लगे कि जो बढ़िया कोट पैण्ट पहनकर आता है उसे एक धेले का उधार नहीं देता, और फटी धोती और फटा कुर्ता पहनकर आता है उसे दस हजार का माल भी उधार दे देता हूँ। हमने पूछा—ऐसा क्यों ? कहते हैं—फटी धोती पहनने वाला ठोस असामी होती है और बढ़िया कपड़े पहनकर

बनठन कर घूमने वाला चालू मामला होता है। बस एक ही बार ठगा गया। जितना माल अच्छा होगा, जितनी असामी ठोस होगी उतना ही पैकिंग कमजोर दीखेगा। जो व्यक्ति जितना सुन्दर होगा, वह उतना ही बाह्य आवरण कम धारण करेगा। जिसमें जितनी अपने अन्दर सुन्दरता की कमी का बोध होगा, वह उस कमी को पूर्ण करने के लिए ऊपर से माल थोपता रहेगा। पैकिंग बढ़िया बनाता रहेगा। नकली चीज असली चीज से ज्यादा बढ़िया पैंकिग वाली होती है, लेकिन अन्दर माल कुछ नहीं। ठीक इसी प्रकार से नामरूपात्मक जगत की पैकिंग इतनी बढ़िया है और अन्दर माल असत् जड़ दु.खरूप है। नाम रूप बाहर से बड़ा मोहक और अच्छा दीखता है लेकिन अन्दर माल असत् जड़ दुःख रूप है। दूसरी तरफ उस परब्रह्म परमात्मा के स्वरूप का विचार करो तो लगता है कि वहां तो इस दुनिया का कुछ ठाठ बाट है ही नहीं ऐसा लगता है, लेकिन वस्तुतः कैसा है ? सत् चित् और आनंद रूप है। प्रतिबिम्ब की मोहकता के कारण दर्पण को देखते हुए भी मनुष्य नामरूपात्मक आसक्ति के कारण जिस दर्पण के कारण प्रतिबिम्ब की प्रतीति हो रहा है, उस दर्पण को भूल जाता है। ऐसे ही नाम रूप की प्रतोति आत्मा रूपी दर्पण में हो रही है नाम रूप असत् जड़ दुःख रूप हैं। लेकिन इतने आकर्षक हैं कि जिस आत्मा में इसका भान हो रहा है उस आत्मा को जीव नहीं पकड़ पाते। अब यदि दर्पण को देखना चाहते हो तो सारे प्रतिबिम्ब को हटा दो, फिर उसका ज्ञान सरल हो जायेगा। इसी प्रकार से जब नामरूपात्मक जगत को हटा देते हो तो शुद्ध चेतन का भान हो जाता है, यही उसका अधिष्ठान रूप से भान होना है। जब कुछ भी नहीं रह जाता, नाम रूप की उपाधि भी नहीं रह जाती तब जो भान रह जाता है वही शुद्ध चेतन का भान है। यही चैतन्य रूपी दर्पण है जिसके ऊपर इस सारे जगत की प्रतिति हो रही है। जैसे दर्पण के सामने से कई आदमी आते हैं, जाते हैं। हरेक उस दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब देखता है, लेकिन इतने प्रतिबिम्बों के पड़ जाने पर भी क्या दर्पण में कोई

दाग आता है। कांच के सामने हजार आदमी अपना मुँह देखेंगे तो क्या कांच में कोई फरक आ जाता है ? वैसा का वैसा रहता है। इसी प्रकार अनंत कोटि ब्रह्माण्ड इस आत्मा में नामरूपात्मक दृश्य-प्रपंच रूप से प्रतीत होने पर भी 'असंगोह्ययं पुरुष:'। यह आत्मा सर्वथा असंग हुआ हुआ, निर्विकार हुआ हुआ, जो जो सामने आता है, उस उस के प्रतिबिम्ब को देखता रहता है, लेकिन इससे उसमें कोई भी फरक नहीं आता। इसको पकड़ना आवश्यक है इसको पकड़ने से ही काम होगा। यही श्रुति ने कहा 'सदेवसोम्येदमग्रआसीद् एक-मेवाद्वितीय' अग्रे निर्व्यापारकाले। हे सौम्य ! निर्व्यापार काल में जब तुम्हारा अंत:करण कुछ नहीं कर रहा होता है, किसी भी वृत्ति को नहीं बना रहा होता है, न भाव रूप वृत्ति को, न अभाव रूप वृत्ति को, न शून्य रूप वृत्ति को, न अर्थरूप वृत्ति को, किसी भी प्रकार किसी भी व्यापार की वृत्ति बनाने के पहले सत् एव एक अद्वितीयं अर्थात् एक अखण्ड अद्वितीय चिन्मात्र सत् रूप ही सत् रहता है। जहाँ तुमने अंत.करण से कुछ बनाने का प्रयत्न किया तो 'कारक-व्यवहारेषु शुद्धं वस्तु न वीक्ष्यते' जहाँ पर कुछ करने का प्रयत्न किया, कारक व्यवहार किया तो फिर वह वस्तु नहीं दीखती। वस्तु तो तब भी दीख रही है लेकिन शुद्ध रूप से नहीं दीखती। यही इस परमात्म तत्व के दर्शन की सरलता भी है, और कठिनता भी है। दोनों एक साथ समझना। अंत:करण को सारे व्यापारों से रहित करने का मतलब कोई नया व्यापार करना नहीं है। हम लोग शुद्ध परमात्मा को करण से खो देते हैं। हम समझते हैं कि कुछ करके वह मिलेगा। कुछ न कुछ मन में करेंगे तब मिलेगा, क्योंकि इस नामरूपात्मक मायाप्रपंच में कुछ न कुछ करके ही हमेशा मिला है, इससे मन में यह भावना बैठी हुई है कि परमात्मा भी कुछ करके ही मिलेगा। जप करो, ध्यान करो, दान करो, तप करो, तीर्थ यात्रा करो, समाधि लगाओ, कुण्डलिनी जगाओ, कुछ न कुछ करो तब यह मिलेगा। यह जो करना है, यही तो उसको ढांक रहा है। अत्यंत शुद्ध कांच के सामने तुम

टार्च जलाकर देखना चाहोगे तो टार्च दीखने लगेगा, कांच फिर नहीं दीखेगा। अग्रे अर्थात् निर्व्यापार काल के अन्दर ही वह चिन्मात्र स्थित है। इसकी निर्व्यापारता को करना नहीं होता है। व्यापार को छोड़ना ही निर्व्यापारता है। क्रिया को छोड़ना ही नैष्कर्म्य है। किसी कर्म को अपने सिर पर फिर से ओढ़ लेना नहीं। नाम-रूपात्मक प्रपंच में क्योंकि हमेशा कुछ करके पाया है, इसलिये यहाँ भी कुछ करके पाना चाहते हो, और कुछ करने से ही वह खो जाता है।

पुराणों में कथा आती है कि पहले अग्नि का एक भाई था। उसका नाम जातवेदा था। 'जातवेदा इति ख्यातो ह्यग्ने र्भ्राता' जातवेदा नाम का भाई देवताओं के हव्य को ले जाकर उन्हें पहुँचाता था। यहाँ लोग जब कोई आहुति देते थे तो उस आहुति को जातवेदा उस काल में ले जाकर देवताओं को पहुँचा देता था। यह उसका काम था। एक बार ऋषि लोग गौतमी नदी के तीर पर यज्ञ कर रहे थे। उस यज्ञ में जातवेदा हव्य ले जाकर देवताओं को पहुंचा रहा था। गौतमी के तीर पर हवन करते हुए ऋषियों के द्वारा दिया हुआ हव्य देवताओं के पास पहुँचा रहा था, उसका काम ही यह था। राक्षसों ने देखा कि हम लोग मारपीटकर देवताओं को दबा लेते हैं लेकिन थोड़ी देर बाद ये ऋषि लोंग उन्हें फिर से यज्ञ के द्वारा हव्य पहुंचा कर पुष्ट कर देते हैं। असुरों ने सोचा कि यह बड़ा टण्टा है। जैसे हिन्दुस्तानी लोग कोशिश कर कराकर पाकिस्तान को दबा देते हैं और फिर अमरीका चीन वाले उन्हें हव्य पहुँचा देते हैं तो वे फिर खड़े के खड़े। इसलिये असुरों ने सोचा कि जब तक इस जातवेदा का काम तमाम नहीं करेंगे तब तक काम गड़बड़ होता रहेगा। हम लड़ाई जीते हुए भी हार जाते हैं। यह विचार कर मधु नाम के दैत्यराज ने उस सत्र सदन के अन्दर, जहां यज्ञ हो रहा था, वहाँ ऋषि और देवताओं के देखते देखते ही जातवेदा को मार डाला। मधु बड़ा वलिष्ठ था

इसलिए देवता और ऋषि कुछ नहीं कर सके। इतना ही नहीं, ऐसा होते ही ऋषि भी वहाँ से भागे और देवता भी भागे। अग्नि ने विचार किया कि लड़ाई झगड़े का मामला है, अपने तो यहीं गौतमी में छिप जायें। यह विचार करते ही अग्नि उसमें घुस गया। असुर हमेशा ही प्रबल रहे हैं। देवताओं को हमेशा ही दबा देते हैं, क्योंकि आजकल कई बार आदमी घबरा जाता है और कहता है कि पाप ही जीतता है। यह तो हमेशा से जीतता रहा है, कोई नई बात नहीं है। फरक केवल यह है कि पाप जीतकर भी पाप होने के कारण अंत में समाप्त हो जाता है, टिकता नहीं। जीतने पर भी हारना पाप का रूप है। जैसे आजकल के युग में धन सारे के सारे कौन सा कमाते हैं? नम्बर दो का, सब जानते ही हो। लक्षण करने की जरूरत नहीं। लेकिन जितना दो नम्बर का कमाया हुआ है, जाता भी दो नम्बर में ही है। कपड़ा बेचकर दो नम्बर का कमाया, अनाज खरीदने में दो नम्बर में गया, लड़की के व्याह के लिए सोना खरीदने में दो नम्बर में गया। वह कोई रहता थोड़े हो है। फिर कौन सा धन रहता है? एक नम्बर वाला। अगर किसी से उसमें से खर्च करने को कहो तो कहता है यह नहीं करूंगा, पूँजी घट जायेगी। ब्लैक वाला (दो नम्बर वाला) चाहे दस हजार चला जाये, वह तो फिर कमा लेंगे। एक नम्बर का एक बार गया कि फिर पूंजी बनाना बड़ा टेढ़ा मामला। दो नम्बर का धन कमाया ज्यादा जाता है, पर टिकता नहीं। एक नम्बर का जितना भी कमा लिया, वह फिर खर्च नहीं होता है। आपत्ति आने पर भी आदमी बचा कर रखता है कि कहीं यह गड़बड़ न हो जाये। इसी प्रकार से पाप हमेशा से जीतता है परन्तु टिकता नहीं। पुण्य हारा हुआ भी टिका रहता है, नष्ट नहीं होता।

जातवेदा मर गया और अब आगे देवताओं को हव्य मिलना बन्द हो गया। सबने गौतमी तीर पर जाकर गौतमी नदी में छिपे

अग्नि से प्रार्थना की कि तुम जातवेदा के भाई हो, तुम्हीं अब यह हव्य पहुँचाने का काम लो तो हम सब लोग जियें। हम लोग तो जातवेदा के द्वारा ही लाये हुए हव्य भाग से जीते थे। अब वह चला गया तो अब तुम ही हमारी रक्षा करो। देवता, मनुष्य इत्यादियों ने जाकर कहा कि देवताओं को हव्य के द्वारा जिलाओ और पितरों को कव्य के द्वारा जिलाओ। पितरों को जो आहुति दी जाती है, उसे कव्य कहते हैं। देवताओं की आहुति में 'स्वाहा' और पितरों की आहुति में 'स्वधा' बोला जाता है। इतना ही नहीं 'मानुषां अन्नपाकेन' केवल देवताओं को और पितरों को ही अग्नि की जरूरत हो, ऐसा नहीं, मनुष्यों को अन्न पकाने को भी जरूरत पड़ती है। पकाने वाला भी अग्नि ही है। 'बीजानां' जब बीज को बोते हो तो उस बीज को फोड़कर अंकुर आदि निकालने वाला भी अग्नि ही है। बढ़िया सुन्दर जवारे लेकर घर के अन्दर बोते हो। बालू मिट्टी ले आये, जवारे उसमें डाल दिये, उसमें पानी डाल दिया। यह सारा काम करने के बाद नौ तो नवदुर्गा के लगा देना, और दसवां जवारा वेदांतशास्त्र का लगा कर रैफ्रिजरेटर में रख देना। नव दिन के बाद देखोगे कि नव दुर्गा वाले नौ तो हाथ भर लम्बे, और दसवां रेफ्रिजरेटर में रखा हुआ वेदांत के जवारे का बीज फूटा ही नहीं। वैसा का वैसा रहेगा। इससे सिद्ध होगा कि बीज को गर्मी ही अंकुर रूप में कर सकती है। बिना अग्नि के अंकुर नहीं होता। मनुष्य, पितर, देवता सब अग्नि के बल से ही जीते हैं। सबने जाकर प्रार्थना की तो अग्नि ने कहा—बड़ो-बड़ी बातें बोलते हो लेकिन मैं अब तुम लोगों की बात में फंसने वाला नहीं हूँ। देख लिया तुम लोगों को। आप लोगों का काम करते हुए जो मेरे भाई जातवेदा की गति हुई, वही गति मेरी भी होनी है। मधु आयेगा और मुझे भी मार डालेगा और तुम सब छोड़छाड़ कर भाग जाओगे। इसलिये मेरे को कुछ भी उत्साह यह सब करने के लिये नहीं हो रहा है। देवताओं ने

कहा कि यह तो बड़ी मुश्किल हो गई। देवताओं ने उसे फिर आश्वस्त किया कि तुम्हारी यह गति नहीं होने देंगे। अबकी बार अवश्य कुछ इंतजाम करेंगे। जब तक सृष्टि रहेगी, तब तक तुम नहीं मरोगे, ऐसी तो हम लोग तुमको आयु देते हैं। दूसरे, तुम्हारे बिना जो कर्म किया जायेगा, उसमें हम कभी कोई सहयोग नहीं करेंगे, और सारे संसार में व्यापक तुम बने रहोगे जिससे एक जगह अगर असुर तुमको नष्ट भी करें तो दूसरी जगह तुम वैसे के वैसे बने रहोगे। तुम हमारे हव्य को ले जाने लगो। प्रयाज, अनुयाज इष्टियों में हम तुमको हिस्सा देंगे और जो तुम दोगे, वही हम खायेंगे। जब अग्नि को इतना आश्वासन मिल गया तब उसने देवताओं के लिए हव्य ले जाने का भार अपने सिर लिया। इसीलिये अग्नि की आयु अनंत है, कभी खतम नहीं होती। प्रत्यक्ष में सूर्य को देख लो जो अग्निस्वरूप है। सृष्टि के आदि से तप रहा है, उसमें से गर्मी निकल रही है लेकिन कलकत्ते में गर्मी पहले से ज्यादा पड़ने लगी है। अनुभव कहेगा कि ज्यादा पड़ने लगी है। यदि अग्नि की आयु अनंत न होती तो धीरे धीरे ठण्डी पड़नी चाहिए थी, लेकिन ठण्डी नहीं पड़ती है। कोई भी शास्त्रीय कर्म करो तो सबसे पहले 'दीपं प्रज्वाल्य' दिये को जलाते हैं। अग्निसाक्षिक ही कर्म हुआ करते हैं। व्यापक अग्नि है। जहाँ लकड़ी इत्यादि में अग्नि नहीं दीख रही है उसको भी घिसो तो अग्नि प्रकट हो जाती है। हर प्राणी के अन्दर विद्यमान अग्नि है। जिस समय अग्नि नहीं रहती, कहते हैं अब यह ठण्डा हो गया। अब चार आदमियों को बुलाने का इंतजाम करो। नीमतल्ले ले जाने के लिये। अग्नि व्यापक है। 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो' सारे पदार्थों में अग्नि व्याप्त हुई रहती है। कहीं प्रकट रूप में, कहीं अप्रकट रूप में। इस प्रकार से अग्नि को जब वरदान मिला तो अग्नि ने देवताओं का कार्य करना प्रारंभ किया।

इसके द्वारा पुराण क्या बता रहा है? वेद नाम ज्ञान का है। विदि ज्ञाने धातु से वेद शब्द की व्युत्पत्ति

है । जातवेदा का मतलब होता है उत्पन्न हुआ ज्ञान, अर्थात् वृत्ति ज्ञान । घड़े को जब जानते हो तो घटज्ञान पैदा होता हैं । किसी भी चीज को जानोगे, तब उस चीज का ज्ञान पैदा होता है। इसलिये जब तक व्यापार में, संसार के व्यवहारों में, लगे हुए हो तब तक तो जातवेदा ही हव्यवात है । अर्थात् घट, पट, मठ, कट जिस जिस पदार्थ का ज्ञान पैदा होता है, वही तुम्हारे लिये हव्य बनता जाता है, क्योंकि ज्ञान होकर के तुम्हारे मन में पहुँचा और वहाँ आसन मारकर बैठ गया । तभी आगे स्मृति आती है। जिस चीज का ज्ञान होता है वह वृत्ति ज्ञान है । उत्पन्न ज्ञान ने तुम्हारे अंतःकरण में हवि को पहुंचा दिया । अग्नि ज्ञान स्वरूप है । घड़े का, कपड़े का ज्ञान तो पैदा होता है, लेकिन जो केवल ज्ञान है, वह नित्य है, वह कभी पैदा नहीं होता, हमेशा है । यह निर्व्यापार ज्ञान है। एक कारक व्यवहार वाला ज्ञान, और दूसरा कारकशून्य ज्ञान है । अग्निरूपी जो स्वरूप ज्ञान है, वह जातवेदा के साथ भी है, अर्थात् जब जातवेदा था तब वह अग्नि से आहुति को लेकर देवताओं को पहुँचाता था, अग्नि तब भी था । जब वृत्तिज्ञान को निर्विकल्प अवस्था में समाप्त कर दिया तब जातवेदा तो समाप्त हो गया लेकिन अग्नि रह गया । जातवेदा को समाप्त करने का काम मधु ने किया । मधु विद्या वृहदारण्यक और छांदोग्य उपनिषद् में आती है। मधु विद्या में यही बताया है कि जिस प्रकार भौंरा गुलाब से, कमल से, चमेली से, चम्पक से, नीम के पेड़ से, आम की मंजरी से मधु इकट्ठा करता है, लेकिन जब उसने मधु इकट्ठा करके छत्ते में पहुँचा दिया तो सब एकरूप हो गया । फिर जब तुम उस मधु को खाते हो तो क्या पता लगता है कि यह नीम का मधु है या कमल का मधु है या गुलाब का मधु है । कुछ पता नहीं लगता, सब एक रूप हो जाता है । उसी प्रकार से घट, पट, मठ, कट, आदि जितने ज्ञान हैं, उन सबमें से जब तुमने ज्ञान का आहरण किया तो वह सब एक रूप ही रह गया । यह मधु विद्या में बताया गया है । इस ज्ञान

के द्वारा नामरूप का वाध हो जाता है। जैसे शहद के अन्दर अलग-अलग नाम रूप का या स्वाद का ज्ञान नहीं होकर केवल मिठास का ज्ञान है, उसी प्रकार जव मनुष्य उस चीज को समझ लेता है, तब फिर जातवेदा हव्यवाट् न रहकर जो कुछ भी वह जानता है, उसमें से नामरूप का बाध करके केवल अग्नि ज्ञान को ही पकड़ता है। अब उसके अंतःकरण में सिवाय ज्ञान के और किसी नाम रूप की वासना का आसन नहीं जमता, और जहाँ इनका आसन नहीं जमा, वहाँ काम हो गया। उसी को यहाँ श्रुति ने कहा 'सदृष्टः मृडयातिनः' दृष्टः अर्थात् सारे नामरूपात्मक उपाधि के ज्ञानों से अलग करके केवल शुद्ध ज्ञानमात्र को समझ लिया। इस अग्निरूपी स्वरूपज्ञान को समझ लिया तो वह फिर पूर्ण सुख को प्राप्त कर लेता है। मृड का रूप अगले मंत्र में बतायेंगे।

२२.३.७५

आठवाँ मंत्र

नमोस्तु नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे ।
अथो ये३अस्स सत्वानोहन्तेभ्योकरन्नमः ॥८॥

सातवें मंत्र में जो परमात्मा की सुलभता बताई थी, उसको अब आठवें मंत्र में, कितने प्रकार से उन अनुभवों को किया जाता है, इसके स्वरूप प्रतिपादन द्वारा बतायेंगे। 'नीलग्रीवाय सहस्राक्षाय मीढुषे नमः अस्तु' नीलग्रीव का अर्थ सातवें मंत्र में आ चुका है। सहस्राक्षाय अर्थात् अनंत इन्द्रियों वाले, आनंद की वर्षा करने वाले उस परब्रह्म परमात्म तत्व के प्रति हमारा प्रणाम हो। 'अथो ये अस्य सत्वानोहन्तेभ्योकरन्नमः' और भी जो इसके सात्विक अंश हैं, जो उस परमात्मा के सत्वगुणविशिष्ट रूप हैं, उनके प्रति भी मैं नमस्कार को करता हूँ। उस परमात्मा को यहाँ नीलग्रीव और सहस्राक्ष बताया। एक तरफ वह माया के भी दाग से दाग वाला होने से नीलग्रीवा बना हैं। उसके द्वारा भी वह अनन्त इन्द्रियों वाला होने से सहस्राक्ष है। यह जो परमात्मा का मायाविशिष्ट रूप है, परमेश्वर की अनन्त शक्तियों वाला रूप हैं, यह हमारे लिये आनन्दवर्षक है। विना माया के जो रूप है, वह आनन्दस्वरूप है; और यह आनन्द की वर्षा करने वाला रूप है। इसलिये इसको यहाँ मीढ़षे कहा। समुद्र का जल अगाध है, असीम है, सारे जलों का अंतिम आश्रय है। पृथ्वी पर जहाँ कहीं जल दिखाई देता है, उसका अंतिम स्रोत समुद्र ही है और पृथ्वी में जहां कहीं जल है, वह समुद्र की ओर ही जाता है। गंगा, जमुना, कावेरी, नर्मदा, सिन्धु, वितस्ता सभी नदियाँ समुद्र की तरफ ही जा रही हैं। इस-

लिये जल का स्वरूप, जल का अधिष्ठान और जल का आश्रय समुद्र है। लेकिन क़लकत्ते में रहने वाले लोग तो चाहे चालीस मील चल-कर डायमण्ड हार्बर से समुद्र के जल को ले भी आयें, मारवाड़ के रहने वाले क्या समुद्र में से जाकर बाल्टी भर कर ला सकते हैं। बनारस वालों के लिए ही यहाँ से वहाँ पानी को ढोना मुश्किल है। सच्ची बात तो यह है कि कलकत्ते वालों के वस का भी नहीं है कि चालीस मील दूर से पानी लायें। इसलिये समुद्र जल का एक आश्रय, एकायतन होने पर भी मनुष्य के लिये कौनसा जल काम देता है? बादल का। वही जल को वहाँ से लाकर वर्षा करता है। बरसा हुआ जल ही नदियों के रूप में, कुओं के रूप में, तालावों, झीलों के रूप में, पहाड़ों के स्रोतों के रूप में, बादलों से बरसा हुआ जल ही हमारे काम का है। इसी प्रकार से वह परब्रह्म परमात्म तत्व आनंद-स्वरूप है, लेकिन जब तक वह माया रूपी उपाधि से हमारे ऊपर कृपा करके हमारे हृदय में आनन्द की वर्षा नहीं करता, तब तक उस आनन्द रूप ब्रह्म से हम लाभान्वित नहीं होते। इसलिये यहाँ कहा 'सहस्राक्षाय मीढुषे'। इस परब्रह्म परमात्म तत्त्व के ऊपर, सच्चिदानन्द ब्रह्म के ऊपर, भिन्न-भिन्न प्रकार के आवरण हैं, इसलिये इसके ज्ञान भी भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। है यह परमात्म तत्त्व अखण्ड ही, लेकिन अखण्ड होकर के भी हमारे लिये इसका ज्ञान सहस्राक्ष अर्थात् अनेक प्रकार का है। नीलग्रीवाय के द्वारा बताया कि हमारे काम का माया विशिष्ट है। मीढुषे के द्वारा कारण बताया क्योंकि वही हमारे ऊपर आनन्द की वर्षा करता है। इसी आकाश को हम भिन्न-भिन्न प्रकार से देखते हैं। आकाश अखण्ड है, व्यापक है, भाद्रपद की अमावास्या के दिन जब चारों तरफ घोर बादल भरे हुए होते हैं तब भी इस आकाश का दर्शन होता है। होता जरूर है लेकिन कुछ पता नहीं लगता कि यह आकाश कितना बड़ा है, क्या है। ऐसी रात्रि के दिन यदि कहीं ऐसी जगह चलना पड़े जहाँ बिजली इत्यादि न हो, तो आदमी पैर को भी उठाकर सामने पहले धीरे से

पंजा रखता है, टोह कर देखता है, तब स्थिर होकर पैर रखता है क्योंकि पता नहीं चलता।

प्राचीन काल में भारतवर्ष का एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय, तक्षशिला विश्वविद्यालय वहाँ था जिसे आजकल अफगानिस्तान कहते हैं। प्राचीन काल में उसे गांधार देश कहते थे। जैसे कुछ दिन पहले तक जो सिन्ध था, वह आज पाकिस्तान बन गया। इसी प्रकार गांधार देश हमारी ही आर्य संस्कृति का एक खण्ड था, अब वह अफगानिस्तान बन गया है। तक्षशिला विश्वविद्यालय में लड़कों की भर्ती के लिये कई परीक्षायें होती थीं। उसमें एक परीक्षा थी कि जब विश्वविद्यालय के कुलपति के पास जाना होता था तो एक अंधेरी गुफा में से निकलना पड़ता था। उस काल में बुद्धि की परीक्षा लेते थे। आजकल की तरह बच्चे के माँ बाप की कमाई की परीक्षा नहीं लेते थे। आज स्कूल में भरती होने जाओ तो परीक्षा माँ बाप की कमाई की की जाती है। दिल्ली में एक सज्जन हैं। उन्होंने अपनी लड़की को किसी अच्छे स्कूल में दाखिल करने को भेजा तो वहाँ से चिट्ठी आई कि इण्टरव्यू होगा। उन्हें आश्चर्य हुआ कि चार साल की लड़की का क्या इण्टरव्यू होगा। ले गये, प्रिंसिपल के कमरे में भेजा, वापस आई तो लिखा था कि भरती नहीं होगी। उन्होंने सोचा था कि मैंने इसे काफी चीजें समझा रखी हैं, इसलिए कक्षा के लायक है। उन्होंने लड़की से पूछा कि इण्टरव्यू में क्या पूछा था जो तूने जवाब नहीं दिया। उसने कहा कि और तो कुछ नहीं पूछा, यह पूछा था कि घर से किसमें चढ़कर आई है। मैंने कहा रिक्शा में। पिता समझ गये। परीक्षा कर ली कि जो लड़की घर से मोटर में नहीं आ सकती, वह हमारे स्कूल के लायक नहीं। आजकल यह परीक्षा होती है। अथवा कहीं और स्थूल रूप में कहते हैं कि सौ रुपया महीना दे सकते हो या नहीं। बुद्धि की परीक्षा कौन लेता है। लेकिन तब तक यह अर्थव्यवस्था नहीं थी। उस विश्वविद्यालय में एक अंधेरी गुफा बना रखी थी, उसमें से निकलना पड़ता था। उस गुफा के बीच में ऊपर की तरफ एक घण्टा लगा हुआ था और वह

ऐसा लगा हुआ था कि जब कोई भी उस अंधेरे में जाय तो जैसे ही उसका माथा भिड़े कि खट टन की आवाज आ जावे। जो बिना आवाज हुए विश्वविद्यालय के कुलपति के पास पहुँच जाता था, उसे तुरन्त भरती कर लिया जाता था कि यह टटोलते हुए हाथ रखकर अंधेरे में चला है, बुद्धिमान लड़का है। जिससे एक वार टन की आवाज आती थी और फिर पहुँच जाता था, तो उसकी भर्ती तो कर लेते थे, लेकिन उसका कुछ विशिष्ट परीक्षण भी रखा जाता था। जिसकी दो तीन बार टन-टन की आवाज आ जाये, उसे कह देते थे कि तुम भर्ती नहीं हो सकते। जिसने टटोला वह उत्तम बुद्धि है, पहले समझता है कि कैसे जाऊँगा। एक बार टक्कर खाकर समझ गया कि बचकर चलना है, वह मध्यम बुद्धि है, उसको सिखाया जा सकता है। लेकिन जिसका एक वार माथा टकराया, फिर टकराया, उसे क्या पढ़ाओगे। उसे तो फावडा दो और गड्ढा खोदने में लगाओ, पढ़ाने से क्या होगा ? आजकल की तरह नहीं कि बच्चा नहीं पढ़ता है तो दो-दो तीन-तीन ट्यूशन रखो, अलग से मास्टर लगाओ, पढ़ाना जरूरी है। जिसके अन्दर बुद्धि तत्त्व नहीं है, उसको पढ़ाकर करोगे क्या ? उससे न उसका अपना कल्याण, न देश का कल्याण, न धर्म का कल्याण, किसी का कल्याण नहीं।

भाद्रपद की अमावास्या के दिन मेघाच्छन्न आकाश होगा तो उस आकाश में भी आदमी को कुछ दीखता तो है, लेकिन फिर भी नहीं के जैसा ही, टटोल-टटोल कर दीखेगा। अथवा विना बादल के समझ लो कार्तिक की दीवाली या अमावस्या की रात्रि में बादल न होने से तारे तो थोड़े नजर आते हैं, उन तारों के प्रकाश में आकाश भी कुछ कुछ नजर आता है, इसलिये भाद्रपद की अमावास्या वाला हिसाब तो नहीं, लेकिन वह कुछ नजर आना भी नजर नहीं आने जैसा ही है। उसमें कुछ काम नहीं कर सकते क्योंकि तारों की रोशनी बड़ी हल्की रोशनी होती है। तीसरा समझ लो कि शरद् पूर्णिमा के दिन चन्द्रमा पूरी तरह से उदय हुआ है। उसमें भी एक ज्ञान हो रहा

है। आकाश काफी साफ नजर आता है। कई बार तो शरत् पूर्णिमा की रात्रि को सुई में धागा डालकर परीक्षा करते हैं कि मेरी आँख ठीक है या नहीं। यदि उस दिन धागा सुई में डाल लो तो समझ लो कि आँख में अभी कोई खराबी नहीं है। आकाश काफी साफ दिखाई देता है, फिर भी उतना साफ नहीं जितना धूलिपटल के दिन। जिस दिन धूल उड़ी हुई हो, उस दिन सूर्य के प्रकाश में जो आकाश दिखाई देता है, वह पूर्ण चन्द्रमा के प्रकाश से भी ज्यादा साफ दिखाई देता है। लेकिन उस धुंधली रोशनी से फिर भी निर्मल आकाश के दर्शन नहीं। जिस दिन धूलिपटल भी न हो और दिन के बारह बजे पूरी तेजी से सूर्य चमक रहा हो, उस समय जो स्पष्ट आकाश का दर्शन है, उससे आकाश की अनन्तता, असीमता स्पष्ट भान हो जाती है। अब विचार करो—भाद्रपद की अमावस्या को, दीवाली की अमावास्या को, शरत् पूर्णिमा की रात्रि को, धूलिपटल युक्त सूर्य वाले दिन और सर्वथा निर्मल सूर्य वाले दिन, पाँचों दिन देखा तो आकाश ही, कोई अलग चीज नहीं देखी है। लेकिन आकाश दीखने पर भी आकाश के ज्ञानों में फरक है। इसी प्रकार परब्रह्म परमात्मा की प्रतीति भी भिन्न-भिन्न प्रकार की होती है। यहाँ तो सहस्राक्षाय अर्थात् अनंत प्रकार की कह दिया। भाद्रपद की अमावास्या में जैसा आकाश का ज्ञान, वैसा ब्रह्म का ज्ञान गहरी नींद में होता है। जैसे भाद्रपद की अमावास्या को कुछ नहीं सूझता, कुछ पता नहीं लगता, पर हो रहा है आकाश का ही ज्ञान, ठीक उसी प्रकार से जब आदमी सुषुप्ति में जाता है, उस समय जो आत्मा का भान है, वह भाद्रपद की अमावास्या की तरह है। इसीलिये आदमी अपना अनुभव बताता है 'नाहङ्किञ्चिद-वेदिषं न बाह्यं नाभ्यन्तरं' मेरे को कुछ होश नहीं रहा। न मुझे बाहर की किसी चीज का होश हवास था और न अन्दर के किसी सुख दुःख आदि का भान था। कुछ भी पता नहीं था। गहरी नींद का अनुभव यही तो है। उस समय न पता लगता है कि तुम मखमल पर सो रहे हो न भूसी पर सो रहे हो। भूसी भी बड़ी गरम होती

है, नींद आने के बाद इसका कुछ पता चलता है। एक जैसी स्थिति होती है।

एक महात्मा कहीं जाकर ठहरे जहाँ का राजा बड़ा सत्संगी था। वह भी महात्मा के पास आया करता था। महात्मा स्वभाव से उससे पूछ लिया करते थे कि रात में नींद ठीक आई ? आराम से सोया ? रोज सवेरे सत्संग में यहीं पूछते थे। पाँच सात दिन हुए तो राजा को खटका कि रोज महात्मा जी मेरे से यही क्यों पूछ लेते हैं। वह तो स्वाभाविक ही पूछ लेते थे। 'शं····रात्रि-प्रतिधीयतां।' मेरे दिन और रात्रि भी कल्याण से ही बीतें। राजा नें सोचा कि आज पहले मैं ही महात्मा जी से पूछूँ। पहुँचते ही महात्मा रोज की तरह पूछे, उससे पहले ही राजा ने पूछा—महात्मन्! आज रात में नींद ठीक आई थी ? महात्मा ने सोचा कि यह तो मेरे से ही पूछ रहा है। अपनी तो रोज की प्रार्थना ही यह है। चलो अब पूछ लिया है तो इसे कुछ उपदेश करना चाहिये। कहा—राजन्! कुछ तेरे जैसी और कुछ तेरे से अच्छी बीती। राजा ने देखा कि इनके पास एक तो कम्बल है, तख्ते पर सोते हैं, इनको क्या बढ़िया नींद आती होगी। राजा नें पूछ लिया कि मेरे से अच्छी आई वाली बात मेरी समझ में नहीं आई। महात्मा नें कहा कि जब तू सोने गया तो सोच रहा था कि आज अमुक मंत्री ने मेरे मन का काम नहीं किया, अब वह ज्यादा स्वतंत्र होता जा रहा है, उसे निकालनें का इंतजाम करना चाहिये। परन्तु वह विरोधी न बन जाये इसका पहले इन्तजाम कर लूँ। और पड़ोसी राजा बड़ी तैयारियाँ कर रहा है, खूब फौज फांटा तैयार कर रहा है। हमने कई दिनों से फौज का खर्चा कम कर रखा है। इसलिये अब कहीं से पैसा लाकर फौज तगड़ी बनानी पड़ेगी। इन चिंताओं को करते हुए तू सोया। मैं जब सोने गया तो परब्रह्म परमात्म तत्त्व का चिंतन करते हुए। वह कैसा आनंद स्वरूप है, सुन्दर है, कल्याण रूप है, सकल कल्याण गुण-निधान है, ऐसा विचार करते हुए सुख की बातों को सोचते हुए सो गया। उस समय तू चिंता ग्रस्त और मैं चिंता निर्मुक्त था।

उस समय मैं तेरे से अच्छा था। उसके बाद तेरे को भी गहरी नींद आ गई और मेरे को भी गहरी नींद आ गई। उस समय न तेरे को मखमल के गद्दे का भान था, न तेरे ऊपर जो दासियाँ पंखा कर रही थीं, उस हवा का तुझे भान था, और न चारों तरफ जो बढ़िया सुगन्धित धूप इत्यादि जल रहे थे, उनका ज्ञान, और न दूसरा ही कोई ज्ञान था, वहाँ कुछ भी नहीं था। अथवा आज-कल की भाषा में समझ लो कि न तेरे को डनलोपिलो का, न वातानुकूल का भान था। उस समय मेरे को भी न अपने कम्बल का भान था और न ही जो मच्छर काट रहे थे, उनका भान था। उस समय तू और मैं दोनों एक जैसे थे। प्रातःकाल आँख खुलते ही तू सोचने लगा कि आज रात्रि के काल में जब मैं सोया तो अमुक अमुक व्यक्ति को अमुक अमुक काम कहना था, वह कहना भूल गया। जितने काम बाकी रहते हैं, वे सवेरे याद आ जाते हैं। अमुक राजा को चिट्ठी लिखवानी थी, जो कल ही भेजनी चाहिये थी, नहीं भेजी। काम अटक जायेगा, इसलिये झट हाथ मुँह धोकर मंत्री को बुलाया और चिट्ठी लिखवा दी। मेरी आंख खुलते ही मैंने पुनः उस शांत परब्रह्म परमात्मा का चिंतन किया, हृदय बड़ा विकसित हो गया, प्रसन्नता आ गई। उस समय भी मैं तेरे से अच्छा था। गहरी नींद काल में जैसा तू, वैसा मैं, लेकिन नींद आने के आगे पीछे मैं आनंद और कल्याण रूप, और तू दुःख और चिंताग्रस्त अशांत। इसलिये मैंने कहा कि मेरी रात कुछ तेरे जैसी और कुछ तेरे से अच्छी बीती। राजा समझ गया। जितनी भी सोने के समय की तैयारियाँ हैं वे नींद आने की तैयारियाँ हैं। नींद आने के बाद कोई फरक नहीं पड़ता। गहरी नींद में जैसे न बाहर किसी चीज का भान, न अंदर के किसी सुख-दुःख का भान। ऐसा भान गहरी नींद का आत्मा का भान है। लेकिन इसमें भी आत्मा की निर्मलता, अनंतता और असीमता की प्रतीति नहीं है।

दूसरा कार्तिक की अमावास्या की रात्रि का थोड़ा-थोड़ा

प्रकाश, यह स्वप्न का ज्ञान है। जैसे दीपावली की रात्रि को आकाश का ज्ञान होता है, तारे दीखते हैं लेकिन साफ कुछ पता नहीं लगता। कई बार ऐसा होता है। कभी जरा कलकत्ते से बाहर लिलुआ तक ही चले जाना। तारों को देख रहे हो, अकस्मात् दो चार तारों का दीखना बंद हो जाता है, थोड़ी देर दीखते हैं, फिर नहीं दीखते, फिर दीखते हैं। ऐसा क्यों होता है ? कोई चिड़िया या उल्लू उड़ जाता है तो वह जब जिस तारे के सामने से उड़ेगा, वह तारा उतनी देर नहीं दीखेगा, वह चिड़िया आगे चली जायेगी तो दीख जायेगा। ऐसा लगता है कि तारा देखा, नहीं देखा। और अनुभवी है तो यह भी पता लग जाता है कि चिड़िया उड़ी लेकिन यह पता नहीं लगता कि कौन सी चिड़िया कहाँ से उड़ी, कहाँ चली गई। इसी प्रकार स्वप्न के अन्दर पदार्थ टिमटिमाते हुए दीखते हैं, लेकिन किसी पदार्थ का स्पष्ट भान नहीं होता। उठने के बाद कई बार सिर खुरच-खुरच कर सोचते हो कि स्वप्न के अन्दर हमको एक स्त्री तो दिखी थी लेकिन उसकी साड़ी लाल थी या नहीं, यह स्पष्ट भान नहीं हुआ। वेद में लिखा है कि यदि कोई काम्य कर्म कर रहे हो, किसी यजमान का अनुष्ठान कर रहे हो और स्वप्न में लाल कपड़ा पहने स्त्री देखो तो समझ लो कि काम फतह है, अनुष्ठान सफल हो जायेगा। यजमान को कह दो कि अनुष्ठान पूरा कर ले। बीच में नहीं छोड़ना। काम सिद्ध होगा। यह ब्राह्मण के काम की चीज है। यदि रक्त वस्त्र पहने हुए स्त्री का दर्शन स्वप्न में हो जाये तो पता लग जाता है कि काम सिद्ध हो जायेगा। कई बार जब आदमी स्वप्न से उठता है तो सिर खुरचता रहता है कि साड़ी लाल थी या गुलाबी थी, सोचता है याद आ जाता तो यजमान को कह देता कि अगली तारीख को फैसला तुम्हारे पक्ष में हो जायेगा तो वह खुश हो जाता। लेकिन अब याद ही नहीं आ रहा है कि साड़ी का रंग गुलाबी था या लाल था। क्या कारण है ? स्वप्न काल में जो दर्शन या प्रतीति होती है, वह टिमटिमाती हुई होती है, साफ नहीं होती। किंचित् प्रकाश तो है, उसमें कुछ तो वहाँ देखा

लेकिन स्पष्टता नहीं है ।

अव शरद् पूर्णिमा की रात्रि को जैसा दर्शन होता है, वैसा यहाँ जाग्रत काल का दर्शन है । जैसे शरद् पूर्णिमा के अन्दर आकाश स्पष्ट दीख जाता है, ऐसे ही जाग्रत काल में अपने को पदार्थ स्पष्ट दीख रहे हैं, स्मरण भी होते हैं, उनसे सब व्यवस्था भी चलती है। जैसे वहाँ सुई में धागा पिरो सकते हैं वैसे ही यहाँ जाग्रत काल में भी पदार्थों का ग्रहण हमारे मन में धागो की तरह होता है। स्वप्न पदार्थों का ग्रहण धागों की तरह नहीं कर पाता, क्योंकि आज जो स्वप्न देखा था वह वीच में छूट गया था। अव उस पर कितना भी विचार करो कि उससे आगे क्या हुआ, फिर वह स्वप्न दीखने वाला नहीं है । जैसे कई बार ऐसा स्वप्न आया जिसमें रात्रि में एक वहुत वड़े पण्डाल में हीरे भरे पड़े थे। जैसे हो वहाँ से हीरे निकालने लगे आँख खुल गई। आदमी सोचता है कि जरा आगे का भी देखता तो पता तो लगता कि हीरे हाथ आये या नहीं। अगले दिन तो जाने दो, रात में ही कई बार आँख खुली, फिर करवट वदलकर चाहते हो कि फिर नींद आ जाये, और वह स्वप्न दीख जाये तो नहीं दीखता । जाग्रत काल में सुई में धागे की तरह जैसा आज पदार्थ को देखा, वैसा फिर कल देख सकते हैं, वैसा ही परसों भी देख सकते हैं । ऐसा स्वप्न में नहीं होता । जाग्रत काल का भान शरद् पूर्णिमा की तरह शुद्ध चेतन में हुआ भान है ।

अव जिस दिन हल्का सा धूलिपटल हो उस समय जैसा दिन में भान होता है, वैसा भान जिस समय समाधि का अभ्यास करते हो, तव होता है। समाधि में जो परमात्मा का भान है वहाँ पर केवल हल्का सा एक आवरण रह जाता है, वाकी परमात्मा का भान है। और जैसे विल्कुल साफ निर्मल आकाश में जव सूर्य चमक रहा हो, धूल न हो, वैसा जिस समय तत्त्वसाक्षात्कार, ब्रह्मज्ञान होता है, उस समय स्पष्ट भान हो जाता है । इस प्रकार एक ही आत्मतत्त्व का भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के अन्दर भिन्न-भिन्न प्रकार का दर्शन होता है । लेकिन याद यह रखना कि चाहे वादलों से ढका आकाश

था, चाहे तारों के प्रकाश में आकाश का भान था, चाहे चन्द्रमा के पूर्ण प्रकाश में आकाश था, चाहे धूल के रहते हुए सूर्य के प्रकाश में आकाश था, इन सब अवस्थाओं में आकाश में कुछ नहीं बदला है। बादलों के आने से आकाश का कुछ बिगड़ता है क्या ? ऐसा तो नहीं कि आज पानी बहुत बरसा तो आकाश गीला हो गया, या बहुत जोर की लू चली तो आकाश जलकर खाक हो गया। कुछ नहीं। यह सब हमारी नेत्र की दृष्टि से आकाश में तो परिवर्तन होता है, लेकिन स्वरूप से आकाश वैसा का वैसा रहता है। इसी प्रकार उस परब्रह्म परमात्म तत्त्व में किसी प्रकार का विकार नहीं आता। हम अपने ही दृष्टि भेद से ये सारे फरक करके देखते हैं, लेकिन वह तो वैसा का वैसा चिदानंदरूप ही रहता है। उसमें कोई परिवर्तन नहीं। जब वह इस प्रकार से अनेक प्रकार से समझा जाता है तो अंत में उसका निरावृत ज्ञान हो जाता है। इस निरावृत ज्ञान के लिये आवश्यक है कि शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि और अहंकार इन सबका अत्यंत निरोध होना चाहिए। जब तक इन सबके ऊपर अपना पूर्ण नियंत्रण नहीं आयेगा, पूरा अनुशासन नहीं आयेगा तब तक कुछ काम नहीं बनेगा। शरीर के ऊपर भी पूर्ण नियंत्रण होना चाहिये। शास्त्रकारों ने इसी के लिए यह नियम बनाया हैं कि सवेरे चार बजे उठो। ऐसा नियम क्यों बनाया ? विचार करके देखो तो चार बजे उठना बड़ा लाभप्रद है। गर्मी से गर्मी पड़ रही हो, ठण्डी हवा सवेरे चार बजे चलनी शुरू होती है। जिस दिन रात भर गर्मी पड़ेगी उस दिन भी सबेरे चार बजे कुछ न कुछ ठण्डी हवा का झोंका जरूर आयेगा। वही मोठी नींद का समय है। उस समय यदि तुम शरीर को नियंत्रित करके जग गये तो समझ लो कि तुमने दिन भर के लिये नियंत्रण कर लिया। इसलिये सबेरे चार बजे उठना मामूली चीज नहीं है। इसी प्रकार से सर्दी के मौसम में रजाई सबसे बढ़िया गरमागरम सवेरे चार बजे होती है, क्योंकि दस ग्यारह बजे सोने गये तब रजाई ठण्डी लगती है। आधा घण्टा तो अन्दर ही अन्दर उकड़ होकर पड़े रहे, और चार बजे इतनी

गरम हो जाती है कि आदमी हिम्मत करके थोड़ी सी खोलता है, फिर ढक लेता है कि दो मिनट और। और जहाँ दो मिनट के लिये सोये तो फिर माँ की डाँट खाने को मिलती है कि कहता था सवेरे इम्तिहान है, सुबह उठकर पढ़ाई करूँगा, यह पढ़ाई हो रही है। सवेरे चार बजे उठने से सर्दी गर्मी दोनों कालों में अपने शरीर पर नियंत्रण करना आयेगा। इसी प्रकार से शरीर आदि के जितने नियम शास्त्रों ने बताये, वे इसीलिये बताये कि शरीर पर हमारा नियंत्रण होना चाहिए। आजकल हम लोगों का शरीर अधिक अनियंत्रित होता जाता है। अनेक मशीनें आई हैं, यंत्र आये हैं। उन यंत्रों के साथ हम सनातनधर्मियों का कोई विरोध या झगड़ा नहीं है, लेकिन हम लोगों का कहना यह है कि यंत्र हमारे फायदे के होने चाहिये, यंत्र के लिये हम न हों। जैसे जो बड़ा आदमी होता है, वह लिफ्ट से नीचे उतरता है। हम भी कलकत्ते में कई बार पाँच सात तल्ले चढ़े हैं। हम कहते हैं कि तुम लोगों का इसमें बड़ा सुन्दर व्यायाम हो जाता है। अगर दिन भर में बीस पच्चीस तल्ले चढ़ना उतरना पड़ गया तो शरीर का अच्छा व्यायाम हो गया। जल्दी कोई तकलीफ नहीं होगी। लेकिन अब लिफ्ट बन गई, उससे खट नीचे उतर गये, और खट ऊपर चढ़ गये। मान लो तुम्हें जल्दी कहीं जाना है, कोई ऐसा काम आ गया, कोई बीमार हो गया, किसी डॉक्टर को बुलाना है और तुम झट लिफ्ट से चले गये, यह यंत्र का सदुपयोग ही हुआ। लिफ्ट लगानी चाहिये। लेकिन जब कोई काम नहीं, दस मिनट बाद ऊपर चढ़ोगे तो भी कोई फरक नहीं पड़ना है; तब भी दस मिनट तक नीचे खड़े खड़े लिफ्ट का बटन दबाते रहोगे लेकिन ऊपर नहीं जाओगे। यह यंत्र का दुरुपयोग हुआ। यंत्र का उपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। हमारी दिल्ली में आश्रम से काश्मीरी गेट तीन फर्लांग होगा। बहुत से लोग वहाँ बस के लिये घण्टा भर खड़े रहते हैं। हमसे आकर शिकायत करते हैं कि आज तो सवेरे घण्टा भर बस की इंतजार में खड़े रहे, लेकिन बस नहीं आई। आई तो रुकी नहीं।

कुछ व्यवस्था नहीं है, सरकार बिल्कुल निकम्मी है, किसी काम की नहीं। लेकिन हम उनसे कहते हैं कि यह बताओ कि तुम तीन फर्लांग जमीन दस मिनट में न लाँघ कर सवा घण्टा खड़े रहे तो तुम ज्यादा निकम्मे हुए या सरकार ज्यादा निकम्मी हुई। यह यंत्र का दुरुपयोग हुआ। यंत्र का सदुपयोग करना चाहिये, दुरुपयोग नहीं। अब यंत्र बढ़ते चले जा रहे हैं, सदुपयोग की जगह उनका दुरुपयोग होता जा रहा है। नतीजा यह है कि हमारे शरीर पर हमारा नियंत्रण नहीं रह पा रहा है। थोड़ी सी सर्दी हो जाये तो सहन नहीं, थोड़ी सी गर्मी हो जाये तो सहन नहीं। एक ठण्डी हवा चली तो झट हीटर लग जाता है, एक गरम हवा चली तो वातानुकूल लग जाता। फिर दिन भर गला खराश करता रहता है, जुकाम होता रहता है, लेकिन एक मिनट का दुःख सहन नहीं होता। सदुपयोग यंत्रों का करना चाहिये, उनके द्वारा हम अपने शरीर को अपाहिज बना लें, यह ठीक नहीं। देह का नियत्रण आजकल कम होता जा रहा है।

शरीर के नियंत्रण के साथ इन्द्रियों का नियंत्रण भी जरूरी है। यदि इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं रहेगा तो मनुष्य जो सुनना नहीं चाहता, वह सुनता रहेगा, जो देखना नहीं चाहता, वह देखता रहेगा। और दोनों ही काम इकट्ठे भी हो जाते हैं। कहाँ ? सिनेमा में गंदी चीजें एक साथ ही सुन भी लो और देख भी लो। दोनों काम वहाँ अलग-अलग नहीं करने पड़ते, क्योंकि इन्द्रियों पर नियंत्रण नहीं है। और किसी-किसी सिनेमा घर में तो लोग कुछ खाने के लिये भी ले आते हैं। वहां पर खाते भी रहते हैं, और अँधेरे में खाते होंगे तो उसमें क्या पड़ा हुआ होगा, वह दीखता भी नहीं होगा। इसी प्रकार मन पर नियंत्रण, बुद्धि पर नियंत्रण, यहाँ तक कि अहंकार पर भी नियंत्रण होना जरूरी है। जब तक इनका नियत्रण पूर्ण नहीं हो जाता है तब तक शुद्ध परमात्म दर्शन नहीं हो पाता है। इसलिये यहाँ पर कहते हैं 'अथो ये अस्य सत्वानोहन्तेभ्योकरन्नमः' जो इसका सत्वगुण है, नियामक है, उसके प्रति हमारा नमन हो। अर्थात् वह सत्वगुण

हमारे अन्दर आये। हमारे में ऐसी सामर्थ्य आये कि हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन इत्यादि हमारे नियंत्रण में हों। ये सब जब नियंत्रण में होते हैं, तभी व्यक्ति रूपी फूल पूरा खिलता है। जो भी तुम्हारी चीज तुम्हारे नियंत्रण में नहीं होगी, वह मुँदी की मुँदी रह जायेगी। इन चीजों को बढ़ाना है, घटाना नहीं है। साधना के द्वारा जैसे हम शरीर की शक्ति बढ़ाते हैं, घटाते नहीं हैं, उसी प्रकार बाह्य जितने साधन हैं उनसे शरीर मन की शक्ति बढ़ानी चाहिये, घटाने में न लग जायें। जब इस प्रकार शक्ति का विकास होता है, तब हमारा व्यक्तित्व खिल जाता है, स्फुटित हो जाता है। वह खिला हुआ व्यक्तित्व ही परमात्मा का साक्षात्कार करा सकता है। इसको खिलाने का प्रकार आगे बतायेंगे।

२३-३-७५

उस नीलग्रीव और सहस्राक्ष परब्रह्म परमात्म तत्त्व को आनंद का वृष्टिकर्त्ता बताया। उसका जो सत्व अर्थात् जीव का कल्याण करने वाला सत्व या स्वरूप है, जिसके बिना इस संसार से परमात्मा की तरफ अपने मुख को प्रवृत्त नहीं कर सकते, उस सत्वरूप को, 'अहं तेभ्योकरन्नमः' उसके प्रति अपने भक्ति भाव को प्रकट करते हैं। परमेश्वर की तरफ जो प्रवृत्ति है, वह परमेश्वर की कृपा के बिना नहीं हो सकती, क्योंकि परमेश्वर और जगत दोनों की तरफ प्रवृत्त करने वाला साधन एक ही है, मन। मन ही संसार की तरफ ले जाता है और मन ही परमेश्वर की तरफ ले जाता है और यह मन स्वरूप से अज्ञानरूप है। 'मनोमात्रमिदं द्वैतं तन्मनोऽज्ञानमात्रकं अज्ञानं भ्रम इत्याहुः विज्ञानं परमं पदं।' जो कुछ भी द्वैत का अनुभव हो रहा है, जगत प्रपंच का अनुभव हो रहा है, यह सारा का सारा मनमात्र है। जब तक मन है तब तक इस जगत प्रपंच की प्रतीति, और जैसे ही मन ने अपना मुख बन्द किया तो जगत की प्रतीति बन्द हुई। जैसे आँख

खुलने से रूप का ज्ञान और आँख वन्द कर लेने पर रूप का ज्ञान नहीं। जैसे नाक खोल देने पर सुगन्धि और दुर्गन्धि का ज्ञान, नाक बन्द कर लेने पर सुगन्धि और दुर्गन्धि का ज्ञान नहीं। कान खोल देने पर शब्द का ज्ञान, कान बन्द कर देने पर शब्द का ज्ञान नहीं। उसी प्रकार जब तक मन व्यक्त अर्थात् खुला रहता है तब तक जगत् का ज्ञान, और जैसे ही मन ने अपनी पंखड़ियों को बंद कर लिया तो फिर जगत् प्रपंच का ज्ञान नहीं। गहरी नींद में मन अपने प्रपंच को बन्द कर लेता है तो जगत् के किसी पदार्थ का ज्ञान नहीं। इसलिये यह सारा द्वैत प्रपंच मन के द्वारा ही अनुभव में आता है। सुखरूप दुःखरूप हो, रागरूप द्वेषरूप हो, भावरूप हो, अभाव रूप हो, मन के रहने पर ही इनका अनुभव है। 'मनोमात्रमिदं द्वैतं' यदि मन को हम जगत् की तरफ ले जाते हैं तो जगत की प्रतीति, मन को यदि बन्द कर लेते हैं तो कुछ प्रतीति नहीं। मन की ये दो अवस्थायें हुई। मन को वन्द कर लेने पर 'कुछ नहीं' प्रतीति करवा देता है, खोल देने पर जगत् को प्रतीति कराता है। यह मन अज्ञान रूप है। अज्ञान कार्य भी है केवल अज्ञानरूप ही नहीं। अव यह मन परमात्मरूप कैसे बने ? मन जगत् की तरफ तो मुख को न खोले, लेकिन मन मुख को खोले रहे। अर्थात् जगत् की तरफ़ से उलट करके अपने अन्दर रहने वाले अंतर्यामी को तरफ यह मन अपने को खोले। 'अज्ञानं भ्रम इत्याहुः'। यह भ्रम हुआ है कि केवल दो ही अवस्थायें इसकी हैं। या जगत् को जानने की अवस्था, या कुछ न जानने की अवस्था। इस भ्रम के कारण मन को जगाते ही यह बाहर दौड़ता है, और बन्द करते ही झट सो जाता है। जितने आप लोग साधक हैं, रात दिन उनका अनुभव हो यह है। यदि ध्यान या जप जरा अच्छा जमने लगा तो नींद आने लगती है, और यदि नींद से जगने की चेष्टा करो तो दिन के काम याद आने लगते हैं। यदि मन को जगावें तो जगत् का चिंतन करता है। यदि मन को रोको तो सो जाता है। किसी भी तरह से उस ब्रह्म का चिंतन मन

नहीं कर पाता, क्योंकि मन को यह भ्रम है कि अवस्थायें दो ही हैं। अब यदि इन दोनों अवस्थाओं से इसे हटाया जाये तब 'विज्ञानं परमं पदं' विज्ञान रूप परम पद की प्राप्ति होती है। परब्रह्म परमात्मतत्त्व का साक्षात्कार होता है। इसलिए मन के तीन रूप हैं, एक अभाव रूप, एक जगत् रूप और एक भगवद्रूप। इसमें जगत् और अभाव रूप का दर्शन तो सबने कर रखा है लेकिन भगवद् रूप का दर्शन नहीं। भगवद् रूप में मन जगता तो रहता है, लेकिन निश्चल होकर के। जगत् रूप में मन जगता है चंचल होकर। चंचल का मतलब है मन एक रूप को लेकर फिर दूसरा, तीसरा, और चौथा रूप बदलता रहता है। जब तक मन में चंचलता है तब तक जगने पर जगतरूपता का बोध करता है, और जैसे ही मन निश्चल हो गया, इसने चंचलता का त्याग कर दिया, वैसे ही यह भगवद् रूप बन जाता है। जैसे लोहे का एक काला रूप और एक लाल रूप है। लाल रूप जंग लगा हुआ लोहा है। एक बार लोहे में जंग लग गया तो वह लोहा फिर बेकार हो जाता है। उसको घिस-कर फेंक देना पड़ता है। दूसरा लोहे का काला रूप भी है जब लोहे को पक्का बना दिया जाता है। जैसे रेल की पटरी का लोहा, उसके ऊपर पानी इत्यादि पड़ता रहता है, लेकिन उस पर कोई जंग नहीं लगता। आजकल आप लोगों के घरों में स्टील की थालियाँ आती हैं, वे भी ऐसी ही हैं। हर हालत में लोहे के दो रूप तो सरलता से सबको मिलते हैं, कच्चा और जंग लगा हुआ; लेकिन प्रयत्न करने से लोहा ऐसा पक जाता है कि उस पर फिर कभी भी जंग नहीं लगता। इसी प्रकार से मन का अभाव रूप और मन का चंचल जगत् रूप, ये तो सर्वप्राणी साधारण हैं। सबको पता है लेकिन ठीक प्रकार से मन का संस्कार करने से, ठीक प्रकार से मन को शिक्षित करने से, ठीक प्रकार से मन का सुधार करने से इसके अन्दर निश्चलता अर्थात् शिवरूपता आ जाती है। बनने वाला यह मन ही है। 'विज्ञानं परम पदं' मन ही विज्ञान रूप से बना हुआ परमात्मरूप हो जाता है। एक ही मन अनेकरूपता के अन्दर जाकर चंचल हो जगत्रूप बना।

इसलिये इसे फिर विपरीत क्रम से अनेकता से हटाकर एकता की तरफ लाना है। सारी साधना यही है।

अनेक रूप बना हुआ मन जगत् रूप है। यदि इसकी अनेकरूपता को हटाकर पुनः एकरूपता स्थापित कर दें तो काम बन जाये। एकरूपता कैसे बनायें? यह शंका होती है। अनेक रूप कैसे बना? यह पहले समझ लेना चाहिये। कर्म और वासनाओं के कारण ही मन अनेक रूप बना। भिन्न-भिन्न कर्म और भिन्न-भिन्न वासनायें, यही मन की अनेकरूपता का कारण है। इसलिये यदि हम कर्म और वासनाओं की अनेकता रखेंगे, तब तो मन की अनेकता रहेगी, और कर्म और वासनाओं से रहित कर दिया तो मन पुनः एकता की तरफ चला जायेगा। यजुर्वेद श्रुति कहती है 'योनिमन्ये प्रपद्यन्ते शरीरत्वायदेहिनः। स्थाणुमन्येनुसंयन्ति यथाकर्म 'यथाश्रुतं'। जैसे यहाँ कर्म करोगे, जैसी यहाँ पर श्रुत अर्थात् अपनी मनोवासनायें बना रखी हैं, उसके अनुकूल ही आगे की योनि मिलेगी। यहाँ तक कि यदि कर्म और वासनायें अत्यंत जड़ हैं तो आगे चलकर के ईंट पत्थर के अन्दर भी जा सकते हो। कर्म और वासनाओं के अनुरूप ही आगे योनि मिलती है। इसीलिये शास्त्रकार बड़ा जोर देते हैं कि वासनाओं की शुद्धि ठीक हो। भगवान् का चित्र रखो, भगवान् का नाम रखो तो भगवान् का मन में विचार आये। आजकल कुत्तों को रखते हैं। कहते हैं कि कुत्ता बड़ा अच्छा होता है, आदमी से ज्यादा वफादार होता है। इससे किसकी वासना बनेगी? कुत्ते की ही वासना बनेगी, और यथाकर्म यथाश्रुतं आगे फिर वही योनि भी मिलेगी। इसी प्रकार से बहुत बार लोग जड़ पदार्थों की भी वासना बना लेते हैं। अपने मकान का चित्र अपने ही कमरे में लगाते हैं। मकान में ही उनका मन लगा रहता है। आगे जाकर के किसी न किसी गृह देवता के भाव को प्राप्त होंगे। किसी न किसी घर रूप में ही स्थिति बनेगी। जैसा कर्म और जैसी वासना होगी, वैसी ही प्रवृत्ति होगी, वैसी ही योनि की प्राप्ति अवश्यमेव होगी क्योंकि सारी प्रवृत्ति मन के अधीन है। शुभ वासनाओं को धीरे-धीरे

बढ़ाने पर जीवन में शुभ कर्म होंगे। यद्यपि कम और वासनायें दोनों मिला करके जन्म होते हैं, लेकिन पहले वासनाओं को सुधारना पड़ता है। जितनी जितनी शुभ वासनायें, शुभ कल्पनायें मन के अन्दर भरेंगे, उतने ही तुमसे शुभ कर्म बनेंगे। मन में यदि वासनायें अच्छी नहीं हैं तो फिर चाहे जैसे रहो, चाहे बाहर के कुछ अच्छे कर्म कर भी लो लेकिन उसमें मन नहीं रहता है। मन न रहने के कारण ही उसका फिर आगे पूर्ण रूप से कर्म नहीं बनता और उसके फल की प्राप्ति नहीं होती। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद एक जगह लिखते हैं 'गुहायां गेहेवा बहिरपिवनेवाद्रि शिखरे' कहते हैं चाहे गुहा में अर्थात् गुफा में जाकर रह लो, चाहे घर में रह लो। बहुत बार आदमी सोचता है कि यदि हम एकांत में किसी गुफा में जाकर रहेंगे तो खूब परमेश्वर में मन लग जायेगा। ऐसा सोचता है, लेकिन यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार करके देखो तो तुम अर्थात् जीव, क्योंकि तुम का असली अर्थ जीव ही है, वह जीव न गुफा में रहता है और न घर में रहता है। जीव के रहने की जगह तो मन ही है। मन में ही सदा जीव रहता है। घर में या गुफा में रहने वाली चीज तो शरीर है। जीव तो साक्षात् मन में ही रहता है। आगे जैसा कहते हैं कि चाहे तुम वन में या पहाड़ की चोटी शिखर पर चले जाओ, लेकिन अपना मन और उसकी वासनायें तो साथ बाँधकर के ले जाओगे। उसका पुलन्दा तो पीछे छोड़कर नहीं जा सकते। बाकी चीजें पीछे छोड़ सकते हो। यहाँ तक कि अपना शरीर भी जब मृत्यु काल में छोड़कर जाते हो, उस समय में भी अपने मन का पोटला तो साथ बाँधकर ले जाते हो। इसलिये यदि मन अशांत है तो गुफा में, वन में, शिखर में जाओ, जहाँ जाओगे वहाँ अशांति तुम्हारे साथ ही जायेगी। इसलिये कहते हैं 'तेन किं फलं' कहीं जाकर बस जाओ, उससे क्या फल होना है? हे शिव! जिसका अंतःकरण सर्वदा सब काल में तुम्हारे अधीन है, उसका काम तो बन गया, और कहीं भी जाकर बस जाओ लेकिन यदि मन परमात्मा के अधीन नहीं कर पाये तो वह सारा बसना

व्यर्थ हो गया । जीव को नित्य निरंतर मन के अन्दर रहना है । मन की शुभ कल्पनाओं के द्वारा यदि शुभ कर्म होता है तो वह दृढ़ होता है। कर्म सद्य: करना मनुष्य के हाथ में नहीं, लेकिन शुभ कल्पनाओं का प्रारंभ कर सकता है । यदि शुभ कल्पनाओं का प्रारंभ करेगा तो धीरे-धीरे शुभ कर्म अवश्यंभावी हैं । जिस प्रकार से जमीन के अन्दर जब तुम बीज को डालते हो और उसमें खाद पानी देते हो, उसमें से जड़ निकलकर आती है । अंकुर निकलकर आता है । आगे चलकर उसमें पत्ते, फल, फूल लग जाते हैं ! बीज हो जाता है । इस प्रकार से वह एक ही बीज धीरे-धीरे विस्तार को प्राप्त करता चला गया । यदि उसी बीज को थोड़ा-सा आग में भूँज लो । आग में सिके हुये बीज को चाहे जहाँ डाल लो, आगे उसके पत्ते इत्यादि फूटकर नहीं निकलेंगे । है वह बीज ही । इसी प्रकार से जब तक हमारा मन कच्चा है तब तक तो वह पदार्थों का संयोग प्राप्त करके अनेकता की तरफ बढ़ता रहता है । लेकिन यदि इसको ठीक प्रकार से भूँज लिया जाये, शुभ कल्पना शुभ वासनाओं के द्वारा, परमात्म भावनाओं के द्वारा उस बीज को दग्ध कर लिया जाये, तो फिर चाहे संसार के समग्र व्यवहार करते रहो, वह मन अनेकता की तरफ जाने वाला नहीं । अनेकता की तरफ जाकर ही इसका बंधन बढ़ता है, और अनेकता से एकता की तरफ जाकर 'विज्ञानं परमं पदं' इसे परम पद की प्राप्ति हो जायेगी । सभी प्रवृत्तियाँ मन के अधीन हैं । शुभ कल्पनाओं के द्वारा शुभ कर्म करके मनुष्य एकता की तरफ चला जाता है। अशुभ कल्पनाओं के द्वारा अशुभ कर्म करके यह अनेकता की तरफ बद्ध होता है। यह मनुष्य योनि एक तरह का जंक्शन स्टेशन है। जैसे दिल्ली एक जंक्शन है । वहाँ एक तरफ से मारवाड़ की गाड़ियाँ अर्थात् छोटी लाइन (मीटर गेज) और दूसरी तरफ से कलकत्ते की गाड़ियाँ (ब्राड गेज) बड़ी लाइन आती है । दिल्ली स्टेशन पर बहुत भीड़ रहती है, गाड़ियाँ बदली जा रही हैं, कोई छोटी लाइन से बड़ी लाइन में जा रहा है, कोई बड़ी लाइन से छोटी लाइन को जा रहा है । दिल्ली पहुँचकर

तुम स्वतंत्र हो; चाहे छोटी लाइन पकड़ो, चाहे वड़ी लाइन पकड़ो। कलकत्ते में छोटी लाइन की गाड़ी में नहीं बैठ सकते, और बीकानेर में बड़ी लाइन की गाड़ी में नहीं बैठ सकते। वापस दिल्ली पहुँचोगे तो बदल सकोगे। इसी प्रकार मनुष्य योनि एक जंक्शन है। देवताओं की तरफ जाने वाली बड़ी लाइन भी यहाँ मिलती है, और दानव, कीट, पतंग की तरफ जाने वाली छोटी लाइन भी मिलती है। बहुत बार लोग कहते है कि मनुष्यों की भीड़भाड़ बढ़ रही है, क्या बात है, क्या लोगों में ज्यादा पुण्य हो गये हैं ? ऐसी बात नहीं है। यह तो जंक्शन स्टेशन है। इसमें लोग आये हैं। अब यदि इनका पुण्य होगा तब तो ये देवता बनने की गाड़ी में चढ़ जायेंगे। उसी को देखकर पता लगेगा कि इनके अन्दर पुण्यरूपता है या नहीं। अगर दूसरी तरफ इनके अन्दर पापबहुलता होगी तो ये दानव, कीट पतंग बनने की गाड़ी पर बैठेंगे। अब यदि चारों तरफ ध्यान से देखोगे तो पता चल जायेगा कि आजकल किस तरफ की गाड़ी ज्यादा चल रही है। शराब की दुकान पर लोग ज्यादा पहुँचते हैं या भगवान् के चरणामृत को लेने लोग ज्यादा पहुँचते हैं। ज्यादा लम्बी लाइन सिनेमा में लगती है या सत्संग में लगती है। इससे पता लग जाता है कि इस मनुष्य योनि में आने वाले लोग आज किधर की तरफ के हैं। मनुष्य योनि एक तरह का दोनों जीवों के मिलाने वाला स्थल है। इसमें आकर तुम देवता भी बन सकते हो और दानव भी बन सकते हो। यहाँ से दोनों तरफ का रास्ता खुला हुआ है। अब जब परमेश्वर की कृपा हो तभी मन अज्ञानरूपता को छोड़कर विज्ञानरूपता की तरफ जायेगा। ऐसा क्यों ? अज्ञानरूपता का अभ्यास तो इसने अनादि काल से आज तक कर रखा है। इसलिये उसके भेदों को तो यह खूब जानता है, खूब समझता है। जैसे कुछ वर्ष पहले तक हम लोगों को हिसाब का बड़ा अभ्यास था, क्योंकि हम लोगों ने कुछ सूत्र रट रखे थे। जितने रुपये का सेर उतने आने का छटांक। ढैया का पहाड़ा भी याद कर रखा था, इसलिए जितने आने का सेर उतने ढैये रुपयों

का मन । कोई पूछता था तो खट हिसाब बता देते थे। वह पट्टी हमारी पढ़ी हुई थी, याद की हुई थी। हम बड़े अच्छे हिसाबदां माने जाते थे। उसके बाद दशमलव प्रणाली आ गई तो अकस्मात् जो बड़े-बड़े अच्छे और दिग्गज मुनीम थे, वे सरकार को डटकर गालियाँ देने लगे कि ऐसा हिसाब बना दिया है जिसका न सिर और न पूँछ समझ में आये। विचार करके देखो तो दशमलव प्रणाली बड़ी सरल है। पहले हिसाब में तो सूत्र याद करना पड़ता था, इसमें कोई सूत्र याद नहीं करना पड़ता। सीधा सा हिसाब है। क्योंकि हर चीज दस के हिसाब से चलती है। चाहे रुपया हो, चाहे मील, चाहे वजन हो, हरेक उसी हिसाब से चलता है। कुछ कठिनाई हम लोगों को इसलिये पड़ी है कि नाम हमने अंग्रेजी के रख लिये हैं। उन शब्दों का हमको पता नहीं जैसे किलोग्राम, किलोमीटर। लोगों को यह पता नहीं है कि लेटिन भाषा में किलो माने हजार। इसलिये याद करना पड़ता है कि हजार ग्राम का एक किलोग्राम। वह चाहे हजार ग्राम हो, परिमाण वही है। उसके साथ दश, शत, सहस्रवाची शब्द लगाने से कुछ कठिनाई पड़ जाती है। यदि हिन्दी के नाम रख लेते तो कुछ कठिनाई नहीं होती। बड़ा सरल हिसाब था। सरल होने पर क्यों बहुतों को कठिन लगता था और अब भी लगता है? कई लोग कहते हैं कि अस्सी तोले का सेर, अब किलो में सवा छटाँक ज्यादा हो गया, इस प्रकार हिसाब करोगे तो घपला होगा। तोले को भूल जाओगे तो हिसाब ठीक हो जायेगा, और जब जब उसे तोला सेर बनाओगे तब-तब घपला होगा। यहाँ तो बता रहे थे कि हम लोगों को जिन सूत्रों के साथ काम करने का अभ्यास था, जैसे ही वे सूत्र बदल गये, चाहे अगले सूत्र बड़े सरल हैं, लेकिन नये होने के कारण हमको कठिन लगते हैं। इसी प्रकार से चाहे जितने दुःख, भय और शोक हम अनेक योनियों में प्राप्त करते रहे लेकिन कम से कम हमें पता है, समझ में आता है। लड़का बड़ा होकर कहता है काका शाह तुम कुछ नहीं समझते। बात समझ में आती है कि मैंने

भी अपने आप यही कहा था। दुःख तो होता है लेकिन चीज ज़रा समझ में आती है। इसी प्रकार शोक, भय इत्यादि तो सारी जानी हुई चीजे हैं। समझ में आती हैं। लेकिन इस परम आनंद स्वरूपता का अनुभव हमने किया नहीं, इसलिये लगता है कि यह नया पहाड़ा कैसे पढ़ें। है यह वड़ा सरल, इसीलिये परमेश्वर की कृपा की आवश्यकता होती है। जव मनुष्य के मन में यह दृढ़ भावना हो जाती है कि इस दुःख, शोक, भय से हमको छूटना है, तो बस यहाँ तक ही कर्तव्य है। यह निश्चय करना कि मुझे दुःख, शोक, भय से छूटना है साधना है. जहाँ यह निश्चय हुआ वहां परमेश्वर ही कृपा करके गुरु रूप से जीव को मार्ग दिखाने लगता है। नये सूत्रों को याद करने जाओगे तो जव तक उन सूत्रों को कोई समझायेगा नहीं तव तक नहीं समझ पाओगे। एक वार समझना पड़ेगा। समझने के वाद रास्ता सरल हो जाता है। इसी प्रकार से हम अपने पुराने सेर छटांक में बँधे हुए हैं, क्योंकि हमको अच्छी प्रकार से किसी ने नई चीज को समझाया नहीं। हम वार-वार रटते रहते हैं कि पौने वारह ग्राम का तोला हुआ, दुअन्नी के साढ़े वारह पैसे। इसलिये सारा हिसाब गड़वड़ा जाता है। जब तक इस सेर छटाँक या इकन्नी दुअन्नी में हिसाव सोचते रहोगे तव तक हिसाब हमेशा गड़वड़ाता रहेगा। उस सोचने के तरीके को ही छोड़ना पड़ेगा। नये तरीके में ही सोचना शुरू करना पड़ेगा। यह सोचने का तरीका जिसे वता दिया गया, उसके लिये सरल है नहीं तो वड़ा कठिन है। इसी प्रकार से जब जीव को यह निश्चय हो जाता है कि अव हमको यह दुःख, शोक, भय वाला हिसाव नहीं रखना है, हमको तो आनन्द और अभय वाला हिसाव रखना है, तव हिसाव वड़ा सरल हो जाता है। कोई कठिनाई नहीं होती। इस प्रकार के शिष्य के ऊपर परमेश्वर ही कृपा करके गुरु रूप से उसको उपदेश देते हैं। उपदेश के अनेक तरीके शास्त्रों के अन्दर वताये। अत्यंत योग्य शिष्य होता है तो उसको स्पर्शमात्र

से ज्ञान हो जाता है। स्पार्शी दीक्षा वहाँ होती है जहाँ शब्द के उच्चारण की जरूरत नहीं पड़ती। शब्द तो बड़ी स्थूल चीज है। उसकी अपेक्षा सूक्ष्म केवल दृष्टिमात्र से मनुष्य को तत्त्वज्ञान हो जाता है। जैसे जैसे साधक की श्रेष्ठता वैसे वैसे उपदेश में भेद आ जाता है। जिसने जितनी शुभ कल्पना अधिक कर रखी हैं, उसके लिये उतने ही सरल उपदेश से काम चल जाता है। किसी को स्पर्शमात्र से, किसी को दृष्टिपात से ज्ञान हो जाता है। कहीं पर शब्द का प्रयोग भी करना पड़ता है। जहाँ शब्द का प्रयोग करना पड़ता है वहाँ अत्यंत स्थूल सहारा लेना पड़ता है। आत्मज्ञान के उपदेश का प्रधान तरीका है 'मौनं व्याख्यानं आवृतं ब्रह्मनिष्ठैः। ब्रह्मनिष्ठ अर्थात् अच्छी प्रकार से परमेश्वर में जिनकी दृढ़ निष्ठा हो गई है उनका मौन व्याख्यान से ही काम चल जाता है, शब्द का प्रयोग नहीं करना पड़ता। कहीं पर शब्द के उच्चारण करने पर भी मन में ज्ञान नहीं होता क्योंकि शब्द का अर्थ समझना पड़ता है। फिर उसके मन में प्रवेश करके उस वृत्ति को उत्पन्न करना पड़ता है। ऐसी मानसिक परीक्षा भी होती है। इसी प्रकार से संकल्प से, क्रिया से भी दीक्षा होती है। कहीं शिष्य को क्रियायें कराकर समझाना है। भिन्न भिन्न प्रकार के लोग होते हैं। लोक में भी देखते हैं कि कुछ आदमियों को हिज्जे (Spelling) लिखकर याद होते हैं। किसी चीज का वर्णन्यास पूछो तो उँगली दिखाते हुए वोलते जायेंगे। अर्थात् ठीक हिज्जे का अभ्यास तो है लेकिन बिना हाथ हिलाये बोलना पड़े तो भी मन से ही हाथ हिलायेगा तभो वोल पायेगा। दूसरे मुँह से ठीक वोलेंगे, लेकिन शब्द लिखने को कहो तो गलती करते हैं। जो क्रियावान् अधिक होते हैं उनका लिखना ठीक है, उच्चारण गलत हो जायेगा; और जिनकी शब्द पर ज्यादा प्रधानता है, वह वोल ठीक देंगे लेकिन लिखने में गल्ती कर देंगे। उसी के अनुसार साधक को भी भिन्न-भिन्न प्रकार से तत्त्वज्ञान कराना पड़ता है। लेकिन जव तक यह दृढ़ बोध नहीं होगा कि हम इस चीज से निकलना चाहते हैं तव तक इस तत्वज्ञान की प्राप्ति नहीं होती है।

एक वार दुर्वासा महर्षि और दत्तात्रेय दोनों कहीं घूमने जा रहे थे। वैसे ये दोनों भाई हैं। अत्रि महर्षि से अनसूया के द्वारा ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र के तेज से तीन बच्चे पैदा हुए। ब्रह्मा के तेज से चन्द्रमा, विष्णु के तेज से दत्तात्रेय और शिव के तेज से दुर्वासा पैदा हुए। इस प्रकार इन तीनों की माता अनसूया ही हैं, केवल अंश भेद है। इसलिये दोनों अत्रि महर्षि के ही पुत्र होने से भाई हैं। दोनों घूमने निकले तो रास्ते में एक अत्यंत गरीब व्यक्ति दिखाई दिया। अत्यंत दरिद्री देखकर दत्तात्रेय के मन में आया कि इसका कुछ उपकार करना चाहिए, यह बेचारा बड़ा दुःखी है। दुर्वासा से कहा कि यह बहुत गरीव है, इसकी गरीवी दूर करो। दुर्वासा ने कहा–अरे कोई किसी की गरीवी दूर कर सकता है? जव तक वह खुद न चाहे कि मेरी गरीवी दूर हो। जाने दो, ऐसे तो संसार में न जाने कितने गरीव हैं। अपने घूमने निकले हैं तो वहुत ऐसे मिलेंगे, कहाँ क्या क्या करोगे, आगे चलो। दत्तात्रेय कहने लगे—अव आगे नहीं जायेंगे, पहले इसका कल्याण करो। तुम तो हृदयहीन हो, हमेशा क्रोधी रहे हो। जरा कोई वात करे तो गुस्सा करने को तैयार, और इसकी गरीवी दूर करने की वात की तो कहते हो कि इसमें क्या रखा है। दुर्वासा ने कहा कि आजमा कर देख ले। दत्तात्रेय ने उसे अशर्फियों का भरा हुआ तोड़ा दे दिया। वह बड़ा प्रसन्न हो गया। लेकर घर आया। घरवाली भी बड़ी प्रसन्न हुई। कहा-बड़ा अच्छा हुआ। अब कल ही अपने गहने बनवायेंगे वह दस अशर्फियाँ लेकर वाजार में चली गई। सुनार ने देखा कि कल तक इसके पास कुछ नहीं था और आज इसके पास इतना माल। उससे पूछा—इतना धन कहाँ से आ गया। उसने कहा कि रास्ते में जा रहे किसी महातमा ने मेरे पति को दे दिया। सुनार ने कहा-बड़ा अच्छा है, सम्भाल कर तो रखा है। उसने कहा—हाँ। दुकानदार ने पूछ लिया—कहाँ रखा है? उसने वता दिया कि घर में मजू के अन्दर जहाँ घी रखती हूँ, उसी के नीचे दवाकर सम्भाल कर रखा है। उस वेचारी को तो पहली बार पैसा मिला था, वह क्या जाने।

सुनार ने कहा—यह मेरे पास छोड़ जा, बाद में परीक्षा करके देखूंगा कल आना। अशर्फियाँ रखकर उसको वापिस भेज दिया। वहां पर उसका एक एजेन्ट था। उसको बुलाकर कहा कि उस औरत के घर पर अशर्फियों का तोड़ा आया पड़ा है और अमुक जगह रखा हुआ है। वह तुरन्त इस बात को ध्यान में रखकर उस औरत के पीछे पीछे जाकर उसका घर भी देख आया। रात में ही वहाँ पहुँचा। छप्पर खोला और अशर्फियों का तोड़ा लेकर आ गया। दूसरे दिन घर वाली ने देखा नहीं, सोचा रखा हुआ ही होगा। सुनार के पास पहुँची तो उसने जोर से डाँटा कि तेरे बाप दादा ने भी कभी अशर्फी देखी हैं जो दस अशर्फियों की बात करती है। वह जोर से चिल्लाया तो दूसरे दुकानदार भी इकट्ठे हो गये। उनसे कहा—इसकी बात सुनो तो सही, उड़ने वाली चिड़िया के पंख आते हैं। ऐसा कहती है कि कल अशर्फियाँ दे गई थी। सब हँसने लगे कि कभी तेरे पास पैसा भी आया है जो अशर्फियाँ आयेंगी। उसने कहा—मेरे पास और भी बहुत सी अशर्फियाँ पड़ी हैं। लोगों ने कहा लाकर दिखा तो मानें। वह दौड़कर घर गई लेकिन वहाँ क्या मिलना था, वहाँ से तो सारा माल निकल चुका था। ऊपर से गाँव वालों ने बदनामी का टीका और चढ़ा दिया कि यह महान झूठी है। कब किस पर चोरी मढ़ दे, कुछ ठिकाना नहीं। अपने गाँव के इतने अच्छे सुनार पर इसने इतना बड़ा दोष लगा दिया। कुछ दिन बाद दत्तात्रेय और दुर्वासा फिर उधर से निकले तो दुर्वासा ने कहा—ज़रा देखकर आयें। हम लोगों ने उसकी गरीबी हटाई थी, तो अब उसका क्या हाल है। देखा कि वैसा ही कच्चा झोंपड़ा है और पहले जैसा ही ढंग है कि शाम को साग है तो दाल नहीं, सवेरे दाल है तो चावल नहीं। दत्तात्रेय ने पूछा—तेरे को अशर्फियों का तोड़ा दिया था, क्या किया। वह रोने लगा, कहा—महाराज! आपने बहुत खराब चीज दी। वह तो चोरी हो गया। कहा—तू रक्षा नहीं कर सका। उसने कहा—मेरे को पता नहीं लगा और ऊपर से यह कलंक का

टीका और लग गया कि मैं भले आदमियों को चोर कहता हूँ। सारी बात सुना दी। दुर्वासा ने दत्तात्रेय को छेड़ा कि देख लिया, पहले यह बेचारा ईमानदार तो कहा जाता था। दत्तात्रेय ने कहा—मैं ऐसे नहीं छोड़ने वाला। यह तो सोने का तोड़ा था, चोरी हो गया, कोई बात नहीं। अब वह उस दरिद्री को जंगल में ले गये और पारस की एक बट्टी दे दी, और कहा कि इसे सम्भाल कर रखना और किसी को कहना नहीं। यह पारस की बट्टी है, इससे जितना चाहो सोना बना लेना, और अपना काम बना लेना। कोई चोरी करने भी आयेगा तो उसे क्या पता लगेगा। वह उसे लेकर घर आ गया और सोचा, इसे कहाँ रखूँ। यह घर वाली तो सब जगह देख लेगी। सोचकर उसने उसे पानी के मटके में डालकर रख दिया ताकि घर वाली को पता ही न लगे। उससे उसने अभी सोना तो बनाया नहीं था। उसकी घर वाली रोज तो छः बजे उठा करती थी। उस दिन उसकी घर वाली के पेट में भी कुछ भारीपन हुआ। वह चार बजे ही उठ गई, और उसने सोचा कि एक बार जा रही हूँ, कुएँ पर नहा धोकर, निपटकर आते हुए पानी भी भरती आऊँ। फिर दुबारा कुएँ पर कौन जाये। वह वहाँ से घड़ा उठाकर चली गई। कुएँ पर पहुँचकर जब घड़ा भरने के लिये कुएँ में डाला तो उसमें रखी हुई पारस की बट्टी कुएँ में पड़ गई। घड़े में ताजा पानी भरकर लाकर घर में रख दिया। सवेरे जब वह उठा, नहाया धोया। फिर मटके में हाथ डाला कि अब पवित्र होकर कुछ सोना बना लिया जाये। देखा कि घड़ा पानी से पूरा भरा हुआ था और उसमें बट्टी नहीं थी। घर वाली से पूछा—घड़े में कुछ था, तूने देखा। उसने कहा—कंकर जैसा कुछ था, वह तो मैंने कुएँ में फैंक दिया। उसने कहा—तू तो छः बजे उठकर जाया करती थी। घर वाली ने कहा—कोई पट्टा लिखा रखा है छः बजे जाने का। तू कभी पानी भरकर लाता है जो तेरे ऊपर छोड़ती। वह बेचारा सिर पर हाथ रखकर बैठ गया। फिर मामला वैसा का वैसा। कुछ दिन बाद दत्तात्रेय और दुर्वासा

उधर से निकले तो देखा कि अभी भी इसका हाल वैसा का वैसा है। जाकर उसे कहा कि तेरे को पारस दे दिया, फिर भी तेरा काम नहीं बना, क्या हुआ। उसने कहा—क्या करूँ, मैंने उसे मटके में रखा था। घर वालो ने उसे कुएँ में डाल दिया। दत्तात्रेय ने कहा—जा, अब तेरे को कुछ नहीं देता। दुर्वासा से कहा कि आप ठीक ही कहते थे कि यह गरीब का गरीब ही रहेगा। इसका कुछ ठीक हाल नहीं होना है।

अब दुर्वासा ने उससे कहा कि यदि तेरे को धनी बनना है तो मैं उपाय बताता हूँ, वैसा कर। उससे कहा कि इस प्रकार से परमेश्वर की उपासना कर, भगवान शंकर का भजन कर, रोज उनकी आराधना किया कर और उनसे प्रार्थना कर। तेरा काम वह बना देंगे। जब चलने लगे तो दत्तात्रेय ने धीरे से कहा कि मेरे देने से इसका काम नहीं बना, तो उपासना से कैसे बनेगा। दुर्वासा ने कहा—देखो कैसे बनता है। अब जब वह भगवान का पूजन करने लगा तो भगवान् का पूजन करते हुये पूजन करने के बाद लोगों को प्रसाद बाँट देता था, क्योंकि ऐसा नियम है कि शिव को नैवेद्य देकर सारा अकेला नहीं खाना चाहिये, सबको बाँटना चाहिये। एक दिन वह प्रसाद बाँट रहा था तो वहाँ एक मछुआ खड़ा हुआ था। उसको भी उसने प्रसाद दे दिया। मछली पकड़ने वाले ने प्रसाद लेकर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की कि मेरे को कोई नहीं पूछता और आपने दिया, बड़ा अच्छा किया। मेरी इच्छा है कि मैं भी आपके किसी काम आ सकूँ। शंकर का पूजन करने के कारण उसके हृदय में दया थी, इसलिये उसने मछुए से कहा कि मेरा प्रसाद अगर अच्छा लगा है तो इस मछली को छोड़ दो जिसे पकड़कर ले जा रहे हो। उसने वह मछली उसे दे दी कि जहाँ डालनी हो डाल दो। उसने पूछा—कहाँ से पकड़ी थी ? उसने बता दिया कि अमुक कुएँ से पकड़कर लाया था। इसने सोचा कि वहीं छोड़ दूँ। रास्ते में ले जा रहा था। मछली फड़फड़ाई। इसने मछली पकड़ने का अभ्यास कर नहीं रखा था। फड़फड़ाने में वह उल्टी हुई तो खटक कर उसके मुँह से पत्थर निकला। वह वही पारस पत्थर

था। वह पारस पत्थर ले आया और मछली को कुएँ में छोड़ दिया। वह रोज-रोज उससे सोना बनाये। अब उसका घर ठीक हो गया, सब ठाटबाट हो गये। कुछ दिनों बाद दत्तात्रेय और दुर्वासा फिर उधर से निकले। अबकी बार दत्तात्रेय ने छेड़ा कि देखकर आयें तुम्हारी उपासना से क्या हुआ। जाकर देखा कि उसका आलीशान मकान है। पत्नी के पैरों में भी सोना है। दुर्वासा की तरफ देखकर दत्तात्रेय कहते हैं—कुछ काम तो इसका बन गया। चलकर पूछें कि क्या बात है। उसके पास पहुँचे तो उसने हाथ जोड़कर बड़े प्रेम से कहा कि आपकी ही कृपा से आपका दिया हुआ पारस मिल गया, मेरा काम हो गया।

विचार करो, यह तो दृष्टांत है। वस्तुतः यहाँ पर गरीब व्यक्ति यह जीव ही है। बेचारा निरंतर दुःख ही दुःख पाता है। कहीं सुख का तो इसे लवलेश मिलता नहीं। इस दुःखी अवस्था के अन्दर कभी इसको सत्संग की प्राप्ति हो गई। दत्तात्रेय और दुर्वासा रूपी सत्पुरुषों के साथ इसका संग हो गया। पहले पहल मनुष्य अपनी दरिद्रता अर्थात् अपने दुःख को ही दूर करना चाहता है। दुःख को दूर करने के लिये उसे कुछ काम्य कर्म, कामनायुक्त कर्म बता दिये जाते हैं। काम्य कर्मों से दुःख दूर नहीं होता। जिस चीज को चाहते हो, वह तो मिल जाती है लेकिन दुःख दूर नहीं होता। जैसे उसको सोने का तोड़ा तो मिल गया लेकिन उससे उसका दुःख दूर नहीं हुआ। ऐसे ही साधारण आदमी की बात छोड़ो, साक्षात् परब्रह्म परमात्मा राम रूप से पैदा हुए। महाराजा दशरथ ने काम्य कर्म पुत्रेष्टि यज्ञ किया, उस काम्य कर्म के द्वारा साक्षात् नारायण उनके घर में पुत्र रूप से उत्पन्न तो हो गये, लेकिन दशरथ को पुत्र सुख हुआ, या पुत्र वियोग में कलप-कलप कर मरे। काम्य कर्म से चीज तो मिल जायेगी लेकिन उससे मिली हुई चीज तुमको सुख नहीं दे सकती, यह नियम है। उसकी भी दरिद्रता दूर नहीं हुई। अंत में उसकी वृत्ति जरा अन्तर्मुखी हुई तो अब उसको तोड़ा नहीं दिया। जैसे वहाँ तोड़ा देने से बदनामी हाथ आई थी, वैसे ही काम्य कर्मों से उसकी बदनामी होती है। लोग

कहते हैं कि मंत्र तंत्र आदि से अपना काम बना लेता है। उससे उसको सुख तो नहीं मिलता बदनामी मिल जाती है। आगे चला तो उसको पारस की बट्टी मिली। पारस की बट्टी सोने के तोड़े से अच्छी थी, लेकिन वह भी उसके दुःख को दूर नहीं कर सकी। पारस की बटिया की जगह योग आदि का अभ्यास है। योगाभ्यास काम्य कर्मों से श्रेष्ठ है, लेकिन वह बट्टी उसने पानी के मटके में डाल दी। उसी प्रकार यहाँ निर्विकल्प समाधि में आनंद का भान नहीं होता। आनंद में स्थिति तो है लेकिन वहाँ भान नहीं है। जड़ की सी अवस्था हो जाती है। 'तदाद्रष्टुः स्वरूपे अवस्थानम्' भगवान् पतंजलि कहते हैं कि जितनी देर समाधि है तब तक आनंद में तो है लेकिन फिर व्युत्थान हो जाता है। पहले सभी योगियों में सिद्धि तो खूब होती है लेकिन क्रोध आदि का वेग पहले से भी अधिक हो जाता है। पुराणों में भी कई जगह ऐसा देखने में आता है। इसलिये इससे भी दुःख दूर नहीं हुआ, लेकिन वृत्ति कुछ अंतर्मुखी हुई। कुछ काम्य कर्मों से, कुछ योग से वृत्ति अंतर्मुखी हो गई। ऐसे व्यक्ति को दुर्वासा ने साक्षात् उपदेश दिया कि इससे कुछ नहीं होना है, तुम तो परमेश्वर की शरणागति करो, परमेश्वर की आराधना करो। जब उसे परमेश्वर की शरणागति की प्राप्ति हुई तो उसी निर्विकल्प समाधि के द्वारा सुख प्राप्ति हो गई। चित्त की एकाग्रता तभी सुख देगी जब परमेश्वर की तरफ उस एकाग्रता को लगा दिया जाये। इस प्रकार गुरु क्रम से उपदेश करते है। जैसे-जैसे योग्य अधिकारी होता जाता है, वैसे-वैसे आगे का उपदेश मिलता जाता है। अंत में सर्वथा दुःख की निवृत्ति हो जाती है। तब वह परमेश्वर के चरणों में लग जाता है। परमेश्वर के चरणों में लगने के प्रकार पर आगे विचार करेंगे।

२४-३-७५

उस परब्रह्म परमात्म तत्त्व के नीलग्रीव, सहस्राक्ष और आनन्द की वृष्टि करने वाले रूप के प्रति नमस्कार करके उसका जो सत्त्व है, उसके प्रति अपना भक्तिभाव प्रकट करते हैं; क्योंकि उसका जो सत्त्व है, वहाँ जीव को परमात्म मार्ग में ले जाने वाला है। संसार कीचड़ में फंसने वाला जीव स्वय अपनी सामर्थ्य से बाहर नहीं निकल पाता। परमेश्वर के सत्त्व अर्थात् बल से ही वह बाहर निकल सकता है, यह बताया। शास्त्रों में कहा है कि परमेश्वर ही जीव रूप से बना है। शास्त्र बार-बार इस बात पर जोर देते हैं। 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' 'स्वयमेव जगद्भूत्वा प्राविशत् जीवरूपत:' श्रुति कहती है कि संसार की सृष्टि करके वह स्वयं ही यहाँ घुसा है। स्मृति कहती है कि स्वयं ही जगदाकार रूप में बना और जीव रूप से वही इसमें प्रविष्ट हुआ। अब प्रश्न होता है कि यदि वह परमेश्वर जीव रूप में प्रविष्ट हुआ तो लोक में देखने मे आता है कि सामान्य से सामान्य पुरुष भी जब किसी ऐसे स्थल में घुसता है जहाँ से बाहर निकलना कठिन होता है तो निकलने की साजसज्जा या तैयारी पहले कर लेता है। किसी कारण से उसको कुएं में घुसना पड़ता है। पानी निकालते हुए हीरे की अँगूठी कुएँ में गिर गई। उसे निकालने के लिये कुएँ में घुसना जरूरी है। घुसता है लेकिन ऐसा तो नहीं कि ऊपर से गंठा बीड़कर सीधे नीचे चला जाये। यद्यपि वह तैरना जानता है, कूदकर मरेगा तो नहीं, गंठा लगाकर कूद तो जायेगा, लेकिन निकलेगा कैसे। इसलिये पहले डोरी बाँधकर नीचे लटका देता है तव उस कुएँ में प्रविष्ट होता है। इसी प्रकार से अगर किसी अँधेरे तहखाने के स्थान में जाना पड़ता है तो अपने पास मशाल जलाकर ले लेता है। चाहे तेल की मशाल ले, चाहे आजकल ऐवरैडी की मशाल ले ले। किसी न किसी प्रकाश की व्यवस्था करके ही अँधेरे कमरे में घुसता है या तहखाने में घुसता है। यदि

घोर जंगल में जाना जरूरी है तो जंगल में जाते हुए पेड़ों के ऊपर, जमीन के ऊपर कोई दाग या निशान लगाते हुए जाता है। जब बच्चों को स्काउटिंग सिखाई जाती है तो उसमें उनको ऐसे निशान लगाने की विद्या सिखाते हैं। कुछ न कुछ निशान लगाते हुए आदमी जाता है ताकि वापिस उन्हीं निशानों के सहारे बाहर निकल आये। यदि किसी तिलस्मी मकान में जाना हो, एक कमरे से दूसरे कमरे में, फिर चौक में, फिर आगे कोई और रास्ता निकल गया। ऐसी हालत में कोई डोरी या धागा पहले दरवाजे में बाँधकर अंदर जाता है जिससे उसी डोरी या धागे के सहारे से वह फिर बाहर निकल आयेगा। कहीं निशान का सहारा, कहीं प्रकाश का सहारा, कहीं-कहीं डोरी का सहारा, लेकिन सामान्य से सामान्य बुद्धि वाला पुरुष भी यदि किसी दुर्गम स्थान में प्रवेश करता है तो पहले निकलने की तैयारी सोच लेता है, कोई उपाय कर लेता है, तब प्रविष्ट होता है। वह परब्रह्म परमात्मा जब जगत् में प्रविष्ट होगा तो क्या बिना बाहर निकलने की तैयारी के प्रविष्ट होगा? घुसता जरूर है क्योंकि श्रुति का प्रमाण है। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" इत्यादि श्रुतियाँ उसे स्पष्ट रूप से प्रविष्ट बताती हैं, इसलिये प्रविष्ट जरूर हुआ। जब तुच्छ मनुष्य इतनी तैयारी करता है तो वह सारे ब्रह्माण्ड का अधीश्वर परमेश्वर, सारी बुद्धियों का साक्षी, सबसे अधिक कुशल और चतुर क्या बिना कुछ इंतजाम किये यहाँ प्रविष्टि करेगा? इसलिये उसने तैयारी पूरी की है। क्या तैयारी की उसने? हृदय एक भारी गुफा है। तैत्तिरीय उपनिषद् कहती है 'यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्'। हृदय एक अंधेरी गुफा है, इसलिये अंधेरी जगह है। अन्यत्र भी वेद कहता है 'गुह्यमेतत् प्रतिष्ठितं' वह गुहा में प्रतिष्ठित है। स्मृतियाँ भी इसको बताती हैं 'राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमं'। इसलिये यह एक गुफा है, इसमें प्रवेश करने के लिये उसने विचार रूपी मशाल जाग्रत रखी है। विचार ही वह मशाल है अथवा टार्च है जिसको लेकर इसने

इसमें प्रवेश किया इसके विचार की सामर्थ्य से हम बाहर निकल जायेंगे। यह संसार केवल गुहा की तरह अंधकारमय ही नहीं है, कुएँ में घुसने की तरह ही नहीं हैं, वरन् यह एक जंगल भी है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य इत्यादि भयंकर जंगली जानवर इस संसार अरण्य, भवारण्य में रहते हैं। इस संसार रूपी जंगल में घुस जाओ, और निशान लगाकर नहीं रखो तो फिर बाहर निकलने का रास्ता पता नहीं लगेगा। इसलिये उसने न केवल मशाल अपने पास रखी हैं, वरन् शास्त्र रूपी निशान भी रखा है। जिन निशानों को देखकर पता लगता है कि किस प्रकार काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि जानवरों से बचकर हम वापिस निकल सकें। इतना ही नहीं, यह एक ऐसा तिलिस्म है जिसके अन्दर चाहे निशान भी लगा लो तो किस दरवाजे से किधर निकल जाओ, कोई ठिकाना नहीं। इसलिये इसने धागा भी बाँध रखा है। जैसे तिलिस्म में एक जगह से दूसरी जगह चले जाते हो, वैसे ही यहाँ पर जाग्रत से स्वप्न के तिलिस्म में, स्वप्न से सुषुप्ति के तिलिस्म में पहुँच जाते हो। जाग्रत से स्वप्न में और स्वप्न से सुषुप्ति में चले जाओ, और जहाँ चले जाते हो, वहाँ से फिर वापिस आने का अपने पास कोई रास्ता नहीं है। अब जाग्रत में बैठे हुए हो, कथा सुनते सुनते ही कितने आराम से सुषुप्ति में चले जाते हो, फिर किसी बात पर लोग हँसते हैं तब आँख खोलकर देखते हो। हो क्या गया ? जाग्रत से सुषुप्ति में फिसल गये। रात्रि में सुषुप्ति में सो रहे हो, अकस्मात् जाग्रत में आ गये। घड़ी देखी साढ़े बारह बजे हैं। बहुत कोशिश करते हो फिर सुषुप्ति में चला जाय, नहीं जा पाते हो। यह एक विचित्र तिलिस्म है जिसमें तीनों का अनुभव तो हम करते हैं लेकिन एक से दूसरे में जाने का कुछ रास्ता पता नहीं चलता। इसलिये इसने आत्मा रूप याददाश्त की डोरी रखी है। जाग्रत से स्वप्न सुषुप्ति में जाते समय यह डोरी बनी रहती है। इसलिये स्वप्न की भी हमें याद है। जाग्रत की भी हमें याद है। सुषुप्ति की भी हमें याद है। इस याद रूपी डोरी

के सहारे से ही इसमें से निकलने के उपाय का पता लगता है। इस प्रकार विचार रूपी मशाल इसने रखी, शास्त्र रूपी निशान इसने लगाया, और आत्मा की स्मृति रूपी डोरी भी इसने बाँधकर रखी, क्योंकि संसार कुएँ की तरह गहरा भी है, और काम, क्रोध आदि भयंकर जानवरों के कारण यह संसार जंगल भी है, और इसमें किधर से किधर को रास्ता निकलता है, इसका पता न लगने से यह एक तिलिस्म भी है। तीनों तैयारियाँ करके इसमें यह घुसा। लेकिन इतनी तैयारी करके घुसने पर भी यहाँ आकर व्यवहार में ऐसा भूल गया कि अपनी की हुई तैयारी भी यह भूल गया है। विचार करो वह ब्रह्माण्डाधीश, सर्वधी साक्षी इस शरीर में, इस अंतःकरण में दुःख भोगने तो आया नहीं। वह दुःख भोगने के लिये थोड़े ही इसमें प्रवेश करेगा। जितने दूसरे दर्शनकार हैं, वे कहते हैं कि संसार में दुःख ही दुःख है। एकमात्र वेदांत दर्शन कहता है कि अरे, वह परब्रह्म परमात्मा जीव रूप से दुःख भोगने थोड़े ही आयेगा। जिस व्यक्ति ने कुएँ में प्रवेश किया है तो कोई दुःख भोगने के लिये नहीं किया। खोई हुई हीरे की अँगूठी को पाने का जो एक आनंद है, उसको लेने के लिये वह उसमें प्रविष्ट हुआ है। यदि यह जंगल में आया है तो दुःख भोगने के लिये नहीं, वरन् मृगया (शिकार) के द्वारा काम, क्रोध आदि को जीतने में जो एक आनंद है, उसको लेने के लिये। जंगल में जब राजा शिकार करने जाता है तो दुःख भोगने के लिये थोड़े ही जाता है। शेर इत्यादि को मारने में एक मजा आता है, एक आनंद आता है। कोई कहे कि किले में सुख से बैठा था, फिर मृगया करने क्यों गया, तो शिकार का एक आनंद है, उसे लेने के लिये वह जंगल में जाता है। इसी प्रकार वह परब्रह्म परमात्मा अपने शुद्ध रूप में क्यों नहीं बैठा रहा? क्योंकि जीव रूप में आकर काम, क्रोध रूपी शत्रुओं को मारने का एक मजा है, एक रस है, आनंद है। खोई हुई अँगूठी को देखने का एक विलक्षण आनंद है। खोई हुई चीज मिलती है तो एक अद्भुत आनंद होता है। उसी प्रकार से मृगया करने का एक विलक्षण आनंद

है। इसी प्रकार से किसी तिलिस्म का पता लगाने का भी एक आनंद होता है। आजकल के लड़के तिलिस्म तो नहीं देखते लेकिन तिलिस्मी या जासूसी किताबें पढ़ते हैं। कौन आदमी किसका खूनी है, इसको खोजते रहते हैं। उसका पता लगाने के लिये जासूसी उपन्यास पढ़ रहा है, माँ कहती हैं आ जा, भोजन तैयार है। कहता है भूख नहीं है। उसके पेट पर हाथ लगाओ तो कमर से चिपक रहा है। भूख नहीं क्योंकि पता नहीं लग रहा है कि किसने चोरी की, किसने खून किया, इसको खोजने में भोजन भूल जाता है। दोस्त के साथ खेलने जाने का समय दिया था, वह भूल जाता है। कई बार तो रात में नींद भी भूल जाता है। दस ग्यारह बजे तक जगता ही रहता हैं, पढ़ता ही रहता हैं। गीता की किताब नहीं पढ़ता, जासूसी उपन्यास पढ़ता है। गीता की किताब पढ़े तो आठ बजे ही नींद आ जाये। विचार करो कि जैसे वहाँ किसी तिलिस्मी चीज का पता लगाने का एक सुख है, उसी प्रकार से जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति के अन्दर घूमकर इनकी एक दूसरे की स्मृति का पता लगाने का एक सुख है। कौन है वह जो जाग्रत में भी जाता है, इन्द्रियों से विषय भोग करता है। कौन है वह जो स्वप्न में जाकर विना ही इन्द्रियों के विषयभोग करता है। कौन है वह जो सुषुप्ति में जाकर विना अंतःकरण के आनन्द का भोग करता है। वह कौन है ? इसका पता लगाना है, यह एक बड़ा भारी जासूसी उपन्यास है। एक जगह उसे देखते हैं तो विना इन्द्रियों के कुछ नहीं कर सकता। आँख बंद कर दो तो अपनी नाक की अणि भी नहीं दीखती। विचार करो, दूसरी जगह स्वप्न में आँखें पूरी मिची हुई हैं और सारी इन्द्रियाँ साफ दीख रही हैं; और जाग्रत काल में आँख बंद करके नाक की आणि नहीं दीखती तो दूर की चीज क्या दीखेगी; और स्वप्नकाल में आँख वन्द करके पूरा संसार दीखता है। है न कोई विचित्र पदार्थ। जाग्रत स्वप्न काल में जब तक मन की इच्छा की कोई चीज न मिले तब तक सुख नहीं। जाग्रत और स्वप्न में अपने मन की इच्छा की चीज मिली तभी न सुख होता है ? चीज

मिलने से सुख होता है और सुषुप्ति में कोई चीज नहीं, फिर भी कहता है 'सुखमहमस्वाप्सं' बड़े सुख से सोया। पूछते हैं कि वहाँ क्या चोज थी, क्या मजा आया। कहता है चीज तो कुछ नहीं थी। उल्टा कोई चीज वहाँ आ जाती तो नींद ही उखड़ जाती। कहीं इन्द्रियों से भोग, कहीं इन्द्रियों के बिना पदार्थों का भोग और कहीं बिना पदार्थों का ही भोग है। इसका पता लगाने में एक बड़े भारी तिलिस्म का पता लगता है कि स्मृति रूपी धागे के द्वारा तीनों की एकता है। परमेश्वर ने इसमें प्रवेश किया तो इन सब साधनों को लेकर प्रवेश किया। विचाररूपी मशाल से, शास्त्र रूपी चिह्नों के द्वारा, तीनों अवस्थाओं के विचार रूपी धागे को पकड़ने से वापिस इसमें से बाहर निकल सकता है। सबसे पहली चीज विचार रूपी रोशनी है, क्योंकि चिह्न भी हो, धागा भी हो लेकिन अंधेरा हो तो क्या कर सकते हो। इसलिये सबसे पहली आवश्यकता विचाररूपो रोशनी की है। बिना विचार के शास्त्र का अर्थ ही नहीं समझ में आ सकता है। भगवान् मनु तो यहाँ तक कहते हैं कि विचार से रहित जो धर्म को पालन करना चाहता है तो उसके द्वारा 'धर्महानिः प्रजायते' धर्म की हानि होती है। वह धर्म को हानि पहुँचाता है। दूसरी जगह भगवान् वेदव्यास लिखते हैं कि जिस व्यक्ति की आँखें हैं, उस व्यक्ति के लिये तो रोशनी काम की है। जब आँख है तो रोशनी काम करेगी। जिसके आँख ही न हो तो चाहे सूर्य सामने आकर खड़ा हो जाये तो उसे कुछ दीखेगा ? 'लोचनद्वयहीनस्य प्रकाशात् किं प्रयोजनं' जिस व्यक्ति की दोनों आँखें नहीं हैं उस व्यक्ति को क्या प्रकाश से कोई लाभ पहुँच सकता है, कोई प्रयोजन हो सकता है। कुछ नहीं। इसी प्रकार 'यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा तस्य शास्त्रं करोति किं' जिस मनुष्य के अन्दर स्वयं विचार करने की प्रज्ञा या सामर्थ्य नहीं है, शास्त्र उसे क्या फायदा पहुँचा सकता है। इसलिये विचार की रोशनी के बिना शास्त्र हमें फायदा नहीं पहुंचा पाता। केवल शास्त्र को पास में रखने से कुछ नहीं होता है। एक बार हम ल्हासा (तिब्बत में) गये

थे, तब तक वहाँ चीनियों का राज्य नहीं आया था। वहाँ संस्कृत के बहुत से प्राचीन ग्रन्थ हैं लेकिन वहाँ के लोग उन ग्रन्थों को पढ़ना भी नहीं जानते; और कुछ लोग पढ़ना जानते हैं तो उसका अर्थ लगाना नहीं जानते। उनसे हमने कहा कि यह किताव हमको दे दो तो दिखाते भी नहीं। वड़े प्रयत्न से देखने को दी। अव वे उस ग्रंथ का क्या सदुपयोग करते हैं ? उस किताब के पन्ने जीर्णशीर्ण भोजपत्र के हैं, उनको फाड़-फाड़कर किसी-किसी को दवाई के काम में देते हैं, क्योंकि पूर्वजों ने उन लामाओं को कह रखा है कि इस ग्रन्थ में सब रोगों को दूर करने की सामर्थ्य है। यह उन्हें याद है लेकिन रोगों को दूर करने की सामर्थ्य उनका अर्थ जानने से है या पन्ने फाड़कर देने से है, यह उनकी समझ में नहीं आया। ऐसा नहीं समझ लेना कि केवल वही लोग ऐसा करते हैं। हम लोगों में से भी कितने ही वेद की संहिता का पाठ कर लेते हैं लेकिन कभी यह देखते हैं कि उसमें अर्थ क्या है, उसमें रहस्य क्या है या उसमें वताया क्या गया है ? यह कुछ नहीं जानते। वस बाँच लिया तो सोचते हैं कि काम हो गया। बहुत से लोग तो और आगे जाते हैं। कई वार हमसे महिम्न इत्यादि की किताव ले जाते हैं। हम उन्हें दे देते हैं। फिर पता लगता है कि उसे बाँचना तो आता नहीं। हम उससे पूछते हैं कि किताबें तो तुम दो तीन बार ले गये, क्या बहू से सुनती हो, क्या करती है ? कहते हैं—पूजा करती हूँ। उस पर तिलक चंदन चढ़ा दिया, छींटा मार दिया, पूजा हो गई। वह पुस्तक तो अर्थज्ञान से फायदा देगी, पूजा से क्या होगा ? ठीक इसी प्रकार जिसमें स्वयं विचार करने की सामर्थ्य नहीं होती है, शास्त्र उसे क्या फायदा पहुँचा सकता है। इसलिये सबसे पहली चीज विचार है। सनातन धर्म के ह्रास का, सनातन धर्म के बिगड़ने का मूल कारण इस विचार को छोड़ देना है। जिस धर्म ने विचार पर सबसे ज्यादा जोर दिया था, सदाचार का लक्षण ही किया गया 'विचाराचारसंयोग: सदाचार: प्रकीर्तित:' विचार के साथ जो आचार किया जाये उसे सदाचार कहते हैं; उसी सनातन धर्म ने धीरे-धीरे

विचार को सर्वथा छोड़ दिया। जैसे एक मोटा दृष्टांत दें। हम भी रेल में यात्रा करते हैं, आप लोग भी करते हैं। मिट्टी से हाथ धोना चाहिये क्योंकि शुद्ध मिट्टी हाथ को साफ करती है। यही मिट्टी से हाथ धोने का मतलब है। प्राचीन काल में सबके लिये सुलभ चीज थी। अब रेल के अंदर से उतरते हैं। रेल की लाइन के पास कुछ लोग पेशाब कर रहे हैं, कुछ लोग उसी स्थान की मिट्टी को हाथ धोने के लिये उठा रहे हैं। उससे क्या फायदा। अगर उनसे कहो कि क्या कर रहे हो तो कहते हैं मिट्टी से हाथ धो रहे हैं। हाथ धो रहे हैं या गंदा कर रहे हैं। यह विचार और आचार का संयोग न होना है। इसी प्रकार से सब चीजों में समझना। प्राचीन काल में घरों के अन्दर आजकल की तरह टट्टियाँ तो थी नहीं जो पानी के द्वारा साफ हो जायें। छोटा गाँव था, इसलिये घर की सफाई रखने के लिये यह निर्णय किया गया कि घर के अन्दर टट्टी-पेशाब न करें, अशुद्धि होती है। यह बिल्कुल ठीक है। लेकिन अब इसका प्रयोग हम कलकत्ते जैसे बड़े शहरों में रहकर यह सोच कर करते हैं कि वहां पेशाब मोरी में जायेंगे तो अशुद्ध हो जायेंगे। इस डर के मारे तमाम गलियों में एक के बाद एक लाइन लगाकर लोग बैठ जाते हैं। उनसे कहो कि अन्दर क्यों नहीं जाते तो कहते हैं वहाँ जायेंगे तो नहाना पड़ेगा, इसके द्वारा हमने अपना सारा रहनसहन इतना गंदा कर दिया कि यहाँ एक अमेरिकन आये थे। उससे पूछा कि तुमको हिन्दुस्तान में सबसे विचित्र चीज क्या लगी, तो उसने कहा कि हिन्दुस्तान में हरेक सड़क तो पेशाब मोरी है, और हरेक आदमी डाक्टर है। यहां अगर किसी से कहो कि मेरा सिर दुखता है तो कोई नहीं कहेगा कि अमुक डाक्टर के पास जाओ। कोई कहेगा हरड़ घिसकर खा लो, कोई कहेगा काला नमक खा लो। जिससे कहोगे तकलीफ है, वह तुरंत दवाई बता देगा। उसने कहा कि भारतवर्ष में मुझे ये दो चीजें बड़ी विचित्र और जबर्दस्त लगी हैं। जिस सड़क पर जाओ, लम्बी कतार बैठने में कोई हर्जा नहीं, और तुम्हारे कलकत्ते में हम भयंकर

काण्ड देख रहे हैं। शाम को जब निकलते हैं तो चारों तरफ लोग जा रहे होते हैं, कहीं कोई मोटर खड़ी होती है तो उसी मोटर के पास ही लोग पेशाब करने बैठ जाते हैं क्योंकि आगे पीछे तो लोग होते हैं। यह सदाचार नहीं, असदाचार है। विचार न करने का ही यह तरीका है। ऐसे धार्मिक कहलाने वाले, धर्मशास्त्रों को मानने वाले लोगों ने विचार का दुरुपयोग कर दिया। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर इसीलिए कहते हैं 'वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि भजन्तु देवतान्' बिना तत्त्व को समझे हुए, बिना असली चीज का विचार किये हुए चाहे शास्त्र का वदन कर लें, चाहे जितने शास्त्रों के रहस्यों को कहते रहें, चाहे जितने यज्ञ करते रहें, चाहे जितने कर्म कर लें, और चाहे जितना देवताओं का भजन पूजन कर लें, लेकिन यदि इन सब कर्मों में तुमने असली चीज को समझने का प्रयत्न नहीं किया तो फिर इस संसार बंधन से बाहर निकलना 'ब्रह्मपशतान्तरेण न सिद्धयति' सैकड़ों कल्प बीत जाने पर भी सम्भव नहीं होगा। इससे नहीं निकल पाओगे। इसलिये यहाँ आकर विचार करना बड़ा आवश्यक है। विचार करने से पता लगता है कि आत्मा का वास्तविक स्वरूप क्या है ? जब साधारण चीजों में भी विचार रूपी रोशनी के बिना नुकसान ही नुकसान है, तो परमार्थ मार्ग में जो विचार का सहारा नहीं लेगा उसका नुकसान होगा, इसमें कहना ही क्या। कुछ लोग यह कह देते हैं कि चलो संसार की बातों में तो विचार कर लेना चाहिये लेकिन परमार्थ मार्ग में तो आँख मूँदकर चलना चाहिये। जो चीज इहलोक में भी बुरा फल पैदा करती है, वह परलोक में कभी सुख पैदा कर सकती है ? विचार के बिना इहलोक दुःखी है तो परलोक में तो दुःखी होना ही है। इसलिये हर चीज के अन्दर विचार को जाग्रत रखना है। विचार की मशाल के द्वारा ही मनुष्य को धीरे-धीरे आगे का मार्ग मिलता जाता है। शास्त्र का रहस्य समझ में आता जाता है, और अंततोगत्वा सारे प्राणियों में अखण्ड आत्म-तत्त्व की एकता का बोध होकर मनुष्य इस शरीर

आदि संघात में जो अनादि काल से पड़ा हुआ है, उससे निकल जाता है। यह होना विचार से ही है, बिना विचार के नहीं होना है। विचार का प्रकार क्या हो ? 'विशेषेण चारः विचारः'। विचार का मतलब केवल बुद्धि से सोचना नहीं समझना। केवल बुद्धि से सोचने को तर्क कहा जाता है, विचार नहीं। चार का मतलब है चलना, अभ्यास करना। इसलिये विशेष रूप से किसी चीज के अभ्यास से जो होता है, उसको विचार कहते हैं। केवल तर्क से कभी किसी चीज का सच्चा ज्ञान नहीं हो सकता। तर्क आवश्यक है, तर्क विचार का अंग है, लेकिन केवल तर्क से निर्णय नहीं हो सकता। भगवान् वेदव्यास इसलिये कहते हैं 'तर्काप्रतिष्ठानात्'। तर्क की स्वयं में कोई प्रतिष्ठा नहीं है। केवल तर्क अर्थात् अनुभव के आधार पर जो तर्क नहीं, वह तर्क कुतर्क बन जायेगा। इसलिए विचार का मतलब होता है कि जिस चीज को तर्क से सोचो उसको अनुभव में पहले उतारो, उसे व्यवहार में लाओ। जब वह चीज व्यवहार में आ जाये तब फिर अगला कदम उठाओ। यह विचार है। अपने यहाँ बहुत से लोगों ने, नैयायिक और विशेषकर नव्यनैयायिकों ने यह मान लिया कि बैठे बैठे चुपचाप विचार करते रहो, तर्क करते रहो तो तत्त्वज्ञान हो जायेगा। यह उन्होंने मान रखा था। इसीलिये वे वास्तविकता से दूर होते चले गये। लक्षणों का परिष्कार करते चले गये लेकिन उसको कभी भी व्यवहार में लाने की तरफ नहीं गये। दर्शन का काम केवल युक्ति का प्रकाश करना नहीं, उसका काम है हमको अपने प्रतिदिन के जीवन में रोशनी देना। इस परिस्थिति में क्या होगा ? जो प्रकाश हमको जीवन में रोशनी नहीं दे सकता है, वह प्रकाश बेकार है। और यह दोष केवल नैयायिकों में ही नहीं रहा, धीरे-धीरे सब दर्शनों में प्रविष्ट हो गया। इसको अंग्रेजी भाषा में कहते हैं आराम कुर्सी पर बैठे बैठे विचार करते रहना व सोचते रहना कि विचार कर रहे हैं। इसका नाम विचार नहीं हैं। प्रत्येक विचार को आचरण के अन्दर लाना है। जो आचरित नहीं किया जा सके, जिसका आचरण न किया जा सके, वह विचार

नहीं तर्क है। विचार और तर्क में फरक समझ लेना। जब हम कहते हैं कि विचार ही प्रकाश है, तो बहुतों को भ्रम हो जाता है कि तर्क करने से हमको पता लग जायेगा। तर्क की आवश्यकता युक्तिसंगतता समझने के लिए है। आगे फिर उसको व्यवहार में बिना लाये काम नहीं होगा। उसकी आवश्यकता क्यों पड़ती है ? विचार हमको सत्य का मार्ग स्वयं दिखाता है, क्योंकि जिस जिस चीज का हम अभ्यास करते चले जायेंगे, उस चीज की भावना बनती चली जायेगी। जैसे यदि यहाँ से कोई पूछे कि हमको बालीगंज पहुँचने का रास्ता बताओ तो उसे तुम सारा रास्ता लिखकर दे दो तो भूलने की पूरी सम्भावना है। लेकिन यदि उससे कहते हैं कि तुमने डलहौजी तो देखा हुआ है, वहाँ पहुँचकर पार्कस्ट्रीट का रास्ता पूछ लेना। पार्क स्ट्रीट पहुँचकर बिरला म्यूज़ियम का रास्ता पूछ लेना, फिर पहुँच जाओगे। लेकिन पहुँचोगे तब जब यहाँ से चलकर डलहौज़ी जाओगे। बहुत बार हम लोग नक्शे पर उँगलियाँ घुमाकर समझते हैं काम बन गया।

एक बार देवर्षि नारद ने भगवान् विष्णु से किसी बात पर झगड़ा कर लिया। नारद जी की तो आदत है। भगवान् विष्णु को भी गुस्सा आ गया। गुस्से में आकर उन्होंने नारद से कह दिया कि तू मेरे साथ ऐसी उल्टी सीधी बातें करता है, तेरे को रौरव नरक में जाना पड़ेगा। अब नारद जी हाथ-पैर पकड़ने लगे कि जाने दो, आप जानते हो कि मैं ब्राह्मण आदमी हूँ। लेकिन भगवान् विष्णु ने कहा अब कुछ नहीं, बात कह दी सो कह दी। अब मैं बात नहीं बदलूँगा। तेरे को जाना पड़ेगा, बहुत मुँह-फट होता जा रहा है। नारद जी वहाँ से चलकर अपने गुरु सनत्कुमार के पास गये। छांदोग्य उपनिषद् में आता है कि नारद के गुरु सनत्कुमार थे। सनत्कुमार ने कहा—क्या बात है, आज बड़े दुःखी नज़र आ रहे हो। नारद ने कहा-क्या बताऊँ मेरी तो आदत है। मैंने आज भगवान विष्णु से विवाद किया। सनत्कुमार ने कहा-भगवान विष्णु तो सत्वगुणी हैं, बड़े शांत रहने वाले हैं और तुम्हारे साथ उनका सम्बन्ध भी है। तू उनका बड़ा भक्त है। उनसे विवाद

किया तो कोई बात नहीं । नारद कहने लगे—क्या बताऊं, आज तो वह भी मेरे से गुस्सा हो गये। सनत्कुमार ने पूछा—फिर क्या हुआ ? नारद ने कहा—मेरे से कहा कि तू रौरव नरक में जायेगा, मेरे से ऐसी बात करता है। सनत्कुमार ने कहा—यह बहुत बुरा हुआ। नारद ने कहा—इसीलिये तो गुरुजी आपके पास आया हूँ, कोई उपाय बताओ। सनत्कुमार ने कहा—मैं उपाय बताता हूँ। भगवान् ने अपने श्रीमुख से कहा है कि तू नरक में जायेगा। कहा—हाँ जी। तब सनत्कुमार ने उन्हें उपाय बता दिया। नारद जी दूसरे दिन सीधे भगवान् के पास पहुँचे तो भगवान् का गुस्सा ठण्डा हुआ हुआ था। भगवान् ने कहा—तू फिर आ गया। नारद ने कहा—आपके चरणों को छोड़कर कहाँ जाऊँ। नरक में भी जाऊँगा तो याद आपकी ही करता रहूँगा। जहाँ भेजोगे चला जाऊंगा, नरक में भेजोगे तो वहाँ भी चला जाऊँगा। भगवान् सोचने लगे कि इस ब्राह्मण को फालतू ही फँसा दिया। नारद ने कहा कि आपने मुझे रौरव नरक में भेजना ही है। भगवान् ने कहा—हाँ, वह तो कह दिया सो कह दिया। नारद ने कहा-ठीक है लेकिन मेरी एक प्रार्थना है कि जरा रौरव नरक समझा तो दीजिये कि कैसा है ? भगवान् ने एक खड़िया ली और वहीं रौरव नरक का चित्र खींचकर नारद को समझाने लगे कि इधर से इसका रास्ता है। यहाँ वैतरणी को पार करना पड़ता है, जिसमें पीप और रुधिर में डूबना उतरना पड़ता है, यहाँ से पार करके जब आगे जाता है तो मलभाण्ड आता है। फिर असिपत्र आता है, और उसके आगे नरक आता है। फिर बताया कि यह रौरव नरक है। यहाँ तेरे को जाना पड़ेगा। नारद ने आव देखा न ताव झट जहाँ भगवान् ने वैतरणी बनाई थी, वहाँ पैर रखा और जहाँ रौरव नरक बनाया था, वहाँ जाकर लोटने लगा। भगवान् ने पूछा—यह क्या करता है ? कहा—महाराज ! नरक भोग रहा हूँ। भगवान् ने कहा—यह कोई नरक है। नारद जी ने कहा—भगवान् ! आपने ही वह बनाया और उसका नाम रौरव रखा। आपने ही यह बनाया और

कहा कि इसका नाम रौरव है तो आपकी वाणी झूठी थोड़े ही होगी। मैंने तो नरक का भोग कर लिया। भगवान् का हृदय जरा कोमल तो हो ही गया था। भगवान् ने कहा—यह युक्ति तेरे को किसने बताई। तेरी अपनी बुद्धि की तो नहीं लगती। कहने लगे—गुरुजी के पास गया था, उन्होंने यह युक्ति बता दी। भगवान् ने कहा—ठीक है, तेरा काम हो गया। यहाँ सोचने की चोज क्या है? जैसे वहाँ भगवान् ने सारा रास्ता बताया। ऐसे ही यदि भगवद्-रूपता को लेकर चलो तब तो वहीं तुम्हारा काम बन गया। अन्यथा केवल उन शब्दमात्र को पकड़कर बैठे रहो, कुछ नहीं होगा। नारद तो जानते थे कि यह भगवद् वाक्य है, इसलिये पूर्ण निष्ठा हो गई। लेकिन अगर यह विचार जाग्रत नहीं हो पाता है तो फिर वह मनुष्य को लाभ नहीं पहुँचा पाता। इसलिये शास्त्रों के वचनों को देखते समय इस प्रकार से अभ्यास करते हुए जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं और जब वहाँ पहुँचते हैं तो अगला रास्ता खुद मिलता जाता है। खुद ही उपाय निकलता आता है। जैसे यहाँ पर नारद को सनत्कुमार ने उपाय बता दिया उसी प्रकार से जब शास्त्रों को कोई देखता है तो दो प्रकार की वाणियाँ मिलती हैं। कहीं पर तो भगवान् ने शास्त्र के अन्दर कहा हैं 'नाभुक्त्वा क्षीयते कर्म कल्पकोटिशतैरपि' करोड़ों कल्प भी बीत क्यों न जायें, जब तक भोग न कर लिया जाये तब तक कर्म का नाश नहीं होता। यह भी शास्त्र में ही कहा गया है कि कर्म जो किया हैं वह भोगना ही पड़ेगा। दूसरी तरफ शास्त्र ही कहता हैं 'ज्ञानाग्निसर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते' ज्ञानरूपी अग्नि से सारे कर्म भस्म हो जाते हैं। दोनों बातें शास्त्र ने कहीं। 'सर्वथा वर्तमानोपि स योगि मयि वर्तते' किसी भी प्रकार का वह आचरण करने वाला क्यों न हो, मेरे में बरतता है। यह भी भगवान् ने कहा है। तो संदेह होता हैं उसको जो विचारक नहीं है कि इन दोनों वाक्यों का सामरस्य क्या है? लेकिन विचार करने से पता लगता हैं कि जब तक हम परमेश्वर की तरफ अपनी वृत्ति नहीं बनाते तब तक तो कर्म भोग भोगना ही पड़ता हैं। जैसे

नारद ने परमेश्वर की तरफ वृत्ति बनाई कि इन्होंने जो कहा मुझे स्वीकार है। यह वृत्ति जब बना ली तो उसका काम उतने से ही हो गया, और जब तक परमेश्वर की बात पर पूर्ण निष्ठा नहीं हो पाती तब तक कर्मक्षय नहीं हो पाता। विचार करने पर पता लगता है कि यहाँ पर परमेश्वर का प्रवेश दुःख भोगने के लिये नहीं, वरन् काम, क्रोध आदि शत्रुओं को मारने के लिये, जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति में परिभ्रमण करने वाले आत्मस्वरूप को समझने के लिये, और जो अपने स्वरूप की विस्मृति हैं उस स्वरूप को पुनः प्राप्त करने के आनंद के लिये है। उसने इसमें प्रवेश इस उद्देश्य से किया है, दुःख भोगने के लिये नहीं। विचार से यह पता लगता है और जिसे विचार से यह पता लगा और वह इस चीज को जीवन में लाने लगा, वहाँ फिर धीरे-धीरे आगे का रास्ता खुलते हुए पुनः इस संसार से बाहर निकलकर परमेश्वर की प्राप्ति हो जाती है। उक्त तीनों साधनों को किस प्रकार किया जाये, इस पर आगे विचार करेंगे।

२५-३-७५

नीलग्रीव, सहस्राक्ष और आनंदवर्षक परमात्मा के नमस्कार पूर्वक प्रार्थना करते हैं कि जो आपका तनु है अर्थात् जो आपका रूप संसार बंधन को निवृत्त करने में समर्थ है, वह हमारे संसार बंधन को निवृत्त करे। संसार बंधन में जब परमेश्वर ने प्रवेश किया तो जैसा बताया था कि विचार रूपी रोशनी, शास्त्र रूपी चिह्न और तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत रूपी डोरी लेकर प्रवेश किया और इन तींनों के सहारे से वापिस निकल जायेगा। अब वह जो विचाररूपी रोशनी है, वह मनुष्य शरीर में आकर पूर्ण रूप से प्रज्वलित होती है। यह जो विचार का रूप है, यह मनुष्य जन्म में आने के पहले पूर्ण रूप से अपनी अग्नि को पैदा नहीं करता। अपने प्रकाश को

देता नहीं। यद्यपि पशु-पक्षियों में भी विचार है अवश्य, परन्तु संसार के कारण का विचार उनके मन में नहीं उठता। कारण यह है कि संसार के भोजन, शयन, मैथुन इत्यादि कार्यों में वे इतने संलग्न होते हैं कि यह सम्भव ही नहीं होता कि इनसे कहें कि तत्व को सोचो। भगवान् भाष्यकार इसीलिये कहते हैं 'लब्ध्वा कथंचित् नरजन्म दुर्लभं' अनेक जन्मों के पुण्यों के उदय होने पर कथंचित् अर्थात् परमेश्वर की विलक्षण कृपा के कारण इस दुर्लभ नर जन्म को प्राप्त करके। लेकिन यहाँ नर जन्म कहा है। जैसा पहले भी एक बार कहा था कि मनुष्य योनि में आकर दोनों तरफ के रास्ते मिलते हैं-छोटी लाइन और बड़ी लाइन। नर शब्द में 'न' माने नहीं और 'र' माने विषय में रमण करना। नर शब्द का मतलब होता है जो विषयों में अपने मन को न लगाये। जो विषयों में रमण न करे, उसी को नर कहा जाता है। जो विषयों में अपने मन को बार-बार लगाने में ही अपने को धन्य समझे, वह दो पैर पर चलने वाला तो है, लेकिन नर नहीं है। यह जो विषयों से अपनी वृत्ति को हटाना है, यही मनुष्य को नर बनाता है। अन्यथा नररूपता नहीं है। यजुर्वेद श्रुति इसोलिये नर का रूप बताती है 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। एवं त्वयि नान्यथेतास्ति न कर्म लिप्यते नरे॥' नर वह है जो शास्त्रीय कर्मों को फलासक्ति से रहित होकर करता है, और कर्म बंधन में नहीं आता। कुर्वन् एवं अर्थात् कर्म करते हुए ही, फलाशा से रहित होकर के कर्मफल की आसक्ति को छोड़कर केवल कर्त्तव्य दृष्टि से जो कर्म करता है और इस उपाय से ही जो कर्मबंधन से छूट जाता है, वह नर है। यहाँ नर का लक्षण किया 'न कर्म लिप्यते नरे'। इस प्रकार का नर जन्म दुर्लभ है। दो पैरों पर चलना कोई बड़ी भारी दुर्लभता नहीं। 'तत्रापि पुंस्त्व श्रुतिपारदर्शनम् नर जन्म मिलने पर भी जिसमे पुरुषार्थ का अभाव है, बहुत वार मनुष्य कर्त्तव्य मानकर कर्म भी कर लेता है, फलासक्ति को भी छोड़ देता है, लेकिन उस कर्म को रोते रोते मरा हुआ सा ही करता है कि किसी तरह जिन्दगी कट जाये। यह पुरुषार्थ के अभाव को बताता

है। इसलिये तत्रापि अर्थात् नरजन्मन्यपि नर जन्म को प्राप्त करके भी पुरुषार्थ में प्रवृत्ति करना और भी दुर्लभ है। नर और उसमें भी पुरुषार्थ में लगा हुआ नर। वह फिर किस दृष्टि से पुरुषार्थ करे ? कहा—आत्ममुक्ति के लिये अर्थात् अपने को कर्मपाश से छुड़ाने के लिये ही प्रयत्न करे। मनुष्य कामना से बँधा है। इसलिये जब तक कामना का त्याग नहीं करता, तब तक वह इस संसार में वास्तविक पुरुषार्थ नहीं करता। 'यस्त्वात्ममुक्त्यै न यतेत मूढधीः स हि आत्महा स्वंविनिहन्ति असद्ग्रहात्' वह आत्म हत्यारा है। संसार में आत्महत्या बहुत बड़े पाप की चीज मानी गई। लोग सोचते हैं कि शरीर को मार देना आत्महत्या है। शरीर तो अवश्य मरेगा ही, इसलिए शरीर को मारना कोई बड़ी आत्महत्या नहीं है। अपने अन्दर बैठे परमात्मदेव को न जानना ही सबसे बड़ी आत्महत्या है। असत् संसार को जबर्दस्ती पकड़कर रखना चाहता है, इसलिये अपना नाश स्वयं ही करता है। नर जन्म की प्राप्ति, और पुरुषार्थ करने की योग्यता की प्राप्ति के बाद आत्ममुक्ति के लिए ही प्रयत्न करना चाहिये।

यह जो कामना को नष्ट करना है, इस दृष्टि को लेकर ही होलिकोत्सव मनाया जाता है। यह वस्तुतः काम दहनोत्सव है। इसी दिन भगवान् शंकर ने काम को जलाया था। होलिका के महोत्सव का प्रधान उद्देश्य यह है कि हम काम को विजय करें। असली दृष्टि यह है और इसी दृष्टि से कई जगह पर लोग कुछ अश्लील कथनोपकथन भी करते हैं। वह वस्तुतः काम का प्रतीक है। उन सबको जलाना, नष्ट करना ही उद्देश्य है। होलिकोत्सव के अन्दर मनुष्य होला को जलाता है। होली किसको कहते हैं ? गेहूँ या चने आदि की जो नई-नई बाल आती है उसे होली कहते हैं। जिसमें यह होला जलाया जाये, या भूना जाये और उसका प्रसाद दिया जाये, उसे होलिकोत्सव कहते हैं। बृहन्नारदीय में बताया है कि फाल्गुन की पूर्णिमा के दिन होलिका का पूजन होता है। सब प्रकार की लकड़ियों को उसमें एकत्रित किया जाता है। गाँवों में तो

ऊधमबाजी में लोग घर के दरवाजे, यहाँ तक कि मौका मिले तो छप्पर के बांस भी ले जाते हैं। सब प्रकार की लकड़ियों को, सब प्रकार के घासफूस इत्यादि चीजों को इकट्ठा करो, और उसके बाद उसे जलाओ। यह उत्सव फाल्गुन पूर्णिमा को मनाया जाता है। पहले महीनों का अर्थ बताया था। फाल्गुन माने फाल्गु अर्थात् जिसने संसार को व्यर्थ समझ लिया है वही फाल्गुन मास में स्थित है। संसार को व्यर्थ समझ लिया, इसी के प्रतीक रूप में जो कुछ भी कहीं भी जलाने लायक है, वह सब जलाया जाये। शास्त्र जब कहता है कि सब प्रकार की लकड़ियों को जलाओ तो शास्त्र का तात्पर्य है कि जो कुछ भी जलाने योग्य पदार्थ हैं उनको जलाओ। अशुभ कामनायें, अशुभ कर्म आदि सभी जलाने योग्य पदार्थ हैं, और अंततोगत्वा तो काम दहन होने के कारण सब प्रकार की कामनाओं को जलाना है। लोगों ने इसका मोटा तत्त्व ले लिया कि दूसरों की लकड़ियों को ले लेकर जलाओ। वहाँ भी तात्पर्य क्या है? स्वयं अपनी कामनाओं का दहन करो और दूसरों की भी कामनाओं को जलाने के लिये मदद करो। फाल्गुन की पूर्णिमा के प्रतीक रूप में जब संसार को व्यर्थ समझोगे, संसार को असत्य समझोगे तभी इस प्रकार से अपनी कामनाओं को, अशुभ कर्म और अशुभ वासनाओं को जला पाओगे, अन्यथा नहीं। फिर उसके बाद आहुति दी जाती है। आहुति का मंत्र सब जानते ही हैं। यह मंत्र स्पष्ट कहता है कि इस महोत्सव का उद्देश्य यह है कि हमारे अन्दर जो राक्षसी प्रवृत्तियाँ हैं उनका हनन करना है। आज जो बाहर से राक्षसी प्रवृत्तियाँ दिखायी जाती हैं, इनके पीछे एक मानसिक अर्थात् मनोवैज्ञानिक रहस्य है। अपने मन में बहुत सी राक्षसी दुर्भावनायें छिपी बैठी रहती हैं। जब तक पहले अवसर लाकर उनको बाहर प्रकट न किया जाये तब तक उनको खतम कैसे करोगे। यह जो भावनायें प्रकट करना है, इसकी दृष्टि केवल यही है कि उस दिन अपने भाव चाहे गंदे से गंदे हों, तो भी उसको बिना

किसी अवरोध के प्रकट कर दें। इसका नतीजा होगा कि एक तो हमको स्वयं पता लग जायेगा कि हमारे अन्दर कितनी गन्दगी है। मनुष्य का जो मन है उसकी आदत औरतों के झाड़ू लगाकर धूल को गलीचे के नीचे करने की तरह है। कभी किसी दिन यदि उस गलीचे को उठाओ तो उसके नीचे से बाल, सेफ्टीपिन, आदि कई चीजें निकलती हैं। गलीचा हटाने पर उसकी सफाई हो जाती है। इसी प्रकार मनुष्य का स्वभाव है कि जितनी अपनी दुर्भावनायें हैं, उनको जलाता नहीं, अपने मन के नीचे दबाकर रखता है। नतीजा यह है कि जब मनुष्य कभी भी असावधान होता है तब उसका वह भाव प्रकट हो जाता है। कई बार देखोगे कि जो आदमी बड़ा शान्त रहता है उसको कभी गुस्सा आ जाये तो ऐसा बोलता है कि अपने सोचने लगते हैं कि अरे, यह ऐसी बात भी बोल सकता है? विश्वास नहीं हो सकता। कारण यह है कि वे सब दुर्भावनायें उसने दबा रखी हैं। असावधानी से प्रकट हो गई हैं। होलिकोत्सव में उन दुर्भावनाओं को अपने सहयोगी, प्रेमी, मित्र, रिश्तेदारों के सामने प्रकट करो। सर्वथा असावधान होकर मन आवे सो करो, चाहे नंगे होकर नाचो। इसके द्वारा हमको भी पता लग जाता है कि हमारे अन्दर कितनी बुराइयाँ हैं, और दूसरे सहयोगी, मित्र और रिश्तेदारों को भी पता लग जाता है कि तुम्हारी स्थिति क्या है। अब जहाँ पर सत्संगी होंगे, वे फिर एक दूसरे की मदद करेंगे कि तुम्हारी अमुक कमजोरी हमने देखी, इसको दूर करो। वह भी समझेगा कि ठीक बात है। अब इस चीज का दुरुपयोग यह हो गया है कि वे प्रकट तो जानबूझकर करते हैं, लेकिन उसको बुराई समझ कर नहीं। और उसे दूर करने के लिये कोई प्रयत्न भी आगे नहीं करते। अतः आहुति के मंत्र के द्वारा यह प्रार्थना की जाती है कि मेरी ये सारी राक्षसी प्रवृत्तियाँ नष्ट हों। अनात्म प्रत्ययों के तिरस्कार करने के बल को ही बल कहा जाता है। हमारे जो अनात्म प्रत्यय हैं, अर्थात् हमारा शरीर मन के

अन्दर होने वाला जो ज्ञान है, इन सबसे मैं भिन्न हूँ, यह जो वलगन है इसके द्वारा इन्हें छोड़ो। एक नियम है कि बुराई किसी के सामने प्रकट हो जाये तो फिर वह बुराई मनुष्य बचा जाता है। शास्त्रकार कहते हैं 'विज्ञातसेवितश्चोरोमित्रतांयाति' कोई चोर हो और तुमको पता लग जाये कि यह चोर है, और तुम उसको कह भी दो कि तुम अमुक जगह चोरी करके पकड़े गये थे मैं जानता हूँ। बड़े अच्छे आदमी हो बड़ी अच्छी चोरी की थी। वह चोर मित्र भाव को प्राप्त कर जाता है। अब वह उल्टा तुम्हारा पहरा देगा क्योंकि जानता है कि अब अगर किसी दूसरे ने भी चोरी की तो कलंक मेरे सिर लगेगा। इसलिये वह सब प्रकार तुम्हारा सहायक बन जाता है। इसी प्रकार जब तुम अपने दुर्भाव को अपने सहयोगियों के सामने प्रकट कर दोगे तो स्वयं ही उस बुराई से बच जाओगे कि यह तो इन लोगों को पता लगी हुई बुराई है। अगर मैंने किसी और भाव से कोई काम किया तो ये कहेंगे कि जानते हैं, तुम वही हो। यह वैष्णवी शक्ति है, भगवान विष्णु की शक्ति है जो अनात्म प्रत्यय के तिरस्कार की शक्ति है। सर्वव्यापक परब्रह्म परमात्मा की शक्ति से हो इसका प्रतीकार हो सकता है इसीलिये इसको वैष्णवी शक्ति कहा। इसी को लेकर के पुराणों के अन्दर प्रहलाद की कथा भी बताई गई। वहाँ भी तात्पर्य यह है कि प्रहलाद की रक्षा वैष्णवी शक्ति ने की, जिसका नतीजा यह हुआ कि प्रहलाद को जलाने के लिये बैठी हुई होलिका तो जल गई, प्रहलाद बच गया। कथा सब जानते ही हो कि होलिका कभी जलने वाली नहीं थी। यह भी उसी चीज को बताता है कि जीव जब वैष्णवी शक्ति का सहारा ले लेता है तो कभी नष्ट नहीं होने पाता। यह कामना की शक्ति, अविद्या शक्ति है। वैसे देखो तो यह कामना कभी नष्ट नहीं हो सकती, इसे एक तरह का वरदान है कि कामना नष्ट हो ही नहीं सकती। इस वरदान का कारण अर्थात् कामना के नष्ट न होने का कारण

यह है कि कामना नष्ट हो जाये, यह भी तो एक कामना ही है। फिर वह नष्ट कैसे होगी। इसलिये कहा गया कि होलिका को वरदान था कि वह आग में कभी नहीं जलेगी। इसी तरह कामना को वरदान है कि यह किसी तरह नष्ट नहीं होगी। लेकिन वैष्णवी शक्ति का सहारा लिये हुए जीव रूप प्रहलाद के लिये यह कामना भी नष्ट हो जाती है और जीव बच जाता है। ह्लाद का मतलब हो आनन्द होता है। इसलिये प्रकर्षेण ह्लादः से प्रह्लाद। अत्यधिक आनंदमय जिसका स्वरूप है, उसे प्रहलाद शब्द के द्वारा कहा गया। कई प्रकार से होलिका को बताया गया है। उसके बाद इसे मैं फैलाता हूँ, यह कहकर आहुति देते हैं। फिर इस होम के अनंतर होलिका का पूजन किया जाता है। पूजा के समय मंत्र बोलते हैं, आरती इत्यादि करते हैं, गुड़ इत्यादि का भोग लगाते हैं। अहकूटा राक्षसी के भय से त्रस्त हुआ जीव है। अहः दिन के प्रकाश को कहते हैं। इसी रुद्री मे आयेगा 'अहानिशम्भवन्तुनः शं रात्रीः प्रतिधीयतां' दिन (प्रकाश) हमारा कल्याणमय हो। यह परब्रह्म परमात्मा जहाँ कूट अर्थात् छिपा हुआ है। अज्ञान काल के अन्दर प्रकाश रूप परमात्मा हमारे अंतःकरण में छिपा रहता है। यह अहकूटा राक्षसी के द्वारा हमारे अन्दर त्रास होना है। क्यो त्रास पा रहे हैं? अहकूटा राक्षसी, अपने अन्दर होने वाले स्वयं प्रकाश देव को ढांक देने वाली राक्षसी, के भय के कारण त्रास पा रहे हैं। इसलिये तुम्हारी यह पूजा कर रहे हैं कि इसके द्वारा यह अहकूटा नष्ट होकर हमारे अंदर का आत्मज्ञान जल जाये। यह जला हुआ आत्मज्ञान अविद्या को नष्ट करेगा। अविद्या नष्ट होने से कामना नष्ट हो जायेगी। कामना के जलाने के बाद वहाँ पड़ी हुई राख को उठाकर एक दूसरे के टीका लगाते हैं। होलिका की आहुति के द्वारा उत्पन्न हुई जो राख या भस्म है, उसको एक दूसरे का लगाना है। अब तो लोग कीचड़ उठाकर रास्ता चलते लोगों पर फेंकते है। भूति (भस्म) विभूति को कहते हैं। इसके द्वारा हमारा संसार बंधन समाप्त हो जायेगा, और हमको सभी

ऐश्वर्य प्राप्त हो जायेंगे। इसलिये यहाँ एक दूसरे को भस्म लगाते है कि यह अज्ञान नष्ट होकर जो अपनी बाधितानुवृत्ति का जगत है, यह एक दूसरे को ऐश्वर्य दे। तब अगले दिन भगवान विष्णु का पूजन करते हैं। विशेषकर के बंगाल में दोलयात्रा के रूप में पूजन करते हैं। 'नरो दोलागतं दृष्ट्वा विष्णुं' जब हमने अज्ञानरूप कामना जला दी, उसकी भस्म को धारण कर लिया तब अगले दिन भगवान गोविन्द को पालने में बिठाकर झुलाते हैं। बंगाल में वही प्रधान होने से उसे दोलयात्रा या केवल दोल भी कहते हैं। भगवान को झुलाते काल में रंग फेंकते हैं। रंग का मतलब नीला, हरा, पोला रंग नहीं लेना, परमेश्वर के प्रति अपना जो अनुराग है, उसे रंग कहा जाता है। इसीलिये श्री रंग नाथ का दर्शन करने जाते हैं तो वहां यह मतलब थोड़े ही है कि वहाँ हरे पीले रंग इत्यादि भरे हुए हैं। जो हमारी समग्र भावनाओं को ग्रहण करे, उसी को रंगनाथ कहते हैं। इसलिये रंग खेलने का मतलब है कि उस समय परमेश्वर के प्रति अब हम हृदय के सर्व भावों को, परमेश्वर के भावों को प्रकट करते हैं। वह परमेश्वर कैसा है ? अब हमारी अविद्या जन्य कामना नष्ट हो गई, इसलिये ससार रूप के अन्दर इस माया रूपी पालने में झूलते हुए, अर्थात् अनेक रूपों को लेते हुए परमेश्वर को हम पहचानते हैं। वही गोविन्द है अर्थात् इन्द्रियों का स्वामी हैं। उत्तम पुरुष हैं, वही हमारे अन्दर आत्मस्वरूप से विद्यमान हैं। इसी प्रकार अपनी इन्द्रियों को संयत अर्थात् नियंत्रित करके सारे व्यवहार करने हैं। यह नहीं कि बेवकूफों की तरह से एक दूसरे से होली खेल लें तो गोलोक को चले जायेंगे। मनुष्य इस प्रकार अपनी इन्द्रियों को संयत करके संसार के सब व्यवहारों को करते हुए परमेश्वर के रूप को पहचानता रहता है। जहां कहीं जो कुछ भी व्यबहार दीखता है, जानता है कि इसके पीछे भगवान नारायण ही क्रिया कर रहे हैं। इसलिये ऐसा व्यक्ति भगवान विष्णु के वैकुण्ठ लोक, गोलोक को प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यहाँ बताई गई कामदहन लीला और होलिका

दहन लीला, दोनों के साथ अहकूटा राक्षसी के नाश की कथा सम्बन्धित है।

कामदहन लीला को इसलिये भी आज के दिन मनाते हैं कि एक हिसाब से यह संवत्सर का अंतिम दिन होता है। आज कल चैत्र के आधे में हम संवत्सर खतम करते हैं। विचार करो तो संवत्सर तो नये महीने से होना चाहिये। उस दृष्टि से देखो तो यह एक प्रकार से संवत्सर की समाप्ति है। पिछले हिसाब अर्थात् पिछली सब कामनाओं को हम छोड़ देते हैं। यह विचार करके ही फिर अगले दिन शूद्र से भी जाकर गले मिलने का विधान है। उसका तात्पर्य यह है कि आज तक हमारे जो आपसी द्वेष, घृणा इत्यादि के भाव थे, उन्हें हमने छोड़ दिया। आज से जीवन का नया अध्याय शुरू करते हैं। अब हम पुरानी बातों को नहीं रटेंगे। यह नहीं कि उस दिन तो गले मिले और दूसरे दिन मुकदमे बाजी के लिये फिर से तैयार। जो छोड़ दिया सो छोड़ दिया। शत्रुता इत्यादि भावों को छोड़ देंगे, यह विचार करके नव जीवन का प्रारंभ करते हैं। यह नव जीवन का प्रारंभ एक तरह से संसार के सभी धर्म धर्मान्तरों में किसी न किसी प्रकार से मिलता है। कैसे मिलता है, यह फिर कभी बतायेंगे। हर हालत में होलिका का प्रधान तात्पर्य यही है। इसके साथ शास्त्रों ने और भी बताया है। इसके आधिभौतिक फल को शास्त्रों ने बताया। प्राचीन वैदिक संस्कृति के अनुसार सस्येष्टि योग आज किया जाता था। उसके कारण वायु शुद्ध होती थी। यही समय है जब तरह तरह के रोग लोगों को होते हैं। बंगाल में तो इन दिनों में आने वाले रोगों को कहते ही बसंत रोग हैं। इस हवन से सारी दुष्ट भावना समाप्त होकर शुद्ध वायु सारे रोगों को शान्त करती है। इस हवन के द्वारा वातावरण की शुद्धि होती है क्योंकि सब तरह का घासफूस इसमें डाला जाता है। और उससे जो धुआं निकलता था, उसके अन्दर सब प्रकार का घास फूस होने से औषधि का अंश आ जाता था। जैसे होम्योपैथी में छोटी सी खुराक फायदा करता है, और जितनी खुराक कम होती जाती

है, ताकत बढ़ती जाती है, इसी प्रकार से जब हम उसको भस्म करते हैं तो उससे जो धुआं निकलता हैं उसमें औषधि की मात्रा तो कम हो जाती है लेकिन उसका असर बढ़ जाता है। तरह तरह के घास फूस से उत्पन्न धुँआ सब प्रकार के रोगों के कीटाणुओं को नष्ट करने में समर्थ होकर उन सारे रोगों को नष्ट कर देता था। इस प्रकार सब चीजें उन सारे रोगों की निवृत्ति का कारण बन जाती थीं, यह आधिभौतिक तात्पर्य था।

आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक तीनों क्रियायें साथ-साथ चलती हैं। साथ में समाज की दृष्टि से एक बहुत बड़ा लाभ यह होता था कि साल भर तक हम लोग वर्णाश्रम व्यवस्था को पूर्णरूप से मानते थे। होली का त्यौहार इसलिये बनाया गया कि उस दिन चाण्डाल का स्पर्श विधान से सर्ववर्णस्नेह बढ़ता है। यह इसलिये कि सामाजिक दृष्टि से भी हम लोगों में एक दिन अपनत्व का भाव आये, उस दिन यह नहीं कि हम चाण्डाल को नहीं छुएंगे। इन तीनों दृष्टि से यह त्यौहार मनाने लायक है। लेकिन मनाया तभी जाये जब शास्त्रीय ढंग से मनावें। ऐसा नहीं कि मन आये, वैसा मनायें। नहीं तो लाल पीला मुँह करके घूमते फिरेंगे और मुँह से अश्लील गालियाँ देकर वाणी को भी अशुद्ध कर देंगे। यहाँ बता रहे हैं कि परमेश्वर को प्राप्त करने के लिये मनुष्य प्रयत्न करे। परमेश्वर प्राप्ति के लिए बताया कि कामना को जलाना पड़ेगा। होलिका दहन काम दहन का दिन है। इसलिये उस दिन सब लोग अपने जीवन में कामनाओं के नाश का प्रयत्न करें। अंग्रेजों में एक चाल है कि नये साल में वे एक प्रतिज्ञा करते हैं जिसे New Years Resolution कहते हैं। इसका मतलब है कि इस साल हम अमुक अच्छा काम करेंगे, या बुरा काम नहीं करेंगे। सारी कामनाओं का नाश न भी कर सको तो कम से कम होलिका दहन में एक कामना नष्ट करने का संकल्प करना कि अब मैं चेष्टा करके इस एक कामना को छोडूँगा। लेकिन वह कामना छोड़ना जो अच्छी लगे। ऐसा नहीं कि जिस साग में हमें स्वाद नहीं आता तो तीर्थ में उसी साग को छोड़ दें। जैसे हमें जिमीकंद अच्छा नहीं लगता। पण्डे ने कहा कि

कुछ छोड़ो और तुमने कहा कि जिमीकंद छोड़ दिया। यह छोड़ना नहीं है। इसी प्रकार वह कामना नहीं छोड़ना कि जो पहले ही अच्छी नहीं लगती हो। जैसे पत्नी के लिये गहने वनाने की कामना को छोड़ दो। वाद में पत्नी कहे गहना बनवा दो तो कहो कि महाराज जी के कहने से हमने यह कामना छोड़ दी हैं। इसलिये वह कामना छोड़ने का व्रत लेना जो तुम्हें प्रिय हो। कम से कम एक प्रतिज्ञा हर साल करोगे तो धीरे-धीरे आगे बढ़ते हुये भगवान विष्णु के परम धाम को, गोलोक को, प्राप्त करोगे।

२७-३-७५

उस नीलग्रीव सहस्राक्ष आनंदवर्षक परमात्मा के जो सत्व अर्थात् अनात्म निवृत्ति का वलरूप फल है, उसके प्रति नमस्कार करते हैं अर्थात् वह बल हमारे अनात्म प्रत्ययों को दूर करे। अनात्म प्रत्ययों को दूर करने पर विचार करते हुए तीन चीजें वताईं। जब परमेश्वर जीव रूप से जगत में प्रवेश करता है तो प्रथम वह शास्त्र रूपी संकेत का लिखता है, विचार रूपी मशाल को पास रखता है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में अनुस्यूत आत्मरूप डोरी को भी रखता है। इनके द्वारा ही वह इस ससार समुद्र में से वापिस निकलता है। वस्तुतः जब तक यह इन तीन चीजों के सहारे संसार स बाहर निकलने की तरफ नहीं चलता तब तक इसको अशांति दूर नहीं होती। मनुष्य आनद से आया है, आनंद रूप है, इसलिये जब कभी यहां आनद से अपने को अलग देखता है तव आनंद ढूंढ़ने चल पड़ता है। 'आनन्दाद्धयेवखल्विमानि भूतानि जायन्ते' यह कृष्ण यजुर्वेद की श्रुति कहती है कि जितने प्राणी हैं, ये सब आनंद से ही उत्पन्न हुए हैं इसलिये आनंद रूप हैं। जैसे सोने से उत्पन्न हुआ गहना स्वर्णरूप होता है। मिट्टी से वना हुआ वर्तन मिट्टी रूप होता है, रूई से वना हुआ कपड़ा रूई रूप होता है उसी प्रकार से आनंद से उत्पन्न हुआ यह सारा ही प्राणिसमुदाय आनंद

रूप है। कोई क्षण ऐसा नहीं जब चेतन जीव आनंद को न चाहता हो। जब जब इसको अपने में आनंद के अभाव की अनुभूति होती है तो यह आनंद को ढूँढ़ने चलता है। यही अशांति का कारण है। वह सोचता है कि अमुक विषय मेरे पास नहीं, इसलिये यदि उसको ढूंढ़ कर ले आऊँगा तो आनंद मिल जायेगा। यह विषय प्रवृत्ति ही मूलतः अशांति है। जब तक विषयों से सुख लेने का स्वभाव रहेगा तब तक इसको अशांति ही हाथ लगेगी और अशांत व्यक्ति को कभी सुख नहीं हो सकता 'अशांतस्य कुतः सुखम्'। आजकल के जितने लोग हैं वे मानव समुदाय को अशांत करने में विश्वास करते हैं, क्योंकि वे मानते हैं कि यदि व्यक्ति अशांत होगा तभी विषयों के लिये प्रवृत्ति करेगा। तभी उन्नति होगी। किसकी उन्नति होगी? वे ऐसा मानते हैं कि पत्थर ईंटें ज्यादा हो जाना उन्नति है। लोग बड़े-बड़े सांखियकी चक्र (Statistical Data) तय्यार करके प्रकाशित करते हैं कि हमारे देश ने बड़ी उन्नति की। हम सोचते हैं कि आगे कुछ उन्नति की बात आयेगी। लेकिन आगे आता है कि देश में कपड़ा इतना ज्यादा पैदा होने लग गया, मकान इतने ज्यादा बन गये, लोहा इतना ज्यादा होने लग गया। लोहा ज्यादा बना तो लोहे को उन्नति हुई या हमारी उन्नति हुई? कपड़ा ज्यादा बना तो कपड़े की उन्नति हुई या हमारी उन्नति हुई? ऊपर से नीचे तक बांच जाते हैं, एक जगह भी यह नहीं आता कि पहले लोगों में इतने प्रतिशत शान्ति थी और अब इतने प्रतिशत शांति बढ़ गई। बड़े-बड़े सांख्यिकी चक्र तैयार करने वाले लोग तुम्हारे आनंद या शान्ति को छोड़ बाकी सब बातें पूछते हैं। हर दस साल में आकर पूछते हैं कि तुम्हारा नाम क्या, बाप का नाम क्या, दादा का नाम क्या, तुम्हारी जात क्या, क्या काम करते हो, कमाते क्या हो, तुम्हारी भाषा क्या इत्यादि दुनिया भर की सब बातें पूछते हैं। कोई यह भी पूछता है कि तुम शांत हो या अशांत हो? सुखी हो या दुःखी हो? यह कोई नहीं पूछता। यदि उनसे कहे कि

हम दुःखी हैं तो कहते हैं कि तुम दुःखी कैसे, देश में इतने मकान बढ़ गये, कपड़ा और लोहे का उत्पादन बढ़ गया, तुम दुःखी कैसे हो गये ? आज कल लोग विषप्रवृत्ति को बढ़ाकर अशांति को वढ़ाना अपना धर्म मानते हैं। लोगों को दुःखी करना वे उन्नति मानते हैं। विषय प्रवृत्ति ही अशांति है और अशांत पुरुष ही दुःखो होता है। जब तक संसार के अन्दर, अपने आनंद को न समझकर, विषयों की तरफ आनद के लिये जाता है, तब तक अशांत स्थिति होती है। ऐसा करते करते एक दिन विचार जाग्रत होता है। विषय प्रवृत्ति के द्वारा एक दिन मन में आता है कि मैंने इतने समय तक इस संसार के पदार्थों की तरफ प्रवृत्ति की, मुझे क्या मिला, क्या हाथ लगा। जवाव मिलता है कि दुःख ही दुःख मिला। यह जवाव मिलने पर मनुष्य सोचता है कि वाहर के पदार्थों में सुख नहीं तो अंतर्मुख बन जायें। प्रवृत्ति के निरोध में सम्भवतः सुख होगा। तब उसमें निवृत्ति आती है। और जैसे-जैसे निवृत्ति आती है वैसे वैसे राग हटता है, और जैसे जैसे राग हटता है वैसे-वैसे शान्ति आती है। थोड़ा थोड़ा हटने से ही सुख होने लगता है। भगवान् सर्वज्ञात्ममहामुनि लिखते हैं 'यतो यतो निवर्तते ततस्तो विमुच्यते। निवर्तनाद्धिसर्वतः न वेत्ति दुःखमण्वपि।' जितना जितना जिस जगह से निवृत्त होते जाते हैं, उतना उतना दुःख से छूटते जाते हैं। ऐसा नहीं समझ लेना कि सारे विषयों की निवृत्ति जव हो जायेगी तव उसके वाद अकस्मात् सुख टपक जायेगा। वरन् जिस जिस चीज से निवृत्ति होती जायेगी, उतना उतना सुख होता चला जायेगा। नतीजा क्या होता है ? जहाँ निवृत्ति के रास्ते चलना शुरू किया, जिस जिस चीज से निवृत्ति हुई, उस निवृत्ति के कारण वहाँ वहाँ से सुख होने लगा। निवृत्ति में सुख होने से मनुष्य के हृदय में श्रद्धा और ज्यादा वढ़ती जाती है। निष्ठा हो जाती है कि निवृत्ति सुखका कारण है। जितना जितना उसका यह विश्वास दृढ़ हो जाता है वह सर्वनिवृत्ति की ओर वढ़ता है। जव सव तरफ से निवृत्त हो जाता है तो 'अण्वपि दुःखं न वेत्ति' कहीं भी तनिक भी दुःख उसे प्राप्त नहीं होता। जब तक विषयों में सुखकी अभिलाषा है तव

तक विषय प्रवृत्ति और इसलिये अशांति। जैसे ही विषयों से निवृत्ति प्रारंभ कर दी, वैसे ही राग की कमी होती चली गई, और शान्ति आती चली गई। अब, विषयों से निवृत्ति स्थिर कैसे हो? भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद लिखते हैं 'विश्वं नेति प्रमाणद्विगलितजगदाकार भान'। दृष्टांत डाब का देते हैं जिसे बंगाल में सब लोग पीते हैं। डाब को काट कर अंदर का पानी पी लिया। बड़ा डाब खरीदा, कम से कम दो किलो वजन का होगा। उसमें से एक गिलास या आधा किलो पानी पिया और अभी डेढ़ किलोग्राम वजन बाकी है। क्या उसे सिर पर लाद कर ले जाते हो? या फैंक देते हो? डाब का जो सार या रस था, वह ले लिया तो अब उसमें कुछ नहीं रखा है, चाहे डेढ़ किलो वजन रहे। जैसे डाब पहले दीखता था, वैसे ही अब भी दीखता है। बाहर से पूरा का पूरा दीख रहा है। नये आदमी को वह कहीं दिखाई दे जाये, तो वह सोचेगा कि अभी इस डाब में कोई सार है, उठाकर अन्दर से देखने की कोशिश करेगा। इतने बड़े डाब में कुछ तो होगा ही। लेकिन अंदर कुछ नहीं है। जिसने डाब का रस पी लिया, उसको भी डाब दीखता है। जिसको पता नहीं कि इसका सार निकाल लिया गया, उसे भी डाब दीखता है। लेकिन जिसने पी लिया, वह फिर उस डाब की तरफ खिचता नहीं। इसी प्रकार यहाँ भी इतना बड़ा विश्वकटाह, इतना बड़ा ब्रह्माण्ड दिखाई देता है। ब्रह्मलोक से लेकर पाताल लोक पर्यन्त बहुत बड़ा यह जगत् दिखाई दे रहा है। लेकिन इसमें जो सार पदार्थ है, आनन्द है, वह तुम्हारे इस पिंडाण्ड के अन्दर, अपने हृदय देश में ही विद्यमान है। यहाँ जो शान्ति और आनन्द है वह ब्रह्मलोक से पाताल लोक तक कहीं नहीं है। आनन्द तो अपने हृदय में है। बाहर सारा ही खोखला मामला है, सार कुछ नहीं है। श्रुति और ऋषियों के अनुभव वाक्य कहते हैं 'विश्वं न इति' यह जो इतना बड़ा विश्व दीख रहा है, संसार दीख रहा है, यह है ही नहीं अर्थात् इसकी कोई कीमत नहीं, यह

बेकार है। यह तभी तक कुछ उद्देश्य वाला रहता है जब तक हृदय के अन्दर तुमने उसके सार का ग्रहण नहीं किया। जब तक उसके सार को ग्रहण नहीं किया तब तक तो यह सारा विश्व ब्रह्माण्ड कुछ सार वाला है भी, लेकिन जहाँ तुमने अपने हृदय में उस परब्रह्म परमात्म तत्त्व का सार ग्रहण कर लिया, तो सारा संसार डाव के ऊपर के खोल की तरह व्यर्थ हो गया। उसके बाद भी यह विश्व दीखेगा वैसा ही जैसा पहले दीखता था, इतना ही बड़ा दीखेगा, लेकिन तुम जान लोगे कि अब इसमें सार पदार्थ कुछ रहा नहीं जो मैं ग्रहण करूँ। इस हृदय देश में क्या मिलता है? हृदय के अन्दर उस तत्त्व का ग्रहण करते हैं। वह तत्त्व कैसा है? सत्, चित्, सुख रूप है। सद्घन अर्थात् यह सत्य हो सत्य है। इसके वीच में असत्य नाम की कोई चीज नहीं है। यह चेतन ही चेतन है। इसके बीच में कहीं भी जड़ नाम को चीज नहीं। यह आनन्द ही आनन्द है, इसके बीच में कहीं दुःख नाम की चीज नहीं। जैसे इतने वड़े डाब के अन्दर जो रस है वह मीठा है, तरल है, प्यास बुझाने वाला है। कोई कहे कि इतने बड़े नारियल में यदि इतना रस विना हो निचोड़े हुए निकला, तो बाकी का जो यह नारियल का हिस्सा है, इसको भी अलग निचोड़ेंगे तो कुछ तो निकलेगा। तीन हिस्से होते हैं जटाजूट, उसके बाहर का त्वक् और हरा छिलका। इन तीनों में से किसी को चाहे जितने दिन निचोड़ते रहें, एक बूँद भी रस निकलने वाला नहीं है। इनमें से चाहे कुछ खाओ, उसमें कोई मिठास नहीं मिलने वाली है। इन तीनों से प्यास कभी नहीं मिटेगी। डाव के पानी में कड़ेपन, जटाजूट और छिलके का नाम नहीं। इसी प्रकार से अपने हृदय के अन्दर जो परब्रह्म परमात्मा का अनुभव है उसमें असत्य का लवलेश नहीं। जड़ नहीं, जड़ता का लवलेश नहीं। दुःख नहीं, दुख का लवलेश नहीं। वाहर के स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर और इतना वड़ा ब्रह्माण्ड होने पर भी इन सबके अंदर कहीं सत्यता का नाम नहीं, कहीं चेतन का नाम नहीं और कहीं आनन्द का नाम नहीं। भगवान् इसीलिये कहते हैं

'अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व मां'। अरे अर्जुन! इस संसार में एक चीज भी नित्य नहीं। इस संसार में एक चीज ऐसी नहीं जिसमें सुख का लेश भी हो। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद लिखते हैं 'संसारेतु सुखस्य गंधलेशोपि नास्ति', इस संसार में सुख की गंध भी नहीं। इतने पर भी उन्हें संतोष नहीं हुआ, इसलिए कहा कि सुख की गंध का लवलेश भी नहीं, सुख तो है ही नहीं। जव हम हृदय में स्थित उस परब्रह्म परमात्मा को, सच्चिदानंदघन को, अच्छी प्रकार से स्वादपूर्ण तत्त्व को ग्रहण कर लेते हैं, तो इस सारे जगत् को निस्सार जान लेते हैं। यह सारा संसार, जो वच गया, निस्सार है, असत्त जड़ दुःखरूप है। यह चाहे जितना वड़ा, मजबूत, यह दीख रहा है, लेकिन इसमें कहीं भी सुख का लवलेश नहीं है। 'स्वप्रभ.शांतचित्तः' तव वह इस स्वयं प्रकाश आनन्दस्वरूप में बैठकर शांतचित्त वाला हो जाता है। फिर इसके चित्त में किसी प्रकार की अशांति का कारण नहीं रह जाता है। जव तक शिव को प्राप्त नहीं करता, तव तक तो इसकी अशान्ति की सीमा नहीं, और जहाँ प्रवृत्ति को छोड़कर निवृत्ति का ग्रहण करने लगा; धीरे-धीरे इसके शान्ति और सुख बढ़ते हुए ऐसी स्थिति आती है जहाँ जाकर इसको शांति और सुख की सीमा नहीं। उसके वाद उसकी शांति ऐसी हो जाती है कि जिसको संसार वाले वड़े से वड़ा दुःख कहते हैं, वह सामने उपस्थित होने पर भी स्थित रहती है। श्रीमद्भागवत में वताया है कि जैसे घोर नशे के अन्दर, जो नशे वाला व्यक्ति है, उसके शरीर के कपड़े भी खिसक कर गिर जाते हैं तो उसको कोई चिन्ता नहीं होती। ठीक इसी प्रकार से जिसने उस परम आनन्द का अनुभव कर लिया, उसके लिये ये शरीर और मन रूपी कपड़े भी फिसलकर अलग हो जायें, तो उसे उसमें किसी अशांति का अनुभव नहीं होता। शरीर स्पन्द करता रहेगा, शरीर क्रिया करता रहेगा। जैसे शरावी कपड़े पहने भी है और उसके कपड़े खिसक भी रहे हैं, शरावी को होश नहीं है। इसी प्रकार जव तक आयु है अर्थात् प्रारब्ध भोग है, तव तक यह शरीर निश्चित रूप से हिलता

डुलता रहता है, स्पन्द करता रहता है; लेकिन इन शरीर और मन इत्यादि के विकारों से उसमें कोई व्यग्रता नहीं है। व्यग्रता का मतलब क्या होता है ? 'अग्र' माने आगे और 'वि' माने विशेषकर। अर्थात् बार-बार जिसको करके मन में आना कि आगे क्या होगा, व्यग्रता कहते हैं। इस व्यग्रता का कोई अन्त नहीं है। न जाने आदमी कितना व्यग्र बन जाता है।

एक आदमी की चार लड़कियाँ थीं। पुत्री का उत्पन्न होना सौभाग्य का फल है, क्योंकि पुत्र जो उत्पन्न होता है, वह तो तुमको इहलोक में ही सुख दे सकता है, लेकिन पुत्री उत्पन्न होकर तुमको कन्यादान का पुण्य देती है जो परलोक में भी काम आता है। लेकिन जो नास्तिक केवल इहलोक को मानते हैं, वे लोग घर में लड़की उत्पन्न होने पर दुःखी होते हैं। लड़की उत्पन्न होने पर दुःखी होने वाला नास्तिक है, क्योंकि कन्यादान से आगे पुण्य होकर उसकी सद्गति होगी, यह वह नहीं मानता। वह सोचता है कि यहाँ हमको नुक्सान हो जायेगा। उस आदमी की भी चार लड़कियाँ हो गईं तो, वह बार-बार यही चिंता करे कि एक एक लड़की की शादी में पच्चीस हजार लग जायेंगे, तो एक लाख रुपया निकल जायेगा। मेरी थोड़ी सी तन्खा में इतने रुपये कहाँ से आयेंगे। उसकी पत्नी कोई भी चीज लाने को कहे कि अमुक सब्जी लानी है, तो वह कहे कि दाल से खा लो। अपने चार लड़कियां बैठी हैं, साग कहाँ से लाऊँ ? इस चिन्ता के मारे उसका शरीर खराब होने लगा। पत्नी ने उसे बहुत समझाया कि जो भी प्राणी आता है, वह अपना प्रारब्ध साथ लेकर आता है, अपना हिस्सा ले जाता है। यह तो एक वृथा का अभिमान है कि मैं किसी को कुछ देता हूँ। वह कहे कि सुन लिया तेरा ज्ञान। बहुत सत्संग में जाती है। कमाना तो मुझे पड़ता है तुझे तो बैठे-बैठे बोलना आता है। उसे बहुत दुःखी देखकर अन्त में एक बार पत्नी ने विचार किया कि इसे ठीक से समझाना पड़ेगा। एक दिन शाम को जब पति घर आया तो देखा कि बर्तन बिना मजे पड़े थे, कपड़े बिना धुले पड़े थे और वह विस्तर पर पड़ी

हुई थी। उसने सोचा कि इसकी तबियत कुछ खराब हो गई होगी। उसने माथे पर हाथ रखा, पूछा बुखार हो गया है क्या ? उसने कहा—मैं तो चिंता के मारे परेशान हो गई। कहने लगा—काहे को चिन्ता है ? उसने कहा—आज मैं सोच रही थी कि घर में चार लड़कियाँ, तुम और मैं। पाव-पाव आटा भी यदि दोनों समय सब खायें तो तीन किलो आटे की रोटियाँ रोज मेरे को पोनी पड़ती हैं। विचार करो महीने में नब्बे किलोग्राम आटा हो गया, और कभी कोई आ जाये तो एक क्विण्टल, और साल में बारह क्विण्टल। यदि पचास साल जीना पड़ा तो बाप रे बाप, ६०० क्विण्टल की रोटियाँ बनाते-बनाते मैं मर जाऊँगी। कहाँ तक बनाऊँगी, मेरे बस का बिल्कुल नहीं। मारे चिंता के मेरी छाती बैठी जा रही है खाली रोटी बनाने से भी नहीं चलेगा। कितनी दाल बनानी पड़ेगी। ६०० क्विण्टल आटे के लिये १५० क्विण्टल दाल तो बीननी ही पड़ेगी। राम रे राम मैं तो मर जाऊँगी। बर्तनों की तरफ देखो तो चार थाली, चार कटोरी, चार गिलास, बारह तो ये बर्तन हो गये। घर में छः जने हुए तो कितने हुए, और पकाने के लिये भी कुछ बर्तन चाहिये। होते होते इतने लाख बर्तन मैं कहाँ तक मांजूंगी। कपड़ों की तरफ नजर गई तो मेरी छाती बैठ गई। सवेरे शाम दोनों समय कपड़े इकट्ठे हो जाते हैं, और तुम भी शाम को आकर नहाते हो। एक गमछा, एक धोती, एक बनियान और एक कमीज, कम से कम चार कपड़े रोज के एक आदमी के। घर में छः जने हुए तो २४ कपड़े रोज के। विस्तरों की चद्दरें अलग। हजार कपड़े महीने के धोने के लिये हो गये। साल के बारह हजार, और पचास साल की उमर हुई तो छः लाख कपड़े धोते-धोते मैं तो मर जाऊँगी। अपने से नहीं बनेगा। इस चिंता के मारे मैं मरी जा रही हूँ। मेरे से अब यह होने वाला नहीं है। घरवाले ने कहा—भली मानस ! यह सब एक दिन में थोड़े ही करना पड़ेगा। यह तो जैसे इतने दिन से करती है वैसे ही थोड़ा-थोड़ा करना है। एक दिन में थोड़े ही छः सौ क्विण्टल गेहूँ की रोटियाँ पोनी हैं, जो घबरा रही है। यह तो धीरे-धीरे ऐसे

ही होता चला जायेगा। तब उसकी पत्नी ने उससे कहा कि अगर यह धीरे-धीरे होता जायेगा तो फिर तुम्हारी लड़कियों का ब्याह कौन सा आज ही होने वाला है? चार लड़कियाँ हैं, तीन-तीन चार-चार साल बाद एक का नम्बर आयेगा, और अभी तो आठ दस साल बाद एक का नम्बर आयेगा। अभी तो आठ दस साल तक कुछ नहीं करना है। मेरे से कह रहे हो कि जैसे समय आता जायेगा, सब काम होता जायेगा, तो अपनी तरफ क्यों नहीं देखते? खाना पीना छोड़ रखा है, साग लाने को कहो तो कहते हो कि लड़कियों का ब्याह करना है। अब उसका भी विचार जाग्रत हुआ कि यह बात तो ठीक कह रही है। इसी का नाम व्यग्रता है। कैसे होगा? कैसे होगा? जब समय आता है काम अपने आप हो जाता है। पता ही नहीं लगता है कि कैसे हो गया। जितनी व्यग्रतायें करते हो और जितना सोचते हो, वह सब बेकार चला जाता है। इसलिये परिस्थिति जब सामने आती है तो जिसकी तुमने कभी कल्पना नहीं की, वह घटना तो हो जाती है। और जिसके लिये तुमने सारी तैयारियाँ कीं, वह घटना होती ही नहीं। रात-दिन जीवन में यही अनुभव होता है। किसी मेहमान के आने के लिये तुमको चिन्ता रहती है कि वह जब बारात में आयेगा तो बड़े खचडे स्वभाव का आदमी है, इसलिये तैयारी करनी है। जवांई हो और खचडे स्वभाव का हो तो पहले से ही कहते हैं कि उसके लिये यह चीज तैयार रखनी है, यह कमरा तैयार रखना है। सारी तैयारी कर लेते हो और ठीक ब्याह के समय उसका तार आता है कि मेरी तबियत खराब हो गई, मैं नहीं आ सकूंगा। तुम्हारी सारी की हुई तैयारी बेकार गई, और उतने दिन की चिन्ता का कोई फल नहीं। इसलिये कहा कि विवेकी, जब तक परिस्थिति सामने नहीं आती, तब तक बिल्कुल व्यग्रता नहीं करता। जब जो चीज सामने आ गई, उसी समय उस चीज को सम्भाल लेता है। इसीलिये यहाँ कहा कि जगत् चाहे जितना स्पन्द करता रहे, जब तक उमर है, प्रारब्ध है, यह शरीर स्पन्द करता रहे, इससे हमको क्या लाभ हानि है? शरीर और मन की समस्या तो शरीर

और मन निपटा लेंगे, आनन्द रूप तो तुझे प्राप्त है। इस अवस्था को प्राप्त करना है।

कश्मीर में लल्लेश्वरी नाम की एक बहुत बड़ी शिवभक्ता हुई है। आज से करीब सात सौ वर्ष पूर्व १३४३ में उसका जन्म हुआ था। जहाँ वह पैदा हुई, उस ग्राम में केसर की खेती बहुत होती है। वह समय जल्दी विवाह का था, इसलिये १२ वर्ष की उम्र में ही उसका विवाह कर दिया गया। विवाह होकर जहाँ वह गई, उसकी सास सौतेली थी, अर्थात् पति की माँ सौतेली थी। वह इसे देखकर मन ही मन बड़ी चिढ़ती थी, और तरह तरह से इसको दुःख देती थी। कभी अपने पति को कहती कि यह तो व्यभिचारिणी है, बहुत गई बीती औरत है। कभी उसके पति, यानी अपने लड़के, को कहती कि यह तो डाकिन है, इससे अलग ही रहा कर। पुराने लोग इन सब बातों को जल्दी मान लेते थे। एक बार शिवरात्रि का दिन था। कश्मीर में शिवरात्रि बहुत मनाते हैं। वहाँ का बहुत बड़ा त्यौहार शिवरात्रि था। शिवरात्रि के दिन वह वितस्ता (आजकल झेलम) के किनारे बर्तन माँज रही थी तो उसकी एक सहेली ने उससे कहा कि आज शिवरात्रि का दिन है, आज तो तेरी पाँचों अंगुलियाँ घी में होंगी, खूब माल खाया होगा। वह कहने लगी कि अपनी तो चाहे शिवरात्रि हो, चाहे कालरात्रि हो, शालिग्राम की वटिया भली और अपने भले। उसकी सहेली ने पूछा—क्या बात है, तू इतनी दुःखी क्यों है। उसकी सास उसे यह सब तो दुःख देती ही थी, जब उसको भोजन परोसती थी तो थाली में एक बड़ा पत्थर रख देती थी। उस पर थोड़ा सा भात रख देती थी जिससे ससुर या पति देखे कि यह कितना भात खा रही है। लेकिन अन्दर बहुत बड़ा पत्थर होता था। वह सास उल्टा कहे कि कितना खाती है और खाने को उसे कुछ नहीं मिलता। यही उसने अपनी साथिन को कह दिया कि चाहे शिवरात्रि हो, चाहे काल रात्रि, अपने को यही मिलता है। उसके ठीक पीछे दूसरे घाट पर उसका ससुर स्नान कर रहा था। उसने यह सारी बात सुन ली। घर आकर उसने

अपनी पत्नी को बहुत डाँटा कि तू इतना अत्याचार क्यों करती है। उस समय तो वह चुप रह गई। पुराने जमाने में औरतें वैसे भी मुँह पर नहीं बोलती थीं। अब आदमी तो काम पर चले गये, सास ने उस पर और अत्याचार करना शुरू किया। अन्त में उससे सहन नहीं हुआ तो एक दिन सीमा तोड़कर असीम परमात्मा से मिलने चली गई।

जंगल में जाकर भगवान् शंकर का भजन किया। करते-करते उसे भगवान् शंकर का दर्शन, अनुभव हो गया। जब भगवान शंकर का दर्शन हो गया, तो वह सब लोगों को शिव के गुणों को सुनाते हुए घूमने लगी, और अवधूत वेश धारण कर लिया। अर्थात् कोई कपड़ा नहीं पहनती थी। लोगों में शिवभक्ति का प्रचार करती थी। कभी-कभी युवक लोग उसे छेड़ें भी, और उससे कहें भी कि क्या बात है, कपड़ा क्यों नहीं पहनती ? तब वह हँसती थी कि संसार में कोई पुरुष है ही नहीं, तुम तो सारे के सारे प्रकृति के अन्दर फँसे हुए लोग औरतें ही औरतें हो। जो प्रकृति के अन्दर लीन है वही तो औरत है। कोई पुरुष हो तो कपड़ा पहनूं, औरतों से क्या कपड़ा पहनूं। धीरे धीरे उसकी स्थिति बढ़ती गई। दक्षिण भारत में श्रीशैल में मल्लिकार्जुन स्थल है। वहाँ उस समय एक बड़े अच्छे शिवनिष्ठ महात्मा स्वामी विश्वेन्द्र सागर जी रहते थे। उनको भगवान् मल्लिकार्जुन ने आदेश दिया कि कश्मीर में लल्लेश्वरी बड़ी भक्ता है। तुम जाकर उसे तत्त्वज्ञान का उपदेश दो। विश्वेन्द्र सागर जी वहाँ से चलकर कश्मीर पहुँचे। वहाँ ढूंढ़ने लगे कि वह कहाँ है। किसी ने बता दिया। जैसे ही वह शहर में गये, उधर से वह आ रही थी। विश्वेन्द्र सागर को देखते ही उसने कहा, अरे पुरुष आ गया, पुरुष आ गया। यह कह-कर पास में धधकते तंदूर में गिर गई। कश्मीर और पंजाब में एक बहुत बड़ा चूल्हा बनता है जिसमें पचास रोटियाँ एक साथ सिकती हैं, उसे तंदूर कहते हैं। जब वह उस तंदूर से बाहर निकली तो सारे

कपड़े पहने हुए थी। विश्वेन्द्र सागर जी ने उसे पहचान लिया। फिर उन्होंने उसको धीरे-धीरे तत्त्वज्ञान का उपदेश किया।

एक बार बहुत से शिष्य बैठे हुए थे। उन्होंने प्रश्न किया 'कः प्रकाशः श्रेष्ठतमः' कौनसी ऐसी रोशनी है जिससे सारे संसार का काम चलता है। अनेक लोगों ने अनेक जवाब दिये। किसी ने कहा तेल की रोशनी अच्छी, किसी ने कहा घी की रोशनी अच्छी। किसी ने कहा देवदारु की रोशनी अच्छी, किसी ने कहा सूर्य की रोशनी अच्छी। किसी ने कहा कपूर की रोशनी अच्छी। इसी प्रकार उन्होंने पूछा कि तीर्थ कौनसा श्रेष्ठ है। कई शिष्यों ने कई जवाब दिये। किसी ने गंगा को, किसी ने पुष्कर को, तो किसी ने प्रयाग को श्रेष्ठ बताया। अंत में जब लल्लेश्वरी का क्रम आया तो उसने कहा 'काशः श्रेष्ठं शिवज्ञानं' वास्तविक शिव का ज्ञानरूपी प्रकाश ही श्रेष्ठ है। बाकी जितने प्रकाश हैं, वे जड़ प्रकाश हैं। केवल एकमात्र परमेश्वर का जो ज्ञान है, वही चेतन प्रकाश है। इसलिये वही श्रेष्ठ है। 'तीर्थस्तु तत्त्वलीनता' परमेश्वर के ज्ञान में लीन होकर रहना ही उत्तम तीर्थ है। परमेश्वर में अपने मन की वृत्ति लीन नहीं हुई तो बाकी सारे तीर्थ व्यर्थ हो जाते हैं। जब तक अपने हृदय में परमेश्वर का ज्ञान है तब तक तो बाकी सारे प्रकाश काम करते हैं, और एक बार परमेश्वर का प्रकाश हृदय से चला गया तो आँख, मन, कोई कुछ नहीं कर सकता। सब यहीं पड़े रहेंगे। सब बेकार हुए पड़े रहेंगे। उसी प्रकार यदि परमेश्वर के अन्दर तुम्हारा मन नहीं है तो तीर्थ भी व्यर्थ। गंगा के किनारे कितने मुसलमान रहते हैं? काशी में रहने वाले मुसलमान भी मन्दिर तोड़ने को सोचते रहते हैं। विचार करके देखो तो पता लगता है कि यदि परमेश्वर के अन्दर अपना मन लगा हुआ है तब तो तीर्थ सफल हैं, और यदि परमेश्वर में मन नहीं लगा हुआ है तो किसी तीर्थ का क्या लाभ होना है? यदि लाभ होना होता तो वहाँ रहने वाले नास्तिकों का भी कोई कल्याण देखने में आता। लेकिन कहाँ देखने में आता है। प्रश्न किया कि सम्बन्धियों में सबसे श्रेष्ठ कौन? उसने

जवाब दिया 'गुरुः सम्बधिनां श्रेष्ठः' गुरु ही एकमात्र सम्बन्धियों में श्रेष्ठ है, क्योंकि बाकी जितने सम्बन्ध हैं, वे तो शरीर को निमित्त बनाकर हैं। बाप है तो शरीर का है, माँ है तो शरीर की है। पति है तो शरीर का, पत्नी है तो शरीर की। संसार के सारे सम्बन्ध शरीर को निमित्त बनाकर हैं। एकमात्र गुरु का सम्बन्ध ऐसा है जो शरीर को निमित्त बनाकर नहीं है। शरीर से उसका कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा के द्वारा ही सम्बन्ध श्रेष्ठ है। 'भूमानन्द-प्रदायकः' क्योंकि यह व्यापक आनन्द को देने वाला है। बाकी जितने सम्बन्ध हैं वे शरीर को लेकर चलते हैं, परिच्छिन्न सुख देते हैं, थोड़ी देर का सुख देते हैं। लेकिन व्यापक आनंद, ब्रह्मानंद को तो कोई नहीं दे सकता। इससे स्पष्ट होता है कि लल्ल का जो अनुभव था वह पूरी तरह से पक गया था। एक जगह वह कहती है कि मैंने अपने अन्दर ही शिव की व्यापकता को पाया। यह मन गधा है, इसको अपने वश में रखना, नहीं तो यह केसर रूपी आत्म-ज्ञान की क्यारियों को चाट जायेगा। जितना भी बढ़िया केसर उग रहा हो, गधा पहुँचेगा तो बरबाद करेगा। यह मन भी ऐसा ही गधा है। इस प्रकार से उसने अपना अनुभव बताया। वह पहले तो अशांत थी, लेकिन जैसे जैसे परमेश्वर की तरफ जाती रही अन्त में पूर्ण रूप से प्रशान्ति को प्राप्त कर गई। जब हम बहिर्मुखता से अन्तर्मुखता की तरफ जाते हैं तभी शान्ति को प्राप्ति होती है, और तभी सुख आनन्द बढ़ता है, अन्यथा नहीं। यह शांति और सुख स्थिर कैसे हो, इस पर आगे विचार करेंगे।

२८-३-७५

नीलग्रीव, सहस्राक्ष और सुख की वर्षा करने वाले उस परब्रह्म परमात्मा का जो सत्व अर्थात् अज्ञाननाशक रूप है उसके प्रति अपना नमस्कार करते हैं। यह जो अनात्मा के त्याग रूपी बल की प्राप्ति है, जिसे यहाँ सत्व शब्द से कहा गया, इसका विचार करते

हुए वता रहे थे कि किस प्रकार विचार रूपी प्रकाश में शास्त्र रूपी चिह्नों के द्वारा जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में सूत्र रूप से विद्यमान आत्मतत्त्व की प्राप्ति इन तीनों साधनों से होती है। यह जो अनात्म जगत् के अन्दर एक आत्म तत्त्व है इसको समझने के लिये विवेक रूपी घोड़े पर चढ़ने की जरूरत है। 'आरूढ़स्य विवेकाश्वं तीव्रवैराग्य खड्गिनः तितिक्षावर्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते'। भगवान् भाष्यकार कहते हैं कि इस संसार के अन्दर रहकर उस परमात्म तत्त्व को प्राप्त करना है। इस संसार को विजय करना है। संसार को विजय करने का मतलब है कि संसार अपना जोर हमको दुःख, मोह, शोक वाला बनाने के लिये लगा ले, लेकिन पूरा जोर लगाने पर भी न हमको दुःखी कर सके, न हमको शोकग्रस्त कर सके और न हमको मोह में डाल सके। 'शोकमोहोपलक्षित हि संसारः' संसार का मतलब यह जो दीख रहा है, यह नहीं है। शोक और मोह ही संसार है। यदि हम शोक और मोह को जीत लेते हैं तो संसार जीत लिया। बाह्य जगत् की हम चाहे जितनी चीजों को जीत लेवें, शोक मोह को नहीं जीता तो हम हारे हुए हैं। लोग समझते हैं कि बाहर के पदार्थों को जीतने में जीत है परन्तु विवेकी देखता है कि जीत बाहर के पदार्थों को जीतने में नहीं है। अपने अंतः करण में यदि हमने शोक और मोह को नहीं जीता तो जीत नहीं है। लोक में भी इसीलिये कह देते हैं कि 'मन के हारे हार है मन के जीते जीत'। मन यदि हार गया, मन यदि शोक मोह युद्ध में परास्त हो गया, तो तुम हार गये। मन यदि शोक और मोह को जीत गया तो तुम जीत गये। बाह्य पदार्थों को जीत जीत नहीं। अब इस शोक मोह रूपी संसार को जीतने के लिये क्या तैयारी करना है? इसके लिये कहा 'आरूढस्य विवेकाश्व' विवेक रूपी घोड़े पर चढ़ना पड़ेगा। जिसने विवेक रूपी घोड़े पर चढ़ना नहीं सीखा, वह चाहे जितने जप, तप, तीर्थयात्रा इत्यादि साधन कर ले, शोक मोह को नहीं जीत पायेगा। देखने में भी आता है कि बहुत से लोग दीर्घ काल तक ध्यान, जप, शुभ कर्म, यज्ञ,

याग, दान आदि करते रहते हैं, लेकिन जब तक विवेक नहीं होता, तब तक समय आने पर फिर शोक मोह में लुढ़क जाते हैं। 'तीव्र वैराग्य खड्गिनः' शोक और मोह को जीतने के लिये अत्यन्त तेज वैराग्य का खड्ग या तलवार लेनो पड़तो हैं। चाहे तुम एटम बम, (अणुबम) कोवाल्ट बम बना लो लेकिन ये सब बम बेकार हैं। विचार करो, अभी थोड़े दिनों पहले अमरीका का राष्ट्रपति निक्सन जिसके पास संसार में सबसे बड़ा धन, एक बटन दबा देवे तो सैंकड़ों शहरों के ऊपर इकट्ठे ही एटम बम गिर जावें लेकिन जब उसकी चोरी पकड़ी गई और उसको शोक का अनुभव हुआ तो उसके हाथ पैरों के अंदर ठण्डक आ गई। एक तरह का रोग होता है, वह उसको हो गया, हृदय में शोक होने से कि हाय ! मेरी पोल खुल गई। अपने शोक को वह उन बड़े-बड़े बमों से नहीं हटा सका। तो क्या फायदा उन सब बमों को बनाकर, जब अपने असली दुश्मन शोक को वह नहीं मार सका। यदि जीतना चाहते हो तो तेज वैराग्य की तलवार लेनी पड़ेगी। क्योंकि यह तो तीव्र वैराग्य की तलवार ही शोक मोह रूपी संसार को काट सकेगी। 'तितिक्षावर्त्मयुक्तस्य प्रतियोगी न दृश्यते' युद्ध करने के लिये अपने ऊपर बख्तर भी पहनना पड़ता है। आजकल आर्मर्ड कार, टैंक इत्यादि बन गये हैं जिसमें बैठ जाओ तो जल्दी कोई दुश्मन मार नहीं सकता। अणु बम से बचने के लिये एक अणुबम का छाता होता है जिससे उससे भी बचा जाता है। लेकिन ये सब ले लो, चाहे दस-दस इंच मोटी दीवालें बना लो, जमीन में हजार फुट अन्दर चले जाओ, (रूस वालों ने अपनी राजधानी जमीन के अन्दर बनाई है ताकि जब अणुबम का युद्ध हो तो उसके अन्दर घुसा जाये) तो भी क्या शोक मोह से बच सकते हैं। कुछ नहीं। चाहे जितने बख्तर की गाड़ी में घुस जाओ, शोक मोह से नहीं बच सकते। इसलिये कहा कि जब तितिक्षा का, मनुष्य के अन्दर मान अपमान को सहने करने की सामर्थ्य का, बख्तर पहनता है तो फिर उसे इस संसार में शोक मोह नहीं हरा सकते। इसके बिना बाकी जितने अस्त्र शस्त्र

हैं, सारे के सारे व्यर्थ हैं, क्योंकि जब तक अपने मन के शोक मोह को शांत नहीं कर सके तब तक दुनियाँ को जीतने वाले अस्त्र इत्यादि सब व्यर्थ हैं। विश्काश्व के ऊपर चढ़ना जरूरी है लेकिन अहंकार यह विवेक होने नहीं देता। अहंकार बुद्धि से कहता है कि अरे बुद्धि जरा सोच तो सही। विवेक क्यों करती है ? यदि जीव की नींद टूट गई, यदि विवेक किया और जीव का अज्ञान दूर हो गया तो फिर न तू रहेगी, न मैं रहूँगा। अभी तो जीव को बेवकूफ बनाकर मैं अहंकार और तू बुद्धि खूब मौज ले रहे हैं। अहंकार भी संसार में खूब मौज ले रहा है, विस्तार को प्राप्त हो रहा है। इसलिये अहंकार बुद्धि से कहता है कि यदि तूने आत्मा अनात्मा का विवेक कर लिया तो केवल मैं अहंकार ही नष्ट नहीं होऊँगा तू भी नष्ट हो जायेगी। इसलिये जीव को जगने मत दो।

चोर जब चोरी करने जाता है तो चोरी करने जाने से पहले किसी उपाय से सेठजी को भाँग पिला देता है। होली के दिन सेठ जी को शुद्ध ठण्डाई कहकर भाँग पिला देता है। अब उसे पता है कि सेठ जी खूब सो रहे होंगे, फिर चोरी करता है। ऐसा तो नहीं कि जाकर सेठ जी को जगाता हो कि जग जाओ, मैं चोरी कर रहा हूँ। इसी प्रकार बुद्धि और अहंकार अज्ञान रूपी नशा जीव को पिला देते हैं, और फिर इसका सारा माल जो सच्चिदानन्द रूप है, उसकी लूट लेते हैं, जगने नहीं देते। 'अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते, अजमनिद्रमस्वप्नं अद्वैतं बुध्यते तदा।' अनादि माया से यह जीव सो रहा है। जब यह जागता है तो इसे याद आता है कि इस अहंकार और बुद्धि ने मेरे को जन्मने मरने वाला समझ रखा था, लेकिन वस्तुतः मैं जन्म से रहित हूँ। नशे में मेरे को जन्म वाला बनाकर बता रहा था। आजकल तो लोग जन्म-दिन की पार्टी भी करने लगे हैं। पार्टी जानते ही हो। भले आदमी बैठकर खाते हैं पर पार्टी वाले खड़े-खड़े खाते हैं, जैसे गाय भैंस खाती हैं। उसी को पार्टी कहते हैं। वह सोचता है कि मैं जन्म रहित हुआ जन्म वाला प्रतीत होता था, जन्म-दिन मनाता था। जब उठता है तो पता लगता है

कि मैं अजन्मा हूँ, मेरा कभी जन्म नहीं हुआ। ऐसे अपने अद्वितीय स्वरूप का उसे बोध हो जाता है। फिर अहंकार और मन के हाथ से यह निकल जाता है। इसीलिये यह अंधकार रूपी अहंकार और मन इसे जगने देना नहीं चाहते। कौन चाहता है कि मालिक को हमारी चोरी का पता लगे। मालिक सीधा सादा हो, बच्चा हो तो मुनीम लोग उसे लूटते रहते हैं। वे मुनीम लोग यह थोड़े ही चाहेंगे कि मालिक को चोरी का पता लग जाये।

एक राजा बड़ा प्रमादी था। प्रमादी अर्थात् अपना काम नहीं देखता था। 'प्रमादोनवधानता'। वह यह भी नहीं देखे कि कितना रुपया आता है और कितना रुपया कहाँ खर्च होता है। मनुष्य को कभी प्रमादी नहीं होना चाहिये भगवान् सनत्कुमार तो कहते हैं 'प्रमादोवँ मृत्यु महं ब्रवीमि' प्रमाद ही मृत्यु है। किसी भी कार्य में कभी भी प्रमादी नहीं बनना चाहिये। हमेशा सावधान रहना चाहिये। प्रमाद तमोगुण का कार्य है। आजकल बहुत से लोग प्रमादी को सत्वगुणी मानते हैं। कहते हैं बड़ा सीधा है अर्थात् प्रमादी है। मेरा मालिक बड़ा सीधा है अर्थात् मैं उसको उल्टे उस्तरे से मूँड़ता रहता हूँ, और उसे पता ही नहीं है। प्रमाद तमोगुण का कार्य है, सत्वगुण का कार्य नहीं है। ऐसे ही वह राजा तो था, लेकिन प्रमादी था। आय-व्यय भी नहीं देखता था। धीरे-धीरे उसके मंत्रियों को पता लग गया कि यह कभी भी कुछ नहीं देखता है। इससे कुछ न कुछ अपना घर भरें, अपना ही फायदा करें। वे सोच रहे थे कि क्या किया जाये। एक दिन शाम के समय राजा अपनी पत्नियो और मंत्रियो के साथ बगीचे में बैठा हुआ खा-पी रहा था, खेल रहा था। शाम का समय होने से गीदड़ जोर से रोने लगे। गीदड़ शाम को आवाज करते ही हैं। राजा के कान में अकस्मात् कर्कश आवाज पड़ी तो उसे अच्छा नहीं लगा। उसने अपने मंत्रियों से पूछा कि यह कैसी आवाज है, क्या हो रहा है? प्रधानमन्त्री बड़ा बुद्धिमान था। उसने कहा—जो ये गीदड़ रो रहे हैं। राजा ने कहा—मेरे राज्य में ये क्यों रो रहे हैं, इनको क्या तकलीफ है? प्रधान मन्त्री ने

कहा कि ये गीदड़ लोग कह रहे हैं कि राजा ने जगह-जगह ब्राह्मणों के भोजन आदि के लिये बढ़िया सुन्दर क्षेत्र लगाये, गरीबों के लिये भी इंतजाम किया। हम गीदड़ भी इस राजा की प्रजा हैं, लेकिन हमारे लिये कुछ इन्तजाम नहीं किया। गीदड़ यह फरियाद करते हुए रो रहे हैं। राजा ने कहा कि यह बात ठीक है, बेचारे रो रहे हैं तो इनके खाने पीने का इन्तजाम कर दो। मन्त्रियों को हुकम दिया कि कोठार से रुपये लेकर इनके खाने पीने का इन्तजाम किया जाये। अब प्रधान मन्त्री ने दूसरे मन्त्रियों के साथ मिलकर बड़ा भारी लम्बा चौड़ा बजट तैयार कर लिया। इतना गेहूँ, इतना चावल, इतने मसाले, इतना घी खाने में लगेगा। चार छः महीने बीत गये। एक दिन फिर राजा बगीचे में बैठा हुआ था तो गीदड़ फिर रो रहे थे। राजा ने पूछा कि मैंने कहा था इनके खाने-पीने का इतजाम कर देना, नहीं किया ? प्रधान मन्त्री ने कहा—वह तो कर दिया जी। फिर ये क्यों रो रहे हैं, क्यों हल्ला मचा रहे हैं। कहा—अब यह फरियाद कर रहे हैं कि खाने पीने का इन्तजाम तो हो गया लेकिन आगे सर्दी का मौसम आ रहा है, इसलिये कुछ कपड़ों का भी इन्तजाम होना चाहिये, विना कपड़ों के सर्दी कैसे काटेंगे। राजा ने कहा—यह भी ठीक है। इनके लिये कपड़ों का इन्तजाम कर दो, कोठार से रुपया ले लो। फिर लम्बा चौड़ा बजट वन गया। कपड़े सिल गये। कहाँ पर ? कागजों और बहियों में सिल गये। राजा से उन लोगों ने कहा कि ये कपड़े तो जल्दी फट जायेंगे। राजा ने कहा कि हर तीन महीने में एक ड्रैस दे देना। मंत्रियों का काम वन गया। फिर चार छः महीने वीत गये। एक दिन राजा को फिर वहाँ ले जाकर बिठाया। गीदड़ों को तो रोना ही हुआ। राजा ने कहा—आज फिर रो रहे हैं, अब क्या बात है। मन्त्री कहने लगे—हुजूर ! यह कह रहे हैं कि आपकी कृपा से खाने पीने का इन्तजाम हो गया, कपड़ों का इन्तजाम हो गया। अब वरसात आ रही है। यदि मकान का भी इन्तजाम हो जाता तो अच्छा होता। एक-एक फ्लैट हमारे लिये भी वन जाता। राजा ने कहा—ठीक है।

इनके लिये मकान का इंतजाम कर दिया जाये। इतना किया तो यह भी सही। अब मकानों का भी लम्बा चौड़ा प्लान बन गया। अब धीरे-धीरे कोठार से गीदड़ों के नाम से काफ़ी धन, अन्न, वस्त्र के लिये बराबर निकलता रहा। अब मकानों के लिए भी काफी धन निकाल लिया गया तो कोठार में रुपये कहाँ से रहने थे। रुपयों की बड़ी कमी पड़ गई। फिर भी राजा सोचता कि मैं सत्कर्म कर रहा हूँ, छोड़ूँगा नहीं। एक दिन राजा फिर वहाँ बैठा तो फिर गीदड़ रो रहे थे। राजा ने कहा—अब ये क्यों रो रहे हैं। मंत्रियों ने कहा—रो नहीं रहे हैं, ये तो आपको आशीर्वाद दे रहे हैं, धन्यवाद कर रहे हैं कि बहुत अच्छा इंतजाम हो गया, चलते रहना चाहिये। राजा ने कहा—ठीक है। राजा ने एक नया कोषाध्यक्ष (चार्टर्ड अकाउन्टेन्ट) बनाया और उससे कहा कि जरा हिसाब किताब देखो कि क्या बात है, घाटा क्यों हो रहा है। नये कोषाध्यक्ष ने देखा कि इतना धन वस्त्रों में और इतना धन रोज अन्न में लग रहा है। प्रधान मंत्री से पूछा कि इतना माल कहाँ जा रहा है। कुछ घोटाला लग रहा है। प्रधान मंत्री ने कहा कि सियारों को दिया जाता है। कोषाध्यक्ष को आश्चर्य हुआ कि सियारों के लिये कपड़े और मकान ! प्रधान मंत्री ने कहा—राजा का हुकम है। उसने राजा से कहा तो राजा ने भी कहा कि वह भी अपनी प्रजा ही है, उन्हें दे दिया तो अब वापस तो नहीं लेंगे। यह तो चलता रहेगा और कोई उपाय निकालो। कोषाध्यक्ष ने सोचा कि यदि खर्च की पाइप लाइन बन्द नहीं होगी तो आमदनी बढ़ने से क्या होगा। आज यही समस्या तो हमारे राजा की भी है। हमारी दिल्ली के अन्दर आदमी सरकारी नौकरी में भरती होते हैं। लम्बा-चौड़ा मामला है। जितने भी रुपये इकट्ठे करो, सारे के सारे उस पाइप लाइन से चले जाते हैं। कोषाध्यक्ष ने विचार किया कि राजा को ऐसे समझाने से काम नहीं होगा क्योंकि राजा को जँचेगा ही नहीं। वह तो यही सोचता रहेगा कि गरीबों का कल्याण हो रहा है, उद्धार होना ही चाहिये। किसी की नौकरी कैसे छुड़ा सकते हैं। वह काम करें चाहे न करें, नौकरी

तो नहीं छुड़ानी चाहिये। राजा भी ऐसा ही सोचता था। कोषाध्यक्ष ने कहा—आप भी ऐसा कहते हैं तो मेरे को कुछ नहीं कहना। मालिक की इच्छा के अनुसार नौकर काम करता है। लेकिन मैं चाहूँगा कि एक बार आप और मैं चलें। देखकर आयें कि उस खर्च में क्या कटौती हो सकती है। वहाँ मौके पर जाकर देखना पड़ेगा कि कहाँ कम हो सकता है। राजा ने कहा—यह ठीक है। प्रधान मंत्री से कहा कि आज शाम को सियारों के मकान और कपड़े इत्यादि का इंतजाम देखकर आयेंगे। बेचारे प्रधान मंत्री की छाती धुड़क-धुड़क करने लग गई। उसने कहा—राजन्! आप वहाँ कहाँ जायेंगे, बड़ा कष्ट होगा, रास्ता भी खराब है, मोटर कार जाने का रास्ता नहीं है। वह सब तो हम नौकर लोग ही देख लेते हैं। आप चलकर क्या देखेंगे। राजा ने कहा—नहीं, नये कोषाध्यक्ष ने कहा है तो चलकर एक नज़र तो मारनी चाहिये। वह प्रधान मंत्री वहाँ ले जाकर क्या दिखाये? न वहाँ मकान, न वहाँ कपड़े और न भोजन। वहाँ तो कुछ था ही नहीं, वह सब माल तो मंत्रियों के घर था, सियारों के पास थोड़े ही था। जब प्रधानमंत्री को कोई बचने का रास्ता नहीं मिला तो उसने राजा से कहा—जी क्या बतायें, वे कोई दूसरे सियार नहीं, हम ही रंगे सियार हैं। अब राजा को विवेक जाग्रत हो गया कि ये सब मिलकर मेरे को लूट रहे थे। राजा ने उन सबको हटा दिया।

जैसे लौकिक राजा को मंत्री लोग लूटते थे, या इदानीं काल में भी ऐसा होता है। नतीजा क्या होता है? उन्नति बीच में अटक जाती है। इसी प्रकार यह जीव भी इस मानव नगरी का राजा है। परमेश्वर ही जीव रूप बनकर आया है। प्रश्नोपनिषद् में बताया है 'यथा सम्राडवाधिकृतान्विनियुङ्क्ते'। जिस प्रकार कोई सम्राट् या महाराजा अपने अंतर्गत राज्यपालों को नियुक्त करके कहता है कि तुम अमुक अमुक प्रांत का राज्य करना, इसी प्रकार से इस जीवरूपी राजा ने आँख रूपी इन्द्रिय से कहा कि तुम देखने का काम, नाकरूपी इन्द्रिय से कहा कि तुम सूँघने का काम, कान रूपी इन्द्रिय से कहा कि तुम

सुनने का काम देखना । मन रूपी इन्द्रिय से कहा कि मनन करना, बुद्धि रूपी इन्द्रिय से कहा कि तुम विवेक करना । इस प्रकार सबको विनियुक्त कर दिया । इस जीव नाम के राजा ने समग्र इन्द्रियों और मन, बुद्धि को एक एक काम का अधिकारी बना दिया । यह अधिकारी बनकर प्रमादी हो गया और प्रमादी होने से यह इन्द्रियों के वशीभूत हो गया । है तो यह राजा लेकिन आँख इसको कहती है कि चाहे जितना परिश्रम करना पड़े, बढ़िया सुन्दर सिनेमा देखने जाना है, तो यह बेचारा जीव उसी के लिये सवेरे से शाम तक लगा रहता है । घाटा तो उस जीव का होता है । माँ को बच्चे से काम लेना होता है । वह बच्चे को कहती है कि आज यदि घर की झाड़ बुहार ठीक कर देगा तो शाम को तेरे को सिनेमा का टिकट दिला देंगे । वह बच्चा बच्ची दिन भर लगे रहते हैं । आँख के लोभ से कि सिनेमा देखने को मिल जायेगा । छोटा बच्चा होता है तो उसको कहते हैं कि पहले तू बैठकर पढ़ाई का काम खतम करले तो तेरे को एक चाकलेट देंगे । वह बेचारा चार घण्टे बैठकर पढ़ाई का काम खतम करता है, एक चाकलेट का टुकड़ा खाने के लिये । बच्चों का ही नहीं, बड़ों का भी यही हाल है । सबेरे से शाम तक काम करते हैं । किसलिये ? डेढ़ लाख हो जायेंगे तो एक फ्लैट खरीदकर सुख लेंगे । पूछते हैं—बड़ा परिश्रम कर रहे हो, ओवर टाइम, पार्ट टाइम भी कर लेते हो, क्या बात है ? कहता है—एक फ्लैट लेने की सोची है, उसके लिये अतिरिक्त आय करनी पड़ेगी । बेचारे विभिन्न प्रकार के कार्यों में लगे हुए हैं, चाहे अच्छे हों चाहे बुरे हों । सब इसी के प्रलोभन में फँस रहे हैं । यहाँ तक कि आदमी घरवाली को साड़ी या गहने का लोभ देकर काम करवा लेता है । यह कहकर कि तुम्हें नई साड़ी खरीद दूँगा, बढ़िया गहना बनवा दूँगा, वह जो काम नहीं करना चाहती, वह भी उससे करवा लेता है । यह इन्द्रियों के वशीभूत हुआ हुआ जीव है । इन्द्रियाँ अपनी मौज लेती हैं । जैसे वे मंत्री लोग अपनी मौज लेते थे, और जीव के हाथ सिवाय परिश्रम के, सिवाय

अधर्म और पाप के और कुछ नहीं लगता। यह सब इन्द्रियों को नहीं लगता। यह सब इन्द्रियों को नहीं भोगना पड़ेगा, जीव को ही भोगना पड़ेगा। जिस समय प्रसंग आयेगा यदि जीव नट जायेगा कि मैंने तेरे पीछे यह काम किया, तो इन्द्रिय कहेगी कि मेरे पीछे क्यों किया, तुझे पता नहीं था? मैं तेरे अधीन हूँ या तू मेरे अधीन है। रोज यही होता है। रास्ते में जाते हुए बढ़िया दही-बड़ा दिखाई दिया, खा लिया। जब शाम को पेट खराब होता है तो मन कहता है कि क्यों खाया। उससे कहो कि तेरे कहने से खाया तो वह कहता है कि क्यों खाया। उससे कहो कि तेरे कहने से खाया तो वह कहता है कि तू समझदार नहीं था? मैंने कहा तो तूने क्यों खाया? वही मन खिलाता है, और वही उलट कर कहता है कि क्यों खाया। डण्डा जीव के सिर पर ही पड़ता है। यह जो जीव की प्रमादावस्था है, प्रमाद में पड़ जाना है, यही कारण बन जाती है कि इन्द्रियाँ इसे लूटती रहती हैं। महाराजा मनु इसीलिये मनुस्मृति में कहते हैं 'इन्द्रियाणां प्रसंगेन दोष मृच्छत्यसंशयं' इन्द्रियों के साथ होकर, इन्द्रियों की बात में आकर निस्संशय होकर समझ लो कि दोष को ही प्राप्त करोगे। यदि इन्हीं इन्द्रियों को तुमने संनियमित कर लिया, वश में कर लिया, तुम उनके अधीन नहीं हुए तो फिर सिद्धि को प्राप्त कर लोगे। जैसे उस प्रमादी राजा को मंत्रियों ने लूटा, ऐसे ही इस जीव रूपी-प्रमादी राजा को इन्द्रियाँ लूटती हैं। सियारों का रोना जानते हो क्या है? आँख कहती है कि अमुक पड़ोसी ने अमुक सिनेमा देख लिया, मैंने अभी नहीं देखा। अरे, अमुक देवरानी के पास तो नये डिजाइन की साड़ी आ गई, मेरे पास अभी तक नहीं आई। यह सियारों का रोना है। यह दिखा दिखा कर ही मनुष्य को लोभ में डालते हैं। अमुक के पास यह चीज है, मेरे पास नहीं है। विचारशील कहता है कि उसके पास हो तो रहो, मेरे पास बहुत सी चीजें हैं जो उसके पास नहीं हैं। लेकिन यह विवेक ही नहीं आता। इसलिये जिसके पास जो नहीं है, वह दूसरे में देखता रहता है कि यह भी मेरे पास नहीं, यह भी मेरे पास

नहीं। जो अपने पास है, उसे वह नहीं देखता। सियारों के रोने को इस प्रकार दिखाकर इन्द्रियाँ इसको लूटती रहती हैं। फिर किसी काल में यह जब शास्त्र को देखता है तब इसे पता लगता है कि मेरा धन तो लूटा जा रहा है। तब इसका विवेक जाग्रत होता है। अहंकार और बुद्धि इस विवेक को जाग्रत होने देना नहीं चाह रहे हैं। लेकिन फिर भी शास्त्र को देखने से, अथवा गुरुजनों को देखकर, श्रेष्ठ पुरुषों को देखकर इसके मन में कभी न कभी विवेक जाग्रत होता है। भगवान् श्रीकृष्ण इसलिये कहते हैं 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत् । आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥६-५॥' अरे अर्जुन ! अपना उद्धार जब तक तू खुद नहीं चाहेगा, तेरा उद्धार कोई नहीं कर सकता। सारे शास्त्र मिल जायें, सारे गुरू मिल जायें, सब कुछ मिल जायें, लेकिन यदि तू अपना उद्धार खुद नहीं करना चाहेगा तो कभी होने वाला नहीं है। यह सूत्र याद करके रट लेना 'उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानं अवसादयेत्' कोई कहे कि तुम सोये पड़े रहो, कोई चिंता नहीं करो, तुम्हारे आध्यात्मिक संसार को मैं देख लूंगा। जैसे कोई मुनीम तुमसे कहे कि आपको हिसाब-किताब देखने का कोई कष्ट नहीं करना है, सारा काम मैं देख लूंगा तो निश्चित समझो कि उसके मन में कोई बेईमानी है। इसी प्रकार यदि कोई तुमसे कह दे कि हमने तुम्हारे सिर पर हाथ रख दिया, अब तुम्हारा कल्याण हो गया, तुम्हें कुछ समझने, कुछ करने की जरूरत नहीं है, तो समझ लेना कि ठगी का मामला है। तुमको सोये पड़े रहने देना चाहे तो तुम सोओ ही नहीं। कहते हैं कि विचार करो ही नहीं। विवेक जाग्रत करने ही नहीं देते। उल्टा कहते हैं कि बुद्धि से सोचोगे, विवेक करोगे तो अधर्मी बन जाओगे। धर्म में तो आँख मीच कर पड़े रहो। लोग कहते हैं कि यह विश्वास का मार्ग है, विश्वास करो तो होगा, नहीं तो नहीं होगा। विश्वास का मतलब यह नहीं कि आंख बन्द करके विश्वास करो। इसलिये भगवान् ने कहा कि अपने विवेक, अपनी समझ के द्वारा ही तुम अपना सुधार कर सकते हो। शास्त्र, गुरू ये

सब तुमको रास्ता तो बता सकते हैं, लेकिन आँख खोलकर रास्ते चलना तुमको पड़ेगा। पहुँचना तुमको है। तुम्हारे लिये थाली सजाने का काम तो कर सकते हैं लेकिन कोई कहे कि तुम सोये रहो, कोई चिंता नहीं, दाल का सीरा मैं खाऊँगा तो तुम पुष्ट हो जाओगे, तुम चिंता न करो, खाने-पीने का टण्टा सब मैं कर लूंगा। उसकी बात मानोगे? इसी प्रकार कभी भी किसी के कहने से अपनी आत्मा का अवसादन नहीं करना। आत्मा को प्रमादी नहीं बना देना। तभी उद्धार सम्भव है। 'आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः'। भगवान् कहते हैं कि असली जो अपना बन्धु या मित्र है, वह अपनी आत्मा ही है। कोई कितनी ही बड़ी मित्रता का दावा कर ले लेकिन अन्त में तो अपना मित्र खुद आप ही है। और कोई कितना ही तुमको दुःख दे देवे, जब तक तुम स्वयं अपने को दुःखी नहीं बनाओगे, तब तक कोई तुमको दुःखी नहीं बना सकता।

एक महात्मा कहीं भिक्षा माँगने गये। जैसे ही उन्होंने एक घर के सामने खड़े हो तीन बार ॐ का उच्चारण किया तो उस घर का मालिक बाहर आकर महात्मा को खूब गालियाँ देने लगा। वह शान्त रहे। उनके साथ दो एक शिष्य थे, उन्होंने कहा—गुरूजी आगे चलें, इसका दिमाग खराब है। लेकिन महात्मा वहीं खड़े रहे। जब वह पाँच सात मिनट गालियाँ दे चुका तो महात्मा ने उससे कहा अभी तो थोड़ी ही गालियाँ दीं, और आती हों तो और सुना दो। बढ़िया गाना चल रहा है। उसने कहा—कैसा आदमी है। वह और गालियाँ देने लगा। तू बिल्कुल नकटा है, इतना कह दिया, फिर भी आगे नहीं जाता। महात्मा ने कहा—चुप क्यों हो गया, और कुछ हो तो बोल ले। तब उसने कहा—जा तेरे से कौन माथाफोड़ी करे। उसने दरवाजा बन्द किया और अन्दर चला गया। महात्मा भी अगले घर चले गये। शिष्यों ने कहा कि फालतू ही इतनी देर सुनते रहे। शिष्य सोच रहे थे कि गुरू जी यह सोचकर खड़े रहे होंगे कि वह सुधर

जायेगा या हमारा कुछ प्रभाव पड़ेगा। कहने लगे—हम लोगों ने पहले ही कहा था कि यह महादुष्ट व्यक्ति है। अब भी आना पड़ा, इससे अच्छा पहले ही आ जाते। महात्मा ने कहा—पहले कैसे आ जाते, अरे ! किसी दुकानदार के पास जाते हो तो उसके पास जो माल होता है, वह दिखाता है। किसी के पास सड़े सेब हैं तो वह दिखाता है। तुम कहते हो अच्छा माल हो तो दिखा। जब तक दिखाता रहता है देखते रहते हो। अन्त में जब कहता है कि इसके आगे की क्वालिटी मेरे पास नहीं तो आगे चल देते हो, क्योंकि उसके पास तुम्हारे मतलब का माल नहीं है। जब तक उसने पूरा माल नहीं दिखा दिया तब तक दूसरी दुकान में थोड़े ही जाते हो। ऐसे ही जब उस आदमी के घर गये थे तो उसके पास जितना माल था, वह देख तो लेना था। तुम कहते हो कि पूरा माल देखने के पहले ही चल दें, हम लोगों ने व्यर्थ में गालियाँ खाईं। गालियाँ तुमने खाईं होंगी, मैंने तो नहीं खाईं। माल दिखाना तो दुकानदार का काम, खरीदना, न खरीदना अपना काम। उसने अपनी गालियों का सारा बाजार दिखा दिया, हमको नहीं पसन्द आया तो वहीं उसके पास छोड़ आये कि तुम्हारा माल तुम्हारे पास। तुम लोगों ने गालियाँ खाईं काहे के लिये। शिष्य समझ गये कि बात तो गुरूजी ठीक कह रहे हैं।

भगवान् कहते हैं कि जब तक तुम स्वयं दुःख को अपने ऊपर नहीं ओढ़ोगे तब तक कोई तुम्हें दुःखी नहीं कर सकता। ऐसे ही जब तक तुम न चाहो तुमको कोई सुधार नहीं सकता, जब तक तुम न चाहो तब तक तुमको कोई बिगाड़ नहीं सकता। जब तक तुम न चाहो तब तक तुमको कोई दुःखी नहीं कर सकता, और जब तक तुम न चाहो तब तक तुमको कोई सुखी नहीं कर सकता। इसीलिये अप्रमादी होकर आत्मा का इन्द्रियों के ऊपर नियन्त्रण करना है। जब तक यह नहीं करोगे तब तक काम चलने वाला नहीं है। इसलिये यह नियन्त्रण करना जरूरी है। जैसे उस प्रमादी राजा को जब पता

लगा कि मन्त्री लूट रहे हैं, तो वह विवेकी बना। ऐसे ही विवेक-रूपी घोड़े पर बैठना इसलिये जरूरी है कि जब तक यह पता नहीं लगता कि यह अहंकार और बुद्धि दोनों मिलकर तुमको लूट रहे हैं तब तक विवेकी बनता ही नहीं है। आदमी यही कहता है कि आखिर मैं तो हूँ ही, इस मैं को कहाँ छोड़ूँ। यही तो प्रधान मन्त्री है। विवेक होता है तब पता लगता है कि यह मैं रूपी जो प्रतिबन्धक है, वही तो सब माल मसाला लूटे जा रहा है। जब मैं लूट रहा है तो बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, प्राण आदि सभी लूट रहे हैं। जब तक जीवात्मा अपने इस मैं का परित्याग नहीं करेगा, मैं को विवेक के द्वारा नहीं जान लेगा, तब तक जैसे प्रधान मन्त्री यदि लूटने वाला है तो दूसरे मन्त्री लूटेंगे ही। उनका कोई दोष नहीं क्योंकि प्रधान तो वही है, उसी ने आगे सबको नियुक्त कर रखा है। जब तक मैं रूपी प्रधान मन्त्री तुमको लूटता रहेगा, विवेक जाग्रत नहीं होगा, तब तक ये इन्द्रियाँ लूटती रहेंगी। मनुष्य कहता है कि इस प्रधान मन्त्री को तो रहने दो, आँख, कान इत्यादि पर नियन्त्रण करो। यह आँख बुरी है। यह कान और मन बुरा है। इसलिये मन को भी समाधि में लगाते हैं। इन सब पर तो नियन्त्रण करना अच्छा लगता है लेकिन जो असल में सबसे बुरा मैं है, कहते हैं यह प्रधान मन्त्री यहीं बना रहे, बाकी इन्द्रियों पर नियन्त्रण हो जाये। लेकिन जब तक यह मैं बुराई का केन्द्र है तब तक चाहे जितनी साधना आँख, कान, नाक से कर लो, शम, दम कर लो, बुराई जड़ से जाने वाली नहीं है। भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं 'भोक्तुर्गले कण्टकवत् प्रतीतं' यह जीवात्मा के गले में काँटे की तरह फँसा हुआ है। इसको विवेक करके किस प्रकार जाग्रत करना है, इस पर आगे विचार करेंगे।

२१-३-७५

उस नीलग्रीव सहस्राक्ष आनंदवर्षक परमात्मा से, उसका जो सत्त्व अर्थात् अनात्मा को निवृत्ति करने वाला रूप है, उसके प्रति नत भाव से अनात्म निवृत्ति की प्रार्थना करते हैं। अनात्मा की निवृत्ति ही पुरुषार्थ है। आत्मा तो स्वरूप होने के कारण नित्य प्राप्त है, लेकिन अनात्मा के द्वारा ढँका हुआ होने से नित्य प्राप्त आत्मा से जो आनन्द बरसना चाहिये उस आनंद को बरसा नहीं पाते। आत्मा आनंदरूप है। आत्मा का स्वरूप आनंद है। परन्तु पेटी के कोने में हीरे की अँगूठी पड़ गई। विवाह में जाना है। यह पता भी है कि मैंने यह अंगूठी इस पेटी में रखी थी जिसे पहनकर जाना था। लेकिन कपड़ों के अन्दर कोने के बीच में दबी हुई वह अँगूठी बारात में पहुँचकर जो आनन्द देने वाली थी वह आनंद नहीं दे पाती। पेटी में अंगूठी है भी, पहनकर के जाने से आनंद होता भी, लेकिन किधर छिप गई, अज्ञात हो गई, इस कारण से वह उस आनंद को नहीं दे पा रही। इसी प्रकार इस संसार के अन्दर शिव बैठा हुआ है। वेद कहता है 'सत्यं ज्ञानमनंतं ब्रह्म यो वेद निहितं गुहायां' वह सच्चिदानंद रूप परब्रह्म परमात्मा इस शरीर के अन्दर ही हार्दाकाश में पड़ा हुआ है। पड़ा हुआ होने पर भी उससे हम आनंद इसीलिये नहीं ले पाते कि वह अज्ञात ही पड़ा है। पेटी में अँगूठी है, यह ज्ञान होने पर भी जब तक उसको प्रकट नहीं करेंगे, तब तक अपना काम नहीं बनेगा। लकड़ी में आग है, यह पता है, परन्तु जब तक लकड़ी में रहने वाली आग को घिसकर पैदा नहीं किया जायेगा तब तक वह आग अपने किसी काम की नहीं है। उसके अन्दर आग है, लेकिन अपना काम उससे सिद्ध नहीं हो सकता। बिजली घर में आ भी रही है परन्तु किस स्विच या बटन को दबाने से वह जलेगी, यदि यह नहीं पता है तो वह बिजली अपने काम में नहीं आ सकती। घर में दूरभाष (टेलीफोन) पड़ा हुआ है, संसार में जहाँ चाहो वहाँ बात कर सकते हो। लेकिन यदि नम्बर नहीं पता है तो पड़ोसी के घर से भी बात नहीं कर

सकते। यह नहीं कह सकते कि हम नम्बर पता होने से दूर से बात कर लेते हैं तो पड़ोसी से तो ऐसे ही बात कर लेंगे। किसी भी चीज का जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक वह लाभप्रद नहीं होती। आत्मा हमारा स्वरूप भी है, हमारे हृदय में बैठा हुआ भी है परन्तु ज्ञान न होने से उसका लाभ नहीं उठाया जा सकता। प्रश्न होता है कि यदि वह हमारा स्वरूप ही है तो फिर उसका पता क्यों नहीं लगता ? अँगूठी तो फिर भी हमसे कुछ अलग है, इसलिये उसका ज्ञान न हो, यह तो हो सकता है। लकड़ी के अन्दर रहने वाली आग भी हमसे अलग है, इसलिये उसका ज्ञान न हो, यह भी हो सकता है। घर में लट्टू में जलने वाली बिजली भी हमसे अलग है, इसलिये उस बिजली का ज्ञान न हो, यह भी हो सकता है। परन्तु आत्मा जब हमारा स्वरूप ही है तो फिर उसका ज्ञान कैसे नहीं ? यह शंका होती है। जैसे नेत्र के द्वारा सब चीजों का ज्ञान होने पर भी नेत्र स्वयं देखा नहीं जा सकता। आँख संसार की सब चीजों को देखती हैं, किसी भी चीज को देखने के साथ ही पता लग जाता है कि आँख है। आँख न होती तो हमको कोई भी चीज कैसे दीखती। किसी भी चीज के देखने से आँख का ज्ञान होने पर भी आँख का साक्षात्कार नहीं होता। कितनी भी कोशिश करो आँख को देखने की, क्या देख सकते हो ? देखने का एक ही तरीका है। सामने काँच रख लो तो आँख दीख जायेगी। आँख को देखना है तो सामने काँच रखना पड़ेगा। उसमें आँख दीखेगी और कोई तरीका आँख को देखने का नहीं। इसी प्रकार अपना स्वरूप ही सब चीजों का ज्ञान करता है। यदि स्वरूप से मैं आत्मा नहीं होता तो संसार की किसी चीज का ज्ञान न होता। जिस समय इस शरीर और मन को छोड़-कर आत्मा चला जाता है तो यह शरीर यहीं पड़ा रहता है, इसको कोई ज्ञान नहीं हो पाता है। इसको चिता पर रखकर आग जला देते हैं तो इसे जलने का भी ज्ञान नहीं होता। इसलिये जब कोई भी चीज दीखती है तो यह सिद्ध करती है कि आँख की रोशनी अवश्य है। इसी प्रकार किसी भी चीज का ज्ञान होता है तो सिद्ध होता

है कि अन्तरात्मा अवश्य है। जैसे आँख को देखने के लिये काँच की जरूरत है, ऐसे ही आत्मा को देखने के लिये शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है।

शुद्ध बुद्धि के अन्दर ही आत्मा को देखा जा सकता है। कहोगे कि बुद्धि तो हमारे पास है ही, हम निर्बुद्धि थोड़े ही हैं। इसलिये कहा कि शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है। जैसे यदि दर्पण मैला है, उसके ऊपर धूल जमी हुई है तो उसमें अपना मुख दीखता नहीं। दर्पण तो है लेकिन यदि उस पर धूल जमी हुई है तो मुख देखना चाहो तो भी नहीं देख सकते। यदि दर्पण में अपने नेत्र स्पष्ट देखने हैं तो उसके मैल को हटाना पड़ेगा। जब तक उस दर्पण का मैल नहीं हटाओगे तब तक काम बनने वाला नहीं। इसी प्रकार बुद्धि तो है लेकिन जब तक बुद्धि को शुद्ध नहीं करोगे तब तक उसमें आत्मा के प्रकाश का दर्शन नहीं होगा। 'बुद्धया विशुद्धया युक्तः' भगवान् भी कहते हैं कि शुद्ध बुद्धि से जो युक्त होता हैं, वही उस तत्त्व का दर्शन कर सकता है। दूसरा नहीं। शुद्ध बुद्धि की आवश्यकता है। बुद्धि को शुद्ध कैसे किया जाये? दर्पण को शुद्ध करने का क्या तरीका है? दर्पण पर धूल जमी हुई है तो उसके ऊपर चूना लगाते हो। चूना भी एक तरह की धूल या मिट्टी ही है। लेकिन उसके ऊपर चूना चढ़ाकर चूना सूख जाने देते हो। फिर पोंछ देते हो। चूना भी झड़ जाता है और धूल भी निकल जाती है। यह दर्पण को साफ करने का तरीका है। यहाँ कोई कहे कि धूल तो पहले लगी हुई है ही, उस पर और चूनारूपी धूल लगाने की क्या जरूरत है? तो यही कहेंगे कि यह अनुभवसिद्ध है कि चूना बाद में धूल को दूर करते हुए खुद भी दूर हो जाता है। रोज स्नान के बाद आप लोग यही तो करते हो। कपड़ा गंदा होता है। पहले तो कपड़ा गंदा है ही, फिर साबुन को उस पर लगाकर और गंदा करते हो। क्योंकि साबुन भी तो एक गंदगी ही है। साबुन लगाने के बाद पानी से धोते हो तो सारा साबुन हटा देते हो। यदि साबुन साफ हो तो काहे को हटाओ। लेकिन साबुन का गुण है कि कपड़े की सारी गंदगी को दूर कर देगा और फिर

खुद भी दूर हो जायेगा। ठीक इसी प्रकार शास्त्र में बताई हुई कर्म और उपासना करने से बुद्धि के ऊपर चढ़ा हुआ मैल भी दूर हो जाता है और अंत में वे शास्त्रीय कर्म उपासना भी हट जाते हैं और स्वरूप का दर्शन हो जाता है। ज्ञान किससे होगा ? शुद्ध बुद्धि के द्वारा ! 'एषोणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः' श्रुति भी कहती है कि यह आत्म तत्त्व अणु है, सूक्ष्म है, इसलिये शुद्ध चित्त या शुद्ध बुद्धि के द्वारा ही इसका ज्ञान सम्भव है। बुद्धि को शुद्ध करने के लिये मनुष्य को बड़े धैर्य से लगना पड़ता है। आत्मज्ञान कठिन नहीं है। जैसे दर्पण के अन्दर आँख को देखने में कोई कठिनाई नहीं है। दर्पण के सामने आँख पहुँची तो खट आँख दीख गई। उसके लिये कोई परिश्रम नहीं करना पड़ता। परिश्रम तो करना पड़ता है काँच को साफ करने के लिये। यदि काँच साफ नहीं है तो आँख उसमें साफ नहीं दीखेगी। इसी प्रकार आत्मा को, शिव को प्राप्त करना, शिव के स्वरूप का साक्षात्कार बिल्कुल कठिन नहीं है। कठिनाई तो इस बुद्धि को शुद्ध करने में है। शुद्ध बुद्धि में ही उसका साक्षात्कार सम्भव है और शुद्ध बुद्धि के लिये बड़ा धैर्य चाहिये। बिना धैर्य के बुद्धि शुद्ध नहीं होती। भगवान् मनु ने इसीलिये धर्मों का विचार करते हुए सबसे पहले धैर्य को गिनाया। 'धृतिः क्षमादमोस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः' मनु ने जहाँ धर्म गिनाये वहाँ सबसे पहले धृति अर्थात् धैर्य को गिनाया। जो धैर्य वाला व्यक्ति नहीं है, अधीर व्यक्ति है, वह परमात्मा के मार्ग में सफल नहीं हो पाता। लोक में भी देखोगे कि विद्वान् वही बन पाता है जो धैर्य वाला होता है। एक एक ग्रन्थ को, एक एक पंक्ति को धीरे धीरे पढ़कर, समझकर, विचार कर तैयार करता है। धैर्यपूर्वक यह सब करता है तो वह विद्वान् बन जाता है और जो झटपट दो-चार किताबों के पन्ने इधर और दो चार उधर पलट मास्टर साहेब से पूछता रहता है कि इनमें महत्त्वपूर्ण (Important) क्या है, वह व्यक्ति विद्वान् नहीं बन पाता। विद्या प्राप्ति के लिये धीरे-धीरे परिश्रम करना पड़ता है। धैर्यपूर्वक लगना पड़ता है। ठोस धन कमाना हो तो उसके लिये भी

धैर्यपूर्वक लगना पड़ता है। दुकान की, थोड़ा फायदा किया, धीरे-धीरे व्यापार बढ़ा। यह ठोस धन कमाने का तरीका है। और नहीं तो लोग सोचते हैं कि रुपया लाट्री में लगा दो, लखपति बन जायेंगे। यह ठोस रुपया कमाने का तरीका नहीं। धीरे-धीरे व्यापार करके व्यापार को बढ़ाओगे तभी तुम्हारा धन जमाव वाला रहेगा। धैर्य की जरूरत है। भोजन भी तैयार करना हो तो धैर्य की जरूरत है। कभी किसी को देखो जब वह मलाई निकाल रहा होता है तो कैसी हल्की आँच में दूध को गरम करता है, एक-एक थर निकालकर रखता है। अगर अधीरतापूर्वक निकाले तो गाढ़ा दूध होकर रह जाये, थर या मलाई नहीं बन पाय। साग भी सिझाना हो तो धैर्यपूर्वक सिझाओगे तब तो सीझेगा। जिसे धैर्य नहीं होता वह नहीं सिझा सकता। संसार में किसी भी उत्तम कार्य को करने के लिये धृति या धैर्य की अपेक्षा है। भारतवर्ष में इन २५ वर्षों में हम लोगों ने मनु के इस सिद्धांत को भुला दिया। अब हम सारे के सारे अधीर हैं। एक दिन में ही विद्वान् हो जाना चाहते हैं, एक दिन में ही लखपति बन जाना चाहते हैं और झटपट भोजन तैयार कर लेना चाहते हैं। ऐसे-ऐसे चूल्हे आये हैं जो खट जला और खट भोजन बना। कैसा बना ? यह खाने वाला जाने। अच्छा नहीं लगा तो तुम्हारा प्रारब्ध खोटा, बनाने वाले की क्या गलती। पहले रसोई बनाने वाला यह देखता था कि खाने वाले की आँख में चमक आई या नहीं। उससे उसको प्रसन्नता होती थी। अब बनाने वाला खाने वाले से आँख भी नहीं मिलाता क्योंकि वह जानता है कि आँख मिलाऊँगा तो शरम आयेगी। इसलिये आँख नीची करके परोसता है। उससे भी आगे का हो तो दिल्ली में मेज पर लाकर रख देते हैं। खाने वाला अपने आप उठाओ, खाओ खाना। अँग्रेजी में उसे बूफे और हिन्दी में 'उठाओ खाओ खाना' कहते हैं। वह भी खड़े-खड़े ही, कहीं बैठ जाओ तो शायद बोलना पड़ जाये। अतः खड़े-खड़े ही खा लो। धैर्य के बिना कोई भी कार्य अच्छी तरह से नहीं हो सकता, उसके लिए धैर्य चाहिये। मनुष्य अधीर क्यों होता है। जो

मनुष्य अंदर से भयभीत होता है वही अधीर होता है। किसी को काल का, किसो को देश का, किसी को लोक का भय है। भय मनुष्य को धैर्य वाला नहीं वनने देता !

एक कथा आती है कि दो भाई थे। एक का नाम भीरू और दूसरे का नाम धीरू था। दोनों भाई किसी कारण से जंगल में फँस गये और रास्ता भूल गये, भटक गये। जंगल में घूमने लगे। अति दीर्घ काल तक वहाँ भटक कर घूमते रहे, लेकिन उन्हें निकलने का कहीं रास्ता नहीं मिल रहा था। उनके कपड़े सारे फट गये। गन्दे हो गये। कहीं आम मिला तो खा लिया, कहीं जामुन मिला तो थोड़ा सा खा लिया। कहीं पत्त ही चवा लिये। इस प्रकार दीर्घ काल तक कष्ट भोगते हुए एक वार एक तालाब के किनारे पहुँचे। एक तरफ तालाव था और दूसरी तरफ सुन्दर बगीचा था; जिसमें आम, जामुन, लीची, वेर इत्यादि वढ़िया सुन्दर फल लटक रहे थे। देखने के साथ ही उन्होंने कहा कि वड़े भाग्य से अच्छी जगह आ गये। यहाँ तो खूब खाने पीने का आराम मिल जायेगा। जैसे ही उस बगीचे के अन्दर जाने लगे तो उस बगीचे पर एक सूचनापट्ट लिखा हुआ था। 'भाइयो ! सावधान ! यहाँ पहुँचने वाले जितने व्यक्ति हैं, वे ख्याल कर लेवें कि इस वगीचे के अन्दर जितने फल दीख रहे हैं, सब जहर से भरे हुए हैं। इनको मत खाना। अगर इनको खा लिया तो ऐसा नशा चढ़ेगा कि फिर उठने का होश नहीं रहेगा। खाना पीना भी भूल जाओगे और यहीं पर तुम्हारा अन्तकाल भी आ जायेगा। वजाय इन फलों के खाने के इस तालाव के अन्दर जाकर स्नान करना। लेकिन स्नान करने के पहले अपने सारे कपड़े लत्ते खोलकर अलग कर देना। अच्छी तरह इस तालाव में मल-मल कर नहाना, और फिर इस तालाव के परले पार चले जाना, भय मत खाना। इस तालाव में कोई डूबता नहीं है। जव दूसरे पार पहुँचोगे तो वहाँ तुमको एक सिंह खड़ा हुआ मिलेगा। उस सिंह को देखकर घवरा मत जाना। उस सिंह पर जाकर वैठ जाना, घबराना नहीं, वह खतरनाक नहीं है। उस सिंह पर जव बैठ

जाओगे तो वह तुमको उस पहाड़ी पर ले जायेगा जो दूसरी तरफ है। अंत में जब उस पहाड़ी के ऊपर पहुँचोगे तो एक शिव मन्दिर मिलेगा। सिंह से उतरकर अंदर जाना। उस शिव मन्दिर के अन्दर भगवान् शंकर की स्फटिक की मूर्ति है। उसको जब बड़े प्रेम से श्रद्धापूर्वक देखोगे तो तुम्हारे सारे पाप ताप नष्ट हो जायेंगे। यह वहाँ लिखा हुआ था। उसको बाँचकर बड़ा भाई धीरू कहता है कि अच्छा हुआ हम लोगों ने यह सूचनापट्ट पढ़ लिया। नहीं तो अपने अगर जल्दीबाजी करते तो ये फल तोड़कर खा लेते, और अपनी दुर्गति हो जाती। छोटा भाई भीरू कहने लगा—भैया ! आप भी लिखी लिखाई बात पर झट विश्वास कर लेते हो। इस नोटिस बोर्ड का कोई ठिकाना है ? अपने को प्रत्यक्ष में जामुन, आम, लीची इत्यादि फल पेड़ों पर लटकते दीख रहे हैं। अच्छी चीज प्रत्यक्ष में दीख रही है। आज तक कभी सुना है कि किसी पेड़ के लटकते फल जहरीले होते हैं ? इसलिए आप व्यर्थ सोचते हो कि इसे बाँचकर इन्हें छोड़ दें, अपने छोड़ने वाले नहीं। मुझे तो ऐसा लगता है कि बगीचे के मालिक ने इन फलों की रक्षा के लिये ऐसा लिखकर लगा दिया होगा। इसलिये अपने अन्दर चलकर खूब आनन्द से इन फलों को खायें। और आगे देखो कि इसमें कैसी भद्दी बात लिखी है। लिखा है कि कपड़े खोलकर तालाब में घुस जाना। मान लिया कि अपने कपड़े गन्दे हो गये हैं, फट भी गये हैं। लेकिन इन कपड़ों के अलावा कोई दूसरी दुकान कपड़ों की खोल रखी है जो यहाँ मिल जायेंगे ? अगर दूसरे कपड़े टँगे होते और हम इन्हें हटाते तो भी कोई बात थी। अपने पास यही तो कपड़े हैं। चाहे जैसे भी हों। फटे टूटे गन्दे ही सही। इनको हटा दो, कैसी उल्टी बात है। इतना ही नहीं, लिखा है कि दूसरे किनारे जाओगे तो शेर मिलेगा, जो आज तक तो किसी का मित्र बना नहीं है। शेर को आदमी दो साल तक दूध पिलाकर पाले, जहाँ एक बार उसने खून चाटा तो काम खतम। ऐसे शेर का विश्वास करने को लिखा है। आज तक शेर किसी का मित्र बना

है जो अपना बनेगा। इसलिये भैया तुम तो झट विश्वास कर लेते हो। चलो अपने चलकर फल खावें।

बड़े भाई धीरू ने कहा--भाई! हर बात का विचार करना चाहिये। विना विचारे झटपट में कोई काम नहीं कर लेना चाहिये। यह ठीक है कि प्रायः फलों में जहर नहीं होता लेकिन जहरीले फल सुने गये हैं। बहुत से फल जहरीले होते हैं। बाहर से ये आम लीची दीख रहे हैं लेकिन पता नहीं किस जात के हों। जहरीले भी हो सकते हैं। और वह देखो, उस पेड़ के नीचे ऐसे कुछ लोग दीख रहे हैं जिनके हाथ-पैर भी नहीं हिल रहे हैं। उनके मुँह पर चारों तरफ मक्खियाँ भिनभिना रही हैं। इससे लगता है कि वे भयंकर नशे में हैं अथवा मर ही चुके हैं। उनको देखकर भी अपने मन में जमता है कि यह लिखी हुई बात सच्ची ही होनी चाहिये। यह तुमने ठीक कहा कि अपने पास दूसरे कपड़े तो नहीं हैं लेकिन ऐसे गन्दे फटे कपड़े जिसमें चिल्लड़ पड़े हों, जुएँ पड़ी हुई हों, उनको पहनकर भी कौनसा सुख मिल रहा है? कभी इधर से जूँ और कभी उधर से चिल्लड़ काटता है। कितने दिनों से अपने को स्नानार्थ पानी नहीं मिला, और यह तालाब सुन्दर लग रहा है। इसमें जो लोग स्नान कर रहे हैं, वे लोग भी प्रसन्न नजर आ रहे हैं। इसलिये इन कपड़ों को छोड़ने में अपने को मोह नहीं करना चाहिये। यह ठीक है कि शेर प्रायः विश्वास के योग्य नहीं होता। परन्तु यहाँ से देखो, अपने को बात करते हुए काफी देर हो गई है तब से शेर स्थिर भाव से खड़ा है। हिल-डुल भी नहीं रहा। गर्दन नीची किये हुए खड़ा है। ऐसा भी देखने में आता है कि जंगली जानवर भी जब ठीक प्रकार से पालतू बन जाता है तो फिर मनुष्य को दुःख नहीं देता। इसलिये भैया! मेरे को लगता है कि इसमें लिखी हुई बात के अनुसार ही अपने काम करें तो ठीक है।

छोटा भाई भीरू कहता है—भैया! तुमको तो हमेशा उल्टी बात जँचती रही है और आज भी उल्टी बात जँच रही है। मैं तो यह बढ़िया फलों का बगीचा छोड़कर नहीं जाऊँगा। तुमको जाना हो तो

तुम अपने रास्ते, मैं अपने रास्ते। वहुत भोग लिया तुम्हारा साथ करके। धीरू ने उसे बहुत समझाया कि ऐसा मत कर। दीर्घ काल कष्ट के साथ निभा लिया, अब तू इस प्रलोभन की तरफ मत जा। भीरू कहता है कि तुम्हारी बात मानकर बहुत कष्ट देखा, अब तो मैं इधर ही जाता हूँ। तेरे को आना हो तो आ, नहीं तो नहीं आ। यह कहकर भीरू तो बगीची में घुस गया। धीरू ने विचार किया कि यह नहीं मानता तो जाने दो। मनुष्य को समझाना धर्म है, उसके आगे कोई कुछ नहीं कर सकता। गीता के सात सौ श्लोक भगवान् ने अर्जुन को सुनाये, तरह-तरह की शंकाओं का समाधान किया, विराट् रूप भी दिखाया। लेकिन सब करके अन्त में भगवान् ने कहा 'यथेच्छसि तथा कुरु'। 'कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थत्वयैकाग्रेण चेतसा। कच्चिदज्ञानसंमोहः प्रनष्टस्ते धनंजय ॥ १८-७२ ॥' भगवान् ने कहा, 'अरे अर्जुन ! सारी बातें सुनकर तेरे अन्दर का अविवेक नष्ट हो गया या नहीं। सारी बातें ध्यान देकर याद रख रहा है या नहीं। अव इसके वाद जो तेरी इच्छा हो, तेरे को जो अच्छा लगे सो कर। भगवान् मनु ने सारी वर्णाश्रम व्यवस्था, धर्म की मर्यादाओं को बताकर अंत में कहा 'येनेष्टं तेन गम्यतां'। मैंने तुमको स्वर्ग प्राप्ति का, ब्रह्मलोक प्राप्ति का रास्ता बता दिया और नरक को ले जाने वाली चीजें भी बता दीं। आगे जो तुमको ठीक लगे उसी मार्ग का अवलम्बन करके जाना। शास्त्र इसीलिये ज्ञापक माना जाता है। शास्त्र बता देता है, आगे जोर जबरदस्ती से किसी से कुछ नहीं करवाया जा सकता। धीरू ने विचार किया कि जब इसको मानना नहीं तो जाने दो। धीरू वहाँ से तालाव के किनारे पहुँचा और सारे वस्त्र खोल दिये। वस्त्र खोलने के साथ ही हल्केपन का अनुभव हुआ। कई बार अनुभव किया होगा कि सर्दी के मौसम में आदमी कपड़े कसे रहता है। किसी दिन जब कपड़े खोलता है तब पता लगता है कि शरीर कुछ हल्का महसूस हो रहा है। उसे कपड़े खोलते ही हल्कापन लगा। निर्मल जल से तालाब भरा हुआ था। उस ठण्डे मधुर पानी में जहां स्नान करने लगा कि

और ज्यादा हल्कापन महसूस होने लगा। पानी पिया। वह ऐसा सुगन्धित जल था कि पीकर भी उसे बहुत तृप्ति हुई। जब खूब मल मलकर नहा लिया तो धीरे-धीरे चलकर दूसरे पार पहुँच गया। इतनी देर में उसने देखा था कि शेर वैसा का वैसा खड़ा हुआ है। उसने सोचा कि यह मामूली शेर या जंगली शेर नहीं हो सकता। जैसे ही वह उस शेर के पास पहुँचा, शेर ने अपने मुख को और नीचा कर दिया। वह आराम से जाकर उसके ऊपर बैठ गया और बिना कहे वह शेर उसे लेकर पहाड़ की चढ़ाई पर चढ़ने लगा। बड़े प्रेम से चारों तरफ के सुन्दर दृश्य को देखते हुए जब वह पहाड़ पर पहुँचा तो बिल्लौर से बना शिवमन्दिर देखा। अन्दर जाकर स्फटिक के शिवलिंग पर दृष्टि एकाग्र की तो साक्षात् भगवान् शंकर के दर्शन हो गये और उसके सारे त्रिविध ताप नष्ट हो गये। वह कृतकृत्य हो गया। उधर उसका भाई भीरू बगीचे के अन्दर गया तो बढ़िया बढ़िया आम, लीची देखकर उन्हें खाने लगा। उनमें खूब अच्छी तरह नशा भरा हुआ था। जैसे जैसे खाता गया, वैसे वैसे नशा चढ़ता गया। थोड़ी देर में होशहवास खोकर वहीं गिर पड़ा, और कुछ काल बाद अचेतनावस्था में ही मर गया।

यह केवल धीरू और भीरू की कथा नहीं है। प्रत्येक मनुष्य या धीरू बनता है, या भीरू बनता है। श्रुति भी इसीलिये इसको दो प्रकार के मार्गों को चुनने वाला बताती है। एक प्रेय मार्ग और दूसरा श्रेय मार्ग। मनु भी कहते हैं 'द्वाविमावथपंथानौ' प्रेय और श्रेय दो रास्ते हैं। जैसे वहाँ पर धीरू और भीरू घोर जंगल में रास्ता भूलकर भटक रहे थे; उसी प्रकार जीव इस घोर भवाटवी में घूम रहा है। रास्ता भूल गया है क्योंकि कहाँ से आया है, कहाँ जा रहा है, किसी को पता नहीं है। 'अदर्शनादापतित:', महाभारत में भगवान् वेदव्यास कहते हैं कि किसी प्राणी से पूछो कि कहाँ से आया तो अंत में कहेगा कि पता नहीं। किसी से पूछो कहाँ से आया तो पहले कहता है दस नम्बर दहो हट्टे से, वहाँ कहाँ से

आया तो कहता है फलोदी से आया। फलोदी में कहाँ से आया? माँ के पेट से। माँ के पेट में कहाँ से आया? बाप के पेट से आया। बाप के पेट में कहाँ से आया? कहेगा अब हाथ जोड़ता हूँ, पता नहीं। इसी प्रकार किसी से पूछो कि पक्का पता है आगे कहाँ जाना है तो कहेगा, कुछ पता नहीं है। जाना है यह सबको निश्चित पता है, लेकिन कहाँ को जाना है, कहाँ पहुँचोगे, तो यह किसी को कुछ पता नहीं है। है किसी के पास ठेका कि अमुक जगह जायेंगे। जैसे घोर जंगल में किधर से आये, यह पता नहीं। आगे चलते हुए जा रहे हैं लेकिन किधर को जा रहे हैं, यह पता नहीं। ऐसे ही प्राणी भवाटवी के अन्दर, भवारण्य के अन्दर फँसा हुआ किधर से आया, इसे नहीं जानता, किधर को जाना है इसे भी नहीं जानता। कभी किसी पुण्यपरिपाक से यह बढ़िया सुन्दर जगह पहुँच गया। यह सुन्दर जगह मानवयोनि है। 'मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः' भगवान् भाष्यकार आचार्य शंकर भगवत्पाद कहते हैं कि परमेश्वर के अनुग्रह से ही ये तीन चीजें मिलती हैं—मनुष्य शरीर, मुमुक्षुता अर्थात् मोक्ष की इच्छा और योग्य मार्गदर्शक। मनुष्य शरीर अनेकों को मिला है, लेकिन उनमें मोक्ष की इच्छा कितनों को होती है। तुम्हारे कलकत्ते में ही देख लो कि सिनेमा जाने की इच्छा वाले कितने हैं, पैसा कमाने की इच्छा वाले कितने हैं, लखपति बनने की इच्छा वाले कितने हैं, सुन्दर पति से विवाह करने की इच्छा वाले कितने हैं, और मोक्ष की इच्छा वाले कितने हैं? मोक्ष की इच्छा वाले ढूँढ़ने से भी नहीं मिलने वाले हैं। मोक्ष की इच्छा भी हो जाती है तो योग्य मार्गदर्शक नहीं मिलता। परमेश्वर का असीम अनुग्रह हो तभी मनुष्य शरीर की प्राप्ति, उसमें भी मोक्ष की इच्छा की प्राप्ति, और उसमें भी मार्गदर्शक की प्राप्ति संभव है। जब मनुष्य शरीर में पहुँचा तो जैसे वहाँ सूचना पट्ट लिखा हुआ था, वैसे ही यहाँ भी वेद रूपी सूचना पट्ट भगवान् ने लिख रखा है। उसमें भगवान् ने बताया है कि इस बगीचे में विषयरूपी फल दीख रहे हैं। दीखने में तो बड़े अच्छे लग रहे हैं।

आाज यह फल प्राप्त किया, कल वह फल प्राप्त करूँगा, बड़ा अच्छा दीखता है। आज धनवान बनूँगा, आज भोगवान बनूँगा, आज पुत्रवान बनूँगा। सोने की सीढ़ी चढ़ूँगा। देखने में ये फल बड़े अच्छे दीख रहे हैं लेकिन श्रुति कहती है—इनका नाम विषय है। विष माने जहर, इसलिये ये सारे के सारे जहर हैं। यदि इनको खाओगे तो इनका नशा चढ़ेगा। 'इदमद्यमया लब्धं इदं प्राप्स्ये मनोरथं। इदमस्तीदमपि में भविष्यति पुनर्धनम् ॥१६-१३॥' आज यह मिल गया, कल वह मिल जायेगा, परसों इसे प्राप्त कर लूँगा। लेकिन सब मिलकर शान्ति नहीं होनी है। जिसे सौ रुपये मिलते हैं वह हजार वाले को देखता रहता है, हजार वाला लाख वाले को, लाख वाला करोड़ वाले को देखता है। किसी के हृदय में शान्ति नहीं दीखती है। उल्टा जितना यह विषयभोग करता है, उतनी उतनी अतृप्ति बढ़ती है। जैसे अभी गर्मी का मौसम आ रहा है। आप लोग सत्संगी होने से समझते हो कि गर्मी के मौसम में क्या करना चाहिए। लेकिन जो लोग सत्संग किये हुए नहीं हैं, वे पानी में बरफ डालकर पीते हैं। समझते हैं कि बरफ डालकर पीने से प्यास शांत हो जायेगी। दो चार चुस्कियाँ लेकर मजा भी आता है लेकिन फिर पहले से भी ज्यादा तेज प्यास लगती है। पीते पीते पेट फटने लगता है लेकिन गले में ठण्डक नहीं आती, क्योंकि बरफ की तासीर गरम होती है। इसी प्रकार संसार के पदार्थ बाहर से सुखदायक प्रतीत होते हैं लेकिन इनकी तासीर दु:ख देना है। जहाँ इन्हें भोगा, ये बाद में दु:ख देते हैं। इसलिये वेद कहता है कि इन विषयों की तरफ मत जाना। इन विषयों का भोग करोगे तो दु:ख पाओगे।

फिर क्या करना? वेद कहता है कि ये जो तुमने अपने चारों तरफ गंदे कपड़े पहन रखे हैं इन्हें उतार फेंकना। संस्कृत में कपड़ों को वसन कहते हैं। वसन या वासना पर्यायवाची शब्द हैं। इसलिये जो तुमने गंदी वासनायें अपने चारों तरफ बटोर रखी हैं वे तुम्हें निरंतर काटती रहती हैं। इन्हीं वासनाओं से प्रतारित होकर, इनसे धोखा खाकर तुम कितना कष्ट उठाते रहते हो। इसलिये इन दुर्वासनाओं के

कपड़ों को उतार देना। फिर उसके बाद जो नित्य नैमित्तिक शुभ कर्म हैं, उनके अन्दर प्रवेश कर जाना। उन कर्मों से घबराना नहीं। सबेरे उठकर संध्या वंदन करने से मत घबराना। बहुत से लोग कहते हैं महाराज! जनेऊ इसलिये नहीं लेते कि नियमपालन नहीं कर सकेंगे। ठीक उसी प्रकार जैसे कोई रोगी कहता है कि दवाई इसलिये नहीं लेता कि पथ्य नहीं कर सकता। क्या वह रोगी ठीक हो जायेगा। पथ्य के भय से दवाई नहीं करोगे तो क्या रोग तुमको छोड़ देगा। इसी प्रकार यदि नियमों के भय से तुम यज्ञोपवीत धारण नहीं करोगे तो क्या पाप से बच जाओगे। इसलिये कहा कि बिना भय के शुभ कर्मों के अन्दर स्नान करना। जब अच्छी प्रकार से मल मल कर स्नान कर लोगे अर्थात् शुभ कर्मों से युक्त हो जाओगे तब दूसरे पार पहुँचोगे। वहाँ पर तुमको योगाभ्यास कराने वाला सिंह मिलेगा। परमात्मा का चिंतन कराने वाला, परमात्मा की उपासना कराने वाला, निर्गुण उपासना कराने वाला सिंह मिलेगा। यह बड़ा भयंकर दीखता है, लगता है बड़ा कठिन है, हम कैसे करेंगे। आदमी एक मिनट आँख बंद करके बैठता है तो जी घुटने लगता है कि कहाँ फँस गये। जब उससे कहते हैं कि एक घण्टे का ध्यान कर तो लगता है कि इन्होंने फँसा लिया। यहाँ तो एक मिनट आँख बंद करके बैठते हैं तो मुश्किल होती है। आज कल दिल्ली में नयी चाल चली है, यहाँ भी चली है या नहीं, पता नहीं। कोई बड़ा आदमी मर जाता है तो एक सभा करते हैं। उसका नाम शोक सभा है। उसमें सब लोगों से कहते हैं कि अब दो मिनट तक आप लोग शांतिपूर्वक उस मृतात्मा की शांति के लिये प्रार्थना करें। हमको भी जाने का मौका पड़ता रहता है। हम दो मिनट तक उनकी ओर देखते रहते हैं। वह अध्यक्ष भी अपनी घड़ी पर ध्यान लगाये देखता रहता है कि कब दो मिनट खतम हों। खतम होने के साथ ही कहता है—हो गया। दूसरे लोग भी हर सेकेण्ड के बाद घड़ी देखते रहते हैं कि अभी दो मिनट हुए या नहीं। हमने

कइयों को पूछा कि घड़ी क्यों देखते हो, कहते हैं—दो मिनट कटते ही नहीं, बड़ा लम्बा समय लगता है। कहीं गप्पें मारनी हों तो दो घण्टे हो जाते हैं। पता नहीं लगता। बाद में पता लगता है कि बस छूट गई। इसलिये मनुष्य को परमात्मा का ध्यान शेर की तरह भयंकर लगता है। कैसे करेंगे, क्या करेंगे इत्यादि। लेकिन घबराना नहीं। जहाँ अपने हृदय के अन्दर परमात्मा का ध्यान करना शुरू किया कि देखोगे कि मन बड़ी शान्ति से अन्दर जाने लग जायेगा। अंततोगत्वा मेरुदण्ड के पहाड़ पर चढ़कर जब सहस्रार में पहुँचोगे तो वहाँ शिवलिंग के दर्शन होंगे। शिवदर्शन करके जीवभाव से मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाओगे।

धीरू अर्थात् धैर्यपूर्वक लगने वाला, और भीरू अर्थात् भय से छोड़ देने वाला। जो धैर्यपूर्वक लगा रहता है वह तो पहुँच जाता है। जो धैर्यपूर्वक नहीं लगता, डर जाता है, वह दुःख पाता है। वेद ने यह बात सूचनापट्ट के लेख की तरह कह दी। वेद तो ज्ञापक है, उसने बता दिया। अब इसे बाँचकर कोई विष खाना चाहे तो तुम क्या कर सकते हो। कई बार घरों में यह समस्या होती है और लोग आकर कहते हैं कि बेटा न माने तो क्या करना, पति नहीं माने तो क्या करना, पत्नी नहीं माने तो क्या करना। यह एक समस्या हमारे सामने रखते हैं। सीधी सी बात है कि उनको बता दो। 'येनेष्टं तेन गम्यतां' बताना अपने हाथ में है, आगे कोई विष खाना चाहे तो तुम क्या कर सकते हो। अपने कल्याण से नहीं चूकना चाहिये, अपना कल्याण कर लेना चाहिये। यदि दूसरे का कल्याण हो जाये तो बहुत अच्छा, लेकिन उल्टा नहीं करना चाहिये कि दूसरे के कल्याण के निमित्त से अपना भी धन खो दो। आजकल बहुत से लोग कहते हैं कि अरे भाई! तुम्हारी अध्यातम विद्या किस काम की अगर अपने साथियों को रास्ते पर नहीं लाये। उनसे कहो—पहले हम तो रास्ते लग जायें। जो लोग ऐसा कहते हैं हम उनसे पूछते हैं क्या काम करते हो?

कहता है—नौकरी करते हैं। हम कहते हैं—धिक्कार है तुम्हें। देश में इतने लाख आदमी बेकार घूम रहे हैं और तुमने नौकरी कर ली। पहले इनको नौकरी लगाते तब तुम्हें नौकरी करनी चाहिये थी। या अगर कहते हैं दुकान करते हैं तो भी यही कहते हैं कि लाखों आदमी सड़क पर घूम रहे हैं, उन्हें दुकान खुलवाने के बजाय तुमने दुकान खोल ली। लेकिन वही लोग संसार के व्यवहारों में अपने काम को पहले कर लेना चाहते हैं, परमार्थ में प्रमादी बनते हैं। यह विषयी पुरुषों की बात है जो न खुद करें, न दूसरों को करने देना चाहें। तुम अपना काम भी करते हो, दूसरे को भी नौकरी मिल सके उसके लिये यथासम्भव उपाय ढूंढ़ते हो। दूसरों के लिये छोटी मोटी दुकान का इन्तजाम हो जाये, इसका भी प्रयत्न करते हो, यह बुद्धिमान् का काम है। इसलिये अपने कल्याण को खोये बिना किसी का कल्याण कर सको तो करो; लेकिन अपने कल्याण से नहीं चूकना चाहिये। इसलिये मनु ने यहाँ तक कह दिया 'आत्मानं सततंरक्षेद्दारैरपि'। यदि पत्नी भी तुम्हारे परमार्थ मार्ग में बाधक बन जाये तो भी अपनी रक्षा तो कर ही लो। धैर्य से ही कल्याण की प्राप्ति होती है। इसलिये धैर्य को प्राप्त करो। उसी को यहाँ श्रुति कह रही है 'अथो ये अस्य सत्वानोहन्तेभ्योकरन्नमः' जो अपना सत्व है अर्थात् अनात्मनिवृत्ति का बल है, यह धैर्य के द्वारा ही प्राप्त होता है। इस धैर्य को प्राप्त करके हम परमात्म प्राप्ति में समर्थ हो सकें, यह इस मन्त्र में रहस्य है।